अष्ट पाहुड़

द्रव्य प्रदाता

श्री ब्र० सेठ हीरालाल जी पाटनी

व

सौभाग्यवती रतनदेवी पाटनी

निवाई (राजस्थान)

श्री शान्ति वीरेभ्यो नमः

श्री मद् कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्राकृत

अष्ट पाहुड़

श्री श्रुतसागर जी सूरि कृत संस्कृत टीका

षट् प्राभृत

हिन्दी अनुवादक

श्री पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर

प्रकाशक -

ब्र० लाडमल जैन

अधिष्ठाता

श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान

श्री शान्तिवीर नगर,

श्री महावीर जी (राजस्थान)

पुस्तक मिलने का पता —
श्री ब्र० सेठ हीरालाल जी पाटनी
पो०–निवाई (राज०)

प्रथमावृत्ति
वीर सम्वत् २४९४

मूल्य
सदुपयोग

मुद्रक :—
श्री शान्तिसागर दि० जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था
पो०–श्री शान्तिवीर नगर
वाया श्री महावीर जी (राजस्थान)

प्रस्तावना

सम्पादनसामग्री:-

षट्प्राभृत ग्रन्थ का संपादन निम्नलिखित प्रतियो के आधार पर किया गया है।

"क" प्रति

यह प्रति श्री गोधाजी के मन्दिर जयपुर की है। १२×६ साईज के १५२ पत्र हैं। प्रति पत्र में १४ पंक्तियां और प्रति पंक्ति में ४५ से ५० तक अक्षर है। संवत् १७९५ की लिखी है। अग्रवाल जातीय पं० नरसिंह दास जी ने माघवदो १० भौमवार को लिख कर पूर्ण की है। अक्षर सुवाच्य हैं, लेख शुद्ध है, कागज अत्यन्त जीर्ण हो गया है हाथ लगाते ही टूटता है। संपादन में इस प्रति से अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई है। इस प्रति का सांकेतिक नाम 'क' है।

"ख" प्रति

यह प्रति चांदखेडी से प्राप्त हुई है। इसमें सिर्फ १०×५ साईज के ३४ पत्र हैं। प्रति पत्र में १५ पंक्तियां और प्रति पंक्ति में ३७ से ४० तक अक्षर हैं। लाल और काली स्याही का उपयोग किया गया है। प्रति अपूर्ण है। लेख सुन्दर और सुवाच्य हैं, दशा अच्छी है। अन्त में कुछ लेख नहीं है। संभव है इसके आगे का भाग दूसरे वेष्टन में बधा हो। इसका सांकेतिक नाम 'ख' है।

"ग" प्रति

यह प्रति चांदखेडी की है। अत्यन्त जीर्ण हो चुकी है। इसमें मूल गाथा दिये हुये हैं और दोनों पार्श्व में श्रुतसागरीय संस्कृत टीका से टिप्पण दिये गये हैं। प्रायः सब पत्रों के किनारे गल गए हैं। अन्त के पत्र नहीं है इसलिये लिपि काल का पता नहीं चल सका है। इस प्रति का यदा कदा च ही उपयोग हो सका है। इसका सांकेतिक नाम 'ग' है।

"घ" प्रति

यह प्रति भी चांदखेड़ी की है। इसमें मूलगाथाओं के साथ अत्यन्त संक्षिप्त संस्कृत टीका दी हुई है। प्रति अपूर्ण तथा जीर्ण है। यह संस्कृत टीका किसकी है यह विदित नहीं हो सका है। ऐ० पन्ना लाल सरस्वती भवन ब्यावर में भी इसकी ३ प्रतिलिपियां देखी थी। एक प्रति मैं साथ में भी लाया था पर किसी प्रति में टीकाकार का उल्लेख नहीं हैं। इस टीका में कुछ पाठ बहुत महत्व के हैं। यह टीका श्रुतसागरीय टीका से भिन्न है। प्रति अपूर्ण है। इसका उपयोग भी यदा कदा च हो सका है। इसका संकेतिक नाम 'घ' है

"ङ" प्रति

यह प्रति चन्देरी की है, अपूर्ण है. इसमें १२×५ साईज के १५७ पत्र हैं। श्रुतसागरीय संस्कृत टीका से सहित है। प्रत्येक पत्र में ११ पंक्तियां और प्रति पंक्ति में ३५ से ४० तक अक्षर हैं। अन्त के पत्र न होने से लिपिकाल का पता नहीं चल सका है। इसका सांकेतिक नाम 'ङ' है।

'च' प्रति

यह प्रति भी चंदेरी की है। १५×५ साईज के २४० पत्र इसमें है। प्रतिपत्र में ११ पंक्तियां और प्रति पंक्ति में ३३ से ३५ तक अक्षर हैं। लिपि अत्यन्त सुन्दर और शुद्ध है। प्राचीन होने पर भी दशा अच्छी है। अन्त में निम्न लिखित लेख है—

'संवत् १७३० वर्षे पौषमासस्य शुक्लैकादश्यां लिखित्वा पूर्णतां नीतम्। मूलसंघ बलात्कार गण सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दाचार्यान्वयेन भट्टारक श्री ललित कीर्ति देवस्तच्छिष्यः ब्रह्म श्री सुमतिदास स्तच्छिष्य पं० गङ्गादासेन लिखापितं ज्ञानावरणीय कर्म क्षयार्थम्,।

ये सब प्रतियां वीतराग तपोधन श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी महाराज के संघस्थ श्री १०८ मुनि श्रुतसागर जी, श्री १०८ मुनि अजित सागर जी तथा ब्र० लाडमल जी की विहार कालीन शास्त्रभण्डारों की गवेषणा के फल स्वरूप प्राप्त हुई थीं।

'अ' प्रति

अन्तिम लिङ्ग पाहुड़ और शील पाहुड़ की गाथाओं का मिलान अजमेर के महापूत चैत्यालय में विद्यमान प्रति से किया गया है। इस प्रति का सांकेतिक नाम 'अ' है।

'म' प्रति

यह प्रति श्री दानवीर सेठ माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित एवं माननीय पं० पन्नालाल जी सोनी द्वारा संपादित प्रति है। संपादक महोदय ने बहुत परिश्रम के साथ इसका संपादन किया है। प्रकृत संस्करण के संपादन में इस प्रति से अत्यधिक सौकर्य प्राप्त हुआ है। इसका सांकेतिक नाम 'म' है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य—

षट्प्राभृत के मूलकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य हैं। कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर जैन आचार्यों में सर्वाधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हैं।

मङ्गलं भगवान्वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

इस मङ्गलवाक्यके द्वारा कुन्दकुन्द स्वामी का निरन्तर स्मरण किया जाता है। इनकी प्रशस्ति में कविवर वृन्दावन का निम्नाङ्कित सवैया अत्यन्त प्रसिद्ध है--

जास के मुखारविन्दतें प्रकाश भासवृन्द
स्याद्वाद जैन वैन इंद कुंद कुंद से

तास के अभ्यास तें विकाश भेद ज्ञान होत
मूढ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुंद कुंद से।
देत हैं अशीस शीस नाय इंद चंद जाहि
मोह मार खंड मार तंड कुंद कुंद से
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा
हुए न हैं न होहिंगे मुनिंद कुंद कुंद से॥

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के इस जयघोष का कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्व का प्राञ्जलवर्णन। समय सार आदि ग्रन्थों में उन्होंने पर से भिन्न तथा स्वकीयगुण पर्यायो से अभिन्न आत्मा का जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने अध्यात्म धारारूप जिस मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है उसके शीतल प्रवाह में अवगाहन कर भवभ्रमण श्रान्त पुरुषों ने शाश्वत शान्ति को प्राप्त किया है

कुन्दकुन्दाचार्य का विदेह गमन --

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्व की विशदता को देखकर उनके विषय में यह मान्यता प्रचलित हुई कि वे विदेह क्षेत्र गये थे और सीमन्धर स्वामी के मुखार विन्द से उन्होंने आत्म तत्व का स्वरूप प्राप्त किया था। विदेह गमन को बात को सर्व प्रथम प्रस्तुत करने वाले आचार्य देवसेन हैं जैसा कि उन्होंने दर्शनसार में उल्लेख किया है-

जइ पउमणंदि णाहो सीमंधर सामि दिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति॥ ४३॥

दर्शनसार

यदि पद्मनन्दी स्वामी सीमन्धर स्वामी के दिव्य ज्ञान के द्वारा विबोध को प्राप्त न होते तो श्रमण-मुनि सुमार्ग को किस प्रकार जान सकते।

पीछे चलकर ईसा की बारहवीं शताब्दी के विद्वान् जयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय की टीका के प्रारम्भ में निम्नलिखित अवतरण पुष्पिका में कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह गमन की चर्चा की है-

"अथ श्रीकुमार नन्दि सिद्धान्त देव शिष्यैः प्रसिद्ध कथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतराग सर्वज्ञ श्रीमंदर स्वामि तीर्थंकरपरमदेव दृष्ट्वा तन्मुख कमल विनिर्गत दिव्यवाणी श्रवणावधारित पदार्थाच्छुद्धात्म तत्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्व बहिस्तत्व गौणमुख्यप्रति पत्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजा दिसंक्षेपरुचि शिष्य प्रति बोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकाय प्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकार शुद्धि पूर्वकं तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते।"

अर्थात् जो कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे, प्रसिद्ध कथा के अनुसार जिन्होंने पूर्व विदेह क्षेत्र जाकर श्री वीतराग श्री मंदरस्वामी तीर्थंकर परम देव के दर्शन कर तथा उनके मुख कमल से विनिर्गत दिव्यध्वनि के श्रवण से अवधारित पदार्थों से शुद्ध आत्मतत्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहण कर जो पुनः वापिस आये थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाम थे ऐसे श्री मत्कुन्द कुन्दाचार्य देव के द्वारा अन्तस्तत्व की मुख्यरूप से तथा बहिस्तत्व की गौण रूप से प्रतिपत्ति कराने के लिये अथवा

शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रूचि वाले शिष्योंको समझाने के लिये विरचित पञ्चस्तिकाय प्राभृत शास्त्र में यथा क्रम से अधिकार शुद्धि पूर्वक तात्पर्यार्थ का व्याख्यान किया जाता है।

षट्प्राभृत के संस्कृत टीका कार श्री श्रुतसागर सूरि ने अपनी टीका के अन्त में भी कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह गमन का उल्लेख निम्न प्रकार किया है-

श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्य गृद्धपिच्छाचार्यनाम पञ्चक विराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेह पुण्डरीकिणीनगर वन्दित सीमन्धरापरनाम स्वयं प्रभ जिनेन श्री जिन चन्द्र सूरिभट्टारक पट्टाभरणेन कलिकाल सर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृत ग्रन्थे-

अर्थात् पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, और गृद्धपिच्छाचार्य इन पांच नामों से जो विराजमान थे, चार अङ्गुल ऊपर आकाश गमन की ऋद्धि जिन्हें प्राप्त थी, पूर्व विदेह क्षेत्र के पुण्डरीकिणी नगर में जाकर सीमन्धर अपर नाम स्वयं प्रभ जिनेन्द्र की जिन्होंने वन्दना की थी उनसे प्राप्त श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भरत क्षेत्र के भव्यजीवों को संबोधित किया था, जो जिन चन्द्रसूरिभट्टारक के पट्ट के आभूषण स्वरूप थे तथा कलिकाल के सर्वज्ञ थे ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में-

उपर्युक्त उल्लेखों से साक्षात् सर्वज्ञदेव की वाणी सुनने के कारण कुन्दकुन्द स्वामी को यद्यपि अपूर्व महत्ता प्रख्यापित की गई है तथापि कुन्दकुन्द स्वामी के साहित्य में स्वमुख से कहीं विदेह गमन की चर्चा उपलब्ध नहीं होती उन्होंने समय प्राभृत के प्रारम्भ में

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समय पाहुडमिणमो सुय केवली भणिदं ॥

इस मङ्गल वाक्य के साथ प्रतिज्ञा वाक्य में यही कहा है कि मैं श्रुत केवली के द्वारा भणित समय प्राभृत को कहूँगा यदि सीमंधर स्वामी की दिव्यध्वनि सुनने का सुयोग उन्हें प्राप्त होता तो उसका उल्लेख वे अवश्य करते फिर भी देवसेन आदि के उल्लेख सवथा अकारण नहीं हो सकते।

कुन्दकुन्दाचार्य के नामः-

पञ्चास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द, पद्मनन्दी आदि अपर नामों का उल्लेख किया है, षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने पद्मनन्दी कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पांच नामों का उल्लेख किया है। नन्दिसंघ से संबद्ध विजयनगर के शिलालेख में जो लगभग १३८६ ई० का है, उक्त पांच नाम बतलाये गये है नन्दिसंघ की पट्टावली में उपर्युक्त पांच नाम निर्दिष्ट हैं परन्तु अन्य शिला लेखों में पद्मनन्दि और कुन्दकुन्द अथवा कोण्डकुन्द इन दो नामों का ही उल्लेख मिलता है।

कुन्दकुन्द का जन्म स्थानः-

इन्द्रनन्दी आचार्य ने पद्मनन्दी को कुण्डकुन्द पुर का बतलाया है। इसीलिये श्रवण वेलगोला के कितने ही शिला लेखों में उनका कोण्डकुन्द नाम लिखा है। श्री पी० बी० देशाई ने "जैनिज्म इन साउथ इन्डिया" में लिखा है कि गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ४ मील पर एक कोनकुण्डल नामका स्थान है जो अनन्तपुर जिले के गुटी तालुके में स्थित है। शिला लेखों में इसका

प्राचीन नाम कोण्डकुन्दे मिलता है। यहां के निवासी इसे आज भी 'कोण्दकुन्दि' कहते हैं। बहुत कुछ सम्भव है कि कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म स्थान यही हो।

कुन्दकुन्द के गुरु:—

संसार से निःस्पृह वीतराग साधुओं के माता पिता के नाम सुरक्षित रखने लेखबद्ध करने की परम्परा प्रायः नहीं रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्यों के माता पिता विषयक इतिहास की उपलब्धि नहीं है। हां उनके गुरुओं के नाम किसी न किसी रूप में उपलब्ध होते हैं। पञ्चास्तिकाय को तात्पर्यवृति में जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द स्वामी के गुरुका नाम कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव लिखा है, और नन्दिसघ की पट्टावली में उन्हें जिनचन्द्र का शिष्य बतलाया गया है परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य ने बोधपाहुड के अन्त में अपने गुरु के रूप में भद्रबाहु का स्मरण किया है और अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है बोधपाहुड की गाथाएं इस प्रकार है।

> **सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।**
> **सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥**
> **बारस अंग वियाणं चउदस पुव्वंग बिउल वित्थरणं।**
> **सुयणाणि भद्दबाहू गमय गुरू भयवओ जयओ ॥ ६२ ॥**

प्रथम गाथा में कहा गया है कि जिनेन्द्रभगवान महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है। वह भाषासूत्रों में शब्दविकार को प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित किया गया है, भद्रबाहु के शिष्य ने उसको उसी रूप में जाना है और कथन किया है। द्वितीय गाथा में कहा गया है—बारह अंगों और चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के वेत्ता गमकगुरु भगवान श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवंत हो।

ये दोनों गाथाएं परस्पर में संबद्ध हैं पहली गाथा में कुन्दकुन्द ने अपने को जिस भद्रबाहु का शिष्य कहा है दूसरी गाथा में उन्हीं का जयघोष किया है। यहां भद्रबाहु से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ग्राह्य जान पड़ते है क्योंकि द्वादश अंग और चतुर्दश पूर्व का विपुल विस्तार उन्हीं से संभव था। इसका समर्थन समय प्राभृत के पूर्वोक्त प्रतिज्ञा वाक्य 'वंदितु सव्व सिद्धे' से भी होता है जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा प्रतिपादित समय प्राभृत को कहूँगा। श्रवण बेलगोला के अनेक शिला लेखों से यह उल्लेख मिलता है कि अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ भद्रबाहु वहां पधारे और वहां एक गुफा में उनका स्वर्गवास हुआ। इस घटना को आज ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकृत किया गया है।

बोध पाहुड के संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने—

"भद्रबाहु शिष्येण अर्हद्बलि गुप्तिगुप्तापरनाम द्वयेन विशाखाचार्य नाम्ना दशपूर्वधारिणा-मेकादशानाकाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञात।

इन पंक्तियों द्वारा कहा है कि यहां भद्रबाहु के शिष्य से विशाखाचार्य का ग्रहण है। इन विशाखाचार्य के अर्हद्बलि और बलिगुप्ति ये दो नाम और भी हैं, तथा ये दशपूर्व के धारक ग्यारह आचार्यों के मध्य प्रथम आचार्य थे। वही श्रुतसागर सूरि ६२ वीं गाथा की टीका में भद्रबाहु का

'पञ्चानां श्रुत केवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहु:' इन शब्दों द्वारा पांच श्रुत केवलियों में अन्तिम श्रुत केवली प्रकट करते हैं।

अब विचारणीय बात यह रहती है कि यदि कुन्दकुन्दाचार्य को अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु का साक्षात् शिष्य माना जाता है तो वे विक्रम शताब्दी से ३०० वर्ष पूर्व ठहरते हैं, और उससमय जब कि ग्यारह अंग चौदह पूर्वों के जानकार आचार्यों की परम्परा विद्यमान थी तब उनके रहते कुन्दकुन्द स्वामी की इतनी प्रतिष्ठा कैसे संभव हो सकती है और कैसे उनका अन्वय चल सकता है इसस्थिति में कुन्दकुन्द को परम्परा शिष्य ही माना जा सकता है साक्षात् नहीं श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा उपदिष्ट तत्व उन्हें गुरु परम्परा से प्राप्त रहा होगा उसीके आधार पर उन्होंने अपने आपको भद्रबाहुका शिष्य घोषित किया है।

दूसरी बात यह है कि कुन्दकुन्द स्वामी ने बोधप्राभृत की गाथाओं में इतना ही तो लिखा है कि भद्रबाहु के शिष्य ने जाना। यह नहीं कहा है कि मैं ही भद्रबाहु का शिष्य हूँ। अनुवाद कर्ता ने (कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह के अनुवाद कर्ता ने) भद्रबाहु के मुझ शिष्य ने यहां मुझ पद की योजना अपने आप करली है। भद्रबाहु अन्तिम श्रुत केवली थे अत: उनके द्वारा उपदिष्ट तत्व को उनके शिष्य विशाखाचार्य ने जाना। उसी की परम्परा आगे चलती रही। गमकगुरु का अर्थ श्रुतसागर जी ने उपाध्याय किया है सो विशाखाचार्य के लिये यह विशेषण उचित ही है।

कुन्द कुन्द का समय:—

कुन्द कुन्द स्वामी के समय निर्धारण पर प्रवचन सार की प्रस्तावना में डा० ए० एन० उपाध्ये ने, समन्तभद्र की प्रस्तावनामें जुगल किशोरजी मुख्तार ने पञ्चास्तिकाय की प्रस्तावनामें डा० ए० चक्रवर्ती ने तथा कुन्दकुन्दप्राभृत संग्रह की प्रस्तावना में प० कैलाश चन्द्र जी ने विस्तार के साथ चर्चा की है, लेख विस्तार के भय से मैं उन सब चर्चाओं के अवतरण नहीं देना चाहता। जिज्ञासु पाठकों को तत् तत् ग्रन्थों से जानने की प्रेरणा करता हुआ कुन्दकुन्द स्वामी के समय निर्धारण के विषय में मात्र दो मान्यताओंका उल्लेख कर रहा हूँ। एक मान्यता प्रो. हार्नले द्वारा संपादित नन्दिसंघ की पट्टावलियों के आधार पर यह है कि कुन्दकुन्द विक्रम की पहली शताब्दी के विद्वान् थे। वि० सं० ४९ में वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला,५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पद पर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की थी। डा. ए० चक्रवर्ती ने पञ्चास्तिकाय की प्रस्तावना में अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है और दूसरी मान्यता यह है कि वे विक्रम की तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ के विद्वान् है जिसका समर्थन जुगल किशोर जी मुख्तार, डा. ए० एन० उपाध्ये, नाथूराम जी प्रेमी तथा पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री आदि इतिहासज्ञ विद्वान् करते आये हैं।

कुन्द कुन्द के ग्रन्थ और उनकी महत्ता:—

दिगम्बर जैन ग्रन्थों में कुन्दकुन्द द्वारा रचित ग्रन्थ अपना अलग प्रभाव रखते हैं। उनकी वर्णन शैली ही इस प्रकार की है कि पाठक उससे वस्तुस्वरूप का अनुगम बडी सरलता से प्राप्त कर लेता हैं। निम्नाङ्कित ग्रन्थ कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित निर्विवाद रूप से माने जाते हैं तथा जैन समाज में उनका सर्वोपरिमान है —

१ नियम सार २ पञ्चास्तिकाय ३ प्रवचनसार ४ समय प्राभृत (समयसार) ५ वारस अणुपेक्खा ६ दंसण पाहुड ७ चारित्त पाहुड ८ सुत्त पाहुड़ ९ बोध पाहुड १० भाव पाहुड ११ मोक्ख पाहुड १२ सील पाहुड १३ लिंग पाहुड १४ दश भक्ति (जिसके अन्तर्गत सिद्ध भक्ति श्रुत भक्ति, चारित्र भक्ति योगि भक्ति, आचार्य भक्ति, निर्वाण भक्ति, पञ्चपरमेष्ठी भक्ति)

इनके सिवाय 'रयणसार' नाम का ग्रन्थ भी कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित प्रसिद्ध है परन्तु उसके अनेक पाठ भेद देख कर विचारक विद्वानों का मत है कि यह कुन्दकुन्द द्वारा रचित नहीं है अथवा इसके अन्दर अन्य लोगों की गाथाऐं भी संमिलित हो गई है। इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार के अनुसार षट्खण्डागम के आद्यभाग पर कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित परिकर्म ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ का उल्लेख षट्खण्डागम के विशिष्ट पुरस्कर्ता आचार्य वीरसेन ने अपनी टीका में कई जगह किया है इससे पता चलता है कि उनके समय तक तो उपलब्ध रहा परन्तु आज कल उसकी उपलब्धि नहीं है। शास्त्रभण्डारों-खास कर दक्षिण के शास्त्रभण्डारों में इसकी खोज की जानी चाहिये। मूलाचार भी कुन्दकुन्द स्वामीके द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योंकि उसकी अन्तिम पुष्पिका में (इति मूलाचार विवृतौ द्वादशोऽध्यायः कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत मूलाचाराख्यविवृतिः) कृति रियं वसुनन्दिनः श्रमणस्य' यह उल्लेख पाया जाता है।

षट्प्राभृतम्:—

प्रकृत ग्रन्थ 'षट्प्राभृतम्' के नाम से प्रसिद्ध है। संस्कृत टीकाकार श्री श्रुत सागर सूरि ने इसके १ दंसण पाहुड २ चरित्त पाहुड ३ सुत्तपाहुड ४ बोध पाहुड ५ भावपाहुड और ६ मोक्ख पाहुड इन छह पाहुडों पर सस्कृत टीका लिखी है तथा माणिक चन्द्र ग्रन्थ माला बम्बई से उसका प्रकाशन हुआ है। जान पड़ता है श्रुतसागर सूरिको उक्त छह पाहुड ही उपलब्ध हुए होंगे। उन पर उन्होंने टीका लिख कर 'षट्प्राभृतम्' नाम से उनका संकलन कर दिया जब कि ये सब स्वतन्त्र स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। पीछे चल कर सील पाहुड और लिंग पाहुड भी उपलब्ध होगये इसलिये इन दो को भी इसी संग्रह में शामिल कर अष्टपाहुड नाम से उनका प्रकाशन हुआ तथा उन पर पं० जयचन्द्र जी द्वारा देश भाषामय वचनिका लिखी गई। यहां संक्षेप में इन प्राभृत ग्रन्थों का प्रतिपाद्यविषय निरूपित किया जाता है—

दंसण पाहुड:--

इसमें ३६ गाथाएं हैं। आत्मा के समस्त गुणों में सम्यग्दर्शन की महिमा सबसे महान् है। सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल कारण है ऐसी कुन्दकुन्द स्वामी की देशना है। दंसण पाहुड़ के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं—

> दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
> तं सोऊण सकण्णे दंसण हीणो ण वंदिव्वो ॥ २ ॥

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् ने शिष्यों के लिये सम्यग्दर्शन मूलकधर्म का उपदेश दिया है सो उसे अपने कानों से सुनकर सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य की वन्दना नहीं करनी चाहिये।

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वास्तव में वे ही भ्रष्ट हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मनुष्य को निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु जो चारित्र से भ्रष्ट है वे सम्यग्दर्शन का अस्तित्व रहने से

पुनः चारित्र को प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। जो मनुष्य सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से भ्रष्ट हैं वे अनेक शास्त्रों को जानते हुए भी आराधना से रहित होने के कारण उसी संसार में परिभ्रमण करते रहते है। सम्यग्दर्शन से रहित जीव करोडों वर्ष तक उग्र तपश्चरण करने के बाद भी बोधि को प्राप्त नहीं कर सकता जबकि भरत चक्रवर्ती जैसे भव्य पुरुष दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त के अन्दर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं जिस प्रकार मूल के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के परिवार की वृद्धि नहीं होती इसी प्रकार सम्यक्त्व से भ्रष्ट मनुष्य की वृद्धि नहीं होती, वह निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता।

स्वयं सम्यक्त्व से रहित होकर भी जो दूसरे सम्यक्त्व सहित जीवों से अपनी पादवन्दना कराते हैं वे मर कर लूले और गूंगे होते है अर्थात् स्थावर होते हैं तथा उन्हें बोधि की प्राप्ति दुर्लभ रहती है। इसी प्रकार जो जान कर भी लज्जा, भय या गौरव के कारण मिथ्यादृष्टि जीव की पादवन्दना करते हैं वे पाप की ही अनुमोदना करते हैं, उन्हें भी बोधि की प्राप्ति नहीं होती।

कुन्दकुन्द स्वामी ने बतलाया है कि सम्यक्त्व से ज्ञान होता है ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थों की उपलब्धि को प्राप्त मनुष्य श्रेय तथा अश्रेय को जानता है। इसी दर्शन प्राभृत में कुन्दकुन्द महाराज ने सम्यग्दृष्टि जीव का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो छह द्रव्य, नौ पदार्थ पञ्चास्तिकाय, तथा सात तत्वों का श्रद्धान करता है उसे ही सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन है और आत्मा का श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन समस्त गुण रूपी रत्नों में सारभूत है तथा मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है।

जो असंयमी है वह वन्दनीय नहीं है, भले ही वह वस्त्र से रहित हो। वस्त्र का त्याग देना ही संयमी की परिभाषा नहीं है किन्तु उसके साथ सम्यग्दर्शनादि गुणों का प्रकट होना ही संयमी का लक्षण है। सम्यग्दर्शनादिगुणों के बिना वस्त्र रहित और वस्त्रसहित—दोनों ही एक समान है, उनमें एक भी संयमी नहीं हैं।

चारित्तपाहुडः—

चारित्रपाहुड में ४४ गाथाएं हैं। इनमें चारित्र का निरूपण किया गया है। चारित्र पाहुड का प्रारम्भ करते हुए कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं कि मोक्षाराधना का कारण सम्यक्चारित्र है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र आत्मा के अविनाशी तथा अनन्तभाव हैं, इन्हीं में शुद्धता लाने के लिये जिनेन्द्र भगवान ने दो प्रकार के चारित्र का कथन किया है। चारित्र के दो भेद ये हैं। एक सम्यक्त्वाचरण और दूसरा संयमाचरण। निःशङ्कित, निकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ दृष्टि उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अङ्ग हैं। इन आठ अङ्गों से विशुद्धता को प्राप्त हुआ सम्यक्त्व जिन सम्यक्त्व कहलाता है, ज्ञान सहित जिन सम्यक्त्व का आचरण करना सम्यक्त्वाचरण नाम का चारित्र है। संयमाचरण के सागार और अनागार के भेद से दो भेद हैं, गृहस्थों का आचरण सागाराचरण और निर्ग्रन्थ मुनियों का आचरण अनागाराचरण कहलाता है। सागारा चरण के दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित त्याग, रात्रिभक्तत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग, और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारहभेद हैं, इन्हीं को ग्यारह प्रतिमा कहते हैं। समन्तभद्राचार्य ने जो ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन किया है उसका मूलाधार यही मालूम होता है। सागारसंयमाचरण पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस तरह बारह भेदों में

विभाजित है। उपर्युक्त ग्यारह प्रतिमाओं में इन्हीं बारह प्रकार के सागाराचरण का पालन होता है।

स्थूलहिंसा, स्थूलमृषा, स्थूलचौर्य, तथा परदार से निवृत्त होना और परिग्रह तथा आरम्भ का परिमाण करना-सीमा निश्चित करना ये क्रम से अहिंसादि पांच अणुव्रत हैं। दिशाओं और विदिशाओं का परिमाण करना अनर्थ दण्ड का त्याग करना और भोगोपभोग का परिमाण करना ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं। तत्वार्थ सूत्रकार ने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड व्रत इन तीन को गुणव्रत और सामायिक प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग इन चार को शिक्षाव्रत कहा है। समन्तभद्रस्वामी ने दिग्व्रत, अनर्थ दण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण इन्हें तीन गुणव्रत तथा सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य इन्हें चार शिक्षाव्रत कहा है। इन दोनों आचार्यों ने सल्लेखना का वर्णन अलग से किया है।

पञ्चइन्द्रियों को वश करना, पञ्चमहाव्रत धारण करना, पञ्च समितियों का पालन करना और तीन गुप्तियों को धारण करना यह सब अनागाराचरण अर्थात् मुनियों का चारित्र है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में राग द्वेष न कर मध्यस्थभाव धारण करना सो स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों का वश करना है। हिंसादि पांच पापों का सर्वथा त्याग करना सो पांच महाव्रत हैं। ये महान् प्रयोजन को साधते हैं, महापुरुष इन्हें साधते हैं अथवा स्वयं में ये महान् हैं इसलिये इन्हें महाव्रत कहते हैं। इन अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिये पच्चीस भावनाएं होती हैं। ये वही पच्चीस भावनाएं हैं जिनके आधार पर तत्वार्थ सूत्र कार ने सप्तमाध्याय में अहिंसादि व्रतों की पांच पांच भावनाओं का वर्णन किया है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और निक्षेप ये पांच समितियां हैं। ग्रन्थान्तरों में आदान निक्षप को एक समिति मान कर प्रतिष्ठापन अथवा व्युत्सर्ग नाम की अलग समिति स्वीकृत की गई है।

इस तरह संयमचरण का वर्णन करने के बाद कुन्द कुन्द महाराज ने कहा है कि जो जीव परम श्रद्धा से दर्शन, ज्ञान, और चारित्र को जानता है वह शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

सुत्तपाहुडः—

सूत्र पाहुड में २७ गाथाएं हैं। प्रारम्भ में सूत्र की परिभाषा दिखलाते हुए कहा गया है कि अरहन्त भगवान ने जिसका अर्थरूप से निरूपण किया है, गणधर देवों ने जिसका गुम्फन किया है। तथा शास्त्र का अर्थ खोजना ही जिसका प्रयोजन है उसे सूत्र कहते हैं, ऐसे सूत्र के द्वारा साधु परमार्थ को साधते हैं। सूत्र की महिमा बतलाते हुए कहा है कि सूत्र को जानने वाला पुरुष शीघ्र ही भव का नाश करता है। जिसप्रकार सूत्र अर्थात् सूत से रहित सुई नाश को प्राप्त होती है उसी प्रकार सूत्र अर्थात्—आगमज्ञान से रहित मनुष्य नाश को प्राप्त होता है। जो जिनेन्द्र प्रतिपादित सूत्र के अर्थ को जीवा जीवादि नाना प्रकार के पदार्थों को और हेय तथा अहेय को जानता हैं वही सम्यग्दृष्टि है। जिनेन्द्र भगवान ने जिस सूत्र का कथन किया है वह व्यवहार तथा निश्चय रूप है, उसे जान कर ही योगी वास्तविक सुख को प्राप्त होता है तथा पापपुंज को नष्ट करता है। सम्यक्त्व के बिना हरि हर के तुल्य मनुष्य भी स्वर्ग जाता है और वहां से आकर करोड़ों भव धारण करता है परन्तु मोक्ष को प्राप्त नहीं होता।

इसी सूत्र पाहुड में कहा है कि जो मुनि सिंह के समान निर्भय रह कर उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकार के व्रत उपवास आदि करते हैं तथा आचार्य आदि के पद का गुरुतर

भार धारण करते हैं परन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं— आगम की आज्ञा का उल्लङ्घन कर मनचाही प्रवृत्ति करते हैं वे पाप को प्राप्त होते हैं तथा मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। कुन्दकुन्द स्वामी ने इस सूत्र पाहुड में घोषणा की है कि जिनेन्द्र भगवान् ने निर्ग्रन्थ मुद्रा को ही मोक्षमार्ग कहा है अन्य सब प्रकार के सवस्त्र-सपरिग्रह वेष मोक्ष के अमार्ग है। निर्ग्रन्थ साधुओं को बाल के अग्रभाग की अनी के बराबर भी परिग्रह नहीं हैं इसलिये वह एक ही स्थान पर पाणिपात्र में श्रावक के द्वारा दिये हुए अन्न को ग्रहण करता है। मुनि नग्न मुद्रा का धारक होकर तिलतुष के बराबर भी परिग्रह को ग्रहण नहीं करता हैं। यदि कदाचित् ग्रहण करता हैं तो उसके फल स्वरूप निगोद को प्राप्त होता है। जिन शासन में तीन लिङ्ग ही कहे गये हैं- एक निर्ग्रन्थ साधु का दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का और तीसरा आर्यिकाओं का। इनके सिवाय अन्य लिङ्ग मोक्षमार्ग में ग्राह्य नहीं हैं। वस्त्र धारी मनुष्य भले ही तीर्थंकर हो, सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। तीर्थंकर भी तभी मोक्ष को प्राप्त होते हैं जब वस्त्र रहित होकर निर्ग्रन्थ मुद्रा को धारण करते हैं स्त्री के निर्ग्रन्थ दीक्षा संभव नहीं हैं इस लिये वह उसभव से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती।

बोध पाहुड:-

इसमें ६२ गाथाएं हैं जिनमें आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हन्त तथा प्रव्रज्या का स्वरूप समझाया है प्रव्रज्या का वर्णन करते हुए मुनि चर्या का बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने कहा है। कि जो गृह तथा परिग्रह के मोह से रहित है, बाईस परिषहों को जीतने वाली है, कषाय रहित है तथा पापारम्भ से विमुक्ति है ऐसी प्रव्रज्या-दीक्षा होसकती है जो शत्रु और मित्रमें समभाव रखती है, प्रशंसा निन्दा लाभ अलाभमें समभाव से सहित है तथा तृण और सुवर्ण के मध्य जिसमें समान भाव होता है वही प्रव्रज्या कहलाती है। जो उत्तम घरों में तथा दरिद्र और संपन्न व्यक्तियों में निरपेक्ष है, जिसमें सधन तथा निर्धन सभी के घर आहार किया जाता है वह प्रव्रज्या कहलाती है। जिसमें तिल तुषमात्र भी परिग्रह नहीं रहता सर्व दर्शी भगवान् ने उसी को प्रव्रज्या कहा है। इस बोधपाहुड के अन्त में कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य बत लाते हुए उनका जयकार किया है।

भाव पाहुड:-

इसमें १६३ गाथाएं हैं। कुन्दकुन्द महाराज ने मंगलाचरण के बाद कहा है। कि भाव ही प्रथम लिङ्ग है, द्रव्यलिङ्ग परमार्थ नहीं है, परमार्थ साधन है अर्थात भाव के बिना द्रव्य लिङ्ग परमार्थ की सिद्धि करने वाला नहीं है। गुण और दोषों का कारण भाव ही हैं। भाव विशुद्धि के लिये बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है जो आभ्यन्तर परिग्रह से युक्त है उसका बाह्यत्याग निष्फल है। भाव रहित साधु यद्यपि कोटि कोटि जन्म तक हाथों को नीचे लटका कर तथा वस्त्र का परित्याग कर तपश्चरण करता है तो भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता। भाव के बिना इस जीव ने नरकादि गतियों में दुःख भोगे है भाव के बिना इस जीव ने अनन्त जन्म धारण कर माताओं का इतना दूध पिया है कि उसका परिमाण समस्त समुद्रों के सलिल से भी अधिक है। भावों के बिना इस जीव ने मरण कर अपनी माताओं को इतना रुलाया है कि उनके नेत्रों का जल समस्त समुद्रों के जल से कहीं अधिक हो जाता है। भावों के बिना इस जीव ने अन्तर्मुहूर्त में छयासठ हजार तिनसौ छत्तीस बार मरण प्राप्त

किया है। बाहुबली तथा मधुपिङ्ग आदि के दृष्टान्त देकर मुनि को भाव शुद्धि के लिये प्रेरित किया गया है भव्यसेन मुनि अङ्ग और पूर्व के पाठी होकर भी भावश्रमण अवस्था को प्राप्त नहीं हो सके और शिवभूति मुनि मात्र तुषमास शब्दका बराबर उच्चारण करते हुए केवल ज्ञानी बन गये। निष्कर्ष के रूप में कुन्दकुन्द स्वामी ने बतलाया है कि भाव से नग्न हुआ जाता है, बाह्यलिङ्ग रूप नग्न वेष से क्या साध्य है ? भाव सहित द्रव्यलिङ्ग के द्वारा ही कर्म प्रकृतियों के समूह का नाश होता है। भाव लिङ्गी साधु कौन होता है ? इसके उत्तर में कहा है–जो शरीर आदि परिग्रह से रहित है, मान कषाय से पूर्णतया निर्मुक्त है, तथा जिसकी आत्मा आत्म स्वरूपमें लीन है वही साधु भावलिङ्गी होता है। भावलिङ्गी साधु विचार करता है कि ज्ञान दर्शन लक्षण वाला एक नित्य आत्मा ही मेरा है, कर्मोंके संयोग से होने वाले भाव मुझसे बाह्यभाव हैं, वे मेरे नहीं हैं। जिन धर्म की उत्कृष्टता का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस प्रकर रत्नों में हीरा और वृक्षों के समूह में चन्दन उत्कृष्ट है उसी प्रकार धर्मों में संसार को नष्ट करने वाला जिनधर्म उत्कृष्ट है। पुण्य और धर्मकी पृथकता सिद्ध करते हुए श्री कुन्दकुन्दचार्य कहते हैं कि पूजा आदि शुभ कार्यों में व्रत सहित प्रवृति करना पुण्य है, ऐसा जिनमत में जिनेन्द्र देव ने कहा है और मोह तथा क्षोभ से रहित आत्मा का जो परिणाम है वह धर्म है। धर्म का यही लक्षण इन्होंने 'चारित्तं खलु धम्मो'––इस गाथा द्वारा प्रवचनसार में भी कहा है। इत्यादि विविध उपदेशों से भावपाहुड भरा हुआ है।

मोक्ख पाहुड—

इसमें १०६ गाथाएं हैं मंगलाचरण और प्रतिज्ञा वाक्य के बाद उस अर्थ की–आत्म द्रव्य की महिमा गाई गई है जिसे जानकर योगी अव्याबाध अनन्त सुख को प्राप्त होता है। वह आत्मद्रव्य बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है उनमें बहिरात्मा को छोड़ने तथा अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा के ध्यान करने की बात कही गई है। इन्द्रियां संकल्प बहिरात्मा है, आत्मसंकल्प अन्तरात्मा है और कर्म कलंक से वियुक्त देव परमात्मा है। बहिरात्मा–मूढ़ दृष्टि निज स्वरूप से च्युत होकर स्वकीय शरीर को ही आत्मा समझता है। यही अज्ञान उसके मोह को बढ़ाता है। इसके विपरीत जो जो योगी शरीर में निरपेक्ष निर्द्वन्द्व, निर्मल और निरहंकार रहता है वही निर्वाण को प्राप्त होता है पर द्रव्य में रत रहने वाला जीव नाना प्रकार के कर्मों से बंधता है। और पर द्रव्य से विरत रहने वाला नाना कर्मों से छूटता है यह बन्ध और मोक्ष विषयक संक्षेपमय जिनोपदेश है। तप से स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं पर जो ध्यान से स्वर्ग प्राप्त करता है उसका स्वर्ग प्राप्त करना कहलाता है ऐसा जीव परभव में शाश्वत सुख-मोक्ष को प्राप्त होता है। व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर लेना अच्छा है किन्तु नरक के दुःख भोगना अच्छा नहीं है क्योंकि छाया और धूप में बैठकर इष्ट स्थान की प्रतीक्षा करने वालों में महान् अन्तर है। जो व्यवहार में सोता है वह आत्म कार्य में जागता है और जो आत्म कार्य में जागता है वह व्यवहार में सोता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभाव से शुद्ध है परन्तु पर द्रव्य के संयोग से विभिन्न वर्ण का हो जाता है इसी प्रकार जीव स्वभाव से शुद्ध है–परन्तु परद्रव्य के सयोग से रागादि युक्त हो जाता है। अज्ञानी जीव उग्रतप के द्वारा अनेक भवों में जिन कर्मों को खिपाता है तीन गुप्तियों का धारी ज्ञानी जीव उन्हें अन्तर्मुहूर्त में खिपा देता है जिसका ज्ञान चारित्र से रहित है और जिसका तप सम्यग्दर्शन से रहित है उसके लिङ्ग ग्रहण मुनिवेष धारण करने से क्या होने वाला है ? आत्म ज्ञान के बिना बहुत शास्त्रों का पढ़ना बालश्रुत है और आत्मस्वभाव के विपरीत चारित्र पालन करना बाल चारित्र

है। इत्यादि विविध उपदेशों के साथ मोक्ष का स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के साधन बतलाये गये हैं। संस्कृत टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने इन छह पाहुड़ों पर संस्कृत टीका लिखी है।

लिङ्ग पाहुड—

इसमें २२ गाथाएं हैं। मङ्गला चरण और प्रतिज्ञा वाक्य के प्रथम गाथा से इसका पूरा नाम श्रमणलिङ्ग पाहुड है। श्रमण का अर्थ मुनि है। इसमें मुनियों के लिङ्ग अर्थात् वेष की चर्चा की गई है। बताया गया है कि रत्नत्रय रूप धर्म से ही लिङ्ग होता है अर्थात् लिङ्ग की सार्थकता धर्म से है मात्र लिङ्ग धारण करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। जो पापी जीव जिनेन्द्र देव के लिङ्ग को धारण कर लिङ्गी के यथार्थ भाव की हंसी कराता है वह यथार्थ वेष को नष्ट करता हैं जो निर्ग्रंथ लिङ्ग धारण कर नाचता है गाता है और बजाता है वह पापी पशु है श्रमण नहीं है। जो लिङ्ग धारण कर दर्शन ज्ञान और चारित्र को उपधान तथा ध्यान का आश्रय नहीं बनाता है किन्तु इसके विपरीत आर्तध्यान करता है वह अनन्त संसारी बनता है। जो मुनि होकर कांदर्पी आदि कुत्सित भावनाओं को करता है और भोजन में रस विषयक गृद्धता करता है। वह मायावी पशु है मुनि नहीं है जो जिन लिङ्ग धारणकर अदत्त वस्तु का ग्रहण करता है। अर्थात् दातार की इच्छा के बिना अड़कर किसी वस्तु को लेता है। तथा परोक्ष दूषण लगाकर दूसरे की निन्दा करता है वह चोर के समान है। जो स्त्रियों के समूह के प्रति राग करता है तथा दूसरों को दोष लगाता है वह पशु है मुनि नहीं है। जो पुंश्चली स्त्रियों के घर भोजन करता है तथा उनकी प्रशंसा करता है वह बाल स्वभाव को प्राप्त होता है तथा भाव से विनष्ट है अर्थात् कोरा द्रव्य लिङ्गी है। अन्त में कहा गया है कि जो मुनि सर्वज्ञ देव के द्वारा उपदिष्ट धर्म का पालन करता है वही उत्तम स्थान को प्राप्त करता है।

शील पाहुड—

इसमें ४० गाथाएं हैं। प्रथम ही भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार कर शील गुणों के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है। बताया गया है कि शील और ज्ञान में विरोध नहीं है किन्तु सहभाव है शील के बिना विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं। ज्ञान बड़ी कठिनाई से जाना जाता है और जानकर उसकी भावना और भी अधिक कठिनाई से होती है। जब तक यह जीव विषयों में लीन रहता है तब तक ज्ञान को नहीं जानता और ज्ञान के बिना विषयों से विरक्त जीव पुरातन कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता। चारित्र रहित ज्ञान दर्शन रहित लिङ्ग ग्रहण और संयम रहित तब ये सभी निरर्थक है जिस प्रकार सुहागा और नमक के लेप में फूंका हुआ स्वर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान रूपी जल के द्वारा जीव शुद्ध हो जाता है। यदि कोई ज्ञान से गर्वित होकर विषयों में राग करता है तो यह ज्ञान का अपराध नहीं है किन्तु उसी मन्द बुद्धि पुरुष का अपराध है। जो शील की रक्षा करते हैं, दर्शन से शुद्ध हैं दृढ़ चारित्र का धारण करते है और विषयों मे विरक्त रहते हैं उन्हें नियम से निर्वाण की प्राप्ति होती है। शील रहित मनुष्य का जन्म निरर्थक है।

लिङ्ग पाहुड और शील पाहुड पर संस्कृत टीका नहीं है। सिर्फ हिन्दी टीका है।

कुन्दकुन्द साहित्य में सहित्यिक सुषमा—

कुन्दकुन्द स्वामी ने अधिकांश गाथा छन्द का जो कि आर्या नाम से प्रसिद्ध है प्रयोग किया है। कहीं अनुष्टप् और उपजाति छन्द का भी प्रयोग किया है। एक ही छन्द को पढ़ते पढ़ते बीच में यदि विभिन्न छन्द आ जाता है तो उससे पाठक को एक विशेष प्रकार का हर्ष होता है। कुन्दकुन्द स्वामी के कुछ अनुष्टप् छन्दों के नमूना देखिये।

ममत्ति परिवज्जामि निम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥५७॥

भाव प्राभृत

एगो मे सस्सदो अप्पा णाण दंसण लक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥

भाव प्राभृत

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२॥

मोक्ष प्राभृत

विरदी सव्वसावज्जे तिगुत्ती पिहिदिंदिओ ।
तस्स समाइगं ठाइ इदि केवलि सासणे ॥१२५॥
जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलि सासणे ॥१२६॥

नियमसार

चेया उ पयडी अट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥
एवं बंधों उ दुण्हं वि अण्णोण्णपच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥

समय प्राभृत

एक उपजाति का नमूना देखिये—

णिद्धस्य णिद्धेण दुराहिएण
लुक्खस्स लुक्खेण दुराहियेण ।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो
जहण्ण वज्जो विसमे समे वा ॥

प्रवचन सार

अलंकारों की पुट भी कुन्दकुन्द स्वामी ने यथा स्थान दी है। जैसे अप्रस्तुत प्रशंसा का एक उदाहरण देखिये—

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं ।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥१३६॥

भाव प्राभृत

थोड़े हेर फेर के साथ यह गाथा समय प्राभृत में भी आया है। उपमालंकार की छटा देखिये—

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं ।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावय दुविहधम्माणं ॥१४२॥
जह फणिराओ रेहइ फणमणि माणिक्क किरण विप्फुरिओ ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणो जीवो ॥१४३॥

जह णारायण सहियं ससहर बिंबं खमंडले विमले ।
भाविय तह वयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥१४४॥
जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलणिपत्तं सहावपसडीए ।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहि सप्पुरिसो ॥१५२॥

भाव प्राभृत

रूपकालंकार की बहार देखिये—

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण ।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभाव सत्थेण ॥१५१॥
ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण ।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं ॥१५४॥
मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरुढा ।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥१५६॥

भाव प्राभृत

कहीं पर कूटक पद्धति का भी अनुसरण किया है। यथा—

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ ।
दो दोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥४४॥

मोक्ष प्राभृत

अर्थात् तीन के द्वारा तीन को धारण कर, निरन्तर तीन से रहित, तीन से सहित और दो दोषों से मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है।

संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागरसूरि

षट्प्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि हैं। यह अपने को सूरि तो लिखते हैं पर यहां सूरि का अर्थ दिगम्बराचार्य नहीं है। यह भट्टारक थे और देशव्रती थे। इनके गुरु का नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दि देवेन्द्रकीर्ति के और देवेन्द्रकीर्ति पद्मनन्दि के शिष्य थे। विद्यानन्दि के वाद मल्लिभूषण और उनके वाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक हुए। लक्ष्मीचन्द्र गुर्जर देश के सिंहासन के भट्टारक थे। सम्भवत: श्रुतसागर गद्दी पर बैठे ही नहीं। श्रुतसागर बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी ग्रन्थ रचना तथा संस्कृत टीका में उद्धृत नाना ग्रन्थों के उद्धरण देख ऐसा लगता है कि इनका अध्ययन और मनन चतुर्मुखी था।

आराधना कथाकोष तथा नेमिपुराण आदि ग्रन्थों के कर्ता ब्रह्म नेमिदत्त, मल्लिभूषण के शिष्य थे। उन्होंने श्रुतसागर का गुरुभाई रूप से स्मरण किया है। दंसण पाहुड की प्रथम अवतरणिका में श्रुतसागर जी ने लिखा है कि वे श्री विद्यानन्दि भट्टारक के पट्ट के आभरण स्वरूप श्री मल्लिभूषण भट्टारक की आज्ञा से इस ग्रन्थ की टीका करने में प्रवृत्त हुए हैं।

श्रुतसागर सूरि १६ वीं शती के विद्वान् थे। इन्होंने षट्प्राभृत की टीका करते हुए जगह जगह मूर्तिपूजा विरोधी लोंकागच्छ की बहुत कड़ी आलोचना की है। इतनी कड़ी कि वाक् संयम का ध्यान भी छूट गया जान पड़ता है। उस समय प्रचार में आये हुए लोंकागच्छ के प्रति उनके हृदय में तीव्र असहिष्णुता का भाव था। पाहुडग्रन्थों की रचना करते समय कुन्दकुन्द स्वामी के समक्ष मुनियों क

वस्त्र धारण तथा, स्त्री मुक्ति की समस्या थी जिसका निषेध उन्होंने जगह जगह किया है परन्तु मूर्ति-पूजा विरोधी लोगों की कोई समस्या उनके सामने नहीं थी इसलिये स्वभावतः षट्प्राभृत की गाथाओं से उनके विरुद्ध कोई भाव प्रकट नहीं होता परन्तु श्रुतसागर जी के समय लोंकगाच्छ का प्रचलन जोर पकड़ रहा था अतः उसका निषेध करने के लिये गाथा के भावार्थ को उन्होंने अपने मन्तव्य की ओर खींचा है। यही कारण रहा है कि कुछ गाथाओं के अर्थ में विभिन्नता पाई जाने लगी है। प्रकृत संस्कृत टीका में श्रुतसागर जी ने जैनागम के चारों अनुयोगों से सम्बद्ध विभिन्न विषय संकलित किये हैं। तथा प्रकृत अभिप्राय को पुष्ट करने के लिये अनेक ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं उन उद्धरणों में प्राकृत संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषा के उद्धरण हैं। कुछ गद्य रूप भी है जिन उद्धरणों के विषय में ज्ञात हो सका उनके ग्रन्थ तथा लेखकों का नाम टिप्पणी में दे दिया है पर जिनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं हो सका उन्हें यूंही छोड़ दिया है मात्र उनका अर्थ दिया है। रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रभाचन्द्रीय संस्कृत टीका का अनुसरण करते हुए अनेक कथाएं दी हैं जिससे जनसाधारण के लिये भी ग्रन्थ रुचिकर हो गया है।

ग्रन्थ रचना—

श्रुतसागर सूरि प्रतिभाशाली विद्वान् थे। न्याय, व्याकरण,साहित्य तथा धर्म शास्त्र के वे अनुपम विद्वान् थे। उनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों में कुछ का परिचय इस प्रकार है—

१ **यशस्तिलक चन्द्रिका**—यह सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू पर लिखित संस्कृत टीका है। अपूर्ण है, प्रारम्भ से लेकर पांचवें उच्छ्वास के कुछ अंश तक ही लिखी जा सकी है। जान पड़ता है कि यह उनकी अन्तिम रचना है जो आयु की समाप्ति हो जाने के कारण पूर्ण नहीं हो सकी। श्लेष पूर्ण गद्यों का व्याख्यान करने में आपने बड़ी कुशलता दिखलाई है।

२ **तत्त्वार्थ वृत्ति**—यह तत्त्वार्थ सूत्र की विस्तृत टीका है पूज्यपाद की सर्वार्थ सिद्धि टीका का पल्लवन करते हुए इसमें कितना ही नवीन संकलन किया गया है।

३ **औदार्य चिन्तामणि**—यह स्वोपज्ञ वृत्ति सहित प्राकृत का व्याकरण है।

४ **तत्त्वत्रय प्रकाशिका**—यह ज्ञानार्णव के अन्तर्गत गद्य भाग की टीका है।

५ **जिनसहस्र नाम टीका**—यह पं. आशाधर जी कृत सहस्रनाम स्तोत्र की टीका है।

६ **महाभिषेक टीका**—यह आशाधर जी के नित्यमहोद्योत नामक ग्रन्थ की टीका है।

७ **षट्प्राभृत टीका**—यह प्रकृत ग्रन्थ है। जान पड़ता है कि टीका लिखते समय इन्हें शील पाहुड़ और लिंग पाहुड़ उपलब्ध नहीं हुए होंगे इसलिये छह पाहुड़ों की ही टीका इन्होंने लिखी है। पीछे चलकर पं. जयचन्द्र जी आदि विद्वानों ने शील पाहुड़ तथा लिङ्ग पाहुड़ पर भी वचनिका लिख सब को अष्ट पाहुड़ नाम से प्रख्यात किया है जबकि ये सब पाहुड़ स्वतन्त्र स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, एक दूसरे से इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

इनके सिवाय व्रत कथा कोष, श्रीपाल चरित, यशोधरचरित, सिद्धभक्ति टीका, तथा सिद्ध-चक्राष्टक टीका आदि और भी अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं। इनके कुछ गुजराती ग्रन्थ भी बम्बई के सरस्वती भवन में विद्यमान हैं।

षट्प्राभृत का यह संस्करण—

संस्कृत टीकाकार ने इसकी टीका में जो प्रमेय संकलित किया है उसे देखकर बार बार इच्छा

होती थी कि हिन्दी अनुवाद के साथ इसका एक संस्करण तैयार कर दिया जाय तो आम जनता को इससे बहुत लाभ पहुँच सकता है। सौभाग्य से पिछले वर्षों में श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी, श्रुतसागर जी तथा अजितसागर जी महाराज तथा ब्र० लाडमल जी और ब्र० हीरालाल जी पाटनी निवाई के साथ सम्पर्क बढ़ा और षट्प्राभृत की संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद सहित संस्करण तैयार कर देने की चर्चा सामने आई तब हिन्दी अनुवाद सहित संस्करण तैयार करने का विचार हुआ।

संपादन के लिये हस्त लिखित प्रतियों का प्राप्त कर लेना अपनी समाज में कठिन कार्य है परन्तु आचार्य शिवसागर जी महाराज के संघस्थ श्री १०८ मुनि अजितसागर जी को प्राचीन ग्रन्थों की खोज करने की आन्तरिक रुचि है। विहार काल में उन्होंने जगह जगह के सरस्वती भवनों का निरीक्षण करते समय षट्प्राभृत की जो प्रतियां प्राप्त कीं वे उन्हें हमारे पास भिजवाते रहे। उन सबके आधार पर यह संस्करण तैयार हुआ है।

यह हिन्दी टीका, संस्कृत टीका का अविकल अनुवाद नहीं है क्योंकि खण्डान्वय से लिखित संस्कृत टीका का अविकल अनुवाद करने से हिन्दी का रूप सुरक्षित नहीं रह सकता अतः समस्त विषयों का भाव लेकर हिन्दी टीका विशेषार्थ के रूप में लिखी गई है। टीका में आगत सब श्लोकों तथा अवतरणों का अर्थ दिया गया है। यदि कोई विषय अर्थ मात्र से स्पष्ट होता नहीं दिखा तो उसे टिप्पण देकर स्पष्ट किया गया है। यदि कहीं और भी अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तो उसे ब्रेकिट या कोष्ठक के अन्तर्गत स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जहां संस्कृत टीका तथा पं. जयचन्द्र जी की हिन्दी टीका में भावभेद दिखा वहां पं. जयचन्द्र जी की टीका टिप्पणी में दे दी है। वास्तव में कुन्दकुन्द स्वामी का प्रत्येक वचन इतना तलस्पर्शी है कि वह पाठक के आनन्द को बढ़ाने में सहायक होता है ऐसा पाठक, जिसने कि अनेक जटिल ग्रन्थों का अध्ययन किया है जब कुन्दकुन्द स्वामी के सुलझे हुए शब्दों में सरलतम उद्गार देखता है तब उसके आनन्द का पार नहीं रहता।

एक समय था कि जब श्रोता विस्तर रुचि थे। सूत्र ग्रन्थों के ऊपर बड़े बड़े भाष्य लिखने की परम्परा उस समय थी। बड़ी बड़ी टीकाएं उन पर लिखी जाती थी पर आज का श्रोता ग्रन्थ कर्ता के भाव को टीकाकारों के शब्दाडम्बर से हटकर संक्षेप में जानना चाहता है। इसी अभिप्राय से मैंने कुन्दकुन्द स्वामी के समस्त उपलब्ध ग्रन्थों का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद 'कुन्दकुन्द भारती' के नाम से किया है। इसमें अपने अपने स्थल पर किस गाथा की कितनी उपयोगिता है इसे सुरक्षित रक्खा गया है। आशा है जिनवाणी के भक्त कुन्दकुन्द स्वामी के उद्गार आम जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे।

इस संस्करण में भी गाथा का अर्थ, गाथार्थ के नाम से पृथक् दिया गया है। और टीकाकार का भाव विशेषार्थ के नाम से दिया गया है। अन्त में गाथानुक्रमणिका और टीका में उद्धृत पद्यों की अनुक्रमणिका के रूप में दो परिशिष्ट संलग्न किये गये हैं प्रारम्भ में विषय सूची दी है जिससे किसी भी विषय के निकालने में पाठक परिश्रम से बच सकते हैं तात्पर्य यह है कि ग्रन्थ को सुबोध बनाने का बुद्धि पूर्वक भरसक प्रयत्न किया है।

आचार्य महाराज के संघ में श्री श्रुतसागर जी महाराज नाम निक्षेप से नहीं भाव निक्षेप से भी श्रुतसागर हैं। वे किसी भी वस्तु स्वरूप को बड़ी सूक्ष्मता से ग्रहण करते हैं संघ के साथ उनका चातुर्मास उस समय अतिशय क्षेत्र पपौरा में था ग्रन्थ तैयार होते ही मैं पूरी पाण्डुलिपि उन्हें सौंप आया और उन्होंने अपने वाचन में रखकर उसका अच्छी तरह निरीक्षण किया। निरीक्षण करने

के बाद संशोधनीय अंशों पर प्रत्यक्ष चर्चाकर संशोधन कराया। संशोधन के उपरान्त श्री ब्र० हीरालाल जी पाटनी निवाई की ओर से इसका प्रकाशन शुरू हुआ। पाटनी जी के विषय में क्या लिखूं ? उनकी सज्जनता, मुनि भक्ति, प्रवचनभक्ति तथा सहधर्मी वात्सल्य को देखकर हृदय बारबार गद्गद् हो उठता है श्री ब्र० लाडमल जी का धर्मानुराग भी प्रशंसनीय है। आचार्य महाराज तथा उनके संघस्थ अन्य मुनिराजों के साथ मेरा सम्पर्क बढ़ाने में उन्ही का पूर्ण हाथ है। इस संस्करण की तैयारी में इन सब के प्रति नम्र आभार प्रकट करता हूँ। संस्कृत टीका में अपभ्रंश के कुछ दोहा उद्धृत हैं जो परम्परा से अशुद्ध हो गये हैं उनका अर्थ अनुभव में नहीं आता था। पर्युषण पर्व के अजमेर प्रवास से लौटकर मैं केकड़ी गया वहां पं० दीपचन्द जी पांड्या तथा पं० रतनलाल जी कटारिया से विमर्श के समय उनका भाव ठीक बैठ गया इसलिये इनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। प्रस्तावना लेख में श्रीमान् पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के कुन्दकुन्दप्राभृत संग्रह की प्रस्तावना तथा 'जैन साहित्य और इतिहास' में प्रकाशित श्री नाथूराम जी प्रेमी के लेखों से पूर्ण सहायता ली गई है इसलिये उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। प्रूफ का अवलोकन प्रारम्भ में श्री पं. बालचन्द्र जी शास्त्री दिल्ली तथा बाद में पं० अजित कुमार जी शास्त्री एवं अशोककुमारजी बड़जात्या शान्तिवीर नगर महावीर जी ने किया है अतः इनके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ। दुःख इस बात का है कि पं० अजित कुमार जी शास्त्री ग्रन्थ का प्रकाशन होने के पूर्व ही दिवंगत हो गये अतः उनके प्रति लिखा गया आभार श्रद्धाञ्जलि के रूप में परिणत हो गया। टाइप की खराबी से छपते समय कितनी ही जगह अनुस्वार छूट गये हैं अन्य भी बहुत कुछ अशुद्धियां रह गई है उन्हें पाठकपढ़ते समय ठीक करते चलें ऐसी प्रार्थना है।

मैं अल्पज्ञ प्राणी हूँ, उतने पर भी अनेक कार्यों का दायित्व साथ रहने से मुझे सदा व्यस्त रहना पड़ता है इन सब कारणों से सम्पादन तथा अनुवाद में त्रुटियां रह जाना सम्भव है उनके लिये विद्वानों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

सागर
२६-६-१९६८

विनीत
पन्नालाल जैन

श्री ब्र० सेठ हीरालाल जी पाटनी

निबाई का

परिचय

यह षट्प्राभृत ग्रन्थ श्रीमान् ब्र० सेठ हीरालाल जी पाटनी निबाई और उनकी धर्मपत्नी सौभाग्यवती रतनबाई ने पञ्चमेरु व्रतोद्यापन के उपलक्ष्य में श्री १०८ परम पूज्य आचार्य शिवसागर जी महाराज के आदेश एवं मेरे आग्रह से श्री पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा हिन्दी टीका करा कर प्रकाशित कराया है यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द स्वामी के अमृत वचनों का भण्डार है। उन्होंने इस ग्रन्थ में मुनियों के लिये जो देशना दी है उसके अनुसार प्रवृत्ति करने पर परमसुखदायक अपवर्ग की प्राप्ति निश्चित हो सकती है।

श्री ब्र० हीरालाल जी के पिता का नाम श्री सेठ बख्तावरलाल जी था और बड़े भाई का नाम श्री सेठ मंगलचन्द्र जी था। आपका जन्म स्थान कालु (मारवाड़) था। व्यापार वृद्धि के उद्देश्य से आपने कुछ समय कलकत्ता और ब्यावर में काम किया उसके बाद निबाई को आपने अपना निवास स्थान बनाया। व्यापार द्वारा आपने जो सम्पत्ति संचित की उसका उपयोग आप धार्मिक कार्यों में सदा से ही करते आये हैं।

आपने कालु के बड़े मन्दिर का जीर्णोद्धार करा कर उसमें वेदी प्रतिष्ठा करवाई है तथा कालु में ही पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा में हजारों रुपयों का सहयोग देकर प्रतिष्ठा करवाई है। इसी प्रकार निबाई में भी वेदी बनवाकर प्रतिमा जी विराजमान की है ज्ञान दान में भी आपकी स्वाभाविक रुचि है उसी के फल स्वरूप निबाई में कन्या पाठशाला चालू की गई है तथा समय समय पर शास्त्रों का वितरण आपकी ओर से होता रहता है।

मुनि भक्ति आपकी प्रशंसनीय है स्व० श्री १०८ परम पूज्य आचार्य वीरसागरजी महाराज का निबाई में चतुर्विध संघ सहित चातुर्मास आपने कराया था तथा परम पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज के संघ को जयपुर से श्री सिद्ध क्षेत्र गिरनार जी की यात्रा करा कर हजारों रुपया व्यय किया है।

संसार शरीर, और भोगों से विरक्ति होना निकट भव्य के लक्षण है। अपने कई वर्ष पूर्व से दूसरी प्रतिमा तथा लगभग दश वर्ष पूर्व से ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण कर संयम का अच्छा पालन किया है और घर में स्त्री के रहते हुए भी ब्रह्मचर्य व्रत का अखण्ड रूप से पालन करते हैं। आपने १० वर्ष पूर्व से व्यापार का भी त्याग कर दिया है तथा संचित सम्पत्ति से ही अपना निर्वाह करते हैं।

अतिथि सत्कार में आपकी स्वाभाविक रुचि है। कोई भी सहधर्मी आपके घर भोजन किये बिना नहीं जा सकता। वर्ष में कई माह तक आप मुनि संघ में रहकर आहार दान देते हुए अपना कल्याण

करते है। श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी महाराज तथा श्री १०८ धर्मसागर जी महाराज के संघ में आप प्रायः प्रतिवर्ष अपना बहुत सा समय व्यतीत करते हैं।

स्वाध्याय की ओर भी आपकी अच्छी रुचि है शान्तिसागर जैन सिद्धांतप्रकाशिनी संस्था महावीर जी के आप मन्त्री रहे हैं तथा उसकी सारी व्यवस्था आपने की है।

षट्प्राभृत ग्रन्थ के टीका सहित तो कई संस्करण निकल चुके थे पर संस्कृत और हिन्दी टीका सहित उसके संस्करण अब तक नहीं निकले थे। संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर जी ने इसकी संस्कृत टीका में अनेक ग्रन्थों से सारपूर्ण समग्री का संकलन किया है। मात्र संस्कृत टीका का प्रकाशन यद्यपि दानवीर सेठ माणिकचन्द्र ग्रन्थ माला बम्बई से बहुत पहले हुआ था परन्तु अब वह अप्राप्य हो गई और हिन्दी टीका साथ में न होने से सबके स्वाध्याय में नहीं आ सकती थी।

एक बार श्री १०८ धर्मसागर जी महाराज के चातुर्मास काल में हम श्री ब्र० हीरालालजी पाटनी के साथ सागर गये थे करीब २ माह वहां रहे थे तब श्री पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य से मेरा प्रत्यक्ष परिचय बढ़ा। आपने अनेक ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद कर जिनवाणी की सेवा की है। उस समय मैंने षट्प्राभृत ग्रन्थ की हिन्दी टीका कर देने का अनुरोध उनसे किया और मेरे अनुरोध को स्वीकृत कर इन्होंने इसकी हिन्दी टीका कर दी। जब आचार्य शिवसागर जी महाराज का पपौरा जी में चातुर्मास था तब इस टीका का श्री श्रुतसागर जी महाराज ने अच्छी तरह अवलोकन किया। पूज्य आचार्य महाराज का आदेश पाकर श्री ब्र० हीरालाल जी पाटनी ने अपने व्यय से इसका प्रकाशन करा कर एक उत्तम ग्रन्थ स्वाध्याय के लिये जनता ने समक्ष प्रस्तुत कराया है इसके लिये हम पाटनी जी के अभारी हैं श्री पं. पन्नालाल जी ने भी बहुत परिश्रम पूर्वक ग्रन्थ का संशोधन और सम्पादन कर उसे हिन्दी टीका से सर्व साधारण के योग्य बना दिया है इसके लिये इनके आभारी है।

आशा है इसी तरह अनेक ग्रन्थ आपके द्वारा सटीक होकर सर्व साधारण की ज्ञान वृद्धि में सहायक होते रहेंगे।

विनीत

ब्र० लाडमल जैन

अधिष्ठाता

श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान

श्री शान्तिवीर नगर, श्री महावीर जी (राज०)

षट्प्राभृतम्

विषयानुक्रमणिका

—)o: × :o(—

बोध पाहुड—

लिङ्ग पाहुड—

शील पाहुड—

—*:०:*—

गाथानुक्रमणिका

यहां १ दंसरण पाहुड २ चारित्त पाहुड ३ सुत्त पाहुड ४ बोध पाहुड ५ भाव पाहुड ६ मोक्ख पाहुड ७ लिंग पाहुड और ८ सील पाहुड की गाथाएं अकारादि क्रम से संकलित हैं। प्रथम अङ्क पाहुड का, दूसरा अङ्क गाथा का और तीसरा अङ्क पृष्ठ का जानना चाहिये।

टीकाकारोद्धृतपद्यानुक्रमणिका

- -

नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य–विरचितम्

षट्प्रभृतम्

श्री-श्रुतसागर-सूरि-विरचितया टीकया सहितम्

दृग्वृत्तसूत्रबोधाख्यं भावमोक्षसमाह्वयम् । षट्प्राभृतमिति प्राहुः कुन्दकुन्दगुरूदितम् ॥ १ ॥

अथ [1]श्रीविद्यानन्दिभट्टारकपट्टाभरणभूतश्रीमल्लिभूषणभट्टारकाणामादेशादध्येषणावशाद् बहुशः प्रार्थनावशात् कलिकालसर्वज्ञविरुदावलीविराजमानाः श्रीसद्धर्मोपदेशकुशला निजात्मस्वरूपप्राप्तिं पञ्च-परमेष्ठिचरणान् प्रार्थयन्तः सर्वजगदुपकारिण उत्तमक्षमाप्रधानतपोरत्नसंभूषितहृदयस्थला भव्यजनजनक-

दर्शनप्राभृत, चारित्रप्राभृत, सूत्रप्राभृत, बोधप्राभृत, भावप्राभृत और मोक्षप्राभृत इस प्रकार कुन्दकुन्द स्वामीके द्वारा कथित षट्प्राभृत कहे जाते हैं ॥

[विशेष— श्री कुन्दकुन्द स्वामीके द्वारा रचित लिङ्गप्राभृत और शीलप्राभृत ये दो प्राभृत और हैं जिनका भाषा टीका षट्प्राभृतके अनन्तर इसी ग्रन्थमें आगे दी जावेगी । जान पड़ता है कि संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरिको टीका करते समय वे उपलब्ध नहीं हुए होंगे, इसलिये उन्होंने षट्प्राभृतके नामसे दर्शनप्राभृत आदि छह प्राभृतोंकी ही टीका की है ।]

अथानन्तर जो 'कलिकालसर्वज्ञ' इस विरुदावलीसे सुशोभित हैं, श्रीसम्पन्न आर्हत धर्म के उपदेश में कुशल हैं, पञ्च परमेष्ठी के चरणों से जो निज आत्मस्वरूप की प्रार्थना करते हैं, सर्व जगत् का उपकार करनेवाले हैं, उत्तम क्षमा की प्रधानता लिये हुए तपरूपी ज्ञान से जिनका हृदय विभूषित है, जो भव्य जीवों के लिये पिता के समान हैं तथा आत्मस्वरूप की श्रद्धा से जिन्हें सम्यग्दर्शन उपलब्ध हुआ है ऐसे श्री श्रुतसागर सूरि, श्री विद्यानन्दिभट्टारक सम्बन्धी पट्ट के अलंकारस्वरूप श्री मल्लिभूषण भट्टारक की

१ श्रीविद्यानन्दिपट्टाभरण–म० ।

तुल्याः श्रीश्रुतसागरसूरयः श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितषट्प्राभृतग्रन्थं टीकयन्तः स्वरुचिविरचितसद्दृष्टयः सम्यग्दर्शनप्राभृतस्यादौ परापरगुरुप्रवाहमङ्गलप्रसिद्धिप्रार्थनपरा नान्दीसूत्रस्य [१]विरचनमाहु—

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।

दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकमं समासेण ॥ १ ॥

कृत्वा नमस्कारं जिनवरवृषभस्य वर्धमानस्य । दर्शनमार्गं वक्ष्यामि यथाक्रमं समासेन ॥ १ ॥

अष्टपदा नान्दी । *वोच्छामि* वक्ष्यामि कथयिष्यामि । कः कर्ता ? अहं श्री-कुन्दकुन्दाचार्यः । कं कर्मतापन्नम् ? *दंसणमग्गं* सम्यग्दर्शनस्वरूपम् कथं वक्ष्यामि ? *जहाकमं* यथाक्रममनुक्रमेण । केन कृत्वा ? *समासेण* संक्षेपेण । किं कृत्वा पूवम् ? *वड्ढमाणस्स णमुक्कारं काऊण* वर्द्धमानस्य प्रियकारिणीवल्लभ-श्री-सिद्धार्थमहाराज-नन्दनस्यान्तिमतीर्थकरपरमदेवस्य भरतक्षेत्रस्थविदेहदेशसम्बन्धिश्रीकुण्डपुरपत्तनोत्पन्नस्य सुवर्णवर्णशरीरस्य किञ्चिदधिकद्वासप्ततिवर्षपरमायुषः सप्तहस्तोन्नतशरीरस्य निर्भयत्वरञ्जितसंगमनामधेय-देवकृतस्तवनस्य वीर-वर्द्धमान-महावीर-महतिमहावीर-सन्मति-नामपञ्चकप्रसिद्धस्य । *णमुक्कारं* नमोऽस्त्विति वचनेन मनसा कायेन वचसा साष्टाङ्गप्रणामम् । *काऊण* कृत्वा । कथंभूतस्य वर्धमानस्य ? *जिणवरवसहस्स*

आज्ञा से, प्रेरणा से और अनेक जीवों की प्रार्थना के वश से श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित षट्प्राभृत ग्रन्थ की टीका करने के लिये उद्यत हुए हैं सो परापर गुरुप्रवाह से मङ्गल सिद्धि की प्रार्थना करते हुए दर्शनप्राभृत के प्रारम्भ में मङ्गलसूत्र की व्याख्या करते हैं—

गाथार्थ—कर्मरूप शत्रुओं को जीतनेवाले गौतमादि गणधरोंमें वृषभ—श्रेष्ठ श्री वर्द्धमान भगवान् को, अथवा ज्ञानादि गुणों से वर्धमान—निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होनेवाले जिनवरवृषभ—भगवान् ऋषभदेव-प्रथम तीर्थंकर अथवा समस्त तीर्थंकरों को नमस्कार कर मैं अनुक्रम से संक्षेपपूर्वक सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहूंगा ॥ १ ॥

विशेषार्थ—ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण, प्रतिज्ञावाक्य और प्रतिपादन की शैली का निरूपण करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने कहा है कि मैं प्रियकारिणी महाराज्ञी के प्राणनाथ सिद्धार्थ महाराज के पुत्र, अन्तिम तीर्थंकर, भरतक्षेत्र में स्थित विदेह देश सम्बन्धी कुण्डपुर नगर में उत्पन्न, सुवर्ण के समान वर्णवाले, कुछ अधिक बहत्तर वर्ष की उत्कृष्ट आयु से युक्त, सात हाथ ऊंचे, निर्भयता से प्रसन्न संगम नामक देव द्वारा स्तुत; तथा वीर, वर्द्धमान, महावीर, महतिमहावीर और सन्मति इन पांच नामों से प्रसिद्ध श्री वर्द्धमान भगवान् को मन-वचन-काय से नमस्कार कर संक्षेपपूर्वक पूर्वाचार्यों के क्रम का उल्लंघन न कर सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहूंगा। गाथा में आया हुआ *जिणवरवसहस्स* शब्द विशेषण और विशेष्य दोनों हैं। इसलिये विशेषण पक्ष में *वड्ढमाणस्स* का

---

१ विवरण-म० ।

जिनवराणां श्रीगौतमादिगणधरदेवादीनां मध्ये वृषभस्य श्रेष्ठस्य। इत्यनेन विशेषणेन प्रथमतीर्थंकर-श्रीमदादिनाथादीनामपि सर्वतीर्थंकरसमुदायस्यापि नमस्कारः कृतो भवतीति वेदितव्यम्।

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥२॥

दर्शनमूलो धर्म उपदिष्टो जिनवरैः शिष्याणाम्। तं श्रुत्वा स्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः ॥२॥

दंसणमूलो धम्मो दर्शनं सम्यक्त्वं मूलमधिष्ठानमाधारं प्रासादस्य गर्तापूरवत् वृक्षस्य पातालगत-जटावत् प्रतिष्ठा यस्य धर्मस्य स दर्शनमूलः एवंगुणविशिष्टो धर्मो दयालक्षणः। *जिणवरेहिं* तीर्थंकरपरमदेवैरपरकेवलिभिश्च। *उवइट्ठो* उपदिष्टः प्रतिपादितः। केषामुपदिष्टः? *सिस्साणं* शिष्याणां गणधर-चक्र-

---

विशेषण मानकर उसका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि जो वर्धमान स्वामी कर्मरूप शत्रुओं का जीतनेवाले गौतमादि गणधरों में वृषभ–श्रेष्ठ हैं उन्हें नमस्कार कर, और विशेष्य पक्ष में *वड्ढमाणस्स* को विशेषण मानकर ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जो (वर्द्धते—ज्ञानादि-गुणैः समेधते—वृद्धिं प्राप्नोतीति वर्धमानः) ज्ञानादि गुणों से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं ऐसे प्रथम जिनेन्द्र श्री वृषभ देव को अथवा वृषभ-अजित आदि चौबीस तीर्थंकरों के समूह को नमस्कार कर। क्योंकि "*कटपयपुरःस्थवर्णैः*" [1] इस नियम के अनुसार 'वर' का अर्थ २४ होता है, अतः *जिनवरवृषभस्य* का अर्थ श्रेष्ठ चौबीस जिनेन्द्र भी होता है।

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने शिष्यों के लिये सम्यग्दर्शनमूलक धर्म का उपदेश दिया है, सो उसे अपने कानों से सुनकर सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य की वन्दना नहीं करना चाहिये ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार महल का मूल आधार नीव है और वृक्ष का मूल आधार पाताल तक गई हुई उसकी जड़ें हैं उसी प्रकार धर्म का मूल आधार सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बिना धर्मरूपी महल अथवा धर्म रूपी वृक्ष ठहर नहीं सकता है। जीवरक्षारूप आत्मा की परिणति को दया कहते हैं, वह दया ही धर्मका लक्षण है। तीर्थंकर परमदेव

---

१ कटपयपुरस्थवर्णैर्नव-नव-पञ्चाष्टकल्पितैः क्रमशः।
स्वरञनशून्यं संख्या मात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम् ॥

अर्थात् क ट प और य के आगे क्रम से ९ ९ ५ और ८ अक्षरों से उतने अंकों की कल्पना करना चाहिये स्वर, ञ और न से शून्य समझना चाहिये और मात्रा तथा संयुक्त अक्षर त्याज्य मानना चाहिये, अर्थात् उनसे किसी अङ्क का बोध नहीं होता। इस नियम के साथ 'अङ्कानां वामतो गतिः' अंकों की गति उल्टी होती है यह नियम भी ध्यान में रखना चाहिये। उल्लिखित क्रम के अनुसार व से ४ और र से २ अङ्क लिये जाते हैं, तथा दोनों को विपरीत गति से पढ़नेपर 'वर' का अर्थ २४ निकलता है।

धर-चक्रधरादीनां भव्यवरपुण्डरीकाणाम् । *तं सोऊण सकण्णे* तं धर्मं श्रुत्वाऽऽकर्ण्य स्वकर्णे निजश्रवणे आत्मशब्दग्रहे । *दंसणहीणो ण वंदिव्वो* दर्शनहीनः सम्यक्त्वरहितो न वन्दितव्यो नैव वन्दनीयो न माननीयः । तस्यान्नदानादिकमपि न देयम् । उक्तं च—

मिथ्यादृग्भ्यो ददद्दानं दाता मिथ्यात्ववर्धकः ।

अथ कोऽसौ दर्शनहीन इति चेत् ? तीर्थंकरपरमदेवप्रतिमां न मानयन्ति, न पुष्पादिना पूजयन्ति । किमिति न पूजयन्ति ? मिथ्यादृष्टयः किलैवं वदन्ति—तीर्थंकरपरमदेवः किं पूजयति देवान् ? तथा वयमपि न पूजयामः । पञ्चमकाले किल मुनयो न वर्तन्ते । तदयुक्तम् । उक्तं च—

भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः ।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभोविभुतया विश्वस्य विश्रान्तये
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी[1] ॥

तथा अन्यान्य केवलियों ने अपने गणधर, चक्रवर्ती तथा इन्द्र आदि शिष्यों को धर्म का यही स्वरूप बताया है । इसे अपने कानोंसे सुनकर सम्यग्दर्शनसे हीन मनुष्य को नमस्कार नहीं करना चाहिये । धर्मकी जड़स्वरूप सम्यग्दर्शन ही जिसके पास नहीं है वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ? और जो धर्मात्मा नहीं है वह वन्दना या नमस्कार का पात्र किस तरह हो सकता है ? ऐसे मनुष्य को तो आहारदान आदि भी नहीं देना चाहिये, क्योंकि कहा है-

मिथ्येति—मिथ्यादृष्टियों के लिये दान देनेवाला दाता मिथ्यात्वको बढ़ानेवाला है ।

अब प्रश्न यह है कि वह सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य कौन है जिसे नमस्कार नहीं करना चाहिये। तो उसका उत्तर यह है कि जो तीर्थंकर परमदेव की प्रतिमा को नहीं मानते हैं, पुष्प आदि सामग्री से उसकी पूजा नहीं करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं ।

प्रश्न—क्यों नहीं पूजा करते हैं ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि लोग ऐसा कहते हैं कि तीर्थंकर परमदेव क्या किन्हीं देवों की पूजा करते हैं ? जिस प्रकार तीर्थंकर परमदेव किसी की पूजा नहीं करते उसी प्रकार हम भी पूजा नहीं करते । मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि पञ्चम काल में मुनि नहीं होते । परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कहा है—

भर्तार इति—जो स्वयं मोह को छोड़कर कुलपर्वतों के समान पृथिवी का उद्धार करनेवाले हैं, जो समुद्रोंके समान स्वयं धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों के स्वामी हैं,

१ आत्मानुशासने श्लोकसंख्या ३३ ।

मिथ्यादृष्टयः किल वदन्ति—व्रतैः किं प्रयोजनम् ? आत्मैव पोषणीयः, तस्य दुःखं न दातव्यम्, मयूरपिच्छं किल रुचिरं न भवति, सूत्रपिच्छं रुचिरम्, मयूरपिच्छेन आभेटनं [1]बौतिर्भवति (?)। तदसत्यम्। उक्तं च भगवत्याराधनाग्रन्थे—

रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च ।
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥

शासनदेवता न पूजनीयाः, आत्मैव देवो वर्तते। अपरः कोऽपि देवो नास्ति, वीरादनन्तरं किल केवलिनोऽष्ट जाता न तु त्रयः, महापुराणादिकं किल विकथा इत्यादि ये उत्सूत्रं मन्वते ते मिथ्यादृष्टयश्चार्वाका नास्तिकाः। ते यदि जिनसूत्रमुल्लङ्घन्ते तदास्तिकैर्युक्तिवचनेन निषेधनीयाः। तथापि यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भिर्गूथलिप्ताभिर्मुखे ताडनीयाः, तत्र पापं नास्ति ॥२॥

तथा जो आकाश के समान व्यापक होने से किन्हीं के द्वारा स्पृष्ट न होकर विश्व की विश्रान्ति के कारण हैं; ऐसे अपूर्व गुणों के धारक प्राचीन मुनियों के निकट में रहनेवाले कितने साधु आज भी विद्यमान हैं। अर्थात् पञ्चम काल में साधुओं की विरलता तो हो सकती है, पर उनका सर्वथा अभाव संभव नहीं है ॥

मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि व्रतों से क्या प्रयोजन है ? आत्मा ही पोषण करने योग्य है, उसे दुःख नहीं देना चाहिये। मयूर के पंखों से बनी पिछी सुन्दर नहीं होती, किन्तु सूत से बनी पिछी सुन्दर होती है। मयूर के पंखों से बनी पिछी से तो हिंसा होती है।·········इत्यादि कहना असत्य है, क्योंकि भगवती-आराधना ग्रन्थ में कहा गया है—

रजसेदाणमिति—धूलि और पसीना का ग्रहण नहीं करना, मृदुता, सुकुमारता और लघुता अर्थात् बजन में हलका होना; जिसमें ये पांच गुण हों वही पिछी प्रशंसा के योग्य है ॥

मिथ्यादृष्टि यह भी कहते हैं कि [2]शासनदेवता पूजनीय नहीं हैं, आत्मा ही देव है, उसके सिवाय अन्य कोई देव नहीं हैं; भगवान् महावीर के बाद आठ केवली हुए हैं, न कि तीन। महापुराण आदिक विकथाएं हैं। इत्यादि प्रकार से जो शास्त्र के विरुद्ध मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि चार्वाक अथवा नास्तिक हैं। वे यदि जिनसूत्र का उल्लंघन करते हैं तो आस्तिक—सम्यग्दृष्टि मनुष्यों को युक्तिपूर्ण वचनों द्वारा उन्हें मना करना चाहिये। क्योंकि [3]प्रभावशाली—समर्थ मनुष्य धर्मके समूल विनाश को सहन नहीं करते। धर्म-

१ छोतिर्भवति—म। २ सम्यग्दृष्टि जीव जिनशासन की प्रभावना में सहायक होने से शासनदेवताओं का सन्मान करता है, परन्तु जिनेन्द्र देव के समान उनकी पूजा नहीं करता और न उन्हें देव मानता है। उसकी श्रद्धा वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव—अरहन्त-सिद्धमें ही रहती है। भय, आशा, स्नेह तथा लोभ के वशीभूत होकर वह रागी द्वेषी देवों को नहीं पूजता है। ३ धर्मनिर्मूलविध्वंसं सहन्ते न प्रभावकाः।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टा दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् । सिध्यन्ति चरित्रभ्रष्टा दर्शनभ्रष्टा न सिध्यन्ति ॥३॥

दंसणभट्ठा भट्ठा–सम्यग्दर्शनात्पतिताः पतिता उच्यन्ते । *दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं* सम्यग्दर्शनात् पतितस्य सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो न भवति, किन्तु सम्यग्दर्शनात्पतिता नरकादिगतिषु परितो दीर्घकालं पर्यटन्ति । *सिज्झंति चरियभट्ठा* सिध्यन्ति आत्मोपलब्धिमनुभवन्ति प्राप्नुवन्ति । के ते ? चरियभट्ठा चारित्रात्पतिता यति-श्रावकलक्षणब्रह्मचर्य-प्रत्याख्यानाभ्यां स्खलिताः, सामग्रीं प्राप्य श्रेणिकमहराजादिवत् स्तोकेन मोक्षं प्राप्नुवन्ति । *दंसणभट्ठा ण सिज्झंति* सम्यग्दर्शनात्पतिता न सिध्यन्ति मोक्षं न प्राप्नुवन्ति, भव्यसेनादिवत् वशिष्ठर्ष्यादिवच्च संसारे निमज्जन्ति, इति ज्ञात्वा श्रुतकीर्तिश्रेयांसादिप्रमाणपुरुषैरुप-

---

प्रभावना में कुछ सावद्य प्रवृत्ति होती ही है उसके विना वह संभव नहीं है । धर्म ही प्राणियों की माता है, धर्म ही उनका पिता है, धर्म ही रक्षक है, धर्म ही वृद्धि करनेवाला है और धर्म ही उन्हें निर्मल एवं निश्चल परम पद में पहुंचानेवाला है, धर्म का नाश होने पर सत् पुरुषों का भी नाश हो जाता है । अतः जो धर्मद्रोही नीच पुरुषों का निवारण करते हैं उन्हीं के द्वारा सज्जनों के जगत् की रक्षा होती है ॥२॥

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट प्राणी भ्रष्ट कहे जाते हैं, सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट प्राणी को निर्वाण नहीं प्राप्त होता । चारित्र से भ्रष्ट प्राणी तो सिद्ध हो जाते हैं– मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, पर सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट प्राणी सिद्ध नहीं हो सकते—मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥

विशेषार्थ—जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से पतित हो जाते हैं वे ही यथार्थमें पतित कहलाते हैं । सम्यग्दर्शन से पतित मनुष्य को समस्त कर्मों का क्षय हो जाना जिसका लक्षण है ऐसा मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता । सम्यग्दर्शन से पतित मनुष्य नरकादि गतियों में दीर्घ काल तक–– अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल तक परिभ्रमण करता रहता है । इसके विपरीत जो चारित्र से भ्रष्ट हैं अर्थात् श्रावक और मुनि पद के योग्य ब्रह्मचर्य तथा चारित्र से भ्रष्ट हैं वे अनुकूल सामग्री को पाकर श्रेणिक महाराज आदि के समान थोड़े ही समय में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । सम्यग्दर्शन से पतित मनुष्य भव्यसेन आदि मुनियों अथवा वशिष्ठ आदि ऋषियों के समान मोक्ष प्राप्त नहीं करते, किन्तु संसार-सागर में निमग्न रहते हैं । ऐसा जान कर राजा श्रेयांस आदि यशस्वी एवं

नास्ति सावद्यलेशेन विना धर्मप्रभावना ॥ ४१६ ॥ धर्मो माता पिता धर्मो धर्मस्त्राताभिवर्धकः । धर्मो भवभृतां धर्मो निश्चले निर्मले पदे ॥ ४१७ ॥ धर्मध्वंसे सतां ध्वंसस्तस्माद्धर्मद्रुहो ऽधमान् । निवारयन्ति ये सन्तो रक्षितं तैः सतां जगत् ॥ ४१८ ॥ उत्तरपुराण पर्व ७.

प्रवर्तितं दान-पूजादिसत्कर्म न निषेधनीयम् । आस्तिकभावेन सदा स्थातव्यमित्यर्थः ॥३॥

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।

आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥

सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि । आराधनाविरहिता भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव ॥४॥

सम्मत्तरयणभट्ठा सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टाः सम्यक्त्वमेव रत्नं सर्वेभ्यो भावेभ्य उत्तमं वस्तु त्रैलोक्य-पस्त्यसमुद्योतकत्वात्, तस्माद् भ्रष्टाः परिच्युता दान-पूजादिकनिषेधकाः *जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं* जानन्तोऽपि बहुविधानि शास्त्राणि तर्क-व्याकरण-छन्दो-ऽलङ्कार-साहित्य-सिद्धान्तादीन् ग्रन्थान् जानाना

प्रामाणिक पुरुषों के द्वारा चलाये हुए दान-पूजा आदि प्रशस्त कार्यो का निषेध नहीं करना चाहिये—उनमें सदा श्रद्धा भाव रखना चाहिये ॥

[इस गाथा का विवेचन करते समय कितने ही लोग "चारित्र से भ्रष्ट मनुष्य सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मनुष्य सिद्ध नहीं होते" इसका यह फलितार्थ निकाल कर विवेचन करते हैं कि मोक्ष के लिये चारित्र आवश्यक नहीं है, सम्यग्दर्शन ही आवश्यक है; और इस विवेचन के अनुरूप मोक्षमार्ग में सम्यक्चारित्र को गौण कर देते हैं। सो उनका यह विवेचन आगमसंमत नहीं है । इस गाथा में तो कुन्दकुन्द महाराज ने यही भाव प्रकट किया है कि जो श्रावक या मुनि अपने चारित्र से भ्रष्ट होते समय सम्यग्दर्शन से भी भ्रष्ट हो गया है अर्थात् अपनी श्रद्धा को भी छोड़ चुका है वह निर्वाण से बहुत दूर हो गया है अर्थात् वह अर्धपुद्गलपरावर्तन प्रमाण काल तक संसार में भटक सकता है, परन्तु जो मात्र चारित्र से भ्रष्ट हुआ है—समीचीन श्रद्धा को सुरक्षित रखे हुए है—वह शीघ्र अनुकूल सामग्री पाकर विशुद्ध चारित्र को धारण करता हुआ निर्वाण को प्राप्त हो सकता है । मोक्ष प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में से किसी को गौण या प्रधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि तीनों ही अनिवार्य आवश्यक कारण हैं] ॥३॥

गाथार्थ—सम्यक्त्वरूपी रत्नसे भ्रष्ट मनुष्य भले ही अनेक प्रकारके शास्त्रों को जानते हों तो भी जिनवचनोंकी श्रद्धासे रहित होनेके कारण वहींके वहीं अर्थात् उसी चतुर्गतिरूप संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं ॥

विशेषार्थ—तीन लोकरूप भवनका प्रकाशक होनेसे सम्यक्त्वरूप रत्न ही समस्त पदार्थोंमें उत्तम वस्तु है । इस सम्यक्त्वरूपी रत्नसे पतित होकर जो दान-पूजा आदि प्रशस्त कार्योंका निषेध करते हैं वे तर्क-व्याकरण-छन्द-अलंकार-साहित्य और

अपि *आराहणाविरहिया* जिनवचनमाननलक्षणामाराधनामकुर्वाणा लोकाः पातकिनः *भमंति तत्थेव तत्थेव* तत्रैव तत्रैव नरकादिष्वेव दुर्गतिषु भ्राम्यन्ति, न कदाचिदपि मोक्षं लभन्त इत्यर्थः ॥४॥

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥ ५॥

सम्यक्त्वविरहिता णं सुष्ठु अपि उग्रं तपश्चरन्तः णं । न लभन्ते बोधिलाभं अपि वर्षसहस्रकोटिभिः ॥५॥

सम्मत्तविरहिया णं सम्यक्त्वविरहिताः सम्यक्त्वात् ये विरहिताः पतिताः । णमिति वाक्यालङ्कारे । *सुट्ठु वि उग्गं तवं कुणंता णं* सुष्ठु अपि अतीवापि उग्रं तपः कुर्वन्तोऽपि मासोपवासादिकं तपोविशेषमाचरन्ताऽपि । णमिति वाक्यालङ्कारे । *न लहंहि बोहिलाहं* ते पुरुषा बोधिलाभं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणोपलक्षिता या बोधिस्तस्या लाभं न लभन्ते । कियत्कालपर्यन्तं बोधिलाभं न लभन्त इत्याह—*अवि वाससहस्सकोडीहिं* अपि वर्षसहस्रकोटिभिः वर्षसहस्रकोटिभिरपि अनन्तकालमपि गमयित्वा ते मुक्तिं न गच्छन्तीत्यर्थः । इति ज्ञात्वा दान-पूजादिकं व्यवहारधर्मं निश्चयधर्मे प्रधानभूतं न वर्जनीयमिति भावार्थः ॥ ५॥

सिद्धान्त आदि ग्रन्थों को जानते हुए भी जिनेन्द्र देव के वचनों की श्रद्धारूप आराधना से रहित होने के कारण नरकादि दुर्गतियों में हो घूमते हैं—कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करते।

[जिनागम में श्रावकों और मुनियों की अपने अपने पद के अनुरूप अनेक प्रशस्त क्रियाओं का वर्णन किया गया है। जो लोग उन क्रियाओं का निषेध करते हैं वे जिनागम की श्रद्धा से रहित हैं और फलस्वरूप सम्यक्त्वरूपो रत्न से च्युत हैं। ऐसे जीव तर्क–व्याकरण आदि लौकिक ग्रन्थ तो दूर रहे, ग्यारह अङ्गों और नौ पूर्वों को भी जानते हों, तो भी सम्यक्त्व से रहित होने के कारण मिथ्यादृष्टि हो कहे जाते हैं। मिथ्यादृष्टि जोवों का संसारपरिभ्रमण निश्चित ही है। जिनागम में सम्यक्त्व रहित नाना शास्त्रों के ज्ञानको निःसार एवं सम्यक्त्व सहित मात्र अष्ट प्रवचन-मातृका के ज्ञान को सारपूर्ण बताया गया है।] ॥४॥

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य अच्छी तरह कठिन तपश्चरण करते हुए भी हजार करोड़ वर्षों में भी रत्नत्रयरूप बोधिको नहीं प्राप्त कर पाते हैं॥

विशेषार्थ—जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से पतित हैं वे भले ही अतिशय कठिन मासोपवास आदि विशिष्ट तपों का आचरण करते हों तो भी हजार करोड़ वर्षों में भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप लक्षण से युक्त बोधि को नहीं प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् सम्यक्त्व के बिना अनन्त काल व्यतीत करके भी मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। ऐसा जान कर निश्चय धर्म में प्रधानभूत दान-पूजा आदिक व्यवहार धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये ॥५॥

सम्मत्त-णाण-दंसण-बल-वीरिय-वड्ढमाण जे सव्वे ।

कलि-कलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥६॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्यवर्द्धमाना ये सर्वे । कलिकलुषपापरहिता वरज्ञानिनो भवन्ति अचिरेण ॥६॥

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-बल-वीर्यवर्द्धमानाः । **जे सव्वे ये सर्वे** भव्यजीवाः । सम्यक्त्वेन जिनवचनरुचिरूपेण, ज्ञानेन पठन-पाठनादिना, दर्शनेन सत्तावलोकनमात्रेण, बलेन निजवीर्यानिगूहनरूपेण, वीर्येणात्मशक्त्या, ये पुरुषा वर्द्धमानाः । वर्तमाना वा *वट्टमाण*पाठेन । ते पुरुषाः । *वरणाणी होंति* केवलज्ञानिनो भवन्ति । वर-शब्देन तीर्थकरत्वं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । कदा ? *अइरेण* अचिरेण स्तोककालेन, तृतीयभवे मोक्षं यान्तीत्यर्थः । ते पुरुषाः कथंभूताः ? *कलिकलुसपावरहिया* कलिषु कर्मसु यानि कलुषाणि दुष्टानि पापानि मोहनीय-ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीयान्तरायलक्षणानि दुरितानि, तै रहिताः—क्षयंनीतघातिकर्माण इत्यर्थः । अथवा कलौ पञ्चमकाले कलुषाः कश्मलिनः शौच-धर्मरहिताः वर्णान् लोपयित्वा यत्र तत्र भिक्षाग्राहिणः मांसभक्षिगृहेष्वपि प्रासुकमन्नादिकं गृह्णन्तः कलिकलुषाः, ते च ते पापाः पापमूर्तयः श्वेताम्बराभासाः लौंकायकापरनामानो म्लेच्छश्मशानास्पदेष्वपि

गाथार्थ—जो समस्त भव्य जीव सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्य से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हैं वे शीघ्र ही घातिया कर्मों से रहित हो उत्कृष्ट ज्ञानी होते हैं अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर होते हैं ॥

विशेषार्थ—जिनवचन अर्थात् जिनागम में श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है। जिनागम का पठन-पाठन आदि करना ज्ञान है। पदार्थ की सामान्य सत्ता का अवलोकन होना दर्शन है। अपनी शारीरिक शक्ति को नहीं छिपाना बल है। और आत्मा की शक्ति को वीर्य कहते हैं। जो भव्य जीव इन सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्य गुणों से वर्धमान हैं अर्थात् जिनके ये गुण निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं; अथवा *'वड्ढमाण'* के स्थान पर *'वट्टमाण'* पाठ होने के कारण जो इन सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त हैं वे कलि अर्थात् कर्मों में अतिशय दुष्ट पाप प्रकृतिरूप मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन चार घातिया कर्मों से रहित हो शीघ्र ही अर्थात् उसी भवमें अथवा दूसरा भव देव पर्याय में व्यतीत कर तृतीय भव में उत्कृष्ट ज्ञानी होते हैं अर्थात् केवल-ज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं।

यहां संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरिने *'कलि-कलुषपापरहिताः'* इस पद का दूसरा अर्थ ऐसा किया है कि जो कलि अर्थात् पञ्चम काल में कलुष हैं— मलिन हैं, शौचधर्म से रहित हैं, ब्राह्मणादि वर्णों का लोप कर चाहे जहां भिक्षा ग्रहण करते हैं, मांसभोजी लोगों के घरों में भी प्रासुक अन्न आदि ग्रहण करते हैं, पापरूप हैं, म्लेच्छों तथा श्मशानवासी लोगों के घर भी भोजन करते हैं तथा धर्म से रहित हैं,

भोजनादिकं कुर्वाणास्तद्धर्मरहिताःक लिकलुषपापरहिताः श्रीमूलसंघे परमदिगम्बरा मोक्षं प्राप्नुवन्ति, लौंकास्तु नरकादौ पतन्ति, देव-गुरु-शास्त्रपूजादिविलोपकत्वादित्यर्थ ॥६॥

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स ।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स ॥७॥

सम्यक्त्वसलिलप्रवाहो नित्यं हृदये प्रवर्तते यस्य । कर्म वालुकावरणं बद्धमपि नश्यति तस्य ॥७॥

सम्मत्तसलिलपवहो सम्यक्त्वसलिलप्रवाहः सम्यक्त्वमेव सलिलं निर्मल-शीतल-सुगन्ध—सुस्वादु-पानीयं संसारसंतापनिवारकत्वात् पापमलकलङ्कप्रक्षालकत्वाच्च सम्यक्त्वसलिलम्, तस्य प्रवहः प्रवाहः पूरः । *णिच्चं हियए पवट्टए जस्स* नित्यं हृदये वर्तते यस्य, जलपूरवद्वहतीत्यर्थः *कम्मं वालुयवरणं* हिंसादि पञ्चपातकपापं वालुकापाली । *बंधुच्चिय* बद्धमपि । *णासए तस्स* नश्यति तस्य । सम्यग्दृष्टेर्लग्नमपि पापं [1]बन्धनं न याति कोरघटे स्थितं रज इव न बन्धं याति । [2]परदेवकृतनमस्कारोऽपि पापमायाति । उक्तञ्च—

[3]सकृद्वारे नमस्कारे परदेवकृते सति । परदारेषु लक्षेषु तस्मात्पापं चतुर्गुणम् ॥

ऐसे श्वेताम्बराभास लौंकायक नामधारी लौंक कलिकलुषपाप कहलाते हैं । उन्हें छोड़ परम दिगम्बर मुद्रा के धारी मनुष्य ही केवलज्ञानी हो र मोक्ष प्राप्त करते हैं, किन्तु लौंका देव गुरु शास्त्र की पूज। का विलोप करने के कारण नरकादि कुगतियों में पड़ते हैं ॥६॥

गाथार्थ—जिसके हृदय में सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह निरन्तर प्रवाहित रहता है उसका कर्मरूपी बालू का बांध बद्ध होने पर भी नष्ट हो जाता है ॥

विशेषार्थ—संसाररूपी संताप का निवारक तथा पापमलरूपी कलङ्क का प्रक्षालक होने से सम्यग्दर्शन, निर्मल शीतल सुगन्धित और स्वादिष्ठ पानी के समान है । जिस मनुष्य के हृदय में जलपूरके समान सम्यग्दर्शन सदा प्रवाहित रहता है—निरन्तर विद्यमान रहता है, उसका हिंसादि पांच पापों से उत्पन्न कर्मरूपी बालू का बांध चिर काल से निबद्ध होने पर भी नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार कोरे घड़े पर स्थित धूलि बन्धन को प्राप्त नहीं होती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव के लग हुआ पाप कर्म बन्ध को प्राप्त नहीं होता । परदेव को नमस्कार करना भी पाप है, क्योंकि कहा है—*सकृदिति*—

लाख परस्त्रियों के सेवन से जो पाप होता है कुदेव को एक वार नमस्कार करने पर उससे चौगुना पाप होत है । अर्थात् मिथ्यात्व, हिंसादि पांच पापों की अपेक्षा, भयंकर पाप है ॥७॥

---

१ बन्धं न याति म. २ परदेवनमस्कारोऽपि म. ३ एकवारं म.

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ॥८॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टा ज्ञाने भ्रष्टाश्चरित्रभ्रष्टाश्च। एते भ्रष्टविभ्रष्टाः शेषमपि जनं विनाशयन्ति ॥८॥

जे दंसणेसु भट्ठा ये पुरुषा दर्शनेषु सम्यक्त्वेषु द्विविध-त्रिविध-दशविधेषु भ्रष्टाः पतिताः, अथवा दर्शने सुष्ठु भ्रष्टाः[१]। तथा *णाणे भट्ठा* अष्टविधाचारज्ञानादपि भ्रष्टाः। *चरित्तभट्ठा य* त्रयोदशप्रकारा-च्चारित्राद् भ्रष्टाः। *एदे भट्ठविभट्ठा* एते भ्रष्टा विशेषेण भ्रष्टास्त्रिभ्रष्टत्वात्। *सेसं पि जणं विणासंति* शेषमपि जनमभ्रष्टमपि लोकं *विणासंति* विनाशयन्ति भ्रष्टं विकुर्वन्ति ॥ ८ ॥

जो को वि धम्मसीलो संजमतवणियमजोयगुणधारी।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति ॥९॥

यः कोऽपि धर्मशीलः संयमतपोनियमयोगगुणधारी। तस्य च दोषान् कथयन्तो भग्ना भग्नत्वं ददति ॥९॥

गाथार्थ—जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट हैं, और चारित्र से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्टों में विशिष्ट भ्रष्ट हैं अर्थात् अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा अन्य मनुष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं ॥

विशेषार्थ—निसर्गज और अधिगमज अथवा निश्चय और व्यवहार के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है; औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकारका है; तथा आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ के भेद से दश प्रकारका होता है। शब्दाचार, अर्थाचार, तदुभयाचार, कालाचार, उपधानाचार, विनयाचार, अनिह्नवाचार और बहुमानाचार के भेद से ज्ञान के आठ भेद हैं। पांच महाव्रत, पांच समिति तथा तीन गुप्ति के भेद से चारित्र के तेरह भेद हैं। जो मनुष्य उपर्युक्त भेदों से युक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र के विषय में भ्रष्ट हैं अर्थात् उनसे रहित हैं वे भ्रष्टों में अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा अन्य अभ्रष्ट मनुष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय में से किसी एक दो गुणों की अपेक्षा भ्रष्ट है वह कारण पा कर शीघ्र सुधर जाता है, पर जो तीनों की अपेक्षा भ्रष्ट हो चुका है अर्थात् मिथ्यादृष्टि बन कर अपने लक्ष्य से च्युत हो चुका है वह स्वयं तो भ्रष्ट हुआ ही है, साथ में रहनेवाले अन्य लोगों को भी भ्रष्ट कर देता है ॥८॥

गाथार्थ—जो धर्मशील–धर्मके अभ्यासी संयम, तप, नियम, योग और चौरासी लाख गुणों के धारी महापुरुषों के दोष कहते हैं—उनमें मिथ्या दोषों का आरोप करते हैं वे चारित्र से पतित हैं तथा दूसरों को भी पतित करते हैं ॥

१ अस्मिन् पक्षे दर्शने सुभ्रष्टा इति छाया योजनीया।

जो को वि धम्मसीलो यः कोऽपि धर्मशीलो धर्मे आत्मस्वरूपे उत्तमक्षमादिदशलक्षणे च धर्मे, पञ्चप्रकारे त्रयोदशप्रकारे चारित्रे च प्राणिनां रक्षणलक्षणे वा धर्मे शीलमभ्यासः समाधिरभ्यासो यस्य स धर्मशीलः। उक्तं च—

[1]*धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो। चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥*

संजमतवणियमजोयगुणधारी तथा यः कोऽपि संयम-तपो-नियम-योग-गुणधारी वर्तते। संयमश्च षडिन्द्रिय-षट्प्रकारप्राणिरक्षणलक्षणः। तपश्च द्वादशप्रकारम्। नियमश्च नियतकालव्रतधारणम्। उक्तं च—

[2]*नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्। नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते॥*

योगश्च वर्षादिकालस्थितिः। अथवात्मध्यानं योग उच्यते। उक्तं च वीरनन्दिशिष्येण पद्मनन्दिना—

विशेषार्थ—'वस्तुस्वभाव को धर्म कहते हैं, इस लक्षण के आधारपर आत्मा की वीतराग परिणति धर्म कहलाती है। अथवा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म कहलाते हैं। अथवा चारित्र ही धर्म है, इस लक्षण के अनुसार सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात के भेद से पांच प्रकार का; अथवा पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति के भेद से तेरह प्रकार का; चारित्र धर्म कहलाता है। अथवा जीवों की रक्षा करना धर्म है, इस लक्षण के अनुसार जीवदया को धर्म कहते हैं। इन सब लक्षणों का संग्रह करनेवाली निम्न लिखित प्राचीन गाथा प्रसिद्ध है— *धम्मो वत्थु* इत्यादि। वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमा आदि दश धर्म हैं, चारित्र धर्म है, अथवा जीवोंकी रक्षा करना धर्म है। पांच इन्द्रियों एवं मन को वश में करना तथा पांच स्थावर और एक त्रस इस तरह छह काय के जीवों की प्राणरक्षा करना संयम है। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह प्रकार के बाह्य; तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह प्रकार के अन्तरङ्ग; दोनों मिला कर बारह प्रकार के तप हैं। किसी निश्चित काल तक व्रत धारण करना— भोगोपभोग की वस्तुओं का त्याग करना नियम है। जैसा कि कहा गया है—

नियमो इत्यादि—भोग (एक वार भोग में आनेवाले भोजन आदि) और उपभोग (वार वार भोग में आनेवाले वस्त्र आदि) के त्याग में नियम और यम ये दो विधियां बतलाई गई हैं। जो किसी निश्चित समय तक त्याग होता है उसे नियम कहते हैं और जीवन पर्यन्त के लिये जो धारण किया जाता है उसे यम कहते हैं।

योग का अर्थ—वर्षायोग—वर्षा ऋतु में वृक्षों के नीचे बैठकर आत्मा का ध्यान

१ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायाम्। २ रत्नकरण्डश्रावकाचारे समन्तभद्रस्य।

[1]साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् । शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥

गुणाश्चतुरशीतिलक्षसंख्याः । के ते चतुरशीतिगुणा इति चेदुच्यन्ते हिंसानृत-स्तेय-मैथुन-परिग्रह-क्रोध-मान-माया-लोभ-जुगुप्सा-भय-रत्यरतय इति त्रयोदश दोषाः, मनोवचन-कायदुष्टत्वमिति षोडश, मिथ्यात्वं प्रमादः पिशुनत्वमज्ञानमिन्द्रियाणामनिग्रह एतैः पञ्चभिर्मेलिता एकविंशतिर्दोषा भवन्ति । तेषां त्यागा एकविंशतिर्गुणा भवन्ति । अतिक्रम-व्यतिक्रमातिचारानाचारत्यागैश्चतुर्भिर्गुणिताश्चतुरशीतिर्गुणा भवन्ति । ते पृथिव्यादिशतजीवसमासैर्गुणिताश्चतुरशीतिशतानि गुणा भवन्ति । ते दशशीलविराधनैर्गुणिताश्चतुरशीतिसहस्राणि गुणा भवन्ति । कास्ताः शीलविराधनाः ? स्त्रीसंसर्गः १, सरसाहारः २, सुगन्धसंस्कारः ३, कोमलशयनासनं ४, शरीरमण्डनं ५, गीत-वादित्रश्रवणं ६, अर्थग्रहणम् ७,

---

करना, शिषिरयोग—शीत ऋतु में खुले मैदान अथवा नदियों के किनारे बैठकर ध्यान करना, अथवा ग्रीष्मयोग—गर्मी में पर्वत की चट्टानों पर बैठकर ध्यान करना; ये तीन योग कहलाते हैं। अथवा आत्मध्यान को योग कहते हैं। जैसा कि वीरनन्दी के शिष्य पद्मनन्दी ने कहा है–

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चेतोनिरोध और शुद्धोपयोग ये एकार्थवाचक शब्द हैं॥

गुण चौरासी लाख होते हैं जो इस प्रकार हैं—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, भय, रति और अरति; ये तेरह दोष हैं। इन तेरह में मनोदुष्टता, वचनदुष्टता और कायदुष्टता ये तीन दोष मिला देने से सोलह दोष होते हैं। इन सोलह में मिथ्यात्व, प्रमाद, पिशुनता—चुगली, अज्ञान और इन्द्रियों का निग्रह नहीं करना ये पांच मिला देने से इक्कीस दोष होते हैं। इन इक्कीस दोषों का त्याग करना इक्कीस गुण हैं। वह त्याग अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार के त्याग से चार प्रकार का होता है। अतः उन इक्कीस में चार का गुणा करने पर चौरासी (८४) भेद होते हैं। इन चौरासी में पृथिवीकायिकादि सौ जीवसमासों का गुणा करने पर ८४०० गुण होते हैं। इन में शील की दश विराधनाओं का गुणा करने पर ८४००० गुण होते हैं। इन में आकम्पित आदि आलोचना के दश दोषों के त्याग का गुणा करने से ८४०००० आठ लाख चालीस हजार गुण होते हैं और इन में उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों का गुणा करने पर ८४००००० चौरासी लाख गुण होते हैं।

स्त्रीसंसर्ग १ सरसाहार २ सुगन्धसंस्कार ३ कोमलशयनासन ४ शरीरमण्डन ५ गीत-वादित्रश्रवण ६ अर्थग्रहण ७ कुशीलसंसर्ग ८ राजसेवा ९ और रात्रिसंचरण १० ये शील की दश विराधनाएं हैं।

---

[1] एकत्वसप्तती पद्मनन्द्याचार्यस्य ।

कुशीलसंसर्गः ८, राजसेवा ९, रात्रिसंचरणम् १०, इति दश शीलविराधनाः। ते आकम्पितादिदशालोचनादोषत्यागैर्दशभिर्गुणिताः चत्वारिंशत्सहस्राधिकाष्टलक्षाणि गुणा भवन्ति। उत्तमक्षमादिदशधर्मगुणिताश्चतुरशीतिलक्षाणि गुणा भवन्ति। अथातिक्रमादयश्चत्वारः के? [1]अतिक्रमस्तावद्विशिष्टमतित्यागः। व्यतिक्रमः शीलवृतिलङ्घनम्। अतिचारो विषयेषु प्रवर्तनम्। अनाचारो विषयेष्वत्यासक्तिः। के ते दशालोचनादोषाः? तदर्थनिरूपिका गाथेयम्—

[2]*आकंपिअ अणुमाणिअ जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च। छन्नं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी॥*

अस्या अयमर्थः—*आकम्पिअ*—आकम्पो भयमुत्पद्यते मा बहुदण्डं दासीदाचार्यः १, *अणुमाणियं*—अनुमानं इत्येतावत्पापं कृतं भविष्यति निर्दोषो नास्ति २. *जं दिट्ठं*— यत्केनचिद् दृष्टं तत्प्रकाशयति ३, *बादरं*— स्थूलं पापं प्रकाशयति ४, *सुहुमं*—अल्पं पापं कथयति, न महापापं प्रकाशयति ५ *छण्णं*—प्रच्छन्नं आचार्याग्रे कथयति, न प्रकटं ६, *सद्दाउलयं*-संघादिकृतकोलाहले सति कथयति पापम् ७, *बहुजणं*—बहुः सङ्घो

विशिष्ट बुद्धि अर्थात् मानसिक शुद्धि का त्याग करना अतिक्रम है। शील रूपी वाड़ का ऊल्लङ्घन करना व्यतिक्रम है। विषयों में प्रवृत्ति करना अतिचार है। और विषयों में अत्यन्त आसक्त हो जाना अनाचार है।

आलोचना के दश दोषों का निरूपण इस गाथा में किया गया है—

आकंपिअ इत्यादि–(१) गुरु के संमुख दोष प्रकट करने के पूर्व इस बात का भय उत्पन्न होना कि कहीं आचार्य अधिक दण्ड न दे देवें अथवा ऐसी मुद्रा बना कर दोष कहना कि जिससे शिष्य की दयनीय अवस्था देख कर आचार्य कड़ा दण्ड न दे सकें। (२) दूसरे के द्वारा अनुमानित—संभावना में आये हुए पाप का निवेदन करना। (३) जो दोष किसीने देख लिया हो उसी की आलोचना करना, विना देखे दोष की आलोचना नहीं करना। (४) स्थूल दोष की आलोचना करना, सूक्ष्म दोष की नहीं। साथ ही यह भावना रखना कि जब यह स्थूल–बड़े दोष नहीं छिपाता तो सूक्ष्म दोष क्या छिपावेगा? (५) सूक्ष्म दोष की आलोचना करना, स्थूल की नहीं; और साथ ही ऐसा अभिप्राय रखना कि जब यह सूक्ष्म दोषों को नहीं छिपाता तो बड़े दोषों को क्यों छिपावेगा? (६) आचार्य के आगे अपराध को स्वयं प्रकट नहीं करना। (७) संघ आदिके द्वारा किये हुए कोलाहल के समय अपने दोष प्रकट करना। (८) जिस समय पाक्षिक–चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमणों के समय संघके समस्त साधु अपने अपने दोष प्रकट कर रहे हों उसी कोलाहल में अपने दोष प्रगट

---

१ क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलङ्घनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥९॥ द्वात्रिंशतिकायाम् अमितगतेः।

२ मूलाराधनायां शिवकोट्याचार्यस्य।

मिलति तदा पापं प्रकाशयति ८,*अव्वत्तं*–अव्यक्तं प्रकाशयति स्फुटं न कथयति ९,*तस्सेवी*—यत्पापं प्रकाशितं तदेव पुनरपि करोति[1] १०, इति दशालोचनादोषाः। दश कायसंयमाः के ? पञ्चेन्द्रियनिर्जयः पञ्चप्राणरक्षा इति दश। एतान् संयम-तपोनियम-योग-गुणान् धरतीत्येवमवश्यं संयम-तपोनियम-योग-गुणधारी। *तस्स य दोस कहंता* तस्य च दोषान् कथयन्तः आरोपयन्तः केचित्पापिष्ठाः। *भग्गा भग्गत्तणं दिंति* स्वयं भग्नाश्चारित्रात् पतिता भ्रष्टा अन्येषामपि भ्रष्टत्वमारोपयन्ति, ते निन्दनीया इत्यर्थः ॥९॥

करना (९) अव्यक्त रूप से अपराध कहना अर्थात् स्वयं मुझ से यह अपराध हुआ है, ऐसा न कह कर कहना कि भगवन् ! यदि किसी से अमुक अपराध हो जाय तो उसका क्या प्रायश्चित्त होगा; इस तरह अव्यक्त रूप से अपराध प्रकट कर प्रायश्चित्त लेना। (१०) और जिस पाप को गुरु के संमुख प्रकट कर प्रायश्चित्त लिया है उस अपराध को पुनः पुनः करना अथवा जो अपराध हुआ है उसी अपराध को करनेवाले आचार्य से प्रायश्चित लेना और साथ ही यह अभिप्राय रखना कि जब आचार्य स्वयं यह अपराध करते हैं तो दूसरे को दण्ड क्या देवेंगे ?

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांच इन्द्रियों को जीतना तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन पांच प्रकार के जीवों की प्राणरक्षा करना; दश प्रकार का कायसंयम है।

इस प्रकार जो कोई आत्मस्वभाव, उत्तम क्षमादि दशलक्षण पांच, अथवा तेरह प्रकार के चारित्र, अथवा प्राणिरक्षणरूप धर्म का निरन्तर अभ्यास करता है, बारह प्रकार का संयम, बारह प्रकार का तप, यम और नियम रूप भोगोपभोग का परिमाण, वर्षादियोग अथवा आत्मध्यान रूप योग तथा चौरासी लाख उत्तर गुणों को धारण करता हुआ निर्दोष चारित्र पालता है फिर भी मात्सर्यवश उसे यदि कोई दोष लगाते हैं—उसकी निन्दा करते हैं–तो वे चारित्र से स्वयं भ्रष्ट हैं और दूसरे लोगों को भी चारित्र से भ्रष्ट कर देते हैं।

[उपगूहन अङ्ग की रक्षा करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव जब किसीके विद्यमान दोषों को भी नहीं कहना चाहता तब अविद्यमान—कल्पित दोषों को कैसे कहेगा ? किसी के दोष कहने के पहले यदि मनुष्य आत्मनिरीक्षण कर ले अर्थात् यह दोष मुझ में तो नहीं है, इस प्रकार का चिन्तन कर ले तो उस की परदोष कथन की प्रवृत्ति सहज ही छूट सकती है। आज दूसरे के दोष कहनेवाले मनुष्य अपनी ओर तो देखते ही नहीं हैं मात्र दूसरे के ही दोष देखा करते हैं। आचार्य समन्तभद्रने ऐसे

१ आशाधरस्तु 'समानस्सेवितं स्वसो'। आत्मसदृशात्पार्श्वस्थात् यत्प्रायश्चित्तग्रहणं तत् तत्सेवितम्— इत्याह।

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी ।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥ १० ॥

यथा मूले विनष्टे द्रुमस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः । तथा जिनदर्शनभ्रष्टा मूलविनष्टा न सिध्यन्ति ॥१०॥

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी यथा मूले [1]पाताले गर्ताधारे विनष्टे विनाशं प्राप्ते द्रुमस्य वृक्षस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः शाखा-पत्र-पुष्प-फलादेर्वृद्धिर्नास्ति वृद्धिर्न भवति। परिवार इत्यत्र षष्ठीलुक् "लुक्चेति" वचनात्। दृष्टान्तं दत्त्वा दार्ष्टान्तं ददाति। *तह जिणदंसणभट्ठा* तथा तेन द्रुममूलप्रकारेण जिनदर्शनभ्रष्टा आर्हतमतात्पतिताः। *मूलविणट्ठा* श्रीमूलसङ्घात् प्रच्युताः। न सिद्ध्यन्ति न मोक्षं प्राप्नुवन्ति—जन्मशतसहस्रेष्वपि संसारे परिभ्रमन्तीति भावार्थः ॥१०॥

लोगों के विषय में कितना अच्छा कहा है—

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः । तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रियः[2] ॥

अर्थात् जो दूसरों के छोटे छोटे से दोष ढूंढने में सदा जागृत रहते हैं और अपने हाथी जैसे बड़े बड़े दोषों के प्रति नेत्र बन्द कर लेते हैं वे मोक्षमार्ग में क्या कर सकते हैं ? हे भगवन् ! वे आपके मत–धर्मरूपी लक्ष्मी के अपात्र हैं । जैनधर्म का अंश भी उनकी आत्मा में जागृत नहीं हुआ है ।] ॥९॥

गाथार्थ—जिस प्रकार जड़ के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के परिवार की वृद्धि नहीं होती [उसी प्रकार सम्यक्त्वके नष्ट हो जानेपर चारित्ररूपी वृक्ष की वृद्धि नहीं होती]। जो मनुष्य जिनदर्शन —अर्हन्त भगवान् के मत से भ्रष्ट हैं वे मूलविनष्ट हैं अर्थात् जड़ रहित हैं—सम्यग्दर्शन से शून्य हैं और ऐसे लोग मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥

विशेषार्थ—पाताल—बहुत गहराई तक नीचे फैली हुई जड़ ही वृक्ष की वृद्धि का कारण है। उसके नष्ट हो जाने पर जिस प्रकार वृक्ष में न नई नई शाखाएं निकलती हैं; न पत्ते, फूल, फल आदि की वृद्धि होती है उसी प्रकार जिनदर्शन–जिनमत अथवा जिनेन्द्र देव की गाढ श्रद्धा ही धर्म की जड़ है। जो मनुष्य इससे भ्रष्ट हैं—पतित हैं वे मूल से नष्ट हैं—जड़ रहित हैं। ऐसे जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकते–लाखों जन्मों तक संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं। संस्कृत टीकाकार ने मूल का अर्थ मूलसंघ करते हुए लिखा है कि जो मूलसंघ से च्युत हैं अर्थात् मूलसंघ की आम्नाय से भ्रष्ट होकर नये नये पन्थ चलाते हैं वे मोक्ष को प्राप्त नहीं होते, इसी संसार में लाखों जन्मों तक भटकते रहते हैं ॥ १०॥

---

१ पातालगर्ताधारे म० । २ स्वयंभूस्तोत्रे ।

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥ ११॥

यथा मूलात् स्कन्धः शाखापरिवारो बहुगुणो भवति। तथा जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं मोक्षमार्गस्य ॥११॥

जह मूलाओ यथा मूलाद् [1]वृक्षमूलात् कारणात्। *खंधो* स्कन्धः शाखावधिः प्रकाण्डः। *बहुगुणो होइ* प्रचुरगुणो वृद्धयाद्यतिशयवान् भवति। तथा *साहापरिवार* शाखापरिवारश्च लतास्वरूपी कटप्ररूच बहुगुणो भवति पत्र-पुष्प-फलादिमान् भवति। दृष्टान्तो गतः। इदानीं दार्ष्टान्तमाह— *तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स* तथा तेनैव वृक्षमूलप्रकारेणैव मोक्षमार्गस्य मूलं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणस्य मोक्षमार्गस्य मूलं कारणम्, *जिणदंसणं* जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं श्रीगौतमस्वामिना कथितम्। श्रीमूलसंघो मोक्षमार्गस्य मूलं कथितम्, न तु जैनाभासादिकम्। [2]किं तत्? पञ्चैते जैनाभासाः—

गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः। निष्पिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥

ते जैनाभासा आहारदानादिकेऽपि योग्या न भवन्ति। कथं मोक्षस्य योग्या भवन्ति? गोपुच्छिकानां मतं यथा, उक्तञ्च—

[3]इत्थीणं पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं। कक्कसकेसग्गहणं छट्ठं च गुणव्वदं नाम॥

गाथार्थ—जिस प्रकार मूल अर्थात् जड़ से वृक्ष का स्कन्ध और शाखाओं का परिवार वृद्धि आदि अतिशय से युक्त होता है उसी प्रकार जिनदर्शन—आर्हत मत अथवा जिनेन्द्र देव का प्रगाढ श्रद्धान मोक्षमार्ग का मूल कहा गया है। इस जिनदर्शन से ही मोक्षमार्ग वृद्धि को प्राप्त होता है ॥११॥

विशेषार्थ— जिस प्रकार मूल से वृक्ष का तना वृद्धि को प्राप्त होता है और मूल से ही वृक्ष की शाखाओं और उपशाखाओं का समूह पत्र, पुष्प तथा फल आदि से युक्त होता है उसी प्रकार जिनदर्शन ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी मोक्षमार्ग का मूल कारण है—इसी से मोक्षमार्ग वृद्धि को प्राप्त होता है, ऐसा श्री गौतम स्वामी ने कहा है।

संस्कृत टीकाकार ने मूलसंघ को मोक्षमार्ग का मूल कहा है तथा अन्य जैनाभासों का निषेध किया है। वे जैनाभास कौन हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने *गोपुच्छिक*-गोपुच्छिक, श्वेताम्बर, द्राविड, यापनीयक और निष्पिच्छ; इन पांच को जैनाभास कहा है। ये जैनाभास आहारदान आदि के भी योग्य नहीं हैं, फिर मोक्ष के योग्य कैसे हो सकते हैं? गोपुच्छिकों के मत का दिग्दर्शन कराते हुए उन्होंने निम्न गाथा उद्धृत की है—

इत्थीणं—स्त्रियों को दीक्षा दी जाती है, क्षुल्लक लोग भी वीरचर्या करते हैं,

१ वृक्षस्य मूलात् म०। २ किं तज्जैनाभासं? उक्तञ्च म०। ३ दर्शनसारे।

श्वेतवाससः सर्वत्र भोजनं गृह्णन्ति प्रासुकम्, मांसभक्षिणां गृहे दोषो नास्तीति वर्णलोपः कृतः। तन्मध्ये श्वेताम्बराभासा उत्पन्नास्ते त्वतीव पापिष्ठा देवपूजादिकं किल पापकर्मेदमिति कथयन्ति, मण्डलवत्सर्वत्र भाण्डप्रक्षालनोदकं पिबन्ति, इत्यादिबहुदोषवन्तः। द्राविडाः सावद्यं प्रासुकं च न मन्यन्ते, उद्भभोजनं निराकुर्वन्ति। यापनीयास्तु [1]वेसरा गर्दभा इवोभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति; स्त्रीणां तद्भवे मोक्षम्, केवलिजिनानां कवलाहारम्, परशासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति। निष्पिच्छिका मयूरपिच्छादिकं न मन्यन्ते। उक्तं च ढाढसीगाथासु—

पिच्छे ण हु सम्मत्तं करगहिए मोरचमरडंबरये। अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा वि झायव्वो॥

तथा च सितपटमतम्—

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य तह य अण्णो य। समभावभावियप्पा लहेय मोक्खं ण संदेहो॥

जैमिनि-कपिल-कणचर-चार्वाक-शाक्य-मतानि तु प्रमेयकमलमार्तण्डादिशास्त्रात् ज्ञातव्यानि॥११॥

कड़े केशोंको ग्रहण किया जाता है, और छठवां गुणव्रत होता है॥

श्वेताम्बरों की समीक्षा करते हुए कहा है कि श्वेताम्बर सब जगह प्रासुक भोजन ग्रहण करते हैं। 'मांसभक्षियोंके घर में भी भोजन करने में दोष नहीं है' ऐसा कह कर श्वेताम्बरों ने वर्णव्यवस्था का लोप किया है। उन्हीं श्वेताम्बरों में श्वेताम्बराभास उत्पन्न हुए हैं। वे अत्यन्त पापी हैं। वे देवपूजा आदि पापकार्य हैं, ऐसा कहते हैं तथा श्वान के समान सवत्र सब घरों में वर्तन धोनेका पानी पीते हैं, इत्यादि अनेक दोषों से युक्त हैं।

द्राविडों की समीक्षा में उन्होंने लिखा है कि वे सचित्त और अचित्त के भेद को नहीं मानते हैं तथा खड़े होकर भोजन करने का निषेध करते हैं।

यापनीयों की समीक्षा में लिखा है कि यापनीय खच्चरों के समान दोनों को मानते हैं। वे रत्नत्रय की पूजा करते हैं, कल्प का वाचन करते हैं, स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष होता है, केवली भगवान् कवलाहार करते हैं, तथा अन्य मत में परिग्रही मनुष्यों को मोक्ष होता है, ऐसा कहते है।

निष्पिच्छकों की आलोचना करते हुए कहा है कि निष्पिच्छिक लोग मयूरपिच्छ आदि को नहीं मानते। जैसा कि ढाढसी गाथाओं में कहा गया है—

पिच्छे—हाथ में लिये हुए मयूरपिच्छ अथवा सुरा गायके बालों में सम्यक्त्व नहीं है। आत्मा ही जीव को तार सकता है, इसलि आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये॥

सेयंबरो—श्वेताम्बर हो चाहे दिगम्बर, बुद्ध हो चाहे अन्य धर्मावलम्बी, जिसकी आत्मा समभाव—माध्यस्थ्य भाव—से विभूषित है वह मोक्ष को प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं है।

जैमिनि, सांख्य, कणाद, चार्वाक और बौद्धों के मत प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि

---

[1] वेसरा इवोभयं म०।

जे दंसणेसु भट्ठा पाए ण पडंति दंसणधराणं।
ते होंति लल्ल-मूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः पादे न पतन्ति दर्शनधराणाम् । ते भवन्ति लल्लमूका बोधिः पुनर्दुर्लभा तेषाम् ॥१२॥

जे दंसणेसु भट्ठा ये पुरुषा दर्शनेषु भ्रष्टा निसर्गजाधिगमजलक्षणाद् द्विविधात् सम्यग्दर्शनात्, औपशमिक-वेदक-क्षायिकलक्षणात् त्रिविधात्सम्यक्त्वरत्नात्प्रच्युताः ।

शास्त्रों से जानना चाहिये ॥११॥

गाथार्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होकर सम्यग्दृष्टियों के चरणों में नहीं पड़ते हैं—उन्हें नमस्कार नहीं करते हैं—वे अव्यक्तभाषी अथवा गूंगे होते हैं तथा उन्हें रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ रहती है ॥

विशेषार्थ—उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं— निसर्गज और अधिगमज । पूर्वभव के संस्कार के कारण जो सम्यग्दर्शन स्वयं हो जाता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो पर के उपदेश से होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अन्तरङ्ग कारण की प्रधानता से सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं—१औपशमिक, २ वेदक (क्षायोपशमिक) और ३क्षायिक । मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति, तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। यदि यह सम्यग्दर्शन अनादि मिथ्यादृष्टि के होता है तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन पांच प्रकृतियों के ही उपशम से होता है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता नहीं रहती और सत्ता न रहने का कारण यह है कि दर्शन-मोहकी मिथ्यात्व आदि तीन प्रकृतियों में से केवल मिथ्यात्व प्रकृति का ही बन्ध होता है, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का नहीं । सम्यग्दर्शन के हो जाने पर उसके प्रभाव से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड होते हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति । सादि मिथ्यादृष्टि जीव के ही सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता रहती है, अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के नहीं । सादि मिथ्यादृष्टि जीव के भी मिथ्यादृष्टि अवस्था में अधिक काल तक रहने पर संक्रमण आदि के हो जाने से सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता समाप्त हो जाती है, अतः सादि मिथ्यादृष्टि जीव के पांच या सात प्रकृतियों के उपशम से सम्यग्दर्शन होता है ।

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आनेवाले निषेकों का उदयाभावी क्षय

[1]*आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् । विस्तारार्थाभ्यां भवमव-परमावादिगाढे च ॥*

इत्यार्याकथितदशविधसम्यक्त्व-रत्नात्पतिताः । अस्या आर्याया अयमर्थः—

[2]*सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्नैव हन्यते । आज्ञासम्यक्त्वमित्याहुर्नान्यथावादिनो जिनाः ॥*

एवं जिन-सर्वज्ञ-वीतरागवचनमेव प्रमाणं क्रियते तदाज्ञासम्यक्त्वं कथ्यते (१)। निर्ग्रन्थलक्षणो मोक्षमार्गो न वस्त्रादिवेष्टितः पुमान् कदाचिदपि मोक्षं प्राप्स्यति, एवंविधो मनोभिप्रायो निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षमार्गे रुचिर्मार्गसम्यक्त्वं द्वितीयमुच्यते (२)। त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसमाकर्णनेन बोधि-समाधि-

---

तथा उन्हीं के आगामी काल में उदय आनेवाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाति प्रकृति का उदय होने पर जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे क्षायोशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय का वेदन—अनुभवन करने की अपेक्षा इसी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को वेदक सम्यदर्शन भी कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन सादि मिथ्यादृष्टि के ही होता है, अनादि मिथ्यादृष्टि के नहीं।

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध—मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षयसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह केवली या श्रुतकेवली के सन्निधान में होता है अथवा स्वयं की श्रुतकेवली अवस्था होने पर होता है। इसका माहात्म्य सर्वोपरि है, यह होकर कभी नहीं छूटता। इसकी उत्पत्ति कर्मभूमि के मनुष्य के ही होती है। इस सम्यक्त्व का धारक जीव चार भव से अधिक भव धारण नहीं करता है।

बाह्य निमित्त की प्रधानता से सम्यग्दर्शन के दश भेद होते हैं—

आज्ञामार्ग इत्यादि— १ आज्ञासमुद्भव, २ मार्गसमुद्भव, ३ उपदेशसमुद्भव, ४ सूत्रसमुद्भव, ५ बीजसमुद्भव, ६ संक्षेपसमुद्भव, ७ विस्तारसमुद्भव, ८ अर्थसमुद्भव, ९ अवगाढ और १० परमावगाढ। इनका स्वरूप निम्न प्रकार है—

[1]*सूक्ष्मं*—जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ सूक्ष्म वाक्य हेतुओं द्वारा खण्डित नहीं होता, ऐसा श्रद्धान करना आज्ञा—सम्यक्त्व है; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथा कथन नहीं करते॥

मोक्षमार्ग निर्ग्रन्थलक्षण है, वस्त्रादि से वेष्टित पुरुष कभी मोक्षको प्राप्त नहीं होगा; ऐसा मन का अभिप्राय रखते हुए निर्ग्रन्थलक्षण मोक्षमार्ग में रुचि रखना सो दूसरा मार्ग—सम्यक्त्व कहा जाता है।

---

१ आत्मानुशासने गुणभद्राचार्यस्य.

२ यही श्लोक अन्यत्र इस प्रकार उपलब्ध होता है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञामात्रेण तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

प्रदानकारणेन यदुत्पन्नं श्रद्धानं तदुपदेशनामकं सम्यग्दर्शनं भण्यते (३)। मुनीनामाचारसूत्रं मूलाचारशास्त्रं श्रुत्वा यदुत्पद्यते तत्सूत्रसम्यक्त्वं कथ्यते (४)। उपलब्धिवशाद् दुरभिनिवेशविध्वंसाभिरुपमोपशमाभ्यन्तरकारणाद्विज्ञातदुर्व्याख्येयजीवादिपदार्थबीजभूतशास्त्राद्यदुत्पद्यते तद् बीजसम्यक्त्वं प्ररूप्यते (५)। तत्त्वार्थसूत्रादिसिद्धान्तनिरूपितजीवादिद्रव्यानुयोगद्वारेण पदार्थान् संक्षेपेण ज्ञात्वा रुचिं चकार यः स संक्षेपसम्यक्त्वः पुमानुच्यते (६)। द्वादशाङ्गश्रवणेन यज्जायते तद्विस्तारसम्यक्त्वं प्रतिपाद्यते (७)। अङ्गबाह्यश्रुतोक्तात् कुतश्चिदर्थादङ्गबाह्यश्रुतं विनापि यत्प्रभवति तत्सम्यक्त्वमर्थसम्यक्त्वं निगद्यते (८)। अङ्गान्यङ्गबाह्यानि च शास्त्राण्यधीत्य यदुत्पद्यते सम्यक्त्वं तदवगाढमुच्यते (९)। यत्केवलज्ञानेनार्थानवलोक्य सद्दृष्टिर्भवति तस्य परमावगाढसम्यक्त्वं कथ्यते (१०)। तथा चोक्तं गुणभद्रेण गणिना—

रत्नत्रय एवं आत्मध्यान को प्रदान करनेवाले त्रेशठ शलाकापुरुष सम्बन्धी महापुराण के सुनने से जो श्रद्धान उत्पन्न होता है वह उपदेश नामका सम्यग्दर्शन कहा जाता है ।

मुनियों के आचार का निरूपण करनेवाले मूलाचार आदि शास्त्रों को सुन कर जो श्रद्धान उत्पन्न होता है वह सूत्र-सम्यक्त्व कहा जाता है ।

काललब्धि वश मिथ्या अभिप्राय के नष्ट होने पर, दर्शनमोह के असाधारण उपशम रूप आभ्यन्तर कारण से कठिनाई से व्यख्यान करने योग्य जीवादि पदार्थों के बीजभूत शास्त्र से जो उत्पन्न होता है वह बीज-सम्यक्त्व कहलाता है ।

तत्त्वार्थसूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में निरूपित जीवादि द्रव्यों के प्ररूपक अनुयोग के द्वारा संक्षेप से पदार्थों को जान कर जो श्रद्धा करता है वह संक्षेप-सम्यक्त्व का धारक, पुरुष कहा जाता है ।

द्वादशाङ्ग के सुनने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह विस्तार-सम्यक्त्व कहलाता है ।

अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य श्रुत के विना ही अङ्गबाह्य श्रुत में कहे हुए किसी पदार्थ से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अर्थ-सम्यक्त्व कहलाता है ।

अङ्ग और अङ्गबाह्य शास्त्रों को पढ़ कर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अवगाढ़-सम्यदर्शन कहलाता है ।

केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को देख कर जो श्रद्धान होता है वह परमावगढ़-सम्यक्त्व कहलाता है ।

जैसा कि गुणभद्राचार्य गणी ने कहा है—

[1]आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः ।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥१॥

[2]आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः ।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद् बीजदृष्टिः पदार्थान्
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥२॥

[3]यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं
संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः ।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥३॥

आज्ञासम्यक्त्व—दर्शनमोह के उपशान्त होने से ग्रन्थश्रवण के विना मात्र वीतराग भगवान् की आज्ञा से ही जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह आज्ञा-सम्यक्त्व है। दर्शनमोह का उपशम होने से ग्रन्थविस्तार के विना ही कल्याणकारी मोक्षमार्ग का जो श्रद्धान होता है उसे मार्ग-सम्यक्त्व कहते हैं। त्रेशठ शलाकापुरुषों के पुराण के उपदेश से जो उत्पन्न होता है उसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करनेवाले आगमरूपी समुद्र में अवगाहन करनेवाले गणधर देव ने उपदेश-सम्यक्त्व कहा है ॥

आकर्ण्याचार—मुनियों के चारित्र की विधिको सूचित करनेवाले आचारसूत्र को सुन कर जो तत्त्वश्रद्धान करता है वह सूत्र-सम्यग्दृष्टि है। जिनका जानना अतिशय कठिन है ऐसे पदार्थसमूह को किन्हीं बीजपदों से जाननेवाले भव्य पुरुष को दर्शनमोह के असाधारण उपशम से जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह बीज-सम्यग्दर्शन है। जो पुरुष संक्षेप से ही पदार्थो को जानकर अच्छी तरह श्रद्धा को प्राप्त हुआ है वह संक्षेपदृष्टि पुरुष है ॥

यः श्रुत्वा—जो पुरुष द्वादशाङ्ग को सुनकर तत्त्वश्रद्धानी होता है उसे विस्तर-दृष्टि जाने। अङ्गबाह्य प्रवचनों को श्रवण किये विना ही किसी कारण से श्रद्धा उत्पन्न होती है वह अर्थदृष्टि—अर्थ-सम्यग्दर्शन है। अङ्ग तथा अङ्गबाह्य प्रवचनों का अवगाहन करने से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह अवगाढ़-सम्यग्दर्शन है और केवलज्ञान के द्वारा देखे हुए पदार्थों की जो श्रद्धा है वह परमावगाढ-सम्यग्दर्शन नाम से प्रसिद्ध है ॥

१ आत्मानुशासने श्लोकसंख्या १२. २ आत्मानुशासने श्लोकसंख्या १३.
३ आत्मानुशासने श्लोकसंख्या १४.

ईदृशदर्शनेषु भ्रष्टास्त्यक्तमयूरपिच्छ-कमण्डलु-परमागमपुस्तकाः सन्तो गृहस्थवेषधारिणः संयमधराणां संयमिनां सद्दृष्टीनाम् । *पाए ण पडंति* पादे चरणयुगले न पतन्ति नैव नमोऽस्त्विति कुर्वन्ति, अभिमानित्वान्मुसलवत्तिष्ठन्ति । ते किं भवन्ति ? *ते होंति लल्लमूआ* ते भवन्ति लल्ला अस्फुटवाचो मूका वक्तुं श्रोतुमशिक्षिताः । *बोही पुण दुल्लहा तेसिं* बोधिः खलु रत्नत्रयप्राप्तिः पुनर्जन्मशतसहस्रेष्वपि दुर्लभा कष्टेनापि लब्धुमशक्या *तेसिं* तेषां जैनाभास-सदाभासानां च मिथ्यादृष्टीनामिति शेषः ॥१२॥

जे पि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोअमाणाणं ॥१३॥

येऽपि पतन्ति च तेषां जानन्तो लज्जा-गर्व-भयेन । तेषामपि नास्ति बोधिः पापमनुमन्यमानानाम् ॥१३॥

जे पि पडंति च तेसिं ये सम्यग्दर्शनादभ्रष्टा अपि पुरुषाः *तेसिं* तेषां परित्यक्तजिनमुद्राणां मयूरपिच्छ-शौचोपकरण-ज्ञानोपकरणरहितानां पादे कायधरयुगले पतन्ति नमस्कारं कुर्वन्ति पूर्वमुद्राधरा इति । *जाणंता* विदन्तोऽपि जिनमुद्राविराधका एते इत्यवगच्छन्तोऽपि । *लज्जा-गारव-भयेण* लज्जया त्रपया, गारवेण रसर्द्धि-सातगर्वेण, भयेनायं राजमान्योऽस्माकं कमप्युपद्रवं कारयिष्यतीत्यादिभीत्या च । *तेसिं पि णत्थि बोही* तेषामपि बोधिर्नास्ति ते रत्नत्रयं प्रपालयन्तोऽपि रत्नत्रयाद् भ्रष्टा इति ज्ञातव्या इति

इस प्रकार के सम्यग्दर्शनों से जो भ्रष्ट हैं तथा मयूरपिच्छ, कमण्डलु और परमागम-शास्त्रों को छोड़कर गृहस्थवेष को धारण करते हुए संयम के धारी सम्यग्दृष्टि मुनियों के चरणों में नहीं पड़ते हैं, उन्हें नमोऽस्तु नहीं करते हैं और अभिमान के वश मूसल के समान यों ही खड़े रहते हैं वे [1]अस्पष्टभाषी गूंगे होते हैं अर्थात् बोलने और सुनने में असमर्थ होते हैं । ऐसे लोगों को लाखों जन्म में भी रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ रहती है ॥

गाथार्थ—जो जानते हुए भी लज्जा, गर्व और भय के कारण उन मिथ्यादृष्टियों के चरणों में पड़ते हैं उन्हें—'नमोऽस्तु' आदि करते हैं, पाप की अनुमोदना करनेवाले उन लोगों को भी रत्नत्रय को प्राप्ति नहीं होती ॥

विशेषार्थ—जो पुरुष स्वयं सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट न होने पर भी, उन जिनमुद्रा के त्यागी एवं मयूरपिच्छ, कमण्डलु और शास्त्र से रहित कुलिङ्गियों के चरणयुगल में पड़ते हैं—उन्हें नमस्कार करते हैं और साथ ही यह जानते भी हैं कि ये साधु होनेपर भी पूर्वमुद्रा—गृहस्थवेष को ही धारण करनेवाले हैं तथा जिनमुद्रा—वीतराग निर्ग्रन्थ मुद्रा का विघात करनेवाले हैं, अतः नमस्कार के योग्य नहीं हैं; मात्र लज्जा; रस, ऋद्धि और सात इन तीन गर्वों से अथवा 'यह राजमान्य है, नमस्कार न करने पर कुछ उपद्रव करा देगा' इत्यादि भय से नमस्कार करते हैं वे उनके उस पाप की अनुमोदना करनेवाले

१ पं० जयचन्दजी ने 'लल्ल' के स्थानपर 'लुल्ल' पाठ रख कर 'लूले—नहीं चल सकनेवाले' अर्थ किया है ।

भावः । कथंभूतानां तेषाम् ? *पावं अणुमोयमाणाणं* जिनदर्शनभ्रंशाद्यदुत्पन्नं पापं पातकं तदनुमन्यमानाना मिति शेषः । उक्तं च समन्तभद्रेण गणिना—

[1]*भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् । प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥*

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि ।

णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होइ ॥१४॥

द्विविधमपि ग्रन्थत्यागं त्रिष्वपि योगेषु संयमस्तिष्ठति । ज्ञाने करणशुद्धे उद्भशने दर्शनं भवति ॥१४॥

दुविहं पि गंथचायं द्विविधोऽपि ग्रन्थत्यागः । *तीसु वि जोएसु* त्रिष्वपि योगेषु मनोवचन-कायशुद्धिषु । *संजमो ठादि* संयमश्चारित्रं तिष्ठति भवति । *णाणम्मि करणसुद्धे* सम्यग्ज्ञाने कृत-कारितानुमोदनिर्मले सति ।

हैं; अतः उनके रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् वे रत्नत्रय के पालक होकर भी रत्नत्रय से भ्रष्ट हैं । जैसा कि स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—

भयाशा— सम्यग्दृष्टि मनुष्य भय, आशा, स्नेह अथवा लोभ से कुदेव, कुआगम और कुलिङ्गियों को न प्रणाम करें और न उनकी विनय करें ॥

[सम्यग्दृष्टि मनुष्य, वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी रूप लक्षण से युक्त जिनेन्द्र देव को छोड़ किसी अन्य रागी–द्वेषी देव को; वीतराग–सर्वज्ञ जिनेन्द्र की आम्नाय में लिखित, स्याद्वाद सिद्धान्त से ओतप्रोत एवं अहिंसामय सिद्धान्त के समर्थक शास्त्र को छोड़ अन्य रागी–द्वेषी लोगों के द्वारा लिखित एकान्तरूप एवं हिंसादि पापों के समर्थक शास्त्र को; और विषयों की आशा से रहित एवं ज्ञान–ध्यान में लीन निर्ग्रन्थ गुरु को छोड़ कर अन्य रागी–द्वेषी गुरु को; भय, आशा, स्नेह और लोभ के वशीभूत हो स्वप्न में भी नमस्कार नहीं करता । उसकी दृष्टि से मोहजन्य विकार दूर हो जाता है, अतः वह वस्तु के शुद्ध स्वरूप को समझ कर वास्तविक प्रवृत्ति करता है ।]

गाथार्थ—जो मुनि दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं, तीनों योगों पर संयम रखते हैं अर्थात् मन वचन काय की प्रवृत्तिपर नियन्त्रण रखते हैं, ज्ञान को इन्द्रियों के विषयों से शुद्ध रखते हैं अर्थात् इन्द्रियों के वशीभूत हो ज्ञान को मलिन नहीं करते अथवा कृत कारित अनुमोदना से ज्ञान को निर्मल रखते हैं और खड़े होकर भोजन करते हैं उन्हीं मुनियों के सम्यक्त्व होता है ॥

विशेषार्थ—बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग के भेद से परिग्रह के दो भेद हैं । मुनियों को उक्त दोनों परिग्रहों का त्याग करना आवश्यक है । मनोयोग, वचनयोग और काययोग के भेद से योगके तीन भेद हैं । इन तीनों योगों में शुद्धि होने पर ही संयम अर्थात्

[1] रत्नकरण्डश्रावकाचारे श्लोकसंख्या ३०.

उब्भसणे उद्भभोजने च सति। *दंसणं होदि* सम्यक्त्वं भवति, मुनीनामिति शेषः। अथ कोऽसौ द्विविधो ग्रन्थ इत्याह— बाह्याभ्यन्तरभेद इति। तत्र बाह्यः परिग्रहः कथ्यते—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्। [1]कुप्यं भाण्डं हिरण्यं च सुवर्णं च बहिर्दश ॥

क्षेत्रं सस्याधिकरणम्। वास्तु गृहम्। धनं द्रव्यादि। धान्यं गोधूमादि। द्विपदं दासी-दासादि। चतुष्पदं गो-महिषी-वेसर-गजाश्वादि। कुप्यं कार्पास-चन्दन-कुङ्कुमादि। भाण्डं तैल-घृतादिभृतं पात्रम्। हिरण्यं ताम्र-रूप्यादि। घटिताघटितं सुवर्णं श्रीनिकेतनं हाटकं कनकमिति यावत्। अभ्यन्तरग्रन्थश्चतुर्दशभेदः—

चारित्र होता है; इसलिये मुनियों को उक्त तीनों योगोंपर नियन्त्रण रखकर उनकी शुद्धि बनाये रखनी चाहिये। सम्यग्ज्ञान के कृत कारित अनुमोदना से निर्मल रहने पर तथा खड़े खड़े भोजन लेने पर मुनियों के सम्यक्त्व होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि मुनि अपने ज्ञान को सदा निर्मल रखते हैं और खड़े खड़े पाणि-पात्र में आहार करते हैं।

[यहां आचार्य महाराज ने यह भाव प्रकट किया है कि जो साधु होकर भी वस्त्रादि परिग्रह रखते हैं, जिनके मन वचन काय की प्रवृत्ति में कोई प्रकार की शुद्धि नहीं है, जो इन्द्रियों के वशीभूत हो कर अपने ज्ञान को निर्मल नहीं रख पाते हैं अर्थात् उसे विषयसामग्री की प्राप्ति के लिये आत्मस्वरूप को छोड़ अन्यत्र भ्रमाते हैं अथवा यन्त्र-मन्त्र आदि लौकिक कार्यों में उसे प्रयुक्त करते हैं और गृहस्थ के घर खड़े खड़े आहार न लेकर गोचरी द्वारा लाये हुए आहार को एक जगह बैठकर सुख-सुविधा से ग्रहण करते हैं उन्हें सम्यक्त्व नहीं है और सम्यक्त्व से हीन होने के कारण वे वन्दनीय नहीं हैं]

बाह्य परिग्रह के दश भेद इस प्रकार हैं—

क्षेत्रं—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, कुप्य, भाण्ड, हिरण्य और सुवर्ण ये बहिरङ्ग परिग्रह के दश भेद हैं। जिसमें अनाज उत्पन्न होता है ऐसे खेत को क्षेत्र कहते हैं; मकान को वास्तु कहते हैं, द्रव्य आदि को धन कहते हैं, गेहूं आदि धान्य कहलाते हैं, दासी-दास आदि द्विपद कहलाते हैं; गाय, भैंस, ऊंट, हाथी, घोड़ा आदि चतुष्पद कहलाते हैं; वस्त्र, चन्दन तथा केशर आदि कुप्य कहे जाते हैं; तैल घी आदि से भरे हुए वर्तन पात्र कहलाते हैं, तांबा चांदी आदि धातुएँ हिरण्य कहलाती हैं और जेवर रूप से घड़ा हुआ अथवा विना घड़ा हुआ सुवर्ण कहलाता है। इसी सुवर्ण को श्रीनिकेतन (लक्ष्मीका घर), हाटक और कनक भी कहते हैं।

आभ्यन्तर परिग्रह के निम्न लिखित चौदह भेद हैं—

---

१ 'यानं शय्यासनं कुप्यं भाण्डं चेति बहिर्दश' इति पाठान्तरम्।

[1]मिथ्यात्व-वेद-हास्यादिषट्-कषायचतुष्टयम् । राग-द्वेषौ च सङ्गाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी ।

उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥१५॥

सम्यक्त्वात् ज्ञानं ज्ञानात् सर्वभावोपलब्धिः । उपलब्धपदार्थे पुनः श्रेयोऽश्रेयो विजानाति ॥१५॥

सम्मत्तादो णाणं सम्यक्त्वाज्ज्ञानं भवति, यस्य सम्यक्त्वं नास्ति स पुमानज्ञान एवेत्यर्थः । *णाणादो सव्वभावउवलद्धी* ज्ञानात् सर्वपदार्थानामुपलब्धिः जीवादितत्त्वानां जीवस्य परिज्ञानं भवति । *उवलद्धपयत्थे पुण* उपलब्धपदार्थे पुनः उपलब्धश्चासौ पदार्थः उपलब्धपदार्थस्तस्मिन्नुपलब्धपदार्थे सति । किं भवति ? *सेयासेयं वियाणेदि* श्रेयः पुण्यं विशिष्टतीर्थकर-नामकर्म, अश्रेयः पापं चतुर्गतिपरिभ्रमण-कारणं विशेषेण जानीते । उक्तञ्च—

[2]*न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि । श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥*

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि ।

सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥१६॥

श्रेयोऽश्रेयोवेत्ता उद्धूतदुःशीलः शीलवानपि । शीलफलेनाभ्युदयं ततः पुनः लभते निर्वाणम् ॥१६॥

मिथ्यात्व—मिथ्यात्व एक, वेद एक, हास्यादि छह नोकषाय, क्रोध आदि चार कषाय, राग और द्वेष एक-एक, इस प्रकार अन्तरङ्ग परिग्रह के चौदह भेद हैं ॥

गाथार्थ—सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है, और समस्त पदार्थों की उपलब्धि होने पर यह जीव कल्याण तथा अकल्याण को विशेष रूप से जानता है ॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन से ज्ञान होता है, जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है वह पुरुष अज्ञानी है । ज्ञान से ही मोक्षमार्गोपयोगी जीवादि तत्त्वों का परिज्ञान होता है तथा पदार्थों का परिज्ञान होने पर यह मनुष्य पुण्य अर्थात् सातिशय तीर्थंकर नामकर्म और पाप अर्थात् चतुर्गति के परिभ्रमण के कारण को विशेषरूप से जानता है । जैसा कि कहा है—

न सम्यक्त्व— तीनों काल और तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के समान प्राणियों का दूसरा हितकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान अहितकारी नहीं है ॥

गाथार्थ—कल्याण और अकल्याण को जाननेवाला मनुष्य दुष्ट स्वभाव को उन्मूलित करता है तथा उत्तम शील—श्रेष्ठ स्वभाव से युक्त होता हुआ शील के फल

---

१ मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः । चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपायेऽमृतचन्द्राचार्यस्य । २ रत्नकरण्डश्रावकाचारे समन्तभद्रस्य श्लोकसंख्या ३४.

सेयासेयविदण्हू श्रेयसः पुण्यस्य, अश्रेयसः पापस्य विदण्हू वेत्ता पुमान्। *उद्धुददुस्सील* उन्मूलित-दुःशीलो भवति । *सीलवंतो वि* शीलवान् पुमान् । *सीलफलेण* शीलफलेन कृत्वा । *अब्भुदयं लहइ* अभ्युदयं सांसारिकं सुखं प्राप्नोति । *तत्तो पुण णिव्वाणं लहइ* ततः पुनर्निर्वाणं लभते मोक्षं प्राप्नोति ॥ १६ ॥

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं ।
जर-मरण-वाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥ १७ ॥

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतम् । जरामरणव्याधिहरणं क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ॥१७॥

जिणवयणमोसहमिणं जिनवचनमौषधमिदम् इदम् पूर्वोक्तलक्षणं जिनवचनं सर्वज्ञ-वीतरागभाषितं हेतु-हेतुमद्भावसहितं औषधं वर्तते । कथंभूतं जिनवचनं औषधम् ? विषयसुखविरेचनं—विषयाणां पञ्चेन्द्रियार्थानां स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दानां सम्बन्धित्वेन यत्सुखं विषयसुखं तस्य विरेचनं दूरीकरणम् । *अमिदभूदं* अमृतभूतं अविद्यमानं मृतं मरणं यत्र यस्माद्वा भव्यानां तदमृतभूतं अमृतोपमम् । अत एव *जर-मरणवाहिहरणं* जरा-मरणव्याधिहरणं विनाशकम् । *खयकरणं सव्वदुक्खाणं* क्षयकरणं मूलादुन्मूलकं सर्व-दुःखानां शारीर-मानसागन्तुदुःखानां विध्वंसकमित्यर्थः ॥१७॥

स्वरूप सांसारिक सुख को प्राप्त होता है और उसके बाद मोक्ष प्राप्त करता है ॥

विशेषार्थ—जिसने श्रेय—सम्यक्त्व और अश्रेय—मिथ्यात्व को समझ लिया है वह दुःशील–दुष्ट स्वभाव विषय-कषायादिरूप परिणति को उखाड़ कर दूर कर देता है और शील से—आत्मपरिणति से युक्त मनुष्य शील के फल स्वरूप पहले तो अभ्युदय-देव तथा चक्रवर्ती आदि के सांसारिक सुख को प्राप्त होता है और उसके बाद निर्वाण को प्राप्त होता है ॥१६॥

गाथार्थ—यह जिनवचनरूपी औषधि विषयसुख को दूर करनेवाली है, अमृतरूप है, जरा और मरण की व्याधि को हरनेवाली है, तथा सब दुःखों का क्षय करनेवाली है ॥

विशेषार्थ—कार्य-कारणभाव से सहित सर्वज्ञ-वीतराग की वाणी को यहां औषधि की उपमा दी गई है—जिस प्रकार उत्तम औषधि शरीर के भीतर विद्यमान मल का विरेचन कर व्याधि को दूर करती है तथा मनुष्य के असामयिक मरण को दूर कर उसके सब दुःखों का क्षय कर देती है उसी प्रकार कार्य-कारणभाव—निमित्त-नैमित्तिकभाव से सहित जिनवाणीरूपी औषधि मनुष्य की आत्मा में विद्यमान पञ्चेन्द्रियों के विषयभूत स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दों के सम्बन्ध से होनेवाले विषयसुख का विरेचन करने-वाली है; अमृतरूप है—पीयूषतुल्य है, बुढ़ापा और मरण रूपी रोग को हरनेवाली है और शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुःखों का क्षय करनेवाली है अर्थात् जड़ से उखाड़ कर उनका विध्वंस करनेवाली है ॥१७॥

एक्कं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउरथं पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥१८॥

एकं जिनस्य रूपं द्वितीयमुत्कृष्टश्रावकाणां तु। अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिङ्गदर्शनं नास्ति ॥१८॥

एक्कं जिणस्स रूवं एकमद्वितीयं जिनस्य रूपं नग्नरूपम्। *बीयं* द्वितीयमुत्कृष्टश्रावकाणां तु। उक्तं च-
आद्यास्तु षड् जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः। शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥

तेन "*दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सचित्त-रायभत्ते य*" इति गाथार्द्धकथिताः श्रावकाः षड् जघन्याः कथ्यन्ते। "*बंभारंभपरिग्गह*" इति गाथापादोक्तास्त्रयः श्रावका मध्यमा उच्यन्ते। शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ

[यहां संस्कृत-टीकाकार ने जिनवचन की व्याख्या करते हुए उसे 'सर्वज्ञ-वीतरागभाषित' और 'हेतु-हेतुमद्भाव सहित' इन दो विशेषणों से विभूषित किया है। तथा इन विशेषणों से यह अभिप्राय सूचित किया है कि चूंकि जिनवचन सर्वज्ञ-वीतराग के द्वारा प्रतिपादित हैं, अतः प्रमाणभूत हैं। अन्यथा कथन करने में अज्ञान और कषाय ये दो ही कारण होते हैं, परन्तु जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट हो चुका है अतः अज्ञान के सद्भाव की अंश मात्र भी कल्पना नहीं हो सकती तथा मोह कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से कषाय भी—राग-द्वेषरूप परिणति भी विद्यमान नहीं है, अतः कषायजन्य अन्यथाकथन की भी अल्पतम संभावना नहीं है। इस प्रकार जिनवचन प्रमाणरूप हैं—वस्तु के सत्यस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले हैं। दूसरे विशेषण से यह भाव सूचित किया है कि निमित्त की उपेक्षा कर मात्र उपादान की शक्ति से कार्य का समर्थन करनेवाले वचन जिनवचन नहीं हैं, क्योंकि कार्य की सिद्धि में उपादान और निमित्त दोनों साधक हैं।] ॥१७॥

गाथार्थ—एक जिनेन्द्र भगवान् का नग्न रूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का, और तीसरा आर्यिकाओं का; इस प्रकार जिनशासन में तीन लिङ्ग कहे गये हैं। चौथा लिङ्ग जिनशासन में नहीं है ॥

विशेषार्थ—सकल और विकल के भेद से चारित्र के दो भेद हैं। इनमें से सकल चारित्र मुनियों के होता है। उनका लिङ्ग अर्थात् वेष नग्न दिगम्बर मुद्रा है। परिग्रहत्याग महाव्रत के धारक होने से उनके शरीर पर एक सूत भी नहीं रह सकता है। विकल चारित्र के धारकों के दर्शनिक १, व्रतिक २, सामयिकी ३, प्रोषधोपवासी ४, सचित्तत्यागी ५, रात्रिभुक्तिविरत ६, ब्रह्मचारी ७, आरम्भविरत ८, परिग्रहविरत ९, अनुमतिविरत १०, और उद्दिष्टविरत ११; ये ग्यारह भेद होते हैं। इनमें से प्रारम्भ के ६ श्रावक जघन्य श्रावक, उनके पश्चात् तीन मध्यम श्रावक, और शेष

जैनेषु जिनशासने । "अणुमणुद्दिट्ठदेसविरदो य" अनुमतादुद्दिष्टाद्विरतो देशविरतश्च कथ्यते—उत्कृष्टः श्रावकः उच्यते इति । अवरट्ठियाण तइयं अवरस्थितानामार्यिकाणां तृतीयं दर्शनम् । चतुर्थं पुनर्लिङ्गदर्शनं नास्ति । त्रीण्येव जिनशासने लिङ्गदर्शनानि प्रोक्तानि, न न्यूनानि नाप्यधिकानीति शेषः ॥१८॥

छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।

सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१६॥

षड् द्रव्याणि नव पदार्थाः पञ्चास्तिकायाः सप्त तत्त्वानि निर्दिष्टानि । श्रद्धाति तेषां रूपं स सद्दृष्टिः मन्तव्यः ॥

छद्दव्व षड् द्रव्याणि जीव-पुद्गल-धर्माधर्म-कालाकाशाः षड् द्रव्याणि भवन्ति । वर्तमानकाले द्रवन्तीति द्रव्याणि, भविष्यति काले द्रोष्यन्ति, अतीतकालेऽदुद्रवन्निति द्रव्याणि जीव-पुद्गल-धर्माधर्म-कालाकाशनामानि । *णव पयत्था* नव पदार्था जीवाजीव-पुण्य-पापास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष-

---

के दो उत्कृष्ट श्रावक कहे जाते हैं । जिनागम में दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावकों का बतलाया गया है। दशम प्रतिमा के धारक अनुमतिविरत श्रावक एक धोती, एक चादर तथा कमण्डलु रखते हैं । एकादश प्रतिमा के धारक उद्दिष्टविरत श्रावकों के ऐलक और क्षुल्लक की अपेक्षा दो भेद हैं । ऐलक कौपीन, पिछी और कमण्डलु रखते हैं तथा क्षुल्लक एक छोटी चादर भी रखते हैं; इस तरह जिनागम में दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावकों का है। आर्यिकाएँ उपचार से सकल चारित्र की धारक कहलाती हैं । वे सोलह हाथ की एक सफेद धोती तथा पिछी रखती हैं । क्षुल्लिकाएँ ग्यारहवीं प्रतिमा की धारक कहलाती हैं । वे सोलह हाथ की धोती के सिवाय एक चादर भी रखती हैं । इस प्रकार जिनागम में तीसरा लिङ्ग सकल चारित्र के द्वितीय भेद में स्थित आर्यिकाओं का होता है । इन तीन लिङ्गों के सिवाय जिनागम में चौथा लिङ्ग नहीं है—उसमें तीन ही लिङ्ग बतलाये हैं, हीनाधिक नहीं ।

[इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने श्वेताम्बर साधुओं के उस लिङ्ग को जिनागम से असम्मत बताया है जिसमें परिग्रहत्याग महाव्रत की प्रतिज्ञा लेकर भी वस्त्र धारण किया जाता है] ॥१८॥

गाथार्थ—छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्त्व कहे गये हैं । उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥

विशेषार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छह द्रव्य हैं । द्रव्य शब्द का निरुक्त्यर्थ इस प्रकार है— जो वर्तमान काल में गुण और पर्यायों को प्राप्त हो रहे हों, जो भविष्यत् काल में गुण और पर्यायों को प्राप्त होंगे, और जो भूत काल में गुण तथा पर्यायों को प्राप्त होते थे वे द्रव्य हैं । जीव, अजीव, पुण्य, पाप,

नामानः। *पंचत्थी* पञ्चास्तिकाया जीव-पुद्गल-धर्माधर्माकाशनामानः पञ्चास्तिकाया उच्यन्ते। *सत्त तच्च णिद्दिट्ठा* सप्त तत्त्वानि निर्दिष्टानि कथितानि जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षनामानि। *सद्दहइ ताण रूवं* श्रद्दधाति तेषां स्वरूपम्। *सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो* स पुमान् सद्दृष्टिरिति मन्तव्यो ज्ञातव्यः। तेषु द्रव्यादिषु जीवः सचेतनः। पुद्गलो धर्मोऽधर्मः काल आकाशश्च पञ्चाचेतनाः। षड्विधोऽपि पुद्गलो मूर्तः। इतरे पञ्चामूर्ताः। जीव-पुद्गलयोर्गतेः कारणं धर्मः। सर्वेषां स्थितेः कारणमधर्मः। सर्वेषामाधारमाकाशः। वर्तनालक्षणः कालः रत्नानां राशिवद् भिन्नपरमाणुकः। धर्माधर्माकाशा अखण्डप्रदेशाः। काल-पुद्गलयोर्जीवानां च प्रदेशेषु खण्डत्वम्, नत्वेकजीवस्य प्रदेशानां खण्डत्वम्। धर्माधर्म-कालाकाशाश्चत्वारो गमनागमनरहिताः। गमनागमने जीव-पुद्गलानामेव सिद्धजीवेभ्यः। धर्मा-धर्मैकजीवाना-मसंख्येयाः प्रदेशाः। संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशः आकाशः [पुद्गलः] । पुद्गलो[आकाशो]ऽनन्तप्रदेशश्च [शः]। सर्वाणि द्रव्याण्येकतो मिलितान्यपि निज-निजगुणान् न जहति। एवं तत्त्वास्तिकाय-पदार्थानामपि स्वरूपं ज्ञातव्यम्॥ १६॥

आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांच अस्तिकाय कहलाते हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं। उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है। उन द्रव्यादिक में जीव सचेतन है; पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये पांच अचेतन हैं। बादर-बादर, बादर, बादर-सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म; यह छहों प्रकारका पुद्गल मूर्तिक है; बाकी पांच द्रव्य अमूर्तिक हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य की गति का कारण धर्म द्रव्य है। सब द्रव्यों की स्थितिका कारण अधर्म द्रव्य है। सब द्रव्यों का आधार आकाश द्रव्य है। काल द्रव्य वर्तना लक्षण से युक्त है तथा रत्नों की राशि के समान भिन्न भिन्न परमाणुरूप है। धर्म, अधर्म और आकाश अखण्डप्रदेशी हैं। नाना कालाणु, पुद्गलाणु और नाना जीवों के प्रदेश सखण्ड हैं; परन्तु एक जीव के प्रदेश सखण्ड नहीं है। धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये चार द्रव्य गमनागमन से रहित हैं। गमनागमन सिद्ध जीवों को छोड़ कर सब संसारी जीवों और पुद्गल द्रव्यों में ही होते हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं। धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात, तथा अनन्त प्रदेश हैं; अर्थात् कोई स्कन्ध संख्यातप्रदेशी हैं, कोई असंख्यातप्रदेशी हैं, और कोई अनन्तप्रदेशी हैं। आकाश अनन्त-प्रदेशी है। यद्यपि सभी द्रव्य एकरूप से मिले हुए हैं तथापि वे अपने अपने गुणों को नहीं छोड़ते हैं। इसी प्रकार तत्त्व, अस्तिकाय और पदार्थों का भी स्वरूप जानना चाहिये॥१९॥

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥ २० ॥

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरैः प्रणीतम् । व्यवहारात् निश्चयतः आत्मनो भवति सम्यक्त्वम् ॥२०॥

जीवादीनां श्रद्धानं रुचिः सम्यक्त्वमिति जिनवरैः प्रणीतम् । तत्तु सम्यग्दर्शनं व्यवहाराज्ज्ञातव्यम् । *णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं* निश्चयतो निश्चयनयादात्मैव भवति सम्यक्त्वं रुचिसामान्यत्वादित्यर्थः ॥

एवं जिणपण्णत्तं दंसण-रयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥ २१ ॥

एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्नं धरत भावेन । सारं गुणरत्नत्रयेषु सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥२१॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण । *जिणपण्णत्तं* जिनैः प्रणीतम् जिनैः कथितम् । *दंसणरयणं* दर्शन-रत्नं सम्यक्त्व-माणिक्यम् । *धरेह भावेण* धरत यूयं भावेन वीतराग-सर्वज्ञस्य भक्त्या । उक्तञ्च—

गाथार्थ—व्यवहार नय से जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है और निश्चय नय से आत्मा का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है अथवा गुण और गुणी की अभेद विवक्षा से आत्मा स्वयं सम्यक्त्व है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥

विशेषार्थ—जीव आदि सात तत्त्वों, जीव आदि नौ पदार्थों, जीव आदि छह द्रव्यों अथवा जीव आदि पांच अस्तिकायों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह लक्षण गुण-गुणी की भेदविवक्षा से कहा गया है, अतः व्यवहार नय से जानना चाहिये; क्योंकि गुण-गुणी का भेद व्यवहार नय का विषय है। निश्चय नय अभेद को विषय करता है, अतः उसकी अपेक्षा पर पदार्थ से भिन्न आत्मा का ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा 'आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है' यहां भी गुण-गुणी का भेद दृष्टिगोचर होता है, इसलिये आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। निश्चय नय से सम्यग्दर्शन का यही लक्षण मानना चाहिये, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥२०॥

गाथार्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को हे भव्यजीवो ! भावपूर्वक धारण करो। यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्न उत्तम क्षमादि गुणों तथा सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नों में श्रेष्ठ है और मोक्ष की पहली सीढ़ी है ॥

विशेषार्थ—इस प्रकार वीतराग सर्वज्ञ देव ने जिस सम्यग्दर्शनरूपी माणिक्य का निरूपण किया है वह उत्तम क्षमा आदि गुणों में तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयों में उत्कृष्ट है तथा मोक्षरूपी महल की पहली सीढी है। इसे आप लोग वीतराग सर्वज्ञ देव की भक्ति से धारण करो, क्योंकि कहा है—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् ।

पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥

कथंभूतं दर्शन-रत्नम् ? *सारम्* उत्कृष्टम् । केषु सारम् ? *गुण-रयणत्तय* गुणेषु उत्तमक्षमादिषु तथा रत्नत्रये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रेषु । उक्तञ्च—

[1]दर्शनं ज्ञान-चारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते[2] ।

दर्शनं [3]कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥

पुनरपि कथंभूतं दर्शन-रत्नम् ? *सोवाणं* सोपानं पादारोपणस्थानम् । कतिसंख्योपेतम् ? *पढम* प्रथमं अद्वितीयम् । कस्य ? *मोक्खस्स* मोक्षस्य परमनिर्वाणस्य ॥ २१ ॥

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं ।

केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥२२॥

यत् शक्यते तत् क्रियते यच्च न शक्येत तस्य च श्रद्धानम् । केवलिजिनैर्भणितं श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वम् ॥२२॥

जं सक्कइ तं कीरइ यच्छक्नोति तत् क्रियते विधीयते । *जं च ण सक्केइ* यच्च न शक्नुयात् यत् कर्तुं न शक्नोति । *तं च सद्दहणं* तस्य श्रद्धानं तस्य ज्ञानाचारादे रोचनं कर्तव्यम् । *केवलिजिणेहिं भणियं* केवलज्ञानिभिर्जिनैर्भणितं प्रतिपादितम् । केवलज्ञानं विना तीर्थंकरपरमदेवा धर्मोदेशनं न कुर्वन्ति ।

एकापि— हे कुशल जन हो ! यह एक ही जिनभक्ति कुगति का निवारण करने के, पुण्य को पूर्ण करने और मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने के लिये समर्थ है ॥

दर्शनं—चूंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा श्रेष्ठता को प्राप्त है, अतः उसे मोक्षमार्ग का कर्णधार कहते हैं । कर्णधार खेवटिया का नाम है । अतः सम्यग्दर्शन संसाररूपी सागर में पार लगानेवाला है ।

गाथार्थ—जो कार्य किया जा सकता है वह किया जाता है और जिसका किया जाना शक्य नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिये । केवलज्ञानी जिनेन्द्र भगवान् ने श्रद्धान करनेवाले पुरुषको सम्यग्दर्शन कहा है ॥

विशेषार्थ—जो ज्ञानाचार अथवा चारित्राचार किया जा सकता है उसका पालन करना चाहिये, और जो नहीं किया सकता है अर्थात् शारीरिक संहनन और तात्कालिक परिस्थिति की अनुकूलता के अभाव में जिसका किया जाना संभव नहीं है उसकी श्रद्धा करनी चाहिये; क्योंकि श्रद्धान करनेवाले पुरुष के सम्यक्त्व होता है, ऐसा केवलज्ञानी तीर्थंकर परम देव ने कहा है । तीर्थंकर के साथ केवली विशेषण देने का

१ रत्नकरण्डश्रावकाचारे समन्तभद्रस्य ३१ । २ प्राप्नोति-सेवते (क. टि.) । ३ कीदृशं दर्शनं कर्णधारं 'कर्णधारस्तु नाविकः' इत्यमरवचनात् भववारिधौ पारं प्रापयितुं प्रदः दर्शनम् । भाषायां 'खेवटिया' इति ज्ञातव्यम् । (क. टि.)

अन्यमुनीनामुपदेशस्त्वनुवादरूपो ज्ञातव्यः । अथवा केवलिभिः समवसरण-मण्डित-केवलज्ञानसंयुक्त-तीर्थंकर-परमदेवैर्भणितं, जिनैरनगारकेवलिभिर्भणितं । किं भणितं ? सद्दहमाणस्स श्रद्धानस्स पुरुषस्य रोचमानस्य जीवस्य सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं भवति ॥ २२ ॥

खास प्रयोजन यह है कि तीर्थंकर भगवान् केवलज्ञान के विना उपदेश नहीं करते हैं। दीक्षा लेने के बाद केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त का काल छद्मस्थ काल कहलाता है। इस छद्मस्थ काल में तीर्थंकर भगवान् मौन से रहते हैं। वे केवल ज्ञान प्राप्त होने पर समवसरण में ही दिव्य ध्वनि द्वारा धर्मोपदेश करते हैं। तीर्थंकर केवली के सिवाय जो अन्य मुनियों का उपदेश है उसे [1]अनुवाद रूप ही जानना चाहिये अर्थात् केवल ज्ञानी तीर्थंकर अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जो उपदेश करते हैं अन्य मुनि उसीका कथन करते हैं। अथवा मूल गाथा में जो 'केवलिजिणेहिं' पद है उसका 'केवलिनश्च ते जिनाश्च' ऐसा कर्म-धारय समास न करके 'केवलिनश्च जिनाश्च' ऐसा द्वन्द्व समास करना चाहिये उससे उक्त पदका यह अर्थ हो सकता है कि केवली अर्थात् समवसरणमें सुशोभित केवलज्ञानसे संयुक्त तीर्थंकर परमदेव और जिन अर्थात् अनगार केवलियों—सामान्य केवलियोंने कहा है।

(आज कल कितने ही मनुष्य चारित्र पालन करने में अपनी अशक्ति देख चारित्र को ढोंग या पाखण्ड आदि निन्दनीय शब्दों द्वारा व्यवहृत करते देखे जाते हैं तथा चारित्र के धारक जीवों की निन्दा करते हुए पाये जाते हैं उनके प्रति आचार्य कुन्दकुन्द महाराज का उपदेश है कि जितना आचार पालन करने की क्षमता है उसे अपनी शक्ति न छिपा कर पालन करना चाहिये क्योंकि मोक्षमार्गमें अपनी शक्ति को छिपाना आत्मवञ्चना है और जिस चारित्रका पालन करना अशक्य है उसकी श्रद्धा करना चाहिये तथा अपनी शक्ति-हीनताका पश्चात्ताप करते हुए यह भावना रखना चाहिये कि हम मे वह शक्ति कब प्रगट हो जिससे मैं भी इस चारित्रको धारण कर सकूं। जो मनुष्य इस प्रकार चारित्र के प्रति अपनी श्रद्धा रखता है वह सम्यग्दृष्टि है-सम्यग्दर्शनका धारक है और उसका वह सम्य-ग्दर्शन उसे चारित्र की प्राप्ति में पूर्ण सहायता करता है। गाथा का उक्त भाव कविवर द्यानतराय जी ने एक सोरठा में भी व्यक्त किया है।

कीजे शक्ति समान शक्ति विना सरधा धरे।
द्यानत सरधावान अजर अमर पद भोगवे ॥

अर्थात् शक्तिके समान कार्य करना चाहिये और शक्तिके विना उसकी श्रद्धा करना चाहिये। क्योंकि श्रद्धा रखनेवाला पुरुष भी अजर अमर पदको प्राप्त होता है।)॥२२॥

[1] अर्थं ज्ञात्वा पश्चात्कथनम् अनुवादः, (क० टि०)

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकाल [1] सुपसत्था।

एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥ २३ ॥

दर्शन ज्ञान चारित्रे तपोविनये नित्यकाल सुप्रस्वस्थाः।

एते तु वन्दनीया ये गुणवादिनो गुणधराणाम् ॥ २३ ॥

दंसणणाणचरित्ते—[[2] दर्शनज्ञानचारित्रे दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्रं समाहारो द्वन्द्वः तस्मिन] दर्शनज्ञानचारित्रे एतत्त्रितये तथा *तवविणए* तपो विनये चतुर्विधाराधनायामित्यर्थः *णिच्चकालसुपसत्था* नित्यकालसुप्रस्वस्था नित्यमेव प्रकर्षेण स्वस्था [3] एकलोलीभावं प्राप्ताः।

एदे दु वंदणीया एते पुरुषा महामुनयो वन्दनीया नमस्कर्तव्याः। एते के ? *जे गुणवादी गुणधराणं* ये मुनयः स्वयं सम्यग्दर्शनादीनामाराधका अपरेषां गुणधराणामाराधनाराधकानां। ये मुनयो गुणवादिनो गुणवर्णनशीला न मत्सरिणस्ते वन्दनीया नमस्करणीया इत्यर्थः।

गाथार्थ—जो मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपो विनय में सदा लीन रहते हैं तथा अन्य गुणी मनुष्योंके गुणोंका वर्णन करते है वे वन्दनीय हैं—नमस्कार करने के योग्य हैं ॥ २३ ॥

विशेषार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके भेदसे आराधना के चार भेद हैं। जो मुनि इन चारों प्रकार की आराधनाओं में निरन्तर प्रकृष्टता से स्वस्थ रहते हैं अर्थात् मुख्यपने से इन्हीं में एक लोलीभाव [4] सतृष्णता को प्राप्त रहते हैं अथवा स्थिरता को प्राप्त होते हैं तथा सम्यग्दर्शनादि आराधनाओं की आराधना करने वाले अन्य गुणी मनुष्योंके गुण वर्णन करते हैं-उनमें किसी प्रकारका मात्सर्यभाव नहीं रखते हैं, वे वन्दना के योग्य हैं ॥ २३ ॥

[यहां संस्कृत टीकाकार ने 'एक लोलीभावं प्राप्ताः' इस पदका प्रयोग किया है जिसका अर्थ 'किसी पदार्थमें अत्यन्त उत्सुकताके साथ लीन होना होता है।' इसी शब्दके स्थान पर 'क' प्रति की टिप्पणी में 'एकलौल्याभावं प्राप्ताः' इस पाठ का भी संकेत किया है और उसकी संगति बैठाते हुए लिखा है 'एकं लौल्यं चपलत्वं तस्य अभावः स एक-लौल्याभाव स्तं प्राप्ता इत्यर्थः' इसका अर्थ चपलता का अभाव अर्थात् स्थिरता प्राप्त

[1] णिच्चकालपसत्था म०। [2] कोष्ठकान्तर्गतः पाठः 'क०' पुस्तके नास्ति, म पुस्तके त्वस्ति। [3] एकलौल्याभावं प्राप्ताः कथं तद् दृश्यताम्—एकं लौल्यं चपलत्वं तस्य अभावः स एक लौल्याभावः तं प्राप्ताः।
[4] 'लोलस्तु सतृष्णयोः' इत्यमरः

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ ।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥ २४ ॥

सहजोत्पन्नं रूपं दृष्ट्वा यो मन्यते न मत्सरिकः ।
स संयमप्रतिपन्नो मिथ्यादृष्टिर्भवत्येषः ॥ २४ ॥

सहजुप्पण्णं रूवं सहजात्पन्नं स्वभावोत्पन्नं रूपं नग्नं रूपं । *दट्ठुं* दृष्ट्वा विलोक्य । *जो मण्णए ण मच्छरिओ* यः पुमान् न मन्यते नग्नत्वेऽरुचिं करोति—नग्नत्वे किं प्रयोजनं पशवः किं नग्ना न भवन्तीति ब्रूते । मच्छरिओ—परेषां शुभ कर्माणि द्वेषी । *सो संजम पडिवण्णो* स पुमान् संयम-प्रतिपन्नो दीक्षां प्राप्तोऽपि *मिच्छाइट्ठी हवइ एसो* मिथ्यादृष्टि भवत्येष । अपवादवेषं धरन्नपि मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्य इत्यर्थः । कोऽपवाद-वेषः ? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्री वसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुन स्तन्मुञ्चन्तीत्युपदेशः कृतः संयमिना-मित्यपवादवेषः । तथा नृपादिवर्गोत्पन्नः परमवैराग्यवान् लिङ्गशुद्धि-रहितः उत्पन्नमेहनपुट-दोषः लज्जावान् वा शीताद्यसहिष्णुर्वा तथा करोति सोऽप्यपवाद-लिङ्गः प्रोच्यते । उत्सर्गवेषस्तु नग्न एवेति ज्ञातव्यम् । 'सामान्योक्तौ विधिरुत्सर्गो विशेषोक्तो विधिरपवादः' इति परिभाषणात् ॥ २४ ॥

करने वाले ऐसा होता है । वास्तव में लोल शब्दके कोष में चञ्चल-चपल और सतृष्ण उत्सुक दोनों अर्थ स्वीकृत किये गये हैं ।

इस गाथा में कुन्दकुन्द स्वामी ने व्यतिरेक रूपसे यह भाव प्रतिफलित किया है कि जो साधु, सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओं में लीन न रहकर इधर उधर की बातोंमें संलग्न रहते हैं तथा ईर्ष्या-वश अन्य गुणी मनुष्योंकी प्रशंसा न करके उल्टी निन्दा करते हैं वे साधु वन्दना करने योग्य नहीं हैं] ॥२३॥

गाथार्थ—जो स्वाभाविक नग्न रूपको देखकर उसे नहीं मानता है, उलटा ईर्ष्याभाव रखता है वह संयम को प्राप्त होकर भी मिथ्यादृष्टि है ॥२४॥

विशेषार्थः—नग्न-दिगम्बर मुद्रा सहजोत्पन्न स्वाभाविक मुद्रा है उसे देखकर जो पुरुष उसका आदर नहीं करता है प्रत्युत नग्न-मुद्रा में अरुचि करता हुआ यह कहता है कि नग्नत्व में क्या रखा है ? क्या पशु नग्न नहीं होते ? साथ ही दूसरोंके शुभ कार्य में द्वेष रखता है, वह दीक्षाको प्राप्त होने पर भी मिथ्यादृष्टि है । ऐसा पुरुष अपवाद वेष को धारण करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि है । वास्तव में मुनिमार्ग में कोई भी अपवाद वेष स्वीकार्य नहीं है, परिस्थिति-वश उसे जो धारण करता है वह अपने गृहीत चारित्र से

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं ।
जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥ २५ ॥

अमराणां वन्दितानां रूपं दृष्ट्वा शीलसहितानाम् ।
ये गर्वं कुर्वन्ति च सम्यक्त्वविवर्जिता होंति ॥२५॥

अमराण वंदियाणं अमराणां भवनवासिव्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासि-कल्पातीतदेवानां वन्दितानां तीर्थंकरपरमदेवानां *रूवं दट्ठूण* रूपं वेषं दृष्ट्वा विलोक्य । कथंभूतानां ? *सीलसहियाणं* व्रतरक्षासहितानां । *जे गारवं करंति य* ये पुरुषा जैनाभासास्तथान्ये च गर्वं कुर्वन्ति चकारात्सेवां न कुर्वन्ति । *सम्मत्त विवज्जिया होंति* सम्यक्त्वरहिता भवन्ति, मिथ्यादृष्टयो भवन्ति, सम्यक्त्वरत्नच्युता भवन्ति, महापातकिनो भवन्ति, दीर्घकालं संसारमध्ये पर्यटन्ति । उक्तं च—

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते ।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥

च्युत होने के कारण मिथ्यादृष्टि ही है । वह अपवाद वेष क्या है ? इसका उत्तर देते हुए संस्कृत टीका-कार ने स्पष्ट किया है कि कलिकाल में म्लेच्छ आदि पुरुष नग्न रूप देख कर मुनियों पर उपद्रव करते हैं इसलिये मण्डपदुर्ग में श्री वसन्तकीर्ति स्वामी ने संयमियों को यह उपदेश दिया कि चर्या आदि के समय चटाई आदिके द्वारा शरीरको ढक लें, बाद में चर्या आदि करके उसे छोड़ दें । दूसरा अपवाद वेष यह कि राजा आदि विशिष्ट वर्ग में उत्पन्न हुआ मनुष्य यदि उत्कृष्ट वैराग्य से युक्त होता है परन्तु लिङ्ग-शुद्धि रहित होने अथवा लिङ्गके अग्रभागमें दोष होनेके कारण नग्न होने में लज्जा का अनुभव करता है तो वह वस्त्र धारण कर सकता है अथवा कोई शीत आदिके कष्टको सहन नहीं कर सकता है तो वह वस्त्र धारण करता है । इन अपवाद वेषोंको कुन्दकुन्द स्वामी सर्वथा अस्वीकार्य मानते हैं । उनका अभिप्राय है कि मुनिका वेष सहजोत्पन्न दिगम्बर मुद्रा ही है जिसने हिंसादि पांच पापोंका नव कोटिसे त्याग किया है वह म्लेच्छादि दुष्ट पुरुषोंके उपसर्ग से भयभीत होकर किसी प्रकारके आवरणको स्वीकृत नहीं कर सकता । उपसर्ग आने पर समता भावसे उसे सहन करना ही मुनिका कर्तव्य है । इसी प्रकार जिसे शीत आदि का परिषह सहन नहीं होता तथा जो लिङ्गादि में विकार होने से दीक्षा धारण के योग्य नहीं है वह उत्कृष्ट श्रावक ऐलक क्षुल्लकके पद में रह कर ही संयम धारण करता है । भावनाके अतिरेक से चरणानुयोगकी व्यवस्था को भङ्ग कर मुनिपद धारण नहीं

[1]असंजदं ण वंदे वच्छविहीणो वि सो ण वंदिज्ज ।
दुण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥२६॥

असंयतं न वन्देत वस्त्रविहीनोऽपि स न वन्द्येत ।
द्वावपि भवतः समानौ एकोऽपि न संयतो भवति ॥२६॥

असंजदं ण वंदे असंयतं गृहस्थवेषधारिणं संयमं पालयन्तमपि न वन्देत । *वच्छविहीणो वि सो ण वंदिज्ज* वस्त्र-विहीनोऽपि नग्नोऽपि सयमरहितो न वन्द्येत न नमस्क्रियेत । *दुण्णि वि होंति समाणा* द्वितयेऽपि समाना संयमरहिता भवन्ति । *एगो वि ण संजदो होदि* [[3]एकोऽपि न संयतो भवति]। गृहस्थः संयमं प्रतिपालयन्नप्यसंयमी ज्ञातव्य इति भावः ॥२६॥

करता और न अपने शिथिलाचारसे उसे कलङ्कित हो करता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने अपवाद वेषके रूप में पीछी कमण्डलु शास्त्र तथा शरीर को स्थिरताके निमित्त दिनमें एक वार शुद्ध आहार ग्रहण करना बतलाया है ॥ २४ ॥

गाथार्थ—जो देवोंसे वन्दित तथा शीलसे सहित तीर्थंकर परमदेवके (द्वारा आचरित मुनियों के नग्न) रूपको देखकर गर्व करते हैं वे सम्यक्त्व से रहित हैं ॥२५॥

विशेषार्थ—तीर्थंकरका नग्नरूप भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवोंके द्वारा वन्दनीय है तथा शील अर्थात् व्रतकी रक्षासे सहित हैं। वैसे मुनियोंके नग्न रूपको देखकर जो जैनाभास अथवा अन्य-धर्मी लोग गर्व करते हैं तथा उनकी उपासना नहीं करते हैं वे सम्यग्दर्शन यानी सम्यक्त्वरूपी रत्नसे रहित हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, सम्यक्त्वरत्नसे च्युत हैं, महापातकी हैं और दीर्घकाल तक संसारके मध्य भ्रमण करते हैं। कहा भी है—

ये गुरुं—जो गुरुको नहीं मानते हैं, और न उनकी उपासना करते हैं उनके सूर्योदय होने पर भी अन्धकार बना रहता है [यहां मिथ्यात्व को अन्धकार कहा है। सूर्योदय होनेपर लोक का बाह्य अन्धकार नष्ट हो सकता है पर मिथ्यात्व रूप अभ्यन्तर अन्धकार नष्ट नहीं हो सकता। उसे नष्ट करने के लिये सम्यक्त्व रूपी सूर्योदय की आवश्यकता रहती है और वह तब तक नहीं हो सकता जब तक नग्न-दिगम्बर मुद्राधारी-निर्ग्रन्थ गुरुओंके प्रति आस्था नहीं होती।] ॥ २५ ॥

गाथार्थ—असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिये और जो वस्त्र-रहित होकर भी असंयमी है वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है। ये दोनों ही समान हैं, दोनोंमें एक भी संयमी नहीं है ॥२६॥

---

१ असंजदं क० २ वोच्छिणवि म० ३ अयं पाठः क पुस्तके नास्ति ।

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो न विय जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावओ होइ ॥२७॥

नापि देहो वन्द्यते नापि च कुलं नापि च जातिसंयुक्तः ।
कं वन्दे गुणहीनं न हि श्रमणो नैव श्रावको भवति ॥२७॥

ण वि देहो वंदिज्जइ नापि देहो वन्द्यते । *ण विय कुलो* नापि च कुलं पितृपक्षो वन्द्यते । *ण वि य जाइसंजुत्तो* न च जातिसंयुक्तो मातृपक्षशुद्धः पुमान् वन्द्यते । *को वंदमि गुणहीणो* कं वन्दे गुणहीनम् अपितु गुणहीनं न [१] कमपि वन्दे । *ण हु सवणो णेव सावओ होइ* गुणहीनः पुमान् न [२] श्रमणो दिगम्बरो भवति नैव श्रावको भवति देशव्रती च न भवति । [३]गुणवानेव मुनिर्वन्दनीय इति भाव ॥२७॥

विशेषार्थ—जो संयम का पालन करता हुआ भी असंयत है अर्थात् सवस्त्र होनेसे गृहस्थ के वेष को धारण करता है उसे वन्दना नहीं करना चाहिये और जो वस्त्र-रहित अर्थात् नग्न होकर भी संयम से रहित है—मात्र द्रव्य-लिङ्ग को धारण करता है वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है क्योंकि तत्त्व-दृष्टि से दोनों ही एक समान हैं, उनमें एक भी संयमी नहीं है ।

(जिनागम में पूज्यता संयमसे बतलाई गई है । संयम महाव्रती के होता है और महाव्रती निर्ग्रन्थ होनेसे नग्न ही रहता है । जो साधु महाव्रत रूप संयम का नियम लेकर भी वस्त्र धारण करता है, वह गृहस्थ है, अतः असंयमी होनेसे वन्दना के योग्य नहीं है । इसी प्रकार जो नग्न होकर भी वास्तविक संयम से रहित है वह भी असंयमी है, अतः नमस्कार करनेके योग्य नहीं है । यद्यपि संयमासंयम के धारक ऐलक क्षुल्लक ब्रह्मचारी आदि भी गृहस्थ के द्वारा वन्दनीय होते हैं तथापि यहां गुरु का प्रकरण होनेसे उनकी विवक्षा नहीं की गई है । यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक अपने पदके अनुसार जो नियम लेता है उसका पालन करता है अतः वस्त्र—सहित होनेपर भी उसे असंयमी नहीं कहा जाता किन्तु संयमासंयमी कहा जाता है । पर जो पंच महाव्रत का नियम लेकर भी वस्त्र धारण करता है वह अपने गृहीत संयम से च्युत होनेके कारण असंयमी कहा जाता है । इस गाथा में कुन्दकुन्द स्वामी ने द्रव्यसंयम और भावसंयम दोनों को उपादेय बतलाया है । अपनी मान्यता के अनुसार कथित संयम का धारक होनेपर भी सवस्त्र होनेसे जिसके द्रव्यसंयम नहीं है वह अवन्दनीय है, साथ ही

१ किमपि क० । २ श्रवणो म० । ३ गुणवान् मुनिर् क० ।

वंदामि तवसमण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च।
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण ॥२८॥

वन्दे तपः समापन्नान् शीलं च गुणं च ब्रह्मचर्यं च।
सिद्धिगमनं च तेषां सम्यक्त्वेन शुद्धभावेन ॥२८॥

वंदामि तवसमण्णा वन्देऽहं कुन्दकुन्दाचार्यः। कान्? मुनीनित्युपस्कारः। कथंभूतान् मुनीन्? *तवसमण्णा* तपः समापन्नान्। तथा *तेसिं* तेषां मुनीनाम् *सीलं च* पूर्वोक्त-मष्टादश-सहस्र-संख्यं शीलं च वन्दे। *गुणं च* पूर्वोक्त चतुरशीतिलक्ष-संख्यं गुणं चाहं वन्दे। तथा तेषां मुनीनां बंभचेरं पूर्वोक्तं नवविधं ब्रह्मचर्यं च वन्दे। तथा तेषां मुनीनां *सिद्धिगमणं च* आत्मोपलब्धिलक्षणं सिद्धिगमनं मुक्तिप्राप्ति वन्दे। केन कृत्वा वन्दे? *सम्मत्तेण* सम्यक्त्वेन श्रद्धया रुचिरूपेण सम्यग्दर्शनेन वन्दे। न केवलं सम्मत्तेण वन्दे किन्तु *सुद्धभावेण* निर्मल परिणामेन अकुटिलतया निर्मायत्वेनेति तात्पर्यम् ॥२८॥

वस्त्र-रहित होनेसे द्रव्य-संयम का धारक होनेपर भी जिसके भाव-संयम नहीं है वह भी अवन्दनीय है। मोक्षप्राप्तिके लिये द्रव्य-शुद्धि और भावशुद्धि दोनों ही आवश्यक है।] २६

गाथार्थ—न शरीर की वन्दना की जाती है, न कुल की वन्दना की जाती है किस गुणहीन की वन्दना करूं? क्योंकि गुण-हीन मनुष्य न मुनि है और न श्रावक ही है ॥२७॥

विशेषार्थ—न तो किसी का शरीर पूजा जाता है. न कुल—पितृपक्ष पूजा जाता है और न जाति—मातृपक्ष पूजा जाता है किन्तु संयमरूप गुण ही पूजा जाता है। जिसमें संयम नहीं है वह सुन्दर स्वस्थ शरीर, उच्चकुल और उच्चजातिवाला होकर भी अपूजनीय ही रहता है। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैं किस गुण-हीन की वन्दना करूं? अर्थात् मैं किसी भी गुणहीन को वन्दना नहीं कर सकता। क्योंकि संयम गुण से भ्रष्ट पुरुष, न मुनि ही है और न श्रावक ही है। तात्पर्य यह है कि गुणवान् मुनि ही वन्दनीय हैं—नमस्कार करने के योग्य हैं।

[इस गाथा में कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रगट किया है कि मात्र सुन्दर वस्त्र शरीर, उच्चकुल और उच्चजाति से युक्त होनेके कारण ही किसी मनुष्यकी पूजा नहीं होती किन्तु गुणों से युक्त होनेपर ही शरीरादि पूजा के निमित्त होते हैं इसलिये पूजा का मुख्य अङ्ग जो संयम है उसे प्राप्त करना चाहिये। उत्कृष्ट संयम की प्रतिज्ञा लेकर उससे भ्रष्ट हुआ मनुष्य न मुनि कहलाता है और न श्रावक। वह तो सीधा असंयमी है, अतः असंयमी होनेसे वन्दना के योग्य नहीं है]॥२७॥

चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो।
अणुचरबहुसत्तहिओ कम्मक्खय कारणनिमित्ते ॥ २९ ॥

चतुःषष्टिचमरसहितः चतुस्त्रिंशद्भिरतिशयैः संयुक्त.।
अनुचरबहुसत्त्वहितः कर्म्मक्षयकारणनिमित्ते ॥ २९ ॥

चउसट्ठिचमरसहिओ चतुःषष्टिचामरसहितस्तीर्थंकर-परमदेवो भवति तं वन्दे इति विषमव्याख्या ज्ञातव्या *चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो* चतुस्त्रिंशदतिशयैः संयुक्तस्तीर्थंकर-परमदेवो भवति, तं वन्दे। *अणुचरबहुसत्तहिओ* अनुचरबहुसत्त्वहितः स्वामिना सह ये पृष्ठतो गच्छन्ति तेऽनुचराः सेवकाः तथा बहुसत्त्वा अपरेऽपि जीवास्तेभ्यो हितः स्वर्गमोक्षदायक इत्यर्थः। *कम्मक्खयकारणनिमित्ते* कर्मणां क्षयकारणं शुक्लध्यानं तस्य निमित्ते प्राप्त्यर्थं वन्दे इति क्रियाकारकसम्बन्धः ॥ २९ ॥

गाथार्थ—मैं उन मुनियो को नमस्कार करता हूं जो तप से सहित हैं। साथ ही उनके शीलको, गुणको, ब्रह्मचर्य को और मुक्ति-प्राप्तिको भी सम्यक्त्व तथा शुद्धभाव से वन्दना करता हूं ॥२८॥

विशेषार्थ—अनशन-ऊनोदर आदि के भेदसे तपके बारह भेद हैं। शीलके अठारह हजार भेद होते हैं। गुणोंके चौरासी लाख भेद हैं और ब्रह्मचर्य नववाढ़ की अपेक्षा नौ प्रकारका है। जो तप शील, गुण और ब्रह्मचर्यसे संपन्न हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूं। ऐसे मुनि ही अपनी साधना से सिद्धि—कर्म—नोकर्म और भावकर्म से रहित स्वस्वरूप की उपलब्धि को प्राप्त होते हैं। यह स्वस्वरूपोपलब्धि ही जीवनका सर्वोपरि-लक्ष्य है, इसे मैं श्रद्धापूर्वक शुद्धभावसे नमस्कार करता हूं ॥२८॥

गाथार्थ—जो चौसठ चमरों से सहित हैं- चौतीस अतिशयोंसे युक्त हैं और विहार कालमें पीछे चलने वाले सेवक तथा अन्य अनेक जीवोंके हित करने वाले हैं उन तीर्थंकर परमदेव को मैं कर्मक्षय में कारणभूत शुक्लध्यानकी प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूं।

विशेषार्थ—तीर्थंकर भगवान [1]चौसठ चमर रूप प्रातिहार्य से सहित होते हैं। दश जन्मके, दश केवलज्ञानके और चौदह देव रचित इस प्रकार चौतीस अतिशयों से युक्त होते हैं। साथ ही विहार कालमें पीछे चलने वाले सेवकों तथा अन्य अनेक जीवोंको स्वर्ग मोक्षके दायक हैं। उन तीर्थंकर भगवान को नमस्कार करनेमें उस शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है जो कि कर्मक्षयका साक्षात् कारण है। उस शुक्लध्यानकी प्राप्ति के लिये ही मैं उन्हें नमस्कार करता हूं॥ २९ ॥

---

१ भवनवासिनः २० व्यन्तराः १६ कल्पवासिनः २४ चन्द्रौ सूर्यौ ४ इति चतुःषष्टिः ६४ (क० टि०)

अथ कानि तानि कर्मक्षयकारणानि शुक्लध्यानहेतव इति प्रश्ने गाथामिमां चकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः—

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।
चउहिंपि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ३० ॥

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण संयमगुणेन ।
चतुर्णामपि समायोगे मोक्षो जिनशासने दृष्टः (दिष्टः) ॥ ३० ॥

णाणेण ज्ञानेन । *दंसणेण य* दर्शनेन च *तवेण* तपसा । चरिएण चरितेन चारित्रेण । *संजमगुणेण* संयमगुणेन एतच्चतुष्टयं संयमगुण उच्यते । *चउहिं पि समाजोगे* चतुर्णामपि समायोगे सति एकत्र सामग्र्याम् *मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो* मोक्षो जिनशासने दृष्टः कथितः । समस्तेन मोक्षो भवति न तु व्यस्तेन । उक्तञ्च वीरनन्दिशिष्येण पद्मनन्दिना—

[1] वनशिखिनि मृतोऽन्धः संचरन् वाढमंह्रि- (घ्रि)
द्वितय-विकलमूर्तिर्वीक्षमाणोऽपि खञ्जः ।
अपि सनयनपादोऽश्रद्दधानश्च तस्माद्
दृगवगमचरित्रैः संयुतैरेव सिद्धिः ॥

अब आगे कर्मक्षय के कारण तथा शुक्लध्यानके हेतु क्या क्या हैं ? यह प्रश्न होने पर श्री कुन्दकुन्दाचार्य निम्नलिखित गाथा लिखते हैं ।

गाथार्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्तप, और सम्यक्चारित्र ये चारों संयमगुण कहलाते हैं । इन चारों के एकत्रित होनेपर ही जिन-शासन में मोक्ष कहा है ॥३० ॥

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् तप और सम्यक् चारित्र इन चारोंके समायोग से ही जिन–शासन में मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई है । इन चारोंके समायोग को संयम गुण कहा जाता है, अतः संक्षेप से संयम गुणके द्वारा मोक्ष हो ता है, ऐसा भी कहा जा सकता है । ज्ञान, दर्शनादि मिलकर ही मोक्षके मार्ग हैं, भिन्न भिन्न नहीं। जैसा कि श्री वीरनन्दी के शिष्य पद्मनन्दि मुनि ने कहा है—

वनशिखिनि—अन्धा मनुष्य अच्छी तरह चलता हुआ, दोनों पैरोंसे रहित लंगड़ा मनुष्य देखता हुआ और 'यह अग्नि है' इस श्रद्धासे रहित मनुष्य नेत्र और पैरोंसे सहित होता हुआ भी चूंकि दावानल में जल कर मरता है इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन,

---

१-पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकायाम्

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥ ३१ ॥

ज्ञानं नरस्य सारं सारमपि नरस्य भवति सम्यक्त्वम् ।
सम्यक्त्वतः चरणं चरणतो भवति निर्वाणम् ॥ ३१ ॥

णाणं णरस्स सारो ज्ञानं नरस्य जीवस्य सारः । *सारोवि णरस्स होइ सम्मत्तं* सम्यग्ज्ञानादपि जीवस्य सम्यक्त्वं सारतरं भवति । [1]तस्मात् *सम्मत्ताओ चरणं* सम्यक्त्वात् चरणं चारित्रं भवति [2]तस्मात् सम्यक्त्वं विना चारित्रं प्रतिपालयन्नपि पुमानचारित्रो भवति । *चरणाओ होइ णिव्वाणं* चरणाच्चारित्रान्निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो भवति । तेन सर्वेभ्यो दर्शनमुत्कृष्टमिति ज्ञातव्यम् ॥ ३१ ॥

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके मिलने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है ।

[कार्य की सिद्धि के लिये दर्शन, ज्ञान, और चारित्र तीनोंका मिलना आवश्यक है । इनके पृथक् पृथक् रहने पर कार्य को सिद्धि नहीं होती । एक वार वन में तीन मनुष्य पहुंचे-१ अन्धा, २ पंगु और ३ सशयालु । वन में आग लगने पर अन्धा मनुष्य भागनेकी चेष्टा करता है परन्तु सही सही मार्गका ज्ञान नहीं होनेसे भाग नहीं पाता । पंगु मनुष्य यद्यपि सही सही रास्ता देखता है परन्तु दोनों पैरोसे रहित होनेके कारण भाग नहीं सकता और संशयालु मनुष्य यही निश्चय नहीं कर पाया कि यह आग लग रही है या पलाश फूल रहे हैं अतः वह भागने की चेष्टा ही नहीं करता । इस तरह तीनों मनुष्य आगमें जल कर मर जाते हैं । इस दृष्टान्तसे दर्शन ज्ञान और चारित्र, तीनों की उपयोगिता सिद्ध है । कुन्दकुन्द स्वामी ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारोंके समायोगको मोक्ष का कारण माना है जब कि तत्वार्थ-सूत्रकार उमास्वामी तथा पद्मनन्दी आदि आचार्यों ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनके समायोग को मोक्षका कारण माना है इसमें सिद्धान्तभेद नहीं है क्योंकि तप चारित्र का ही विशिष्ट अङ्ग है, अतः उमास्वामी आदि आचार्यों ने उसे सम्यक् चारित्र में ही अन्तर्निहित कर दिया है ।] ॥ ३० ॥

गाथार्थ—ज्ञान जीवके सारभूत है और ज्ञानकी अपेक्षा सम्यक्त्व सारभूत है क्योंकि सम्यक्त्व से ही चारित्र होता है और चारित्रसे निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

विशेषार्थ—गाथा में आये हुए नर शब्दसे मनुष्य अर्थ न लेकर जीव सामान्य लिया है । जीवमात्र के जीवन में ज्ञान एक सार-पूर्ण गुण है, उस ज्ञानकी अपेक्षा सारपूर्ण गुण

१-तस्मात् म० । २-तस्मात् म० ।

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।
[1]चउण्हंपि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो ॥ ३२ ॥

ज्ञाने दर्शने च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन ।
चतुर्णामपि समायोगे सिद्धा जीवा न संदेहः ॥ ३२ ॥

णाणम्मि ज्ञाने सति । *दंसणम्मि य* दर्शने च सति *तवेण* तपसा कृत्वा । *चरिएण* चरितेन चारित्रेण कृत्वा । *सम्मसहिएण* सम्यक्त्वसहितेन । ज्ञानं तपश्चारित्रं च व्यर्थं सम्यक्त्वं विना । तेन [*चउण्हं समाजोगे* चतुर्णां समायोगे मेलापके सति । *सिद्धा जीवा ण संदेहो* जीवाः सिद्धा मुक्तिं गता अत्र सन्देहो नास्ति ।

तथा चोक्तं—

हतं ज्ञानं क्रिया शून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ॥

तथा चार्हताः—

ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम् ।
ततो ज्ञान-क्रिया-श्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥

सम्यक्त्व है क्योंकि सम्यक्त्वसे चारित्र होता है, विना सम्यक्त्वके चारित्रका पालन करता हुआ भी पुरुष चारित्रसे रहित कहा जाता है और चारित्रसे समस्त कर्म-क्षयरूप लक्षणसे युक्त मोक्ष होता है । इसलिये सम्यग्दर्शन सबसे उत्कृष्ट है, ऐसा जानना चाहिये ॥३१॥

गाथार्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र इन चारोंके मिलने पर जीव सिद्ध होते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥ ३२ ॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थता से सहित ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारोंका समायोग-मेल होने पर ही जीव सिद्ध होते हैं मुक्तिको प्राप्त होते हैं । सम्यक्त्व से रहित ज्ञान दर्शनादि मुक्तिके कारण नहीं हैं और न पृथक् पृथक् ही मुक्तिके कारण हैं किन्तु चारोंका मेल होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है, इसमें सन्देह नहीं है । ऐसा ही कहा है—

हतं ज्ञानं—क्रिया अर्थात् चारित्र से शून्य ज्ञान नष्ट है और अकार्य-कारी है और ज्ञान-शून्य मनुष्य की क्रिया नष्ट है-अकार्य-कारी है । अन्धा मनुष्य दौड़ता हुआ भी नष्ट होता है और लंगड़ा मनुष्य देखता हुआ भी अग्निमें नष्ट होजाता है ।

---

१ चोण्हं वि म० ।

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्ध सम्मत्तं।
सम्मदंसण रयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥ ३३ ॥

कल्याणं परम्परया लभन्ते जीवा विशुद्धसम्यक्त्वम्।
सम्यग्दर्शन-रत्नं अर्घ्यते सुरासुरे लोके ॥ ३३ ॥

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्ध सम्मत्तं कल्याणानां गर्भावतार-जन्माभिषेक-निष्क्रमण-ज्ञान-निर्वाणानां परम्परया श्रेण्या सह जीवा भव्यप्राणिनो विशुद्ध-सम्यक्त्वं निरतिचार-सम्यक्त्वं प्राप्नुवन्ति। यदैव जीवः सद्दृष्टिर्भवति तदैव तीर्थंकर-परमदेवो भवतीति भावः। *सम्मदंसण रयणं* सम्यग्दर्शन-रत्नं *अग्घेदि सुरासुरे लोए* अर्घ्यते पूज्यते बहुमूल्यं भवति देवदानवभुवने। एतद् रत्नमूल्यं कोऽपि कर्तुं न शक्नोति करोति चेन्मूल्यं तदा सद्यः कुष्ठी मुखे भवेत ॥ ३३ ॥

ऐसा ही आर्हत-जैन कहते हैं—

ज्ञानं पङ्गौ—लंगडे मनुष्यका ज्ञान, अन्धे मनुष्य की क्रिया और श्रद्धा-हीन मनुष्य की दोनों ही-वस्तुएं कार्यकारी नहीं हैं। इसलिये क्रिया ज्ञान, और श्रद्धा इन तीनोंकी एकता ही मोक्षपदका कारण है ॥ ३२ ॥

गाथार्थ—भव्य जीव कल्याणों के समूहके साथ निर्दोष सम्यक्त्वको प्राप्त होते हैं। देव दानवोंके भुवनमें सम्यग्दर्शन रूप रत्न सबके द्वारा पूजा जाता है।

विशेषार्थ—गर्भावतार, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पांच कल्याणक हैं। भव्य जीव निरतिचार सम्यक्त्वको प्राप्त होते हैं, और उसके साथ ही गर्भावतार आदि पांच कल्याणकों को भी प्राप्त होते हैं। उक्त कल्याणक तीर्थंकर परम देवके होते हैं। तात्पर्य यह है कि जब जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं तभी तीर्थंकर परमदेव होते हैं। तीर्थंकर बननेके लिये दर्शन-विशुद्धिका होना अत्यन्त आवश्यक है। देव और दानवोंसे युक्त इस संसारमें सम्यग्दर्शन, सबके द्वारा पूजा जाता है। इस रत्नका मूल्य कोई भी करनेको समर्थ नहीं है। यदि उसका कोई मूल्य करता भी है तो वह मुहमें शीघ्र ही कुष्ठी हो जाता है। अर्थात् अपने उपदेशके द्वारा जो सम्यग्दर्शनके महत्वको कम करता है उसके मुखमें कुष्ठ होता है ॥ ३३ ॥

गाथार्थ—जो उत्तम गोत्रसे सहित मनुष्य जन्मको अत्यन्त दुर्लभ विचार कर सम्यक्त्व को प्राप्त होता है वह अविनाशी सुख तथा मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

दट्ठूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खय सुक्खं च मोक्खं च ॥ ३४ ॥

दृष्ट्वा च मनुजत्वं सहितं तथा उत्तमेन गोत्रेण ।
लब्ध्वा च सम्यक्त्वं अक्षयसुखं च मोक्षं च ॥ ३४ ॥

दट्ठूण य दृष्ट्वा च ज्ञात्वा । किं ? *मणुयत्तं* मनुजत्वं मनुष्य-जन्म अनेकदृष्टान्तै दुर्लभं विचार्य महासमुद्रे करच्युत-रत्नमिव । *सहिअं तह उत्तमेण गुत्तेण* उत्तमेन गोत्रेण कुलेन सहितं संयुक्तं । *लद्धूण य सम्मत्तं* सम्यक्त्वं च लब्ध्वा । *अक्खय सुक्खं च मोक्खं च* एतत्सामग्रयं प्राप्य अक्षयसौख्यं निज-शुद्ध-बुद्ध-परमात्म-श्रद्धान-ज्ञानानुचरणस्वभावोत्थं परमानन्दलक्षणं सुखं भवति, न केवलमक्षयसुखं भवति मोक्षं च द्रव्यकर्मनोकर्मरहितं ऊर्ध्वगमनलक्षणं परमनिर्वाणं च चकास्ति ॥ ३४ ॥

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो ।
चउतीस अइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥ ३५ ॥

विहरति यावज्जिनेन्द्रः सहस्राष्टसुलक्षणैः संयुक्तः ।
चतुस्त्रिंशदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता ॥ ३५ ॥

विहरदि जाव जिणिंदो विहरति पर्यटति आर्यखण्डे यावत्सम्बोधनं करोति जिनेन्द्रस्तीर्थंकर-परमदेवः । स कथंभूतः *सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो* अष्टाधिक-सहस्रलक्षणैः संयुक्तः । *चउतीस अइसय जुदो* चतुस्त्रिंशदतिशययुतः । *सा पडिमा थावरा भणिया* सा प्रतियातना प्रतिबिम्बं प्रतिकृतिः स्थावरा भणिता । इह मध्यलोके स्थितत्वात् स्थावरप्रतिमेत्युच्यते । मोक्षगमनकाले एकस्मिन् समये जिन-प्रतिमा जङ्गमा कथ्यते । व्यवहारेण तु चन्दन कनक-महामणि-स्फटिकादि-घटिता प्रतिमा स्थावरा । समवसरण-मण्डिता जङ्गमा जिनप्रतिमा प्रतिपाद्यते ।

अथ कानि तानि जिन लक्षणानि अष्टाधिकसहस्रसंख्यानीति चेदुच्यन्ते—

गाथार्थ—जो उत्तम गोत्र से सहित मनुष्य जन्मको अत्यन्त दुर्लभ विचार कर सम्यक्त्व को प्राप्त होता है वह अविनाशी सुख तथा मोक्षको प्राप्त होता है ॥३२॥

विशेषार्थः—जिस प्रकार हाथसे छूट कर महा समुद्रमें गिरा हुआ रत्न पाना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है उसी प्रकार उत्तम गोत्रसे युक्त मनुष्य जन्मका पाना अत्यन्त दुर्लभ है। इस तरह अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा मनुष्य जन्मकी दुर्लभताका विचार करके जो सम्यक्त्व—सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है वह निज शुद्ध बुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग स्वभावसे युक्त परमात्माके श्रद्धान ज्ञान और चारित्र स्वभावसे उत्पन्न परमानन्द—लक्षण सुखको प्राप्त होता है। न केवल अविनाशी सुखको प्राप्त होता है किन्तु द्रव्य कर्म, नोकर्म और भाव कर्मसे रहित ऊर्ध्वगमन लक्षणसे युक्त निर्वाणको भी प्राप्त होता है॥ ३४ ॥

[1] श्रीवृक्षः । करचरणेषु शङ्खः । अम्भोजम् । स्वस्तिकः । अङ्कुशः । तोरणं । चामरं । श्वेतातपत्रं । सिंहासनं । ध्वजः । मत्स्यौ । कुम्भौ । कच्छपः । चक्रं । समुद्रः । सरोवरं । विमानं । भवनं । गजः । नरनार्यौ । सिंहः । बाणधनुषी । मेरुः । इन्द्रः । पर्वतः । नदी । पुरं । गोपुरं । चन्द्रः । सूर्यः । जात्यश्वः । व्यजनं । वेणुः । वीणा । मृदङ्गः । पुष्पमाले द्वे । पट्टकूलं । हट्टः । कुण्डलादि षोडशाभरणानि । फलितमुद्यानं । सुपक्वकलमक्षेत्रं । रत्नद्वीपः । वज्रं । मही । लक्ष्मीः । सरस्वती । सुरभिः । वृषभः । चूडारत्नं । महानिधिः । कल्पवल्ली । हिरण्यं । जम्बूवृक्षः । गरुडः । नक्षत्राणि । तारकाः । राजसदनं ग्रहाः । सिद्धार्थपादपः । अष्टप्रातिहार्याणि । अष्ट मङ्गलानि । एवमादीनि अष्टोत्तरशतं लक्षणानि । तिलक मसकादीनि नवशतव्यञ्जनानि तान्यपि लक्षणशब्देनोच्यन्ते ।

अथ के ते चतुस्त्रिंशदतिशयाः ? निःस्वेदता, निर्मलता, क्षीरगौररुधिरता, समचतुरस्रसंस्थानं, वज्रवृषभनाराचसंहननं, सुरूपता, सुगन्धता, सुलक्षणता. अनन्तवीर्यं, प्रियहित-वादित्वम्, इत्येते दशातिशया जन्मन आरभ्य भवन्ति, तथा घातिकर्म-क्षयजा दशातिशयाः सन्ति, ते के ? गव्यूतिशत-चतुष्टय-सुभिक्षता, गगनगमनं, प्राणिवधाभाव. भुक्तेरभावः उपसर्गाभावः, चतुर्मुखत्वम्, सर्वविद्या प्रभुत्वम्, प्रतिबिम्ब-रहितत्वम्, लोचनपक्ष्मनिःस्पन्दः, नखकेशानामवृद्धिः, इति घातिकर्म-क्षयजा दशातिशयाः, देवोपनीताश्चतुर्दशातिशयाः. तथाहि—सर्वार्धमागधीका भाषा, कोऽयमर्थः ? अर्द्धं भगवद्भाषा [2]मगधदेशभाषात्मकं अर्द्धं च सर्वभाषात्मकं, कथमेवं देवोपनीतत्वमिति चेत् ? मगधदेव-सन्निधाने तथा परिणामतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तते ॥१॥ मैत्री च सर्वजनता-विषया सर्वे जनसमूहाः मागधप्रीतिकरदेवातिशयवशात् मागध-भाषया भाषन्ते परस्पर मित्रतया च वर्तन्ते इति द्वावतिशयौ ॥२॥ सर्वर्तूनां फलस्तवकाः, सर्वर्तूनां पल्लवाः, सर्वर्तूनां पुष्पाणि सर्वादीनां भवन्ति ॥३॥ आदर्शसदृशी रत्नमयी भूमिर्भवति, वायुः पृष्ठत आगच्छति ॥५। सवलोकस्य परमानन्दो भवति ॥६॥ अग्रेऽग्रे योजनमेकं [3]सुगन्धागन्धवहा भूमिभागं प्रमार्जन्ति धूलिकण्टकखटकीटक ककर पाषाणादिकं च दूरीकुर्वन्ति ॥७॥ तद्भूम्युपरि मेघकुमारा गन्धोदकं वर्षन्ति ॥८॥ सुवर्णपत्रपद्मरागमणि-

---

१—विभुः कल्पतरुच्छायां समारामरणोज्ज्वलः । बभानि लक्षणान्यस्मिन् कुसुमानीव रेजिरे ॥ ३६ ॥
तानि श्री-वृक्षशङ्खाब्जस्वस्तिकांकुशतोरणम् । प्रकीर्णकसितच्छत्रसिंहविष्टरकेतनम् ॥ ३७ ॥
झषौ कुम्भौ च कूर्मश्च चक्रमब्धिः सरोवरम् । विमानभवने नागो नरनार्यौ मृगाधिपः ॥ ३८ ॥
बाणबाणासने मेरुः सुरराट् सुरनिम्नगा । पुरं गोपुरमिन्द्वर्कौ जात्यश्वस्तालवृन्तकम् ॥ ३९ ॥
वेणुर्वीणा मृदङ्गश्च स्रजौ पट्टांशुकापणौ । स्फुरन्ति कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि च ॥ ४० ॥
उद्यानं फलितं क्षेत्रं सुपक्वकलमाञ्चितम् । रत्नद्वीपश्च वज्रं च मही लक्ष्मीः सरस्वती ॥ ४१ ॥
सुरभिः सौरभेयश्च चूडारत्नं महानिधिः । कल्पवल्ली हिरण्यं च जम्बूवृक्षश्च पक्षिराट् ॥ ४२ ॥
उडूनि तारकाः सौधं ग्रहाः सिद्धार्थपादपः । प्रातिहार्याण्यहार्याणि मङ्गलान्यपराणि च ॥ ४३ ॥
लक्षणान्येवमादीनि विभोरष्टोत्तरं शतम् । व्यञ्जनान्यपराण्यासन् शतानि नव संख्यया ॥ ४४ ॥

आदिपुराण पर्व १५

२ भगवद्भाषया म० । ३ सुगन्धिगन्धा वहा म० ।

केसर-विराजितं योजनमेकं कमलं ताहशचतुर्दशकमलवेष्टितं स्वामिनः पादाधो भवति ताहशानि पद्मानि सप्ताग्रे भवन्ति सप्त पृष्ठतश्च भवन्ति ॥९॥ अष्टादश धान्यानि भूमौ निष्पद्यन्ते ॥१०॥ दिश आकाशश्च रजोधूमिकादिग्दाहादिरहिता भवन्ति ॥११॥ ज्योतिर्देवा व्यन्तरदेवा भवनवासिनश्च देवाः सौधर्मेन्द्राज्ञया सर्वेषां देवादीनां समाह्वानं कुर्वन्ति । १२॥ अग्रेऽग्रे धर्मचक्रं गगने गच्छति चक्रवर्ति-चक्रवत् ॥१३॥ चतुर्दशोऽतिशयोऽष्टमङ्गलानि ॥१४॥ भृङ्गारः—सुवर्णालुका, तालो—मञ्जीरः, कलशः-कनककुम्भः, ध्वजः पताका । सुप्रीतिका—विचित्रचित्रमयी पूजाद्रव्यस्थापनार्हा स्तम्भाधारकुम्भी, श्वेतच्छत्रं, दर्पणः, चामरं च एतानि प्रत्येकमष्टोत्तरशतसंख्यानि । एवं चतुर्दशातिशया देवोपनीताः, अष्ट प्रातिहार्याणि च भवन्ति—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

गाथार्थ—एक हजार आठ शुभ लक्षणोंसे युक्त तथा चौंतीस अतिशयों से सहित तीर्थंकर भगवान् जब तक यहां विहार करते हैं तब तक उनको स्थावर प्रतिमा कहा गया है ॥३५॥

विशेषार्थ—तीर्थंकर परम देव श्रीवृक्ष आदि १०८ लक्षणों और तिल मसा आदि नौ सौ व्यञ्जनों से सहित होते हैं तथा दश जन्मके, दश केवलज्ञान के और चौदह देवकृत इस तरह चौंतीस अतिशयों से सहित होते हैं । इन सब से युक्त तीर्थंकर जिनेन्द्र जब तक आर्यखण्ड में भव्यजीवों को संबोधते हुए विहार करते रहते हैं तब तक उन्हें स्थावर प्रतिमा कहा जाता है और जब वे समस्त कर्मोंका क्षय करके एक समय में सिद्धशिला की और अग्रसर होते हैं तब उन्हें जङ्गम प्रतिमा कहते हैं । प्रतिमा, प्रतियातना प्रतिबिम्ब और प्रतिकृति ये सब प्रतिमाओं के नाम हैं । व्यवहार की अपेक्षा चन्दन, सुवर्ण, महा-मणि तथा स्फटिक आदि से निर्मित प्रतिमा स्थावर प्रतिमा कहलाती है और समवसरण से सुशोभित विहार करने वाली जिन-प्रतिमा–तीर्थंकर परमदेव का शरीर जङ्गम प्रतिमा कही जाती है ।

अब तीर्थंकर के शरीर में पायेजाने वाले एक हजार आठ लक्षण कौन २ हैं यह प्रकट करते हैं—श्रीवृक्ष, हाथ और पैरोंमें शङ्ख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चामर, सफेदछत्र, सिंहासन, ध्वज, दो मच्छ, दो कलश, कछुआ, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, स्त्री पुरुष, सिंह, धनुषबाण, मेरु, इन्द्र, पर्वत, नदी, पुर, गोपुर, चन्द्र, सूर्य,

उत्तम घोड़ा, व्यजन, वांसुरी, वीणा, मृदङ्ग, दो पुष्पमालाएं, रेशमीवस्त्र, बाजार, कुण्डल आदि सोलह आभूषण, फलोंसे युक्त उपवन, अच्छीतरह पका हुआ धानका खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, बैल, चूडामणि, महानिधि, कल्पबेल, सुवर्ण, जम्बूवृक्ष, गरुड, नक्षत्र, तारका, राजभवन, ग्रह, सिद्धार्थवृक्ष, अष्ट प्रातिहार्य तथा अष्ट मङ्गल द्रव्य इन्हें आदि लेकर एकसौ आठ लक्षण होते हैं और तिल, मसा आदि नौसौ व्यञ्जन होते हैं। ये सब मिलकर एक हजार आठ लक्षण कहलाते हैं।

अब चौंतीस अतिशय कहते हैं—

पसीना नहीं आना, मलमूत्र रहित शरीर का होना, दूधके समान सफेद रुधिर, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभ नाराच संहनन, सुन्दररूप, सुगन्धता, उत्तम लक्षणों युक्तपना, अनन्त वीर्य और प्रिय तथा हितकारी वचन बोलना ये दश अतिशय जन्म से ही होते हैं। इनके सिवाय घाति कर्मोंके क्षयसे होनेवाले निम्नलिखित दश अतिशय और होते हैं चारसौकोश तक सुभिक्ष रहना, आकाश में गमन होना, प्राणिवधका अभाव होना, कवलाहार का अभाव, उपसर्ग का न होना, चारों दिशाओंमें मुख दिखना, सब विद्याओं का स्वामीपना, छायाका नहीं पडना, नेत्रोंके पलक नहीं लगना, और नख तथा केशोंका नहीं बढना; ये केवलज्ञान के दश अतिशय हैं। अब देवोपनीत चौदह अतिशय कहते हैं—

सर्वार्थमागधी भाषाका होना। इसका अभिप्राय यह है कि दिव्यध्वनिमें अर्ध भाग तो भगवान् की भाषा है जो मगध देशकी भाषा स्वरूप होता है और आधा भाग समस्त भाषाओंका रहता है इसलिये उनकी भाषाको सर्वार्धमागधी भाषा कहते हैं। भाषामें वह उक्त प्रकारका परिणमन मगधदेवोंके सन्निधानमें होता है इसलिये उसमें देवोपनीतपना बन जाता है। दूसरा अतिशय सब जनतामें मैत्रीभाव का होना है मागधदेवोंके अतिशय के कारण सब लोग परस्पर मागध भाषासे बोलते हैं और प्रीतिंकर देवोंके अतिशय से सब लोग परस्परमें मित्रता से रहते हैं। इस तरह दोनों अतिशय देवकृत अतिशय सिद्ध हैं। सब ऋतुओंके फल और फूलोंके गुच्छे प्रगट होना यह तीसरा देवकृत अतिशय है इसमें वृक्ष आदि वनस्पतियोंके सब ऋतुओंके पल्लव और सब ऋतुओंके पुष्प आदि प्रगट होते हैं। चतुर्थ अतिशयमें पृथिवी दर्पणके समान रत्नमयी हो

वारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण स्सं ।
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ ३६ ॥

द्वादशविधतपोयुक्ताः कर्म क्षपयित्वा विधिबलेन स्वीयम् ।
व्युत्सर्ग-त्यक्त-देहा निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताः ॥ ३६ ॥

वारस विह तवजुत्ता द्वादश-विधतपो-युक्ता मुनयः । *कम्म खविऊण* कर्माष्टविधं क्षपयित्वा । *वोसट्टचत्तदेहा* पद्मासनकायोत्सर्गलक्षण-द्विविध-व्युत्सर्गेण त्यक्तशरीरा मुनयः । *णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता* निर्वाणं मोक्षमनुत्तरं सर्ववर्गेभ्य उत्तमं प्राप्ता गताः सिद्धा इत्यर्थः । सम्यक्त्व-माहात्म्यमनञ्ज्ञातव्यमिति सिद्धम् ।

जाती है। पांचवें अतिशयमें वायु पीठकी ओरसे वहती है । छठवें अतिशयमें सब लोगोंको परम आनन्द होता है । सातवें अतिशय में सुगन्धित वायु आगे आगे एक योजन तककी भूमिको साफ करती रहती है अर्थात् धूलो कटंक आदिका दूर करती रहती है । आठवें अतिशय में उस साफकी हुई भूमिपर मेघकुमार देव गन्धोदक-सुगन्धित जलकी वर्षा करते हैं । नौवें अतिशय में सुवर्णकी कलिकाओं और पद्मरागमणिमय केसरसे सुशोभित एक योजन विस्तार वाला कमल ऐसे हा चौदह कमलोंके साथ भगवान्के पैरके नीचे होता है अर्थात् एक कमल भगवान्के पैरके नीचे और सात सात कमल आगे पीछे होते हैं । इस तरह पन्द्रह पन्द्रह कमलोंकी पन्द्रह पंक्तियां रहती हैं । दशवें अतिशयमें पृथिवी पर अठारह प्रकारके अनाज उत्पन्न होते हैं । ग्यारहवें अतिशयम दिशाए और आकाश धूली, धूमिका, तथा दिग्दाह आदि दोषोंसे रहित होते हैं । बारहवें अतिशय में ज्योतिष्क, व्यन्तर तथा भवनवासी देव सौधर्मेन्द्रकी आज्ञासे सब देवोका आह्वान करते हैं । तेरहवें अतिशय में चक्रवर्तीके सुदर्शन चक्रके समान भगवान्के आगे आकाशमें धर्मचक्र चलता है और चौदहवें अतिशय मे अष्ट मङ्गलद्रव्य दृष्टिगोचर होते हैं । सुवर्ण-मय भारी, तालपत्र, सुवर्ण कलश, पताका, सुप्रोतिका-ठौना, सफेद छत्र, दर्पण और चमर ये आठ मङ्गल द्रव्य हैं । प्रत्येक मङ्गल द्रव्य एकसौ आठ एक सौ आठ रहते हैं । इस प्रकार चौदह अतिशय देवोपनीत हैं।

अब आठ प्रतिहार्य कहते हैं—

अशोकवृक्षः—अशोक वृक्ष, देवकृत पुष्पवृष्टि. दिव्यध्वनि, चामर, सिंहासन, भामण्डल दुन्दुभि, और छत्रत्रय ये जिनेन्द्र देवके आठ प्रतिहार्य हैं ॥ ३५ ॥

इति श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्य गृद्धपिच्छाचार्य नाम पञ्चक-विराजितेन सीमन्धर स्वामिज्ञान-सम्बोधितभव्यजनेन श्री जिनचन्द्र सूरि भट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकाल सर्वज्ञेन विरचिते षट् प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डली मण्डनेन कलिकाल-गौतम स्वामिना श्री मल्लिभूषणेन भट्टारके-णानुमतेन सकलविद्वज्जन-समाज-सम्मानितेनोभय-भाषा-कविचक्रवर्तिना श्री विद्यानन्दि गुर्वन्तेवासिना सूरिवर श्री श्रुतसागरेण विरचिता दर्शनप्राभृत टीका सम्पूर्णा ।

गाथार्थ—बारह प्रकारके तपसे युक्त मुनि चारित्र के बलसे अपने कर्मोका क्षय करके पद्मासन और कायोत्सर्ग इन दो प्रकारके व्युत्सर्गोंसे शरीरका त्याग करते हुए सर्वोत्कृष्ट निर्वाणको प्राप्त हुए हैं ॥ ३६ ॥

विशेषार्थ—अनशन, ऊनोदर, वृत्ति-परिसंख्या, रस-परित्याग, विविक्त शय्यासन और काय-क्लेश इन छह बाह्य तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह अन्तरंगके भेदसे बारह प्रकारके तपों से युक्त मुनि, परम यथा-ख्यात चारित्र बलसे अपने कर्मोंका क्षय करके पद्मासन या खड़े आसनसे शरीरका त्याग करते हुए सब वर्गोंसे उत्तम निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। यह सब सम्यग्दर्शनका माहात्म्य जानना चाहिये ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्ध-पिच्छाचार्य इन पांच नामोंसे सुशोभित, सीमन्धर स्वामीके ज्ञानसे भव्य जीवोंको सम्बोधित करने वाले, श्री जिनचन्द्र सूरिभट्टारकके पट्टके आभरण स्वरूप, कलिकाल सर्वज्ञ कुन्दकुन्दाचार्यके द्वारा विरचित षट् पाहुडग्रन्थ में समस्त मुनियोंके समूहसे सुशोभित, कलिकालके गौतम स्वामी श्री मल्लिभूषण भट्टारकके द्वारा अनुमत, सकल विद्वत्समाज के द्वारा सन्मानित, उभय भाषा सम्बन्धी कवियोंके चक्रवर्ती, श्री विद्यानन्द गुरुके शिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागरके द्वारा रचित दर्शन पाहुड़की टीका सम्पूर्ण हुई ।

चारित्र प्राभृतम्

चारित्र प्राभृत के प्रारम्भ में संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि मङ्गलाचरण करते हुए प्रतिज्ञा वाक्य कहते हैं—

सर्वार्थ-सिद्धिप्रदमर्हदीशं विद्यादिनन्दं वृषसस्यकन्दम् ।
मन्दोऽपि नत्वा विवृणोमि भक्त्या चारित्रसारं श्रृणुतार्यमुख्याः ॥

सव्वण्हू सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी ।
वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥ १ ॥
णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहि-कारणं तेसिं ।
मुक्खाराहण-हेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे ॥ २ ॥

सर्वज्ञान् सर्वदर्शिनः निर्मोहान् वीतरागान् परमेष्ठिनः ।
वन्दित्वा त्रिजगद्वन्दितान् अर्हतः भव्यजीवैः ॥ १ ॥
ज्ञानं दर्शनं सम्यक्चारित्रं शुद्धिकारणं तेषाम् ।
मोक्षाराधन-हेतुं चारित्रं प्राभृतं वक्ष्ये ॥ २ ॥

सव्वण्हू सर्वज्ञान् । *वंदितु* वन्दित्वा । *चारित्तं पाहुडं वोच्छे* चारित्रं नाम प्राभृतं चारित्रप्राभृतं चारित्रसारं नाम ग्रन्थं वक्ष्ये । कः कर्ता ? अहं कुन्दकुन्दाचार्यः । कथंभूतान् ? सर्वज्ञान् । *सव्वदंसी* सर्वदर्शिनो लोकालोकावलोकनशीलान् , अपरं किंविशिष्टान् ? सर्वज्ञान् । *णिम्मोहा* निर्मोहान् मोहनाथ-कर्म-रहितान् । भूयोऽपि किंरूपान् ? *वीयराय* वीतरागान् वीतः क्षयं गतो रागो येषां ते वीतरागास्तान् । 'अज क्षेपणे' इति तावद्धातु 'अजेर्वीः' इति सूत्रेण वीयादेशः । निष्ठाक्त प्रत्यये वीत इति निष्पद्यते । वीयराय इत्यत्र शस लोपः । भूयोऽपि किं विशेषणाञ्चितान् ? *परमेट्ठी* परमेष्ठिनः । कोऽर्थः ? परमे इन्द्र चन्द्र नरेन्द्र-पूजिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठीति व्युत्पत्तेः समवसरण-सम्पत्प्रमण्डितानित्यर्थः । अपरं कथंभूतान् सर्वज्ञान् ? *तिजगवंदा* त्रिजगद्वन्दितान् त्रिभुवनस्थितभव्यजनपूजितानित्यर्थः । पुनरपि कथंभूतान् *अरहंता* [अ] अरिर्मोहः, रकारेण रजो लभ्यते तत्तु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-कर्मद्वयं लभ्यते तथा तेनैव प्रकारेण रहस्यमन्तरायः कथ्यते तेन घाति-कर्म-चतुष्टय-हननादिन्द्रादिकृतामनन्यसम्भविनीमर्हणां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तानर्हतः । तथा *भव्वजीवेहिं* भव्यजीवैर्वन्द्या इति सम्बन्धः । *णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहि-कारणं तेसिं* तेषां सर्वज्ञानां घाति-संघातघातनलक्षणायाः शुद्धेः कारणं हेतुर्ज्ञानं दर्शनं सम्यक् चारित्रं च कारणं । सम्मं इति शब्द एकत्र गृहीतोऽपि त्रिभिर्योज्यः तेनायमर्थः सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं सम्यक्चारित्रं च सर्वेषामपि कर्मणां क्षयकारणं मूलादुन्मूलनस्य हेतुरिति भावः । तेन *मुक्खाराहण हेतुं* तेन कारणेन मोक्षाराधनाहेतुं कारणं । किम् ? *चारित्तं* चारित्रं । *पाहुडं* प्राभृतं सारभूतं शास्त्रमहं वक्ष्ये इति क्रिया कारकसम्बन्धः । *जुगलं* एतद्गाथाद्वयं युगलं युग्मं वर्तते ॥ १-२ ॥

टीकाकारका मंगलाचरण—

अर्थ—हे आर्यजनों में प्रमुख पुरुष हो ! यद्यपि मैं मन्दबुद्धि हूं तथापि समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धिके दाता अर्हन्त भगवान् को तथा धर्मरूपी धान्यकी उत्पत्तिके मूल

कारण विद्यानन्द गुरुको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके चारित्रसार–चारित्रप्राभृत ग्रन्थ की टीका लिखता हूं सो श्रवण करो।

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थके प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करते हुए प्रतिज्ञावाक्य लिखते हैं—

गाथार्थ—सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निर्मोह वीतराग, परम–पदमें स्थित, तीनों जगत के द्वारा वन्दित एवं भव्य जीवोंके द्वारा वन्दनीय अरहन्त भगवान को तथा उनकी विशुद्धताके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको नमस्कार करके मोक्ष प्राप्ति के कारणभूत चारित्र-पाहुडको कहता हूं॥ १-२ ॥

विशेषार्थ—जो समस्त द्रव्यों और उनकी कालत्रयवर्ती समस्त पर्यायोंको एक साथ विशेषरूप से जानते हैं उन्हें सर्वज्ञ कहते हैं। जो समस्त लोक और अलोक को सामान्य रूपसे जानते हैं उन्हें सर्व-दर्शी कहते हैं। जो मोहनीय कर्म से रहित हैं उन्हें निर्मोह कहते हैं। जिनके राग द्वेष आदि दोष नष्ट हो गये हैं वे वीतराग कहलाते हैं। 'अज धातु का क्षेपण–नष्ट करना अर्थ होता है, निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय होने पर अज धातुके स्थान में 'अजेर्वीः' इस सूत्रसे वी आदेश हो जाता है, इस तरह जिनके राग द्वेष आदि विकार नष्ट हो गये हैं वे वीतराग कहलाते हैं। जो इन्द्र चन्द्र नरेन्द्र आदिके द्वारा पूजित परम पदमें स्थित हैं उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। जो तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय हैं उन्हें त्रिजगद्वन्दित कहते हैं। जिनके सम्यग्दर्शनादि गुण प्रगट होने की योग्यता है उन्हें भव्य कहते हैं। अरहन्त भगवान सर्वज्ञ आदि विशेषणोंसे विशिष्ट हैं। अरहंत शब्द का अर्थ लगाते हुए संस्कृत टीकाकारने 'अ' से अरि अर्थात् मोहनोय कर्मको लिया और 'र' से रज तथा रहस्य का ग्रहण किया है। रजका अर्थ ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म है और रहस्य से अन्तरायका बोध होता है, इस प्रकार अर अर्थात् चार घातिया कर्मोंका जिन्होंने घात किया है वे अरहंत कहलाते हैं। अथवा प्राकृतका अरहन्त शब्द संस्कृतकी 'अर्ह' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ पूजाके योग्य होता है। इस तरह चार घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जो अन्य पुरुषों में न पाई जाने वाली अर्हणा-पूजाको प्राप्त हैं वे अरहन्त (अर्हत्) कहलाते हैं। कितनी ही जगह 'अरहंत' के स्थान पर 'अरिहंत' पाठ भी बोला जाता है जिसका सीधा अर्थ कर्म रूप शत्रुओं का घात करने वाला होता है। अरहन्त भगवान्‌की

---

१ विशेषेण इता गता नष्टा रागा यस्य स वीतरागः। वीत शब्दः 'वि' उपसर्ग-पूर्वक 'इण् गतौ' धातुतः निष्ठा प्रत्यये सत्यपि सिध्यति।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥ ३ ॥

एते त्रयोऽपि भावा भवन्ति जीवस्य अक्षया अमेयाः।
त्रयाणामपि शोधनार्थं जिनभणितं द्विविधं चारित्रम् ॥ ३ ॥

ए तिण्णि वि भावा एते त्रयोऽपि भावा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-पदार्थास्त्रयः परिणामाः। *हवंति जीवस्स* जीवस्यात्मनः सम्बन्धिनो भवन्ति न तु पुद्गलस्येति भावः। कथंभूतास्त्रयोऽपि भावाः? *अक्खयामेया* अक्षया अविनश्वराः अमेया अमर्यादीभूता अनन्तानन्ता इत्यर्थः। ज्ञानस्य तावदानन्त्यं भवत्येव लोकालोकव्यापकत्वात्। सम्यक्त्वचारित्रयोः कथमनन्तत्वं नियतात्मप्रदेश-स्थितत्वादिति चेन्न तयोरपि तत्सहचारित्वात्। यावन्मात्रं ज्ञानं तावन्मात्रं सम्यग्दर्शनं सम्यक्चारित्रं च तेषामेकीभावनिश्चयात्। *तिण्हं पि सोहणत्थे* त्रयाणामपि सम्यग्दर्शनज्ञान—चारित्राणां शोधनार्थे शोधननिमित्तं। *जिणभणियं दुविह चारित्तं* जिनैर्भणितं प्रतिपादितं द्विविधं चारित्रं दर्शनाचार-चारित्राचार लक्षणं तद् वक्ष्यते ॥ ३ ॥

इस विशुद्धता का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है अर्थात् इनके प्रभाव से उनके घाति-चतुष्क नष्ट होते हैं। चारित्र-पाहुडके प्रारम्भमें कुन्दकुन्द स्वामी अरहन्त परमेष्ठी तथा उक्त रत्नत्रयको नमस्कार कर मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख कारण जो सम्यक्चारित्र है, उसका निरूपण करने वाले भाव पाहुड ग्रन्थ को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १–२ ॥

गाथार्थ—ये तीनों भाव जीवके अविनाशी और अपरिमेय भाव हैं। इन तीनों भावोंकी शुद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहा हुआ दो प्रकारका चारित्र है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों भाव जीव अर्थात् आत्मा के परिणाम हैं, पुद्गलके नहीं हैं। ये तीनों भाव अक्षय-अविनश्वर और अमेय-अमर्यादित-अनन्तानन्त हैं। यदि यहां कोई कहे कि ज्ञानमें अनन्तपना तो ठीक है क्योंकि वह लोक और अलोकमें व्याप्त है परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र में अनन्तपना किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि वे नियत आत्म-प्रदेशों में ही स्थित रहते हैं? तो उसका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी ज्ञान के ही सहचारी हैं। जितना विस्तृत ज्ञान है उतने ही विस्तृत सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र हैं, इस तरह उनमें एकीभावका निश्चय है अर्थात् तीनों एक रूप हैं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥४ ॥

यद् जानाति तद् ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं भणितम् ।
ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नाद् भवति चारित्रम् ॥ ४ ॥

जं जाणइ तं णाणं यज्जानाति तज्ज्ञानं । *जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं* यत्पश्यति तच्च दर्शनं भणितं । "कृत्ययुटोऽन्यत्रापि च" इति वचनात् कर्तरि युट् प्रत्ययः । *णाणस्स दंसणस्स य समवण्णा होइ चारित्तं* ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् समायोगाच्चारित्रं भवति ।

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरण चारित्तं ।
बिदियं संजमचरणं जिणणाण सदेसियं तं पि ॥ ५ ॥

जिनज्ञानदृष्टिशुद्धं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ।
द्वितीयं संयमचरणं जिनज्ञानसंदेशितं तदपि ॥ ५ ॥

जिणणाण दिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरण चारित्तं जिनस्य सर्वज्ञवीतरागस्य सम्बन्धि यज्ज्ञानं दृष्टिर्दर्शनं च ताभ्यां शुद्धं पञ्चविंशति—दोष--रहितं प्रथमं तावदेकं सम्यक्त्वचरणचारित्रं दर्शनाचारचारित्रं भवति । *बिदियं संजमचरणं* द्वितीयं संयमचरणं चारित्राचारलक्षणं चारित्रं भवति *जिणणाण सदेसियं तं पि* जिनस्य सम्बन्धि यत्सम्यग्ज्ञानं तेन सन्देशितं सम्यक् निरूपितं तदपि चारित्रं भवति । उक्तञ्च—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥ ५ ॥

को शुद्धिका निमित्त जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहा हुआ दर्शनाचार और चारित्राचार यह दो प्रकार का चारित्र है ।

(यहां जो ज्ञानको लोकअलोक-व्यापी कहा है उसका तात्पर्य इतना है कि ज्ञान लोक तथा अलोकके पदार्थोंको जानता है । प्रदेशों की अपेक्षा ज्ञान आत्म-द्रव्यके विस्तार के बराबर है, आत्माको छोड कर वह लोक अलोकमें व्याप्त नहीं हो सकता ।)

गाथार्थ—जो जानता है वह ज्ञान है और जो प्रतीति करता है वह दर्शन कहा गया है । इन दोनोंके संयोगसे सम्यक्चारित्र होता है ।

विशेषार्थ—कृत्य संज्ञक प्रत्यय तथा युट् प्रत्यय करण और अधिकरण के सिवाय अन्य अर्थ में भी देखे जाते हैं इस नियमसे यहां ज्ञान और दर्शनका युट् प्रत्यय कर्ता अर्थ में हुआ है इसलिये ज्ञान शब्दका निरुक्त अर्थ है जो पदार्थोंको जाने और दर्शन शब्दका

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससंकाई ।

परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥

एवं चैव ज्ञात्वा च सर्वान् मिथ्यात्वदोषान् शङ्कादीन् ।

परिहर सम्यक्त्वमलान् जिनभणितान् त्रिविधयोगेन ॥

एवं चिय णाऊण य एवं चैव ज्ञात्वा च । *सव्वे मिच्छत्तदोस संकाई* सर्वान् मिथ्यात्वदोषान् शङ्कादीन् । *परिहरि* परिहर हे जीव ! त्वं परित्यज । कथंभूतान् ? *सम्मत्तमला* सम्यक्त्वमलान् पूर्वोक्तश्लोककथितान् पञ्चविंशतिदोषान् । कथंभूतान् ? *जिन भणिया* सर्वज्ञभणितान् श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागप्रतिपादितान् । *तिविहजोएण* मनोवचनकायलक्षणकर्मयोगेन कृत्वा । किं तन्मूढत्रयम् ? लोकमूढं, पाखण्डिमूढं, देवतामूढं चेति । तत्र लोकमूढं—

सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः ।

सन्ध्यासेवाग्निसत्कारो देहगेहार्चना [गेहदेहार्चना) विधिः ॥ १ ॥

गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् ।

रत्नवाहनभूवृक्षशस्त्रशैलादिसेवनम् ॥ २ ॥

[1]आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।

गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ ३ ॥

[2]वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।

देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ ४ ॥

[3]सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम् ।

पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥ ५ ॥

अष्टौ मदाः के ते ?

[4]ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।

अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ ६ ॥

षडनायतनानि कानि तानि ?—

कुदेवगुरुशास्त्राणां तद्भक्तानां गृहे गतिः ।

षडनायतनमित्येवं वदन्ति विदितागमाः ॥

प्रभाचन्द्रस्त्वेवं वदति—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि त्रीणि त्रयश्च तद्वन्तः पुरुषाः षडनायतानि । अथवा असर्वज्ञः १ असर्वज्ञायतनं २ असर्वज्ञज्ञानं ३ असर्वज्ञानसमवेतपुरुषः ४ असर्वज्ञानुष्ठानं ५ असर्वज्ञा[5]नुष्ठानसमवेतपुरुषश्चेति ६ शङ्कादयोऽष्ट यथा—शङ्का १ कांक्षा २ विचिकित्सा ३ मूढदृष्टिः ४ अनुपगूहनं ५ अस्थितीकरणं ६ अवात्सल्यं ७ अप्रभावना चेति ८ अष्टौ शङ्कादयः ॥ ६ ॥

१, २, ३, ४, रत्नकरण्डश्रावकाचारे समन्तभद्रस्य, ५ असर्वज्ञ ज्ञानानुष्ठान म०

निरुक्त अर्थ है जो पदार्थोंकी प्रतीति करे । यहां दर्शन शब्दसे प्रतीति अर्थ ही ग्राह्य है । जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानका समायोग होता है तब सम्यक्चारित्र प्रगट होता है ॥ ४॥

गाथार्थ—चारित्र के दो भेद हैं उनमेंसे पहला जिनेन्द्र—वीतराग सर्वज्ञदेवके ज्ञान और दर्शन से शुद्ध सम्यक्त्वचरण चारित्र है और दूसरा जिनेन्द्र देवके सम्यग्ज्ञान के द्वारा निरूपित संयम चरण चारित्र है॥ ५ ॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्वचरण चारित्रका दूसरा नाम दर्शनाचार चारित्र है । यह दर्शनाचार चारित्र सर्वज्ञ वीतरागक द्वारा प्रतिपादित ज्ञान और दर्शन से शुद्ध है अर्थात् आगे कहे जाने वाले पच्चोस दोषोंसे रहित है । तथा संयमचरण चारित्रका दूसरा नाम चारित्राचार है। यह चारित्राचार चारित्र जिनेन्द्र देवके सम्यग्ज्ञानके द्वारा अच्छी तरह निरुपित है । पच्चीस दोष इस प्रकार हैं—

मूढ़-त्रयम्—तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शङ्का आदि आठ दोष य सम्यग्दर्शन पच्चीस दोष हैं ॥ ५ ॥

गाथार्थ—ऐसा जानकर हे भव्य जीवो ! जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए तथा सम्यक्त्व में मल उत्पन्न करने वाले शङ्का आदि मिथ्यात्व के दोषोंका तीनों योगों से परित्याग करो॥ ६ ॥

विशेषार्थ—श्रीमान् भगवान अरहन्त सर्वज्ञ वीतराग देव ने पूर्व श्लोक में सम्यग्दर्शनके जिन पच्चीस दोषोंका निरूपण किया है उन्हें मनोयोग, वचनयोग और काय योग इन तीनों योगोंसे छोड़ो । लोक मूढता, पाखण्डि मूढता और देव-मूढताके भेदसे मूढता के तीन भेद हैं । उनमें से लोकमूढता का स्वरूप यह है—

सूर्यार्घो—सूर्य को अर्घ देना, ग्रहण के समय स्नान करना, संक्रान्ति में धनका खर्च करना, सन्ध्या सेवा, अग्निका सत्कार करना, देहली की पूजा करना, गाय के पृष्ठ भागको नमस्कार करना, उसके मूत्रका सेवन करना, रत्न सवारी, पृथिवी, वृक्ष, शस्त्र तथा पर्वत आदिकी सेवा करना, नदियों और समुद्र में स्नान करना, बालू और पत्थरोंका ढेर करना, पहाड से गिरना और अग्नि में पडना आदि लोकमूढ़ता कहलाती है ।

सग्रन्था—परिग्रह तथा आरम्भसे सहित एवं संसार-रूपी भंवर में पडे हुए पाषण्डियों—कुगुरुओंका सत्कार करना पाषण्डिमूढता जानना चाहिये ।

अब आठ मद कौन हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणाय ते अट्ठ ॥ ७ ॥

निःशङ्कितं निःकांक्षितं निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टिश्च।
उपगूहनं स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावना च ते अष्टौ ॥ ७ ॥

णिस्संकिय इत्यादि। निःशङ्कितं निर्भयत्वं परदर्शने जैनाभासे चामुक्तिमाननत्वं, अञ्जनचोरवज्जिनवचनमाननं च। *णिक्कंखिय* निष्कांक्षितं सम्यक्त्वव्रतादिफलेन राज्यदेवत्वेहभव-सुखेष्टजन-मेलापकत्वादिनिदानस्याकरणं। सीतानन्तमतिसुतारादिवद् व्रतदार्ढ्यं च। *णिव्विदिगिंछा* निर्विचिकित्सा रत्नत्रयपवित्रपात्रजन-शरीरमलादिदर्शनेन शूकाया अकरणं उद्दायन-महाराजवत्। *अमूढदिट्ठी य* अमूढदृष्टिश्च जिनवचनेऽशिथिलत्वं रेवती महादेवीवत्। *उवगूहण* उपगूहनं जिनधर्मस्थ-बालाशक्तजनदोषझम्पनं जिनेन्द्रभक्त-श्रेष्ठिवत्। *ठिदिकरणं* स्थितीकरणं सम्यक्त्वव्रतादेर्भ्रश्यज्जैनस्य तत्र स्थापनं पुष्पदन्तविप्रस्य वारिषेणवत्। *वच्छल्ल* वात्सल्यं धर्मस्थजनोपसर्गनिवारणं अकम्पनादेर्विष्णुकुमारमुनिवत् *पहावणा य* प्रभावना च जिनधर्मोद्योतनं परधर्मप्रभाव-विध्वंसनं च वज्रकुमारविद्याधरमुनिवत्। *ते अट्ठ* ते सम्यक्त्वगुणा अष्ट भवन्ति ॥ ७ ॥

ज्ञानं—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठको लेकर अहङ्कार करना सो आठ प्रकारका मद है।

अब छह अनायतन कौन हैं ? इसका उत्तर कहते हैं—

कुदेव—कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और उनके भक्तोंके घर जाना इन छहको आगम के ज्ञाता पुरुष छह अनायतन कहते हैं। परन्तु प्रभाचन्द्र छह अनायतनका इस प्रकार निरूपण करते हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये तीन तथा तीन इनके धारक पुरुष इस प्रकार छह अनायतन हैं। अथवा असर्वज्ञका आयतन, असर्वज्ञका ज्ञान, असर्वज्ञके ज्ञानसे युक्त पुरुष, असर्वज्ञका अनुष्ठान और असर्वज्ञके अनुष्ठानसे सहित पुरुष ये छह अनायतन हैं।

शङ्कादिक आठ दोष निम्न प्रकार हैं—१ शङ्का २ कांक्षा ३ विचिकित्सा ४ मूढदृष्टि ५ अनुपगूहन ६ अस्थितीकरण ७ अवात्सल्य और अप्रभावना ॥ ६ ॥

गाथार्थ—निःशङ्कित १ निःकांक्षित २ निर्विचिकित्सा ३ अमूढ-दृष्टि ४ उपगूहन ५ स्थितीकरण ६ वात्सल्य ७ और प्रभावना ८ ये आठ सम्यक्त्व के गुण हैं ॥ ७ ॥

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय ।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥ ८ ॥

तं चैव गुणविशुद्धं जिनसम्यक्त्वं सुमोक्षस्थानाय ।
यच्चरति ज्ञानयुक्तं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ॥ ८ ॥

तं चेव गुण विसुद्धं तच्चैव सम्यक्त्वं गुणविशुद्धं निःशङ्कितादिभिरष्टगुणैर्विशुद्धं निर्मलं । जिण सम्मत्तं जिन सम्यक्त्वं जगत्पतिश्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य सम्बन्धिनी श्रद्धा रुद्रादिः ज्ञानरहितं जिनसम्यक्त्वमुच्यते । रुद्रादिसम्यक्त्वं किम् ? तदुक्तं—

अग्निवत्सर्वभक्ष्योऽपि भवभक्तिपरायणः ।
मुक्तिं जीवन्नवाप्नोति मुक्तिं तु लभते मृतः॥

भवभक्ति-परायणो रुद्रभक्तिपरायणः । *सुमुक्खठाणाय* सुमोक्षस्थानाय तीर्थंकरपरमदेवो भूत्वा सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षस्थानं प्राप्नोति सुमोक्षस्थानं तस्मै सुमोक्षस्थानाय परमनिर्वाण-प्राप्त्यर्थमित्यर्थः । *जं चरइ णाणजुत्तं* यच्चरति यत्प्रतिपालयति यतिः । *णाणजुत्तं* ज्ञानयुक्तं सम्यक्त्वं ज्ञान-सहितं सम्यक्त्वं । अथवा क्रियाविशेषणमिदं । तेनायमर्थः ज्ञानयुक्तं यथा भवत्येवं चरति । *पढमं सम्मत्त-चरण-चारित्तं* द्वयोर्दर्शनाचारचारित्राचारयोर्मध्ये सम्यक्त्वाचारचारित्रं पढमं प्रथमं भवति ॥८॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्वका पहला गुण निःशङ्कित है। सप्तभयसे रहित होना अथवा बौद्ध आदि अन्य दर्शन और जैनाभास मतसे मुक्तिको नहीं मानना तथा अञ्जन चोरके समान जिनेन्द्र देवके वचनोंमें दृढ प्रतीति रखना निःशङ्कित गुण कहलाता है । दूसरा गुण निःकांक्षित है । सम्यक्त्व और व्रत आदिके फल स्वरूप राज्य, देवपर्याय, ऐहलौकिक सुख तथा इष्ट जनोंके मिलने आदिका निदान नहीं करना एवं सीता, अनन्तमति तथा सुतारा आदिके समान व्रतमें दृढता रखना निकांक्षित गुण कहलाता है । तीसरा गुण निर्विचिकित्सा है । रत्नत्रयसे पवित्र मुनिजनोंके शरीर सम्बन्धी मल आदिके देखने से उद्दायन महाराजके समान ग्लानि नहीं करना निर्विचिकित्सा कहलाती है ।

चौथा गुण अमूढ दृष्टि है । रेवती महादेवी के समान जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनों में शिथिलता नहीं करना अमूढदृष्टि गुण कहलाता है । पांचवां गुण उपगूहन है । जिनेन्द्र भक्त सेठके समान जिनधर्म में स्थित बालक तथा वृद्ध आदि असमर्थ जनोंके दोष छिपाना उपगूहन गुण कहलाता है । छठवां गुण स्थितीकरण है । जिस प्रकार पुष्पदन्त ब्राह्मण को वारिषेण ने दृढ़ किया था उसी प्रकार सम्यक्त्व और व्रत आदि से भ्रष्ट होते हुए

मनुष्यको फिरसे उसीमें स्थिर कर देना स्थितिकरण गुण कहा है। सातवां गुण वात्सल्य है। जिस प्रकार अकम्पन आदि मुनियोंका उपसर्ग विष्णुकुमार मुनि ने दूर किया था उसी प्रकार धर्मात्मा मनुष्य का उपसर्ग दूर करना वात्सल्य गुण कहलाता है। आठवां गुण प्रभावना है। वज्रकुमार नामक विद्याधर मुनिके समान जिनधर्मका उद्योत करना तथा अन्य धर्मके प्रभावका विध्वंस करना प्रभावना गुण कहलाता है। इस तरह निःशङ्कित आदि सम्यक्त्व के आठ गुण हैं ॥ ७ ॥

गाथार्थ—निःशङ्कितादि गुणोंसे विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिन-सम्यक्त्व कहलाता है तथा जिन-सम्यक्त्व ही उत्तम मोक्षरूप स्थान की प्राप्तिके लिये निमित्तभूत है। ज्ञान सहित जिन-सम्यक्त्वका जो मुनि आचरण करते हैं वह पहला सम्यक्त्व-चरण नामका चारित्र है।

विशेषार्थ—ऊपर के श्लोक में सम्यग्दर्शन के जिन निःशङ्कित आदि आठ गुणों का वर्णन किया गया है उनसे सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। यह निर्मल सम्यग्दर्शन ही जिन सम्यक्त्व कहलाता है। जिन-सम्यक्त्व में जगत्पति-श्रीमान्-भगवान्-अरहन्त-सर्वज्ञ वीतराग देवकी ही श्रद्धा रहती है। रुद्र आदि देवोंकी श्रद्धा नहीं रहती। जिसमें रुद्र आदि देवोंकी श्रद्धा रहती है वह रुद्रादि-सम्यक्त्व कहलाता है। रुद्र-सम्यक्त्वका धारक जीव ऐसा मानता है—

अग्निव्रत—भव अर्थात् रुद्रकी भक्तिमें तत्पर रहने वाला मनुष्य अग्निके समान सर्वभक्षी होनेपर भी जीवित रहता हुआ सब प्रकारके भोगोंको प्राप्त होता है और मरने पर मुक्ति को प्राप्त होता है। जिन—सम्यक्त्वका धारक पुरुष तीर्थंकर परमदेव होकर समस्त कर्मोंके क्षय रूप मोक्ष स्थानको प्राप्त होता है। सम्यक्त्वके साथ ज्ञान अवश्य होता है। उस ज्ञान सहित जिनसम्यक्त्व का जो आचरण होता है वह दर्शनाचार और चारित्राचार इन दो प्रकारके चारित्रोंमें पहला सम्यक्त्वाचार नामका चारित्र होता है। अथवा 'ज्ञानयुक्त' यह क्रियाविशेषण है। इस पक्ष में गाथाके उत्तरार्ध का ऐसा अर्थ समझना चाहिये—जो ज्ञान—पूर्वक जिन—सम्यक्त्वका आचरण करता है वह पहला सम्यक्त्व-चारित्र है ॥ ८ ॥

सम्मत्त चरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं॥ ९॥

सम्यक्त्वचरणशुद्धाः संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः।
ज्ञानिनः अमूढदृष्टयः अचिरं प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥९॥

सम्मत्तचरण सुद्धा सम्यक्त्वचरणे सम्यक्त्वचारित्रे ये सूरयः शुद्धाः सम्यक्त्वदोषरहिताः सम्यक्त्वगुणसहिताश्च भवन्ति। *संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा* संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः चारित्राचारे च सुप्रसिद्धाः सुष्ठु अतिशयेन प्रकर्षेण सिद्धं चारित्रं येषां ते सुप्रसिद्धा सर्वलोक विदिता वा सम्यक्त्व-पूर्वक-चारित्रप्रतिपालका इत्यर्थः। *णाणी अमूढदिट्ठी* ज्ञानिनोऽमूढदृष्टयश्च। *अचिरे पावंति णिव्वाणं* अचिरे स्तोककाले निर्वाणं प्राप्नुवन्ति। अत्र चारित्रस्य मुख्यत्वेऽपि सम्यक्त्वज्ञानयोरपि सामग्र्यमुक्तमिति भावः॥९

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए।
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य॥१०॥
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण॥११॥

वात्सल्यं विनयेन च अनुकम्पया सुदानदक्षया।
मार्गगुणसंशनया उपगूहनं रक्षणेन च॥१०॥
एतैः लक्षणैः च लक्ष्यते आर्जवैः भावैः।
जीव आराधयन् जिनसम्यक्त्वममोहेन॥११॥

एएहिं लक्खणेहिं य एतैर्लक्षणैः। जिनसम्यक्त्वम्। *आराहंतो* आराधयन्। *जीवो लक्खिज्जइ* जीव आत्मा लक्ष्यते ज्ञायते। न केवलमेतैर्भावैरपितु *अज्जवेहिं भावेहिं* आर्जवैर्भावैश्चाकुटिलपरिणामैश्चोपलक्ष्यते। केन कृत्वा लक्ष्यते? *अमोहेण* अमोहेनानज्ञानतया ज्ञानेन विचक्षणतया। विचक्षणं विना सम्यक्त्वाराधकं पुरुषं कोऽपि न जानाति सम्यक्त्वपरिणामस्यातिसूक्ष्मत्वात्। अथवा *अमोहेण* अमोघेन सफलजन्मना पुरुषेण। एतैः कैरित्याह—*वच्छल्लं* एकं तावद्वात्सल्यं धर्मिष्ठजनेषु स्नेहलत्वं सद्यः प्रसूतगौरिव वत्से वत्सलत्वेन सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते। *विणएण य* विनयेन च विनयगुणेन गुरुजनेष्वभ्युत्थानसम्मुखगमन–करमोटनपादवन्दनादिभिर्गुणैः सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते। *अणुकंपाए* अनुकम्पया दुःखितं जनं दृष्ट्वा कारुण्यपरिणामोऽनुकम्पा तया सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते। कथंभूतयानुकम्पया? *सुदाणदच्छाए* शोभनदानदक्षया दुःखितजनयोग्यदान-विशिष्टया। *मग्गगुण संसणाए* मार्गगुणशंसनया निर्ग्रन्थ–लक्षणो मोक्षमार्गः सग्रन्थो वस्त्रादिवेष्टितः कोऽपि मोक्षं न गच्छति इति मोक्षमार्गस्तवनेन सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते। *रक्खणाए य* मार्गाद्भ्रश्यज्जनस्थितीकरणेन सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते इति क्रियाकारकसम्बन्धः।

गाथार्थ—जो सम्यक्त्व-चरण से शुद्ध हैं अर्थात् निर्दोष सम्यग्दर्शन के धारक हैं, संयमचरण से अतिशय प्रसिद्ध हैं अर्थात् अत्यन्त निर्दोष चारित्र के धारक हैं, सम्यग्ज्ञानी हैं और अमूढदृष्टि हैं अर्थात् विवेकपूर्ण दृष्टिसे युक्त हैं, वे शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—जो पुरुष ऊपर कहे हुए सम्यक्त्व के पच्चीस दोषोंसे रहित हैं तथा निःशङ्कित आदि आठ गुणों से सहित हैं। संयमाचरण अर्थात् चारित्राचार के विषयमें अतिशय प्रसिद्ध हैं अथवा सर्वलोकमें विख्यात हैं, सम्यग्दर्शन-पूर्वक चारित्रके पालन करने वाले हैं, ज्ञानी हैं अर्थात् स्वपर-भेद-विज्ञान से सहित हैं और अमूढदृष्टि हैं वे अल्प समय में निर्वाण को प्राप्त होते हैं। यद्यपि इस गाथामें चारित्र की मुख्यता बतलाई है तथापि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी समग्रता भी प्रकटकी गई है। मोक्ष प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंकी अनिवार्यता आवश्यक है ॥९॥

गाथार्थ—अमोह-मोह रहित अथवा अमोघ यानी-सफल जन्मका धारक मनुष्य, वात्सल्य, विनय, उत्तमदान देनेमें समर्थ अनुकम्पा, मोक्षमार्ग के गुणोंकी प्रशंसा, उपगूहन, स्थितीकरण, और अकुटिल परिणाम; इन लक्षणों के द्वारा जिनप्रतिपादित सम्यक्त्वकी आराधना करनेवाले पुरुष को पहिचानता है।

विशेषार्थ—इन गाथाओं में कुन्दकुन्द स्वामी ने जिन-प्रतिपादित सम्यक्त्व की आराधना करने वाले जीव की पहिचान बताते हुए लिखा है कि सम्यक्त्वरूप परिणाम अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अतः उन्हें अमोह—अज्ञान से रहित विचक्षण-चतुर मनुष्य ही जान सकता है अथवा प्राकृत में घ के स्थान में ह होजाने के कारण अमोहेन का पर्याय अमोघेन लिया जाता है, अतः अमोघ-सफल जन्म वाला मनुष्य ही सम्यग्दृष्टि जीवको जान सकता है। जिन लक्षणों के द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव की पहिचान होती है उनमें वात्सल्य, विनय, उत्तमदान देनेमें दक्ष अनुकम्पा, मार्गगुण प्रशंसा, उपगूहन, रक्षण और आर्जव भावोंका उल्लेख किया है। इन वात्सल्य आदिका स्वरूप इस प्रकार है—जिसप्रकार तत्काल प्रसूता गाय अपने बछड़े पर स्नेह रखती है उसी प्रकार धर्मात्मा जीवों पर स्नेह रखना वात्सल्य है। गुरुजनों के आनेपर उठ कर खड़े होना, सम्मुखजाना, हाथ जोड़ना, चरण-वन्दना करना आदिको विनय कहते हैं। दुखी मनुष्यको देख कर करुणाभाव

उच्छाहभावणा संपसंससेवा कुदंसणे सद्धा ।
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि [1]जिणसम्मं ॥१२॥

उत्साहभावना संप्रशंसासेवाः कुदर्शने श्रद्धां ।
अज्ञानमोहमार्गे कुर्वन् जहाति जिनसम्यक्त्वम् ॥१२॥

उच्छाहभावणा संपसंससेवा मिथ्यादृष्टिकथिताचारे योऽसावुत्साह उद्यमस्तं, *संपसंस*—सम्यङ्मनसा वचसा च प्रशंसनं स्तुतिवचनं, सेवा-मिथ्यादृष्टेः करादिना स्पर्शनं *कुदंसणे सद्धा* मिथ्यादर्शने श्रद्धां रुचिं । अण्णाणमोहमग्गे न विद्यते ज्ञानं येषां तेऽज्ञाना स्तेषां मोघो निष्फलो मोहो वा संशयादि रूपं योऽसौ मार्गः संसारदुःखकारी धर्म स्तस्मिन्नज्ञानमोहमार्गे श्रद्धां रुचिं कुर्वन् । *जहदि जिणसम्मं* जिनसम्यक्त्वं जहाति मुञ्चति ॥४॥

उत्पन्न होना अनुकम्पा कहलाती है । यह अनुकम्पा दुखी मनुष्योंके योग्य दान देनेमें तत्पर रहती है । निर्ग्रन्थता ही मोक्षमार्ग है, परिग्रह सहित एवं वस्त्रादि से वेष्टित कोई भी मनुष्य मोक्षको प्राप्त नहीं होता; इस प्रकार मोक्षमार्गकी स्तुति करना मार्गगुण-प्रशंसा है । बालक तथा असमर्थ मनुष्यों के द्वारा उत्पन्न दोषों को छिपाना उपगूहन है, मार्गसे भ्रष्ट होते हुए मनुष्योंका स्थिती-करण करना रक्षण है और सरल परिणामी होना आर्जव भाव है । इन वात्सल्य आदि लक्षणों से सम्यग्दृष्टि जीव की पहिचान होती है ॥१०-११॥

गाथार्थ—जो मनुष्य मिथ्यात्वाचरण में उत्साह रखता है, उसीकी भावना करता है, मन वचन से उसकी प्रशंसा करता है, हाथ आदिसे मिथ्यादृष्टि की सेवा करता है, तथा अज्ञानी जीवोंके मोघ—निष्फल अथवा मोह—संशयादि—पूर्ण मार्गमें श्रद्धा करता है वह जिन-सम्यक्त्व को छोड़ देता है ।

विशेषार्थ—कौन जीव जिनसम्यक्त्व को छोड देता है इसका निरूपण करते हुए कहा गया है कि जो मिथ्यादृष्टि के कथित आचार में उत्साह अथवा उद्यम करता है, मन और वचन से उसकी स्तुति करता है, मिथ्यादृष्टि गुरु आदि की हाथ आदि से सेवा करता है, मिथ्यादर्शन में रुचि रखता है, तथा ज्ञान-हीन जीवोंके मोघ अर्थात् निष्फल अथवा मोह अर्थात् संशयादिरूप मार्गमें श्रद्धा करता है, वह जिनसम्यक्त्व को छोड़ देता है । अर्थात् जिन प्रतिपादित सम्यक्त्वसे भृष्ट होजाता है ॥१२॥

[1] जिणसम्मं क०।

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा ,
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण ॥ १३ ॥

उत्साहभावनासंप्रशंसासेवाः सुदर्शने श्रद्धाम् ।
न जहाति जिनसम्यक्त्वं कुर्वन् ज्ञानमार्गेण ॥ १३ ॥

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा ण जहदि जिणसम्मत्तं—उत्साह-उद्यमस्तं कुर्वन्निति सम्बन्धः । *भावणा* शरीरात्कर्मणश्चात्मा पृथग्वर्तते इति भेदभावना तां । *संपसंस*-सम्यक् प्रकारेण मनोवचनकर्मभिः प्रशंसामर्हदादीनां स्तुतिं कुर्वन् । *सुदंसणे* सम्यग्दर्शने रत्नत्रयलक्षणमोक्षमार्गे तत्त्वार्थे च श्रद्धां रुचिं कुर्वन् जिनसम्यक्त्वं न जहाति न त्यजति उत्साहादिकं । केन कृत्वा कुर्वन् ? णाणमग्गेण ज्ञानमार्गेण सम्यग्ज्ञानद्वारेण ॥ १३ ॥

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते ।
अह मोहं सारम्भं परिहर धम्मे अहिंसाए १४

अज्ञानं मिथ्यात्वं वर्जय ज्ञाने विशुद्धसम्यक्त्वे ।
अथ मोहं सारम्भं परिहर धर्मेऽहिंसायाम् ॥१४ ॥

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणं विसुद्धसम्मत्ते अज्ञानं वर्जय दूरीकुरु, कस्मिन् सति ? णाणे ज्ञाने सम्यग्ज्ञाने सति, अज्ञानस्य ज्ञानं प्रत्यनीकं ततः । मिथ्यात्वं वर्जय, कस्मिन् सति ? सम्यक्त्वे सति, मिथ्यात्वस्य सम्यग्दर्शनं प्रतिबन्धकं यतः । *अह* अथानन्तरं । *मोहं परिहर* परित्यज । कथंभूतं मोहं ? *सारंभं* सेवाकृषिवाणिज्याद्यारम्भसहितं । कस्मिन् सति ? धर्मे सति चारित्रे सति । तथारम्भं परिहर । कस्यां सत्याम् ? *अहिंसाए* अहिंसायां सत्यां पञ्चमहाव्रतानि रात्रिभोजनवर्जनषष्ठानि, सर्वाण्यहिंसानिमित्तं कथितानि यतः ॥ १४ ॥

गाथार्थ—जो ज्ञान-मार्ग अर्थात् सम्यग्ज्ञान के द्वारा सम्यक्त्व-चरणमें उत्साह रखता है, उसीकी भावना करता है, आत्माको शरीर और कर्मसे पृथक् समझता है, अर्हंत आदि की स्तुति करता है, सुगुरु आदिकी सेवा करता है, और सम्यग्दर्शन में रुचि रखता है वह जिन-सम्यक्त्वको नहीं छोड़ता है ॥ १३ ॥

विशेषार्थ—कौन जीव जिनसम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो सम्यग्ज्ञानके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीवके आचारमें उत्साह रखता है, शरीर और कर्मसे आत्मा पृथक् है, ऐसी भावना करता है, सम्यक् प्रकारसे मन वचन और काय की चेष्टाके द्वारा अर्हन्त आदिकी स्तुति करता है, स्नपन, पूजन, स्तवन, जपन तथा गुरु आदिके पादमर्दन आदिसे उनकी सेवा करता है और सम्यग्दर्शन, रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग अथवा तत्त्वार्थकी श्रद्धा करता है, वह जिन सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है ॥१३॥

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे ।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥ १५ ॥

प्रव्रज्यायां सङ्गत्यागे प्रवर्तस्व सुतपसि सुसंयमे भावे ।
भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे वीतरागत्वे ॥ १५ ॥

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट हे जीव ! त्वं प्रव्रज्यायां प्रवर्तस्व, कस्मिन् सति ? संगचाए—संगस्य वस्त्रादिपरिग्रहस्य त्यागे सति । तथा हे आत्मन् ! त्वं *सुतवे पयट्ट* सुतपसि प्रवर्तस्व । कस्मिन् सति ? *सुसंजमे भावे* शोभनसंयमपरिणामे सति । असंयमिनो मासोपवासादि-युक्तस्यापि सुतपोऽसद्भावात् । तथा *होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते* भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे पुत्रकलत्रमित्रधनादिव्यामोह-वर्जिते पुरुषे, यस्तु पुत्रादिमोहसहितो भवति तस्य विशिष्टं धर्म्यध्यानं शुक्लध्यान लेशोऽपि न भवति यतः तथा वीतरागत्वे सति सुविशुद्धध्यानं भवतीति तात्पर्यम् । उक्तं च योगीन्द्रदेव नाम्ना भट्टारकेण—

जसु हरिणच्छी हियवडइ तासु न बंभु विचारि ।
एक्कहि केम समंति बढ वे खंडा षडियारि ॥

'मूढस्य नालिय बढौ' इति प्राकृतव्याकरणसूत्रम् ।

गाथार्थ—हे भव्य ! सम्यग्ज्ञानके होने पर अज्ञानको, विशुद्ध सम्यग्दर्शनके होने पर मिथ्यात्वको और अहिंसा धर्मके होनेपर आरम्भ सहित मोहको छोड़ो ॥ १४ ॥

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान अज्ञानका विरोधी है अतः सम्यग्ज्ञान के होने पर अज्ञान को दूर करो । सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वका प्रतिबन्धक है अतः सम्यग्दर्शन के होने पर मिथ्यात्वका परित्याग करो और अहिंसा–धर्म चारित्र रूप है अतः उसके होने पर सेवा, कृषि, वाणिज्य आदिके आरम्भसे सहित मोहको छोडो । अहिंसाके होने पर पांच महाव्रत तथा रात्रि–भोजन–त्याग नामक छठवां अणुव्रत स्वयं हो जाते हैं क्योंकि ये सब अहिंसा के निमित्त कहे हैं ॥ १४ ॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू वस्त्रादि परिग्रहका त्याग होने पर दीक्षामें प्रवृत्त हो और उत्तम संयम भावके होने पर सुतप में प्रवृत्ति कर । जो मनुष्य निर्मोह होता है उसीके वीतरागताके होने पर उत्तम विशुद्ध ध्यान होता है ॥ १५ ॥

विशेषार्थ—यहां दीक्षा, सुतप और विशुद्धध्यान की उत्पत्तिके मूल कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि हे जीव ! तू वस्त्रादि परिग्रहका त्याग होनेपर मुनि-दीक्षा में प्रवृत्त हो क्योंकि वस्त्रादिकें रहते हुए मुनि दीक्षा संभव नहीं है । इसी प्रकार

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं ।

बज्झंति मूढजीवा मिच्छत्ता बुद्धिउदएण ॥ १६ ॥

मिथ्यादर्शनमार्गे मलिनेऽज्ञानमोहदोषाभ्याम् ।

वध्यन्ते मूढजीवाः मिथ्यात्वाबुद्धि-उदयेन ॥ १६ ॥

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे मिथ्यादर्शनमार्गे मलिने पापरूपे सति । कैः कृत्वा ? *अण्णाणमोह-दोसेहिं* अज्ञानं पञ्चमिथ्यात्व-लक्षणं, मोहः जैनाभासलक्षणः, अज्ञानं च मोहश्चाज्ञानमोहौ तावेव दोषौ ताभ्यामज्ञानमोहदोषाभ्यां बध्यन्ते पापैः वेष्ट्यन्ते । के ते ? *मूढ जीवा* अज्ञानिनः । केन कृत्वा ? *मिच्छत्ता-बुद्धिउदएण* मिथ्यात्वस्याबुद्धेश्चाज्ञानस्योदयेन प्रादुर्भावेन ॥ १६ ॥

अन्तरङ्ग में उत्तम संयमरूप परिणामके होने पर ही सुतप धारण कर क्योंकि असंयमी पुरुषके मासोपवास आदिसे युक्त होने पर भी सुतपका सद्भाव नहीं रहता। सांसारिक भोगोंकी आकांक्षासे रहित होकर केवल कर्म--निर्जरा के उद्देश से जो तप होता है वह सुतप कहलाता है। ऐसा सुतप संयम भावके प्रगट होने पर ही हो सकता है। विशिष्ट धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानका प्रारम्भिक अंश सुविशुद्धध्यान कहलाता है। यह निर्मोह-पुत्र स्त्री मित्र तथा धन आदिके व्यामोह से रहित पुरुषके होता है, इसके विपरीत जो पुरुष पुत्रादि के मोहसे सहित होता है उसके वह संभव नहीं है। निर्मोह मनुष्य के होने वाला वह सुविशुद्ध ध्यान भी वीतराग भावके होने पर ही होता है। यद्यपि पूर्ण वीतरा-गता दशम गुणस्थानके बादमें होती है तथापि आपेक्षिक वीतरागता छठवें गुण—स्थानसे ही स्वीकृत की गई है। रागी मनुष्यके सुविशुद्धध्यान नहीं होता. इस विषय में योगीन्द्र देव भट्टारक ने परमात्म-प्रकाश में कहा है—

जसु—अरे मूर्ख ! जिसके हृदयमें मृगनयनी स्त्री विद्यमान है उसके ब्रह्म—आत्म-ध्यान नहीं हो सकता, ऐसा विचार कर, क्योंकि एक म्यानमें दो तलवारें कैसे रह सकती हैं ?

दोहा में जो बढ शब्द आया है उसका अर्थ मूर्ख होता है क्योंकि 'मूढस्य नालिय बढौ' इस प्राकृत व्याकरणके सूत्रसे मूढ शब्दके स्थान में नालिय और बढ आदेश होते हैं ॥ १५ ॥

गाथार्थ—अज्ञान और मोहरूपी दोषों से मलिन मिथ्यामार्गमें विचरण करने वाले मूढजीव—अज्ञानी प्राणी, मिथ्यात्व और अज्ञानके उदयसे बन्धको प्राप्त होते हैं १६

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥१७॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान् ।
सम्यक्त्वेन च श्रद्धाति च परिहरति चारित्रजान् दोषान् ॥१७॥

सम्मद्दंसण पस्सदि सम्यग्दर्शनेन सत्तावलोकन-रूपेण विशेषमकृत्वा निराकाररूपेण पश्यति विलोकते। *जाणदि णाणेण* ज्ञानेन विशेषरूपेण साकाररूपेण ज्ञानेनात्मा जानाति। कान् पश्यति? कान् जानाति? *दव्व पज्जाया* द्रव्याणि जीवपुद्गल-धर्माधर्मकालाकाशांस्तथा पर्यायांश्च। जीवस्य नरनारकादयः क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, स्नेह पुण्यपापादयश्च पर्यायास्तान् पश्यते जानाति च। तथा पुद्गलस्य द्व्यणुकत्र्यणुकचतुरणुकपञ्चाणुकादिमहास्कन्धत्रैलोक्यपर्यन्ताः पर्यायास्तान् पश्यति जानाति च। धर्मस्य येन रूपेण जीवपुद्गलौ गतिं कुरुतस्तद्रूपाः पर्यायाः। तथाऽधर्मस्य पर्यायाः स्थितिरूपा जीवादीनां ज्ञातव्याः। कालस्य समयावलिप्रभृतयः पर्यायाः, उक्तञ्च—

[1]आवलि असंखसमया संखेज्जावलिहिं होइ उस्सासो।
सत्तुस्सासा थोओ सत्तथोओ लवो भणिओ ॥१॥
[2]अट्ठत्तीसद्धलवा नाली दो नालिया मुहुत्तं तु।
समऊणं तं भिण्णं अंतमुहुत्तं अणेयविहं ॥२॥

एकेन समयेन न्यूनो मुहूर्तो भिन्नमुहूर्तः कथ्यते। अन्तर्मुहूर्तस्त्वनेकप्रकारः। के तेऽनेकप्रकारा अन्तर्मुहूर्तस्येत्याह—आवल्युपरि एकःसमयोऽधिको यदा भवति तदा जघन्याऽन्तर्मुहूर्तो भवति। एवमावल्युपरि द्व्यादयः समयाश्चटन्ति ते सर्वेऽप्यन्तर्मुहूर्ता भवन्ति यावत्समयोनो मुहूर्तः। एवमहोरात्रपक्षमासर्त्वयनवर्ष पल्योपमसागरोपमावसर्पिण्युत्सर्पिण्यादयः कालस्य पर्याया ज्ञातव्याः। आकाशस्य तु पर्याया घटाकाशः पटाकाशः स्तम्भाकाश इत्यादय। *सम्मेण स सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे* सम्यक्त्वेन च श्रद्धाति रोचते, न केवलं श्रद्धत्ते परिहरदि य-परिहरति च। कान्? चरित्तजे दोसे—चारित्रजान् दोषानिति संबन्धः १७

विशेषार्थ—एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनयिक यह पांच प्रकारका मिथ्यात्व अज्ञान कहलाता है तथा पांच प्रकारके जैनाभासों की प्रवृत्ति करानेवाले विकारभावको मोह कहते हैं। इन दोनों दोषों से मिथ्यादर्शन रूपी मार्ग मलिन हो रहा है। इसमें विचरण करनेवाले अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और अबुद्धि—अज्ञान रूप दोषों के उदय होनेके कारण पापोंसे बद्ध होते हैं ॥१६॥

गाथार्थ—सम्यग्दृष्टि मनुष्य, दर्शन और ज्ञानके द्वारा द्रव्य तथा उनकी पर्यायोंको अच्छी तरह देखता और जानता है। सम्यक्त्व गुणसे उनकी श्रद्धा करता है और चारित्र सम्बन्धी दोषोंको दूर करता है॥ १७॥

१-२—जीवकाण्डे ५७३, ५७४ तमौ श्लोकौ

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स ।
णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥ १८ ॥

एते त्रयोऽपि भावा भवन्ति जीवस्य मोहरहितस्य ।
निजगुणमाराधयन् अचिरेणापि कर्म परिहरति ॥ १८ ॥

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स एते त्रयोऽपि भावाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणाः परिणामा भवन्ति जीवस्यात्मनः । कथंभूतस्य जीवस्य ? मोहरहितस्य चारित्रमोहात्पञ्चविंशतिभेदाद्रहितस्य वर्जितस्य । *णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ* निजगुणं शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मगुणं ज्ञानध्यानस्वरूपमाराधयन्नचिरेण स्तोककालेन कर्म परिहरति सिद्धो भवति ॥ १८ ॥

विशेषार्थ—इस गाथामें सम्यग्दृष्टि मनुष्यके दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणके कार्योंका उल्लेख किया गया है । यह घट है, यह पट है, इस प्रकारको विशेषता न करके निराकार रूपसे सत्ता मात्रके अवलोकन को दर्शन कहते है । यह घट हैं, यह पट है इस प्रकार की विशेषता को लिये हुए साकार सविकल्प रूपसे पदार्थको जानना ज्ञान है । सम्यग्दृष्टि मनुष्य अपने दर्शन और ज्ञान गुणके द्वारा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन द्रव्योंको तथा उनकी पर्यायोंको अच्छी तरह जानता है । जीव की नर नारकादिक तथा क्रोध मान माया लोभ मोह स्नेह पुण्य और पाप आदि पर्याय हैं । सम्यग्दृष्टि मनुष्य उन्हें सामान्य और विशेष रूपसे देखता तथा जानता है । द्वयणुक, त्र्यणुक, और पञ्चाणुक को आदि लेकर तीन लोकरूप महास्कन्ध-पर्यन्त अनेक पर्याय हैं सम्यग्दृष्टि उन सबको अच्छी तरह देखता और जानता है । धर्मद्रव्यके जिस रूपसे जीव और पुद्गल गमन करते हैं, वह धर्म द्रव्यकी पर्याय हैं, सम्यग्दृष्टि उन्हें अच्छी तरह देखता और जानता है । जीव आदिक द्रव्योंका जो स्थिति रूप परिणमन है वह अधर्म द्रव्यकी पर्याय हैं । सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें अच्छी तरह जानता है । समय तथा आवलि आदि काल द्रव्यकी पर्याय हैं । जैसा कि कहा गया है—

आवलि—असंख्यात समयकी एक आवलि होती है, संख्यात आवलियोंका एक उच्छ्वास होता है, सात उच्छ्वासका एक स्तोक होता है, सात स्तोक का एक लव होता है, साढे अड़तीस लवकी एक नाली होती है, दो नालियोंका एक मुहूर्त होता है, एक समय कम मुहूर्तको भिन्न-मुहूर्त कहते हैं । अन्तर्मूहूर्त अनेक प्रकार का होता है ।

वे अन्तर्मुहूर्तके अनेक प्रकार कौन हैं ? इसबातका स्पष्टीकरण करते हुए संस्कृत टीकाकार कहते हैं कि जब आवलि के ऊपर एक समय अधिक होता है तब जघन्य अन्त-

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च सासारिमेरुमित्ताणं।
सम्मत्त मणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा ॥ १६ ॥

संख्येयामसंख्येयगुणां सर्षपमेरुमात्रां णं।
सम्यक्त्वमनुचरन्तः कुर्वन्ति दुःखक्षयं धीराः ॥ १६ ॥

संखिज्जं संख्येयगुणां निर्जरां सम्यक्त्वं प्रतिपालयन्तो धीरा योगीश्वराः प्राप्नुवन्तीति। *असंखिज्जगुणं* असंख्येयगुणां निर्जरां। *अणुचरता* चारित्रं पालयन्तो धीरा योगीश्वराः। *करंति*–कुर्वन्ति तदनंतरं *दुक्खक्खयं करंति* सर्वकर्मक्षयादनन्तरं मोक्षं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। कथंभूतां संख्येयगुणामसंख्येयगुणां च निर्जरां *सासारिमेरु मित्ताणं* सर्षपमेरुमात्राम्। सम्यक्त्वनिर्जरायाः सकाशात् चारित्रनिर्जरा बहुतरेति भावः। *णं* इति वाक्यालंकारे ॥ १६ ॥

मुहूर्त होता है। इसी प्रकार आवलिके ऊपर दो आदि समय चढ़ते हैं वे सभी अन्तर्मुहूर्त कहलाते हैं। यह क्रम एक समय कम एक मुहूर्त तक चलता रहता है। इस प्रकार दिन रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, पूर्व, पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी आदि काल द्रव्यके पर्याय जानना चाहिये। आकाश के पर्याय घटाकाश, पटाकाश, तथा स्तम्भाकाश आदि हैं। सम्यग्दृष्टि जीव अपने सम्यक्त्व गुणके द्वारा इन द्रव्य तथा पर्यायों की श्रद्धा करता है तथा चारित्र में लगे हुए दोषोंका परिहार भी करता है ॥ १७ ॥

गाथार्थ—ये तीनों भाव–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप परिणाम मोह रहित जीवके होते हैं। निज गुणकी आराधना करने वाला पुरुष अल्प कालमें ही कर्मों का क्षय कर देता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्माके स्वभाव हैं तथा तीन प्रकार के दर्शन–मोह और पच्चीस प्रकारके चारित्र–मोहसे रहित जीवके होते हैं। जो पुरुष अपने एक शुद्ध बुद्ध स्वभावको लिये हुए ज्ञानध्यान स्वरूप आत्मगुण की आराधना करता है वह शीघ्र ही कर्मोंका क्षय करके सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

गाथार्थ—सम्यक्त्वका पालन करने वाले धीर वीर योगीश्वर कर्मोंको संख्यात-गुणी निर्जरा करते हैं और चारित्रका पालन करनेवाले धीरवीर योगीश्वर कर्मोंकी असंख्यात गुणी निर्जरा करते हैं। इस निर्जराके बाद वे दुःखोंका क्षय करते हैं। संख्यात-गुणी निर्जरा सरसों के बराबर है तो असंख्यात गुणी निर्जरा मेरु पर्वत के बराबर है ॥१९॥

विशेषार्थ—गुणश्रेणी निर्जराके कारण सम्यग् दर्शन तथा चारित्र गुण हैं। सातिशय मिथ्यादृष्टि जीवके जितनी निर्जरा होती है उससे संख्यात-गुणी निर्जरा सम्यग्दृष्टि जीवके होती है और इससे असंख्यात गुणी निर्जरा चारित्र गुणके प्रतिपालक धीर वीर

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे निरायारं ।
सायारं सग्गंथे परिग्गहा-रहिय खलु निरायारं ॥ २० ॥

द्विविधं संयमचरणं सागारं तथा भवेत् निरागारम् ।
सागार सग्रन्थे परिग्रहाद्रहिते निरागारम् ॥ २० ॥

दुविहं संजमचरणं द्विविधं संयमचरणं द्विप्रकारश्चारित्राचारः । कौ तौ द्वौ प्रकारौ ? *सायारं तह हवे निरायारं* सागारं तथा भवेन्निरागारं । सागारं कुत्र भवति ? *सायारं सग्गंथे* सागारं चारित्रं सग्रन्थे गृहस्थे भवति । तर्हि निरागारं चारित्रं कस्मिन् भवति ? *परिग्गहारहिय खलु निरायारं* परिग्रहाद्रहिते निर्ग्रन्थे निरम्बरे निरागारं चारित्रं वेदितव्यमित्यर्थः ।

अथ सागारचारित्राचारं निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः—

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य ।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ २१ ॥

दर्शनं व्रतं सामायिकं प्रोषधं सचित्तं रात्रिभुक्तिश्च ।
ब्रह्मचर्य आरम्भः परिग्रहः अनुमतिः उद्दिष्टः देशविरतश्च ॥ २१ ॥

अष्टौ मूलगुणाः । [1]के ते ? वट[2]फलानामभक्षणं १ पिप्पलफलवर्जनं २ 'प्लक्षो जटी पर्कटी स्यात्' तत्फलनिवारणं ३ उदुम्बरो जघनेफलामलयुः 'गूलर' इति देश्यात् तत्फल-निषेधः ४ कठंजर कठुम्बर 'अंजोर' इति देश्यात् तत्फलानामभक्षणं ५ मद्य-मांस-मधुनिषेध ६-७-८ इत्यष्टौ मूलगुणाः । अथवा—

मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफली विरति पंचकाप्तनुतीः[3] ।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥ १ ॥

सप्तव्यसनवर्जनं । उक्तं च—

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः ।
महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥ २ ॥

सम्यक्त्वप्रतिपालनं परशास्त्राणामश्रवणमिति विशुद्धमतिः । मूलकनालिका—पद्मिनीकन्द[4] लशुनकन्द-तुम्बकफलकुसुम्भ-शाक-कलिङ्गफल-सूरणकन्द-त्यागश्च । अरणी-पुष्पं वरणपुष्पं शोभाञ्जन कुसुमं करीरपुष्पं काञ्चनार पुष्पमिति पञ्चपुष्पत्यागः । [5]लवणतैलघृतयुक्तं फलं सन्धानकं मुहूर्तद्वयोपरि नवनीतं त्याज्यम् । मांसादिसेविनां भाण्डभाजनवर्जनं, चर्म-स्थितजल-स्नेह-हिंगुपरिहारः । अस्थि-सुराचर्ममांसरक्तपूयमलमूत्रमृताङ्गिदर्शनतः प्रत्याख्यातान्नसेवनाच्चाण्डालादिदर्शनात्तच्छब्दश्रवणाच्च भोजनं त्यजेत् । सुललित-पुष्पित-स्वादचलितमन्नं त्यजेत् । षोडश प्रहरादुपरि तक्रं दधि च त्यजेत् । द्विदलान्नमिश्रं दधि तक्रं स्वादितं सम्यक्त्वमपि मलिनयेत् । ताम्बूलौषधजलं रात्रौ त्यजेत् । एष सर्वोऽपि दर्शन-प्रतिमाचारः । *वय* द्वादशव्रतानि, अहिंसा स्थूलवधाद्विरमणं, सत्यं, स्थूलसत्यवचनं, स्थूलमचौर्यं,

---

१-ते. के, म० । २-वटफल नामफलं क० । ३-नुती म० ४-कन्दो क० ।
५-लवणतैलघृतघृतफलसन्धानकमुहूर्तद्वयोपरि नवनीतमांसादिसेविभाण्डभाजनवर्जनं म०

ब्रह्मचर्यं स्वदारसंतोषः परदारनिवृत्तिः, कस्यचित् सर्वस्त्रीनिवृत्तिः, परिग्रहपरिमाणव्रतं, दिग्विदिक्परिमाणविरतिः, अनर्थदण्डपरिहारः, भोगोपभोगपरिमाणमिति गुणव्रतत्रयम्, सामायिकं प्रोषधोपवासः, अतिथिसंविभागः, सल्लेखनामरणं चेति शिक्षाव्रतचतुष्टयम्। *सामाइय* त्रिकालसामायिकं। *पोसह* पर्वोपवासः। *सचित* सचित्तस्याभक्षणं, *राइभत्ते य* रात्रिभोजनपरिहारो दिवा ब्रह्मचर्यं, *बंभ* सर्वथा ब्रह्मचर्यं। *आरंभ* सेवाकृषिवाणिज्यादिपरिहारः। *परिग्गह* वस्त्रमात्रपरिग्रह-स्वीकारः सुवर्णादिवर्जनं। *अणुमण* विवाहादिकर्मानुपदेशः। *उद्दिट्ठ* उद्दिष्टाहारपरिहारः। *देस विरदो य* एवं सागार चारित्रम् ॥२१ ॥

योगीश्वरोंके होती है। चारित्र गुणके प्रतिपालक जीवोंके श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाले, दर्शनमोहका क्षय करनेवाले, उपशम श्रेणीवाले, उपशान्त मोह, क्षपकश्रेणी वाले, क्षीणमोह और जिन; इसप्रकार अनेक भेद हैं। इन सब स्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इस निर्जराके प्रभावसे योगीश्वर समस्त कर्मोंका क्षय कर दुःखों का क्षय करते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। संख्यातगुणी और असंख्यात गुणी निर्जरा का अनुपात बतलाते हुए कहा है कि संख्यात गुणी निर्जरा सरसों के बराबर है और असंख्यात गुणी निर्जरा मेरुके बराबर है अर्थात् सम्यग्दर्शनके प्रभाव से होने वाली निर्जराकी अपेक्षा चारित्रसे होने वाली निर्जरा बहुत है। गाथामें आया हुआ 'णं' शब्द वाक्यालंकार में प्रयुक्त हुआ है॥ १९॥

गाथार्थ—चारित्राचार के दो भेद हैं सागार और निरागार। सागार चारित्राचार परिग्रह-सहित गृहस्थ के होता है और निरागार चारित्राचार परिग्रह-रहित मुनिके होता है ॥ २० ॥

विशेषार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, और परिग्रह इन पांच पापोंसे विरक्ति होनेको संयम कहते हैं। यह विरक्ति एक देश और सर्व-देशके भेदसे दो प्रकार की होती है। एक देश विरक्तिसे विकल संयम प्रकट होता है और सर्व-देश विरक्तिसे सकल संयम। विकल संयम परिग्रहके धारक गृहस्थके होता है और सकल संयम परिग्रहके त्यागी मुनि के होता है॥ २० ॥

अब आगे श्री कुन्दकुन्दाचार्य सागार चारित्राचारका निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—दर्शन १ व्रत २ सामायिक ३ प्रोषध ४ सचित्त त्याग ५ रात्रिभुक्तित्याग ६ ब्रह्मचर्य ७ आरम्भ त्याग ८ परिग्रहत्याग ९ अनुमति त्याग १० उद्दिष्टत्याग ११ यह सब देशविरत अथवा सागार चारित्राचार है ॥ २१ ॥

विशेषार्थ—अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम की हीनाधिकता से देशविरत अथवा सागार चारित्राचारके दर्शन आदि ग्यारह भेद हैं। इनही को श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएं कहते हैं। सामान्यरूपसे दर्शन प्रतिमा-धारी श्रावकको आठ मूल-गुण धारण करने पड़ते हैं, सात व्यसनोंका त्याग करना होता है और सम्यग्दर्शन की भले प्रकार रक्षा करनी होती है। आठ मूल गुण कौन हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए संस्कृत टीकाकार ने दो मतोंका उल्लेख किया है प्रथम मतके अनुसार बड़, पीपल, पाकर, ऊमर और अंजीर इन पांच फलोंका तथा मद्य, मांस और मधु इन तीन मकारोंका त्याग करना आठ मूलगुण हैं। और द्वितीय मतके अनुसार मद्यपानका त्याग १ मांसत्याग २ मधुत्याग ३ रात्रिभोजन त्याग ४ पञ्चफलीत्याग ५ पञ्चपरमेष्ठो की नुति-देवदर्शन ६ जीवदया ७ और पानी छानना ८; ये आठ मूल गुण बतलाये हैं। सात व्यसनोंका उल्लेख करते हुए लिखा है—

द्यूतमांस—जुआ, मद्य, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री सेवन ये महापाप रूप सात व्यसन हैं, विद्वान् को इनका त्याग करना चाहिये।

सम्यक्त्वकी रक्षा करने के लिये अन्यमत मतान्तरों के शास्त्रोंका श्रवण न करके अपनी बुद्धिको विशुद्ध—निर्मल रखना चाहिये। ऊपर कहे हुए सामान्य आचरण के अतिरिक्त दर्शन प्रतिमा-धारी श्रावक को निम्न—लिखित बातोंपर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है—मूली, नाली, मृणाल, लहशुन, तुम्बीफल, कुसुम्भकी शाक, तरबूज और सूरणकन्दका भी त्याग करना चाहिये। अरणी, वरण, सोहजना, और करीर इन पांच प्रकारके फलोंका त्याग होता है। नमक, तैल, और घृत में रखेहुए फल, आचार-मुरब्बा, दो मुहूर्तके बादका मक्खन, तथा मांसादिका सेवन करने वाले लोगोंके बनाने और खाने के वर्तनों का त्याग करना पड़ता है। चमड़े में रखे हुए जल तैल और हींगका त्याग होता है। भोजन करते समय हड्डी, मदिरा, चमडा, मांस, खून, पीव, मल, मूत्र और मृत प्राणीके देखनेसे, त्यागी हुई वस्तुके सेवनसे, चाण्डालादि के देखने और उनके शब्द सुननेसे भोजन का त्याग करना चाहिये। घुने, भकूंडे (फूलनसे युक्त) और चलित स्वादवाले अन्नका त्याग करना चाहिये। सोलह प्रहरके बादके तक्र और दहीका त्याग करना चाहिये। द्विदलान्नके साथ मिलाकर खाये हुए दही और तक्र सम्यग्दर्शन को भी

मलिन कर देते हैं अतः इनका त्याग करना चाहिये। पान, औषध और पानीका भी रात्रि में त्याग करना चाहिये। यह सभी दर्शन प्रतिमाका आचार है।

दूसरी प्रतिमाका नाम व्रत प्रतिमा है इसमें निम्न–लिखित बारह व्रतोंका पालन करना होता है। पांच अणुव्रत–अहिंसाणुव्रत अर्थात् स्थूलहिंसा का त्याग करना, सत्याणुव्रत अर्थात् स्थूल सत्य वचन बोलना, अचौर्याणुव्रत अर्थात् स्थूल चोरीका त्याग करना, ब्रह्मचर्याणुव्रत अर्थात् अपनी एक स्त्रीमें संतोष रखना, अथवा अपनी अनेक स्त्रियोंमें संतोष रखते हुए परस्त्रीका त्याग करना, अथवा गृहविरत श्रावक की अपेक्षा सब प्रकार की स्त्रियोंका त्याग करना, परिग्रह परिमाणाणुव्रत अर्थात आवश्यकतानुसार परिग्रहकी सीमा निश्चित करना। तीनगुणव्रत–दिग्व्रत अर्थात् दिशाओं और विदिशाओंमें आने जाने की सीमा निर्धारित करना, अनर्थ-दण्ड-परिहार अर्थात् अपध्यान, दुःश्रुति, हिंसादान, पापोपदेश और प्रमाद–चर्या इन पांच निरर्थक कार्योंसे विरत रहना और भोगोपभोग परिमाण अर्थात् भोग तथा उपभोगकी संख्या निश्चित करना और चार शिक्षाव्रत–सामायिक, अर्थात् निश्चित समय तक पञ्च पापोंका त्याग करके समताभाव धारण करना, प्रोषधोपवास अर्थात् अष्टमी चतुर्दशीके दिन उपवास करना, अतिथिसंविभाग अर्थात् अतिथियोंके लिये चार प्रकार का दान देना, और सल्लेखनामरण अर्थात् अन्तिम समय सल्लेखना धारण करना तथा निरन्तर उसकी भावना रखना।

तीसरी सामायिक प्रतिमामें प्रतिदिन प्रातः मध्याह्न और सांयकाल सायायिक करना चाहिये।

चौथी प्रोषध प्रतिमा में प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को शक्ति-अनुसार उपवास करना चाहिये।

पांचवीं सचित्त-त्याग प्रतिमा में सचित्त-वस्तुओंके भक्षणका त्याग होता है।

छठवीं रात्रिभुक्ति-विरति प्रतिमामें रात्रिके समय भोजन करनेका त्याग करना अथवा दिनमें ब्रह्मचर्यकी रक्षा करना आवश्यक है।

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमामें स्त्री मात्रका त्याग होता है।

आठवीं आरम्भ-त्याग प्रतिमा में सेवा, कृषि, तथा व्यापार आदिका परित्याग होता है।

नौवीं परिग्रह-त्याग प्रतिमा में वस्त्रमात्र परिग्रह रखा जाता है तथा सुवर्णादिक धातुका त्याग होता है।

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि ।
सिक्खावय चत्तारि संजमचरणं च सायारं ॥ २२ ॥

पञ्चैवाणुव्रतानि गुणव्रतानि भवन्ति तथा त्रीणि ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि संयमचरणं च सागारं ॥ २२ ॥

पंचेवणुव्वयाइं पंचैवाणुव्रतानि भवन्ति । *गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि* गुणव्रतानि भवन्ति तथा त्रीणि । *सिक्खावय चत्तारि* शिक्षाव्रतानि चत्वारि भवन्ति । *संजमचरणं च सायारं* संयमचरणं च सागारं भवति । एतानि द्वादशव्रतानि पूर्वमेव सूचितानि ॥ २२ ॥

थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्ख थूले य ।
परिहारो परपिम्मे परिग्गहारंभपरिमाणं ॥ २३ ॥

स्थूले त्रसकायवधे स्थूलायां मृषायां तितिक्षास्थूले च ।
परिहारः परप्रेम्णि परिग्रहारम्भपरिमाणम् ॥ २३ ॥

थूले तसकायवहे स्थूले त्रसकायवधे । परिहार इति शब्दश्चनुर्षु सम्बध्यते । *थूले मोसे* स्थूलमृषावादे परिहारः । *तितिक्खथूले य* तितिक्षा-स्थूले चौर्यस्थूले परिहारः । *परिहारो परपिम्मे* परिहारः क्रियते, कस्मिन् ? परप्रेम्णि परदारे । *परिग्गहारम्भपरिमाणं* परिग्रहाणां सुवर्णादीनामारम्भाणां सेवाकृषि-वाणिज्यादीनां परिमाणं क्रियते ।

दशवीं अनुमति त्याग प्रतिमा में विवाह आदि कार्यों की अनुमतिका त्याग होता है ।

ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा में अपने उद्देश्यसे बनाये हुए आहारका परित्याग होता है ।

इस प्रकार यह देशविरत अर्थात् सागार चारित्रका वर्णन है ॥ २१ ॥

गाथार्थ—पांच अणुव्रत, तीन गुण-व्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारहव्रत गृहस्थ के संयमाचरण हैं ॥ २२ ॥

विशेषार्थ—पांच पापोंसे विरत होना व्रत है । वह व्रत एक देश और सर्व देशकी अपेक्षा दो प्रकारका होता है । लोक में जिन्हें पाप समझा जाता है ऐसे हिंसा आदि स्थूल पापोंसे विरत होनेको अणुव्रत कहते हैं वे पांच होते हैं । जो अणुव्रतोंका उपकार करें उन्हें गुणव्रत कहते हैं । गुणव्रत तीन होते हैं । जिनसे मुनिव्रत धारण करनेकी शिक्षा मिले उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं । सब मिलाकर गृहस्थ के बारह व्रत होते हैं इनका स्वरूप पहिले कह चुके हैं ॥ २२ ॥

गाथार्थ—स्थूल त्रसवध, स्थूल असत्य कथन, स्थूल चोरी और पर-स्त्रीका परिहार तथा परिग्रह और आरम्भका परिमाण ये पांच अणुव्रत हैं ।

दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं ।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ २४ ॥

दिग्विदिग्माणं प्रथमं अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयम् ।
भोगोपभोगपरिमाणं इदमेव गुणव्रतानि त्रीणि ॥

दिसिविदिसिमाण पढमं दिग्विदिङ्मानं परिमाणं प्रथमं गुणव्रतं ज्ञातव्यम् । *अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं* अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयं गुणव्रतं भवति । *भोगोपभोग-परिमा* भोगोपभोगपरिमाणं तृतीयं गुणव्रतं भवति । भोजनादिकं भोगः । वस्त्रस्त्रीप्रमुखमुपभोग इत्यर्थः । *इयमेव गुणव्वया तिण्णि* इदमेवाचरणं त्रीणि गुणव्रतानि भवन्ति ॥ २४ ॥

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तइयं अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहना अंते ॥ २५ ॥

सामायिकं च प्रथमं द्वितीयं च तथैव प्रोषधो भणितः ।
तृतीयमतिथि-पूज्यं चतुर्थं सल्लेखना अन्ते ॥ २५ ॥

सामायिकं च पढमं सामायिकं च प्रथमं शिक्षाव्रतं । चैत्यपञ्चगुरुभक्तिसमाधिलक्षणं दिनं प्रति एक वारं द्विवारं त्रिवारं वा व्रत-प्रतिमायां सामायिकं भवति । यत्तु सामायिकप्रतिमायां सामायिकं प्रोक्तं तत्त्रीन् वारान् निश्चयेन करणीयमिति ज्ञातव्यम् । *विदियं च तवेह पोसहं भणियं* द्वितीयं च तथैव प्रोषधोपवासं शिक्षाव्रतं भणितं प्रतिपादितं अष्टम्यां चतुर्दश्यां च । तदपि त्रिविधं, चतुर्विधाहारपरिवर्जनमुत्कृष्टं, जल-सहितं मध्यमं, आचाम्लं जघन्यं प्रोषधोपवासं भवति यथाशक्ति कर्तव्यम् । *तइयं च अतिहिपुज्जं* तृतीयं चातिथिपूज्यं, न विद्यते तिथिः प्रतिपदादिका यस्य सोऽतिथिः अथवा [1]संयम-यात्रार्थमतति गच्छति उद्दण्ड-चर्यां करोतीत्यतिथिः स पूज्यो नव [2]पुण्य सप्तगुण-समन्वितेन श्रावकेण यस्मिन् शिक्षाव्रते तदतिथि-पूज्यं । *चउत्थ सल्लेहणा अन्ते* चतुर्थं शिक्षाव्रतमन्ते मरणकाले सल्लेखना कायकषायतनूकरणमिति तात्पर्यम् ॥२५॥

विशेषार्थ—स्थूल रूपसे त्रस जीवों की हिंसाका त्याग करना अहिंसाणुव्रत है। स्थूलरूपसे असत्य कथनका त्याग करना सत्याणुव्रत है। स्थूल रूपसे चोरीका त्याग करना अचौर्याणुव्रत है। पर-प्रियाका त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है और सुवर्णादि परिग्रह तथा सेवा, खेती और व्यापार आदिका परिमाण करना परिग्रह परिमाणाणुव्रत है २३

गाथार्थ—दिशाओं और विदिशाओंका प्रमाण करना पहला गुणव्रत है। अनर्थ-दण्डका त्याग करना दूसरा गुणव्रत है और भोग तथा उपभोग का परिमाण करना तींसरा गुणव्रत है, इस प्रकार ये तीन गुणव्रत हैं ॥ २४ ॥

विशेषार्थ—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर ये चार दिशाऐं हैं तथा ऐशान, आग्नेय

१-संयमलाभार्थं म० । २-नव गुल म० ।

नैऋत्य वायव्य, ऊर्ध्व और अधो ये छह विदिशाएं हैं। इनमें आने जानेकी सीमा निश्चित करना सो पहला दिग्व्रत नामका गुणव्रत है। दूसरे गुणव्रतका नाम अनर्थदण्ड त्यागव्रत है इसमें अपध्यान, दुःश्रुति, पापोपदेश, हिंसादान और प्रमादचर्या इन पांच निरर्थक कार्यों का त्याग करना होता है। भोगोपभोग परिमाण नामका तीसरा गुणव्रत है। जो वस्तु एक वार भोगने में आती है उसे भोग कहते हैं जैसे भोजन आदिक तथा जो वस्तु वार वार भोगनेमें आती है उसे उपभोग कहते हैं जैसे वस्त्र तथा स्त्री आदि। इनकी सीमाएं निर्धारित करना भोगोपभोग परिमाणव्रत है। ये तीन गुणव्रत हैं॥ २४ ॥

गाथार्थ—पहला सामायिक, दूसरा प्रोषध, तीसरा अतिथि-पूज्य और चौथा मरण कालमें सल्लेखना धारण करना ये चार शिक्षाव्रत हैं॥ २५ ॥

विशेषार्थ—सामायिक नामका पहला शिक्षाव्रत है। इसमें चैत्य-भक्ति, पञ्चपरमेष्ठी भक्ति और समाधि भक्ति करना चाहिये। व्रत प्रतिमा में जो सामायिक होता है वह दिनमें एक वार दो वार अथवा तीन वार होता है। परन्तु सामायिक प्रतिमामें जो सामायिक कहा गया है, वह नियमसे तीन वार करना चाहिये।

दूसरा शिक्षा-व्रत प्रोषधोपवास कहा गया है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको यह व्रत करना पड़ता है। प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है। अन्न-पान-खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उत्कृष्ट प्रोषधोपवास है। जिसमें पर्वके दिन जल लिया जाता है, वह मध्यम प्रोषधोपवास है और जिसमें आचाम्लाहार किया जाता है वह जघन्य प्रोषधोपवास है।

तीसरा शिक्षाव्रत अतिथिपूज्य अथवा अतिथि—संविभाग है। जिसे प्रतिपदा आदि तिथियोंका विकल्प न हो उसे अतिथि कहते हैं अथवा संयमकी प्राप्तिके लिये जो भ्रमण करते हैं अर्थात् अनुद्दिष्ट आहार की प्राप्तिके लिये जो श्रावकोंके घर चर्या करते हैं उन मुनियोंको अतिथि कहते हैं। जिसमें नवधा [1]भक्ति और सात गुणोंसे सहित श्रावक के द्वारा उक्त अतिथि की पूजा की जाती है—उसे आहारादिसे सन्तुष्ट किया जाता है, वह अतिथि पूज्य नामका शिक्षाव्रत है।

चौथा शिक्षाव्रत सल्लेखना है। मरण समय काय और कषायको कृश करना सल्लेखना है।

[गुणव्रत और शिक्षाव्रतके नामोंमें विभिन्न मत पाये जाते हैं। सर्व प्रथम कुन्दकुन्द स्वामी ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण इन तीनको गुणव्रत

१—प्रतिग्रह, उच्चासन, चरणप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मन-वचन-काय-भोजन की शुद्धि।

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥ २६ ॥

एवं श्रावकधर्मं संयमचरणं उपदेशितं सकलम् ।
शुद्धं संयमचरणं यतिधर्मं निष्कलं वक्ष्ये ॥ २६ ॥

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं एवममुना प्रकारेण श्रावकधर्मलक्षणं संयमचरणं चारित्राचारः, उपदेशितं भवन्तः कुर्वन्त्विति प्रतिपादितं, सकलं समग्रं परिपूर्णं, किंचिद् विशेषरूपं तु न प्रतिपादितमित्यर्थः । उक्तञ्च—

विल्वाबुलाफले च त्रिभुवनविजयी शिलीध्रकं न सेवेत[1] ।
आ पञ्चदशतिथिभ्यः पयोऽपि वत्सोद्भवात्समारभ्य ॥१॥

तथा च—

दतिप्रायेसु पानीयं स्नेहं च कुतुपादिषु[2] ।
व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चाव्रतोचिताः ॥ २ ॥

त्रिभुवनविजयीति भंगा तदुपलक्षणं सूक्ष्मकणन्वचाहिफेनादीनाम् । शिलीध्रकं गोमयच्छत्रं केतकीपुष्पदण्डिका च । चर्मतुलादिधृतं गुडादिकं नादेयम् । अभ्युत्तणाच मनादिकं च विशेषशास्त्रोक्तं ज्ञातव्यम् । *सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे* शुद्धं परिपूर्णविशुद्धिसहितं यतिधर्मं निष्कलङ्कं वक्ष्ये कथयिष्यामि इति वचनाच्छ्रावकधर्मस्य च तारतम्येनोत्कृष्टता सूचिता भवतीति ज्ञातव्यम् ॥ २६ ॥

माना है । इसीं मतका उल्लेख समन्तभद्र स्वामी ने किया है परन्तु तत्वार्थ-सूत्रकार उमास्वामी ने दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थदण्ड—व्रत को गुणव्रत माना है । प्रायः यही मान्यता उत्तरवर्ती आचार्योंने स्वीकृत की है । श्री कुन्दकुन्द स्वामीके मतानुसार चार शिक्षाव्रतोंके नाम इस प्रकार हैं—सामायिक—प्रोषधोपवास, अतिथि-संविभाग और सल्लेखना । समन्त भद्र स्वामी ने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्यको शिक्षाव्रत माना है । तथा उमास्वामी महाराज ने सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि-संविभागको शिक्षाव्रत कहा है । कुन्दकुन्द स्वामी ने देशव्रत का उल्लेख गुणव्रतों में किया है और कुन्दकुन्द स्वामीकी सल्लेखनाको शिक्षाव्रत सम्बन्धी मान्यता अन्य आचार्यों को सम्मत नहीं हुई क्योंकि सल्लेखना मरण काल में ही धारण की जा सकती है और शिक्षाव्रत सदा धारण करना पडता है । इस दृष्टिसे अन्य आचार्योंने सल्लेखना का बारह व्रतके अतिरिक्त वर्णन किया है । इसके स्थान पर उमास्वामीने अतिथिसंविभाग को और समन्तभद्र स्वामी ने वैयावृत्यको शिक्षाव्रत स्वीकृत किया है । वैयावृत्य शब्द अतिथि संविभागका ही विस्तृत रूप है ।]

१--सेवते म० । २--कुतपादिषु क० म० 'कुतुः कृतेः स्नेहपात्रं सैवाल्पा कुतुपः पुमान्' इत्यमरः ।

पंचिंदियसंवरणं पंचवया पंचविसकिरियासु।
पंचसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं निरायारं ॥ २७ ॥

पञ्चेन्द्रियसंवरणं पञ्चव्रताः पञ्चविंशतिक्रियासु।
पञ्चसमितयः तिस्रो गुप्तयः संयमचरणं निरागारम् ॥ २७ ॥

पंचिंदियसंवरणं पञ्चानामिन्द्रियाणां संवरणं कूर्मवत्संकोचनं। *पंचवया* पञ्चव्रताः। व्रत शब्दस्य पुम्पुंसकत्वमुक्तमस्ति तेनात्र पुंस्त्वं सूचितं। तांस्तु विवरिष्यति। *पंचविंस किरियासु* पञ्चविंशतौ क्रियासु सतीषु। ते पञ्च व्रता भवन्तीति भावः। *पंच समिदि* पंच समितयो भवन्ति। *तय गुत्ती*-तिस्रो गुप्तयः *संजम चरणं निरायारं* निरागारमनगारं चारित्राचारो भवतीति द्वारगाथा वेदितव्या ॥ २७ ॥

गाथार्थ—इस प्रकार समस्त श्रावकधर्म-सम्बन्धी संयमाचरण चरित्राचारका कथन किया, अब शुद्ध और निष्कलङ्क मुनिधर्मसम्बन्धी चारित्राचार का कथन करूंगा ॥ २६ ॥

विशेषार्थ—यहां श्रावकके बारह व्रतोंका सामान्य वर्णन किया है विशेषरूप से वर्णन नहीं किया है। श्रावक-सम्बन्धी विशेष क्रियाओं को इस प्रकार जानना चाहिये—

बिल्वालाबु—श्रावकको बेल, तुम्बीफल, भांग, शिलीध्रक-बरसातमें गोबरके ऊपर उत्पन्न होने वाली छत्राकार वनस्पति जिसे कुकरमुत्ता कहते हैं, नहीं खाना चाहिये। इसी प्रकार बछडा उत्पन्न होनेके दिनसे पन्द्रह दिन तक भेंस आदिका दूध भी नहीं पीना चाहिये त्रिभुवन-विजयी भांगको कहते हैं उसे यहां उपलक्षण मात्र समझना चाहिये इसलिये खस खस दानेके वकल तथा अफीम आदि नशीली वस्तुओंका सेवन श्रावक को नहीं करना चाहिये। केतकी केवडा के फूल भी श्रावकको वर्जनीय हैं।

दृति—चमडेकी मशक आदिमें रखा हुआ पानी, और चमडेकी छोटी छोटी कुप्पियों में रखा हुआ तेल भी व्रती मनुष्यको छोडना चाहिये। व्रती मनुष्य अव्रती मनुष्यों के योग्य धर्महीन स्त्रियोंका सेवन भी नहीं कर सकता है। चमडे की तराजूसे तोला हुआ गुड़ आदि भी व्रती मनुष्य को ग्राह्य नहीं है। व्रती पुरुष को सामायिक या पूजा आदिके प्रारम्भमें अन्य लोगोंके समान अभ्युक्षण अर्थात् अपने ऊपर जलके छींटे देना तथा आचमन अर्थात् चुल्लू में जल भर कर चाटना आदि क्रियाएं नहीं करनी चाहिये। अभ्युक्षण और आचमन आदिका व्याख्यान विशेष शास्त्रोंसे जानना चाहिये।

इस प्रकार श्रावक का धर्म-श्रावक-सम्बन्धी चारित्राचारका वर्णन करनेके बाद श्री कुन्दकुन्द स्वामी परिपूर्ण विशुद्धिसे सहित एवं निष्कलङ्क मुनिधर्मके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। उनके इस कथनसे श्रावक तथा मुनिधर्मका तारतम्य-हीनाधिकभाव अनायास प्रकट हो जावेगा ॥ २६ ॥

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ।
ण करेइ रायदोसे पंचिंदियसंवरो भणिओ ॥ २८ ॥

अमनोज्ञे च मनोज्ञे सजीवद्रव्ये अजीवद्रव्ये च ।
न करोति रागद्वेषौ पंचेन्द्रियसंवरो भणितः ॥ २८ ॥

अमणुण्णे य अमनोज्ञे चासुन्दरे च *मणुण्णे* मनोज्ञे मनोहरे । *सजीव दव्वे* इष्टवनितादौ । *अजीव दव्वे य* अजीव द्रव्ये चाचेतनद्रव्ये अशन -वसन- कनक काचादिके *ण करेदि रायदोसे* न करोति रागद्वेषं । मनोज्ञे रागं न करोति । अमनोज्ञे द्वेषं न करोति । *पंचिंदियसंवरो भणिओ* पंचेन्द्रियसंवरो भणितः प्रतिपादितः ॥ २८ ॥

आगे पंचेन्द्रियसंवरका स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—पञ्चेन्द्रियोंको वश में करना, पच्चीस क्रियाओंके रहते हुए पञ्च महाव्रत धारण करना, पञ्च समितियोंका पालन करना और तीन गुप्तयोंको धारण करना मुनियोंका संयम—चारित्र है ॥ २७ ॥

विशेषार्थ—स्पर्शन आदि पञ्च इन्द्रियोंको कछुएकी तरह संकुचित करना अर्थात् जिस तरह विपत्ति देख कछुआ अपने सब अवयवों को संकुचती कर पीठके नीचे कर लेता है उसी प्रकार मुनि भी अपनी स्पर्शनादि इन्द्रियोंको सब ओर से हटा कर आत्म-स्वरूप में संकुचित कर लेते हैं । पच्चीस क्रियाओं, पांच महाव्रत तथा तीन गुप्तियोंका वर्णन कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं आगेकी गाथाओं में करेंगे ॥ २७ ॥

गाथार्थ—मनोज्ञ और अमनोज्ञ चेतन तथा अचेतन पदार्थोंमें रागद्वेष नहीं करना पञ्चेन्द्रिय-संवर कहा गया है ॥ २८ ॥

विशेषार्थ—स्पर्शनेन्द्रिय के विषय—आठ प्रकार के स्पर्श हैं—१ शीत २ उष्ण ३ स्निग्ध ४ रूक्ष ५ कोमल ६ कड़ा ७ लघु और ८ भारी । रसना इन्द्रियके विषय पांच प्रकारके रस हैं । १खट्टा २मीठा ३कडुआ ४कषायला और ५चर्परा । घ्राणेन्द्रियके विषय दो गन्ध हैं—१ सुगन्ध और २ दुर्गन्ध । चक्षुरिन्द्रियके विषय पांच प्रकारके वर्ण हैं—१ काला २ पीला ३ नीला ४ लाल और ५ सफेद । कर्णेन्द्रियके विषय सात प्रकारके स्वर हैं—१ षड्ज २ ऋषभ ३ गान्धार ४ मध्यम ५ पञ्चम ६ धैवत और ७ निषाद । ये सब विषय इष्ट अनिष्ट के भेदसे दो दो प्रकारके हैं । इष्ट विषयों में राग नहीं करना और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष नहीं करना; पञ्चेन्द्रिय संवर अथवा पञ्चेन्द्रियदमन कहलाता है॥२८॥

अथ पंचवया इत्येतत्पदविवरणार्थमाह-

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥२६॥

हिंसाविरतिरहिंसा असत्यविरतिरदत्तविरतिश्च।
तुरीयमब्रह्मविरतिः पञ्चमं संगे विरतिश्च ॥२६॥

हिंसाविरइ अहिंसा हिंसाविरतिरहिंसा प्राणातिपातविरतिर्भवति। *असच्चविरई* असत्यविरतिर्द्वितीयं महाव्रतं भवति। *अदत्तविरई य* अदत्ताविरतिश्चादत्ताद्विरतिरदत्तविरतिस्तृतीयं महाव्रतं भवति। *तुरियं अबंभविरई* अब्रह्मविरति मैथुनाद्विरमणं *तुरियं*—चतुर्थं महाव्रतं ज्ञातव्यम्। "चतुरो यदीयौ चलोपश्चेति" सूत्रसाधुत्वात्। *पंचमसंगम्मि विरई य* पंचमं महाव्रतं भवति। का? सङ्गे परिग्रहे विरतिश्च परिग्रहाद्विरमणमित्यर्थः ॥२६॥

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं।
जं च महल्लाणि तदो महल्लया इत्तहे ताइं ॥३०॥

साधयन्ति यन्महान्तः आचरितं यन्महत्पूर्वैः।
यच्च महान्ति ततः महाव्रतानि एतस्माद्धेतोः तानि ॥३०॥

साहंति जं महल्ला साधयन्ति यद्यस्मात्कारणात् प्रतिपालयन्ति। के ते? महल्ला-महान्तो गुरूणामपि गुरवः पुरुषः। *आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं* आचरितमाद्दतं वा यद्यस्मात् कारणात् महल्लपुव्वेहिं-महद्भिः गुरुभिः पूर्वैः चिरन्तनाचार्यैः वृषभादिभिमहावीर--पर्यन्तैः वृषभसेनादिगौतमान्त- गणधरैश्च जम्बूस्वामिपर्यन्तैश्च। *जं च महल्लाणि* यच्च यस्मात्कारणात् महल्लाणि-स्वयं महान्ति गुरुतराणि। *तदो महल्लया इत्तहे* ततस्तस्मात्कारणात् इत्तहे—एतस्याद्धेतोः तानि महाव्रतानीत्युच्यन्ते ॥३०॥

आगे पांचव्रतोंका वर्णन करते हैं-

गाथार्थ—हिंसाविरति अर्थात् अहिंसा, असत्यविरति, अदत्तविरति, अब्रह्मविरति और सङ्गविरति ये पांचव्रत हैं ॥२९॥

विशेषार्थ—त्रस और स्थावर—दोनों प्रकारके जीवोंके प्राणघातसे विरत होना सो अहिंसा महाव्रत है। असत्य वचन से विरत होना सो सत्यमहाव्रत है। विना दी हुई वस्तुके ग्रहण से विरत होना अदत्तत्याग अथवा अचौर्य महाव्रत है। स्त्रीसेवन से विरति होना सो अब्रह्मत्याग अथवा ब्रह्मचर्य महाव्रत है और परिग्रह का सर्वथा त्याग होना सो परिग्रह त्याग महाव्रत है ॥२९॥

आगे महाव्रत नामकी सार्थकता बतलाते हैं—

गाथार्थ—चूंकि महापुरुष इनका साधन करते हैं, पूर्ववर्ती महापुरुषों ने इनका आचरण किया है, और स्वयं ही ये महान् हैं अतः इन्हें महाव्रत कहते हैं ॥३०॥

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो ।
अवलोयभोयणाए हिंसाए भावणा होंति ॥३१॥

वचोगुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः सुदाननिक्षेपः ।
अवलोक्य भोजनेन अहिंसाया भावना भवन्ति ॥३१॥

वयगुत्ती वचोगुप्तिरेका । *मणगुत्ती* मनोगुप्तिर्द्वितीया भावना । *इरियासमिदी* ईर्यासमितिस्तृतीया भावना । *सुदाणणिक्खेवो* आदाननिक्षेपः पुस्तककमण्डल्वादिकमुपकरणं पूर्वं विलोक्य मृदुना मयूरपिच्छेन प्रतिलिख्य गृह्यते ध्रियते च सुदान-निक्षेप उच्यते । *अवलोयभोयणाए* अवलोक्य पुनः पुनः दृष्ट्वा भोजनं क्रियतेऽवलोक्य भोजनं तेन विलोक्य भोजनेन । प्राकृते लिङ्गभेदः नपुंसकस्य स्त्रीत्वं एता अहिंसामहाव्रतस्य पंचभावना भवन्तीति वेदितव्यम् ॥३१॥

आगे सत्य महाव्रत की पांच भावनाएं कहते हैं—

कोहभयहासलोहा मोहा विवरीयभावणा चेव ।
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥ ३२ ॥

क्रोधभयहासलोभमोहा विपरीतभावनाः चेव ।
द्वितीयस्य भावना इमाः पञ्चैव च तथा भवन्ति ।। ३२ ॥

कोहभयहासलोहामोहा क्रोधश्च भयंच हासश्च लोभश्च मोहश्च क्रोधभयहासलोभमोहाः । *विवरीय भावणा चेव* विपरीतभावनाश्चैव । एतेषां पञ्चानां विपरीतभावनाः अक्रोधनः, अभयः, अहासः, अलोभः, अमोहश्चेति । उक्तं च गौतमेन भगवता—

विशेषार्थ—अहिंसा आदिको महाव्रत क्यों कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कुन्दकुन्दस्वामोने तीन हेतु दिये हैं । प्रथम हेतु में उन्होंने कहा है कि चूँकि महापुरुष अर्थात् गुरुओं के भी गुरु श्रेष्ठ जन इनका साधन करते हैं इसलिये इन्हें महाव्रत कहते है । दूसरे हेतु में उन्होंने कहा है कि चूँकि पूर्ववर्ती बड़े २ आचार्यों ने, भगवान् वृषभदेव को आदि लेकर महावीर पर्यन्त तीर्थंकरों ने, वृषभसेन को आदि लेकर गौतमान्त गणधरों ने तथा जम्बूस्वामी पर्यन्त सामान्य केवलियों ने इनका आचरण किया है, इनका आदर किया है इसलिये इन्हें महाव्रत कहते हैं । और तीसरे हेतु में कहा है कि ये स्वयं महान् हैं—अत्यन्त श्रेष्ठ हैं इसलिये महाव्रत कहे जाते हैं ॥३०॥

गाथार्थ—वचन-गुप्ति, मनो-गुप्ति, ईर्या-समिति आदान-निक्षेप समिति और आलोकित-पान ये पांच अहिंसाव्रत की भावनाएं हैं ॥ ३१ ॥

विशेषार्थ—वचन गुप्ति अर्थात् वचन को रोकना, मनोगुप्ति अर्थात् मनको रोकना ईर्या समिति अर्थात् चार हाथ भूमि देख कर चलना' सुदाननिक्षेप अर्थात् पुस्तक कमण्डलु आदि उपकरणों को पहले देख कर तथा मयूरपिच्छी से साफ कर उठाना धरना और

अकोहणो अलोहो य भयहस्सविवज्जिदो ।
अणुवीचीभासकुसलो विदियं वदमस्सिदो ॥ १ ॥

अत्रामोह- शब्देनानुवीचीभाषाकुशल इति लभ्यते । वीची वाग्लहरी तामनुकृत्य या भाषा वर्तते सानुवीचीभाषा, जिनसूत्रानुसारिणी भाषा अनुवीचीभाषा पूर्वाचार्यसूत्र परिपाटीमनुल्लङ्घ्य भाषणीय-मित्यर्थः । उक्तं उमास्वामिभट्टारकेण—

'क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पञ्च" विदियस्स भावणाए द्वितीयस्य महाव्रतस्य भावनाः । *ए* इमाः पंचभावनाः । *होंति* भवन्ति ॥ ३२ ॥

आगे आचौर्यमहाव्रत की पांच भावनाएं कहते हैं—

सुण्णायारनिवासो विमोचितावास जं परोधं च ।
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मी संविसंवादो ॥ ३३ ॥

शून्यागारनिवासो विमोचितावासो यत् परोधं च ।
एषणाशुद्धिसहितं सधर्मसमविसंवादः ॥ ३३ ॥

सुण्णायारनिवासो शून्यागारेषु गिरिगुहातरुकोटरादिषु निवासः क्रियते तथा सति अचौर्यव्रत-भावना प्रथमा भवति । *विमोचितावास* उद्वसग्रामादिषु विमोचितावासेषु धाटयादिभिरुद्वसेषु कृतेषु निवासः क्रियतेऽचौर्यव्रतस्य भावना द्वितीया भवति । *जं परोधं च* परेषामुपरोधो न क्रियते भाटकाद्यधिकं [1]स्वामिनो दत्वा स्वयं न निरुध्यते ऽचौर्यव्रत--भावना तृतीया भवति परोपराधस्याकरणमित्यर्थः । *एसणसुद्धिसउत्तं* एषणाशुद्धिसंयुक्तं सहितं, आगमानुसारेण भैक्ष्यशुद्धिरचौर्यव्रतभावना चतुर्थी भवति । *साहम्मीसंविसंवादो* सधर्मणां संमुखो भूत्वा सम्यक्प्रकारेण विसंवादो विगतसंवादो विवादो न क्रियतेऽचौर्यव्रतभावना पञ्चमी भवति ॥ ३२ ॥

अवलोक्य भोजन अर्थात् वार वार देख कर भोजन ग्रहण करना ये पांच अहिंसा महाव्रत की भावनाए हैं ॥ ३१ ॥

गाथार्थ—अक्रोध, अभय, अहास, अलोभ और अमोह ये द्वितीय-सत्य महाव्रत को पांच भावनाएं हैं ॥ ३२ ॥

विशेषार्थ—असत्य बोलनेके कारण निम्न प्रकार हैं- क्रोध, भय, हास्य लोभ और मोह । इनसे विपरीत अक्रोध, अभय, अहास्य, अलोभ और अमोह की भावना होना सत्य महाव्रत की पांच भावनाएं हैं । भगवान गौतम ने भी ऐसा ही कहा है ।

अकोहणो—द्वितीय सत्य महाव्रत को धारण करने वाला पुरुष अक्रोधन-क्रोध से रहित, अलोभ—लोभ रहित, भय-विवर्जित, हास्य विवर्जित और अनुवीची भाषा में कुशल होता है । मूल गाथा में जो अमोह शब्द है उसीसे अनुवीची-भाषा-कुशल यह अर्थ प्राप्त होता है । वीची पूर्वाचार्योंकी वचन रूप तरङ्ग को कहते हैं उसका अनुसरण करते हुए

---

[1]-स्वामिना म० ।

आगे ब्रह्मचर्य महाव्रतको पांच भावनाएं कहते हैं--

महिलालोयणपुव्वरइ सरणसंसत्तवसहिविकहाहि ।
पुट्ठिय रसेहिंविरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥ ३४ ॥

महिलालोकनपूर्वरतिस्मरणसंसक्तवसति विकथाभिः ।
पुष्टरसैः विरतः भावनाः पञ्चापि तुर्ये ॥ ३४ ॥

महिलालोयण महिलाया आलोकनं स्त्री-मनोहराङ्ग-निरीक्षणं तस्माद्विरतः पराङ्मुखः । *पुव्वरइसरण* पूर्वरत स्मरणं पूर्वं या स्त्रीभिः क्रीड़ा तस्याः स्मरणं चिन्तनं तस्माद्विरतः । *संसत्तवसहि* स्त्रीणां समीपतरे या वसतिर्निवासः तस्माद्विरतः निजशरीरसंस्कार-रहित इत्यर्थः । *विकहाहि* विकथाया विरतः स्त्रीरागकथा विवर्जित इत्यर्थः । *पुट्ठिय रसेहिं विरओ* पुष्टिकररसस्य सेवा-रहितः वृष्यरसस्यानास्वादक इत्यर्थः यस्मिन् रसे सेविते [1]वृषवत् शण्डवत् कामी भवति स रसो वृष्यः कथ्यते वाजीकरणरसं न सेवते । *भावण पंचावि तुरियम्मि* एताः पंचापि भावनास्तुरीये चतुर्थे ब्रह्मचर्यव्रते भवन्ति ॥ २४ ॥

जो भाषा बोली जाती है वह अनुवीची भाषा कहलाती है । अनुवीचि-भाषाका स्पष्ट अर्थ यह है कि जिनागमके अनुसार वचन बोलना । सत्य महाव्रत के धारक पुरुषको सदा पूर्वाचार्योंके द्वारा लिखित शास्त्र-परम्परा का उल्लङ्घन न करके ही वचन बोलना चाहिये ।

उमास्वामी भट्टारक ने भी कहा है -

क्रोध---क्रोधत्याग, लोभत्याग, भयत्याग, हास्यत्याग, और अनुवीची-भाषण ये पांच सत्यव्रत को भावनाएं हैं ॥ ३२ ॥

गाथार्थ—शून्यागार निवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, एषणाशुद्धि सहित, और सधर्माविसंवाद ये पांच अचौर्य महाव्रत की भावनाएं हैं ॥ ३३ ॥

विशेषार्थ—शून्यागार अर्थात् पर्वतों की गुफाओं और वृक्षों की कोटरों आदिमें निवास करना अचौर्यव्रत की पहली भावना है । जो गांव राजाओंके आक्रमण आदिसे उजड़ हो जाते हैं–वहांके निवासी लोग अपना स्वामित्व छोड़ अन्यत्र चले जाते हैं उन्हें विमोचितावास कहते हैं, ऐसे आवासों में निवास करना अचौर्यमहाव्रत की दूसरी भावना है । परोपरोधाकरण ठहरते समय दूसरों को रुकावट नहीं करना, मालिक को अधिक भाड़ा आदि देकर स्वयं किसी स्थानको न घेरना यह अचौर्य महाव्रतकी तीसरी भावना है एषणाशुद्धिसे सहित होना अर्थात् चरणानुयोग के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना-उसमें किसी प्रकार के दोष नहीं लगाना अचौर्यमहाव्रत की चौथी भावना है। और सहधर्मियोंके संमुख होकर सम्यक् प्रकारसे विसंवादका अभाव करना अर्थात् 'यह वस्तु हमारी है' 'यह तुम्हारी है' इस प्रकार विवाद नहीं करना अचौर्यमहाव्रत की पांचवीं भावना है ॥ ३३ ॥

१–वृषभवत् क० ।

आगे परिग्रह त्याग महाव्रत की पांच भावनाएं कहते हैं —

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु ।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥ ३५ ॥

अपरिग्रहे समनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु ।
रागद्वेषादीनां परिहारो भावना भवन्ति ॥ ३५ ॥

अपरिग्गहसमणुण्णेसु अपरिग्रहव्रते, अत्र लुप्तविभक्तिक पदम् । समणुण्णेसु-समनोज्ञेषु मनोज्ञसहितेषु अमनोज्ञेषु चेति शेषः । *सद्दपरिसरसरूवगंधेसु* शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । *रायद्दोसाईणं* रागद्वेषादीनां रागस्य द्वेषस्य च । आदिशब्दात्पादपूरणमेव । मनोज्ञेषु विषयेषु रागो न क्रियतेऽमनोज्ञेषु विषयेषु द्वेषो न क्रियते । इति रागद्वेषपरिहारः पञ्च भावना भवन्तीति ज्ञातव्यम् ॥३५॥

आगे पांच समितियोंका वर्णन करते हैं—

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंच समिदीओ ॥ ३६ ॥

ईर्या भाषा एषणा या सा आदानं चैव निक्षेपः ।
संयमशोधिनिमित्तं ख्यान्ति जिनाः पञ्च समितीः ॥ ३६ ॥

गाथार्थ—महिलालोकन विरति, पूर्वरतिस्मरणविरति, संसक्तवसति विरति, विकथा विरति और पुष्टिरस सेवन-विरति ये पांच ब्रह्मचर्य महाव्रतकी भावनाएं हैं ॥ ३४ ॥

विशेषार्थ—स्त्रियोंके मनोहर अङ्गोंके देखने से विरत होना, पहले स्त्रियोंके साथ जो क्रीडा की थी उसके स्मरणसे विरत रहना, स्त्रियोंके अत्यन्त निकटवर्ती वसतिका में रहनेका त्याग करना और अपने शरीरकी सजावटसे दूर रहना, स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओंका त्याग करना, और जिस रसके सेवन करने पर वृष अर्थात् सांडके समान मनुष्य कामी हो उठता है ऐसे पुष्टि-कारक रस रसायन आदिके सेवनका त्याग करना ये पांच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएं है ॥ ३४ ॥

गाथार्थ—मनोज्ञ और अमनोज्ञ भेदसे युक्त शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध इन पञ्च इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेषका त्याग करना परिग्रह त्यागव्रतकी पांच भावनाएं हैं ।

विशेषार्थ—शब्द आदि पञ्च इन्द्रियोंके इष्ट विषयों में राग नहीं करना और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष नहीं करना ये पांच अपरिग्रह व्रतकी भावनाएं हैं । गाथामें आया हुआ 'अपरिग्गह' शब्द लुप्तविभक्ति वाला पद है, इसलिये उसका सप्तम विभक्ति रूप अर्थ करना चाहिये । इसी प्रकार 'रायद्दोसाईणं' में जो आदि पद है वह पाद-पूर्तिका ही कारण है ॥ ३५ ॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने संयम की शुद्धिके निमित्त ईर्या, भाषा, एषणा,

इरिया ईर्या समितिः चतुर्हस्तवीक्षितमार्गगमनम्। *भासा* भाषासमितिः आगमानुसारेण वचनं *एसण* एषणा समितिः चर्मणाऽस्पृष्टस्योद्गमादिदोष-रहितस्य भोजनस्य पुनः पुनः शोधितस्य प्रासुकस्य भोजनस्य ग्रहणं या समितिर्भवति सा तृतीया समितिः। *आदाण चेव* आदानं चैव यत्पुस्तककमण्डलुप्रभृतिकं गृह्यते तत्पूर्वं निरीक्ष्यते पश्चान्मृदुना मयूरपिच्छेन प्रतिलिख्यते पश्चात् गृह्यते चतुर्थी समितिर्भवति। *णिक्खेवो* यत्किंचिद् वस्तु पुस्तककमण्डलुमुख्यं क्वचिन्निक्षिप्यते मुच्यते ध्रियते तन्निक्षेप-स्थानं दृष्ट्वा तथैव प्रतिलिख्य च ध्रियते। मयूर-पिच्छस्यासन्निधाने मृदुवस्त्रेण कदाचित्तथा क्रियते निक्षेपणा नाम्नी पंचमी समितिर्भवति। *संजम सोहि णिमित्ते* एतत्समितिपंचकं संयमस्य महाव्रत-पञ्चकस्य शोधिनिमित्तं भवति। यो मयूरपिच्छवर्जितः साधुः स मासोपवासादिकं कुर्वन्नपि न शुद्ध्यतीति श्री कुन्दकुन्दभगवदभिप्रायः। *खंति जिणा पंच समिदीओ* ख्यान्ति प्रकथयन्ति, के ? जिना-तीर्थंकरपरमदेवाः सामान्यकेवलिनः श्रुतकेवलिनश्चेति भावः। किं ख्यान्ति ? पंच समिदीओ पञ्चसमितीरिति तात्पर्यार्थः। विस्तरस्तु वट्टकेर [1]वीरनन्द्यादिविरचिताचारग्रन्थेषु ज्ञातव्यः॥ ३६॥

आदान और निक्षेप इन पांच समितियोंका वर्णन किया है॥ ३६॥

विशेषार्थ—चार हाथ तक देखे हुए मार्गमें गमन करना ईर्या समिति है। आगमके अनुसार वचन बोलना भाषा समिति है। चमडेसे विना छुए तथा उद्गम और उत्पादादि दोषोंसे रहित प्रासुक आहारको वार वार शोधकर ग्रहण करना एषणा समिति है। पुस्तक कमण्डलु आदि जिस उपकरण को ग्रहण करना है उसे पहले अच्छी तरह देखा जाता है और फिर बादमें मयूर-पोछीसे उसका मार्जन किया जाता है, यह चौथी आदान समिति है। और पुस्तक कमण्डलु आदि जो वस्तु छोडी तथा रखी जाती है उसे रखनेका स्थान देखकर तथा मयूर-पीछीसे मार्जन कर रखना पांचवीं निक्षेपणा समिति है। कदाचित् मयूरपीछी पासमें न हो तो (समीप में विद्यमान क्षुल्लक के) कोमल वस्त्रसे भी परिमार्जन होता है परन्तु यह कादाचित्क अर्थात् किसी खास परिस्थिति में है। सामान्य रूपसे साधुको मयूर पिच्छीसे युक्त होना ही चाहिये। जो साधु मयूर पिच्छीसे रहित है वह मासोपवास आदि करता हुआ भी शुद्ध नहीं होता है, यह कुन्दकुन्द भगवान् का अभिप्राय है। ये पांच समितियां पांच महाव्रतों की शुद्धि के निमित्त हैं इसलिये जिन अर्थात् तीर्थंकर परमदेव, सामान्य केवली और श्रुत केवली इनका कथन करते हैं। यहां पांच समितियोंका संक्षेप से वर्णन किया है, इनका विस्तार श्री वट्टकेर तथा वीरनन्दी आदि आचार्योंके द्वारा विरचित आचार ग्रन्थोंमें—मूलाचार, चारित्रसार आदि ग्रन्थोंमें जानना चाहिये।

(अन्य ग्रन्थोंमें ईर्या १ भाषा २ एषणा ३ आदाननिक्षेपण ४ और उत्सर्ग ५ इस प्रकार पांच समितियां बतलाई हैं परन्तु यहां कुन्दकुन्द स्वामी ने आदान और निक्षेप

१—वट्टकेरल म०।

आगे 'ज्ञानरूप आत्मा है' यह कहते हैं–

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं।

णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेह ॥ ३७ ॥

भव्यजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैर्यथा भणितम्।

ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं आत्मानं तं विजानीहि ॥ ३७ ॥

भव्वजणबोहणत्थं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रत्नत्रयप्राप्ति-योग्या ये ते भव्यजनास्तेषां बोधनार्थं सम्बोधननिमित्तं। *जिणमग्गे* जिनस्य श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञस्य मार्गे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षिते मोक्षमार्गे। *जिणवरेहिं जह भणियं* श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञैर्यथा भणितं प्रतिपादितं। किं तद्भणितम्? *णाणं णाणसरूवं* ज्ञानं व्यवहारनयेन सम्यग्ज्ञानं तथा ज्ञानस्य स्वरूपं स्वभावः। उक्तं च समन्तभद्रेण [१]कविना ज्ञानस्य स्वरूपम्-

[२]*अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।*

निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।

ईदृग्विधं ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं च निश्चयनयेन। *अप्पाणं तं वियाणेह* आत्मानं तज्ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं च हे भव्य! त्वं विजानीहि सम्यग्विचारयेति क्रियाकारकसम्बन्धः ॥ ३७ ॥

को पृथक् २ समिति मानकर उत्सर्ग समितिको निक्षेप समितिमें गर्भित कर दिया है।

गाथार्थ—भव्य जीवोंको समझानेके लिये जिन-मार्गमें जिनेन्द्र देवने ज्ञानका जैसा स्वरूप कहा है उस ज्ञान-स्वरूप आत्माको जाने ॥ ३७ ॥

विशेषार्थ—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयकी प्राप्ति के योग्य होते हैं, वे भव्य कहलाते हैं। उन भव्य जीवोंको समझानेके लिये श्रीमान् भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ देवके मार्गमें अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप लक्षणसे युक्त मोक्षमार्गमें श्रीमान् सर्वज्ञ भगवान् ने व्यवहार नयसे सम्यग्ज्ञानका जैसा स्वरूप कहा है उस ज्ञानस्वरूप आत्मा का हे भव्य! तू अच्छी तरह विचार कर।

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कवि श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा है–

अन्यून—जो पदार्थको न्यूनता रहित, अधिकता-रहित, ज्योंका त्यों विपरीत भाव तथा सन्देहके विना जानता है उसे आगमके ज्ञाता सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

निश्चय नयसे गुण और गुणीमें अभेद रहता है अतः आत्मा उक्त सम्यग्ज्ञान रूप ही है ऐसा जानना चाहिये ॥ ३७ ॥

गाथार्थ—जो जीव और अजीवके विभागको जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है, रागादि दोषोंसे रहित है और जिन शासनमें मोक्षमार्ग रूप कहा गया है ॥ ३८ ॥

१–महाकविना म०। २–र० क० समन्तभद्रस्य।

आगे सम्यग्ज्ञानीका लक्षण कहते हैं--

जीवाजीवविहत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी ।
रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गुत्ति ॥ ३८ ॥

जीवाजीवविभक्तिं यो जानाति स भवेत्संज्ञानः ।
रायादिदोषरहितो जिनशासने मोक्षमार्ग इति ॥ ३८ ॥

जीवाजीव विहत्ती जीवस्यात्मद्रव्यस्य, अजीवस्य पुद्गल-धर्माधर्मकालाकाशलक्षणस्य पञ्चभेदस्य विभक्तिं विभजनं विहत्तमिति देश्यात् । *जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी* यो जानाति स भवेत् सज्ज्ञानः । *रायादिदोस रहिओ* स ज्ञानी कथंभूतः ? रागादिदोषरहितः रागद्वेषमोहादिदोषरहितः । *जिणसासणेमोक्ख मग्गुत्ति* जिनशासने मोक्षमार्ग इति ॥ ३८ ॥

दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए ।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥ ३९ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रं त्रीण्यपि जानीहि परमश्रद्धया ।
यद्ज्ञात्वा योगिनो अचिरेण लभन्ते निर्वाणम् ॥ ३९ ॥

दंसणणाणचरित्तं दर्शनज्ञानचारित्रं । *तिण्णवि जाणेह परमसद्धाए* त्रीण्यपि जानीहि परमश्रद्धया प्रकृष्टरुच्या । *जं जाणिऊण जोई* यद्दर्शनज्ञानचारित्रं ज्ञात्वा योगिनः । *अइरेण लहंति णिव्वाणं* अचिरेण स्तोककालेन लभन्ते प्राप्नुवन्ति । किं तत् ? निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षमिति ॥ ३९ ॥

पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता ।
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥ ४० ॥

प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ताः ।
भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥ ४० ॥

पाऊण णाणसलिलं प्राप्य ज्ञानसलिलं लब्ध्वा सम्यग्ज्ञानपानीयं *णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता*

विशेषार्थ—आत्मद्रव्यको जीव द्रव्य कहते हैं, पुद्गल तथा धर्म, अधर्म, काल और आकाशके भेदसे अजीव पांच प्रकार का है । जो इन दोनोंके भेद-पार्थक्यको जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है । वह सम्यग्ज्ञानी राग, द्वेष और मोह आदि दोषोंसे रहित है तथा अभेद नयसे वह स्वयं मोक्षमार्ग है ॥ ३८ ॥

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंको परमश्रद्धा से जानो । क्योंकि इन्हें जानकर योगी शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

विशेषार्थ—कुन्दकुन्द स्वामी भव्य जीवोंको प्रेरणा करते हैं कि हे भव्य जीवो ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंको उत्कृष्ट रुचि-पूर्वक जानो क्यों कि इन्हें जानकर योगी-मुनिराज थोड़े ही समयमें सर्व कर्म क्षयरूप मोक्षको पा लेते हैं ।

निर्मलो निरतिचारः, सुविशुद्धो रागद्वेषमोहादिरहितः, भावो निजात्मपरिणामस्तेन संयुक्ताः सहिताः पुरुषाः। *होंति सिवालयवासी* भवन्ति शिवालयवासिनः सर्वकर्मक्षयलक्षणनिर्वाणपदनिवासिनो भवन्ति। *तिहुवणचूडामणी सिद्धा* त्रिभुवनचूडामणयस्त्रैलोक्यशिरोरत्नानि ते पुरुषाः सिद्धा भवन्ति-आत्मोपलब्धिमन्तो भवन्ति ॥ ४०॥

णाणगुणेहि विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं।
इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि ॥ ४१ ॥

ज्ञानगुणैर्विहीना न लभन्ते ते स्विष्टं लाभम्।
इति ज्ञात्वा गुणदोषौ तत् सज्ज्ञानं विजानीहि ॥ ४१ ॥

णाण गुणेहि विहीणा ज्ञानमेव गुणो जीवस्योपकारकः पदार्थस्तेन विहीना रहिताः। *ण लहंते सुइच्छिलाहं* न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति ते सुष्ठु इष्टं लाभं मोक्षं। उक्तञ्च—

[२]णाणविहीणहं मोक्खपउ जीव म कासु वि जोइ।
बहुयइं सलिलविरोलियइं करु चोप्पडउ न होइ ॥ १ ॥

इय णाउं गुणदोसं इति पूर्वोक्तप्रकारेण गुणं दोषं च ज्ञात्वा ज्ञानस्य गुणं, अज्ञानस्य दोषं विज्ञाय। तं सण्णाणं वियाणेहि तत्तस्मात्कारणात्, सत् समीचीनं, ज्ञानं विजानीहीति तात्पर्यार्थः ॥४१॥

गाथार्थ—सम्यग्ज्ञान रूपी जलको पाकर निर्मल और विशुद्धभाव से सहित पुरुष मोक्ष-महलके वासी, त्रिभुवनके चूडामणि सिद्ध होते हैं ॥ ४० ॥

विशेषार्थ—जो मनुष्य सम्यग्ज्ञान रूपी जलको पाकर निरतिचार एवं रागद्वेष मोहादिसे रहित स्वकीय आत्म परिणामसे युक्त होते हैं वे समस्त कर्मोंका क्षयकर निर्वाण रूपी प्रासाद में निवास करते हैं। तीन लोकके अग्रभागमें निवास करनेसे चूडामणिके समान जान पडते हैं और आत्मोपलब्धिसे युक्त होने कारण सिद्ध कहलाते हैं ॥ ४० ॥

गाथार्थ—ज्ञान गुणसे हीन जीव अत्यन्त इष्ट लाभको प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार गुण और दोषको जानकर उस सम्यग्ज्ञानको अच्छी तरह जानो ॥ ४१ ॥

विशेषार्थ—ज्ञान गुण ही जीवका उपकारक पदार्थ है उससे रहित मनुष्य अतिशय इष्ट जो मोक्ष रूपी लाभ है उसे नहीं प्राप्त कर सकते। जैसा कि कहा है—

गाथा—ज्ञानसे हीन मनुष्य मोक्षको प्राप्त नहीं हो सकते सो ठीक ही है क्योंकि पानीके बिलोने से हाथ चीकना नहीं होता।

इसप्रकार ज्ञानके गुण और अज्ञानके दोष जानकर सम्यग्ज्ञानको अच्छीतरह जानो।

१-'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादिदोषापहारात्। योग्योपादानयुक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धिः।'—सिद्धभक्तौ पूज्यपादः। २-परमात्मप्रकाशे योगीन्द्रदेवस्य।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥४२॥

चारित्रसमारूढ आत्मनः परं न ईहते ज्ञानी ।
प्राप्नोत्यचिरेण सुखमनुपमं जानीहि निश्चयतः ॥४२॥

चारित्तसमारूढो चारित्रसमारूढश्चारित्रं प्रतिपालयन् पुमान् । *अप्पासु परं ण ईहए णाणी* आत्मनः सकाशात् परमिष्टं स्रग्वनितादिकं न ईहते न वाञ्छति, कोऽसौ ? ज्ञानी ज्ञानवान् पुमान् । उक्तञ्च—

समसुख शीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः ।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः ॥१॥

पावइ अइरेण सुहं प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेन सुखमनन्तसौख्यम् । *अणोवमं जाण णिच्छयदो* कथंभूतं सुखम् ? अनुपममुपमारहितं जानीहि हे भव्य ! त्वं णिच्छयदो–निश्चयतः निःसन्देहान्निश्चयनयाद्वा ॥४२॥

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयरागेण ।
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ॥४३॥

एवं संक्षेपेण च भणितं ज्ञानेन वीतरागेण ।
सम्यक्त्वसंयमाश्रयद्वयोरपिउद्देशितं चरणम् ॥४३॥

एवं संखेवेण य एवममुना प्रकारेण संक्षेपेण च । *भणियं णाणेण वीयराएण* भणितं प्रतिपादितं णाणेण ज्ञानेन ज्ञानरूपेण ज्ञानस्वभावेन केवलज्ञानिना सर्वज्ञेन वीतरागेण रागद्वेषमोहादिभिरष्टादश-

---

गाथार्थ—जो ज्ञानी पुरुष चारित्र का पालन करता हुआ आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थ की इच्छा नहीं करता वह शीघ्र ही अनुपम सुख को प्राप्त होता है, ऐसा निश्चय से जानो ॥४२॥

विशेषार्थ—चारित्र पर आरूढ हुआ अर्थात् चारित्रका पालन करता हुआ ज्ञानी पुरुष आत्मासे अतिरिक्त माला तथा स्त्री आदि अन्य इष्ट पदार्थों की इच्छा नहीं करता सो ठीक हो है क्योंकि कहा है—

समसुख—जिनका मन समता भावरूपी सुखसे सुवासित हो रहा है उन्हें भोजन भी रुचिकर नहीं होता फिर कामभोग कैसे रुचिकर हो सकते हैं । जैसे कि मछलियों के शरीरको जब खाली जमीन भी जलाती है तब अङ्गारोंका तो कहना ही क्या है ? ऐसा ज्ञानी जीव थोड़े ही समय में अनुपम सुख को प्राप्त होता है यह निश्चयसे–सन्देह रहित अथवा निश्चयनयसे जानो ॥४२॥

दोषरहितेन । किं भणितं ? *सम्मत्त संजमासय दुण्हं पि* सम्यक्त्वसंयमाश्रययोर्द्वयोरपि दर्शनाचारचारित्राचारयोर्द्वयोरपि । *उद्देसियं चरणं* उद्देशितमुद्देशमात्रं संक्षेपेण चारित्रं प्रतिपादितं । विस्तरेण [1]वट्टकेरादौ ज्ञातव्यम् ॥ ४३ ॥

भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव ।
लहु चउगइ चइऊणं अचिरेणऽपुणब्भवा होह ॥ ४४ ॥

भावयत भावशुद्धं स्फुटं रचितं चरणप्राभृतं चैव ।
लघु चतुर्गतीस्त्यक्त्वा अचिरेणापुनर्भवा भवत ॥ ४४ ॥

भावेह भावसुद्धं भावयत भावनाविषयीकुरुत यूयं हे भव्याः । *फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव* स्फुटं प्रकटार्थं रचितं चरणप्राभृतं चारित्रसारं । चेव शब्दाद्दर्शनाचरणं चाद्देशितं । *लहु चउगइ चइऊणं* लघु शीघ्रं चतुर्गतीस्त्यक्त्वा नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतीश्चतस्रः परिहाय । *अचिरेणऽपुणब्भवा होह* अचिरेण स्तोककालेन इतस्तृतीये भवेऽपुनर्भवाः सिद्धा भवत यूयम् । सिद्धिगतिं पञ्चमीं गतिं प्राप्नुत यूयमिति भद्रम् ॥ ४४ ॥

गाथार्थ—इसप्रकार ज्ञानस्वभावसे युक्त सर्वज्ञ वीतराग देवने सम्यक्त्व और संयमके आश्रयसे सहित दोनों आचारों-दर्शनाचार और चारित्राचारका चारित्र संक्षेप से कहा है ॥ ४३ ॥

विशेषार्थ—चारित्र-प्राभृतका उपसंहार करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि इस प्रकार ज्ञानस्वभावसे संपन्न केवलज्ञानी--सर्वज्ञ और राग द्वेष मोह आदि अठारह दोषोंसे रहित-वीतराग देवने यहां सम्यक्त्व और संयमका आश्रय रखनेवाले दोनों आचारों का-दर्शनाचार और चारित्राचारका उद्देश रूप-नामोल्लेख रूप चारित्रका संक्षेपसे वर्णन किया है । इनका विस्तार वट्टकेर आदिके मूलाचार आदि ग्रन्थोंमें जानना चाहिये ॥४३॥

गाथार्थ—हे भव्य जीवो ! शुद्धभाव से स्पष्ट रचे हुए चरणप्राभृत तथा दर्शन प्राभृतका खूब चिन्तन करो और उसके फल-स्वरूप शीघ्र ही चतुर्गतियों का त्याग कर स्वल्प कालमें पुनर्भव से रहित सिद्ध हो जाओ ॥ ४४ ॥

विशेषार्थ—कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! हमने चरणप्राभृत ग्रन्थ की रचना शुद्धभाव से की है—ख्याति-लाभ-पूजादि की इच्छासे रहित होकर की है तथा इसमें प्रतिपाद्य पदार्थोंका स्पष्ट निरूपण किया है । अतः इसकी अच्छी तरह भावना करो—इसका खूब चिन्तन-मनन करो और इसके फलस्वरूप नरक-तिर्यञ्च-मनुष्य तथा देव इन चारों गतियोंको छोड़कर इसभवसे तीसरे भवमें ही पुनर्जन्मसे रहित हो जाओ ४४

१—वट्टकेरलादौ म० ।

इति श्री *पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्य* नामपञ्चकविराजितेन *सीमन्धर-स्वामि*-ज्ञानसम्बोधित-भव्य-जीवेन *श्री जिनचन्द्रसूरि* भट्टारक-पट्टाभरणभूतेन कलिकाल-सर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृते ग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकाल–*गौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन* भट्टारकेणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषा–कवि–चक्रवर्तिना *श्रीविद्यानन्दि–गुर्वन्तेवासिना* सूरिवर*श्रीश्रुत-सागरेण* विरचिता चरणप्राभृतटीका द्वितीया[1] ।

सम्पूर्णा[2]

सूत्रप्राभृतम्

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थ ॥ १ ॥

अर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैर्ग्रथितं सम्यक् ।
सूत्रार्थमार्गणार्थं श्रमणाः साधयन्ति परमार्थम् ॥ १ ॥

अरहंतभासियत्थं अर्हद्भिस्तीर्थंकरपरमदेवैर्भाषितोऽर्थः सूत्रं भवति । *गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं* गणधरदेवैश्चतुर्भिर्ज्ञानैः सम्पूर्णैरष्टमहाप्रातिहार्य सहितैस्तीर्थकर-युवराजैः गंथियं-पदै रचितं. सम्मं-सम्यक पूर्वापर–विरोधरहितं शास्त्रं सूत्रं भवति । *सुत्तत्थमग्गणत्थं* सूत्रार्थमार्गणं सूत्रार्थविचारः सोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् सूत्रे तत्सूत्रार्थमार्गणार्थं । तेन शुक्लध्यानद्वयं भवति । तेन *सवणा साहंति परमत्थं* सूत्रार्थेन श्रवणा (श्रमणाः) सद्दृष्टयो दिगम्बराः परमार्थं मोक्षं साधयन्ति–आत्मवशं कुर्वन्ति. तेन कारणेन सूत्रं मोक्ष हेतुरिति भावार्थः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्ध-पिच्छाचार्य इन पांच नामोंसे सुशोभित, सीमन्धर स्वामीके ज्ञानसे भव्यजीवों को सम्बो-धित करने वाले, श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्टके आभरणस्वरूप, कलिकाल सर्वज्ञ कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा विरचित षट्पाहुड ग्रन्थ में समस्त मुनियोंके समूहसे सुशोभित, कलिकालके गौतमस्वामो श्री मल्लिभूषण भट्टारक के द्वारा अनुमत, सकल विद्वत्समाज के द्वारा सन्मानित, उभय–भाषा–सम्बन्धो कवियोंके चक्रवर्ती श्री विद्यानन्द गुरुके शिष्य सूरिवर श्रोश्रुतसागर के द्वारा विरचित चारित्र–पाहुड की टीका सम्पूर्ण हुई ।

गाथार्थ—जिसका अर्थ अरहन्त भगवानके द्वारा प्रतिपादित है, गणधर देवों ने जिसका अच्छी तरह गुम्फन किया है तथा शास्त्र के अर्थका खोजना ही जिसका प्रयोजन है, उसे सूत्र कहते हैं। ऐसे सूत्रकेद्वारा सम्यग्दृष्टि दिगम्बर साधु अपने परमार्थको साधते हैं।

१--म प्रतौ 'द्वितीया' नास्ति । २--समाप्ता म० ।

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आयरियपरंपरेण मग्गेण ।
णाऊण दुविहसुत्तं वट्टइ सिवमग्ग जो भव्वो ॥ २ ॥

सूत्रे यत् सुदृष्टं आचार्यपरम्परेण मार्गेण ।
ज्ञात्वा द्विविधसूत्रं वर्तते शिवमार्गे यो भव्यः ॥ २ ॥

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं सूत्रे यत् सुष्ठु अतिशयेनाबाधिततया वा दृष्टं प्रतिपादितं । *आइरिय परम्परेण मग्गेण* आचार्याणां परम्परा श्रेणिर्यत्र मार्गे स आचार्यपरम्परः आचार्यप्रवाहमुक्तो मार्गस्तेन मार्गेण । कोऽसौ मार्ग इति चेदुच्यते—श्रीमहावीरादनन्तरं श्रीगौतमः सुधर्मा जम्बूश्चेति त्रयः केवलिनः । विष्णुः नन्दिमित्रः अपराजितः गोवर्धनः भद्रबाहुश्चेति पञ्च श्रुतकेवलिनः । तदनन्तरं, विशाखः प्रोष्ठिलः क्षत्रियः जयसेनः नागसेनः सिद्धार्थः धृतिषेणः विजयः बुद्धिलः गङ्गदेवः धर्मसेनः इत्येकादश दशपूर्विणः । नक्षत्रः जयपालः पाण्डुः ध्रुवसेनः कंसाश्चेतिपञ्चैका दशाङ्गधराः । सुभद्रः यशोभद्रः भद्रबाहुः लोहाचार्यः एते चत्वार एकाङ्गधारिणः । जिनसेनः अर्हद्बलिः माघनन्दी धरसेनः पुष्पदन्तः भूतबलिः जिनचन्द्रः कुन्दकुन्दाचार्यः उमास्वामी समन्तभद्रस्वामी शिवकोटिः शिवायनः पूज्यपादः एलाचार्यः वीरसेनः जिनसेनः नेमिचन्द्रः रामसेनश्चेति प्रथमाङ्गपूर्वभागज्ञाः । अकलङ्कः अनन्तविद्यानन्दी माणिक्यनन्दी प्रभाचन्द्रः रामचन्द्र एते सुतार्किकाः । वासवचन्द्रः गुणभद्र एतौ नग्नौ अन्ते वीराङ्गजश्च । *णाऊण दुविह सुत्तं* ज्ञात्वा द्विविधं सूत्रं अर्थतः शब्दतश्च द्विविधं सूत्रं । *वट्टइ सिवमग्गे जो भव्वो* वर्तते शिवमार्गे मोक्षमार्गे यो मुनिः स भव्यो रत्नत्रययोग्यो भवति मोक्षं प्राप्नोतीति भावः ॥ २ ॥

विशेषार्थ—अरहन्त तीर्थंकर परमदेव ने जिसका अर्थ रूपसे प्रतिपादन किया है और चार ज्ञानके धारी. आठ महाऋद्धियों से सहित, तीर्थंकरों के युवराज-स्वरूप समस्त गणधरों ने जिसकी द्वादशाङ्ग रूप रचना की है उसे सूत्र कहते हैं । यह सूत्र अर्थात् शास्त्र पूर्वा-पर विरोधसे रहित होता है । सूत्र-प्रतिपादित अर्थ की खोज करना ही शास्त्रका प्रयोजन है । इसके चिन्तन से पृथक्त्व—वितर्क—वीचार और एकत्व—वितर्क ये दो शुक्लध्यान होते हैं । सूत्रार्थके चिन्तन से सम्यग्दृष्टि निर्ग्रन्थ साधु परमार्थ रूप मोक्षको साधते हैं, अपने वश करते हैं। इस तरह सूत्र मोक्षका कारण है । यद्यपि इस गाथा में 'सूत्र' इस विशेष्य पदका ग्रहण नही है तथापि ऊपर से उसकी योजना कर लेनी चाहिये ॥ १ ॥

(भाव-सूत्र और द्रव्य-सूत्रकी अपेक्षा सूत्रके दो भेद हैं, इस गाथामें कुन्दकुन्द स्वामी ने दोनों के लक्षण कहे हैं। तीर्थंकर परमदेव के द्वारा प्रतिपादित जो अर्थ है वह भावसूत्र अथवा भावश्रुत है और गणधर देवोंके द्वारा द्वादशाङ्ग रूप जो रचना हुई है वह द्रव्य सूत्र अथवा द्रव्यश्रुत है। दोनों प्रकारके श्रुतोंका प्रयोजन परमार्थ साधन अर्थात् मोक्ष प्राप्ति है ।)

गाथार्थ—आगम में जिसका अच्छी तरह प्रतिपादन किया गया है ऐसे द्विविध

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ॥ ३ ॥

सूत्रं हि जानानोऽभवस्य भवनाशनं च स करोति ।
सूची यथा असूत्रा नश्यति सूत्रेण सह नापि ॥ ३ ॥

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स सूत्रं शास्त्रानुक्रमं हि निश्चयेन जानानो जानन्, कस्य सूत्रं, (अ) भवस्स-[१]अभवस्य सर्वज्ञवीतरागस्य । *भवणासणं च सो कुणदि* भवस्य संसारस्य नाशनं विनाशं स पुमान् करोति विदधाति तीर्थंकरो भूत्वाऽऽत्मानं प्रकटयति मुक्तो भवतीत्यर्थः । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति— *सूई जहा असुत्ता णासदि* सूची लोहसूचिका वस्त्रदरकारिका असूत्रा दवरकरहिता नश्यति न लभ्यते । *सुत्ते सहा णो वि* सूत्रेण सह वर्तमाना सूत्रेण दोरेण सहिता णो विनापि नश्यति हस्ते चटति ॥ ३ ॥

सूत्र—द्रव्यश्रुत और भाव-श्रुतको जो आचार्योंकी परम्परा से युक्त मार्गके द्वारा जान कर मोक्ष-मार्गमें प्रवृत्त होता है, वह भव्य है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—शास्त्रमें अत्यन्त अबाधितरूप से जिस द्रव्य-श्रुत और भावश्रुत का प्रतिपादन किया गया है उसे आचार्य-परम्परासे प्राप्त मार्गके द्वारा अच्छी तरह जानकर जो मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होता है वह भव्य है । आचार्य परम्परासे प्राप्त मार्ग क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् महावीर स्वामीके अनन्तर तीन केवली हुए १ श्री गौतम स्वामी २सुधर्माचार्य और जम्बू स्वामी । इनके बाद १विष्णु, २नन्दिमित्र, ३अपराजित ४ गोवर्धन और ५ भद्रबाहु ये पांच श्रुत केवली हुए । तदनन्तर १ विशाख २ प्रोष्ठिल ३ क्षत्रिय ४ यसेन ५ नागसेन ६ सिद्धार्थ ७ धृतिषेण ८ विजय ९ बुद्धिल १० गङ्गदेव और ११ धर्मसेन ये ग्यारह दशपूर्वके धारक हुए । तदनन्तर १ नक्षत्र २ जयपाल ३ पाण्डु ४ध्रुवसेन और ५कंस ये पांच ग्यारह अङ्गके धारक हुए । तदनन्तर १सुभद्र २ यशोभद्र ३ भद्रबाहु और ४लोहाचार्य ये चार एक अङ्ग धारक हुए । तदनन्तर जिनसेन, अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, समन्तभद्र-स्वामी, शिवकोटि, शिवायन, पूज्यपाद, एलाचार्य, वीरसेन, जिनसेन, नेमिचन्द्र और राम-सेन ये प्रथम अङ्गके पूर्वभागके ज्ञाता हुए । अकलङ्क, अनन्त विद्यानन्दी, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, और रामचन्द्र ये सब उत्तम तार्किक अर्थात् न्यायशास्त्रके उच्च कोटिके विद्वान हुए हैं । वासवचन्द्र और गुणभद्र ये दो दिगम्बर साधु हुए और अन्तमें वीराङ्गज नामक साधु हुए* । जो अर्थ और शब्दकी अपेक्षा दो प्रकारके सूत्रको जानता है तथा मोक्षमार्गमें प्राप्ति करता है वह मुनि भव्य है रत्नत्रय के योग्य है तथा मोक्ष प्राप्त करता है ॥ २ ॥

१—न विद्यते भवो जन्म यस्य तस्य । *आचार्यों के ये नाम कालक्रम से नहीं हैं ।

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गम्रो वि संसारे
सच्चेयणपच्चक्खं णासदि तं सो आदिस्समाणो वि ।। ४ ।।

पुरुषोऽपि यः ससूत्रः न विनश्यति स गतोऽपि संसारे ।
स्वचेतनाप्रत्यक्षेण नाशयति तं सोऽदृश्यमानोऽपि ।। ४ ।।

पुरिसो वि जो ससुत्तो पुरुषोऽपि जीवोऽपि यः ससूत्रो जिनसूत्रसहितः । *ण विणासइ सो गम्रो वि संसारे* न विनश्यति स पुमान् गतोऽपि नष्टोऽपि संसारे पतितोऽपि पुनरुज्जीवति मुक्तो भवति । *सच्चेयणपच्चक्खं* आत्मानुभवप्रत्यक्षेण । *णासदि तं सो अदिस्समाणो वि* णासदि-नश्यति, अन्तरनर्थोऽयं प्रयोगः तेनायमर्थः नाशयति तं संसारं स आसन्नभव्यजीवः । कथंभूतः ? अदिस्समाणोवि-अदृश्यमानोऽपि चतुर्विधसंघमध्येऽप्रकटोऽप्यप्रसिद्धोऽपि ।। ४ ।।

गाथार्थ—जो मनुष्य यथार्थमें सर्वज्ञ देवके शास्त्रको जानता है वह संसारका नाश करता है । जिस प्रकार सूत्र अर्थात् डोरासे रहित सुई नष्ट हो जाती है--गुम जाती है, उसी प्रकार सूत्र अर्थात् शास्त्रसे रहित मनुष्य भी नष्ट हो जाता है-चतुर्गति रूप संसार में गुम जाता है ।। ३ ।।

विशेषार्थ—जो भव अर्थात् पुनर्जन्म से रहित हैं वे अभव अर्थात् सर्वज्ञ जिनेन्द्र कहलाते हैं । उन सर्वज्ञ-वीतराग जिनेन्द्रके सूत्र—आगमको जो जानता है वह भव अर्थात् संसारका नाश करता है—तीर्थंकर होकर अपने आपको प्रगट करता है—मोक्षको प्राप्त होता है । इसी बातको सुईके दृष्टान्तसे दृढ करते हैं । जिस प्रकार वस्त्रमें छेद करने वाली लोहेकी सुई असूत्रा-डोरासे रहित होनेपर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार सूत्र--शास्त्रसे रहित मनुष्य नष्ट हो जाता है ।।३।।

गाथार्थ—जो पुरुष ससूत्र है—जिनागमसे सहित है वह संसारमें पड़ कर भी नष्ट नहीं होता है—शीघ्र मुक्तिको प्राप्त हो जाता है । वह स्वयं अप्रसिद्ध होनेपर भी आत्मानुभवके प्रत्यक्षसे उस संसारको नष्ट कर देता है ।। ४ ।।

विशेषार्थ—जो जीव जिनागम की श्रद्धा और ज्ञानसे युक्त है वह यदि कदाचित् बद्धायुष्क होनेसे नरक तिर्यञ्च आदि गति रूप संसारमें पड़ भी जाता है अथवा सम्यक्, दर्शनसे भ्रष्ट होकर अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल तक नाना गतियोंमें परिभ्रमण भी करता रहता है तो भी वह नष्ट नहीं होता, पुनः सुमार्गपर आकर मोक्षको प्राप्त करता है । जो मनुष्य अदृश्यमान है—चतुर्विध संघमें अप्रकट अथवा अप्रसिद्ध है वह भी आत्मानुभवके प्रत्यक्ष द्वारा उस संसारको नष्ट कर देता है ।। ४ ।।

[1]सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं ।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥ ५ ॥

सूत्रार्थं जिनभणितं जीवाजीवादि बहुविधं अर्थम् ।
हेयाहेयं च तथा यो जानाति स हि सद्दृष्टिः ॥ ५ ॥

सुत्तत्थं जिणभणियं सूत्रस्यार्थं जिनेन भणितं प्रतिपादितं । *जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं* जीवाजीवादिकं बहुविधमर्थं कर्मतापन्नं वस्तु । *हेयाहेयं च तहा* हेयं पुद्गलादिकं पञ्चप्रकारं, अहेयमादेयं निजात्मानं तथा तेनैव षड्वस्तु-प्रकारेण । *जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी* यः पुमान् जानाति वेत्ति स पुमान् हु-स्फुटं सद्दृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्भवति ॥ ५ ॥

जं [2]सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो ।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंज ॥ ६ ॥

यत् सूत्रं जिनोक्तं व्यवहारं तथा च जानीहि परमार्थम् ।
तत् ज्ञात्वा योगी लभते सुखं क्षिपते मलपुञ्जम् ॥ ६ ॥

जं सुत्तं जिणउत्तं यत्सूत्रं जिनोक्तं । *ववहारो तह य जाणपरमत्थो* तत्सूत्रं व्यवहारं जानीहि तथा परमार्थं निश्चयरूपं च जानीहि हे भव्य ! त्वं चेत्थं [3]जानीहि । *तं जाणिऊण जोई* तत्सूत्रं व्यवहार निश्चयरूपं ज्ञात्वा योगी ध्यानी पुमान् । *लहइ सुहं खवइ मलपुंजं* लभते सुखं निजात्मोत्थं परमानन्दलक्षणं क्षिपते [4]निर्मूलकापं कषते मलस्य पापस्य पुञ्जं राशिं त्रिषष्टिप्रकृतिसमूहं । घातिसंघातघातनं कृत्वा केवलज्ञानमुत्पादयतीति भावः । यथा [नटा] वंशावष्टम्भं कृत्वाऽभ्यासवशेन रज्जूपरि चलति पश्चादभ्यास वशेन वंशं त्यक्त्वा निराधारतया रज्जूपरि गच्छति तथा व्यवहारावष्टम्भेन निश्चयनयमवलम्बते । तदनन्तरं व्यवहारमपि त्यक्त्वा निश्चयमेवालम्बते इति भावः ॥ ६ ॥

गाथार्थ—जो जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए सूत्रके अर्थको, जीव अजीव आदि नाना प्रकारके पदार्थ को तथा हेय और उपादेय तत्वको यथार्थरूपसे जानता है वह सम्यग्दृष्टि है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र ने आगम का जैसा अर्थ प्रतिपादित किया है, जीव अजीव आदि पदार्थोंका जैसा स्वरूप बतलाया है तथा हेय—छोड़नेयोग्य पुद्गलादि पांच द्रव्योंका तथा अहेय—ग्रहण करने योग्य निज—आत्माका जैसा स्वरूप कहा है उसे जो वैसा ही जानता है वह स्पष्ट ही सम्यग्दृष्टि है ॥ ५ ॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने जो सूत्र कहा है उसे व्यवहार और निश्चय रूप जानो । उसे जानकर योगी आत्मसुख को प्राप्त होते हैं तथा पाप-पुञ्जको नष्ट करते हैं ।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने जिस आगमका वर्णन किया है वह व्यवहार और

१—सुत्तत्थं । २—सुत्तं म० । ३—वेत्थ म० । ४—निर्मूल म० ।

¹सुत्तत्थ पय विणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो ।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥ ७ ॥

सूत्रार्थपदविनष्टो मिथ्यादृष्टिः हि स ज्ञातव्यः ।
खेलेऽपि न कर्तव्यं पाणिपात्रं सचेलस्य ॥ ७ ॥

सुत्तत्थपय विणट्ठो सूत्रार्थपदविनष्टः पुमान् । *मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो* मिथ्यादृष्टिरिति हु स्फुटं स पुमान् मुनितव्यो (?) ज्ञातव्यः । *खेडे वि* खेलेऽपि क्रीडायामपि न कर्तव्यं पाणिपात्रेण भोजनं न विधातव्यम् । कस्य ? *सचेलस्य* गृहस्थस्य ॥ ७ ॥

निश्चयनय रूप है अर्थात् दोनों नयोंके द्वारा पदार्थका निरूपण करने वाला है । जो योगी उस उभयनयात्मक आगमको जानता है वह निजात्मा से उत्पन्न होने वाले परमानन्दरूप सुखको प्राप्त होता है तथा त्रेसठ प्रकृतियों के समूह को नष्ट कर केवलज्ञानको उत्पन्न करता है । ¹जिस प्रकार नट पहले बांसका सहारा लेकर अभ्यास करता हुआ रस्सीके ऊपर चलता है पीछे पूरा अभ्यास होजाने पर वह बांस छोड़कर निराधार हो रस्सीपर चलने लगता है, उसी प्रकार से यह मनुष्य पहले व्यवहार नयके आलम्बन से निश्चयनयका आलम्बन करता है, पीछे व्यवहार को भी छोड़कर एक निश्चयका ही आलम्बन करता है ॥६॥

[जिनागमका उपदेश व्यवहार और निश्चय दोनों नय-रूप है, अतः पात्रकी योग्यताको देखते हुए जहां जिसकी आवश्यकता दीखे उसको मुख्य करके उपदेश देना चाहिये । जिस समय एक नयको मुख्य किया जाता है उस समय दूसरे नयको गौण तो किया जा सकता है परन्तु अपरमार्थ समझ कर सर्वथा त्याज्य नहीं माना जा सकता ।]

१–'व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थ–प्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेद–दर्शनात् त्रस-स्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बन्धस्याभावः । तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः' ।

—आत्मख्याति समयसार, गाथा ४६ ।

'यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यावलम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यावलम्बनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति । यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशङ्कोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः । ततश्च पुण्यरूप–धर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेष-मोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मुक्त्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणं । तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः ।

—श्री जयसेनाचार्य-कृत तात्पर्यवृत्ति टीका समयसार, गाथा ४६ ।

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी।
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ८ ॥

हरिहरतुल्योऽपि नरः स्वर्गं गच्छति एति भवकोटीः।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनर्भणितः ॥ ८ ॥

हरिहरतुल्लो वि णरो हरिश्च नारायणः हरश्च रुद्रस्ताभ्यां तुल्यः समानः ऋद्धिमानित्यर्थः। नरः प्राणी मनुष्यः। *सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी* दानपूजोपवासादिकं कृत्वा स्वर्गं देवलोकं गच्छति पश्चाद्भवान्तराणां कोटीरसंख्यानि भवान्तराणि अनन्तानि वा भवान्तराणि प्राप्नोति दुःखी भवति संसारी स्यात्। *तह वि ण पावइ सिद्धिं* तथापि भवकोटीः पर्यटनप्रकारेणापि न प्राप्नोति सिद्धिं मोक्षं न लभते। किं तर्हि भवतीत्याह—*संसारत्थो पुणोभणिदो* संसारस्थः संसारी पुनर्भणितः सिद्धान्ते प्रतिपादितः। जिनसूत्राभावान्मिथ्यादृष्टिः सन् संसारदुःखं सहते सुखी न भवतीति भावः ॥ ८ ॥

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य [1]गुरुयभारा य।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्त ॥ ९ ॥

उत्कृष्टसिंहचरितः बहुपरिकर्मा च गुरुकभारश्च।
यः विहरति स्वच्छंदं पापं गच्छति भवति मिथ्यात्वम् ॥ ९ ॥

उक्किट्ठसीहचरियं उत्कृष्टं सर्वयतिभ्योऽधिकं सिंहवन्निर्भयत्वेन चरितं चारित्रं यस्य स पुमानुत्कृष्टसिंहचरितः। प्राकृतत्वादत्र नपुंसकत्वं। अथवा विहरतीति क्रियाविशेषणत्वाद् द्वितीयैकवचनं नपुंसकत्वं च। *बहुपरिकम्मो य गुरुयभारो य* बहुपरिकर्मा चानेकतपोविधान-मण्डित-शरीरसंस्कारश्च मुनिर्गुरुतरभारश्च राजादिभयनिवारकः शिष्याणां पठनपाठनसमर्थो यात्रा-प्रतिष्ठादीनादानायुर्वेदज्योतिष्कशास्त्रनिर्णयकारकः षडावश्यककर्मकर्मठो धर्मोपदेशनसमर्थः सर्वेषां यतीनां च अश्चिन्त्यकारका गुरुभार उच्यते इदृग्विधोऽपि गच्छनायको यतिः। *जो विहरइ सच्छंदं* यो यतिः स्वच्छन्दं विहरति—जिनसूत्रं न प्रमाणयति *पावं गच्छेदि होइ मिच्छत्तं* स मुनिः पापं गच्छति प्राप्नोति—मिथ्यात्वं तस्य भवतीति तात्पर्यार्थः। ९ ॥

गाथार्थ—जो आगमके पद और अर्थसे विनष्ट है अर्थात् द्रव्यश्रुत की श्रद्धासे रहित है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये। वस्त्रधारी-गृहस्थको क्रीडामें भी पाणि-पात्रसे आहार नहीं करना चाहिये और न साधु समझकर उसे पाणिपात्र आहार देना चाहिये।

विशेषार्थ—जो जिनागमके अर्थ और पद दोनोंसे भ्रष्ट है अर्थात् उनकी श्रद्धासे रहित है वह स्पष्ट ही मिथ्यादृष्टि है। जिनागम की आज्ञाका अनादर कर इच्छानुसार वस्त्रादि धारण करते हुए भी अपने आपको जो मुनि मानता है वह आगम की श्रद्धासे रहित तथा गृहस्थके तुल्य है। उसे पाणिपात्रसे आहार नहीं करना चाहिये और न विवेकी मनुष्योंको उसे मुनि समझकर—कौतूहल बुद्धिसे भी पाणिपात्र आहार देना चाहिये ॥७॥

गाथार्थ—सूत्रके अर्थ और पदसे भ्रष्ट हुआ मनुष्य विष्णु और रुद्रके तुल्य होने

१—गुरुय म०।

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परम जिणवरिंदेहिं ।
एक्को हि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥ १० ॥

निश्चेलपाणिपात्रमुपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैः ।
एको मोक्षमार्गः शेषाश्च अमार्गाः सर्वे ॥ १० ॥

णिच्चेलपाणिपत्तं निश्चेलस्य मुनेः पाणिपात्रं करयोः पुटे भोजनमुक्तं । *उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं* उपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैस्तीर्थंकरपरमदेवैः । *एक्को हि मोक्खमग्गो* एक एव मोक्षमार्गो निर्ग्रन्थलक्षणः *सेसा य अमग्गया सव्वे* शेषा मृगचर्म-वल्कल-कर्पासपट्टकूल-रोमवस्त्र-तट्ट-गोणीतृण-प्रावरणादिसर्वे, रक्तवस्त्रादि पीताम्बरादयश्च विश्वे, अमार्गाः संसारपर्यटनहेतुत्वान्मोक्षमार्गा न भवन्तीति भव्यजनैर्ज्ञातव्यम् १०

पर भी—उनके समान ऋद्धिमान् होनेपर भी स्वर्ग जाता है वहांसे आकर करोडों भव धारण करता है परन्तु मोक्षको प्राप्त नही कर सकता, वह संसारी ही कहा गया है ॥८॥

विशेषार्थ—जिनागमकी श्रद्धासे रहित मनुष्य हरि हर आदिके समान कितनी ही ऋद्धियों–सम्पत्तियोंका स्वामी क्यों न हो वह दान पूजा उपवास आदि करके पहले स्वर्ग जाता है पीछे असंख्यात अथवा अनन्त भवोंको धारण करता हुआ संसार में दुखी होता रहता है । यद्यपि वह असंख्यात या अनन्त भवोंका प्राप्त होता है तथापि मोक्षको प्राप्त नहीं हो सकता, संसारी ही कहलाता रहता है ॥ ८ ॥

गाथार्थ—जो मुनि सिंहके समान निर्भय रह कर उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकारके परिकर्म-व्रत उपवास आदि करते हैं, तथा आचार्य आदिके पदका गुरुतर भार संभालते हैं परन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं, आगम की आज्ञा का उल्लङ्घन करके मनचाही प्रवृत्ति करते हैं, वे पापको प्राप्त होते हैं एवं मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं ॥९॥

विशेषार्थ—जो सिंहके समान निर्भय रहकर सब मुनियोंसे उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकारके तपोंसे जिनका शरीर मण्डित है, जो गुरुतर भारको धारण करते हैं, अर्थात् राजा आदिके भयका निवारण करते हैं, शिष्योंके पठन पाठनमें समर्थ हैं, यात्रा-प्रतिष्ठा-दीक्षा-दान आयुर्वेद और ज्योतिष शास्त्रके निर्णय करने वाले हैं, छह आवश्यक कार्योंमें कर्मठ हैं, धर्मोपदेश देनेमें समर्थ हैं, सब मुनियोंको निश्चिन्तता प्रदान करने वाले हैं । ऐसे गच्छके नायक होकर भी जो मुनि स्वच्छन्द विहार करते हैं अर्थात् जिनसूत्रको प्रमाण नहीं मानते, वे पापको प्राप्त होते हैं तथा उनको मिथ्यात्व अवस्था होती है ॥९॥

गाथार्थ—तीर्थंकर परमदेव ने नग्नमुद्राके धारी निर्ग्रन्थ मुनिको ही पाणिपात्र आहार लेनेका उपदेश दिया है। यह एक निर्ग्रन्थ-मुद्रा ही मोक्षमार्ग है, इसके सिवाय सब अमार्ग हैं-मोक्षके मार्ग नहीं है ॥ १० ॥

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि ।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुर माणुसे लोए ॥११॥

यः संयमेषु सहितः आरम्भपरिग्रहेषु विरतः अपि ।
स भवति वन्दनीयः ससुरासुरमानुषे लोके ॥११॥

जो संजमेसु सहिओ यो मुनिर्वा तु गृहस्थः संयमेषु सहितः इन्द्रियप्राणसंयमवान भवति । *आरंभपरिग्गहेसु विरओवि* आरम्भाः सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखाः परिग्रहाः क्षेत्रवास्त्वादयस्तेषु विरतो विरक्तो भवति । अपि शब्दः समुच्चये वर्तते । तेन ब्रह्मचर्यादयो गृह्यन्ते तस्य च 'ब्रह्मचर्यचरो यति' रिति वचनात् । *सो होइ वंदणीओ* स मुनिर्वन्दनीयो भवति । क्व वन्दनीयो भवति ? *ससुरासुरमाणुसे लोए* लोके त्रिभुवने वन्दनीयो भवति । कथंभूते लोके ? ससुरासुरमानुषे देवदानवमानवसहिते ॥११॥

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहि संजुत्ता ।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयनिज्जरासाहू ॥१२॥

ये द्वाविंशतिपरीषहान् सहन्ते शक्तिशतैः संयुक्ताः ।
ते भवन्ति वन्दनीयाः कर्मक्षयनिर्जरासाधवः ॥१२॥

जे बावीसपरीसह सहंति ये द्वाविंशति परीषहान् सहन्ते । *सत्तीसएहि संजुत्ता* शक्तीनां शतैः संयुक्ताः । *ते होंति वंदणीया* ते भवन्ति वन्दनीया नमोऽस्तु शब्द-योग्याः । *कम्मक्खय निज्जरासाहू* कर्मक्षय-निर्जरासाधवः ये कर्मक्षये निर्जरायां च साधवः कुशला भवन्ति योग्या भवन्तीति भावः ॥१२॥

विशेषार्थ—तीर्थंकर परमदेव ने निश्चेल—वस्त्र मात्रके त्यागी-निर्ग्रन्थ मुनिको ही कर-पुटमें आहार लेनेका उपदेश दिया है । जिसमें मुनि नग्न रहकर करपुट में ही आहार करते हैं, वह एक निर्ग्रन्थ—वेष ही मोक्षमार्ग है । इसके सिवाय मृगचर्म, वृक्षोंके वल्कल, कपास, रेशम, और रोमसे बने वस्त्र, टाट तथा तृण आदिके आवरण (चटाई आदि) को धारण करने वाले सभी साधु, तथा लाल वस्त्र और पीले वस्त्रको धारण करने वाले सभी लोग अमार्ग हैं—संसार, परिभ्रमणके हेतु होनेसे मोक्षमार्ग नहीं हैं, ऐसा भव्य जीवों को जानना चाहिये ॥ १० ॥

गाथार्थ—जो मुनि संयम से सहित है तथा आरम्भ और परिग्रह से विरत है वही सुर असुर और मनुष्यों से युक्त लोकमें वन्दनीय है ॥११॥

विशेषार्थ—इन्द्रिय-संयम और प्राण—संयमके भेदसे संयमके दो भेद हैं । सेवा, कृषि, वाणिज्य आदिको आरम्भ कहते हैं तथा क्षेत्र, मकान आदिको परिग्रह कहते हैं । जो मुनि इन्द्रियसंयम और प्राण-संयम से सहित है तथा आरम्भ और परिग्रहों से विरत है । साथ ही ब्रह्मचर्य आदि गुणों से युक्त है वही देव दानव और मनुष्यों से सहित लोक में वन्दना करने के योग्य है । इसके सिवाय असंयमी, आरम्भ और परिग्रह के जालमें फसे हुए अन्य साधु सम्यग्दृष्टि के द्वारा वन्दना करने योग्य नहीं है ॥११॥

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥१३॥

अवशेषा ये लिङ्गिनो दर्शनज्ञानेन सम्यक्संयुक्ताः ।
चेलेन च परिगृहीतास्ते भणिता इच्छाकारयोग्याः ॥१३॥

अवसेसा जे लिंगी अवशेषा ये लिङ्गिनः क्षुल्लकगुरवः *दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता* दर्शनज्ञानेन सम्यक्संयुक्ताः । *चेलेण य परिगहिया* वस्त्रकधराः सकौपीनाश्च, वस्त्रमपि सीवितं न भवति, किं तर्हि ? खण्डवस्त्रं धरन्ति ते वस्त्रपरिगृहीताः । *ते भणिया इच्छणिज्जाय* ते भणिता इच्छाकारयोग्या नमस्कारयोग्याः ॥१३॥

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं ।
ठाणेट्ठियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होइ ॥१४॥

इच्छाकारमहार्थं सूत्रस्थितः यः स्फुटं त्यजति कर्म ।
स्थाने स्थितसम्यक्त्वः परलोकसुखकरो भवति ॥१४॥

गाथार्थ—जो बाईस परिषह सहन करते हैं, सैकड़ों शक्तियों से सहित हैं, तथा कर्मोंके क्षय और निर्जरा करने में कुशल हैं, ऐसे मुनि वन्दना करने योग्य हैं ॥१२॥

विशेषार्थ—क्षुधा–तृषा–शीत–उष्ण-दंशमशक नाग्न्य–अरति–स्त्री–चर्या–निषद्या–शय्या–आक्रोश–वध–याचना–अलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कारपुरस्कार-प्रज्ञा-अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परिषह हैं । जो मुनि समता भावसे इन बाईस परिषहों को सहते हैं, पक्षोपवास मासोपवास आदि उग्र तपश्चरण की शक्ति से युक्त हैं और कर्मोंके क्षय तथा निर्जरा में कुशल हैं, वे मुनि वन्दनीय हैं अर्थात् उन्हें 'नमोऽस्तु' कहकर नमस्कार करना चाहिये ॥१२॥

गाथार्थ—**मुनिमुद्राके** सिवाय जो अन्य लिङ्गी हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सहित हैं, तथा वस्त्रके धारक हैं ऐसे क्षुल्लक–ऐलक इच्छाकारके योग्य कहे गये हैं अर्थात् उन्हें 'इच्छामि' कहकर नमस्कार करना चाहिये ॥१३॥

विशेषार्थ—दिगम्बर मुनि मुद्रा के सिवाय अन्यलिङ्गधारी-ऐलक क्षुल्लक, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे संयुक्त हैं । ऐलक एकवस्त्र–कोपीनके धारक हैं और क्षुल्लक कौपीनके सिवाय एक वस्त्र अतिरिक्त भी रखते हैं । इनका यह वस्त्र सिला हुआ नहीं होता, खण्डवस्त्र कहलाता है अर्थात् इतना छोटा होता है कि शिर ढके तो पैर नहीं ढके और पैर ढकें तो शिर नहीं ढके । ऐसे ऐलक और क्षुल्लक इच्छाकार के योग्य कहे गये हैं अर्थात् उन्हें नमस्कार करते समय 'इच्छामि' या 'इच्छाकार' शब्द का उच्चारण करना चाहिये ॥१३॥

इच्छायार महत्थं इच्छाशब्देन नम उच्यते। वारशब्दस्तु अधःस्थःक्रियते तेन नमस्कार इति भवति। क्षुल्लकानां वन्दनम्। *सुत्तट्ठिओ जो हु छंडए कम्मं* सुत्तट्ठिओ—सूत्रस्थितः समयं जानन् यः पुमान् कर्म त्यजति—गृहस्थकर्म न करोति—वैयावृत्यं विना स्वयं रन्धनादिकं न करोति। *ठाणे ट्ठियसम्मत्तं* एकादशस्वपि स्थानेषु सम्यक्त्वपूर्वको भवति। *परलोयसुहंकरो होइ* स्वर्गसौख्यं साधयति—षोडशसु स्वर्गेष्वन्यतमस्वर्गे उत्पद्यते ततश्च्युत्वा निर्ग्रन्थो भूत्वा मोक्षं गच्छति ॥१४॥

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेदि निरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ १५ ॥

अथ पुनरात्मानं नेच्छति धर्मान् करोति निरवशेषाषान्।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनर्भणितः ॥ १५ ॥

अह पुण अप्पा णिच्छदि अथ अथवा पुनरात्मानं नेच्छति आत्मभावनां न करोति। *धम्माइं करेइ निरवसेसाइं* धर्मान करोति निरवशेषान दानपूजा तपः—शीलादिकानि निरवशेषाणि समस्तानि पुण्यानि करोति। *तह वि ण पावदि सिद्धिं* तथापि पुण्य कर्म प्रकारेणापि सिद्धिं मुक्तिं न प्राप्नोति। *संसारत्थो पुणो भणिदो* संसारस्थः पुनर्भणितः संसारी भवतीति सिद्धान्ते प्रतिपादितम्। उक्तञ्च देवसेनेन भगवता—

अइ कुणउ तवं पालेउ संजमं पढउ सयलसत्थाइं।
जाम ण झावई अप्पा ताम ण मोक्खं जिणो भणई ॥ १ ॥

गाथार्थ—जो इच्छाकार के महान् अर्थको जानता है, सूत्र—आगममें स्थित होता हुआ आगमको जानता हुआ गृहस्थके आरम्भ आदि कार्यों को छोड़ता है और श्रावकके ग्यारहवें स्थानमें सम्यक्त्व-पूर्वक स्थित है वह परलोकमें सुखको करने वाला होता है।

विशेषार्थ—इच्छा शब्द से नमः अर्थ कहा जाता है। कार शब्द उससे नीचे प्रयुक्त होता है अर्थात् कार शब्दका प्रयोग इच्छा शब्दके आगे किया जाता है, इसलिये समस्त इच्छाकार शब्दका अर्थ नमस्कार होता है। इसप्रकार गाथा का अर्थ यह हुआ कि जो इच्छाकार शब्दके महान् अर्थको जानता हुआ क्षुल्लक-ऐलक आदिको इच्छाकार करता है—इच्छामि या इच्छाकार करता हुआ वन्दना करता है, शास्त्रको जानता हुआ पद के विरुद्ध आरम्भ आदि कार्योंका स्पष्ट रूपसे त्याग करता है अर्थात् वैयावृत्यको छोड़कर स्वयं रसोई आदि नहीं बनाता, तथा श्रावकके ग्यारहवें स्थान में सम्यग्दर्शन के साथ स्थित है अर्थात् सम्यग्दर्शन-पूर्वक श्रावकके ग्यारह स्थानोंका पालन करता है, वह स्वर्गके सुखको साधता है अर्थात् सोलह स्वर्गोंमें से किसी एक स्वर्गमें उत्पन्न होता है और वहां से च्युत हो निर्ग्रन्थ होकर मोक्षको प्राप्त होता है ॥१४॥

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥ १६ ॥

एतेन कारणेन च तमात्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन।
येन च लभेध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥ १६ ॥

एएण कारणेण य एतेन प्रत्यक्षीभूतेन कारणेन हेतुना। चकार उक्तसमुच्चयार्थः, बहिस्तत्वभूत-पञ्चपरमेष्ठिकारणसूचनार्थं इत्यर्थः। *तं अप्पासद्दहेह तिविहेण* तमात्मानं शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मतत्वं श्रद्धत्त यूयं रोचत यूयम्, त्रिविधेन मनोवचनकायप्रकारेण। *जेण य लहेह मोक्खं* येन चात्मतत्वेन लभेध्वं मोक्षं सर्व-कर्म-क्षय-लक्षणं परमनिर्वाणं प्राप्नुत यूयम्। अत्रापि चकार उक्त समुच्चयार्थः। तेन स्वर्गसौख्यं यथासंभवं सर्वार्थसिद्धिपर्यं तं पूर्वं लब्ध्वा पश्चान्मोक्षं लभेध्वम्। *तं जाणिज्जह पयत्तेण* तमात्मानं न केवलं श्रद्धत्त अपि तु जानीत विदांकुरुत चेति। कथम्? प्रयत्नेन सावधानतया सर्वतात्पर्येणेत्यर्थः ॥ १६ ॥

गाथार्थ—जो आत्मा को नहीं इच्छता अर्थात् आत्मा की भावना नहीं करता है, वह भले ही समस्त धर्म कार्योंको करता हो तो भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। वह संसारी ही कहा गया है ॥१५॥

विशेषार्थ—'इच्छाकार' शब्द का प्रधान अर्थ आत्मा की इच्छा करना है अर्थात् पर पदार्थसे भिन्न शुद्ध आत्म-तत्वकी उपलब्धि मुझे हो ऐसी भावना करना है। जो पुरुष उक्त प्रकारसे आत्माकी इच्छा नहीं करता वह दान पूजा तप शील आदि समस्त पुण्य कार्य करता हुआ भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता। उसे आगम में संसारी ही कहा गया है। ऐसा ही भगवान् देवसेन ने कहा है—

अइ कुणइ—अतिशय तप करो, संयम पालो और समस्त शास्त्र पढो परन्तु जब तक आत्माका ध्यान नहीं किया जाता है तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

(आत्म श्रद्धानके बिना दान पूजा तप शील आदि समस्त पुण्य कार्य शुभबन्धके कारण हैं जिनके फलस्वरूप यह जीव देव आदि गतियों में परिभ्रमण करता है। अतः मुक्ति प्राप्त करनेके लिये सर्व प्रथम आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका पुरुषार्थ करना चाहिये) १५

गाथार्थ—इस कारण उस आत्माका मन वचन कायसे श्रद्धान करो तथा उसीको प्रयत्न पूर्वक जानो जिससे कि मोक्ष प्राप्त कर सको ॥ १६ ॥

विशेषार्थ—गाथामें आये हुए 'एएण कारणेण' इस पदसे पूर्व गाथाओं में प्रयुक्त संसारभ्रमण आदिका उल्लेख किया गया है। तथा चकार से बाह्य तत्वभूत पञ्चपरमेष्ठी रूप कारण की सूचना दी गई है इसलिये गाथाका अर्थ यह हुआ कि चूंकि आत्म श्रद्धान

वालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं ।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥ १७ ॥

वालाग्रकोटिमात्रं परिग्रहग्रहणं न भवति साधूनाम् ।
भुञ्जीत पाणिपात्रे दत्तमन्नं एक स्थाने ॥ १७ ॥

वालग्गकोडिमत्तं बालस्य रोम्णोऽग्रकोटिमात्र अग्राग्रमात्रं अतीवाल्पमपि । *परिगह गहणं ण हुइ साहूणं* परिग्रहस्य ग्रहणं स्वीकारो [१]न भवति साधूनां निरम्बर यतीनाम् । *भुंजेइ पाणिपत्ते* भुञ्जीत भोजनं कुर्वीत कुर्यात् पाणिपात्रे निजकरपुटे । *दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि* श्रावकेण दत्तं नत्वव्रतीना दत्तं भुञ्जीत, प्रासुकभोजनं किल सर्वत्र गृह्यते इति जैनाभासा ब्रुवन्ति तदनेन विशेषव्याख्यानेन [२]परित्यक्तं भवतीति भावितव्यम् । इक्कठाणम्मि-उद्भो भूत्वा एकवारं भुञ्जीतेति, यो बहुवारं भुङ्क्ते स वन्दनीयो न भवतीति भावार्थः ॥ १७ ॥

के विना दान पूजा आदि समस्त पुण्य कार्य करने पर भी तथा पञ्चपरमेष्ठो आदि बाह्य निमित्त मिलने पर भी यह जीव सिद्धिको प्राप्त नहीं होता, संसारी ही कहलाता रहता है, अतः शुद्ध-वीतराग और बुद्ध-सर्वज्ञ रूप प्रमुख स्वभावसे युक्त उसी आत्मा की मन वचन कायसे श्रद्धा करो, तथा पूर्ण प्रयत्नसे सावधानता-पूर्वक पूर्ण लगनसे उसी आत्माको जानो जिससे सर्व कर्म-क्षय रूप लक्षणसे युक्त परम निर्वाणको प्राप्त कर सको । यहां जेण य-येन च शब्दके साथ जो चकारका प्रयोग किया है वह ऊपर कही हुई बातका समुच्चय करनेके लिये है । उससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि पहले सर्वार्थसिद्धि तकके स्वर्ग सुखको प्राप्त कर पश्चात् मोक्षको प्राप्त कर सको ।

[आत्म-श्रद्धान होने पर भी जब तक चारित्र मोह-जन्य रागका सद्भाव रहता है तब तक यह जीव देवायुका बन्ध करके प्रथम स्वर्गसे लेकर सर्वार्थ-सिद्धि तकके सुख भोगता है और पीछे कर्मभूमिज मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न होकर चारित्र मोह-जन्य रागका अभाव होने पर समस्त कर्मोंका क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है] ॥ १६ ॥

गाथार्थ—निर्ग्रन्थ साधुओंके रोमके अग्रभाग की अनीके बराबर भी परिग्रह का ग्रहण नहीं, अतः उन्हें योग्य श्रावकके द्वारा दिये हुए अन्नका हस्तरूप पात्रमें भोजन करना चाहिये और वह भी एक ही स्थान पर ॥ १७ ॥

विशेषार्थ—दिगम्बर मुद्राके धारी साधुओंके बालके अग्रभाग की अनीके बराबर अत्यन्त अल्प भी परिग्रह नहीं होता, अतः उन्हें अपने कर-पुटमें ही आहार ग्रहण करना चाहिये । वह आहार भी श्रावक के द्वारा दिया हुआ, न कि अव्रती मनुष्य के द्वारा दिया हुआ, और वह भी एक स्थान पर खड़ा होकर एक ही वार, न कि अनेक वार । श्वेताम्बर

१—स्वीकारो न करोति न भवति क० । २—प्रत्युक्तं म० ।

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं न गिहदि हत्थेसु ।

जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ।। १८ ।।

यथाजातरूपसदृशः तिलतुषमात्रं न गृह्णाति हस्तयोः ।

यदि लाति अल्पबहुकं ततः पुनर्याति निगोदम् ।। १८ ।।

जहजाइरूव सरिसो यथाजातरूपः सर्वज्ञवीतरागस्तस्य रूपसदृशो नग्नशरीरः । *तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु* तिलस्य पितृप्रियकणस्य तुषस्त्वङ्मात्रं न गृह्णाति हस्तयोरित्युत्सर्गव्याख्यानं प्रमाणमेव किन्तु–

क्वचित्कालानुसारेण सूरिर्द्रव्यमुपाहरेत् ।

गच्छपुस्तकवृद्धयर्थमयाचितमथाल्पकम् ।।

इतीन्द्रनन्दिभगवतोक्तं स्वपवाद व्याख्यानम् । तत्रापि स्वहस्तेन न स्पृश्यं किन्तु श्रावकादिहस्तेन स्थापनीयम । *जइ लेइ अप्पबहुयं* यदि लाति *गृह्णात्यल्पबहुकं* वा निजोदरपोषणबुद्धया च । *तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं* ततः पुनर्याति निगोदं प्रशंसनीयगतिं न गच्छतीत्यर्थः ।। १८ ।।

कहते हैं कि प्रासुक आहार सब जगह लिया जाता है, चाहे वह व्रती-श्रावक के द्वारा दिया हुआ हो और चाहे अव्रती के द्वारा । परन्तु इस विशेष व्याख्यान से ऐसे आहार का त्याग होता है, ऐसा समझना चाहिये । मुनि खडे होकर एक ही वार भोजन करते हैं, वार वार नहीं । जो जैनाभास घर घर से भिक्षा लाकर अनेक वार खाता है वह वन्दना के योग्य नहीं है ।। १७ ।।

गाथार्थ—नग्न-मुद्राके धारक मुनि तिलतुष मात्र भी परिग्रह अपने हाथोंमें ग्रहण नहीं करते । यदि थोड़ा बहुत ग्रहण करते हैं तो निगोद जाते हैं ।। १८ ।।

विशेषार्थ—'यथा-जात' तत्काल उत्पन्न हुए बालक को कहते हैं उसके समान जिनका रूप है वे सर्वज्ञ वीतराग हैं । उनके सदृश नग्न शरीरको धारण करने वाले निर्ग्रन्थ साधु अपने हाथोंमें तिलकी भुसी बराबर भी परिग्रह नहीं रखते । यदि कदाचित् अपने उदर पोषण की बुद्धिसे थोडा बहुत रखते हैं तो उसके फलस्वरूप निगोद को प्राप्त होते हैं

यहां संस्कृत टीकाकारने लिखा है कि यह उत्सर्ग व्याख्यान–सामान्य कथन प्रमाण रूप ही है किन्तु इन्द्रनन्दी भगवान् ने जो यह उल्लेख किया है कि–

क्वचित्—"कहीं आचार्य कालकी परिस्थिति के अनुसार गच्छ तथा पुस्तकों की **वृद्धिके लिये उस द्रव्यको भी ग्रहण करते हैं जो विना याचना के प्राप्त हुआ हो तथा अत्यन्त अल्प हो"** ।

यह अपवाद व्याख्यान है। इस अपवाद मार्गका कथन करते हुए उन्होंने कहा है कि आचार्य उस अयाचित और अल्प द्रव्यको अपने हाथ से न छुएं, श्रावक आदि के हाथ में ही रक्खें। अर्थात् उसके स्वामित्व के भागी न बनें ॥ १८ ॥

[प्रश्न—जब कि मुनि के शरीर है, आहार है, कमण्डलु है, पीछी है, शास्त्र है, तब तिल तुष मात्र परिग्रह का अभाव किस प्रकार संभव है ?

समाधान—मिथ्यात्व-सहित रागभाव से, अपना मानकर विषय कषायकी पुष्टि के लिये जिस वस्तुको रखा जाता है उसे परिग्रह कहते हैं। ऐसे परिग्रह का अल्प या बहुत रखनेका निषेध किया है। संयम, शुचि और ज्ञानके उपकरणों का निषेध संभव नहीं है। शरीर, इच्छा करने पर भी आयुपर्यन्त छूट नहीं सकता है इसलिये उसके ममत्व भावके त्यागका ही उपदेश दिया है। यही शरीर रूप परिग्रह का छाडना है। जब तक शरीर है तब तक उसकी स्थिरता के लिये आहार आवश्यक है, अतः उसका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। संयम का साधन शरीरसे होता है और शरीर की स्थिरता आहार से होती है, अतः चरणानुयोगके अनुसार शुद्ध आहार मुनि ग्रहण करते हैं। मयूर-पिच्छ संयमका उपकरण है उसके विना जीव जन्तुओं की रक्षा नहीं हो सकती, अतः उसे ग्रहण करना आवश्यक बताया है। कमण्डलु शुचिता का कारण है उसके विना मल मूत्रादि विसर्जन के समय शरीर की शुद्धि नहीं हो सकती और शरीरकी शुद्धि के विना शास्त्रका स्पर्श वर्जित होने से स्वाध्याय भी नहीं बन सकता, अतः कमण्डलु रखना मुनिके लिये आवश्यक है। अब रहा शास्त्र सो यह ज्ञानका उपकरण है, अतः इसे मुनि साथ रखते हैं इतना अवश्य है कि स्वाध्याय पूर्ण हो जाने पर वे उसे विना किसी ममत्व भावके छोड देते हैं तथा एक दो—सीमित शास्त्र ही साथ रखते हैं। विशिष्ट अध्ययन के लिये मन्दिर या सरस्वती भवन आदिके अनेक शास्त्रोंका भी उपयोग होता है परन्तु उनके प्रति स्वामित्वका भाव न होने से वे परिग्रह की कोटि में नही आते।

प्रश्न—मुनि के लिये परिग्रह त्यागका जो उपदेश है, वह उत्सर्ग मार्ग है परन्तु अपवाद मार्गमें वस्त्रादिक उपकरण रखे जा सकते है, ऐसा जैनाभास का कहना है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार पीछी कमण्डलु और शास्त्र धर्मोपकरण हैं उसी प्रकार वस्त्रादिक भी धर्मोपकरण हैं। जिस प्रकार आहारके द्वारा क्षुधाकी वाधा मेटकर शरीर द्वारा संयमका साधन किया जाता है उसी प्रकार वस्त्रादिके द्वारा शीत आदिकी वाधा दूर कर संयमका साधन किया जाता है, अतः वस्त्र और आहारादि परिग्रहमें कोई विशेषता नहीं है ?

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स ।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो ॥ १६ ॥

यस्य परिग्रहग्रहणमल्पं बहुकं च भवति लिंगस्य ।
स गर्हणीयो जिनवचने परिग्रहरहितो निरागारः ॥ १६ ॥

जस्स परिग्गह गहणं यस्य मुनेः श्वेताम्बरादेः परिग्रहग्रहणं शासनं भवति *अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स* अल्प-अर्द्धफालादिकं [1]बहुयं—चतुर्दिशत्यावरणादिकं भवति लिङ्गस्य कपटकर्पटसितपटादेर्वेषे। *सो गरहिउ जिणवयणे* तल्लिङ्गं स वेषो निन्दितोऽप्रशंसनीयो भवति। क्व ? जिणवयणे—श्रीवर्द्धमान-गौतमादिप्रतिपादितसिद्धान्तशास्त्रे। तथा चोक्तं समन्तभद्रेण गुरुणा—

[2]त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्वाशयप्रणामामहितः ।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलधामहितः ॥

अत्र ग्रन्थिकसत्वाः सितपटाः प्रभाचन्द्रेण क्रियाकलापटीकायां व्याख्याताः, सितपटाभासास्तु [3]लौकायतिका अतीव निन्द्या अशौचव्यवहारोच्छिष्टान्नभोजित्वात्। *परिगहरहिओ निरायारो* परिग्रहरहितो हि मुनिर्निरागारोऽनगारो यतिर्भवति यस्मात्कारणादिति शेषः ॥ १६ ॥

समाधान—विशेषता क्यों नहीं है ? शरीरकी स्थिरताके लिये जिस प्रकार आहार अपरिहार्य है उस प्रकार वस्त्रादि अपरिहार्य नहीं है। वस्त्रादिकके विना मनुष्य जीवित रह सकता है परन्तु आहार के विना नहीं रह सकता, अतः वस्त्रादिक और आहारकी समानता नहीं है। वस्त्रका ग्रहण मनुष्य अपना विकार भाव छिपाने के लिये करता है, अतः जिसके विकार भावकी सभावना है उसे वस्त्र धारण कर गृहस्थके वेषमें ही रहना चाहिये परिग्रह-त्यागीका उत्कृष्ट वेष रख कर अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिये अपवाद मार्ग की कल्पना करना उचित नहीं है। फिर अपवाद मार्ग तो वह है जिसके अपनाने पर भी मुनिपद की रक्षा बनी रहे किन्तु इसके विपरीत जिसके अपनाने पर मुनि पद ही छूट जाय वह अपवाद मार्ग कैसा ? जिनागम में सब प्रवृत्ति को छोड़ ध्यानस्थ हो शुद्धोपयोग में लीन होने को उत्सर्ग मार्ग कहा है और दिगम्बर मुद्रा रख कर पीछी कमण्डलु सहित आहार विहार तथा उपदेशादिक में प्रवृत्ति करने को अपवाद मार्ग बतलाया है। इसके विपरीत अन्य अपवाद मार्गकी कल्पना करना शास्त्र-सम्मत नहीं है।] ॥१८॥

गाथार्थ—जिस वेषमें थोड़ा या बहुत परिग्रह का ग्रहण होता है वह निन्दनीय है क्योंकि जिनवचन में परिग्रह रहित को ही मुनि बताया है ॥ १९ ॥

१-बहुयं च म० । २--स्वयंभूस्तोत्रे समन्तभद्रस्य ३—लोकायतिकाः म० ।

पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होइ।
णिग्गंथ मोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥ २० ॥

पञ्चमहाव्रतयुक्तः तिसृभिर्गुप्तिभिर्यः स संयतो भवति।
निर्ग्रन्थमोक्षमार्गः स भवति हि वन्दनीयश्च ॥ २० ॥

विशेषार्थ—जिस श्वेताम्बर आदि मुनिके परिग्रहका ग्रहण बताया है तथा जिस कपट कर्पट या श्वेताबर आदिके वेष में अर्द्धफालादिक अल्प तथा चतुर्विंशतिआवरणादिक अधिक परिग्रह पाया जाता है वह वेष श्री भगवान् महावीर और गौतम आदि गणधरों के द्वारा प्रतिपादित शास्त्रमें निन्दनीय कहा गया है। जैसा कि समन्तभद्र गुरु ने कहा है

त्वमसि—हे वीर जिन ! आप सुरों तथा असुरोंसे पूजित हैं, किन्तु परिग्रही प्राणियों के हृदय से प्राप्त होने वाले प्रणाम से पूजित नहीं हैं। आप तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिये परम हित रूप हैं, आवरण-रहित केवलज्ञान रूप ज्योति से सहित हैं तथा देदीप्यमान तेज से हितकारी हैं।

यहां 'ग्रन्थिकसत्व' शब्दसे श्वेताम्बरों का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि प्रभाचन्द्र ने क्रियाकलाप की टोका में ऐसी ही व्याख्या की है। उन श्वेताम्बरों में श्वेताम्बराभास लौंका गच्छ के साधु अत्यन्त निन्द्य हैं क्योंकि वे नीच लोगोंके भी उच्छिष्ट अन्नको ग्रहण कर लेते हैं। यथार्थ में परिग्रहरहित मुनि ही मुनि कहलाते हैं।

[भगवान् महावीर स्वामी स्वयं निर्ग्रन्थ थे तथा साधुओंके लिये उन्होंने निर्ग्रन्थ वेषका ही प्रतिपादन किया था परन्तु कालदोष से मुनियों के निर्ग्रन्थ वेष में धीरे धीरे ग्रन्थ--परिग्रह का प्रवेश होता गया। सर्व प्रथम अर्द्धफालिक रूप से मुनियों में परिग्रहका प्रवेश हुआ अर्थात् कुछ मुनि आहार के लिये जब नगरों में जाते थे तब कटिसे नीचे का भाग एक वस्त्र से आच्छादित कर लेते थे, आहार के बाद उसे अलग कर देते थे। इन साधुओं को कपटकर्पट कहा है। इसके अनन्तर कुछ मुनि स्पष्ट रूप से श्वेत वस्त्र धारण करने लगे, वे सितपट या श्वेताम्बर कहे जाने लगे। ये साधु होकर भी वस्त्र पात्र तथा दण्ड आदि परिग्रह रखने लगे। आगे चल कर इन्हीं श्वेताम्बरों में लौंका गच्छ के साधु हुए जो सितपटाभास या श्वेताम्बराभास कहलाते थे इनका आचार प्रशस्त नहीं था। श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने परिग्रही जीवों का सामान्य उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस लिङ्ग-साधु के वेष में थोड़ा या बहुत परिग्रहका ग्रहण है वह वेष गर्हणीय है-अप्रशंसनीय है क्योंकि जिनागम में साधु को परिग्रह रहित ही बताया है।] ॥ १९ ॥

पंचमहव्वयजुत्तो पञ्चमहाव्रतैर्युक्तः प्राणातिपातानृतादत्तपरिग्रहरहितः पुमान् पञ्चमहाव्रतयुक्त उच्यते। यस्तु स्तोकमपि परिगृहीतं करोति सोऽणुव्रतः सागारोऽव्रतो वा कथ्यते। तेन वस्त्रादौ परिग्रहे सति तत्र यूकालिक्षादयस्त्रीन्द्रिया जीवा उत्पद्यन्ते। यदि ततोऽपनीयान्यत्र क्षिप्यन्ते ततो म्रियन्ते कथं प्राणातिपातनरहितो निरागारो भवति। अलमिति विस्तरेण, परिग्रहवान् महाव्रती न भवति। *तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होदि* तिसृभिर्गुप्तिभिर्युक्तो यो मुनिः स संयतः संयमवान् भवति। *णिग्गंथमोक्खमग्गो* निर्ग्रन्थमोक्षमार्गं या मन्यते। *सो होदि हु वंदणिज्जो* स भवति हु-स्फुटं वन्दनीयः। यः सग्रन्थमोक्षमार्गं मन्यते स मिथ्यादृष्टिर्जैनाभासश्चावन्दनीयो भवतीति भावार्थः॥ २०॥

दुइयं च वुत्तलिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
भिक्खं भमेइ [१]पत्तो समिदीभासेण मोणेण ॥२१॥

द्वितीयं चोक्तं लिङ्गमुत्कृष्टमवरश्रावकाणाञ्च।
भिक्षां भ्रमति पात्रः समितिभाषेण मौनेन ॥२१॥

दुइयं च वुत्तलिंगं द्वितीयं चोक्तं लिङ्गं वेषः। *उक्किट्ठं अवरसावयाणं च* उत्कृष्टं लिङ्गमवरश्रावकाणां चागृहस्थश्रावकाणाम्। सोऽवरश्रावकः। *भिक्खं भमेइ पत्तो* भिक्षां भ्रमति पात्रसहितः करभोजी वा। *समिदिभासेण मोणेण* ईर्यासमितिसहितः मौनवांश्च, उत्कृष्टश्रावको दशमैकादशप्रतिमाः प्राप्तः। उक्तञ्च [२]समन्तभद्रेण यतिना।

आद्यास्तु षड्जघन्याःस्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥१॥
एकादशके स्थाने ह्युत्कृष्टः श्रावको भवेद् द्विविधः।
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु ॥२॥
कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमायोगं करोति नियमेन।
लोचं पिच्छं धृत्वा भुङ्क्ते ह्युपविश्य पाणिपुटे ॥३॥
वीरचर्या च सूर्यप्रतिमा त्रैकाल्ययोगनियमश्च।
सिद्धान्तरहस्यादिष्वध्ययनं नास्ति देशविरतानाम् ॥४॥

गाथार्थ—जो पांच महाव्रत और तीन गुप्तियोंसे सहित है वही संयत—संयमी—मुनि होता है और जो निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग को मानता है वही वन्दना करनेके योग्य है ॥२०॥

विशेषार्थ—जो पुरुष प्राणातिपात—हिंसा, अनृत—असत्यभाषण, अदत्त—चोरी, सुरत—स्त्रीसंभोग और परिग्रह—अन्तरङ्ग बहिरङ्ग परिग्रह इन पांच पापों से सर्वथा विरत होता है वह पञ्चमहाव्रतका धारी कहलाता है। इसके विपरीत जो थोड़ा भी परिग्रह स्वीकृत करता है वह अणुव्रती गृहस्थ अथवा अव्रती कहलाता है। जब साधु वस्त्र आदि

१—पंडित जयचन्द्रजी ने अपनी भाषा वचनिकामें पत्ते पाठ स्वीकृत किया है। २—अस्य स्थाने सोमदेवेनेति युक्तं भाति (म० टि०)

परिग्रहको स्वीकृत करता है तब उन वस्त्र आदि में चोलर तथा जुएं आदि त्रीन्द्रिय जीव उत्पन्न होजाते हैं। यदि उन जीवोंको वस्त्र आदि से अलग करके दूसरे स्थान पर डाला जाता है तो वे मर जाते हैं और उनके मरने पर साधु हिंसासे रहित कैसे हो सकता है ? अधिक विस्तार से क्या लाभ है, संक्षेपसे यही समझना चाहिये कि परिग्रही मनुष्य महाव्रती नहीं होसकता। कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ये तीन गुप्तियां हैं। जो मुनि ऊपर कहे हुए पांच महाव्रतों तथा तीन गुप्तियोंसे युक्त होता है वह संयत कहलाता है। साथ ही जो मुनि निर्ग्रन्थ—निष्परिग्रह अवस्था को ही मोक्षमार्ग मानता है वह स्पष्ट रूपसे वन्दना करनेके योग्य है। इसके विपरीत जो सग्रन्थ—सपरिग्रह अवस्थाको मोक्षमार्ग मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, जैनाभास है तथा वन्दना के अयोग्य है ॥२०॥

गाथार्थ—दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावकोंका कहा गया है। यह उत्कृष्ट श्रावक भिक्षाके लिये भ्रमण करता है, पात्र सहित होता है अथवा हाथ में भी भोजना करता है और भिक्षाके लिये भ्रमण करते समय भाषासमिति रूप बोलता है अथवा मौन रखता है।

विशेषार्थ—मुनिलिङ्ग के सिवाय दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावकका कहा गया है। प्रतिमाओंकी अपेक्षा श्रावकोंके ग्यारह भेद हैं उनमें प्रारम्भ की छह प्रतिमाओं के धारक मनुष्य गृहस्थ श्रावक कहलाते हैं और आगे की पांच प्रतिमाओंके धारक अगृहस्थ श्रावक माने जाते हैं। अगृहस्थ श्रावकों में दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाके धारक उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। परन्तु दशमप्रतिमाधारी श्रावकका कोई लिङ्ग-वेष नहीं होता अतः यहां उत्कृष्ट श्रावक से ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक का ही ग्रहण समझना चाहिये। ग्याहरवीं प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक-क्षुल्लक अथवा ऐलक भिक्षा के लिये भ्रमण करता है यह पात्र से सहित होता है अर्थात् पात्र में भोजन करता है और ऐलक की अपेक्षा हस्त पुटमें ही भोजन करता है। मूल गाथा के अनुसार भाषा समितिसे बोलता है अ वा मौन पूर्वक भ्रमण करता है। परन्तु संस्कृत टीका के अनुसार यह उत्कृष्ट श्रावक ईर्या समिति से चलता है और मौन रख कर ही भ्रमण करता है। श्रावकों के भेदों का वर्णन करते हुए श्री महाकवि समन्तभद्र (?) सोमदेव ने कहा भी है—

आद्यास्तु—जिन शासन में प्रारम्भ के छह श्रावक जघन्य, उसके बादके तीन श्रावक मध्यम तथा अन्त के दो श्रावक उत्तम कहे गये हैं ॥१॥

एकादशके—ग्यारहवें स्थान में जो उत्कृष्ट श्रावक है वह दो प्रकार का होता है १ क्षुल्लक और ऐलक। पहला एक वस्त्र तथा कौपीन को धारण करता है और दूसरा कौपीनमात्र ही रखता है ॥ २ ॥

लिंगं इच्छीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि ।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ॥ २२ ॥

लिङ्गं स्त्रीणां भवति भुङ्क्ते पिंडं स्वेककाले ।
आर्यापि एकवस्त्रा वस्त्रावरणेन भुङ्क्ते ॥ २२ ॥

लिंगं इत्थीणं हवदि तृतीयं लिङ्गं वेषः स्त्रीणां भवति । *भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि* भुङ्क्ते पिण्डमाहारं सुष्ठु निश्चलतया एककाले दिवसमध्ये एकवारम् । *अज्जिय वि एक्कवत्था* आर्यापि एकवस्त्रा भवति अपि शब्दात् क्षुल्लिकापि संव्यानवस्त्रेण सहिता भवति । *वत्थावरणेण भुंजेइ* भोजनकाले एक शाटकं धृत्वा भुङ्क्ते संव्यानमुपरितनवस्त्रमुतार्य भोजनं कुर्यादित्यर्थः ॥ २२ ॥

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो ।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥

नापि सिध्यति वस्त्रधरो जिनशासने यद्यपि भवति तीर्थकरः ।
नग्नो विमोक्षमार्गः शेषा उन्मार्गकाः सर्वे ॥ २३ ॥

ण वि सिज्झइ वत्थधरो नापि सिद्ध्यति नैव सिद्धिमात्मोपलब्धिलक्षणं मुक्तिं लभते वस्त्रधरो मुनिः । *जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो* जिनशासने श्रीवर्धमान-स्वामिनो मते यद्यपि भवति तीर्थंकरः तीर्थंकरपरमदेवोऽपि यदि भवति । गर्भावतारादि-पञ्चकल्याणवानपि सिद्धो न भवति, आस्तां तावदन्योऽनगार केवल्यादिकः । *णग्गो विमोक्खमग्गो* नग्नो वस्त्राभरणरहितो विमोक्षमार्गः ज्ञातव्यः । *सेसा उम्मगया सव्वे* शेषाः सितपटादीनां मार्गाः सर्वेऽपि उन्मार्गकाः कुत्सिता मिथ्यारूपा मार्गा [1]जानीया विद्वद्भिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

कोपीनोऽसौ—मात्र कौपीन को धारण करने वाला ऐलक रात्रि में प्रतिमा योग धारण करता है, नियम से केशलोंच करता है, पीछी रखता है और बैठ कर हस्त-पुटमें आहार करता है ॥ ३ ॥

वीरचर्या—वीर चर्या—मुनियों की तरह चर्याके लिये निकलना, सूर्य प्रतिमा—दिन में नग्न होकर प्रतिमायोग धारण करना, शीत, उष्ण और ग्रीष्म ऋतुमें योगधारण करना और सिद्धान्त तथा प्रायश्चित्त आदि शास्त्रोंका अध्ययन करना श्रावकों के लिये निषिद्ध है ॥ ४ ॥ ॥ २१ ॥

गाथार्थ—तीसरा लिङ्ग स्त्रियों का है इस लिङ्ग को धारण करने वाली स्त्री दिनमें एक ही वार आहार ग्रहण करती है । वह आर्यिका भी हो तो एक ही वस्त्र धारण करे और वस्त्र के आवरण सहित भोजन करे ॥ २२ ॥

विशेषार्थ—स्त्रियोंमें उत्कृष्ट वेषको धारण करने वाली आर्यिका और क्षुल्लिका

१—मार्गा ज्ञेया ज्ञानीया म० ।

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
भणिओ सुहुमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥ २४ ॥

लिङ्गे च स्त्रीणां स्तनान्तरे नाभिकक्षादेशेषु ।
भणितः सूक्ष्मः कायस्तासां कथं भवति प्रव्रज्या ॥ २४ ॥

लिंगम्मि य इत्थीणं लिङ्गे योनिमध्ये स्त्रीणां योषिताम् । *थणंतरे णाहि कक्ख देसेसु* स्तनान्तर द्वयोः स्तनयोर्मध्ये वक्षः प्रदेशे, नाभिकक्षादेशेषु नाभौ तुन्दिकायां, कक्षादेशयोर्बाह्वोः मूलयोर्द्वयोः स्थानयोः *भणिओ सुहुमो काओ* भणित आगमे प्रतिपादितः, कोऽसौ भणितः ? सूक्ष्मः कायः सूक्ष्मजीवशरीर लोचना-

---

दो हैं । दोनों ही दिनमें एक वार आहार लेती हैं । आर्यिका मात्र एक वस्त्र-सोलह हाथ की एक सफेद साड़ी रखती है और अपि शब्दसे ध्वनित होता है कि क्षुल्लिका एक साड़ी के सिवाय एक ओढ़ने को चद्दर भी रखती हैं। भोजन करते समय एक साड़ी रख कर ही दोनों भोजन करती हैं । अर्थात् आर्यिका के पास तो एक साडी है पर क्षुल्लिका ऊपर का वस्त्र (चद्दर) उतार कर भोजन करती है ॥ २२ ॥

गाथार्थ—जिन शासन में कहा है कि वस्त्रधारी पुरुष सिद्धि को प्राप्त नहीं होता भले ही वह तीर्थंकर भी क्यों न हो ? नग्न वेष ही मोक्ष–मार्ग है शेष सब उन्मार्ग हैं, मिथ्या मार्ग हैं ॥ २३ ॥

विशेषार्थ—श्री अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्धमान स्वामी के मत में कहा गया है कि यदि तीर्थंकर भी हो अर्थात् गर्भावतरण आदि पञ्च कल्याणकों के धारक तीर्थंकर परम देव भी हों तो भी वस्त्र के धारक मुनि स्वात्मोपलब्धि रूप लक्षणसे मुक्त–सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकते । जब तीर्थंकर भी सवस्त्र अवस्था में सिद्ध नहीं हो सकते तब अन्य अनगार केवली आदिकी बात तो दूर ही रहो। वस्त्राभूषणसे रहित नग्न वेष ही विशिष्ट मोक्षका मार्ग है ऐसा जानना चाहिये । शेष श्वेताम्बरादिकों के मत उन्मार्ग रूप हैं, निन्दनीय हैं और मिथ्यारूप हैं, ऐसा विद्वानोंको जानना चाहिये ॥ २३ ॥

[तीर्थंकर भगवान् नियम से मोक्षगामी हैं परन्तु जब तक वे गृहस्थ अवस्था में रहते हैं-वस्त्राभूषण आदि परिग्रह धारण करते हैं तब तक मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते। जब तीर्थंकर-जैसे महापुरुषों को भी मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से नग्न होना पडता है-- समस्त परिग्रह का त्याग करना पडता है, तब साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है ? नग्न होना बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्याग का उपलक्षण है, अतः परिग्रह के रहते हुए मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। इतना स्पष्ट होते हुए भी जो श्वेताम्बर, सवस्त्र मुक्ति मानते हैं उनका वैसा मानना उन्मार्ग ही है ।]

यगोचरः सूक्ष्मः पञ्चेन्द्रियपर्यन्तो जीववर्गः। तासिं कह होइ पव्वज्जा तासां स्त्रीणां कथं भवति प्रव्रज्या दीक्षा अपि तु न भवति। यदि प्रव्रज्या न भवति तर्हि कथं पञ्च महाव्रतानि दीयन्ते ? सत्यमेतत् सज्जाति ज्ञापनार्थं महाव्रतानि उपचर्यन्ते स्थापना न्यासः क्रियत इत्यर्थः। तथा चोक्तं शुभचन्द्रेण महाकविना—

[1]मैथुनाचरणे मूढ ! म्रियन्ते जन्तुकोटयः।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिङ्गसंघट्टपीडिताः ॥ १ ॥

कियन्तो जन्तवो म्रियन्त इति चेत् ? घाते घाते असंख्येयाः कोटयः। "घाए घाए असंखेज्जा" इति वचनात्

[2]जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया[3] ॥ २५ ॥

यदि दर्शनेन शुद्धा उक्ता मार्गेण सापि संयुक्ता।
घोरं चरित्वा चारित्रं स्त्रीषु न प्रव्रज्या भणिता ॥ २५ ॥

जइ दंसणेण सुद्धा यदि दर्शनेन सम्यक्त्वरत्नेन शुद्धा निर्मला भवति। *उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता* तदा मार्गेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणेन सापि स्त्री च संयुक्ता भवति-पञ्चमगुणस्थानं प्राप्नोति, स्त्रीलिङ्गं छित्वा स्वर्गाग्रे देवो भवति, ततश्च्युत्वा मनुष्यभवमुत्तमं प्राप्य मोक्षं लभते। उक्तं च

सम्यग्दर्शनसंशुद्धमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥

अवि य वधो जीवाणं मेहुणसेवणाए होदि बहुगाणं
तिलणालीए तत्तायसप्पवेसो व्व जोणीए ॥ ३५ ॥

त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति ४ अ०

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥ १०८ ॥

पुरुषार्थ०

१–ज्ञानार्णवे शुभचन्द्रस्य।

२–ग प्रतौ एवं टिप्पणी वर्तते–'यदि दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धा निर्मला सा स्त्री मार्गे संयुक्ता उक्ता कथिता घोरं उग्रं चरित्रं चरित्वा प्राश्रयित्वा, स्त्रीषु निःपापा भणिता'

पं० जयचन्द जी ने भी हिन्दी वचनिकामें 'पावया' की छाया 'पापका' स्वीकृत कर गाथाका यह अर्थ किया है- स्त्रीनि विषैं जो स्त्री, दर्शन कहिये यथार्थ जिनमत की श्रद्धा करि शुद्ध हैं सो भी मार्गकर संयुक्त कही हैं। जो घोर चारित्र तीव्र तपश्चरणादिक आचरण कर पापतैं रहित होय हैं तातैं पाप-युक्त न कहिये। भावार्थ–स्त्रीनि विषैं जो स्त्री सम्यक्त्व करि सहित होय और तपश्चरण करै तो पाप-रहित होय स्वर्ग कूं प्राप्त होय तातैं प्रशंसा योग्य है अर स्त्री पर्याय तैं मोक्ष नाहीं।

३–'यमिभिर्जन्म निर्विण्णैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः। तथाप्येकान्ततस्तासां विद्यते नाघसंभवः, ॥ ५६ ॥
ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः। निजवंशतिलकभूताः श्रुतसत्यसमान्विता नार्यः ॥ ५७ ॥
सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च। विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम् ॥ ५८ ॥

ज्ञानार्णवे शुभचन्द्रस्य

स्वर्गेऽपि गताः पुनः स्त्रीलिङ्गं न लभते । तदप्युक्तं समन्तभद्रेण महाकविना—

[1]सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसक स्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ १ ॥

घोरं चरिय चरित्तं घोरं कातरजनभीतिजनकं चारित्रं चरित्वा षोडशसु स्वर्गेष्वन्यतमं स्वर्गं यान्ति अहमिन्द्रत्वमपि स्त्रीभवे न लभन्ते कथं मोक्षं स्त्रीभवे प्राप्नुवन्ति । तेन कारणेन इत्थीसु ण पावया भणिया स्त्रीषु न प्रव्रज्या निर्वाणयोग्या दीक्षा भणिता । इत्यनया गाथया सितपटानां मतं स्त्रीमुक्तिप्राप्तिलक्षणं [2]परित्यक्तं भवति । मरुदेवी-ब्राह्मी-सुन्दरी-यशस्वती-सुनन्दा-सुलोचना सीता-राजीमती-चंदना-अनन्तमति द्रौपदीत्यादिकाः स्त्रियः स्वर्गं गता न तु मोक्षमिति ।

गाथार्थ—स्त्रियों की योनि में, स्तनों के बीच में, नाभि और कांख में सूक्ष्म शरीर के धारक जीव कहे गये हैं अतः उनके दीक्षा कैसे हो सकती है ॥ २४ ॥

विशेषार्थ—स्त्रियों के लिङ्ग अर्थात् योनि में, दोनों स्तनोंके बीच वक्ष-स्थलमें, नाभि और बाहुमूल में सूक्ष्म-दृष्टि-अगोचर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त तक के जीव आगम म कहे गये हैं । अतः उनके दीक्षा नहीं हो सकती है ।

प्रश्न—यदि स्त्रियोंके दीक्षा नहीं होती तो उन्हें पञ्च महाव्रत क्यों दिये जाते हैं ?

उत्तर—यह सत्य है किन्तु सज्जाति को बतलाने के लिये महाव्रतोंका उपचार होता है, यथार्थ में महाव्रत न होने पर भी उनकी स्थापना की जाती है ।

जैसा कि महाकवि शुभचन्द्र ने कहा है—

मैथुनाचरणे—अरे मूर्ख प्राणी ! स्त्रियों के साथ मैथुन करने में उनके योनिरूप छिद्र में उत्पन्न हुए करोडों जीव लिङ्गके आघात से पीडित होकर मरते हैं ।

प्रश्न—कितने जीव मरते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक आघात में असंख्यात करोड़ । क्योंकि आगमका वचन है 'घाए घाए असंखेज्जा' अर्थात् लिङ्ग के प्रत्येक आघात में असंख्यात करोड जीव मरते हैं' ॥२४॥

गाथार्थ—यदि स्त्री सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है तो वह भी मार्ग से युक्त कही गई है । वह कठिन चारित्रका आचरण करके स्वर्ग में उत्पन्न होती है, अतः स्त्रियों के दीक्षा नहीं कही गई है ॥ २५ ॥

विशेषार्थ—यदि स्त्री सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से शुद्ध है तो वह सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी मार्ग से युक्त होती हुई पञ्चम गुणस्थान को प्राप्त होती है तथा स्त्रीलिङ्ग छेद कर स्वर्ग के अग्रभाग में देव होती है, वहां से च्युत होकर उत्तम मनुष्य भव प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त होती है । जैसा कि कहा है—

१–रत्नकरण्ड श्रावकाचारे । २–प्रस्पुक्तं म० क० ।

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण ।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु णऽसंकया झाणं ॥२६॥

चित्ताशोधिर्न तासां शिथिलो भावस्तथा स्वभावेन ।
विद्यन्ते मासास्तासां स्त्रीषु नाशङ्कया ध्यानम् ॥२६॥

चित्तासोहि ण तेसिं चित्तस्य मनसः आ समन्ताच्छोधिर्निर्मलता न विद्यते तासां स्त्रीणाम् । *ढिल्लं भावं तहा सहावेण* शिथिलो भावः परिणामस्तथा स्वभावेन प्रकृत्यैव, कस्मिंश्चिद् व्रतादावतिदाढ्यं न वर्तते । *विज्जदि मासा तेसिं* विद्यन्ते मासा—मासे मासे रुधिरस्रावस्तासां स्त्रीणाम् । *इत्थीसु णऽसंकयाझाणं* स्त्रीषु न वर्तते, किं तत् ? अशङ्कया निर्भयतया ध्यानमेकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणमिति भावः । "लुकू" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेणाकारलोपः ।

सम्यग्दर्शन—सम्यग्दर्शन से शुद्ध चाण्डालको भी गणधरादिक देव, भस्म से छिपे हुए अङ्गार के समान अभ्यन्तर तेजसे युक्त देव कहते हैं ।

स्त्री यदि स्वर्ग भी जाती है तो स्त्री लिङ्ग को प्राप्त नहीं होती । यह भी महाकवि समन्तभद्र ने कहा है—

सम्यग्दर्शन शुद्धा—सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य व्रत-रहित होने पर भी नरक, तिर्यञ्च नपुंसक, स्त्री-पर्याय, नीच-कुल, विकलाङ्ग—अवस्था, अल्प आयु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते ।

स्त्री, भीरु—मनुष्य को भय उत्पन्न करने वाले चारित्रका आचरण करके सोलह स्वर्गों में से किसी स्वर्ग को प्राप्त होती है । स्त्रियां स्त्रीभव में जब अहमिन्द्रपद को प्राप्त नहीं कर सकतीं तब मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकती हैं ? इसी कारण से स्त्रियों में निर्वाण प्राप्ति के योग्य दीक्षा नहीं कही गई है । इस गाथा से श्वेताम्बरीय स्त्री-मुक्तिमत का निराकरण हो जाता है । मरुदेवी, ब्राह्मी, सुन्दरी, यशस्वती, सुनन्दा, सुलोचना, सीता, राजीमति, चन्दना, अनन्तमति तथा द्रौपदी आदि स्त्रियां स्वर्ग गई हैं, मोक्ष नहीं गई हैं ॥ २५ ॥

गाथार्थ—स्त्रियोंके चित्तकी शुद्धता नहीं है, उनके परिणाम स्वभावसे ही शिथिल रहते हैं, प्रत्येक मासमें उनके रुधिरस्राव होता है और निर्भयता पूर्वक उनके ध्यान नहीं होता ॥ २६ ॥

विशेषार्थ—यहां स्त्रीको दीक्षा क्यों नहीं है ? इसके कुछ अन्य कारणों पर प्रकाश डाला गया है । स्त्रीके मनमें सब ओर से शुद्धता का अभाव रहता है अर्थात् निर्मलता का पूर्ण अभाव रहता है । उसके परिणामोंमें स्वभाव से ढीलापन रहता है अर्थात् किसी

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण ।
इच्छा जाहु नियत्ता ताह नियत्ताइं सव्वदुक्खाइं ।।२७।।

ग्राह्येण अल्पग्राहाः समुद्रसलिले स्वचेलार्थेन ।
इच्छा येभ्यो निवृत्ता तेषां निवृत्तानि सर्वदुःखानि ।।२७।।

गाहेण अप्पगाहा ग्राह्येण आहारादिना ये मुनयोऽल्पग्राहाः स्तोकं गृह्णन्ति । *समुद्दसलिले सचेल अत्थेण* यथा समुद्रसलिले प्रचुरजलाशये सत्यपि स्वचेलप्रक्षालनार्थमल्पमेव जलं गृह्यते किं क्रियतेऽधिक-जलग्रहणेन । *इच्छा जाहुनियत्ता* इच्छा तृष्णा लोभलक्षणा येभ्यो मुनिभ्यो निवृत्ता गता । *ताह नियत्ताइं सव्वदुःखाइं* तेषां निवृत्तानि नष्टानि सर्वदुःखानि शारीरमानसागन्तूनि कष्टानि नष्टान्येव समीपतरसिद्धि-सुखसंभवादिति भावः ।।२७।।

व्रत आदि में उसके अत्यन्त दृढता नहीं रहती है । प्रत्येक मासमें रुधिरस्राव होता है तथा भीरुप्रकृति होनेके कारण निःशङ्करूपसे एकाग्रचिन्तानिरोध रूप लक्षणसे युक्त ध्यान भी नहीं होता । गाथा में जो 'ण संकया' पाठ है वहां ण अशङ्कया ऐसा पाठ समझना चाहिये क्योंकि 'लुक्च' इस प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'असंकया' यहां पर अकारका लोप होगया है ।।२६।।

गाथार्थ—जिस प्रकार समुद्रके समान बहुत भारी जलके विद्यमान रहने पर भी अपने वस्त्रको धोने की इच्छा करने वाला मनुष्य थोड़ा ही जल ग्रहण करना है उसी प्रकार मुनि भी गृहस्थों के घर बहुत भारी सामग्री रहने पर भी आवश्यकताके अनुसार आहारादिकी अपेक्षा अल्प ही ग्रहण करते हैं । यथार्थ में जिनकी इच्छा दूर हो गई है उनके सब दुःख दूर होगये हैं ।।२७।।

विशेषार्थ—जिस प्रकार प्रचुर जलाशयके रहते हुए भी अपने वस्त्रको धोनेके लिये थोडा ही जल लिया जाता है, अधिक जल ग्रहण से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं । उसी प्रकार मुनि भी श्रावकों से आहार आदि अल्प पदार्थ ही ग्रहण करते हैं, अधिक नहीं । वास्तव में जिनकी लोभ रूप इच्छा नष्ट हो चुकी है उनके शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक समस्त दुःख नष्ट ही होजाते हैं तथा मोक्ष सुखकी प्राप्ति अत्यन्त समीप हो जाती है ।।२७।।

इति *श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्य गृद्धपिच्छाचार्य नामपञ्चक*विराजितेन *श्री सीमन्धर-स्वामि-*ज्ञानसम्बोधित-भव्यजनेन *श्री जिनचन्द्रसूरि-*भट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृत ग्रन्थे सर्वमुनिमण्डल-मण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना *श्री मल्लिभूषणेन* भट्टारकानुमतेन सकल-विद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना *श्री विद्यानन्दि-*गुर्वन्तेवासिना सूरिवर *श्री श्रुतसागरेण* विरचिता सूत्रप्राभृतटीका *समाप्ता* ।

बोधप्राभृतम्

बहुसत्थ अत्थजाणे संजम सम्मत्तसुद्ध तवयरणे।
वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे ॥१॥
सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
वुच्छामि समासेण य [1]छक्कायहियंकरं सुणसु ॥२॥

बहुशास्त्रार्थज्ञायकान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान्।
वन्दित्वाचार्यान् कषायमलवर्जितान् शुद्धान् ॥१॥
सकलजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवैर्यथा भणितम्।
वक्ष्यामि समासेन च षट्कायहितंकरं शृणु ॥२॥

वुच्छामि वक्ष्यामि कथयिष्यामि। कः? कर्ता अहं श्री कुन्दकुन्दाचार्यः। किं तत कर्मतापन्नं? *छक्कायहियंकरं* षट्कायहितंकरं पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायहितकारकं शास्त्रं बोधप्राभृताभिधानं शास्त्रं। केन कृत्वा वक्ष्यामि? *समासेण* संक्षेपेण। *सुणसु* शृणु त्वं हे भव्य! "विध्यादिसु त्रयाणामेकत्र दुसुयुश्च" इत्यनेन प्राकृतव्याकरणसूत्रेण हि स्थाने सुणादेशः, बहुवचने तु पञ्चम्याः सुणह इत्येवं भवति मध्यमस्य। कथंभूतं बोधप्राभृतं? *जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं* जिनमार्गे जिनशास्त्रे जिनवरैः केवलिभिर्यथा येन प्रकारेणायतनादिभिर्भणितं प्रतिपादितं। किमर्थं जिनैर्भणितं? *सयलजणबोहणत्थं* सर्वभव्यजीवसम्बोधननिमित्तं। किं कृत्वा पूर्वं वुच्छामि? *वंदित्ता आयरिए* वन्दित्वाऽऽचार्यान् तृतीयपरमेष्ठिपदस्थान् गुरून्। कथंभूतानाचार्यान्? *संजमसम्मत्त सुद्धतवयरणे* संयमश्च चारित्रं, सम्यक्त्वं च सम्यग्दर्शनं, शुद्धं निरतिचारं, तपश्चरणं च द्वादशविधं तपो येषां ते संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणास्तान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान्। भूयोऽपि कथंभूतानाचार्यान्? *कसायमलवज्जिदे* क्रोध, मान, माया, लोभ, लक्षणचतुष्कषायमलवर्जितान् कषायोत्पन्नपापरहितानित्यर्थः। अपरं कथंभूतानाचार्यान्? *सुद्धे* शुद्धान् षट्त्रिंशद्गुणप्रतिपालनेन निर्मलान् निष्पापान्। के ते षट्त्रिंशद्गुणा इत्याह—

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पांच नामोंसे सुशोभित, सीमंधरस्वामीके ज्ञानसे भव्यजीवोंको सम्बोधित करने वाले, श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारकके पट्टके आभरणभूत, कलिकालके सर्वज्ञ कुन्दकुन्दाचार्यके द्वारा विरचित षट्पाहुड ग्रन्थमें समस्त मुनियोंके समूह से सुशोभित कलिकाल के गौतमस्वामी श्री मल्लिभूषण भट्टारक के द्वारा अनुमत, सकल विद्वत्समाज के द्वारा सन्मानित, उभय भाषा सम्बन्धी कवियों के चक्रवर्ती श्री विद्यानन्द गुरुके शिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित सूत्रप्राभृत की टीका सम्पूर्ण हुई।

१—छक्काय सुहंकरं क० ख० ग० घ०।

आचारवान् श्रुताधारःप्रायश्चित्तासनादिदः ।
आयापायकथी दोषाभाषकोऽस्रावकोऽपि च ॥१॥
सन्तोषकारी साधूनां निर्यापक इमेऽष्ट च ।
[1]दिगम्बरत्वेष्यनुद्दिष्टभोजी (ज्य) शय्याशनीति च ॥२॥
[2]अरागभुक् [अराजभुक्] क्रियायुक्तो व्रतवान् ज्येष्ठसद्गुणः ।
प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी तद्द्विनिषद्यकः ॥३॥
द्विःषट्तपास्तथा षट् चावश्यकानि गुणा गुरोः ।

गाथार्थ—मैं अनेक शास्त्र तथा उनके अर्थके ज्ञाता, संयम सम्यक्त्व और शुद्ध तपश्चरण के धारक, कषाय रूपी मलसे रहित तथा निर्मल आचार्यों को नमस्कार करके समस्त मनुष्यों को संबोधने के लिये जिनमार्ग में जिनेन्द्रभगवान् के द्वारा कहे अनुसार संक्षेप से छह कायके जीवोंका हित करने वाला "बोधप्राभृत" नामक ग्रन्थ कहूंगा, हे भव्य जीवो ! उसे सुनो ॥१-२॥

विशेषार्थ—बोधप्राभृत नामक ग्रन्थके मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा-वाक्यको कहते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं उन आचार्योंको नमस्कार करके जो कि अनेक शास्त्र तथा उनके अर्थके ज्ञाता हैं, सम्यकचारित्र, सम्यग्दर्शन और निरतिचार बारह प्रकारके तपके धारक हैं, क्रोध मान माया लोभ नामक चार कषाय रूपी मलसे रहित हैं और छत्तीस गुणोंके पालक होनेसे निर्मल हैं—निष्पाप हैं; समस्त भव्य जीवों को संबोधने के लिये बोधप्राभृत नामक ग्रन्थको संक्षेप से कहूंगा । यह ग्रन्थ पृथिवी, जल, अग्नि वा और वनस्पति इन पांच स्थावरों तथा एक त्रस इस प्रकार छहकाय के जीवोंके लिये हितकारी है, तथा जिनमार्ग—जिनशास्त्र में केवलज्ञान से युक्त जिनेन्द्रभगवान् ने जै ा कहा है उसीके अनुसार कहा गया है । आचार्योंके छत्तीसगुण इस प्रकार हैं—

[3]आचारवत्वादि आठ, स्थितिकल्प दश, तप बारह और आवश्यक छह, इस प्रकार कुल मिलाकर आचार्यके छत्तीस गुण माने गये हैं । संस्कृत टीकाकार ने 'आचारवान्-' आदि श्लोकोंमें उन्हीं का नामोल्लेख किया है—

आचारवान्—[4]आचार्य को आचारवान्, श्रुताधार, प्रायश्चित्तद, आसवादिद, आयापाय-कथी, दोषाभाषक, अस्रावक और संतोषकारी होना चाहिये अर्थात् आचार्य में आचा-

१--दिगम्बरोऽप्यनुद्दिष्ट म० ग । २--आरोगभुक् म० ।

३--अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादश स्थितेः । कल्पा दशावश्यकानि षट् षट्त्रिंशद्गुणाः गुराः ॥ ७६ ॥

४--आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः । आयापायदिगुत्पीडोऽपरिस्रावी सुखावहः ॥ ७७ ॥

—अनगार धर्मामृत अध्याय ९

रवत्व, श्रुताधारत्व, प्रायश्चित्त-दातृत्व, आसनादि-दातृत्व, आयापायकथित्व, दोषाभाषकत्व, अस्रावकत्व और संतोषकारित्व ये आठ गुण होते हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है

(१) आचारवत्व—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों का स्वयं पालन करना तथा दूसरों से कराना आचारवत्व गुण है।

(२) श्रुताधारवत्व—जिसकी श्रुतज्ञान रूपी संपत्ति की कोई तुलना न कर सके उसे श्रुतधारी अथवा श्रुतज्ञानी कहते हैं। नौ पूर्व, दशपूर्व या चौदह पूर्वतकके श्रुत ज्ञानको अथवा कल्प व्यवहार के धारण करने को आधारवत्व कहते हैं।

(३) प्रायश्चित्तद—प्रायश्चित्त विषयक ज्ञानके रखने वाले को प्रायश्चित्तद कहते हैं जिन्होंने अनेकवार प्रायश्चित्त को देते हुए देखा है और जिन्होंने स्वयं भी अनेक वार उसका प्रयोग किया हो, स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण किया हो अथवा दूसरेको दिलवाया हो वह प्रायश्चित्तद अर्थात् प्रायश्चित्तको देने वाला है। दूसरे ग्रन्थोंमें इस गुणको व्यवहार-पटुता कहा है।

(४) आसनादिद—समाधि-मरण करने में प्रवृत्त हुए साधक साधुओं को आसन-आदि देकर जो उनकी परिचर्या करते हैं वे आसनादिद—आसनादिको देनेवाले कहलाते हैं। इन्हें परिचारी अथवा प्रकारी कहते हैं।

(५) आयापायकथी—आलोचना करने के लिये उद्यत हुए क्षपक—समाधि-मरण करने वाले साधु के गुण और दोषों के प्रकाशित करने वाले को आयापायकथी कहते हैं। अर्थात् जो क्षपक किसी प्रकार का अतिचार आदि न लगाकर सरल भावोंसे अपने दोषों की आलोचना करता है उसके गुण की प्रशंसा करते हैं और आलोचना में दोष लगाने वाले के दोष बतलाते हैं, वे आय-लाभ और अपाय-हानि का कथन करने वाले हैं।

(६) दोषाभाषक—दोष छिपाने वाले शिष्य से दोष कहलवाने की सामर्थ्य रखने वाले आचार्य को दोषाभाषक कहते हैं। इसका दूसरा नाम उत्पीडक है। जिस प्रकार चतुर चिकित्सक व्रण के भीतर छिपे हुए विकार को पीडित कर बाहर निकाल देता है उसी प्रकार आचार्य भी शिष्यके छिपाये हुए दोषको अपनी कुशलतासे प्रगट करा लेता है।

(७) अस्रावक—जो किसी के गोप्य दोष को कभी-प्रगट नहीं करता वह अस्रावक है। जिस प्रकार संतप्त तवे पर पड़ी पानी की बूंद वहीं शुष्क हो जाती है इसी प्रकार शिष्य द्वारा कहे हुए दोष जिसमें शुष्क हो जाते हैं अर्थात् जो किसी दूसरे को नहीं बतलाते हैं, वे अस्रावक हैं।

(८) **संतोषकारी**—जो साधुओं को संतोष उत्पन्न करने वाला हो अर्थात् क्षुधा, तृषा आदि की वेदना के समय हितकर उपदेश देकर साधुओं को संतुष्ट करता हो उसे संतोषकारी कहा है। इसका दूसरा नाम सुखावह भी है।

इस प्रकार निर्यापक अर्थात् सल्लेखना करानेवाले आचार्यमें ये आठ गुण होते हैं। अब आगे स्थिति-कल्प रूप दश गुणों को कहते हैं—

(९) **दिगम्बर**—आचेलक्य[1] अथवा नग्न मुद्राको धारण करने वाले हों उन्हें दिगम्बर कहते हैं। यह निष्परिग्रहता और निर्विकारता की परिचायक मुद्रा है।

(१०) **अनुद्दिष्ट भोजी**—मुनियों के उद्देश्य से बनाये हुए भोजन पान को जो ग्रहण नहीं करता है वह अनुद्दिष्ट-भोजी है।

(११) **अशय्याशनी**—वसतिका बनवाने वाला और उसका संस्कार करने वाला तथा वहां पर व्यवस्था आदि करनेवाला ये तीनों ही शय्याधर शब्द से कहे जाते हैं। जो शय्या अर्थात् शय्याधरके अशन-भोजनको ग्रहण नहीं करते उन्हें अशय्याशनी कहते हैं।

(१२) [2]**अराजभुक्**—जो राजाओं के घरमें भोजन ग्रहण न करता हो अथवा राजपिण्ड का त्यागी [3]हो उसे अराजभुक् कहते हैं।

१—आचेलक्यौद्देशिकशय्याधरराजकीयपिण्डोज्झाः। कृतिकर्मव्रतारोपणयोग्यत्वं ज्येष्ठता प्रतिक्रमणम् ॥ ८० ॥
मासैकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दशमः। तन्निष्ठः पृथुकीर्तिः क्षपकं निर्यापको विशोधयति ॥८१॥
—अनगारधर्मामृत अध्याय ९

२—आरोगभुक् म० आरागभुक् क०

३—राजपिण्ड त्यागका अभिप्राय अनगारधर्मामृत में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

—ऐसे घरोंमें जहां नाना प्रकार के भयंकर कुत्ते आदि जानवर स्वच्छन्द रूपसे फिरते रहते हैं उनके द्वारा उन घरों में प्रवेश करने पर संयमी का अपघात हो सकता है। मुनि के स्वरूप को देखकर वहां के घोड़े गाय भैंस आदि पशु बिजुक सकते हैं और बिजुक कर स्वयं त्रासको प्राप्त हो सकते हैं अथवा दूसरों को भी त्रास दे सकते हैं। यद्वा संयमी को भी उनसे त्रास हो सकता है। गर्व से उद्धत हुए वहां के नौकर चाकरों के द्वारा साधुका उपहास हो सकता है। अथवा महलों में रोककर रखी हुई और मैथुन संज्ञा—रमण करने की इच्छा से पीड़ित रहने वाली, यद्वा पुत्र आदि संतति की अभिलाषा रखने वाली स्त्रियां अपने साथ उपभोग करने के लिये उस संयमी को जबर्दस्ती अपने घरमें ले जा सकती हैं। सुवर्ण रत्न अथवा उनके बने हुए भूषण जो इधर उधर पड़े हों उनको कोई स्वयं चुराकर ले जाय और हल्ला कर दे कि यहां पर मुनि आये थे और तो कोई आया नहीं। ऐसी अवस्था में मुनिके ऊपर चोरी का आरोप उपस्थित हो सकता है। यहां पर ये साधु आते हैं सो कहीं ऐसा न हो कि महाराज इन पर विश्वास कर बैठें और इनकी बातों में आकर राज्यको नष्ट कर दें, ऐसे विचारों से क्रोधादिक के वशीभूत हुए दीवान-मंत्री आदिके द्वारा संयमीका वध बंधादिक भी हो सकता है। इनके सिवाय ऐसे स्थानों में आहारकी विशुद्धि

(१३) **क्रियायुक्त**—जो कृतिकर्मसे युक्त हो उसे क्रिया-युक्त कहते हैं। छह आवश्यकों का पालन करना अथवा गुरु जनों का विनय कर्म करना कृति-कर्म कहलाता है।

(१४) **व्रतवान्**—जो व्रत धारण करने की योग्यता से सहित हो उसे व्रतवान् कहते हैं। [1]जो आचेलक्य—नग्न-मुद्रा को धारण करने वाला हो, औद्देशिक आदि दोषों को दूर करने वाला हो, गुरुभक्त हो तथा अत्यन्त नम्र हो वही साधु व्रत धारण के योग्य माना गया है।

(१५ **ज्येष्ठ सद्गुण**—जिनमें उत्कृष्ट सद्गुणों का निवास हो उन्हें ज्येष्ठ-सद्गुण कहते हैं। जो जाति और कुल की अपेक्षा महान् हों, जो वैभव, प्रताप और कीर्ति की अपेक्षा गृहस्थों में भी महान् रहे हों, जो ज्ञान और चर्या आदिमें उपाध्याय तथा आर्यिका आदि से भी महान् हैं एवं किया-कर्म के अनुष्ठान द्वारा भी जिनमें श्रेष्ठता पाई जाती है वे ज्येष्ठता गुण से युक्त हैं।

(१६) **प्रतिक्रमी**—जो विधिपूर्वक दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण करते-कराते हों उन्हें प्रतिक्रमी कहते हैं।

(१७) **षण्मासयोगी**—जो वसन्त आदि छह ऋतुओं में एक एक मास तक एक स्थान पर योग धारण करते हैं, अन्य समय विहार करते हैं वे षण्मास-योगी कहलाते हैं। इसका दूसरा नाम मासिक-वासिता भी है। जो वर्षमें दो बार सिद्धक्षेत्रकी यात्रा करने वाला हो।

(१८) [2]**तद्द्विनिषधक**—इसका दूसरा नाम अन्यत्र पाद्य दिया है जिसका अर्थ वर्षा ऋतु के चार मास में एक स्थान पर चतुर्मास योग धारण करना होता है।

(१९-३०) **द्विषट्तपाः**—अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त

मिलना कठिन है, दूध आदि विकृति का सेवन और लोभवश अमूल्य रत्न आदि की चोरी तथा पर-स्त्रियों को देख-कर रागभाव का उद्रेक एवं वहां की लोकोत्तर विभूतिको देखकर उसके लिये निदान भावका हो जाना भी संभव है इत्यादि अनेक कारण हैं। कि जिनके निमित्त से राजपिण्डको वर्ज्य बताया है। अत एव जहां पर ये दोष संभव न हों अथवा दूसरी जगह आहार का लाभ संभव न हो, तो श्रुत में विच्छेद न पडे इसके लिये राजपिण्ड का भी ग्रहण किया जा सकता है अर्थात् ऐसी अवस्था में संयमी जन अपने तप संयम और ध्यान स्वाध्याय आदि के साधन को कायम रखने के लिये राज पिण्ड को भी ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि उसको वर्ज्य जो माना है सो उपर्युक्त दोषोंकी संभावना से ही माना है। अध्याय ६ श्लोक ८०-८१

१--आचेलक्के य ठिदो उद्देसादीय परिहरदि दोसे। गुरुभत्तिमं विणीदो होदि वदाणं स अरिहो दु।
अनगार० अ० ६

२--वर्षं वर्षं द्वौ वारौ सिद्धक्षेत्रयात्रां करोति (श० टि०)

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च बिंबं ।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमादत्थं ।। ३ ।।
अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं ।
पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो ।। ४ ।।

आयतनं चैत्यगृहं जिनप्रतिमा दर्शनं च जिनबिम्बम्
भणितं सुवीतरागं जिनमुद्रा ज्ञानमात्मस्थम् ।। ३ ।।
अर्हता सुदिष्टं यो देवः तीर्थमिह च अर्हन् ।
प्रव्रज्या गुणविशुद्धा इति ज्ञातव्या यथाक्रमशः ।। ४ ।।

आयदणं आयतनं ज्ञातव्यम् । *चेदिहरं* चैत्यगृहं द्वितीयं ज्ञातव्यम् । *जिण पडिमा* जिन प्रतिमा तृतीयोऽधिकारो बोधप्राभृते ज्ञातव्यः । *दंसणं च* दर्शनं च चतुर्थोऽधिकारो बोधकरो मन्तव्यः । *जिनबिंबं* जिनबिम्बं पञ्चमोऽधिकारो बोधजनका विज्ञेयः । कथंभूतं जिनबिम्बं ? *भणियं सुवीयरायं* भणितमागमे प्रतिपादितं सुष्ठु अतिशयेन वीतरागं न तु लक्ष्मीनारायणवद्रागसहितम् । *जिणमुद्दा* जिनमुद्रा बोधकरी षष्ठोऽधिकारो वेदितव्यः । *णाणमादत्थं* ज्ञानमात्मस्थं सप्तमो नियोगो बोधप्राभृतस्य बोद्धव्यः । *अरहंतेन सुदिट्ठं जं देवं* अर्हता सर्वज्ञवीतरागेण [1]सुदिष्टमबाधं प्रतिपादितं जं देवं यो देवः प्राकृते लिङ्गभेदत्वादत्र देवशब्दस्य नपुंसकत्वं, सोऽयं देवाधिकारो बोधजनकोऽष्टमोऽवगन्तव्यः । *तित्थमिह य* तीर्थमिह च नवमो धिकारस्तीर्थमिह बोधप्राभृतेऽवेतव्यः । *अरहंतं* अर्हत्स्वरूप-निरूपकाऽधिकारो दशमः प्रत्येतव्यः । *पावज्ज गुणविसुद्धा* प्रव्रज्या एकादशोऽधिकारो बोधप्राभृतस्य स्मर्तव्यः । कथंभूता प्रव्रज्या ? गुणविशुद्धा गुणैरुज्ज्वला । *इय णायव्वा जहाकमसो* एते एकादशाधिकारा बोधप्राभृतस्य चिन्तनीयाः ।

शय्यासन और कायक्लेश ये छह वाह्य तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अन्तरङ्ग इस प्रकार बारह तप धारण करने वाला हो ।

(३१-३६) षडावश्यक—समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों का पालन करने वाला हो ।

आगे बोधप्राभृत के ग्यारह अधिकारों के नाम लिखते हैं ।

गाथार्थ—आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, अत्यन्त वीतराग जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मसम्बन्धी ज्ञान, अरहन्त भगवान् के द्वारा प्रतिपादित देव, तीर्थ, अरहन्त और गुणोंसे विशुद्ध प्रव्रज्या ये ग्यारह अधिकार क्रमसे इस बोधप्राभृतमें जानना चाहिये ।३-४।

विशेषार्थ—पहला आयतन, दूसरा चैत्यगृह, तीसरा जिनप्रतिमा, चौथा दर्शन, पांचवां आगम में प्रतिपादित अत्यन्त वीतराग जिनबिम्ब, छठवां जिनमुद्रा, सातवां आत्मस्थ ज्ञान, आठवां अरहन्त—वीतराग सर्वज्ञदेवके द्वारा अच्छी तरह प्रतिपादित देव, नौवां तीर्थ, दशवां

---

[1] सुदृष्ट म० क० ।

गाथाद्वयेन द्वारं बोधप्राभृतस्य कृतम् । इदानीं तद्विवरणं कुर्वन्ति श्रीमन्तो गृद्धपिच्छाचार्यास्तत्रायतनं निरूपयन्ति—

मणवयणकायदव्वा [1]आसत्ता जस्स इंदिया विसया ।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥ ५ ॥

मनोवचनकायद्रव्याणि आसक्ता यस्य ऐन्द्रिया विषयाः ।
आयतनं जिनमार्गे निर्दिष्टं सांयतं रूपम् ॥ ५ ॥

मणवयणकायदव्वा मनोवचनकायद्रव्याणि हृदयमध्येऽष्टदलकमलाकारं [2]मानसद्रव्यं यस्य मनो भवति । उरःप्रभृत्यष्ट[3]स्थानाश्रितं यस्य वचनं वचनशक्तिकं वाग्द्रव्यं भवति । अष्टावङ्गानि अनेकोपाङ्गानि यस्य मुनेः कायद्रव्यं भवति । *आसत्ता जस्स इंदिया विसया* आसक्ताः सम्बन्धमायाता यस्य मुने ऐन्द्रिया विषयाः, इन्द्रियेषु स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणेषु हृषीकेषु भवा ऐन्द्रिया. ते च ते विषयाः स्पर्शरसगन्धरूपशब्दलक्षणा यथासंभवं शक्तिरूपा व्यक्तिरूपाश्च भवन्ति । *आयदणं जिणमग्गे* आयतनं जिनमार्गे । *णिद्दिट्ठं संजयं रूवं* निर्दिष्टमागमे प्रतिपादितं सांयतं रूपं संयमिनः सचेतनं शरीरम् ॥ ५ ॥

अर्हत्स्वरूप का निरूपण करने वाला अरहंत. और ग्यारहवां गुणोंसे उज्ज्वल प्रब्रज्या इस प्रकार इस बोध प्राभृत में ग्यारह अधिकार जानना चाहिये ॥ ३–४ ॥

गाथार्थ—मन वचन काय रूप द्रव्य तथा इन्द्रियों के विषय जिससे सम्बन्ध को प्राप्त हैं अथवा जिसके अधीन हैं, ऐसे संयमी मुनि का शरीर जिनागम में आयतन कहा गया है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—हृदय के मध्य में आठ पांखुरी के कमल के आकार वस्तु--स्वरूपके विचार में सहायक जो मानस द्रव्य है वह मन कहलाता है । हृदय आदि आठ स्थानोंके आश्रित जो वचन हैं अथवा वचन--शक्ति से युक्त जो पुद्गल हैं वे वचन द्रव्य कहलाते हैं आठ अङ्ग और अनेक उपाङ्गों से युक्त मुनिका जो शरीर है वह काय द्रव्य है । स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियां हैं इनके स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पांच विषय हैं । ये विषय यथासंभव शक्ति--रूप तथा व्यक्तिरूप होते हैं । इस प्रकार मन वचन काय रूप द्रव्य तथा स्पर्श आदि इन्द्रिय-सम्बन्धो जिनके अपने आपके सम्बन्ध को प्राप्त हैं अर्थात् पर--पदार्थ से हट कर आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं अथवा 'आयत्ता'

१–पं० जयचंदजी ने अपनी भाषा वचनिका में 'आयत्ता' पाठ स्वीकृत किया है । ग० ।

२–कमलाकारं मानस--द्रव्यं म०, कमलाकारं मांसद्रव्यं क० । ३–अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः, इचुयशानां तालुः, उपूपध्मानीयानामोष्ठौ, ऋटुरषाणां मूर्धा, लृतुलसानां दन्ताः, जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलं, अनुस्वारस्य नासिका, एदैतोः कण्ठतालु, ओदौतोः कण्ठोष्ठम्, वकारस्य दन्तोष्ठौ (क० टि०)

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंच महव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं ॥ ६ ॥

मदो रागो द्वेषो मोहः क्रोधो लोभश्च यस्यायत्ताः।
पञ्चमहाव्रतधरा आयतनं महर्षयो भणिताः ॥ ६ ॥

मय राय दोस मोहो मदोऽष्टविधः। उक्तं समन्तभद्रेण महाकविता—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ १ ॥

रागः प्रीतिलक्षणः। द्वेषोऽप्रीतिस्वभावः। मोहः कलत्रपुत्रमित्रादि-स्नेहः। *कोहो लोहो य जस्स आयत्ता* क्रोधो रोषस्वभावः लोभो मूर्च्छा परिग्रहग्रहण-स्वभावः, चकारात्परवञ्चनप्रकृतिर्माया। एते पदार्था यस्य महर्षेस्त्रिविधमुनि समूहस्यायत्ता निग्रहपरिग्रहनाथवन्तो भवन्ति। *पंचमहव्वधारा* पञ्चमहाव्रतधरा अहिंसा सत्याचौर्यब्रह्मचर्याकिञ्चन्यानि रात्रिभोजनवर्जनषष्ठानि प्रतिपालयन्तः। *आयदणं महरिसी भणियं* आयतनं महर्षयो भणिताः। एतेऽभिगमन-योग्या भवन्ति दर्शनस्पर्शन--वन्दनार्हाश्च भवन्ति। अन्ये विलिङ्गिनो जटिनः पाशुपताः, एकदण्डत्रिदण्डधरा मिथ्यादृष्टिमुण्डिनः शिखिनः पञ्चचूलाः भस्मोद्धूलना नग्नाण्डका चरकनामानो दिगम्बरसंज्ञकाः हंसपरमहंसाभिधानाः पशुयाज्ञिकाः दीक्षिता अध्वर्यवः उद्गातारो होतार आथर्वणाः व्यासाः स्मार्ता जैनाभासाश्च नाभिगम्या न दर्शनीया नाभिवादनीयाश्च भवन्ति। अथ के ते जैनाभासाः ? पूर्वमप्युक्ताः

गोपुच्छिकः श्वेतवासो[1] द्राविडो यापनीयकः।
निष्पिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

एते मयूरपिच्छधरा अपि न वन्दनीयाः संशयमिथ्यादृष्टित्वात्। तथा च बौद्धमते आयतनलक्षणम्—

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतापि द्वादशायतनानि च ॥ १ ॥

धर्मायतनं शरीरम्।

पाठ की अपेक्षा य सब जिनके स्वाधीन हैं, ऐसे संयत अर्थात् संयमी मुनिका सचेतन शरीर जिनागम में आयतन कहा गया है ॥ ५ ॥

गाथार्थ—मद रागद्वेष मोह क्रोध और लोभ जिसके अधीन हैं तथा जो पञ्च महाव्रतोंको धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे गये हैं ॥६॥

विशेषार्थ—मद आठ प्रकारका होता है जैसा कि श्री समन्तभद्र महाकविने कहा है—

ज्ञान—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठका आश्रय कर अहंकार करने को निर्मद ऋषि मद कहते हैं। राग प्रीतिको कहते हैं। द्वेष अप्रीति स्वभावको कहते हैं। स्त्री पुत्र तथा मित्र आदि के स्नेह को मोह कहते हैं। रोष रूप स्वभावको क्रोध कहते हैं, मूर्छा रूप परिणाम अर्थात् परिग्रह को ग्रहण करनेका जो

१-श्वेतवासो म०।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स ।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थ ॥७॥

सिद्धं यस्य सदर्थं विशुद्धध्यानस्य ज्ञानयुक्तस्य ।
सिद्धायतनं सिद्धं मुनिवरवृषभस्य ज्ञातार्थम् ॥७॥

सिद्धं जस्स सदत्थं सिद्धं लब्धिमायातं यस्य मुनिवरवृषभस्य । किं सिद्धम् ? सदत्थं—निजात्म-स्वरूपम् । कथंभूतस्य ? *विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स* विशुद्धध्यानस्य आर्तरौद्रध्यानद्वयरहितस्य धर्म्यशुक्लध्यान-

स्वभाव है उसे लोभ कहते हैं । चकार से माया का ग्रहण होता है, दूसरे को ठगनेका जो स्वभाव है उसे माया कहते हैं । ये सब मद आदि विकार जिस महर्षि के-आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन भेद रूप मुनिके अधीन हैं-स्वीकार अथवा अस्वीकार करनेके योग्य हैं । जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रतोंको अथवा रात्रिभोजन त्याग के साथ छह महाव्रतों को धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे गये हैं । ये महर्षि ही संमुख-गमन करने के योग्य हैं, तथा दर्शन, स्पर्शन, और वन्दना के योग्य हैं ।

इनके सिवाय अन्य लिङ्गों को धारण करने वाले जटाधारी, पाशुपत, एकदण्ड अथवा तीन दण्डको धारण करनेवाले, मिथ्यादृष्टि होकर शिर मुडानेवाले, एक शिखा रखने वाले, पांच चोटियां रखने वाले, शरीर में भस्म रमाने वाले, अण्डकोषोंको खुला रखने वाले, चरक नामधारी, दिगम्बर नाम धारी, हंस, परम हंस नामके धारक, पशुयज्ञ करनेवाले, दीक्षित, अध्वर्यु, उद्गाता, होता, अथर्व वेदके ज्ञाता, व्यास, स्मार्त तथा जैनाभास आदि साधु न सामने जानेके योग्य हैं, न दर्शन करनेके योग्य हैं और न अभिवादन नमस्कार करने योग्य हैं—

प्रश्न—जैनाभास कौन है ?

उत्तर—यद्यपि इन्हें पहले कह आये थे, तथापि फिर भी कहते हैं—

गोपुच्छिक—गोपुच्छिक, शेतवासस्, द्राविड, यापनीयक और निष्पच्छ—ये पांच जैनाभास कहे गये हैं ।

यद्यपि ये मयूर-पिच्छ के धारक हैं तो भी संशय मिथ्यादृष्टि होनेके कारण नमस्कार करनेके योग्य नहीं हैं । क्योंकि संशय मिथ्या दृष्टि होनेके कारण मिथ्यादृष्टि ही मानेजाते हैं । बौद्धमत में आयतन का लक्षण इसप्रकार है—

पञ्चेन्द्रियाणि—स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां, शब्द आदि पांच विषय, मन तथा धर्मायतन-शरीर ये बारह आयतन कहे जाते हैं ॥६॥

द्वयसहितस्य गणधरकेवलिनो [1]मूढ-केवलिनस्तीर्थंकरपरमदेवकेवलिनो वा । कथंभूतस्यैतत्त्रयस्य ? ज्ञानयुक्तस्य सकलविमलकेवलज्ञानयुक्तस्य । *सिद्धायदणं सिद्धं* सिद्धायतनं सिद्धं सिद्धायतनं प्रतिपादितम् । कस्य ? *मुणिवरवसहस्स* मुनिवरवृषभस्य मुनिवराणां मध्ये वृषभस्य श्रेष्ठस्य । कथंभूतमायतनम् ? *मुणिदत्थं* मुनिता (?) यथावद्विज्ञाता अर्थाः षड्द्रव्याणि पञ्चास्तिकायाः सप्ततत्त्वानि नव पदार्थाः । जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशा इति षड्द्रव्याणि । कालरहितानि षड्द्रव्याणि पञ्चास्तिकाया भवन्ति । जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वानि । सप्त तान्येव पुण्यपापद्वयसहितानि नव पदार्था वेदितव्याः ।

आयदणं---इत्यायतनस्वरूपं समाप्तम् ॥७॥

गाथार्थ—विशुद्धध्यान से सहित एवं केवलज्ञानसे युक्त जिस श्रेष्ठ मुनिके निजात्मस्वरूप सिद्ध हुआ है, अथवा जिन्होंने छहद्रव्य, साततत्व, नवपदार्थ अच्छी तरह जान लिये हैं उन्हें सिद्धायतन कहा है ।

विशेषार्थ—विशुद्धध्यान से सहित अर्थात् आर्त्त और रौद्र इन दो ध्यानों से रहित और धर्म्य तथा शुक्ल इन दो ध्यानों से सहित, एवं ज्ञानसे युक्त अर्थात् समस्त पदार्थों को विषय करने वाले निर्मल केवल ज्ञान से युक्त गणधर केवली, सामान्य केवली अथवा तीर्थंकर परम देव केवलीस्वरूप जिस श्रेष्ठ मुनिवर को सदर्थ—निजात्मस्वरूप सिद्ध हुआ है--उपलब्ध हुआ है, उसीको सिद्धायतन कहा गया है । श्रेष्ठ मुनिका यह सिद्धायतन रूप ज्ञातार्थ है अर्थात् छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सात तत्व और नव पदार्थोंको जानने वाला है । जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं । इन्हीं में से काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य पञ्चास्तिकाय हैं । जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं । पुण्य और पाप इन दो को मिला देने पर सात तत्त्व ही नव पदार्थ कहलाते हैं । इसप्रकार आयतन अधिकार समाप्त हुआ ॥७॥

[यहां तीन गाथाओं में आयतन का स्वरूप कहा है । पहली गाथामें मन, वचन, काय इन तीन योगों तथा पञ्च इन्द्रियों और उनके विषयोंको स्वाधीन रखनेवाले सामान्यमुनियों के रूप को आयतन कहा है । दूसरी गाथा में क्रोधादि विकारों पर पर पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले, पञ्च महाव्रतों के धारक महर्षियो-ऋद्धिधारक मुनियों को आयतन कहा है और तीसरी गाथा में निर्मलध्यान से सहित केवलज्ञान से युक्त गणधर केवली, सामान्य केवली अथवा तीर्थंकर केवली को सिद्धायतन कहा है । आयतन स्थानको कहते हैं । जो सद्गुणोंका स्थान है वही जिनागम में आयतन नामसे प्रसिद्ध हैं । परम

१- मुण्ड-म०, मूढ क०, गणधरकेवलज्ञानयुक्तस्य क० अस्यां प्रतौ गणधर—इत्यग्रे (केवलिनो मूढ-केवलिन स्तीर्थंकरपरमदेवकेवलिनो वा, कथंभूतस्यैतत्त्रयस्य ज्ञानयुक्तस्य सकलविमल-) इति पाठो नास्ति ।

अथेदानीं चैत्यस्वरूपं निरूपयन्ति श्री कुन्दकुन्दाचार्याः—

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च ।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥८॥

बुद्धं यत् बोधयन् आत्मानं चैत्यानि अन्यच्च ।
पञ्चमहाव्रतशुद्धं ज्ञानमयं जानीहि चैत्यगृहम् ॥८॥

बुद्धं जं बोहंतो बुद्धं कर्ममलकलंकरहितं केवलज्ञानमयं, जं-यत्, बोहंतो-बोधयन् । *अप्पाणं चेइयाइं अण्णं* च आत्मानं शुद्धबुद्धैकस्वभावं निजजीवस्वरूपं बोधयन्नयं आत्मा चैत्यगृहं भवति । हे जीव ! तं चैत्यगृहं जानीहि । न केवलं आत्मानं बोधयन्तं आत्मानं चैत्यगृहं जानीहि किन्तु चेइयाइं-चैत्यानि कर्मयं तापन्नानि भव्यजीववृन्दानि बोधयन्तमात्मानं चैत्यगृहं निश्चयचैत्यालयं हे जीव ! त्वं जानीहि निश्चकुरु. न केवलमात्मानं चैत्यगृहं जानीहि किन्तु अण्णं च-व्यवहारनयेन निश्चयचैत्यालयप्राप्तिकारणभूतेनान्यच्च दृषदिष्टिका-[1]काष्ठादिरचितं श्रीमद्भगव[2]दर्हत्सर्वज्ञ--वीतरागप्रतिमाधिष्टितं चैत्यगृहं हे आत्मन् ! हे जीव ! त्वं जानीहि । कथंभूतं चैत्यगृहं ? *पंचमहव्वयसुद्धं* पञ्चभिर्महाव्रतैः कृत्वा शुद्धं समूलकाषं कषितकर्ममलकलङ्कसमूहं । अपरं कथंभूतं चैत्यगृहं ? *णाणमयं* केवलज्ञान-केवलदर्शनाभ्यां निर्वृत्तं निष्पन्नमित्यर्थः । व्यवहारचैत्यगृहं तु स्थापनान्यासेन पञ्चमहाव्रतशुद्धं स्थापनान्यासबलेन केवलदर्शनमयमित्यर्थः । स न व्यवहारनयो मुख्यो निश्चयनयस्तु गौणः इति ज्ञातव्यम् । ये तु लौङ्कायतिकादिमतानुसारिणो दुरात्मानः श्वेतपटाभासा निश्चयचैत्यमस्पृशन्तोऽपि व्यवहारचैत्यगृहं न मानयन्ति [3]ते उभयतोऽपि भ्रष्टाः सर्वत्र भोजनभिक्षाग्राहका जिनधर्मविराधकाः पूर्वाचार्योपदिष्टजिनपूजादिकममानयन्तो न जाने कां निन्दितां गतिं गमिष्यन्ति ॥ ८ ॥

वैराग्य से युक्त सद्गुरुओंके सिवाय नाना वेषोंको धारण करने वाले पाखण्डी साधु आयतन नहीं है, वे नमस्कारके योग्य नहीं हैं ।]

अब आगे श्रीकुन्दकुन्दस्वामी चैत्य—स्वरूपका निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—जो ज्ञानयुक्त आत्मा को जानता हो, दूसरे भव्य जीवोंको उसका बोध कराता हो, पांच महाव्रतोंसे शुद्ध हो तथा स्वयं ज्ञानमय हो ऐसे मुनिको चैत्यगृह जानो ।८।

विशेषार्थ—कर्ममल कलङ्क से रहित केवलज्ञानमय आत्मा को बुद्ध कहते हैं । इस तरह एक शुद्ध बुद्ध स्वभाव वाले निज स्वरूपको जानने वाला आत्मा चैत्यगृह है, ऐसा हे भव्य जीव ! तू जान । न केवल आत्मस्वरूप को जानने वाला चैत्यगृह है किन्तु भव्य

१--दृर्षदिष्टका म० । २--श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञ म० । ३--निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते । नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥ पुरुषार्थ०

णिच्छयमालम्बंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता । णासंति चरणकरणं बाहरिचरणालसा कोई ।
पञ्चास्तिकाये उद्धृता प्रा. गा०

चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयतस्स ।
चेइहरं जिणमग्गे छक्काय हियंकरं भणियं ॥ ६ ॥

चैत्यं बन्धं मोक्षं दुःखं सुखं च अर्पयतः ।
चैत्यगृहं जिनमार्गे षट्कायहितंकरं भणितम् ॥ ६ ॥

चेइय वंधं मोक्खं चैत्यं चैत्यगृहं बन्धं अष्टकर्मबन्धं करोति । पापकर्मोपार्जनं कारयति । पुनश्च किं करोति ? मोक्षं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं च करोति । *दुक्खं सुक्खं च अप्पयंतस्स* चैत्यं चैत्यगृहं दुःखं शारीर-मानसागन्तुलक्षणं दुःखमसातं बन्धफलं करोति । सुक्खं च-सुखं च मोक्षफलं परमानन्दलक्षणं करोति' कस्यैतद्द्वयं करोति ? अप्पयंतस्स-अर्पयतः पुरुषस्य । यः चैत्यगृहस्य दुष्टं करोति तस्य पापबन्ध उत्पद्यते-यश्चैत्यगृहस्य सुष्ठु करोति शोभनं विदधाति तस्य पुण्यमुत्पद्यते तदाधारेण मोक्षो भवति. तत्फले यथा संख्यं दुःखं सुखं च भवतीति भावनीयम् । चेइहरं जिणमग्गे चैत्यगृहं जिनमार्गे श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञ-वीतरागशासने वर्तते एव,को मिथ्यादृष्टिः पापीयांस्तल्लोपयति ? यश्चैत्य चैत्यगृहं च न मानयति स महापातकी भवति । अतएव चोक्तं गौतमेन भगवता—

जीवोंके समूह को भी जो निज आत्मा का बोध कराता है उसे भी तू निश्चय चैत्यगृह जान । न केवल आत्मा को चैत्य–गृह जान, किन्तु निश्चय चैत्यगृहको प्राप्तिके कारणभूत व्यवहार नय से पत्थर ईंट तथा काष्ठ आदिसे रचित श्रीमान् अर्हन्त सर्वज्ञ वीतराग की प्रतिमा से युक्त जो जिन मन्दिर हैं उन्हें भी तू चैत्यगृह जान । वह चैत्य-गृह रूप आत्मा पञ्च महाव्रतों से शुद्ध है अर्थात् अहिंसा आदि पांच महाव्रतों के द्वारा कर्ममल रूपी कलङ्क के समूह को समूल नष्ट कर शुद्ध हुआ है तथा ज्ञानमय है केवल ज्ञान और केवलदर्शनसे तन्मय है । व्यवहार नयके आलम्बन से जब जिन-मन्दिर को चैत्यगृह कहते हैं तब 'पञ्च महाव्रतशुद्धं' और 'ज्ञानमयं' इन दोनों विशेषणोंकी संगति स्थापना निक्षेप के बलसे बैठानी चाहिये । इस पक्षमें व्यवहार नय मुख्य है और निश्चय नय गौण है । लौंकागच्छ के मतका अनुसरण करने वाले जो दुष्ट श्वेताम्बराभास निश्चय चैत्यका स्पर्श न करते हुए भी व्यवहार चैत्यगृह-जिनमन्दिर को नहीं मानते हैं वे [1]दोनों ओरसे भ्रष्ट हैं, सब जातियोंके घर भोजन के लिये भिक्षा ग्रहण करते हैं, जिनधर्म की विराधना करते हैं । पूर्वाचार्यों के द्वारा उपदिष्ट जिन-पूजा आदि को न मानने वाले ये लोग न जाने किस दुर्गति को प्राप्त होंगे ? ॥ ८ ॥

१–येऽपि केवलनिश्चयनयावलम्बिनः सन्तोऽपि रागादिविकल्परहितं परमसमाधिरूपं शुद्धात्मानमलभमाना अपि तपोधना चरणयोग्यं षडावश्यकाद्यनुष्ठानं श्रावकाचरणयोग्यं दानपूजाद्यनुष्ठानं च दूषयन्ते तेऽप्युभयभ्रष्टाः सन्तो निश्चयव्यवहारानुष्ठानयोग्यावस्थान्तरमजानन्तः पापमेव बध्नन्ति । पञ्चास्तिकाये तात्पर्यवृत्तिः गाथा १७२

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये ।
तावन्ति सततं भक्त्या त्रिःपरीत्य नमाम्यहम् ॥

छक्कायहियंकरं भणियं चैत्यगृहं षट्कायानां हितङ्करं स्वर्गमोक्षकारकं भणितं जिनागमे प्रतिपादितम् । चैत्यगृहार्थं या मृत्तिका खन्यते सा काययोगेनोपकारं चैत्यगृहस्य कृत्वा शुभमुपार्जयति तेन तु पारम्पर्येण स्वर्गमोक्षं लभते । यज्जलं चैत्यगृहस्य कार्यमायाति तद्वत्तदपि शुभभाग् भवति । यत्तेजोऽग्निः चैत्यगृहनिमित्तं प्रज्वाल्यते तदपि तद्वच्छुभं लभते । यो वायुश्चैत्यगृह-निमित्तं वह्निसंधुक्षणाद्यर्थं विराध्यते धूपाङ्गारहविःपाकार्थं चोत्क्षेपनिक्षेपणं प्राप्यते सोऽपि तद्वच्छुभं प्राप्नोति । यो वनस्पतिः पुष्पादिकश्चैत्यगृहपूजाद्यर्थं लूयते सोऽपि काययोगेन पुण्यमुपार्जयति तस्यापि शुभं भवति । उक्तञ्च–

फुल्ल पुक्कारइ वागियहि कहियो जिणहं चडेसि ।
धम्मी को वि न आवियउ कंपिय धरणि पडेसि ॥ १ ॥

अन्यच्च--

केणय वाडी वाईया केणय वीणिय फुल्ल ।
केणव जिणह चडाविया ए तिण्णि व समतुल्ल ॥ २ ॥

[1]तथा त्रसानामपि यथासंभवं पुण्योपार्जनममुया दिशा ज्ञातव्यम् ।

चेइयहरं—चैत्यगृहाधिकारः समाप्त इत्यर्थः ॥ ८ ॥

गाथार्थ--जो चैत्यगृह के प्रति दुष्ट प्रवृत्ति करता है उसे वह बन्ध तथा उसके फल स्वरूप दुःख उत्पन्न करता है और जो चैत्यगृहके प्रति उत्तम प्रवृत्ति करता है उसे वह मोक्ष तथा उसके फल स्वरूप सुख प्रदान करता है । जिन मार्गमें चैत्यगृह को षट्कायिक जीवों का हितकारी कहा गया है ॥ ९ ॥

विशेषार्थ--अब व्यवहार नयसे चैत्यगृह का अर्थ कहते हैं चैत्यका अर्थ उपलक्षण से चैत्यगृह है । यह चैत्यगृह बन्ध अर्थात् अष्टकर्मों के बन्धको करने वाला है । मोक्ष अर्थात् अष्ट कर्मोंके क्षय को करनेवाला है तथा उसके फलस्वरूप दुःख अर्थात् शारीरिक मानसिक और आगन्तुक इन तीन प्रकार के दुःखोंको करता है एवं सुख अर्थात् मोक्षके फल स्वरूप परमानन्द को उत्पन्न करता है । भाव यह है कि जो मनुष्य चैत्यगृह के प्रति दुष्टभाव करता है उसको पाप-बन्ध होता है और जो चैत्यग्रह के प्रति उत्तम भाव रखता है उसके पुण्य उत्पन्न होता है तथा उसी के आधार पर वह मोक्ष को प्राप्त होता है । बन्धके फल स्वरूप दुःख और मोक्षके फल स्वरूप सुखको प्राप्त होता है, ऐसी भावना करनी चाहिये । जिनमार्ग–भगवान अरहन्त सर्वज्ञ वीतराग देवके मार्गमें चैत्यगृह-जिन मन्दिर है ही, अत्यन्त पापी कौन मिथ्यादृष्टि उसका लोप करता है ? जो प्रतिमा और जिनमन्दिर को नहीं मानता है वह महान पापी है । इसलिये भगवान गौतम ने कहा है—

१– म० प्रतौ अयं पाठो नास्ति ।

यावन्ति—तीनों लोकों में जितने चैत्यालय हैं मैं सदा भक्ति-पूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार करता हूं।

चैत्यगृह—जिनमन्दिर को जिनागम में षट्कायिक जीवों का हितकारक-स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त कराने वाला कहा है। चैत्यगृह के निर्माण के लिये जो मिट्टी खोदी जाती है वह काययोग के द्वारा चैत्यगृह का उपकार करके पुण्य कर्मका उपार्जन करती है और उस पुण्यकर्म के द्वारा परम्परासे स्वर्ग तथा मोक्षको प्राप्त होती है। जो जल चैत्यगृह के काम आता है वह भी मिट्टीकी तरह पुण्यको प्राप्त होता है। जो अग्नि चैत्यगृहके निमित्त जलाई जाती है वह भी उसी तरह पुण्यको प्राप्त होती है। जो वायु चैत्यगृह के निमित्त अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये विराधित होती है अथवा धूपके अङ्गार और नैवेद्य के पाकके लिये उत्क्षेप-निक्षेपको प्राप्त होती है-ऊंची-नीची का जाती है वह भी उसी तरह पुण्य को प्राप्त होती है। जो पुष्प आदि वनस्पति चैत्यगृह की पूजाके लिये छेदी जाती है वह भी काय-योगके द्वारा पुण्य उपार्जन करती है, अतः उसका भी भला होता है। कहा भी गया है—

फुल्ल—बागवान् फूलसे कहता है कि फूल ! तुम जिनेन्द्र भगवान् को कैसे चढाये जाओगे क्योंकि कोई धर्मात्मा जीव नहीं आ रहा है, तुम यूं ही कंपित होकर पृथिवी पर गिर जाओगे।

और भी कहा है—

केणय—किसी ने वाटिका लगवाई, किसी ने फूल चुने और किसी ने जिनेन्द्र भगवान् को चढाये। ये तीनों ही पुरुष एक समान हैं-एक समान हो पुण्यको प्राप्त होते हैं।

इसी पद्धतिसे त्रसजीवोंके भी यथासंभव पुण्यका उपार्जन होता है ऐसा जानना चाहिये।

इस प्रकार चैत्यगृह नामका दूसरा अधिकार समाप्त हुआ[1]

१--इस गाथाके पूर्वार्ध में आये हुए 'अप्पयंतस्स' पाठ की छाया पं० जयचन्द्र जी ने 'आत्मकं तस्य' ऐसा स्वीकृत कर गाथा का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

'जाकै बंध अर मोक्ष बहुरि सुख और दुःख ये आत्मा के होंय, जाके स्वरूप में होंय सो चैत्य कहिये जातैं चेतना स्वरूप होय ताही के बंध मोक्ष सुख दुःख संभवै ऐसा जो चैत्यका गृह होय सो चैत्यगृह है। जो जिनमार्ग विषैं ऐसा चैत्यगृह छह कायका हित करने वाला होय, सो ऐसा मुनि है, सो पांच थावर अर त्रस में विकलत्रय अर असैनी पंचेन्द्रिय तांई केवल रक्षा ही करने योग्य हैं तातैं तिनकी रक्षा करने का उपदेश करै है, तथा आप तिनिका घात न करै हैं तिनिका यही हित है, बहुरि सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव हैं तिनिकी रक्षा भी करै हैं, तथा तिनकूं संसार तैं निवृत्ति रूप मोक्ष होनेका उपदेश करै हैं, ऐसे मुनिराज को चैत्यगृह कहिये।

आगे जिन-प्रतिमा का वर्णन करते हैं—

सपरा जंगमदेहा दंसण णाणेण सुद्ध चरणाणं[1] ।
णिग्गंथ वीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥

स्वपराऽजङ्गमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम् ।
निर्ग्रन्थवीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ॥ १० ॥

स्वकीया अर्हच्छासनसम्बन्धिनी । परा परकीयशासनसम्बन्धिनी प्रतिमा भवति । स्वकीयशासनस्य या प्रतिमा सा उपादेया ज्ञातव्या । या परकीया प्रतिमा सा हेया, न वन्दनीया । अथवा सपरा-स्वकीयशासनेऽपि या प्रतिमा परा उत्कृष्टा भवति सा वन्दनीया, न तु अनुत्कृष्टा । का उत्कृष्टा का वाऽनुत्कृष्टा इति चेदुच्यन्ते[2]—या पञ्चजैनाभासैरञ्चलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता सा न वन्दनीया, न चार्चनीया च । या तु जैनाभासरहितैः साक्षादार्हतसंघैः प्रतिष्ठिता चक्षुःस्तनादिषु विकार-रहिता नन्दिसंघ-सेनसंघ-देवसंघ-सिंहसंघे समुपन्यस्ता सा वन्दनीया । तथा चोक्तं इन्द्रनन्दिना भट्टारकेण—

[3]चतुःसंघसंहिताया जैनं-बिम्बं प्रतिष्ठितम् ।
नमेन्नापरसंघीयं[4] यतो न्यासविपर्ययः ॥ १ ॥
[5]चतुःसंघ्यां नरो यस्तु विदध्याद्भेदभावनाम् ।
सम्यग्दर्शनातीतः संसारे संतरत्यरम् ॥ २ ॥

न्यासविपर्ययस्तु गुरुवचनादेवावगन्तव्यः । तथा चोक्तं श्री वीरनन्दिशिष्यैः श्रीपद्मनन्दिभिराचार्यैः

बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च ।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता
वक्तुं परस्य किमु कारयितु[6]र्द्वयस्य ॥ १ ॥

ये तु प्रतिमायां वस्त्राभरणादि कुर्वन्ति प्रतिष्ठावेलायां दधिसक्तुमुखे बध्नन्ति तन्मतनिरासार्थं श्री गौतमेन महामुनिना पृथ्वीवृत्तमुक्तम्—

निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदया—
न्निरम्बरं मनोहरं प्रकृतिरूपनिर्दोषतः ।
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्य-हिंसाक्रमा-
न्निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात् ॥ १ ॥

१–सुद्धचरणेण ग० । २–दुच्यन्ते म० ख० । ३ चतु संघ-म० । ४–नापरसंघाया म० । ५–श्री भद्रबाहुपट्टे गुप्तिगुप्ताचार्यस्तस्य त्रीणि नामानि गुप्तिगुप्ताचार्यः, अर्हद्वल्याचार्यः विशाखाचार्यः । तस्य चत्वारः शिष्याः येन सिंहगुहायां वर्षायोगो धृतः स सिंहकीर्तिः तेन सिंहसंघः स्थापितः । नन्दिवृक्षमूले येन वर्षायोगो धृतः स माघनन्दी, तेन नन्दिसंघः स्थापितः । येन सेन नाम तृणतले वर्षायोगो धृतः स वृषसेनः तेन सेनसंघः स्थापितः । यो देवदत्ता वेश्यागृहे वर्षायोगं स्थापितवान् स देवचन्द्रः देवसंघं चकार । सिंहसंघे चन्द्रकवाटगच्छे काणूरगणे चत्वारि नामानि-सिंहः कुम्भः आस्रवः सागरः । नन्दिसंघे पारिजातगच्छे बलात्कारगणे चत्वारि नामानि-नन्दि, चन्द्रः, कीर्तिः, भूषणः, तथा नन्दि-संघे सरस्वती-गच्छे सेनसंघे पुष्करगच्छे सूरस्थगणे चत्वारि नामानि-सेनः, राजः, वीरः, भद्रः, देवसंघे पुस्तकगच्छे देशीगणे चत्वारि नामानि-देवः, दत्तः, नागः, तुङ्गः । (क० टि०) ६ कारयितुं म० ।

इक्कहि फुल्लहिं मादिदेइ जु सुर नर रिद्धडी।
एही करइ कुसाटिवपु भोलिम जिणवर तणी ॥ १ ॥
एक्कहिं फुल्लहिं फुल्लसउ वीए फुल्ल सहासु।
जिबजिब जिणवर पुज्जियइ तिम्बतिम्ब दुरियहं नासु ॥ २ ॥

तथा चोक्तं समन्तभद्रस्वामिना मुनिवरेण आर्याद्वयम्—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ १ ॥
अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत्।
*भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनकेन राजगृहे ॥ २ ॥**

अजंगमदेहा—सुवर्णमरकतमणिघटिता, स्फटिकमणिघटिता, इन्द्रनीलमणिनिर्मिता, पद्मराग-मणिरचिता, विद्रुम-कल्पिता, चन्दन-काष्ठानुष्ठिता वा अजङ्गमा प्रतिमा कथ्यते। ईदृशी प्रतिमा केषां भवति ? *दंसणणाणेण सुद्धचरणाण* दर्शनेन ज्ञानेन निर्मलचारित्राणां तीर्थंकरपरमदेवानाम्। कथंभूता प्रतिमा ? *णिग्गंथवीयराया* निर्ग्रन्था वस्त्राभरणजटामुकुटायुधरहिता, वीतरागा रागरहितभावऽवतारिता। *जिणमग्गे एरिसा पडिमा* जिनमार्गे सर्वज्ञवीतरागमते ईदृशी प्रतिमा भवति ॥ १० ॥

षट् प्राभृत की एक संस्कृत टीका अन्य आचार्य कृत है, जो अत्यन्त संक्षिप्त है आदि अन्तके पत्र न होने से कर्ता का नाम विदित नहीं हो सका है। श्री अतिशय क्षेत्र चांदखेडी की प्रति है, संपादन की प्रतियों में 'ग' नामसे उपयुक्त है। उसमें इस गाथा की टीका इस प्रकार दी हुई है—

'चेयं बधं मोक्खं दुःखं च पुनः सौख्यं अल्पकं तस्य जिनमार्गे चैत्यगृहं षट्कायहितकरं भणितं कथित'

इसका अर्थ ऐसा जान पडता है कि जिस मुनि के बन्ध,-बन्धन, मोक्ष-छूटना अल्प है अत्यन्त तुच्छ है, हर्ष विषादके कारण नहीं हैं, उस समभावी मुनि की आत्मा चैत्यगृह है यह चैत्यगृह जिनागम में छह काय के जीवोंका हितकारो कहा गया है।

मेरी बुद्धिमें 'अप्पयं तस्स' की छाया 'अप्रयातः' आती है और उसके आधार पर गाथा का अर्थ ऐसा जान पडता है—

'बन्धन और मोक्षके प्रति विषाद और हर्ष को प्राप्त न होने वाले मुनि की आत्मा चैत्यगृह है। चैत्यगृह जिनागम में छह कायके जीवोंका हितकारक कहा गया है।

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके द्वारा शुद्ध-निर्दोष चारित्रको धारण करनेवाले तीर्थंकरकी प्रतिमा स्वशासन और पर-शासनकी अपेक्षा दो प्रकारकी है, अजङ्गम रूप है-गतिरहित है, निर्ग्रन्थ तथा वोतराग है। जिनमार्गमें ऐसी प्रतिमा मानी गई है ॥१०॥

विशेषार्थ—व्यवहार नयसे जिन प्रतिमाका निरूपण करते हैं-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा शुद्ध चारित्र को धारण करने वाले तीर्थंकर परमदेव की प्रतिमा 'स्वपरा'

---

* रत्नकरण्ड श्रावकाचारे—

स्व और परके भेदसे दो प्रकार की है। उनमें अर्हन्त भगवान् के शासनसे सम्बन्ध रखने वाली प्रतिमा स्व प्रतिमा है और श्वेताम्बर आदि पर-शासन से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिमा पर-प्रतिमा है। जो प्रतिमा स्व-शासन की है वह उपादेय है—भक्ति वन्दना आदि करने के योग्य है और जो पर-शासन से सम्बन्ध रखने वाली है वह हेय है—छोड़नेयोग्य है, वन्दना करनेके योग्य नहीं है। अथवा स्वपरा शब्दका यह भी अर्थ हो सकता है कि जो प्रतिमा स्व अर्हन्तदेव के शासन में परा उत्कृष्ट है, प्रतिष्ठा सिद्धान्त के अनुसार निर्मित है, वही वन्दना करनेके योग्य है, अनुत्कृष्ट प्रतिमा वन्दना करने योग्य नहीं है। कौन प्रतिमा उत्कृष्ट है और कौन अनुत्कृष्ट ? इसका उत्तर यह है कि पांच प्रकारके जैनाभासों ने जो प्रतिमा प्रतिष्ठित की है वह अञ्चलिका-लंगोटी से रहित नग्नरूप होने पर भी न वन्दनीय है और न अर्चनीय। किन्तु इसके विपरीत जैनाभासों से रहित साक्षात् आर्हतसंघ के लोगोंके द्वारा जो प्रतिष्ठित हैं, नेत्र और स्तन आदि में विकार से रहित है अर्थात् इन स्थानों में जिसमें कोई विकार नहीं किया गया है, नन्दिसंघ, सेनसंघ, देवसंघ, और सिंहसंघके द्वारा जो प्रतिष्ठापित है वह वन्दनीय है। जैसा कि भट्टारक इन्द्रनन्दीने कहा है-

चतुः—चार संघ की संहिता से जिस जैनबिम्ब की प्रतिष्ठा हुई है उसे ही नमस्कार करना चाहिये अन्यसंघ की प्रतिमा को नहीं क्योंकि उसके न्यास-स्थापना निक्षेपमें विपरीतता है॥ १॥

चतुःसंघ्या—जो मनुष्य उक्त चार संघों में भेद भावना करता है वह सम्यग्दर्शन से रहित है तथा शीघ्र ही संसार में परिभ्रमण करता है॥ २॥

न्यास-स्थापना-की विपरीतता गुरुके वचनसे जानना चाहिये। जैसा कि श्रीवीरनन्दि के शिष्य श्री पद्मनन्दि आचार्य ने कहा है—

बिम्बादलो—जो मनुष्य भक्ति पूर्वक [अधिक नहीं तो कम से कम] बिम्बादल कुन्दरू के पत्रके समान ऊंचे जिन मन्दिर और जौ के बराबर ऊंची जैन प्रतिमा को बनवाता है उसके पुण्यका कथन करने के लिये सरस्वती भी समर्थ नहीं है फिर जो अधिक-ऊंचे जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमाको बनवाता है उसके पुण्यका तो कहना ही क्या है।

और जो प्रतिमा के ऊपर वस्त्र तथा आभूषणादि धारण करते हैं तथा प्रतिष्ठा के समय दही और सत्तू प्रतिमा के मुख में रखते हैं उनके मतका निराकरण करनेके लिये महामुनि श्री गौतम ने पृथ्वी छन्द कहा है—

निराभरण—रागके वेगका उदय दूर हो जानेसे जिनेन्द्र देवका शरीर आभरणोंके बिना ही देदीप्यमान रहता है, स्वाभाविक रूपकी निर्दोषता के कारण वस्त्रके बिना ही

मनोहर दिखता है, हिंस्य और हिंसाका क्रम नष्ट हो जानेसे शस्त्रों के विना ही अत्यन्त निर्भय है और नाना प्रकार की वेदनाओं का क्षय हो जानेसे भोग्य वस्तुओं के विना ही तृप्तिसे युक्त रहता है। जैसा जिनेन्द्र देवका शरीर होता है वैसी ही उनकी प्रतिमा होती है

इक्कहि—जिनेन्द्र भगवान को एक फूल चढाना देव और मनुष्यों की ऋद्धि को देता है तथा क्षुद्र--हीनपर्यायों को दूर करता है ॥ १० ॥

एक्कहि--जो भगवान को एक फूल चढाता है उसे समवशरण में अनेक फूल प्राप्त होते हैं अर्थात् वह पुष्पवृष्टि नामक प्रातिहार्य को प्राप्त होता है। यह जोव ज्यों ज्यों जिनेन्द्र भगवान् को पूजा करता है त्यों त्यों उसके पाप नष्ट होते जाते हैं ॥ २ ॥

इसी प्रकार मुनिवर समन्तभद्र स्वामी ने दो आर्या कहे हैं–

देवाधिदेव—मनोरथों को पूर्ण करने वाले एवं कामको भस्म करने वाले देवाधिदेव–जिनेन्द्र देवके चरणोंकी शुश्रूषा समस्त दुःखोंको हरने वाली है, इसलिये निरन्तर उसे करना चाहिये ॥ १ ॥

अर्हच्चरण—राजगृह नगर में हर्ष से मत्त हुए मेण्ढक ने महात्माओं के आगे एक फूल के द्वारा अर्हन्त भगवान के चरणों की पूजाका माहात्म्य प्रगट किया।

भगवान की वह प्रतिमा अजङ्गमदेह होती है–चलने फिरने की क्रिया से रहित होती है। सुवर्ण और मरकतमणि से वनी स्फटिक मणिसे रचित, इन्द्रनीलमणि से निर्मित, पद्मरागमणि से रचित, मूंगे से बनी, तथा चन्दन की लकड़ी से निर्मित प्रतिमा अजंगम प्रतिमा कहलाती हैं। ऐसी प्रतिमा किनकी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं-वह प्रतिमा दर्शन और ज्ञान के द्वारा निर्मल चारित्र को धारण करने वाले तीर्थंकर परमदेव की होती है। यह प्रतिमा निर्ग्रन्थ अर्थात् वस्त्र आभूषण, जटा, मुकुट तथा शस्त्रोंसे रहित होती है और वीतराग अर्थात् राग रहित भावके उत्पन्न करने में समर्थ रहती है। सर्वज्ञ वीतरागके मत में ऐसी ही प्रतिमा होती है *।

---

* श्री पं० जयचन्द्र जी ने इस गाथा की वचनिका इस प्रकार लिखी है—

दर्शन ज्ञान करि शुद्ध निर्मल है चारित्र जिनकै तिन की स्वपरा कहिये अपनी अर परकी चालती देह है सो जिनमार्ग विषैं जंगम प्रतिमा है। अथवा स्व परा कहिये आत्मा तैं पर कहिये भिन्न है ऐसी देह है, सो कैसी है निर्ग्रन्थ स्वरूप है, जाकै किछू परिग्रहका लेश नांही ऐसी दिगम्बरमुद्रा, बहुरि कैसी है-वीतराग स्वरूप है, जाकै काहू वस्तु सौं रागद्वेष मोह नांही, जिनमार्ग विषैं ऐसी प्रतिमा कही है। दर्शन ज्ञान कर निर्मल चारित्र जिनकै पाइये ऐसे मुनिनि की गुरु शिष्य अपेक्षा अपनी तथा पर की चालती देह निर्ग्रन्थ वीतराग मुद्रा स्वरूप है सो जिनमार्ग विषैं प्रतिमा है, अन्य कल्पित है। अर धातु-पाषाण आदि करि दिगम्बर मुद्रा स्वरूप प्रतिमा कहिये सो व्यवहार है सो भी बाह्य प्रकृति ऐसी ही होय सो व्यवहार में मान्य है ॥ १० ॥

आगे जङ्गम प्रतिमा का वर्णन करते हैं—

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥११॥

यश्चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
सा भवति वन्दनीया निर्ग्रन्था सांयता प्रतिमा ॥११॥

जं चरदि सुद्धचरणं यो मुनिश्चरति प्रतिपालयति । किम् ? शुद्धचरणं निरतिचार-चारित्रम् । *जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं* जिनश्रुतं जानाति स्वयोग्यं वस्तु पश्यति च । शुद्धं पञ्चविंशति-दोष—रहितं यस्य सूरेः सम्यक्त्वं भवति । *सा होइ वंदणीया* सा भवति वन्दनीया नमस्करणीया । *णिग्गंथा संजदा पडिमा* निर्ग्रन्था चतुर्विंशति-परिग्रह-रहिता संयतानां मुनीनां दिगम्बराणां प्रतिमा आकारः, जंगमा प्रतिमा मुनयो भवन्तीत्यर्थः ॥११॥

अब सिद्धप्रतिमा का वर्णन करते हैं—

दंसण अणंतणाणं अणंत वीरिय अणंतसुक्खा य ।
सासय सुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं ॥१२॥

दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तवीर्या अनन्तसुखाश्च ।
शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ताः कर्माष्टबन्धैः ॥१२॥

दंसण अणंत णाणं दर्शनमनन्तं केवलदर्शनं सत्ताविलोकनमात्रलक्षणं । काकाक्षिगोलकन्यायेनानन्तशब्द उभयत्राभिसम्बन्ध्यते । तेनानन्तज्ञानं वस्तु यथावत्स्वरूपग्राहकं केवलज्ञानं लोकालोकव्यापकं द्वयम् । तद्योगाद्दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तदर्शनमनन्तज्ञानं च सिद्धा भवन्ति । उक्तं चाशाधरेण महाकविना—

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनं—
साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।
ते नेत्रे क्रमवर्तिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः—
स्फूर्जन्ती युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमङ्गातिगाः ×

तथा च नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिना चोक्तम्—

दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा ।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥१॥

अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य अनन्तवीर्याश्च सिद्धा भवन्ति लोकालोकस्वरूपावलोकने ज्ञातृत्वे

गाथार्थ—जो निरतिचार चारित्र का पालन करते हैं, जिनश्रुत को जानते हैं, अपने योग्य वस्तुको देखते हैं, तथा जिनका सम्यक्त्व शुद्ध है, ऐसे मुनियोंका निर्ग्रन्थ शरीर जंगम प्रतिमा है। वह वन्दना करनेके योग्य है ॥११॥

विशेषार्थ—जो चरणानुयोग के अनुसार शुद्ध निरतिचार चारित्रका पालन करते हैं। जो जिनेन्द्र-प्रणीत शास्त्र—जिनागम को जानते हैं, अपने योग्य वस्तुको देखते हैं और

× —हे सिद्धाः (उ० टि)

च या शक्तिस्तदनन्तवीर्यं ज्ञातव्यम् । अनन्तसौख्याश्च सिद्धा भवन्ति । सर्ववस्तु-स्वरूपपरिज्ञाने सति तेषां सुखमुत्पद्यते । तथा चोक्तं नेमिचन्द्रेण त्रिलोकसारग्रन्थे वैमानिकाधिकारपर्यन्ते—

एयं सत्थं सव्वं सत्थं वा सम्ममेत्थ जाणंता ।
तिव्वं तुस्संति णरा किं ण समत्थत्थ तच्चण्हा ॥१॥
चक्किकुरुफणिसुरिंदेसहमिदे जं सुहं तिकालभवं ।
ततो अणंतगुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि ॥२॥

सासय सुक्ख अदेहा शाश्वतसुखा अविनश्वरसुखाः, अदेहा देहरहिताः ज्ञानमयमूर्तय इत्यर्थः । *मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं* मुक्ताः कर्माष्टबन्धनैः ॥१२॥

जिनका सम्यक्त्व पच्चीस दोषों* से रहित है, ऐसे संयमी मुनियों के चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित जो शरीर हैं वे जंगम—चलती फिरती प्रतिमा हैं। तथा वन्दना—नमस्कार करने के योग्य हैं ॥११॥

गाथार्थ—जो अनन्त दर्शन तथा अनन्तज्ञान-रूप हैं, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख से युक्त हैं, अविनाशी सुखसे सहित हैं, शरीर-रहित हैं और आठकर्मोंके बन्धनसे छूटचुके हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी सिद्ध प्रतिमा हैं ॥१२॥

विशेषार्थ—वस्तुकी सत्तामात्रके अवलोकन को दर्शन कहते हैं। यहां अनन्त दर्शन से केवल दर्शनका ग्रहण होता है। काकाक्षिगोलकन्याय से अनन्त शब्दका दर्शन और ज्ञान दोनोंके साथ सम्बन्ध होता है इसलिये अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान ये दोनों शब्द सिद्ध होते हैं। यहां अनन्त ज्ञानका अर्थ वस्तुके यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करनेवाला केवलज्ञान है। केवलदर्शन और केवलज्ञान ये दोनों ही लोक तथा अलोक में व्यापक हैं। उन दोनोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे सिद्ध परमेष्ठी अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन रूप हैं। जैसा कि महाकवि आशाधर ने कहा है—

सत्ता—जो सत्ता मात्रका अवलोकन करता है ऐसा दर्शन निराकार—घटपटादिके विकल्प से रहित माना गया है और जो घटपटादि विशेषको विषय करता है ऐसा ज्ञान साकार—सविकल्पक माना गया है। ये ज्ञान और दर्शन नेत्रके समान हैं तथा छद्मस्थ-ज्ञानावरण-दर्शनावरण से युक्त जीवों के क्रमसे प्रवृत्त होते हैं। छद्मस्थ जीवोंके ज्ञान और दर्शन प्रादेशिक हैं अर्थात् सीमित स्थान की बातको जानते हैं परन्तु हे शरीर रहित सिद्ध परमेष्ठी ! यतश्च आप ज्ञानावरणादि रज से रहित हैं अतः आपके ये दोनों लोक-अलोक में सर्वत्र व्याप्त हैं तथा एक साथ प्रकाशमान हैं ॥१॥

ऐसा ही श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने कहा है—

*—शङ्का आदि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढताएं ये सम्यग्दर्शन के २५ दोष हैं।

आगे इन्हीं सिद्धोंका और भी वर्णन करते हैं,

णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया जगमेण रूवेण ।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥ १३ ॥

निरुपमा अचला अक्षोभा निर्मापिता अजङ्गमेन रूपेण ।
सिद्धस्थाने स्थिता व्युत्सर्गप्रतिमा ध्रुवाः सिद्धाः ॥ १३ ॥

णिरुवममचलमखोहा निरुपमा उपमारहिताः । ईदृशः पुमान् कोऽपि नास्ति येन सिद्धा उपमीयन्ते अचलाः स्वस्थानादासुरीकोटितमं भागमपि न परतो गच्छन्ति । अखोहा-अक्षोभाः न क्षोभं प्राप्नुवन्ति । उक्तं च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनि भविष्यत्तीर्थंकरपरमदेवेन–

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।
उत्पातोऽपि यदि स्यात्त्रैलोक्यसंभ्रान्तिकरणपटुः ॥ १ ॥

णिम्मिविया जगमेण रूवेण स्थिररूपेण निर्मापिताः संसारान्त्यक्षणे निष्पादिता एकसमयेन त्रैलोक्यशिखरं प्राप्ता धर्मास्तिकायाभावात्परतो न गच्छन्ति । अजङ्गमेन रूपेण स्थिररूपेण तिष्ठन्ति निश्चयस्थिरप्रतिमाभिधानाः । *सिद्धट्ठाणम्मि ठिया* सिद्धानां मुक्तात्मनां स्थाने त्रिभुवनाग्रे तनुवातवलये स्थिताः मुक्तिशिलामीषदूनगव्यूतिमधो मुक्त्वा आकाशे निराधाराः स्थिताः *वोसर पडिमा धुवा सिद्धा* व्युत्सर्गप्रतिमाः कायोत्सर्गेण पद्मासनेन वा स्थिता ध्रुवाः शाश्वताः सिद्धाः प्रतिमा भवन्ति । तेऽपि वन्दनीया भवन्ति ॥ १३ ॥

पडिमा—प्रतिमाधिकारस्तृतीयः समाप्तः ॥ ३ ॥

दंसण—छद्मस्थ जीवोंका ज्ञान, दर्शन-पूर्वक होता है उनके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते परन्तु केवली जिनेन्द्र में दोनों एक साथ होते हैं ।

अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शनके समान सिद्ध परमेष्ठी अनन्त वीर्य और अनन्त सुख से युक्त भी हैं । लोक और अलोकका स्वरूप देखने तथा जानने की जो शक्ति है उसे अनन्त वीर्य जानना चाहिये । समस्त वस्तुओं के स्वरूपका परिज्ञान होनेपर सिद्ध परमेष्ठी को सुख उत्पन्न होता है इसलिये वे अनन्त सौख्य से युक्त कहे जाते हैं । जैसा कि श्री नेमिचन्द्राचार्य ने त्रिलोकसार ग्रन्थ के वैमानिकाधिकार के अन्तमें कहा है–

एय सत्थं—जब कि लोक में एक शास्त्र अथवा समस्त शास्त्रों को यथार्थ रीति से जानने वाले मनुष्य अत्यधिक संतुष्ट होते हैं–सुखी होते हैं तब समस्त पदार्थोंके स्वरूप को जानने वाले मनुष्यों की तो बात ही क्या है ?

चक्कि—चक्रवर्ती, भोगभूमिजआर्य, धरणेन्द्र, सुरेन्द्र तथा अहमिन्द्रको तीनकाल में जितना सुख होता है सिद्धपरमेष्ठी के एक क्षणका सुख उससे अनन्तगुणा होता है ।

सिद्ध परमेष्ठी शाश्वत–सुख हैं–अविनाशी सुख से सहित हैं, शरीर रहित हैं ज्ञानमयमूर्ति के धारक हैं और आठ कर्मोंके बन्धन से युक्त हैं । ऐसे सिद्ध भगवान् सिद्ध प्रतिमा कहलाते हैं ॥१२॥

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्य दो गाथाओं द्वारा दर्शनाधिकार कहते हैं—

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च ।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥ १४ ॥

दर्शयति मोक्षमार्गं सम्यक्त्वं संयमं सुधर्मं च ।
निर्ग्रन्थं ज्ञानमयं जिनमार्गे दर्शनं भणितम् ॥ १४ ॥

दंसेइ *मोक्खमग्गं* दर्शयति प्रकटयति मोक्षमार्गं सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्रलक्षणं यत्तद्दर्शनम् । "कृत्ययुटोऽन्यत्रापीति" वचनात् कर्त्तरि युट् प्रत्ययः । काऽसौ मोक्षमार्गो यं दर्शनं कर्तृतया दशयति । *सम्मत्तं* सम्यक्त्वं तत्वार्थश्रद्धानलक्षणं । तथा *संजमं* चारित्रं पञ्चमहाव्रत-समिति-त्रिगुप्ति-लक्षणं दशयति *सुधम्मंच* सुधर्मं चानशनादिद्वादशविधं तपश्च दशयति । कथंभूत दर्शनं ? *णिग्गंथं* बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह-रहितं । भूयोऽपि कथंभूतं दर्शनं ? *णाणमयं* सम्यग्ज्ञानेन निर्वृत्तम । *जिणमग्गे दंसणं भणियं* जिनमार्गे सर्वज्ञवीतरागप्रतिपादित मार्गे दर्शनं भणितं यतिश्रावकाधारं प्रतिपादितं, अविरतसम्यग्दृष्टयाधारभूतं च१४

गाथार्थ—वे सिद्धपरमेष्ठी निरुपम हैं, अचल हैं, क्षोभ--रहित हैं, (संसारावस्था के अन्तिमक्षणरूप उपादान से) निर्मापित हैं, अजंगमरूप से सिद्धस्थान में स्थित हैं, कायोत्सर्ग अथवा पद्मासन मुद्रा में स्थित हैं और शाश्वत हैं ॥ १३ ॥

विशेषार्थ—सिद्ध भगवान् निरुपम हैं--उपमारहित हैं । ऐसा कोई पुरुष नहीं जिससे सिद्धोंको उपमा की जा सके । अचल हैं—अपने स्थान से सरसोंकी अनी के एक भाग भी इधर उधर नहीं जाते हैं । अक्षोभ हैं—क्षोभसे रहित हैं । जैसा कि आगामो उत्सर्पिणी कालमें तीर्थंकर परमदेव होने वाले समन्तभद्राचार्य ने कहा है--

काले—यदि तीनों लोकों में हल-चल मचा देने में समर्थ उत्पात भी हो तो भी सैकडों कल्पकाल व्यतीत हो जाने पर भी मुक्त जीवों में विकार दृष्टिगोचर नहीं होता। वे सिद्ध भगवान स्थिर रूपसे निर्मापित हैं, संसारावस्था के अन्तिम क्षणरूप उपादान से सिद्ध–अवस्था को प्राप्त हुए है और एक समय में तीन लोक की शिखर को प्राप्त हुए है, धर्मास्तिकाय का अभाव होने से आगे नहीं जाते हैं किन्तु अजंगम-स्थिर रुपसे वहीं स्थिर हो जाते हैं । सिद्धस्थान-तीन लोकके ऊपर तनु वात-वलय में स्थित रहते हैं । सिद्धशिला को कुछ कम गव्यूति प्रमाण नीचे छोड कर आकाश में निराधार स्थित हैं । व्युत्सर्गप्रतिमा रूप हैं-कायोत्सर्ग अथवा पद्मासनसे स्थित हैं क्योंकि मोक्ष जाने वालों के यही दो आसन निश्चित हैं । ध्रुव हैं—अपनी इस सिद्धत्व-पर्याय से ध्रुव हैं, शाश्वत हैं । पूर्व तथा इस गाथा में बताये हुए विशेषणों से युक्त सिद्ध परमेष्ठी सिद्ध प्रतिमायें हैं, इन्हीं को स्थिर प्रतिमा भी कहते हैं ॥ १३ ॥

इस प्रकार प्रतिमा नामक तृतीय अधिकार समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं वियमयं चावि ।
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥१५॥

यथा पुष्पं गन्धमयं भवति स्फुटं क्षीरं तद्घृतमयं चापि ।
तथा दर्शनं हि सम्यग्ज्ञानमयं भवति रूपस्थम् ॥१५॥

जह फुल्लं गंधमयं—यथा पुष्पं गन्धमयं भवति । *भवदि हि खीरं स वियमयं चावि* भवति हु-स्फुटं क्षीरं दुग्धं, स--तत् घृतमयं घृतयुक्तं चापि । अपि शब्दादन्येऽपि कनक-पाषाण-काष्ठाग्नि-प्रभृतयो दृष्टान्ता ज्ञातव्याः । *तह दंसणं हि सम्मं* तथा दर्शनं सम्यक्त्वं हि निश्चयेन सम्यग्ज्ञानमयं भवति । *रूवत्थं* यति-श्रावकासंयतसद्दृष्टिमूर्तिस्थितं दर्शनं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥१५॥

गाथार्थ—जो सम्यक्त्व, संयम और सुधर्म रूप मोक्षमार्ग को दिखलाता है तथा स्वयं निर्ग्रन्थ-परिग्रह-रहित और ज्ञानमय है वह जिनमार्ग में दर्शन कहा गया है ॥ १४ ॥

विशेषार्थ—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप मोक्षमार्ग को दिख-लाता है वह दर्शन है । यहां "कृत्ययुटोऽन्यत्रापि' व्याकरण के इस वचन से कर्तृ वाच्य में युट् प्रत्यय होकर दर्शन, शब्द सिद्ध हुआ है । वह मोक्षमार्ग क्या है जिसे दर्शन, कर्ता बन कर दिखलाता है ? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप मोक्षमार्ग को दिखलाते हैं—

तत्वार्थ--श्रद्धान रूप सम्यक्त्व, पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियों रूप चारित्र, तथा अनशनादि बारह प्रकार के तप रूप सुधर्म, यह मोक्षमार्ग है । वह दर्शन निर्ग्रन्थ है—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित है, तथा ज्ञानमय है-सम्यग्ज्ञानसे रचा हुआ है । जिनमार्ग—सर्वज्ञ वीतराग देवके द्वारा प्रतिपादित मार्गमें दर्शनको सम्यत्क्व रूप कहा है । यह सम्यक्त्व रूप दर्शन, मुनि और श्रावकों का तथा अविरत सम्यग्दृष्टि का आधारभूत कहा गया है ॥१४॥

दंसणं—दर्शनाधिकार एकादशाधिकारेषु बोधप्राभृते चतुर्थः समाप्तः ॥४॥

गाथार्थ—जिसप्रकार फूल गन्धमय और दूध घृतमय होता है उसीप्रकार दर्शन भी निश्चयसे सम्यग्ज्ञानमय होता है । यह सम्यग्दर्शन यति श्रावक और असंयत सम्य-ग्दृष्टिके रूप में स्थित है ॥१५॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार पुष्प गन्धमय होता है अर्थात् पुष्पके प्रत्येक कणमें गन्ध विद्यमान रहता है और दूध घृतमय होता है अर्थात् दूधके प्रत्येक कणमें घृत व्याप्त रहता है उसीप्रकार दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व भी निश्चय से सम्यग्ज्ञान होता है । यहां 'घियमयं चावि' में जो अपि शब्द दिया है उससे सुवर्ण पाषाण तथा काष्ठाग्नि आदि अन्य दृष्टान्त

जिणबिम्बं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च ।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

जिनविम्बं ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरागं च ।
यद् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षयकारणे शुद्धे ॥१६॥

जिणबिम्बं णाणमयं जिनस्य विम्बमाकारो ज्ञानमयं मतिज्ञानश्रुतज्ञान-यथा-संभवावधिज्ञान यथासंभव- मनःपर्यय-ज्ञानमयं भवति, तृतीयः परमेष्ठी आचार्यसंज्ञको जिनविम्बं ज्ञातव्य इत्यर्थः । *संजमसुद्धं सुवीयरायं* च तदुक्तलक्षणं जिनविम्बं कथंभूतं भवतीत्याह--संयमशुद्धं संयमेन निरतिचारचारित्रेण शुद्धं निर्मलं, सुष्ठु अतिशयेन वीतरागं वीतः क्षयंगतो रागः प्रीतिलक्षणो यस्मादिति वीतरागं । 'अज क्षेपणे' इति धातोः प्रयोगात् । "अजेर्वीः" इति वचनादजेर्धातोर्वीरादेशः चकारात्तद्गुणाधिकारोपणा निषेधिका च जिनविम्बं भवति । *जं देइ दिक्ख सिक्खा* यज्जिन बिम्बमाचार्यः ददाति दीक्षां व्रतारोपणलक्षणां, शिक्षां च द्वादशानुप्रेक्षा लक्षणां ददाति । *कम्मक्खय-कारणे* सुद्धा कर्मक्षयकारणे शुद्धां निर्मलां । जीवन्मुक्तजिनवदाचार्यो[2] माननीय इति भावार्थः । उक्तं च सोमदेवेन सूरिणा—

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः ।
सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥ १ ॥

भी जानने योग्य हैं यह दर्शन रूपस्थ है अर्थात् मुनि श्रावक और असंयत सम्यग्दृष्टिके रूप में स्थित है ॥१५॥

इस प्रकार बोधप्राभृत के ग्यारह अधिकारों में दर्शनाधिकार समाप्त हुआ ॥४॥

अथेदानीं जिनविम्बस्वरूपं निरूपयन्ति श्रीगृद्धपिच्छाचार्या भगवन्तः—

अब इस समय श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान् जिनविम्ब का स्वरूप दिखलाते हैं—

गाथार्थ—जो ज्ञानमय है, संयम से शुद्ध है, अत्यन्त वीतराग है तथा कर्मक्षय में कारणभूत शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देते हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी जिनविम्ब हैं ॥ १५ ॥

विशेषार्थ—तीसरे आचार्य परमेष्ठी जिनविम्ब हैं–जिनके आकारको धारण करने वाले हैं । वे मतिज्ञान श्रुतज्ञान और यथासंभव अवधि ज्ञान तथा यथासंभव मनः-पर्ययज्ञान से युक्त होनेके कारण ज्ञानमय हैं । संयम--निरतिचार चारित्रसे शुद्ध हैं और अतिशय वीतराग हैं–प्रीतिरूप रागसे रहित हैं । यहां 'सुवीयरायं च' पद में जो चकार दिया है उससे आचार्य परमेष्ठी के गुणों को अधिक रूपसे बढाने वाली सिद्धभूमिको भी जिनविम्ब जानना चाहिये । आचार्य परमेष्ठी कर्मक्षय में कारण निर्मल व्रतधारण रूप दीक्षा और बारह अनुप्रेक्षा रूप शिक्षाको देते हैं । तात्पर्य यह है कि आचार्य जीवन्मुक्त हैं अतः जिनेन्द्रके समान माननीय हैं । जैसा कि सोमदेव सूरि ने कहा है—

---

१ सुद्धं म० । २ जीवन्मुक्तजिनवरा म० ।

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं ।
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥ १७ ॥

तस्य च कुरुत प्रणामं सर्वां पूजां विनयं वात्सल्यं ।
यस्य च दर्शनं ज्ञानं अस्ति ध्रुवं चेतनाभावः ॥ १७ ॥

तस्स य करह पणामं तस्य च जिनविम्बस्य जिनविम्बमूर्तेराचार्यस्य प्रणामं नमस्कारं पञ्चाङ्ग-मष्टाङ्गं वा कुरुत यूयं हे भव्यजीवाः ! चकारादुपाध्यायस्य सर्वसाधोश्च प्रणामं कुरुत तयोरपि जिनविम्बस्व-रूपत्वात् । *सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं* सर्वां पूजामष्टविधमर्चनं च कुरुत यूयमिति, तथा विनयं हस्तयोटनं पादपतनं सन्मुखगमनं च कुरुत, वात्सल्यं भोजनं पानं पादमर्दनं शुद्धतैलादिनाङ्गाभ्यञ्जनं तत्प्रक्षालनं चेत्यादिकं कर्म सर्वं तीर्थंकर नाम कर्मोपार्जनहेतुभूतं वैयावृत्यं कुरुत यूयम् । उक्तं च समन्तभद्रेण महा-मुनिना—

[1]व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥ १ ॥

तथा चकारात्पाषाणादिघटितस्य जिनविम्बस्य पञ्चामृतैः स्नपनं, अष्टविधैः पूजाद्रव्यैश्च पूजनं कुरुत यूयम् । वन्दनां भक्तिं च कुरुत । यदि तथाभूतं जिनविम्बं न मानयिष्यथ गृहस्था अपि सन्तस्तदा कुम्भीपाकादिनरकादौ पतिष्यथ यूयम् । तथा चोक्तं सोमदेवेन [2]स्वामिना—

[3]अपूजयित्वा यो देवान् मुनीननुपचर्य च ।
यो भुञ्जीत गृहस्थः सन् स भुञ्जीत परं तमः ॥ १ ॥

परं तम इति कोऽर्थः ? कुम्भीपाकनरकः. सप्तमे नरके पञ्च विलानि तेषां नामानि यथा-रौरवमहा-रौरवासिपत्रकूटशाल्मलीकुम्भीपाका इति सप्तमे नरके यानि चतुर्दिक्षु चत्वारि विलानि वर्तन्ते तान्यर्ध-रज्जुप्रमाणानि सन्ति, तेषां मध्ये यत्कुम्भीपाकसंज्ञकं पञ्चमं विलमस्ति तदेकयोजन-लक्ष-प्रमाणं वर्तते । पञ्चभिरपि रज्जुरेका भूमी रुद्धा वर्तते । *जस्स य दंसण णाणं* यस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य जिनविम्बस्य दर्शनं ज्ञानं च वर्तते । *अत्थिधुवं चेयणाभावो* अस्ति विद्यते ध्रुवं निश्चयेन चेतनाभाव आत्मस्वरूपं स्थापनान्यासेनापीति तात्पर्यम्

ज्ञानकाण्डे—जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड में शिक्षा और दीक्षामें ऋषि, यति मुनि और अनगार इन चार प्रकारके मुनियों के अग्रसर हैं तथा संसार रूपी समुद्रसे पार करने के लिये नौका के समान हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी देवके समान आराधना करने के योग्य हैं ॥ १ ॥

गाथार्थ—उन जिनविम्बरूप आचार्य परमेष्ठी को प्रणाम करो, सब प्रकार की पूजा करो उनके प्रति विनय और वात्सल्य भाव प्रगट करो जिनके कि सम्यग्दर्शन है तथा निश्चित रूपसे चेतनाभाव विद्यमान है ॥ १७ ॥

१–रत्नकरण्डश्रावकाचारः । २ सोमदेव सूरिस्वामिना क० । ३ यशस्तिलके ।

विशेषार्थ—यहां जिनबिम्ब शब्द से जिनबिम्बके समान मुद्राके धारक आचार्य परमेष्ठीका ग्रहण है। हे भव्य जीवो! तुम उन्हें पञ्चाङ्ग अथवा अष्टाङ्ग प्रणाम करो। 'च' शब्द से सूचित होता है कि उपाध्याय और सर्व साधु को भी प्रणाम करो। क्योंकि वे दोनों भी जिनबिम्ब स्वरूप ही हैं। सब प्रकार की अथवा अष्ट द्रव्य से होने के कारण अष्ट प्रकार की पूजा करो, इसके सिवाय विनय--हाथ जोडना, पैर पडना, तथा सन्मुख जाना आदि भी करो। वात्सल्य -स्नेह, भोजन, पान, पादमर्दन, शुद्ध तेल आदि के द्वारा शरीर का मालिश करना, तथा धोना आदि सब कार्य तीर्थकर नामकर्म के बन्ध में कारणभूत वैयावृत्य भावना में शामिल हैं सो इन्हें भी करो। जैसा कि महामुनि समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

व्यापत्ति—संयमी जनोंकी व्यापत्ति-विघ्न बाधाको दूर करना, पैर दावना तथा गुणों में राग होनेके कारण उनका जितना भी उपकार है वह सब वैयावृत्य है।

मूल गाथा में 'तस्स' पदके आगे जो चकार का ग्रहण किया है उससे यह अर्थ सूचित होता है कि आप लोग पाषाण आदि से निर्मित जिन प्रतिमा का पञ्चामृत से अभिषेक और आठ प्रकारकी पूजा सामग्रीसे पूजा करो, वन्दना तथा भक्ति भी करो। यदि तुम लोग गृहस्थ होते हुए भी तथाभूत जिनप्रतिमा की मान्यता नहीं करोगे तो कुम्भीपाक आदि नरकों में पड़ोगे। जैसा कि सोमदेव स्वामी ने कहा है—

अपूजयित्वा—जो मनुष्य गृहस्थ होता हुआ भी देवों की पूजा और मुनियों की परिचर्या किये विना भोजन करता है वह परम तम को प्राप्त होता है।

प्रश्न—परम तम, इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—कुम्भीपाक नरक।

सातवें नरक के पांच विल हैं उनके नाम इस प्रकार हैं १ रौरव २ महारौरव ३ असिपत्र ४ कूट शाल्मली और ५ कुम्भीपाक। सातवें नरक की चारों दिशाओं में जो चार विल हैं वे आधी रज्जु प्रमाण हैं और उन चारों विलोंके बीच में जो कुम्भीपाक नामका पांचवां बिल है वह एक लाख योजन प्रमाण है। इन पांचों बिलों के द्वारा एक राजू प्रमाण भूमि रुकी हुई है। जिसका लक्षण पहले कहा जा चुका है ऐसे जिन-बिम्ब रूप आचार्य परमेष्ठी के दर्शन तथा ज्ञान विद्यमान रहता है और निश्चय से चेतना भाव अर्थात् आत्मस्वरूपकी उपलब्धि रहती है। पाषाण आदि से निर्मित जिनबिम्बमें चेतनाभाव स्थापना निक्षेप से होता है॥ १७॥

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
अरहंतमुद्द एसा दायारी दिक्ख सिक्खा य ॥ १८ ॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षा शिक्षाणां च ॥ १८ ॥

तव वयगुणेहिं सुद्धो तपोभिर्द्वादशभेदैः, व्रतैरहिंसासत्यास्तेयब्रह्मापरिग्रहैः पञ्चभिः गुणैः पूर्वोक्तलक्षणैश्चतुरशीतिलक्षैः शुद्धो निष्कलङ्कः । *जाणदि पिच्छेइ सुद्धं सम्मत्तं* जानाति सम्यग्ज्ञानवान्, पश्यति स्वरूपं वेत्ति, कस्य ? शुद्धसम्यक्त्वस्य पञ्चविंशतिमलरहितस्य । *अरहंतमुद्द एसा* श्रीमदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य मुद्रा आकार एषा धर्माचार्यलक्षणा पाषाणघटित-बिम्बस्वरूपा यन्त्रमन्त्राराधनगम्या च जिनबिम्बं भवति । *दायारी दिक्खसिक्खा य* कथंभूता मुद्रा ? दात्री दायिका, कासाम् ? दीक्षाशिक्षाणाम् । चकारात्यात्राप्रतिष्ठादिकर्मणां च प्रवर्तिका ।

दढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दा कसायदढमुद्दा ।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया ॥१९॥

दृढसंयममुद्रय इन्द्रियमुद्रा कषायदृढमुद्रा ।
मुद्रा इह ज्ञानेन जिनमुद्रा ईदृशी भणिता ॥१९॥

जिनबिम्ब---इति श्रीबोधप्राभृते जिनबिम्बाधिकारः पञ्चमः समाप्तः ॥५॥

गाथार्थ—जो तप व्रत और गुण से शुद्ध हैं, वस्तु स्वरूप को जानते है, तथा शुद्ध सम्यक्त्व के स्वरूप को देखते हैं ऐसे आचार्य ही अरहन्त मुद्रा हैं—जिनबिम्ब है। यह अरहन्त मुद्रा दीक्षा और शिक्षा को देनेवाली है ॥

विशेषार्थ—तपके अनशन आदि बारह भेद हैं, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भेदसे व्रतके पांच भेद हैं तथा गुणोंके चौरासीलाख भेद पहले कहे जा चुके हैं जो इन तप आदिसे शुद्ध हैं—निष्कलङ्क हैं—जिनके तप आदिमें कभी दोष नहीं लगते, जो वस्तु-स्वरूप को जानते हैं-सम्यग्ज्ञान से युक्त हैं, तथा जो पच्चीस मल से रहित सम्यक्त्व के स्वरूप को देखते हैं—जानते हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी अरहन्त मुद्रा हैं, सर्वज्ञ वीतराग अर्हन्त भगवान् की मुद्रा—आकृति को धारण करने वाले हैं ! इनके सिवाय यन्त्र और मन्त्र से जिनकी आराधना होती है ऐसी पाषाणनिर्मित प्रतिमाए भी जिनबिम्ब कहलाती हैं। यह अरहन्त मुद्रा दीक्षा और शिक्षा को देनेवाली है और चकार से यात्रा तथा प्रतिष्ठा आदि कार्योंको प्रवर्ताने वाली है ॥१८॥

इसप्रकार बोधप्राभृत में जिनबिम्ब नामका पांचवां अधिकार समाप्त हुआ ॥५॥

अथेदानीमेकया गाथया जिनमुद्रां निरूपयन्ति श्रीमदेलाचार्याः—अब आगे श्रीकुन्दकुन्दस्वामी एक गाथाके द्वारा जिनमुद्राका निरूपण करते हैं—

दढ संजममुद्दाए दृढया वज्रघटितप्रायया संयममुद्रया षड्जीवनिकाय-रक्षण-लक्षणया षडिन्द्रियसंकोच-स्वरूपया च मुद्रया वेषेण जिनमुद्रा भवति। *इंदियमुद्दा कषायदढमुद्दा* इन्द्रियाणां स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणां द्रव्येन्द्रियाणां यत्र मुद्रणं कूर्मवत्करणं[1] संकोचनमिन्द्रियमुद्रोच्यते सा जिनमुद्रा भवति। कसाय-दढमुद्दा—कषायाणां दृढं गाढं मुद्रणं कषायदृढमुद्रा। *मुद्दा इह णाणाए* मुद्रा इह जिनशासने ज्ञानेन भवति, अहर्निशं पठनपाठनादिना जिनमुद्रा भवति। *जिणमुद्दा एरिसा भणिया* जिनमुद्रेदृशी भणिता। मुनीनामाकारो जिनमुद्रा। ब्रह्मचारिणामाकारश्चक्रवर्तिमुद्रा ते उभये अपि माननीये। यदि कश्चिद् दुर भिनिवेशेन तां न मानयति स पुमान् जिनमुद्राद्रोही विशिष्टैर्दण्डनीय इति भावार्थः। शिरः—कूर्चश्मश्रुलोचा मयूरपिच्छधरः कमण्डलुकरोऽधःकेशरक्षणं इति जिनमुद्रा सा मान्यते। तदुक्तमिन्द्रनन्दिना प्रतिष्ठा-चार्येण--

मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मान्यते।
राजमुद्राधरोऽत्यन्तहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥१॥

जिणमुद्दा—इति श्री बोधप्राभृते जिनमुद्राधिकारः षष्ठः समाप्तः।

गाथार्थ—जो संयम की दृढमुद्रा से सहित है, जिसमें इन्द्रियोंका मुद्रण—संकोच है, जिसमें कषायोंका दृढ़ मुद्रण--नियन्त्रण है और जो सम्यग्ज्ञानसे सहित है, एसी मुनि-मुद्रा ही जिनमुद्रा है। जिनशासन में यही जिनमुद्रा कही गई है।

विशेषार्थ—छहकाय के जीवोंकी रक्षा करना तथा छह इन्द्रियोंको संकुचित करना संयम मुद्रा है। जिसमें यह संयममुद्रा वज्र से निर्मित के समान अत्यन्त दृढ होती है वह मुनि-मुद्रा जिन-मुद्रा कहलाती है। जिस मुनिमुद्रा में स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन द्रव्येन्द्रियोंका कछुए के समान संकोच किया जाता है तथा क्रोधादि कषायोंका अच्छी तरह नियन्त्रण होता है वह जिनमुद्रा कहलाती है। जिस मुनिमुद्रा में रात दिन पठन पाठन आदि के द्वारा ज्ञानका प्रचार होता है वह जिनमुद्रा है। जिनशासन में जिनमुद्रा ऐसी कही गई है। मुनियों के आकारको जिनमुद्रा और ब्रह्मचारियों के आकारको चक्र-वर्ति-मुद्रा कहते हैं। ये दोनों ही मुद्राएं माननीय हैं--पदके अनुकूल आदर के योग्य हैं। यदि कोई दुष्ट अभिप्राय से उस जिनमुद्राका सन्मान नहीं करता है तो वह जिनमुद्राका द्रोही है तथा विशिष्ट जनोंके द्वारा दण्डनीय है। शिर दाढ़ी और मूछ के केशोंका लोंच करना, मयूर-पिच्छ धारण करना, कमण्डलु हाथ में रखना और नीचेके वाल रखना यह जिनमुद्रा मुनि--मुद्रा है। इसका सन्माम किया जाता है। जैसा कि इन्द्रनन्दी प्रतिष्ठाचार्य ने कहा है--

---

१—करचरणसंकोचनं म०, ड० प्रतौ 'कूर्मवत्करणं संकोचनमिन्द्रियमुद्रोच्यते सा जिनमुद्रा भवति' इति पाठो नास्ति,।

अब आगे ज्ञानाधिकार प्रारम्भ किया जाता है—

संजमसंजुत्तस्स य सुज्झाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥२०॥

संयमसंयुक्तस्य च सुध्यानयोगस्य मोक्षमार्गस्य ।
ज्ञानेन लभते लक्ष्यं तस्मात् ज्ञानं च ज्ञातव्यम् ।२०।

संजमसंजुत्तस्स य संयमेनेन्द्रियजयप्राणरक्षणलक्षणेन संयुक्तस्य सहितस्य । *सुज्झाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स* सुष्ठु-ध्यान-योगस्य आर्त-रौद्रध्यानद्वयरहितस्य ध्यानस्य धर्म्यध्यानशुक्लध्यान-द्वयस्य योगेन संयोगेन सहितस्य, एवं विशेषणद्वय-विशिष्टस्य मोक्षमार्गस्य सम्बन्धित्वेन । *णाणेण लहदि लक्खं* ज्ञानेन करणभूतेन लभते । किं कर्मतापन्नं ? लक्ष्यं निजात्मस्वरूपम् । *तम्हा णाणं च णायव्वं* तस्मात्कारणाज्ज्ञानं च ज्ञातव्यं, न केवलमायतनादि[1] षट्कं ज्ञातव्यं किन्तु ज्ञानं च ज्ञातव्यं । च शब्दः परस्परसमुच्चयार्थः ॥२०॥

जह ण वि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो ।
तह ण वि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥ २१ ॥

यथा नापि लक्षयति स्फुटं लक्ष्यं रहितः काण्डस्य वेध्यकविहीनः ।
तथा नापि लक्षयति लक्ष्यं अज्ञानी मोक्षमार्गस्य ॥ २१ ॥

जह ण वि लहदि हु लक्खं यथा येन प्रकारेण नापि नैव लभते, हु-स्फुटं, लक्ष्यं वेध्यं । कोऽसौ वेध्यं न लभते ? *रहिओ कंडस्स वेज्झय-विहीणो* रहितोऽभ्यासरहितः, काण्डस्स बाणस्य, वेध्यकविहीनोऽनभ्यस्तवेध्यव्यधनः पुमान् । *तह ण वि लक्खदि लक्खं* तथा तेन प्रकारेण नापि लक्षयति जानाति लक्ष्यं परमात्मानं । *अण्णाणी मोक्ख-मग्गस्स* अज्ञानी ज्ञानरहितः पुमान् मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणस्य लक्ष्यं निजात्मस्वरूपं न लक्षयति ॥ २१ ॥

मुद्रा—सब जगह मुद्रा माननीय होती है, मुद्रा-रहितका सन्मान नहीं होता । जिस प्रकार राजमुद्रा को धारण करने वाला अत्यन्त हीन मनुष्य भी मान्य होता है । शास्त्रका यही निर्णय है ॥१९॥

इस प्रकार श्री बोधप्राभृत में जिनमुद्राधिकार नामका छटवां अधिकार समाप्त हुआ ।

अथेदानीं ज्ञानाधिकारः प्रारभ्यते—

गाथार्थ—संयमसे सहित और उत्तमध्यान के योग से युक्त मोक्षमार्गका लक्ष्य ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अतः ज्ञानको जानना चाहिये ॥ २० ॥

विशेषार्थ—जो मोक्षमार्ग इन्द्रिय-संयम तथा प्राणिसंयम से युक्त है एवं आर्त-रौद्र रूप खोटे ध्यानों से रहित होकर धर्म्य और शुक्ल नामक उत्तम ध्यानों से सहित है, उसके लक्ष्य—निजात्म-स्वरूपको यह जीव ज्ञानके द्वारा प्राप्त करता है इसलिये ज्ञानको

---

१ आयतनानिषट्कं क०

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो ।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥ २२ ॥

ज्ञानं पुरुषस्य भवति लभते सुपुरुषोऽपि विनयसंयुक्तः
ज्ञानेन लभते लक्ष्यं लक्षयन् माक्षमार्गस्य २२

णाणं पुरिसस्स हवदि ज्ञानं श्रुतज्ञानं पुरुषस्यासन्नभव्यजीवस्य भवति संतिष्ठते। *लहदि सुपुरिसो वि विनय संजुत्तो* लभते प्राप्नोति ज्ञानं सुपुरुषोऽस्यासन्नभव्यजीवः । अपि शब्दाद् ब्राह्मी-सुन्दरी [1]राजमति चन्दनादिवत् एकादशाङ्गानि लभन्ते, मृगलोचना अपि स्त्रीलिङ्गं छित्त्वा स्वर्गसुखं भुक्त्वा राजकुलादिपूत्पद्य मोक्षं तृतीयेऽपि भवे लभन्ते । पुरुषास्तु । सकलं श्रुतं लब्ध्वा तद्भवेऽपि मोक्षं यान्ति । ईदृशं ज्ञानं कः प्राप्नोति ? *विणय-संजुत्तो*-विनयसंयुक्तो गुरुचरणरेणुरञ्जितभालस्थल इति भावार्थः *णाणेण लहदि लक्खं* ज्ञानेन श्रुतज्ञानेन लभते लक्ष्यं निजात्मस्वरूपं । *लक्खंतो मोक्ख मग्गस्स* लक्षयन् ध्यायन् लक्ष्यं लभते, कस्य लक्ष्यं ? मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयस्य ॥ २२ ॥

जानना चाहिये । साधुके मात्र आयतन आदि छह पदार्थोंको ही नहीं जानना चाहिये किन्तु ज्ञानको भी जानना चाहिये । च शब्द परस्पर समुच्चय करने वाला है ॥ २० ॥

गाथार्थ—जिस प्रकार निशाना वेधने के अभ्यास से रहित पुरुष बाण के लक्ष्य निशानाको नहीं प्राप्त करता है उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष मोक्षमार्गके लक्ष्य—निजात्मस्वरूप को नहीं प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

विशेषार्थ—निशाना वेधने के अभ्यास से रहित पुरुष जिस प्रकार बाणके निशाना को नहीं प्राप्त कर पाता है, उसी प्रकार अज्ञानी—आत्मस्वरूप के चिन्तनके अभ्यास से रहित पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्य—निज आत्मस्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकता है । मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है ॥ २१ ॥

गाथार्थ—ज्ञान पुरुष के होता है, अर्थात् विनय से संयुक्त सत्पुरुष ही ज्ञान को प्राप्त होता है और ज्ञानके द्वारा चिन्तन करता हुआ वही सत्पुरुष मोक्षमार्गके लक्ष्य निजात्मस्वरूप को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

विशेषार्थः—यहां ज्ञान से श्रुतज्ञान विवक्षित है वह श्रुतज्ञान निकट-भव्य जीवके होता है तथा विनय से संयुक्त निकट-भव्य जीव ही उस श्रुतज्ञानको प्राप्त होता है । 'सुपुरुषोऽपि' के साथ जो अपि शब्द दिया है उससे यह सूचित होता है कि ब्राह्मी, सुन्दरी राजिमती तथा चन्दना आदिके समान स्त्रियां भी ग्यारह अङ्ग तक श्रुतज्ञान प्राप्त करती हैं और वे भी स्त्रीलिङ्ग छेदकर स्वर्ग सुखका उपभोग कर राजकुल आदि में उत्पन्न हो तृतीयभव में मोक्ष को प्राप्त होती हैं । परन्तु पुरुष सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर उसी भव में मोक्ष जा सकते हैं ।

१—राजिमति क० ख० ग०

मइधणु जस्सहं थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं
परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥ २३ ॥

मतिधनुर्यस्य स्थिरं श्रुतगुणो वाणाः सुसन्ति रत्नत्रयम् ।
परमार्थबद्धलक्ष्यो नापि स्खलति मोक्षमार्गस्य ॥ २३ ॥

मइधणुहं जस्स थिरं मतिर्मतिज्ञानं यस्य मुनेर्धनुश्चापं स्थिरं निश्चलं । *सुदगुण* श्रुतज्ञानं गुणः प्रत्यञ्चा । *बाणा सुअत्थि रयणत्तं* बाणाः शराः सुष्ठु अतिशयवन्तः सन्ति विद्यन्ते, किं ? रत्नत्रयं भेदाभेदलक्षणं रत्नत्रयं । *परमत्थ बद्ध लक्खो* परमार्थे निजात्म-स्वरूपे बद्धलक्ष्यः निश्चलीकृतात्म—स्वरूपो मुनिः । *ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स* न स्खलति मोक्षमार्गस्य लक्ष्ये इति सम्बन्धः । तथा चोक्तं श्रीवीरनन्दिशिष्येण पद्मनन्दिनाचार्येण—

प्रेरिताः श्रुतगुणेन शेमुषीकार्मुकेण शरवद्दृगादयः ।
बाह्यवेध्यविषयेऽकृतश्रमाश्चित्रणे प्रहतकर्मशत्रवः ॥ १ ॥

तथा च सोमदेवस्वामिनापि श्रुतज्ञानस्य गुणस्तुतिः कृता—

अत्यल्पायतिरक्षजा मतिरियं बोधोऽवधिः सावधिः
साश्चर्यः क्वचिदेव योगिनि स च स्वल्पो मनःपर्ययः ।
दुष्प्रापं पुनरद्य केवलमिदं ज्योतिः कथागोचरं
माहात्म्यं निखिलार्थगे तु सुलभे किं वर्णयामः [1]श्रुते ॥ १ ॥

णाणं—इति श्री बोधप्राभृते ज्ञानाधिकारः सप्तम समाप्तः ॥ ७ ॥

प्रश्न—ऐसे ज्ञानको कौन पुरुष प्राप्त होता है ?

उत्तर—विनय से सहित अर्थात् गुरुओं की चरण-रज से जिसका मस्तक रंगा हुआ है ऐसा सत् पुरुष ही प्राप्त होता है । वह विनयी मनुष्य, श्रुतज्ञान के द्वारा रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का चिन्तन करता हुआ लक्ष्य—निजात्मस्वरूपको प्राप्त होता है ॥ २२॥

गाथार्थ—मतिज्ञान जिसका मजबूत धनुष है, श्रुतज्ञान जिसकी डोरी है, रत्नत्रय जिसके वाण हैं और परमार्थ में जिसने निशाना बांध रक्खा है, ऐसा पुरुष मोक्षमार्गमें नहीं चूकता है ।

विशेषार्थ—जिस मुनिके पास मतिज्ञान रूपी निश्चल धनुष है, श्रुतज्ञान रूपी डोरी है, भेदाभेद रत्नत्रय रूप वाण हैं, और निजात्मस्वरूप परमार्थ में जिसने अपना लक्ष्य बांध रक्खा है, ऐसा मुनि मोक्षमार्गके लक्ष्य में कभी नहीं चूकता । जैसा कि श्री वीरनन्दि के शिष्य पद्मनन्दि आचार्य ने कहा है—

[1]—श्रुतेः म० ध० इ० ।

अथेदानीं गाथाद्वयेन देवस्वरूपं निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः—

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च ।
सो देइ जस्स अत्थि दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥ २४ ॥

स देवो योऽर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च ।
स ददाति यस्य अस्ति तु अर्थः धर्मश्च प्रव्रज्या ॥ २४ ॥

सो देवो जो अत्थं स देवो योऽर्थं धनं निधि—रत्नादिकं ददाति । *धम्मं कामं सुदेइ णाणं च* धर्म चारित्रलक्षणं दयालक्षणं वस्तु-स्वरूपमात्मोपलब्धिलक्षण-मुत्तमक्षमादिदशभेदं सुददाति सुष्ठु अतिशयेन ददाति । कामं-अर्धमण्डलिक मण्डलिक महामण्डलिक बलदेव वासुदेव चक्रवर्तीन्द्र-धरणेन्द्रभोगं तीर्थकर-भोगं च यो ददाति स देवः । सुष्ठु ददाति ज्ञानं च केवलं ज्योतिः ददाति । *सो देइ जस्स अत्थि दु* स ददाति यस्य पुरुषस्य यद्वस्तु वर्तते असत्कथं दातुं समर्थः । *अत्थो धम्मो य पव्वज्जा* यस्यार्थो वर्तते सोऽर्थं ददाति, यस्य धर्मो वर्तते स धर्मं ददाति, यस्य प्रव्रज्या दीक्षा वर्तते स केवलज्ञानहेतुभूतां प्रव्रज्यां ददाति, यस्य सर्वं सुखं वर्तते स सर्व-सौख्यं ददाति । उक्तं च गुणभद्रेण गणिना—

[1]सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात्सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृत्तात्स च तच्च-बोधनियतं सोऽप्यागमात्स श्रुतेः ।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यत—
स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै ॥ १ ॥

प्रेरिता—जिन्होंने श्रुतज्ञान रूपी डोरी से युक्त मतिज्ञान रूपी धनुष के द्वारा बाणों की तरह सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को प्रेरित किया है-चलाया है और जो बाह्य पदार्थ रूप निशाने के विषय में अकृतश्रम—अनभ्यस्त हैं अर्थात् निजात्मस्वरूप रूपी लक्ष्य के वेधने में ही जिन्होंने श्रम किया है, ऐसे मुनि आत्मरण में कर्म—रूपी शत्रुओं को नष्ट कर पाते हैं ।

इसी प्रकार सोमदेव स्वामीने भी श्रुतज्ञान के गुणोंकी स्तुति की है—

अत्यल्पा—इन्द्रियोंसे होने वाला यह मतिज्ञान अत्यन्त अल्प है, अवधिज्ञान अवधि-सीमा से सहित है, आश्चर्य से युक्त मनःपर्यय ज्ञान किसी मुनिके होता है फिर भी अत्यन्त अल्प है और यह केवल-ज्ञानरूप ज्योति इस समय अत्यन्त दुर्लभ होने से मात्र कथा का विषय है परन्तु श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करता है तथा सुलभ भी है अतः उसके माहात्म्य का क्या वर्णन करें ? अर्थात् उसका माहात्म्य वर्णनातीत है ॥

इस प्रकार बोध-प्राभृत में सातवां ज्ञानाधिकार समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

१—आत्मानुशासने ।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता ।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥ २५ ॥

धर्मो दयाविशुद्धः प्रव्रज्या सर्वसङ्गपरित्यक्ता ।
देवो व्यपगतमोहः उदयकरो भव्यजीवानाम् ॥ २५ ॥

धम्मोदयाविसुद्धो धर्मो दयया विशुद्धो निर्मलः, यो दयां कुर्वन्नपि चर्मजलं पिबति, अजिन-तैलमास्वादयति, कुतुपघृतं भुंक्ते, भूतनाशनमत्ति, तस्य पुंसो धर्मो विशुद्धो न भवति स [१]यतिवेषधार्यपि म्लेच्छो ज्ञातव्यः । *पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता* प्रव्रज्या सर्वसङ्गपरित्यक्ता भवति, यो दण्डं करे करोति, कम्बलमुपदधाति, शङ्करनारीस्पृष्टमन्नमश्नाति स कथं प्रव्रज्यावान् भवति । *देवो ववगयमोहो* देवो व्यपगतमोहः, यो देवोऽर्धांगे वनितां दधाति, यो देवो हृदयस्थले लक्ष्मीमुपवेशयति, यो देवो दण्डं धरति, यो देवो वेश्यां चोपभुंक्ते, वशिष्ठपिता भवति स कथं देवः । *उदयकरो भव्वजीवाण* भव्य-जीवानामुदयकरः उत्कृष्टतीर्थंकरनामशुभदायकः स देवो ज्ञातव्यः ॥ २५ ॥

देवं इति श्री बोधप्राभृते देवाधिकारोऽष्टमः समाप्तः ॥ ८ ॥

गाथार्थ—देव वह है जो अर्थ, धर्म, काम और ज्ञानको अच्छी तरह देता है । लोक में यह न्याय है कि जिसके पास जो वस्तु होती है वही उसे देता है । देवके पास अर्थ है, धर्म है (चकार से) काम है और प्रव्रज्या-दीक्षा अथवा ज्ञान है ।

विशेषार्थ—अर्थ, निधि--रत्न आदि धनको कहते हैं । धर्मका लक्षण चारित्र, दया, वस्तु--स्वभाव, आत्मोपलब्धि, अथवा उत्तम क्षमा आदि दशभेद है । कामका अर्थ अर्धमण्डलिक, मण्डलिक- महामण्डलिक, बलभद्र, नारायण, चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र और तीर्थंकर के भोग हैं और ज्ञानका अर्थ केवलज्ञान रूप ज्योति है । जो इन अर्थ, धर्म आदि को देता है वह देव है । जिस पुरुषके पास जो वस्तु होती है उसे ही वह देता है । अविद्यमान वस्तु को देने के लिये कोई कैसे समर्थ हो सकता है । इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जिसके पास अर्थ--धन है वह अर्थ-धन देता है जिसके पास धर्म है वह धर्म देता है, जिसके पास प्रव्रज्या-दीक्षा है वह केवलज्ञान की प्राप्ति में कारणभूत प्रव्रज्या को देता है और जिसके पास सब सुख हैं वह सब सुख प्रदान करता है । जैसा कि गुणभद्राचार्य ने कहा है—

सर्वः प्रेप्सति—समस्त प्राणी शीघ्र ही समीचीन सुख प्राप्तिकी इच्छा करते हैं, सुखकी प्राप्ति समस्त कर्मोंके क्षयसे होती है समस्त कर्मोंका क्षय सद्वृत्त--सम्यक् चारित्रसे होता है, सद्वृत-सम्यक् चारित्र ज्ञानके अधीन है, ज्ञान आगम से होता है, आगम श्रुतिसे होता है, श्रुति आप्तसे होती है, आप्त समस्त दोषोंसे रहित होता है और दोष रागादि हैं अतः सत्पुरुष लक्ष्मीके लिये युक्तिपूर्वक विचार कर सर्व सुखदायी उस आप्तको उपासना करें ।

१—स यतिवेष म० क० ड० ।

अथेदानीं गाथाद्वयेन तीर्थं निरूपयन्ति श्रीपद्मनन्दिदेवाः—

अब आगे भी कुन्दकुन्द देव दो गाथाओं द्वारा तीर्थका निरूपण करते हैं—

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचिंदियसंजदे णिरावेक्खे।
ण्हाएउ मुणी तित्थे दिक्खा सिक्खा सुण्हाणेण ॥ २६ ॥

व्रतसम्यक्त्वविशुद्धे पञ्चेन्द्रियसंयते निरपेक्षे।
स्नातु मुनिस्तीर्थे दीक्षाशिक्षासुस्नानेन ॥ २६ ॥

वयसम्मत्तविसुद्धे व्रतैरहिंसासत्यास्तेयब्रह्मापरिग्रहलक्षणैः पञ्चभिर्महाव्रतैः, सम्यक्त्वेन च पञ्चविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन, विशुद्धे विशेषेण निर्मले चर्मजलाद्यास्वादनरहिततयाऽकश्मले तीर्थे। *पंचिंदियसंजदे णिरावेक्खे* पचेन्द्रियसंयते पंचेन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानि संयतानि बद्धानि स्पर्श-रसगन्धरूपशब्दलक्षणपंचविषयरहितानि यस्मिंस्तीर्थे तत्तथोक्तस्तस्मिन् पंचेन्द्रियसंयते। पुनः कथंभूते तीर्थे? निरपेक्षे बाह्यवस्त्वपेक्षारहिते आकांक्षा-रहिते माया-मिथ्यानिदान शल्यत्रयविवर्जिते। *ण्हाएउ मुणी तित्थे* स्नातु स्नानं करोतु-अष्ट-कर्ममलकलङ्क-प्रक्षालनं करोतु-केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टय संयुक्तो भवतु। कोऽसौ? मुनिः प्रत्यक्षपरोक्षज्ञानसंयुक्तो महात्मा महानुभावो जीवः, तीर्थे शुद्धबुद्धैकस्वभावलक्षणे निजात्मस्वरूपे संसार-समुद्रतारणसमर्थे तीर्थे स्नातु विशुद्धो भवतु। केन कृत्वा स्नातु? *दिक्खा-सिक्खा-सुण्हाणेण* दीक्षा पंचमहाव्रत-पंचसमिति-पंचेन्द्रियरोधलोच-षडावश्यक-क्रियादयोऽष्टाविंशतिमूलगुणा उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयम तपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि दशलाक्षणिको धर्मोऽष्टादशशीलसहस्राणि चतुरशीतिलक्षगुणास्त्रयोदशविधं चारित्रं द्वादशविध तपश्चेति सकलसम्पूर्णदीक्षा भवति, स्त्रीप्रसङ्गवर्जनं द्वादशानुप्रेक्षाचिन्तनं शिक्षा जिननाथस्य, सुस्नानेन कर्मकिट्टि[1] करण किट्टिनिर्लोपनलक्षणेन स्नानेन स्नातु ॥ २६ ॥

गाथार्थ—दया से विशुद्ध धर्म, सर्वपरिग्रह से रहित प्रव्रज्या और मोह से रहित देव, ये तीनों भव्य जीवोंका कल्याण करने वाले हैं ॥ २५ ॥

विशेषार्थ—धर्म दया से विशुद्ध-निर्मल होता है। जो दया करता हुआ भी चमडे के पात्रका जल पीता है, चमडे के पात्रका तैल खाता है, चमडे के वर्तनका घी खाता है, तथा भांग खाता है उस पुरुषका धर्म विशुद्ध नहीं होता, उसे मुनिवेष का धारी होने पर भी म्लेच्छ जानना चाहिये। प्रव्रज्या सर्वपरिग्रह से रहित होती है, जो हाथ में दण्ड रखता है, कम्बल रखता है, तथा शूद्रा स्त्रीके हाथका छुआ अन्न खाता है वह प्रव्रज्या दीक्षाका धारक कैसे हो सकता है?

देव मोहसे रहित होता है। जो देव अर्धाङ्ग में स्त्रीको रखता है, जो देव हृदय स्थल पर लक्ष्मी को बैठाता है, जो देव हाथ में दण्ड धारण करता है, जो देव वेश्याका

१–किट्टिकर क०।

उपभोग करता है, और जो वसिष्ठका पिता होता है वह देव कैसे हो सकता है दयासे विशुद्ध धर्म, सर्वपरिग्रहसे रहित प्रव्रज्या और मोह से रहित देव ये तीनों भव्य जीवोंके उदयको करने वाले हैं अर्थात् उत्कृष्ट तीर्थंकर नामक शुभ पदके देने वाले हैं ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्री बोधप्राभृत में देवाधिकार नामका आठवां अधिकार समाप्त हुआ ॥८॥

गाथार्थ—मुनि, व्रत और सम्यक्त्व से विशुद्ध, पञ्चेन्द्रियों से नियन्त्रित और बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित शुद्धात्मस्वरूप तीर्थमें दीक्षा तथा शिक्षा रूप उत्तम स्नान से स्नान करे ॥२६॥

विशेषार्थ—यहां जिस शुद्ध बुद्धैकस्वभाव रूप लक्षण से युक्त एवं संसार समुद्रसे तारनेमें समर्थ निजात्मस्वरूप तीर्थ—जलाशय में मुनिको स्नान करनेकी प्रेरणा की गई है, वह व्रत तथा सम्यक्त्व से विशुद्ध है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच व्रत अथवा महाव्रत हैं। शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना नामक आठ दोष, ज्ञानमद आदि आठ मद, लोकमूढता आदि तीन मूढताएं और कुदेव आदि छह अनायतन इन पच्चीस मलोंसे रहित तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इन दोनों के द्वारा वह तीर्थ विशुद्ध है—अत्यन्त निर्मल है, साथ ही चर्मपात्र में रखे हुए जलके सेवन आदि से रहित होनेके कारण अकश्मल है—उज्ज्वल है। वह तीर्थ पञ्चेन्द्रियों से संयत है—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां जिसमें संयत हैं—बद्ध हैं—स्पर्श रस गन्ध रूप और शब्द इन पांच विषयोंसे रहित हैं, इसके सिवाय वह तीर्थ निरपेक्ष है—बाह्य वस्तुओं की अपेक्षासे रहित है ख्याति, लाभ आदिको आकांक्षाओंसे रहित है, और माया मिथ्यात्व तथा निदान इन तीन शल्योंसे वर्जित है। इसी तीर्थमें प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से युक्त, महात्मा, महानुभाव मुनि को स्नान करना चाहिये अर्थात् अष्ट कर्म मल रूप कलङ्कका प्रक्षालन करना चाहिये अथवा केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय से संयुक्त होना चाहिये।

प्रश्न—किसके द्वारा स्नान करना चाहिये ?

उत्तर—दीक्षा और शिक्षारूप उत्तम स्नान के द्वारा।

प्रश्न—दीक्षा क्या है ?

उत्तर—पांचमहाव्रत, पांचसमिति, पञ्चेन्द्रियरोध, लोच, तथा षडावश्यक क्रिया आदि अट्ठाईस मूलगुण, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म, अठारह हजारशीलके भेद, चौरासीलाख गुण, तेरह प्रकारका चारित्र और बारह प्रकार का तप ये सब मिलकर दीक्षा कहलाती है।

जं[1] णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं ।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण ॥२७॥

यन्निर्मलं सुधर्मं सम्यक्त्वं संयमस्तपः ज्ञानम् ।
तत्तीर्थं जिनमार्गे भवति यदि शान्तभावेन ॥२७॥

जं णिम्मलं सुधम्मं यन्निर्मलं निरतिचारं सुधर्मं सुष्ठु शोभनं चारित्रं तत्तीर्थं ज्ञातव्यम् । *सम्मत्तं संजमो तवं णाणं* सम्यक्त्वं तत्वार्थश्रद्धानलक्षणं तीर्थं भवति । संयम इन्द्रियाणां मनसश्च संकोचनं पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायस्थावरजीव-रक्षणमविराधनम् । द्वीन्द्रिया[2]दिपञ्चेन्द्रियत्रसजीवदया--करणं क्वचित् प्रमाददोषेण विराधनायां शास्त्रोक्त—प्रायश्चित्त—करणं संयम उच्यते सोऽपि संसारसमुद्रतारकत्वात्तीर्थं भवति । तप इच्छा-निरोधलक्षणं द्वादशविधं तत्वार्थ -मोक्ष-शास्त्र—नवमाध्याये विस्तरेण निरूपितत्वाज्ज्ञातव्यम् । ज्ञानं च तीर्थं भवति । *तं तित्थं जिणमग्गे* तज्जगत्प्रसिद्धं निश्चयतीर्थप्राप्ति-कारणं मुक्तमुनिपादस्पृष्टं तीर्थं ऊर्जयन्त शत्रुञ्जयलाटदेश-पावागिरि—आभीरदेशतुंगीगिरि-नासिक्यनगर समीपवर्ति-गजध्वजगजपन्थ-सिद्धकूट-तारापुर-कैलाशाष्टापद-चम्पापुरी-पावापुर—वाणारसी—नगरक्षेत्र—हस्तिनागपत्तन सम्मेदपर्वत—सह्याचल-मेढ्रगिरि—हिमाचल ऋषिगिरि-अयोध्या—कौशाम्बी विपुलगिरि-वैभारगिरि रूप्यगिरि-सुवर्णगिरि—रत्नगिरि-शौर्यपुर--चूलाचल—नर्मदातट-द्रोणीगिरि--कुन्थुगिरि-कोटिक-शिलागिरि जम्बूकवन चलनानदीतट तीर्थंकरपञ्चकल्याणस्थानानि चेत्यादि [3]जिनमार्गे यानि तीर्थानि वर्तन्ते तानि कर्मक्षयकारणानि वन्दनीयानि ये न वन्दन्ते ते मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः । तीर्थभ्रमणं विनाऽनन्ते संसारे भ्रमिष्यन्ति, अनुमोदनाच्च तं तरन्ति । उक्तं च पूज्यपादेन भगवता—

इक्षोर्विकार रसपृक्त गुणेन लोके
पिष्टोऽधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत् ।
तद्वच्च पुण्यपुरुषैरुषितानि नित्यं
जातानि तानि जगतामिह पावनानि ॥१॥

जिनमार्ग-बाह्यं यत्तीर्थं जलस्थानादिकं तन्न माननीयं । तत्किम् ? गङ्गायमुनासरयू-नर्मदातापी-मागधीगोमतीकपीवतीरवस्यागंभीराकालतोया कौशिकी कालमहीतो[4]प्राऽरुणा निभुरा लौहित्य समुद्र कन्धुकाशोणनद बीजामेखलोदुम्बरी पनसातमसा प्रभृशा शुक्तिमती पम्पासरश्छत्रवती चित्रवती माल्यवती वेणुमती विशालानालिका सिन्धुपारा निष्कुन्दरी बहुवज्रारम्या सिकतिनी[5]कुहासमतोयाकञ्जा कपिवती निर्विन्ध्या जम्बूमती—वसुमत्यश्वगामिनी-शर्करावती-सिप्राकृतमाला परिञ्जापनसाऽवन्तिकामा [6]हस्तपानीका गन्धुनी व्याघ्री चर्मण्वती शतभागानन्दा—करभवेगिनी--चुल्लतापीरेवा--क्षप्रपारा -कौशिकी पूर्वदेशनद्यः । उक्तं च ब्राह्मणमते—

प्रश्न—शिक्षा क्या है ?

उत्तर—स्त्री प्रसङ्गका त्याग करना और अनित्य आदि बारह भावनाओंका चिन्तन करना जिनेन्द्रदेव की शिक्षा है ।

प्रश्न—सुस्नान क्या है ?

---

१ निम्मलं क० घ० म० । २ द्वीन्द्रियाणि (?) क० घ० ड० । ३ मार्गे म० ।
४—तोया म० । ५—सिकतनीम्यूहा ब० । ६ -हस्ति म० ।

प्रागुदीच्यौ विभजते हंसः क्षीरोदकं यथा ।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती ॥

अथ दक्षिणे—तैला-इक्षुमती नक्रवा चङ्का श्वसना वैतरणी माषवती महिन्द्रा शुष्कनदी सप्तगोदावरं गोदावरी मानससरः सुप्रयोगा कृष्णवर्णा सन्नीरा प्रवेणी कुब्जा धैर्या चूर्णी वेला शूकरिका अम्बर्णा

अथ पश्चिमे देशे—भैमरथी दारुवेणा नीरा मूला बाणा केता स्वाकरारी प्रहरा मुररा मदना गोदावरी तापी लाङ्गला खातिका कावेरी तुङ्गभद्रा साभ्रवती महीसागरा सरस्वतीत्यादयो नद्यो न तीर्थं भवन्ति पापहेतुत्वात्, तन्मतेऽपि विरुद्धत्वात् ।

गङ्गाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते ।
स्नात्वा कनखले तीर्थं संभवेन्न पुनर्भवे ॥१॥

किमत्र विरोधः ?

दुष्टमन्तर्गतं चित्तं तीर्थस्नानान्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥१॥

तित्थं इति श्रीबोधप्राभृते तीर्थाधिकारो नवमः समाप्तः ॥९॥

उत्तर—जिसमें कर्म रूपी किट्टि-कालिमाका अभाव होजाय ॥२६॥

गाथार्थ—जो निरतिचार धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप और ज्ञान है वह जिनमार्ग में तीर्थ है, वह भी यदि शान्तभाव से सहित हों । [यदि यह धर्म सम्यक्त्व आदि भाव क्रोध से सहित हैं तो तीर्थ नहीं कहलाते हैं ।]

विशेषार्थ—निर्मल--अतिचार से रहित जो उत्तम धर्म-चारित्र है वह तीर्थ है, तत्वार्थ-श्रद्धान रूप सम्यक्त्व तीर्थ है, इन्द्रियों और मन को वश में करना, पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति इन पांच स्थावर जीवोंकी रक्षा करना अर्थात् विराधना नहीं करना और द्वीन्द्रियादि पञ्चेन्द्रियान्त त्रस जीवोंकी दया करना, यदि कहीं प्रमाद के दोष से विराधना हो भी जाय तो शास्त्रोक्तविधि से प्रायश्चित्त करना संयम कहलाता है । यह संयम भी संसार समुद्रसे तारने वाला होनेसे तीर्थ है । तपका लक्षण इच्छाओं का निरोध करना है, वह अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान के भेद से बारह प्रकारका होता है । तत्वार्थसूत्र-मोक्षशास्त्र के नवम अध्याय में विस्तार से तप का निरूपण किया गया है वहांसे उसे जानना चाहिये । यह तप तीर्थ है । इसके सिवाय ज्ञान भी तीर्थ है । जिनमार्ग में निश्चयनयसे यहां सब तीर्थ कहलाते हैं । व्यवहार नयसे जगत् प्रसिद्ध, निश्चयतीर्थ की प्राप्तिमें कारण तथा मुक्त-अवस्थाको प्राप्त हुए मुनियों के चरणों से स्पृष्ट-ऊर्जयन्त (गिरनार) शत्रुञ्जय, लाटदेशका पावागिरि आमीर देशकी तुङ्गीगिरि नासिक नगर के समीप में स्थित गजकी पताकाओंसे युक्त गजपन्था सिद्धवर-

कूट, तारापुर, कैलाश, अष्टापद, चम्पापुरी, पावापुर, वाणारसी नगरका क्षेत्र, हस्तिनागपुर, सम्मेद शिखर, मुक्तागिरि, हिमाचल, ऋषिगिरि, अयोध्या, कौशाम्बी, विपुलगिरि, वैभारगिरि, रूप्यगिरि, सुवर्णगिरि, रत्नगिरि, शोर्यपुर, चूलगिरि, नर्मदानदीका तट, द्रोणगिरि, कुन्थुगिरि, कोटिशिलागिरि, जम्बूकवन, चलना नदीका तट, तथा तीर्थंकरोंके पञ्चकल्याणकों के स्थानको आदि लेकर जिनमार्ग में जो तीर्थ क्षेत्र प्रसिद्ध हैं वे कर्मक्षय के कारण हैं तथा वन्दना करनेके योग्य हैं, जो इन तीर्थोंकी वन्दना नहीं करते हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये। तीर्थ-भ्रमणके विना वे अनन्त संसारमें भ्रमण करेंगे और तीर्थभ्रमणकी अनुमोदनासे संसारको पार करेंगे। जैसा कि भगवान् पूज्यपादने कहा है--

इक्षोर—जिस प्रकार लोकमें गुड़ या शक्कर के रससे चूर्ण अधिक मधुरता को प्राप्त होता है उसी प्रकार पुण्य पुरुषों से निरन्तर अधिष्ठित तीर्थ जगत् को पवित्र करने वाले होते हैं।

जिनमार्गसे बाह्य जो जलस्थान–नदी सरोवर आदि तीर्थस्थान हैं वे माननीय नहीं हैं। जैसे गङ्गा, यमुना, सरयू, नर्मदा, ताप्ती, मागधी, गोमती, कपोवती, अवश्या, गम्भीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही, तोग्रा, अरुणा, निभुरा, लोहित्य, समुद्र, कन्धुका शोणनद, बीजा, मेखला, उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रभृशा, शुक्तिमती, पम्पासरोवर, छत्रवती, चित्रवती, माल्यवती, वेणुमती, विशाला, नालिका, सिन्धु पारा, निष्कुन्दरी, बहुवज्रा, रम्या, सिकतिनी, ऊहा, समतोया, कज्जा, कपीवती, पिविन्ध्या, जम्बूमती, वसुमती, अश्वगामिनी, शर्करावती, सिप्रा, कृतमाला, परिज्जा, पनसा, अवन्तिकामा, हस्तिपानी, कागंधुनी, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नन्दा करभवेगिनी, क्षुल्लतापी, रेवा, सप्तपारा, कौशिकी आदि पूर्वदेश की नदियां। ब्राह्मणमत में कहा भी है।

प्रागु—जिस प्रकार हंस दूध और पानीका विभाग करता है उसी प्रकार जो पूर्व और उत्तर देशोंका विभाग करती है तथा जो विद्वानों की शब्दसिद्धिका कारण है वह शरावती नदी हम सबकी रक्षा करे।

अब दक्षिण दिशाकी नदियां बतलाते हैं—तैला, इक्षुमती, नक्ररवा, चङ्गा, श्वसना, वैतरणी, माषवती, महिन्द्रा, शुष्कनदी, सप्तगोदावर, गोदावरी, मानससर, सुप्रयोगा, कृष्णवर्णा, सन्नीरा, प्रवेणी, कुब्जा, धैर्या, चूर्णी, वेला, शूकरिका, अम्बर्णा।

अब पश्चिम देशकी नदियां कहते हैं--भैमरथी, दारुवेणा, नीरा, मूला, केता, स्वाकरीरी, प्रहरा, मुररा, गोदावरी, तापी, लाङ्गला, खातिका, कावेरी, तुङ्गभद्रा, साभ्रवती, महीसागरा, सरस्वती आदि नदियां तीर्थ नहीं हैं क्योंकि ये पापके कारण हैं।

अथेदानीं चतुर्दशभिर्गाथाभिरर्हत्स्वरूपमहाधिकारं प्रारभन्ते श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः—

णामे ठवणे हि य संदव्वे भावेहि सगुणपज्जाया ।
चउणागदि संपदिमं[1] भावा भावंति अरहंतं ॥ २८ ॥

नाम्नि स्थापनायां हि च संद्रव्ये भावे च स्वगुणपर्यायाः ।
च्यवनमागतिः संपदिमं भव्या भावयन्ति अर्हन्तम् ॥ २८ ॥

णामे नामन्यासे सति । *ठवणे* स्थापनान्यासे सति । *हि* स्फुटं । चकारः पादपूरणार्थः । *संदव्वे* समीचीने द्रव्यन्यासे सति भावे य भावन्यासे च सति *सगुणपज्जाया* स्वगुणा अनन्तज्ञानानन्तवीर्यानन्तसुखसंज्ञा अर्हन्तो भवन्तीत्युपस्कारः । स्वपर्यायाः दिव्यपरमौदारिकशरीराष्टमहाप्रातिहार्यसमवशरणलक्षणाः पर्याया अर्हन्तो भवन्तीत्युपस्कर्तव्यः । *चउण* स्वर्गान्नरकाद्वा च्यवनं । *आगदि* भरतादिक्षेत्रेष्वागमनं *संपत्* गर्भावतारात्पूर्वमेव षण्मासान् रत्नसुवर्णपुष्पगन्धोदकवर्षणं मातुरङ्गणे भवति, अवतीर्णे सति नवमासपर्यन्तं सुवर्णरत्नवृष्टिं मातुरङ्गणे सौधर्मेन्द्रादेशात्कुबेरः करोति कनकमय-पत्तनं भवति । एतत्सर्वं महापुराणात्सम्पद्विवरणमर्हतो ज्ञातव्यम् । *इमं* अर्हन्तं । भावा भव्यजीवा आसन्नतर-भव्यवर-पुण्डरीकाः । *भावंति* भावयन्ति निजहृदय-कमले निश्चलं धरन्ति । कम् ? *अरहंतं* श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञवीतरागं । तथा चोक्तं—

णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा तह य ताह पडिमाओ ।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था ॥ १ ॥

साथ ही इस विषय को लेकर ब्राह्मण मतमें विरुद्ध कथन भी पाया जाता है । जैसे एक स्थान पर कहा है--

गङ्गा--गङ्गाद्वार, कुशावर्त, विल्वक, नीलपर्वत, और कनखल तीर्थमें स्नान कर मनुष्य पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होता अर्थात् मुक्त हो जाता है ।

तो दूसरे स्थान पर कहा है--

दुष्ट--जिस प्रकार मदिरा का वर्तन सैकडों वार जलसे धोने पर भी अशुद्ध ही रहता है उसी प्रकार मनुष्य का अन्तवर्ती चित्त दुष्ट ही रहता है, तीर्थ स्नानसे शुद्ध नहीं होता ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्री बोध-प्राभृत में तीर्थाधिकार नामका नौवां अधिकार समाप्त हुआ ९

अब आगे चौदह गाथाओं द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य अर्हत्स्वरूप नामक महाधिकार-का प्रारम्भ करते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप, स्वकीयगुण, स्वकीय-पर्याय, च्यवन, आगति, और संपदा इन नौ बातोंका आश्रय करके भव्य जीव अरहंत भगवान् का चिन्तन करते हैं ॥ २८ ॥

---

१ संपदिमे म० ।

दंसण अणंतणाणे मोक्खो णट्ठट्ठ कम्मबंधेण ।
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥ २६ ॥

दर्शने अनन्तज्ञाने मोक्षो नष्टाष्टकर्मबन्धेन ।
निरुपमगुणमारूढः अर्हन् ईदृशो भवति ॥ २६ ॥

दंसण अणंतणाणे अनन्तदर्शने सत्तावलोकनमात्रलक्षणे सति । तथा अनन्तज्ञाने विशेषगोचर-साकारे सति मोक्षो भवतीति तावद्वेदितव्यम् । केन कृत्वा ? *णट्ठट्ठकम्मबंधेण* नष्टाष्टकर्मबन्धेन । ननु 'मोह-क्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्'' इत्युमास्वामिवचनात् चत्वार्येव कर्माण्यर्हतो नष्टानि कथं नष्टाष्टकर्मबन्धेनेत्युच्यते ? साधूक्तं भवता, यथा सैन्यनायके पतिते सति जीवत्यपि शत्रुवृन्दे तन्मृतवत्प्रति-भासते विकृतिकारकत्वभावाभावात्तथा सर्वेषां कर्मणां मुख्यभूते मोहनीयकर्मणि नष्टे सति वेदनीयायुर्नाम-गोत्रकर्मचतुष्टये सत्यपि भगवतो विविध-फलोदयाभावादघातीन्यपि कर्माणि नष्टानीत्युच्यते । *णिरुवम गुणमारूढो* निरुपमं गुणमनन्तचतुष्टय-लक्षणमारूढोऽहन्नष्ट-कर्मरहित उच्यते । *अरहंतो एरिसो होइ* अर्हन्नीदृशो भवतीति मुक्त एवोपचर्यत इति भावार्थः ॥ २६ ॥

विशेषार्थ—गुण जाति क्रिया और द्रव्य की अपेक्षा न रखकर किसी वस्तु के नाम रखने को नाम निक्षेप कहते हैं । तदाकार और अतदाकार वस्तु में किसी की कल्पना करनेको स्थापना निक्षेप कहते हैं । भूत भविष्यत् कालकी मुख्यता से पदार्थ के वर्णन करनेको द्रव्य निक्षेप कहते हैं और जो पदार्थ वर्तमान में जिसरूप है उसी रूप उसके कथन कहने को भाव निक्षेप कहते हैं । इन चारों निक्षेपों की अपेक्षा अरहन्त का कथन होता है । अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख ये अर्हन्त के स्वकीय गुण हैं । दिव्य परमौदारिक शरीर, अष्ट महाप्रातिहार्य और समवशरण ये अरहन्त भगवान् की स्वकीय पर्याय हैं । अर्हन्त भगवान—तीर्थंकर भगवान स्वर्ग अथवा नरक गतिसे च्युत होकर उत्पन्न होते हैं । भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्र में उनका आगमन होता है अर्थात् स्वर्ग या नरक से च्युत होकर इन क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं । उनके गर्भावतरण के छहमास पूर्व लगातार माता के अङ्गण में सुवर्ण और रत्नों की वर्षा होती है तथा गर्भावतरण हो चुकने पर नौ मास पर्यन्त माताके अङ्गण में सौधर्मेन्द्र की आज्ञासे कुवेर सुवर्ण और रत्नोंकी वर्षा करता है तथा उनका नगर सुवर्णमय हो जाता है, अरहन्त भगवान् की इस समस्त संपत्तिका वर्णन महापुराण से जानना चाहिये । इन नौ बातों का आश्रय लेकर अत्यन्त निकट श्रेष्ठ भव्य जीव अरहन्त भगवान की भावना करते हैं अर्थात् उन्हें अपने हृदय--कमल में निश्चल रूपसे धारण करते हैं ।

जैसा कि कहा है—

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च ।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥ ३० ॥

जराव्याधिजन्ममरणं चतुर्गतिगमनं च पुण्यपापं च ।
हत्वा दोषकर्माणि भूतः ज्ञानमयोऽर्हन् ॥ ३० ॥

णामजिणा—अरहन्तभगवान के जो नाम हैं वे नामजिन हैं, उनकी प्रतिमाऐं स्थापना जिन हैं, अर्हन्त भगवानका जीव द्रव्य जिन है। और समवशरण में स्थित भगवान भावजिन हैं ॥ १ ॥

इस श्लोक में नामादि चार निक्षेपोंकी अपेक्षा अरहन्त का वर्णन किया गया है २८

गाथार्थ—जिनके अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान विद्यमान हैं, [१]आठों कर्मोंका बन्ध नष्ट हो जाने से जिन्हें भावमोक्ष प्राप्त हुआ है तथा जो अनुपम गुणोंको प्राप्त हैं ऐसे अरहन्त होते हैं ॥ २८ ॥

विशेषार्थ—पदार्थकी सत्ता मात्रका अवलोकन होना दर्शन है और विशेषताको लिये हुए विकल्प-सहित जानना ज्ञान कहलाता है। ज्ञानावरण के क्षय से अनन्त ज्ञान और दर्शनावरण के क्षय से अनन्तदर्शन अरहन्त भगवानके प्रगट होता है। इन दोनों गुणोंके रहते हुए उनके आठों कर्मोंका बन्ध नष्ट हो जाने से मोक्ष--भावमोक्ष होता है।

प्रश्न—'मोह--क्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' मोहनीय तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से केवलज्ञान होता है—उमास्वामी के इस वचन से सिद्ध है कि अरहन्त भगवान के चार कर्म ही नष्ट हुए हैं फिर उन्हें 'नष्टाष्टकर्म-बन्ध' क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—आपने ठीक कहा है, परन्तु जिस प्रकार सेनापति के नष्ट हो जाने पर शत्रु-समूह के जीवित रहते हुए भी वह मृत के समान जान पड़ता है क्योंकि विकार उत्पन्न करने वाले भाव का अभाव हो जाता है उसी प्रकार सब कर्मों के मुख्यभूत मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर यद्यपि अरहन्त भगवान के वेदनीय आयु नाम और गोत्र ये चार अघाति कर्म विद्यमान रहते हैं तथापि नाना प्रकार के फलोदय का अभाव होने से वे भी नष्ट हो गये, ऐसा कहा जाता है। उपमा-रहित अनन्त-चतुष्टय रूप गुणोंको प्राप्त हुए अरहन्त अष्ट कर्म से रहित कहे जाते हैं। ऊपर कही विशेषताओं से युक्त पुरुष होता है तथा उपचार से उसे मुक्त ही कहते हैं ॥ २९ ॥

१—अरहन्त भगवान् के सातावेदनीय का बन्ध विद्यमान रहने से यद्यपि आठों कर्मोंके बन्धका अभाव सिद्ध नहीं होता तथापि सातावेदनीय में स्थिति अनुभाग बन्ध न पड़ने से अबन्ध की ही विवक्षा की गई है।

जर जरां हत्वा । वाहि व्याधिं हत्वा, एतेन पदेन यत्महावीरस्वामिनः षण्मासिकमतीसारं रोगं केवलिनः कथयन्ति तन्मतं निरस्तं भवति । जम्म जन्म गर्भवासं हत्वा, इदमपि पदमेतत् सूचयति यद्देवनन्दाया ब्राह्मण्या उदराद्वीरं निष्कास्य क्षत्रियाया उदरे प्रवेशितवानिन्द्रस्तदप्ययुक्तं । गतिदाता इन्द्र एवेति (चेन् ? न) जीवस्य कर्माधीनत्वं वृथा भवतीति दोष-तद्भावात् । तथा मरण हत्वा । चउगइ गमणं च चतुर्गतिगमनं च हत्वा । पुण्णपावं च पुण्यं पापं च हत्वा । हंतूण दो कम्मे हत्वा विनाश्य दोषानष्टादशदोषान । के ते ?—

[१]क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥

चकाराच्चिन्तारति-निद्रा-विषादस्वेद-खेद-विस्मया गृह्यन्ते । कम्मे घातिकर्माणि हंतूण-हत्वा हुउ णाणमयं च अरहंतो भूतः संजातः । कीदृशः ? णाणमयं-ज्ञानमयः केवलज्ञानवान् । अर्हन्, इन्द्रादिकृतामर्हणां पूजामनन्यसंभविनीमर्हतीत्यर्हन् सर्वज्ञो वीतरागः ॥ ३० ॥

गाथार्थ—बुढापा, रोग, जन्म, मरण, चतुर्गति-गमन, पुण्य-पाप, अठारह दोष, तथा घातिया कर्मों को नष्ट करके जो ज्ञानमय हुए हैं वे अरहन्त हैं ॥ ३० ॥

विशेषार्थः—जरा का अर्थ बुढापा है, व्याधि बीमारी को कहते हैं । इन्हें नष्टकरने से ही अरहंत-अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् अरहन्त भगवान के परमौदारिक शरीर में न बुढापा प्रगट होता है और न कोई बीमारी ही । यहां खास कर व्याधि को नष्ट करके अरहन्त होते हैं, इस कथन से श्वेताम्बरोंके उस मतका खण्डन हो जाता है जिसमें वे कहते है कि भगवान महावीर स्वामीको केवलज्ञानी अवस्थामें छह मासके लिये अतीसार नामक बीमारी हो गई थी । जन्मका अर्थ गर्भवास है, अरहन्त भगवान् इसे नष्ट करके अरहन्त होते हैं अर्थात् अरहन्त भगवान् अरहन्त बनने के बाद मोक्ष ही प्राप्त करते हैं, गर्भवासको प्राप्त नहीं करते । इस पद से भी यह सूचित होता है कि "भगवान महावीर पहले तो देवनन्दा नामकी ब्राह्मणीके गर्भमें अवतीर्ण हुए थे बाद में इन्द्र ने उन्हें ब्राह्मणी के उदर से निकाल कर क्षत्रिया के गर्भ में प्रविष्ट कराया था" श्वेताम्बरों का यह कथन अयुक्त है । यदि यह कहा जाय कि इन्द्र ही जीव को गति देता है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर जीव की कर्माधीनता व्यर्थ हो जाती है । अरहन्त भगवान मरण को तथा चारों गतियों के गमनको नष्ट कर अरहन्त बनते हैं अर्थात् अरहंत भगवान का न मरण होता है और न नरकादि चारों गतियों में उनका गमन होता है । वे पुण्य पापको भी नष्ट कर चुकते हैं, कषायोदय की मन्दता में होने वाले शुभ परिणाम पुण्य और कषायोदय की तीव्रता में होने वाले

१—रत्नकाण्डश्रावकाचारे

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहि ।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरुह पुरिसस्स ॥३१॥

गुणस्थानमार्गणाभिश्च पर्याप्तिप्राणजीवस्थानैः ।
स्थापना पञ्चविधैः प्रणेतव्या अर्हत्पुरुषस्य ॥३१॥

गुणठाणमग्गणेहि य गुणस्थानेनार्हन् प्रणेतव्यो योजनीयः । कानि तानि गुणस्थानानि ? तन्निर्देशो गाथाद्वयेन क्रियते—

[१]मिच्छा सासण मिस्सो अविरयसम्मो य देसविरओ य ।
विरया पमत इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥१॥
उवसंतखीणमोहो सजोग केवलिजिणो अजोगी य ।
चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धाय णायव्वा ॥२॥

मार्गणाश्चतुर्दश निर्देक्ष्यति । *पज्जत्ती* षड्भिः पर्याप्तिभिरर्हन् प्रणेतव्यः । ता अपि निर्देक्ष्यति । *पाणजीवटाणेहि* प्राणैर्दश भिरर्हन् प्रणेतव्यः । तानपि निर्देक्ष्यति । जीवस्थानानि चतुर्दशसु गुणस्थानेषु जीवा ये सन्ति तानि जीवस्थानानि । तानि गुणस्थाननिर्देशेन ज्ञातव्यानि । *ठावण पंच विहेहिं* एवं गुणस्थान-मार्गणा पर्याप्ति प्राणजीवस्थान-स्थापना पंचविधैः स्थापना योटना पंचप्रकारैः । *पणायव्वा अरुहपुरिसस्स* प्रणेतव्या योटनीया अर्हत्पुरुषस्य अर्हज्जीवस्येति ॥३१॥

अशुभ परिणाम को पाप कहते हैं कषायोदयका अभाव होने से अरहन्त भगवान के पुण्य और पाप दोनोंका अभाव रहता है। अरहन्त भगवान दोषों तथा कर्मोंको नष्ट करके अरहन्त बनते हैं।

प्रश्न—दोषसे क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अठारह दोष। जैसे--

क्षुत्पिपासा—क्षुधा, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह और चकारसे चिन्ता, अरति, निद्रा, विषाद, स्वेद, खेद, और विस्मय ये अठारह दोष हैं जिस पुरुषमें ये अठारह दोष नहीं होते हैं, वह आप्त कहलाता है।

प्रश्न—कर्मसे क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—घातिया कर्म।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनाय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मो को नष्ट करने से ही अरहंत अवस्था प्रगट होती है।

इन सब जरा, व्याधि आदिको नष्ट करके जब यह जीव ज्ञानमय-केवलज्ञान रूप हो जाता है तब अरहन्त कहलाता है। इसे प्राकृत भाषा में 'अरहंत' और संस्कृत भाषा में

१—जीवकाण्डे नेमिचन्द्रस्य ।

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो ।
चउतीसअइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठपडिहारा ॥३२॥

त्रयोदशे गुणस्थाने सयोगकेवलिको भवति अर्हन् ।
चतुस्त्रिंशदतिशयगुणा भवन्ति हु तस्याष्ट प्रातिहार्याणि ॥३२॥

तेरहमे गुणठाणे त्रयोदशे गुणस्थाने । *सजोय केवलिय होइ अरहंतो* सयोग-केवलिको भवत्यर्हन् । *चउतीसअइसयगुणा* चतुस्त्रिंशदतिशयगुणाः । *होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा* भवन्ति हु—स्फुटं तस्यार्हत्परमेश्वरस्याष्टप्रातिहार्याणि । के ते चतुस्त्रिंशदतिशया इति चेदुच्यन्ते—नित्यं निःस्वेदत्वं, निर्मलता मलमूत्ररहितता, तत्पितुस्तन्मातुश्च मलमूत्रं न भवति । उक्तं च—

तित्थयरा तप्पियरा हलहर चक्की य अद्धचक्की य ।
देवा य भूयभूमा आहारो अत्थि णत्थि णीहारो ।

तथा तीर्थकराणां श्मश्रुणी कूर्चश्च न भवति, शिरसि कुन्तलास्तु भवन्ति । तथा चोक्तम्—

'अर्हत्' कहते हैं । अर्हत् शब्द 'अर्ह' धातुसे सिद्ध होता है । उसका निरुक्तार्थ है—जो दूसरे जीवों में न पाई जाने वाली इन्द्रादिकृत अर्हणा--पूजाको प्राप्त करनेकी योग्यता रखता हो वह 'अर्हत्' है । समस्त पदार्थोंके ज्ञाता होने से इन्हें सर्वज्ञ तथा रागद्वेषसे रहित होने के कारण वीतराग भी कहते हैं ॥ ३० ॥

गाथार्थ—गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान इन पांच प्रकारों से अरहंत भगवान् की स्थापना करना चाहिये ॥३१॥

विशेषार्थ—गुणस्थान के द्वारा अरहन्त की योजना करना चाहिये । वे गुणस्थान कौन हैं ? इसका निर्देश दो गाथाओं द्वारा किया जाता है—

मिच्छा—१ मिथ्यादृष्टि २ सासादन ३ मिश्र ४ अविरत सम्यग्दृष्टि ५ देशविरत ६ प्रमत्तविरत ७ अप्रमत्तविरत ८ अपूर्वकरण ९ अनिवृत्तिकरण १० सूक्ष्मसाम्पराय ११ उपशान्तमोह १२ क्षीणमोह १३ सयोगकेवलि जिन और १४ अयोग केवलिजिन ।

मार्गणा के द्वारा अरहन्त की योजना करना चाहिये । मार्गणाएं चौदह हैं उनका निर्देश आगे करेंगे । छह पर्याप्तियोंके द्वारा अरहन्त का निरूपण करना चाहिये । उन पर्याप्तियोंका भी आगे निर्देश करेंगे । दश प्राणोंके द्वारा अरहन्त भगवान् का वर्णन करना चाहिये । उन प्राणों का भी आगे निर्देश करेंगे । जीवस्थानों के द्वारा अरहन्तकी योजना करना चाहिये । चौदह गुणस्थानों में जो जीव रहते हैं वही जीवस्थान हैं । गुणस्थानोंका निर्देश ऊपर कर आये हैं उसीसे जीवस्थानोंको जानना चाहिये । इसप्रकार गुणस्थान—मार्गणा—पर्याप्ति—प्राण—और जीव—स्थान; स्थापनाके इन पांच प्रकारों से अरहन्तकी योजना करना चाहिये ॥३१॥

देवा वि य नेरइया हलहरचक्की य तह य तित्थयरा ।
सब्वे केसवरामा कामा निक्कुंचिया होंति ॥

क्षीरगौररुधिरमांसत्वं, समचतुरस्रसंस्थानं, वज्रर्षभनाराच-संहननं, सुरूपता, सुगन्धता, सुलक्षणत्वम्, अनन्तवीर्यं, प्रियहितवादित्वं, चेति दशातिशया जन्मतोऽपि स्वामिनः शरीरस्य ।

गव्यूतिशत-चतुष्टयसुभिक्षता । गगनगमनम् । अप्राणिवधः । कवलाहारो न भवति-भोजनं नास्ति । उपसर्गो न भवति । केवलिनामुपसर्गं भुक्तिं च ये कथयन्ति ते [१]प्रत्युक्ता भवन्ति । चतुर्मुखत्वम् । सर्वविद्यानां परमेश्वरत्वम् । अच्छायत्वं-दर्पणे मुख-प्रतिबिम्बं न भवत शरीरच्छाया च न भवति । चक्षुषि मेषोन्मेषो न भवति । नखानां केशानां च वृद्धिर्न भवति । एते दशातिशया घातिकर्मक्षयजा भवन्ति ।

सर्वार्धमागधीया भाषा भवति । कोऽर्थः ? अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं, अर्धं च सर्वभाषात्मकं, कथमेवं देवोपनीतत्वं तदतिशयस्येति चेत् ? मगध - देव-सन्निधाने तथा परिणतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तते । सर्वजनता-विषया मैत्री भवति सर्वे हि जनसमूहा मागध-प्रीतिकर-देवातिशयवशान्मागधभाषया भाषन्तेऽन्योन्यं मित्रतया च वर्तन्ते द्वावतिशयौ । सर्वर्तूनां फलगुच्छाः प्रवालाः पुष्पाणि च भूमौ तरवो भवन्ति । आदर्शतलसदृशी भूमिर्मनोहरा रत्नमयी भवति । वायुः पृष्ठत आगच्छति शीतो मन्दः सुरभिश्च । सर्वलोकानां परमानन्दो भवति । एकं योजनमग्रेऽग्रे वायवो भूमिं सम्मार्जयन्ति स्वयं सुगन्ध-मिश्रा धूलिकण्टक-तृण-कीटकान् कर्करान् पाषाणांश्च प्रमार्जन्ति । स्तनितकुमारा गन्धोदकं वर्षन्ति । पादाधोऽम्बुजमेकं, अग्रतः सप्तकमलानि, पृष्ठतश्च सप्तपद्मानि योजनैक-प्रमाणानि, प्रत्येकं सहस्रपत्राणि पद्मरागमणिकेसराणि अर्धयोजनकानि भवन्ति । सर्वसस्य-निष्पत्तियुता भूमिर्भवति । शरत्कालसरोवरसदृशमाकाशं निर्मलं भवति । दिशः सर्वा अपि तिमिरकां धूम्रतां त्यजन्ति तमो मुञ्चन्ति शलभा अपि दिशो नाच्छादयन्ति धूलिर्नोड्डीयते । ज्योतिष्कान् व्यन्तरान् कल्पवासिदेवान् भवनवासिन आह्वयन्ति महापूजार्थं त्वरितमागच्छन्तु भवन्त इति । अरसहस्रं रत्नमयं रवितेजस्तिरस्कारकं धर्मचक्रं अग्रेऽग्रे गगने निराधारं गच्छति । अष्ट मङ्गलानि भवन्ति । तानि कानि ? छत्र-ध्वज-दर्पण-कलश-चामर भृङ्गार-ताल-सुप्रतिष्ठक इत्यष्टमङ्गलानि चतुर्दशाऽतिशयाः । एते चतुर्दशातिशया देवोपनीता भवन्ति । तथाष्टप्रातिहार्याणि भवन्ति । कानि तानीत्याह—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

अब आगे गुणस्थानकी अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान सयोगकेवलि जिनेन्द्र अरहन्त कहलाते हैं उनके चौंतीस अतिशय और आठ प्रतिहार्य होते हैं ॥३२॥

विशेषार्थ—इस जीवकी अरहन्त अवस्था तेरहवें गुणस्थानमें प्रकट होती है । उस गुणस्थानका नाम सयोग केवली है । यहां केवलज्ञान प्रकट होजाता है और साथ में योग विद्यमान रहते हैं इसलिये इस गुणस्थान-वर्ती जीवको सयोग-केवली कहते हैं । जो मनुष्य तीर्थकर होकर अरहंत बनते हैं उनके चौंतीस अतिशय तथा आठ प्रतिहार्य होते

---

१ क प्रतौ 'प्रत्यक्ता' इति संशोधितं केनापि ।

हैं और जो सामान्य अरहंत होते हैं उनके यथा-संभव कम भी अतिशय होते हैं। अब यहां चौंतीस अतिशय कौन हैं ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये उनका वर्णन किया जाता है। चौंतीस अतिशयों में दश जन्म के, दश केवलज्ञान के और १४ देवकृत अतिशय होते हैं। जन्मके दश अतिशय इस प्रकार हैं—

१ नित्य निःस्वेदता अर्थात् कभी पसीना नहीं आना। २ निर्मलता अर्थात् मल-मूत्रसे रहित शरीर का होना। न केवल तीर्थंकर अरहन्तके मलमूत्र का अभाव होता है किन्तु उनके माता पिता के भी मलमूत्र का अभाव होता है। जैसा कि कहा गया है—

तित्थयरा—तीर्थंकर उनके माता पिता, बलभद्र, चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती, देव और भोगभूमिया इनके आहार तो होता है परन्तु नीहार नहीं होता।

इसी प्रकार तीर्थंकरोंके डाढी और मूछ नहीं होती किन्तु शिर पर घुन्घुराले बाल होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

देवावि य—देव, नारको, हलधर-बलभद्र, चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती, सब नारायण और कामदेव ये डाड़ी मूछ से रहित होते हैं।

३ दूधके समान सफेद खून और मांसका होना ४ समचतुरस्र--संस्थान का होना ५ वज्रर्षभनाराच संहननका होना ६ सुन्दर रूपका होना ७ सुगन्धित शरीरका होना ८ उत्तम लक्षणोंका होना ९ अनन्त बल होना और १० प्रिय तथा हितकर वचन बोलना। ये दश अतिशय तीर्थंकर भगवान्के शरीर में जन्मसे ही होते हैं।

अब केवलज्ञान-सम्बन्धी दश अतिशय कहते हैं--

१ चारसौ गव्यूति पर्यन्त सुभिक्षका होना २ आकाश में गमन होना ३ प्राणीका वध नहीं होना ४ कवलाहार का न होना ५ उपसर्ग नहीं होना।

(जो मनुष्य केवलियों के उपसर्ग तथा कवलाहार का वर्णन करते हैं उनका इस कथन से निराकरण होजाता है।)

६ चारों दिशाओं में मुख दिखना ७ सब विद्याओं का ईश्वरपना ८ छायाका अभाव, (दर्पण में तीर्थंकर के मुखका प्रतिविम्ब नहीं पड़ता है और न उनके शरीरकी छाया पड़ती है) ९ नेत्रोंके पलक नहीं झपकना और १० नख तथा केशोंकी वृद्धि नहीं होना; ये दश अतिशय घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होते हैं।

अब देवकृत चौदह अतिशय कहते हैं—

१ सर्वार्धमागधीया भाषा—भगवान को सर्वार्ध मागधी भाषा होती है।

प्रश्न—इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—भगवान् की भाषा में आधा भाग भगवान् की भाषाका होता है जो कि मगध देशकी भाषा रूप होता है और आधा भाग सर्वभाषा रूप होता है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो उस अतिशयमें देवोपनीतपना किस प्रकार सिद्ध होता है ?

उत्तर—मगध देवोंके सन्निधान में संस्कृत भाषा उस भाषा रूप परिणमन करती है इसलिये अतिशयका देवोपनीतपना सिद्ध होजाता है।

सब जनता में मैत्री-भाव होता है अर्थात् समस्त जन-समूह मागध और प्रीतिकर देवोंके अतिशय के वश मागधी भाषा में बोलते हैं और परस्पर में मित्रता से रहते हैं-ये दो अतिशय हैं। ३ पृथिवी पर ऐसे वृक्ष प्रकट होते हैं जिनमें सब ऋतुओंके फलोंके गुच्छे, किसलय और फूल दिखाई देते हैं। ४ भूमि दर्पणतल के समान मनोहर और रत्नमयी होजाती है ५ पीछेकी ओरसे शीतल मन्द और सुगन्धित वायु आती है। सब लोगोंको परम आनन्द होता है। ७ आगे आगे एक योजन तक सुगन्ध से मिश्रित वायु पृथिवी को स्वयं झाड़ती है और धूलि, कण्टक, तृण, कीड़े, कंकड़ और पत्थरोंको साफ करती रहती है। ८ स्तनित कुमार देव गन्धोदक की वर्षा करते हैं, ९ भगवान् के पांवके नीचे एक, आगे सात और पीछे सात इस प्रकार एक पंक्तिमें पन्द्रह कमल होते हैं। ये कमल एक योजन प्रमाण होते हैं। इसके सिवाय कमलों की चौदह पंक्तियां और होती हैं। ये सब कमल पद्मराग मणिमय केशरसे युक्त तथा आधायोजन विस्तार वाले होते हैं। १० भूमि सब प्रकारके अनाजोंकी उत्पत्ति से सहित होती है। ११ आकाश शरद् ऋतुके सरोवरके समान निर्मल होता है। १२ सब दिशाएं तिमिरिका-धुन्द, धूम्रता और अन्धकार को छोड़कर निर्मल होजाती हैं, टिड्डियां भी दिशाओं को आच्छादित नहीं करतीं और न धूलि ही उड़ती है। सब दिशाएं ज्योतिष्क, व्यन्तर, कल्पवासी और भवनवासी देवोंको यह कह कर बुलाती हैं कि आप लोग शीघ्र ही भगवान् की महापूजाके लिये आवें। १३ आगे २ आकाश में हजार आरोंसे युक्त, रत्नमय, तथा सूर्यके तेजको तिरस्कृत करनेवाला धर्म-चक्र आकाशमें निराधार चलता है। १४ छत्र, ध्वजा, दर्पण. कलश, चामर, झारी, तालपत्र, और ठौना ये आठ मङ्गल द्रव्य होते हैं, यह चौदहवां अतिशय है। ये चौदह अतिशय देवोपनीत होते हैं। इनके सिवाय तीर्थंकर-अरहन्त भगवान्के आठ प्रतिहार्य होते हैं।

प्रश्न—वे आठ प्रतिहार्य कौन हैं ?

उत्तर—कहते हैं—

अब मार्गणा की अपेक्षा अरहन्तका वर्णन करते हैं—

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥३३॥

गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च ।
संयमे दर्शने लेश्यायां भव्यत्वे सम्यक्त्वे संज्ञिनि आहारे ॥३३॥

गइ नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतीनां मध्येऽर्हतो मनुष्यगतिः । *इंदियं* स्पर्शन-रसन-घ्राण चक्षुःश्रोत्र पञ्चेन्द्रिय-जातीनां मध्येऽर्हन् पञ्चेन्द्रियजातिः । *काए* पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायानां मध्येऽर्हन् त्रसकायः । *जोए* सत्यमनोयोगासत्यमनोयोगोभयमनोयोगानुभयमनोयोगानामर्हतः सत्यानुभयमनोयोगौ, सत्यवचनयोगासत्यवचनयोगाभयवचनयोगानुभयवचनयोगानां मध्येऽर्हतः सत्यानुभयवचनयोगौ, औदारिककाययोगौदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियककाययोगवैक्रियिक-मिश्रकाय-योगाहारक-काययोगाहारक--मिश्र-काययोग—कार्मणकाययोगानां-मध्येऽर्हतः औदारककाययोगौदारिकमिश्रकाययोग--कार्मणकाययोग इति त्रियोगाः । सत्यमनोयोगोऽनुभयमनोयोगः सत्यवचनयोगोऽनुभयवचनयोग औदारिककाययोग औदारिकमिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगश्चेति सप्तयोगाः । *वेए* स्त्रीपुंनपुंसक—वेदत्रयमध्येऽर्हतः कोऽपि वेदो नास्ति । *कसाय* पञ्चविंशतिकषायाणां मध्येऽर्हतः कोऽपि कषायो नास्ति । *णाणे य* पञ्चज्ञानानां मध्येऽर्हतः केवलज्ञानमेकम् । *संजम* सप्तानां संयमानां मध्येऽर्हतः संयम एक एव यथाख्यातचारित्रम् । *दंसण* चतुर्णां दर्शनानां मध्ये दर्शनमेकमेव केवलदर्शनम् *लेस्सा* षण्णां लेश्यानां मध्येऽर्हतो लेश्या एकैव शुक्ललेश्या । *भविया* भव्याभव्यद्वयमध्येऽर्हन् भव्य एव । *सम्मत्त* षण्णां सम्यक्त्वानामर्हतः सम्यक्त्वमेकमेव क्षायिकसम्यक्त्वम् । *सण्णि* संज्ञिद्वयमध्येऽर्हन् संज्ञी ह्येक एव । *आहारे* आहारकानाहारकद्वयमध्येऽर्हत आहारकानाहारकद्वयम् ॥३३॥

अशोक—१ अशोक वृक्ष, २ देवोंके द्वारा पुष्प-वृष्टि होना, ३ दिव्यध्वनि, ४ चामर, ५ सिंहासन, ६ भामण्डल, ७ दुन्दुभि बाजा ८ छत्रत्रय; ये जिनेन्द्रदेवके आठ प्रातिहार्य हैं ॥३२॥

गाथार्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञित्व,, और आहारक इन चौदह मार्गणाओं में यथा-संभव अरहन्त की योजना करना चाहिये ॥ ३३ ॥

विशेषार्थ—गति मार्गणा की अपेक्षा गति के नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार भेद हैं इनमें से अरहन्त के मनुष्य गति है। इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा इन्द्रियों के स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इस प्रकार पांच भेद हैं, इन पांच जातियों में अरहन्त भगवान पञ्चेन्द्रिय जाति हैं। काय मार्गणा के पृथिवी-कायिक, जल-कायिक, अग्नि-कायिक, वायुकायिक, वनस्पति-कायिक और त्रस कायिक इस प्रकार छह भेद हैं इनमें से अरहन्त भगवान त्रसकायिक हैं। योगमार्गणामें मनोयोगके सत्य मनोयोग, असत्य

मनोयोग, उभय मनोयोग, और अनुभय मनोयोग ये चार भेद हैं इनमेंसे अरहन्त के सत्य मनोयोग और अनुभयमनोयोग ये दो मनो-योग हैं। वचन-योगके सत्यवचनयोग, असत्य वचनयोग, उभयवचन योग और अनुभय वचन-योग ये चार भेद हैं, इनमेंसे अरहन्तके सत्य-वचन योग और अनुभय वचनयोग ये दो वचन योग हैं। काय-योगके औदारिक काययोग, औदारिक मि काययोग, वैक्रियिक काययोग वैक्रियिकमिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्र काययोग और कार्मण काययोग ये सात भेद हैं इसमें से अरहन्त के औदारिक काययोग तथा समुद्घातकी अपेक्षा औदारिक मिश्रकाययोग और कार्मण काययोग ये तीन काययोग हैं। इस तरह अरहन्त के सब मिलाकर सातयोग होते हैं जो इस प्रकार हैं—१ सत्यमनोयोग २ अनुभयमनोयोग, ३ सत्यवचनयोग ४ अनुभय वचन योग ५ औदारिक काययोग ६ औदारिक मिश्रकाययोग और ७ कार्मण काय योग। वेदमार्गणाके स्त्री वेद, पुरुषवेद, और नपुंसक वेद ये तीन भेद हैं, इनमें से अरहन्तके कोई भी वेद नहीं है। कषायके अनन्तानुबंधी आदि पच्चीस भेद हैं उनमें से अरहन्तके कोई भी कषाय नहीं है। ज्ञानके मतिज्ञान आदि पांच भेद हैं इनमें से अरहन्तके एक केवल ज्ञान है। संयम मार्गणा के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम की अपेक्षा सात भेद हैं, इनमेंसे अरहन्तके एक यथाख्यात चारित्र है। दर्शन के चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन ये चार भेद हैं इनमें से अरहन्तके एक केवल दर्शन ही है। लेश्या के कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म और शुक्ल ये छह भेद हैं इनमें से अरहन्त के एक शुक्ल लेश्या ही है। भव्यत्व मार्गणा के भव्य और अभव्य ये दो भेद हैं इनमें से अरहन्त भव्य ही हैं। सम्यक्त्व मार्गणाके औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, मिश्र, सासादन और मिथ्यात्व इस प्रकार छह भेद हैं इनमें से अरहन्तके एक क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है। संज्ञी मार्गणा के संज्ञी और असंज्ञी ये दो भेद हैं इनमें से अरहन्त एक संज्ञी ही हैं। और आहार मार्गणा के आहारक अनाहारक की अपेक्षा दो भेद हैं इनमें से अर्हन्त के दोनों भेद संभव हैं। तेरहवें गुणस्थान में सामान्यरूप से आहारक हैं और समुद्घात की अपेक्षा अनाहारक हैं तथा चौदहवें गुणस्थान में अनाहारक ही हैं॥ ३३॥

आगे पर्याप्ति की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियां हैं। अरहन्त भगवान इन पर्याप्तियों के गुण से समृद्ध तथा उत्तम देव हैं॥ ३४॥

आहारो य सरीरो[1] तह इंदिय आणपाणभासा य ।
पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरुहो ॥ ३४ ॥

आहारश्च शरीरं तथा इन्द्रियानप्राणभाषाश्च ।
पर्याप्तिगुणसमृद्धः उत्तम देवो भवति अर्हन् ॥ ३४ ॥

आहारो य सरीरो आहारः समयं समयं प्रत्यनन्ताः परमाणवोऽनन्यजनसाधारणाः शरीरस्थितिहेतवः पुण्यरूपाः शरीरे सम्बन्धं यान्ति, नोकर्मरूपा अर्हत आहार उच्यते नत्वितरमनुष्यवद्भगवति कवलाहारो भवति तस्मान्निद्रा ग्लानिरुत्पद्यते कथं भगवानर्हन् देवता कथ्यते । कवलाहारं भुञ्जानो मनुष्य एव । तथा चोक्तं समन्तभद्रेण भगवता—

[2]मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथपरमाऽसि देवता श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः ॥

क्षुद्वेदनायां कवलाहारं भुञ्जानो भगवान् कथमनन्तसौख्यवानुच्यते वेदनायां सुखच्छेदत्वादित्यादि प्रमेयकमलमार्तण्डादिषु कवलाहारस्य निषिद्धत्वात्, स्त्रीमुक्तेरपि । शरीर-पर्याप्तिः । *तह इंदिय आणपाण भासा य* तथा इन्द्रियपर्याप्तिः, आनप्राणपर्याप्तिः, कोऽर्थः ? उच्छ्वास निःश्वासपर्याप्तिः भाषा, पर्याप्तिः, चकारान्मनःपर्याप्तिः, एवं कायवाङ्मनसां सत्तायां सत्यामपि भगवतः कर्मबन्धो नास्ति जीवन्मुक्तत्वात्तस्य । तथा चोक्तम्—

[3]कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर ! तावक मचिन्त्यमीहितम् ।

पज्जत्तिगुणसमिद्धो षट्पर्याप्तिगुणसमृद्धः संयुक्तः । *उत्तमदेवो हवइ अरुहो* उत्तमदेवो भवत्यर्हन् न तु हरिहरहिरण्यगर्भादय उत्तमदेवा भवन्ति तेषां दोषसद्भावात् । उक्तञ्च—

द्रुहिणाधोक्षजेशानशाक्यसूरपुरःसराः ।
यदि रागाद्यधिष्ठानं कथं तत्राप्तता भवेत् ॥ १ ॥
रागादिदोषसंभूतिर्ज्ञेयामीषु तदागमात् ।
असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत् ॥ २ ॥
अजस्तिलोत्तमाचित्तः श्रीरतः श्रीपतिः स्मृतः ।
अर्धनारीश्वरः शम्भुस्तथाप्येषु किलाप्तता ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—दूसरे मनुष्यों में न पाये जाने वाले शरीरकी स्थिति के कारण, पुण्य रूप, नोकर्म वर्गणा के अनन्त परमाणु प्रतिसमय अरहन्त भगवान् के शरीर के साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं वही आहार कहलाता है, ऐसा आहार ही अरहन्त भगवान के होता है अन्य मनुष्यों के समान कवलाहार नहीं होता क्योंकि उससे निद्रा और ग्लानि उत्पन्न होती है । यदि भगवान अरहन्त कवलाहार ग्रहण करते हैं तो वे देवता कैसे कहे

१—सरीरो इन्द्रियमण प्राण ग० । २ बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे । ३ बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे

जा सकते हैं क्योंकि कवलाहार खाने वाला मनुष्य ही होता है। जैसा कि भगवान समंतभद्र ने कहा है—

मानुषीं—हे नाथ ! हे जिनेन्द्र ? आप चूंकि (आहार आदि के विषय में) मनुष्य की प्रकृति का उल्लङ्घन कर चुके हैं, अतः देवताओं में भी देवता हैं । आप उत्कृष्ट देवता हैं, इसलिये हमारे कल्याण के लिये प्रसन्न हूजिये ।

क्षुधाकी वेदना होने पर यदि भगवान कवलाहार करते हैं तो वे अनन्तसुखसे सहित क्यों कहे जाते हैं ? क्योंकि वेदना होने पर सुख का घात हो जाता है । इत्यादि रूपसे प्रमेय-कमल-मार्तण्ड आदि ग्रन्थों में कवलाहार का निषेध किया गया है तथा स्त्रीमुक्ति का भी खण्डन किया गया है ।

आहार पर्याप्ति, के सिवाय शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति भाषा पर्याप्ति और चकार से मनःपर्याप्ति भी अरहन्त के होती हैं । इस प्रकार काय वचन और मनकी सत्ता रहते हुए भी भगवानके कर्मबन्ध नहीं होता क्योंकि वे जीवन्मुक्त हो चुके हैं । जैसा कि कहा गया है—

कायवाक्य—हे मुनीन्द्र ! आपके शरीर वचन और मनकी प्रवृत्तियां करने की इच्छा से प्रवृत्त नहीं होती हैं, किन्तु स्वयं होती हैं, यह ठीक है, फिर भी आपकी प्रवृत्तियां वस्तु-रूपको यथावत जाने बिना नहीं होती । इस तरह हे धीर वीर भगवन् ! आपकी चेष्टा अचिन्त्य है ।

अरहन्त भगवान ऊपर कहीं हुई आहार आदि छह पर्याप्तियों के गुणसे समृद्ध हैं-संयुक्त हैं तथा उत्तम देव हैं । हरिहर ब्रह्मा आदि उत्तमदेव नहीं हैं क्योंकि उनमें दोषोंका सद्भाव है । जैसा कि कहा है–

द्रुहिण—ब्रह्मा, विष्णु, महेश बुद्ध तथा सूर्य आदि देव यदि राग आदिके आधार हैं अर्थात् इनमें यदि राग आदि दोष पाये जाते हैं तो उनमें आप्तपना कैसे हो सकता है ?

रागादि—इन सबमें राग आदि दोषोंका सद्भाव उनके शास्त्रों से जानने योग्य है क्योंकि दूसरे के अविद्यमान दोष के ग्रहण करने में महान पाप है ।

अजस्—ब्रह्मा का चित्त तिलोत्तमा में लगा था, विष्णु लक्ष्मी में आसक्त थे और शम्भु अर्धनारीश्वर थे फिर भी इनमें आप्तपना है–इन्हें आप्त माना जाता है यह आश्चर्य की वात है ॥ ३४ ॥

गाथार्थ—पांच इन्द्रिय प्राण, मन, वचन और कायके भेदसे तीन बल प्राण, श्वासो-

आगे प्राणों की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं—

पंचवि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दहपाणा ॥ ३५ ॥

पञ्चापि इन्द्रियप्राणा मनोवचःकायैः त्रयो बलप्राणाः ।
आनपानप्राणाः आयुष्कप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः ॥ ३५ ॥

पंच वि इंदियपाणा इंदियप्राणाः पञ्च भवन्ति । *मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा* मनोवचःकायैर्बलप्राणास्त्रयो भवन्ति । *आणप्पाणप्पाणा* आनप्राणप्राणा उच्छ्वासनिःश्वासलक्षण एकः प्राणः । *आउगपाणेण होंति दह पाणा* आयुकप्राणेन कृत्वा दश प्राणा भवन्ति । यथा चायुःशब्दः सान्तो नपुंसकलिंगे वर्तते तथा आयु इत्युकारान्तोऽपि नपुंसके वर्तते । एवं दश प्राणा भवन्तीति ज्ञातव्यम् ॥ ३५ ॥

आगे जीवस्थान की अपेक्षा अरहन्तका वर्णन करते हैं—

मणुयभवे पंचिदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदशमे ।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरुहो ॥ ३६ ॥

मनुजभवे पञ्चेन्द्रियो जीवस्थानेषु भवति चतुर्दशे ।
एतद्गुणगणायुक्तो गुणमारूढो भवति अर्हन् ॥ ३६ ॥

मणुयभवे पंचिदिय मनुजभवेऽर्हन् कथ्यते पञ्चेन्द्रियोऽर्हन्नुच्यते । *जीवट्ठाणेसु होइ चउदशमे* जीवस्थानेषु मध्ये चतुर्दशे स्थानेऽर्हन् भवति । अयोग-केवल्यप्यर्हन् भवतीति भावः *एदे गुणगणजुत्तो* एतद्गुणगणयुक्तः । *गुणमारूढो हवइ अरुहो* गुणस्थानमारूढोऽर्हन् भवति गुणस्थानात्परतः सिद्ध उच्यते इति भावः ॥ ३६ ॥

च्छ्वास प्राण तथा आयुप्राण ये दश प्राण हैं । अरहन्त के ये दशों प्राण होते हैं ॥३५॥

विशेषार्थ—इन्द्रिय प्राण पांच हैं । मन-वचन-कायके भेदसे बल प्राण तीन होते हैं । श्वास का खींचना और छोडना यह आनप्राण नामका प्राण है । इन सबको आयुप्राण के साथ मिलाने पर दश प्राण होते हैं । जिस प्रकार सकारान्त आयुष् शब्द नपुंसक लिङ्गमें विद्यमान है उसी प्रकार 'आयु' यह उकारान्त शब्द भी नपुंसक लिङ्ग में विद्यमान है । इस प्रकार अरहन्त के दश प्राण होते हैं, यह जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

गाथार्थ—[1]जीवस्थान की अपेक्षा अरहन्त, पञ्चेन्द्रिय मनुष्य कहलाते हैं । अरहन्त पद चौदहवें जीवस्थान–गुणस्थान में भी होता है । इन सब गुणों के समूह से युक्त मनुष्य जब तक गुणस्थानों में आरूढ रहता है तब तक अरहन्त कहलाता है, गुणस्थानों से पार होने पर सिद्ध कहलाता है [2] ॥ ३६ ॥

१–मनुष्यभवे पञ्चेन्द्रियजीवे चतुर्दशमं गुणस्थानं भवति । एतैर्गुणगणैः समूहैः युक्तो गुणं आरूढोऽर्हन् भवति, (म× टी) । (२ इस गाथाका अर्थ पण्डित जयचन्द्र जी की वचनिकामें अन्य प्रकार किया गया है ।

आगे द्रव्य की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं—

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य॥ ३७॥

जराव्याधिदुःखरहितः आहारनीहारवर्जितो विमलः।
सिंहाणः खेलः स्वेदो नास्ति दुर्गन्धश्च दोषश्च॥ ३७॥

जरवाहिदुक्खरहियं जरारहितो व्याधिरहितः शारीरमानसागन्तुदुःख-रहितोऽर्हन् भवति। प्राकृते लिङ्गभेदत्वात् जरवाहिदुक्खरहियं इति नपुंसकलिङ्गनिर्देशो ज्ञातव्यः, एवमुत्तरत्रापि। *आहारणिहारवज्जियं* आहारनिहारवर्जितः कवलाहाररहितोऽर्हन् भवति नाहार-रहितो बहिर्भूमिबाधारहितः। अनेन वाक्येन श्वेतपटमतं निराकृतम्। *विमलं* शरीरे मलमर्हतो न भवति। *सिंहाण खेल सेओ* सिंहाणः नासायां मलो न भवति। खेलो निष्ठीवनमर्हति नास्ति, स्वेदश्च शरीरे प्रस्वेदोऽर्हति न वर्तते। *णत्थि दुगंछा य दोसो य* अन्यदपि जुगुप्साहेतुभूतं किमपि पिटकादिकं अर्हति न वर्तते दोषश्च वातपित्तश्लेष्माणोऽर्हति न वर्तन्ते ॥

विशेषार्थ—मनुष्य भव में ही अरहन्त कहलाता है और वह भी पञ्चेन्द्रिय ही। जीवस्थान के जो चौदह भेद पहले बताये गये हैं उनमें से चौदहवें जीवस्थान में भी अरहन्त होता है। अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान सयोगकेवली तो अरहन्त हैं ही चौदहवें गुणस्थान-वर्ती अयोग-केवली भी अरहन्त होते हैं। इन सब गुणोंके समूह से युक्त मनुष्य यदि गुणस्थान में आरूढ है अर्थात् तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में विद्यमान है तो अरहन्त होता है और यदि गुणस्थानोंसे परे हो गया है तो सिद्ध कहलाने लगताहै।

[श्री पं० जयचन्द्र छावडा ने इस गाथाका अर्थ यों किया है—

अर्थ—'मनुष्य भव विषैं पञ्चेन्द्रिय नामा चौदमां जीवस्थान कहिये जीवसमास ता विषैं इतने गुणनि के समूह करि युक्त तेरहमें गुणस्थान कूं प्राप्त अरहत होय है।

भावार्थ-जीव समास चौदह कहे हैं एकेन्द्रिय सूक्ष्म, वादर, २ बे इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिम ऐसें विकलत्रय ३, पञ्चेन्द्रिय असैनी, सैनी २ ऐसें सात भये ते पर्याप्त अपर्याप्त करि चौदह भये तिनि में चौदहमां सैनी पञ्चेन्द्रिय जीवस्थान अरहन्त के है। गाथा में सैनी का नाम न लिया अर मनुष्य भवका नाम लिया सो मनुष्य सैनी ही होय है, असैनी न होय तातैं मनुष्य कहने तैं सैनी ही जानना॥ ३६॥]

गाथार्थ—अरहन्त भगवान बुढापा व्याधि और दुःख से रहित हैं, आहार और नीहारसे रहित हैं, मल-रहित हैं। अरहन्त भगवानमें नाक का मल, थूक, पसीना, ग्लानि उत्पन्न करने वाली घृणित वस्तु तथा वात वित्त कफ आदि दोष नहीं हैं॥ ३७॥

विशेषार्थ—अरहन्त भगवान बुढापा से रहित हैं, श्वास कास आदि बीमारियों से रहित हैं, शारीरिक मानसिक और आगन्तुक दुःखों से रहित हैं। प्राकृत में लिङ्ग भेद होने से 'जरवाहि दुक्खरहियं' यहां नपुंसकलिङ्गका निर्देश जानना चाहिये। इसी प्रकार

दस पाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया।
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ॥ ३८ ॥

दश प्राणाः पर्याप्तयोऽष्टाधिकसहस्राणि च लक्षणानि भणितानि।
गोक्षीरशङ्खधवलं मांसं रुधिरं च सर्वाङ्गे ॥ ३८॥

दस पाणा पज्जत्ती दश प्राणाः पूर्वोक्तलक्षणा अर्हति भवन्ति, षट् पर्याप्तयश्चार्हति भवन्ति। *अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया* अष्टाधिकं सहस्रमेकं लक्षणानां भणितम्। तत्र नवशतानि तिलमसकादीनि व्यञ्जनानि भवन्ति, अष्टाधिकं शतं लक्षणानां भवति। तथा चोक्तम्—

[1]प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरां पतिम्।
नाम्नामष्टसहस्रेन तोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये ॥ १ ॥

तेषां लक्षणानां मध्ये कानिचिदुच्यन्ते। तथाहि-श्रीवृक्षः, शङ्खः अब्जं, स्वस्तिकः, अंकुशः, तोरणं, चामरं, श्वेतच्छत्रं, सिंहासनं, ध्वजः, झषौ, कुम्भौः, कूर्मः, चक्रं, समुद्रः, सरोवरं, विमानं, भवनं, नागः, नर-नार्यौ, सिंहः, बाणः, धनुः, मेरुः, इन्द्रः, गङ्गा, पुरं, गोपुरं, चन्द्रसूर्यौ, जात्यश्वः, व्यंजनं, वेणुः, वीणा, मृदङ्गः, स्रजौ, पट्टांशुकं, आपणः, कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि, उद्यानं फलितं, सुपक्वकलमक्षेत्रं, रत्न द्वीपः, वज्रं, मही, लक्ष्मीः, सरस्वती, सुरभिः, सौरभेयः, चूडारत्नं, महानिधिः, कल्पवल्ली, हिरण्यं, जम्बू वृक्षः, गरुडः, नक्षत्राणि, तारकाः, सौधः, ग्रहाः, सिद्धार्थपादपाः, प्रातिहार्याणि, मङ्गलानि एवमादीनि अष्टोत्तरं शतं लक्षणानि। *गोखीर संख धवलं* गोक्षीरवच्छङ्खधवलमुज्ज्वलं। *मंसं रुहिरं च सव्वंगे* मांसं गोक्षीर वद्धवलं, रुधिरं गोक्षीरवद्धवलं सर्वाङ्गे सर्वस्मिन् शरीरे ॥ ३८ ॥

का लिङ्ग भेद आगे भी जानना चाहिये। अरहन्त भगवान आहार और निहार से रहित हैं अर्थात् उनके कवलाहार नहीं होता और न नीहार—मलमूत्र की बाधा होती है। इस वाक्य से श्वेताम्बर मतका निराकरण हो जाता है। अरहन्त के शरीर में मैल नहीं होता है। नाकका मल, थूक तथा पसीना उनके शरीर में नहीं होता है। इसके सिवाय ग्लानि के कारणभूत अन्य पात्र आदि भी अरहन्त के नहीं होते हैं। वात पित्त और कफ ये दोष भी अरहन्त में नहीं रहते हैं ॥ ३७ ॥

गाथार्थ—अरहन्त भगवान के दश प्राण, छह पर्याप्तियां और एक हजार आठ लक्षण कहे गये हैं। उनके समस्त शरीर में गाय के दूध और शङ्ख के समान सफेद मांस और रुधिर होता है ॥ ३८ ॥

विशेषार्थ—अरहन्त भगवान के पांच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इस प्रकार दश प्राण, आहार, शरोर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियां तथा एक हजार आठ लक्षण कहे गये हैं। इन एक हजार आठ लक्षणों में तिल मसक आदि नौ सौ व्यञ्जन होते हैं और एक सौ आठ लक्षण होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

१-महापुराणान्तर्गते सहस्रनामस्तोत्रे।

एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।
ओरालियं च कायं णायव्वं अरुहपुरिसस्स ॥ ३६ ॥

ईदृशगुणैः सर्वः अतिशयवान् सुपरिमलामोदः ।
औदारिकश्च कायः ज्ञातव्यः अर्हत्पुरुषस्य ॥ ३६ ॥

एरिसगुणेहिं सव्वं ईदृशगुणैः संयुक्तः सर्वः कायोऽर्हत्पुरुषस्य ज्ञातव्य इति सम्बन्धः । *अइसयवंतं सुपरिमलामोयं* अतिशयवान सुष्ठु अतिशयेन परिमलेन विमर्दोत्थगन्धेन कर्पूरादिना सदृश आमोदो गन्धविशेषो यत्र काये स सुपरिमलामोदः । *ओरालियं च कायं* परमौदारिकः कायः शरीरमर्हत्पुरुषस्य भवति स्थिरः स्थूलरूपश्चक्षुर्गम्य औदारिक उच्यते । *णायव्वं अरुहपुरिसस्स* ज्ञातव्यो वेदितव्यः कायोऽर्हत्पुरुषस्य श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य शरीरं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

प्रसिद्धाष्ट—हे भगवन् ! आपके एक हजार आठ देदीप्यमान लक्षण प्रसिद्ध हैं तथा आप वचनों के स्वामी हैं । अभीष्ट सिद्धि के लिये हम एक हजार आठ नामोंके द्वारा आपकी स्तुति करते हैं ।

उन लक्षणों के मध्यमें कुछ लक्षण कहे जाते हैं । जैसे श्रीवृक्ष, शङ्ख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चामर, सफेदछत्र, सिंहासन, ध्वजा, दो मीन, दो कलश, कछुआ चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, नाग, स्त्रीपुरुषका युगल, सिंह, बाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, गङ्गा, पुर, गोपुर, चन्द्रमा और सूर्य, कुलीन घोड़ा, पङ्खा, बांसुरी, वीणा, मृदङ्ग, दो मालाएं, पाटका वस्त्र, दुकान, कुण्डल आदि नाना आभूषण, फला हुआ बगीचा, पके धान का खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, बैल, चूडामणि, महानिधि, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूवृक्ष, गरुड, नक्षत्र, तारा, पक्का महल, ग्रह, सिद्धार्थवृक्ष, प्रातिहार्य, और मङ्गलद्रव्य इत्यादि एकसौ आठ लक्षण होते हैं । भगवान के समस्त शरीर में गाय के दूध और शङ्ख के समान सफेद मांस और रुधिर रहता है ॥ ३८ ॥

गाथार्थ—अरहंत भगवान् का औदारिक शरीर ऐसे गुणोंसे युक्त, अतिशयों से सहित और उत्तम सुगन्धि से परिपूर्ण जानना चाहिये । द्रव्य-निक्षेपकी अपेक्षा उक्त गुणविशिष्ट औदारिक शरीर ही अरहन्त हैं ॥ ३९ ॥

विशेषार्थ—श्रीमान भगवान अरहन्त सर्वज्ञ वीतराग देवका परमौदारिक शरीर पूर्वोक्त गुणोंसे संयुक्त, अतिशयों से सहित, तथा संमर्दन-मीड़ने से उत्पन्न होने वाली कपूर आदि के समान उत्तम गन्ध से परिपूर्ण जानना चाहिये । उनका यह शरीर स्थिर, स्थूलरूप तथा नेत्रोंके द्वारा गम्य होता है–दिखाई देता है ।

[३७, ३८ और ३९ वीं गाथा में अरहन्त भगवान के शरीर का वर्णन किया गया है । यहां द्रव्यनिक्षेप की अपेक्षा शरीर को ही अरहंत कहा है ।] ॥ ३९ ॥

आगे भाव-निक्षेप की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं—

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो।

मदरागदोषरहितः कषायमलवर्जितश्च सुविशुद्धः।
चित्तपरिणामरहितः केवलभावे ज्ञातव्यः॥ ४०॥

मयरायदोसरहिओ मदरहितो रागरहितो दोषरहितः। *कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो* कषायाः क्रोधमानमायालोभाः, मला हास्यरत्यरति-शोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसक-लक्षणा नोकषायास्तैर्वर्जितो रहितः, सुविशुद्धः शान्तमूर्तिः। *चित्तपरिणामरहिदो* मनो-व्यापार रहितः। *केवलभावे मुणेयव्वो* क्षायिक-भावे मुनितव्यो (?) ज्ञातव्योऽर्हन्निति॥ ४०॥

सम्मद्दंसणि पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरुहस्स णायव्वो॥ ४१॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान्।
सम्यक्त्वगुणविशुद्धो भावः अर्हतः ज्ञातव्यः॥ ४१॥

सम्मद्दंसणि पस्सइ सम्यग्दर्शनेन पश्यति सम्यङ्निस्तुषतया दर्शनेन सत्तारूपलक्षणेन पश्यति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति। *जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया* जानाति ज्ञानेन केवलज्ञानेन विशेषगोचरेण साकाररूपेण सम्यग्जानाति द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशलक्षणानि। *सम्मत्तगुणविसुद्धो* सम्यक्त्वगुणेन क्षायिकसम्यक्त्वेन विशुद्धो निर्मलः। *भावो अरुहस्स णायव्वो* भावः स्वरूपः अर्हतः सर्वज्ञस्य ज्ञातव्यो वेदितव्यः॥ ४१॥

गाथार्थ—भाव-निक्षेप की अपेक्षा अरहन्त भगवान् को मदरहित, राग-रहित, दोष-रहित, कषाय-रहित, नो-कषाय-रहित अतिशय विशुद्ध, मनोव्यापार-रहित और क्षायिक भावोंसे युक्त जानना चाहिये॥ ४०॥

विशेषार्थ—अरहन्त भगवान ज्ञान आदि आठ मदोंसे रहित हैं, ममता परिणाम रूप रागसे रहित हैं, क्षुधा तृष्णा आदि अठारह दोषोंसे रहित हैं, क्रोध मान माया लोभ रूप कषायों तथा हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुंसक वेद रूप नो-कषायों से रहित हैं, अत्यन्त विशुद्ध-शान्तमूर्ति हैं, मनके व्यापार से रहित हैं और केवलज्ञान आदि क्षायिक भावोंसे युक्त हैं, ऐसा जानना चाहिये॥ ४०॥

अरहंत—इति श्री बोधप्राभृतेऽर्हदधिकारो दशमः समाप्तः॥ १०॥

गाथार्थ—जो केवलदर्शन के द्वारा समस्त द्रव्य और उनकी पर्यायों को अच्छी तरह देखता है, केवलज्ञान के द्वारा उन्हें भलीभांति जानता है, तथा सम्यक्त्व गुणमे विशुद्ध है उस आत्माको ही अरहन्त का भाव-स्वरूप जानना चाहिये अथवा भाव निक्षेप की अपेक्षा वह आत्मा ही अरहन्त है, ऐसा जानना चाहिये॥ ४१॥

अब आगे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य सत्तरह गाथाओं द्वारा प्रव्रज्या–दीक्षाके स्वरूपका निरूपण करते हैं—

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा ।
गिरिगुहगिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ।।४२।।

शून्यगृहे तरुमूले उद्याने तथा श्मशानवासे वा ।
गिरिगुहागिरिशिखरे वा भीमवने अथवा वसतौ वा ।। ४२ ।।

सुण्णहरे तरुहिट्ठे शून्यगृहे निवासः कर्तव्यः प्रव्रज्यावतेत्युपस्कारः । तरुहिट्ठे-वृक्षमूले स्थातव्यम् *उज्जाणे* उद्याने कृत्रिमवने स्थातव्यम् । *तह मसाणवासे वा* तथा श्मशानवासे वा पितृवनस्थाने स्थातव्यम् । *गिरिगुहगिरिसिहरे वा* गिरिगुह गिरेर्गुहायां स्थातव्यम्, गिरिशिखरे वा पर्वतोपरि स्थातव्यम् । *भीमवणे अहव वसिते वा* भीमवने भयानकायामटव्यां स्थातव्यम् । अथवा वसिते वा ग्रामनगरादौ वा स्थातव्यं, नगरे पञ्चरात्रे स्थातव्यं, ग्रामे विशेषेण न स्थातव्यम् ।। ४२ ।।

सवसा सत्तं तित्थं वच चइदालत्तयं च वुत्तेहिं ।
जिणभवणं अह वेज्जं जिणमग्गे जिणवरा विंति ।।४३।।

विशेषार्थ—जो सत्ता मात्र रूप पदार्थ को ग्रहण करने वाले दर्शन—केवल दर्शन गुण के द्वारा निष्तुषरूपसे—निर्मल रूपसे वस्तु–स्वरूपको ग्रहण करता है, जो विशेषको ग्रहण करने वाले साकाररूप केवलज्ञान के द्वारा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्यों को अच्छी तरह जानता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन से जो विशुद्ध है-निर्मल है वह आत्मा ही अरहन्त सर्वज्ञ देवका भाव-स्वरूप है अथवा भावनिक्षेप से वह आत्मा ही अरहन्त है, ऐसा जानना चाहिये ।। ४१ ।।

इस प्रकार बोधप्राभृतमें अर्हदधिकार नामका दशवां अधिकार समाप्त हुआ ।।१०।।

गाथार्थ—दीक्षा के धारक मुनिको शून्यघर में, वृक्षके मूलमें, उद्यानमें, श्मशान में, पवत को गुफा में, पर्वतकी शिखर पर, भयकर वनमें अथवा वसतिका में निवास करना चाहिये ।। ४२ ।।

विशेषार्थ—गाथा में 'प्रव्रज्यावता निवासः कर्तव्यः' इन पदोंका ऊपर से सम्बन्ध मिलाना चाहिये । इस तरह गाथाका यह अर्थ हुआ कि प्रव्रज्या–दीक्षा के धारक मुनिको शून्यगृह में--स्वामिहोन उजडे मकानमें, वृक्षके नीचे, उद्यान—कृत्रिमवन-बगीचा में, श्मशानवास-मरघट में, पवत की गुफा में, अथवा पर्वत को शिखर पर, भयानक अटवी में, अथवा वसतिकामें-नगरके बाहर बने हुए मठ आदिमें या ग्राम नगर आदिमें रहना चाहिये नगरमें मुनिको पांच रात तक रहना चाहिये । ग्राममें अधिक निवास न करना चाहिये ४२

स्ववशाः सत्वं तीर्थं वचश्चैत्यालयश्च उक्तैः ।
जिनभवनं अथ[1] वेध्यं जिनमार्गे जिनवरा विदन्ति ॥४३॥

सवसा सत्तं तित्थं एते प्रदेशाः स्ववशाः पराधीनत्वरहिताः स्वाध्यायध्यानयोग्याः । तत्र स्थित्वा किं कर्तव्यमित्याह–सत्तं–छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि शतखण्डं क्रियमाणेऽपि निजशरीरे सत्वमखण्डितव्रतत्वं निश्चलचारित्रं ब्रह्मचर्यत्वं रत्नत्रयमिति सत्वं साहसः वेध्यं भवति, तथा तीर्थं द्वादशाङ्गं ऊर्जयन्तादिर्वा वेध्यं ध्यानीयं ध्यातव्यं ज्ञातव्यम् । *वच चइदालत्तयं च वुत्तेहिं* वचश्चैत्यालयश्च परमागम–शब्दागमयुक्त्यागमपुस्तकं च वेध्यं ध्यातव्यं भवति । तथा चोक्तं—

वारह अंगंगिज्जा दंसणतिलया चरित्त वत्थहरा ।
चउदस पुव्वाहरणा ठावेदव्वा य सुअदेवी ।

उक्तैः–जिनवचनप्रमाणतया । *जिणभवणं अहवेज्जं* जिणभवनं जिनचैत्यालयः, अथ मंगलभूतं सर्वभव्यजीवमङ्गलकरं कृत्रिममकृत्रिमं च वेध्यं ध्यातव्यम् । तथा चोक्तं नेमिचन्द्रेण चामुण्डरायराजमल्ल-देवगुरुणा त्रिलोकसारग्रन्थे—

भवणविंतरजोइस विमाणणरतिरियलोय जिणभवणे ।
सव्वामरिंदणरवइ संपूजिय वंदिए वंदे ।

सर्वाकृत्रिमचैत्यालयसंख्यापरिज्ञानार्थं श्री पूज्यदेवराया चक्रे,,

नवनवचतुःशतानि च सप्त च नवतिः सहस्रागुणिता षट् च ।
पंचाशत्पञ्चवियत्प्रहताः पुनरत्र कोटयोऽष्टौ प्रोक्ताः ।

अकृत्रिम चैत्यालयानां संख्या यथा—एकाशीत्यधिक चत्वारि शतानि सप्तनवतिसहस्राणि षट्पञ्चाशल्लक्षाणि अष्टौ कोटयो भवन्ति । एकैकचैत्यालयेऽष्टाधिकं शतं प्रतिमानां भवति । तासां संख्या यथा–

णवकोडिसया पणवीसा लक्खा छप्पण्ण सहससगवीसा ।
चउसय तह अडयाला जिणपडिम अकिट्टियं वंदे ।

नवशतकोटयः पचविंशति कोटयश्च षट्पंचाशल्लक्षा सप्तविंशतिसहस्राश्चत्वारि शतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि भवन्ति । ज्योतिषां व्यन्तराणां च चैत्यालयानां संख्या नास्ति । *जिणमग्गे जिणवरा विंति* जिनमार्गे जिनशासने जिनवरा विदन्ति जानन्ति । सत्वं, तीर्थं, शास्त्र, पुस्तकं, जिनभवनं, प्रतिमाश्च एतत्सर्वं वेध्यं मुनीनां श्रावकाणां च सम्यग्दृष्टीनां वेध्यं ध्यानावलम्बनीयं वस्त्वर्हन्तः कथयन्ति । तद्ये न मानयन्ति ते मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति भावार्थः ॥४३॥

गाथार्थ—शून्यघर आदि स्थान स्ववश हैं–स्वाधीन हैं । इनमें रह कर मुनिको सत्त्व, तीर्थ, जिनागम और जिनमन्दिर इनका ध्यान करना चाहिये; ऐसा जिनमार्ग में जिनेन्द्रदेव जानते हैं–कहते हैं ॥४३॥

विशेषार्थ—४२ वीं गाथा में शून्य घर आदि स्थानोंमें मुनियों को निवास करने का आदेश दिया गया है, उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि ये प्रदेश स्ववश हैं पराधीनता से रहित हैं, मुनिके स्वाध्याय और अध्ययन के योग्य हैं । इस गाथा में कहते हैं

१–अहवोज्झं ग० । (अहव उज्झं त्याज्यं विंति कथयन्ति । यत् स सर्वैरपि कुमतिकैः आसक्तं व्याप्तं) ग० टि०

कि उक्त स्थानों में स्थित रह कर क्या करना चाहिये ? मुनियोंको उक्त स्थानोंमें स्थित रह कर सत्व, तीर्थ, वचश्चैत्यालय-जिनागम और जिनभवन—अकृत्रिमचैत्यालयों का ध्यान करना चाहिये। अब सत्व आदि का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—अपने शरीर के छिदजाने भिदजाने अथवा सौ टुकड़े किये जाने पर भी व्रतको खण्डित नहीं करना, चारित्र को निश्चल रखना और ब्रह्मचर्य की रक्षा रखना हमारा कर्तव्य है, इस प्रकारके साहस को सत्व कहते हैं। द्वादशाङ्ग को तीर्थ कहते हैं अथवा ऊर्जयन्त—गिरनार आदि क्षेत्र तीर्थ कहलाते हैं। [1]वचश्चैत्यालय का अर्थ परमागम, शब्दागम और युक्त्यागम रूप जिन शास्त्र है। (सिद्धान्त शास्त्रको परमागम, व्याकरण साहित्य को शब्दागम और न्यायशास्त्र को युक्त्यागम कहते हैं।) जैसा कि कहा है—

वारह—द्वादशाङ्ग जिसका शरीर है, सम्यग्दर्शन जिसका तिलक है, चारित्र जिसका वस्त्र है, और चौदह पूर्व जिसके आभरण हैं, ऐसी श्रुत देवीकी स्थापना करना चाहिये।

जिनभवन शब्द से मङ्गलभूत तथा समस्त भव्य जीवोंका मङ्गल करने वाले कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालय समझना चाहिये। जिन वचन प्रमाण हैं और उनमें अकृत्रिम चैत्यालयोंका वर्णन है इसलिये वर्तमान में दृष्टि—गोचर न होते हुए भी उनका अस्तित्व स्वीकार्य है जैसा कि चामुण्डराय और राजमल्ल देवके गुरु नेमिचन्द्राचार्य ने त्रिलोकसार ग्रन्थ में कहा है—

भवण—भवन-वासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक देव तथा नरतिर्यग्लोक—मध्यलोक में समस्त इन्द्रों और राजाओंके द्वारा पूजित और वंदित जो जिनभवन हैं, मैं उनकी वन्दना करता हूं।

समस्त अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्याका परिज्ञान करानेके लिये श्री पूज्यपाद स्वामीने आर्या छन्द लिखा है—

नवनव—आठ करोड़ छप्पन लाख सत्तानवे हजार चारसौ इक्यासी अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या है। एक एक चैत्यालय में एकसौ आठ, एकसौ आठ प्रतिमाएं होती हैं सब चैत्यालयोंकी प्रतिमाओं की संख्या इस प्रकार है—

१— पं० जयचन्द्रजी ने 'वच चइदा लत्तयं च' की छाया 'वचश्चैत्यालत्रिकं च' मानकर ऐसा अर्थ किया है—'बहुरि वच, चैत्य, आलय ऐसा त्रिक जे पूर्वं उक्त कहिये आयतन आदिक परमार्थरूप, संयमी मुनि अरहंत सिद्ध स्वरूप तिनिका नामके अक्षर रूप मंत्र तथा तिनिकी आज्ञा रूप वाणी सो तो वच, अर तिनिके आकार धातु पाषाण की प्रतिमा स्थापन सो चैत्य, अर सो प्रतिमा तथा अक्षर मंत्र वाणी जामें स्थापिये ऐसा आलय मन्दिर यन्त्र पुस्तक ऐसा वच चैत्य आलय का त्रिक'।

पंचमहव्वयजुत्ता पंचिदियसंजया णिरावेक्खा ।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति ।।४४।।

पञ्चमहाव्रतयुक्ता पञ्चेन्द्रियसंयता निरपेक्षाः ।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता मुनिवरवृषभा नीच्छन्ति ।।४४।।

पंचमहव्वयजुत्ता पञ्चमहाव्रतयुक्ताः पूर्वोक्तपञ्चमहाव्रतयुक्ताः सर्वजीवदया-प्रतिपालका ऋषयः सत्यवचसोऽचौर्यव्रतधारिणः ब्रह्मचर्यव्रतोपेता निष्परिग्रहा [1]आश्रवण-प्रायोग्य-परिग्रहपरित्यक्ता रजनि-भोजनवर्जिन एतद्वेध्यं वस्तु निश्चयेनेच्छन्ति मानयन्ति जिनवचनप्रमाण-कारित्वात् । *पंचिदिय संजया णिरावेक्खा* पञ्चेन्द्रियाणि संयतानि बद्धानि निज-विषयेषु प्रवर्तितुं व्यावृत्तानि निषिद्धानि यैस्ते पञ्चेन्द्रियसंयताः । निरपेक्षाः प्रत्युपकारवाञ्छारहिता भव्यजीव-सम्बोधनपरा एतद्वेध्यं नीच्छन्ति । *सज्झाय झाणजुत्ता* स्वाध्यायध्यानयुक्ताः । स्वाध्यायः पञ्चप्रकारः, वाचना-शिष्याणां व्युत्पत्तिनिमित्त शास्त्रार्थ-कथनं, पृच्छना अनुयोगकरणं, अनुप्रेक्षा-पठितस्य व्याकृतस्य च शास्त्रस्य पुनश्चेतसि चिन्तनम्, आम्नायः-शुद्धपठनं, धर्मोपदेशः-महापुराणादिशास्त्रस्य मुनीनां श्रावकादीनामग्रतो व्याख्यानविधानं । ध्यानं-आर्तध्यानरौद्रध्यानद्वयं परिहृत्य धर्म्यध्यानशुक्लध्यानद्वये प्रवर्तनं विधिनिषेधरूपं । *मुणिवरवसहा णिइच्छंति* मुनिवरवृषभाः सर्वपाषण्डिभ्योऽधिकश्रेष्ठाः सर्वलोक-प्रशंसनीयाः परमार्थयतयः दिगम्बरा नि-अतिशये-नेच्छन्ति वेध्यं वाञ्छन्ति पुनः पुनरभ्यासं कुर्वन्ति ।।४४।।

णवकोडि—नौ सौ पच्चीस करोड़ छप्पन लाख सत्ताईस हजार चार सौ अड़तालीस । ज्योतिषी और व्यन्तर देवोंके चैत्यालयोंकी संख्या नहीं है क्योंकि उनके यहां असंख्यात चैत्यालय आगममें बतलाये हैं ! जिनमार्ग—जिनशासन में अरहंत देव ऐसा कहते हैं कि सत्व, तीर्थ, शास्त्र, पुस्तक, जिनभवन, और जिन प्रतिमा ये सब, मुनियों, श्रावकों और अविरत सम्यग्दृष्टि जीवोंके ध्यानके आलम्बन हैं अर्थात् वे इनका ध्यान करते हैं। जो इन्हें नहीं मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं ।।४३।।

गाथार्थ—जो पांच महाव्रतोंसे सहित हैं, जिन्होंने पांच इन्द्रियोंको वश कर लिया है, जो प्रत्युपकार की वाञ्छासे रहित हैं और जो स्वाध्याय तथा ध्यानसे सहित हैं, ऐसे श्रेष्ठ मुनिराज उपर्युक्त सत्व-तीर्थ आदि वेध्योंकी अत्यन्त इच्छा करते हैं ।।४४।।

विशेषार्थ—जो पहले कहे हुए पांच महाव्रतों से सहित हैं अर्थात् सब जीवोंकी दया पालते हैं, सत्य वचन बोलते हैं, अचौर्यव्रतको धारण करते हैं, ब्रह्मचर्यव्रत से सहित हैं, निष्परिग्रह हैं आस्रव के योग्य परिग्रह से रहित हैं और रात्रिभोजन के त्यागी हैं ऐसे ऋषि ध्यान करने योग्य सत्व तीर्थ आदि वस्तुओं को निश्चयसे मानते हैं क्योंकि वे जिन-वचनको प्रमाणभूत स्वीकृत करते हैं । जिन्होंने स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों को संयत कर

१—अश्रवणप्रायोग्य क० म० क० प्रतौ अपि पश्चात् केनचित् आश्रवण इति संशोधितम्

गिहगंथमोहमुक्का वावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४५ ॥

गृहग्रन्थमोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहजितकषाया।
पापारम्भविमुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥ ४५ ॥

गिहगंथमोहमुक्का गृहस्य निवासस्य. ग्रन्थस्य परिग्रहस्य बाह्यस्य दशप्रकारस्य मोहेन मुक्ता ममेदंभावरहिता प्रव्रज्या दीक्षा भवति। के ते दश बाह्य परिग्रहाः? क्षेत्रं सस्याधिकरणं। वास्तु गृहं। हिरण्यं रूप्य-[2]द्रव्यादि। सुवर्णं काञ्चनं। धनं गोमहिष्यादि। धान्यं व्रीह्यादि। दासी कर्मकरी। दासः पुंनपुंसकवर्गः कर्मकरः। कुप्यं क्षौम-कार्पास-कौशेय-चन्दनागुर्वादि। चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहरहिता[3] के ते चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहाः?

मिथ्यात्ववेदौ हास्यादिषट् कषायचतुष्टयम्।
रागद्वेषौ च सङ्गाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥

वावीसपरीसहा जियकसाया द्वाविंशति-परिषहजित् प्रव्रज्या भवति। के ते द्वाविंशति परीषहाः? क्षुधाजयः, पिपासा-तृषाजयः, शीतजयः उष्णजयः, दंशमशक सर्वोपघातसहनं, नग्नत्वसहनं, अरतिजयः, स्त्रीपरिषहजयः, चर्या-गमनं तस्य जयः, निषद्या-उपवेशनं तस्य जयः, शय्यासहनं, आक्रोशजयः, अनिष्टवचनसहनं, वधसहनं, याचनसहनं—न किमपि याचते, अलाभसहनमन्तराय-सहनं रोगसहनं, तृणस्पर्श सहनं, मलसहनं, लोचसहनं च, सत्कारपुरस्कारः-पूजाया अकरणस्य सन्मानाग्रासनादानस्य च सहनं सत्कार-पुरस्कारजयः, प्रज्ञापरीषहजयो, ज्ञानमदनिरासः, अज्ञानोऽयमिति वचनसहनमज्ञानपरीषहजयः, अदर्शनपरीषहजया लब्ध्यभावसहनं। तथा चोक्तमुमास्वामिना—

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि।

अकसाया—कषायरहिता प्रव्रज्या भवति। *पावारंभ विमुक्का* पापारम्भविमुक्ता सेवाकृषिवाणिज्यादिपापारम्भस्तस्माद्विमुक्ता।

लिया है अर्थात् अपने अपने विषयो में प्रवृत्त होनेसे रोक लिया है तथा जो प्रत्युपकार की इच्छा से रहित हो भव्य जीवों के संबोधने में सदा तत्पर रहते हैं ऐसे ऋषि उक्त वेध्यों की अत्यधिक इच्छा रखते है। इसी प्रकार जो स्वाध्याय तथा ध्यान से युक्त हैं। स्वाध्याय पांच प्रकारका होता है—१ वाचना, २ पृच्छना, ३ अनुप्रेक्षा ४ आम्नाय और ५ धर्मोपदेश। शिष्यों की व्युत्पत्ति के लिये शास्त्रके अर्थका कथन करना वाचना है। अज्ञात वस्तुको समझनेके लिये अथवा ज्ञात वस्तुको दृढ करनेके लिये प्रश्न पूछना पृच्छना है। पठित अथवा व्याख्यात शास्त्रका चित्तमें पुनः पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। शुद्ध पाठ करना आम्नाय है और मुनियों तथा श्रावकोंके आगे महापुराणादि शास्त्रोंका व्याख्यान

१—परीसहाजि अकसाया म०।
२—रूप्यद्रव्यादि क० म०। रूप्यद्र मादि उ०। ३—रहिताः क० ख० ग० घ० ङ० म०।

एतेन किमुक्तं भवति ? यद् द्राविडसंघा जैनाभासा वदन्ति तत्प्रत्युक्तम्—

वीएसु णत्थि जीवो उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि ।
सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं ॥ १ ॥
कच्छं खेत्तं वसहिं वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो ।
ण्हंतो सीयलनीरे पावं पउरं समज्जेदि ॥ २ ॥

पव्वज्जा एरिसा भणिया प्रव्रज्या—दीक्षा ईदृशी भणिता ॥ ४५ ॥

करना धर्मोपदेश है । आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को छोडकर धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करना इस तरह विधि निषेध रूप ध्यान है । ऐसे दिगम्बर साधु, सब साधुओंसे अधिक श्रेष्ठ हैं, सब लोगोंके द्वारा प्रशंसनीय हैं तथा परमार्थ यति हैं—वास्तविक साधु हैं, वे इन वेध्यों—ध्यान—योग्य वस्तुओंकी अतिशय इच्छा रखते हैं—वार वार इनका अभ्यास करते हैं ॥४४॥

गाथार्थ—जो निवास स्थान और परिग्रह के मोहसे रहित है, बाईस परीषहोंको जीतने वाली है, कषाय से रहित है तथा पापके आरम्भ से अथवा पापपूर्ण खेतो आदिके आरम्भ से मुक्त है ऐसी दीक्षा कही गई है ॥ ४५ ॥

विशेषार्थ—गृहग्रन्थमोहमुक्ता-गृह का अर्थ निवास—स्थान है, ग्रन्थ परिग्रह को कहते हैं, वह परिग्रह बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है । उनमें बाह्य परि-ग्रहके दश भेद हैं—१ क्षेत्र-जहां अनाज पैदा होता, है, २ वास्तु—मकान, हिरण्य-चांदी से निर्मित पदार्थ, ४ सुवर्ण-सोना ५ धन—गाय भैंस आदि, ६ धान्य-धान गेहू आदि अनाज ७ दासी-काम करने वाली स्त्री ८ दास कार्य करने वाला पुरुष अथवा नपुंसकों का वर्ग, ९ कुप्य-रेशमी सूती कोशा आदिके वस्त्र तथा १० चन्दन अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थ । अभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद हैं—

मिथ्यात्व—मिथ्यादर्शन, वेद हास्यादि छह नो-कषाय, क्रोधादि चार कषाय-राग और द्वेष ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं ।

जिन दीक्षा, निवास स्थान और बाह्याभ्यन्तर भेदवाले चौबीस प्रकारके परिग्रह से रहित है । बाईस परीषहों को जीतने वाली है तथा कषाय से रहित हैं । वे बाईस परीषह कौन हैं ? इसके उत्तर में बाईस परीषहों के नाम गिनाते हैं-१ क्षुधाजय-भूखकी बाधाको जीतना, २ पिपासा—जय प्यास की बाधाको जीतना, ३ शीतजय-शीतकी बाधा को जीतना, ४ उष्णजय-गर्मी की वाधा को जीतना, ५ दंशमशक सर्वोपघात सहन-डांस मच्छर आदिके सब उपद्रव सहन करना, ६ नग्नत्व—सहन-नग्न रह कर विकारीभाव नहीं

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४६ ॥

धनधान्यवस्त्रदानं हिरण्यशयनासनादि छत्रादि।
कुदानविरहरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥ ४६ ॥

धणधण्णवत्थदानं धनं गवादि, धान्यं गोधूमादि, वस्त्रं पट्टाम्बरादि, एतेषां दानं वितरणं मुनयो न कुर्वन्ति। *हिरण्णसयणासणाइ* छत्ताइ हिरण्यं रूप्यघटितं नाणकं सुवर्णघटितं नाणकं ताम्ररूप्य-मिश्र-घटितं नाणकं केवलताम्रादिघटितं नाणकं हिरण्यमुच्यते, तद्दानं मुनयो न कुर्वन्ति। शयनं अष्टशल्या खट्वा पल्यङ्कः तद्दानं मुनयो न कुर्वन्ति। आसनं पीठं आदिशब्दात् पट्टलं, छत्रमातपत्रं आदिशब्दाद् ध्वजाचामरादिकं मुनयो न ददाति। *कुद्दाणविरहरहिया* कुत्सितदानस्य विशेषेण रहस्त्यागस्तेन रहिता *पव्वज्जा एरिसा भणिया* प्रव्रज्या दीक्षेदृशी भणिता श्रीगौतम-स्वामिना वीरेण तीर्थकृता प्रतिपादिता। इत्य-नेन येऽनन्त-सरस्वती-नरसिंह—भारती-वासुदेव-सरस्वती-प्रभृतयः सांन्यासिका अपि सन्तः कुत्सितानि दानानि ददति तन्मतं निराकृतमिति भावः ॥ ४६ ॥

लाना, ७ अरतिजय--अप्रीति को सहन करना, ८ स्त्रीपरीषहजय—स्त्रियों के द्वारा किये हुए हाव भाव आदि उपद्रवों के होते हुए निर्विकार रहना, ९ चर्या--पैदल चलनेका दुःख सहन करना, १० निषद्या—बहुत देर तक एक ही आसन से बैठने का दुःख सहन करना, ११ शय्या-ककरीली पथरीली शय्या पर शयन करने का दुःख सहन करना, १२ आक्रोश जय—अनिष्ट वचनोंको सहन करना, १३ बध सहन--मारपीट आदिका दुःख सहन करना, १४ याचन सहन--याचना नहीं करना, १५ अलाभ सहन--आहार आदि में अन्तराय आने पर दुःख नहीं करना, १६ रोग सहन--रोगोंकी पीडा सहन करना, १७ तृणस्पर्शसहन-कांटे आदिका दुःख सहन करना, १८ मलसहन,-लोचसहन--शरीरपर लगे हुए मलका सहन करना तथा केशलोंच का दुःख उठाना, १९ सत्कारपुरस्कार--पूजा न करने और सन्मान पूर्वक अग्रासन न देनेका दुःख सहन करना, २० प्रज्ञापरीषहजय—ज्ञानका गर्व दूर करना, २१ अज्ञानपरीषह जय—यह अज्ञानी है, इस प्रकारके वचनोंका सहन करना, और २२ अदर्शन परीषह जय-ऋद्धि आदिके न होने पर भी गृहीत मार्गके प्रति अश्रद्धा न होने देना। जैसा कि उमास्वामी महाराज ने कहा है--

क्षुत्—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या शय्या, आक्रोश- वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं। अकसाया—जिनदीक्षा कषायसे रहित होती है।

सत्तूमित्ते व समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ ४७॥

शत्रुमित्रे च समा प्रशंसानिन्दाऽलब्धिलब्धिसमा।
तृणकनके समभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता॥ ४७॥

सत्तूमित्ते व समा शत्रौ वैरिणि, मित्रे सुहृदि समा रागद्वेष-रहिता। *पसंसणिंदाअलद्धिलद्धिसमा* प्रशंसायां गुणस्तुतौ, निन्दायामवर्णवादे, लब्धौ निरन्तराय--भोजने, अलब्धौ भोजनाद्यन्तराये च समा सदृशी प्रव्रज्या भवति। *तणकणए समभावा* तृणे कनके सुवर्णे च समभावा अनादरादर- रहिता। *पव्वज्जा एरिसा भणिया* प्रव्रज्या ईदृशी भणिता चिरन्तनाचार्यैः प्रतिपादिता॥ ४७॥

इसके सिवाय पापारम्भ विमुक्का–सेवा, कृषि तथा व्यापार आदि पापके आरम्भसे रहित होती है। इस विशेषण से द्राविड–संघके जैनाभास जो यह कहते हैं कि—

बीएसु—बीजों में जोव नहीं हैं, खड होकर भोजन करना आवश्यक नहीं है, प्रासुक का विकल्प नहीं है, सावद्य–पापपूर्ण क्रियाके त्यागको धर्म नहीं मानते, गृह कार्यों में जो आर्त्तध्यान होता है वह नहीं गिना जाता, इसका निराकरण हो जाता है।

कच्छं—द्राविड संघीय जैनाभास कछवाडा, खेत, वसतिका, तथा व्यापार कराकर जीवित रहते हैं, ठण्डे पानी में नहाते हैं, इस तरह प्रचुर पापका संचय करते हैं।

जिन-शासन में दीक्षा ऐसी कही गई है॥ ४५॥

गाथार्थ—धन धान्य तथा वस्त्रका दान, चांदी सोना आदिका सिक्का तथा शय्या आसन और छत्र आदि खोटी वस्तुओंके दानसे जो रहित है, ऐसी दीक्षा कही गई है ४६

विशेषार्थ—गाय आदिको धन कहते हैं, गेहू आदि को धान्य कहते हैं, पाट आदि के वस्त्रको वस्त्र कहते हैं, मुनि इनका दान नहीं करते हैं। चांदी से बना सिक्का, सुवर्ण से बना सिक्का, ताम्बा और चांदीके मेल से बना सिक्का और केवल ताम्बा आदिसे बना सिक्का हिरण्य कहलाता है. मुनि इनका दान नहीं करते हैं। आठ लकड़ियों को सलाकर बनाई हुई खाट तथा पलंग को शय्या कहते हैं, मुनि इसका दान नहीं करते हैं। पीठ तथा आदि शब्दसे पाटला आदिको आसन कहते हैं। घाम से रक्षा करने वाला छत्र तथा आदि शब्द से ध्वजा और चामर आदिका दान मुनि नहीं देते हैं। इस प्रकार जो उपर्युक्त खोटी वस्तुओंके नाना प्रकारके दान से रहित है, वह दीक्षा है, ऐसा श्री गौतम स्वामी तथा तीर्थंकर वीर भगवान ने कहा है। इस कथन से जो अनन्त सरस्वती, नरसिंह, भारती, और वासुदेव सरस्वती आदि संन्यासी होते हुए भी कुत्सित दान देते हैं उनके मतका निराकरण होजाता है॥ ४६॥

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ४८ ॥

उत्तममध्यमगेहे दरिद्रे ईश्वरे निरपेक्षा ।
सर्वत्र गृहीतपिण्डा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥ ४८ ॥

उत्तममज्झिमगेहे उत्तमगृहे उत्तुङ्गतोरणादि-सहिते राजसदनादौ. मध्यमगेहे नीचैर्गृहे तृणपर्णादि-निर्मिते, निरपेक्षा उच्चैर्गृहं गच्छामि नीचैर्गृहं अहं न व्रजामि, न प्रविशामीत्यपेक्षा रहिता प्रव्रज्या भवति *दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा* दरिद्रस्य निर्धनस्य गृहं न प्रविशामि, ईश्वरस्य धनवतो गृहे प्रविशाम्यहं निवेशे इत्यपेक्षारहिता प्रव्रज्या भवति। *सव्वत्थ गिहिदपिंडा* सर्वत्र योग्यगृहे गृहीतपिण्डा स्वीकृताहारा प्रव्रज्या ईदृशी भवति । किं तदयोग्यं गृहं यत्र भिक्षा न गृह्यते इत्याह—

[1]गायकस्य तलारस्य नीचकर्मोपजीविनः ।
मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च ॥ १ ॥

अस्यायमर्थः—गायकस्य गन्धर्वस्य गृहे न भुज्यते । तलारस्य कोटपालस्य, नीचकर्मोपजीविनः चर्म-जलशकटादेर्वाहकादेः श्रावकस्यापि गृहे न भुज्यते । मालिकस्य पुष्पोपजीविनः, विलिङ्गस्य भरटस्य, वेश्याया गणिकायाः, तैलिकस्य [2]घांचिकस्य ।

[3]दीनस्य सूतिकायाश्च छिम्पकस्य विशेषतः ।
मद्यविक्रयिणो मद्यपायिसंसर्गिणश्च न ॥ २ ॥

दीनस्य श्रावकोऽपि सन् यो दीनं भाषते । सूतिकायाः—या बालकानां जननं कारयति । अन्यत्सुगमम् ।

[4]कोलिको [5]मालिकश्चैव कुम्भकारस्तिलंतुदः ।
नापितश्चेति विज्ञेयाः पञ्चैते [6]पञ्चकारवः ॥ ३ ॥
रजकस्तक्षकश्चैव अयःसुवर्णकारकः ।
दृषत्कारादयश्चेति कारवो बहवः स्मृताः ॥ ४ ॥
क्रियते भोजनं गेहे यतिना मोक्तुमिच्छुना ।
एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा ॥ ५ ॥
वरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुर्दृशाम् ।
मन्दिरे भोजनं यस्मात् सर्वसावद्यसंगमः ॥ ६ ॥

गाथार्थ—जो शत्रु और मित्र में सम है, प्रशंसा, निन्दा, अलाभ और लाभ में सम है. तथा तृण और सुवर्ण में समभाव रखती है, ऐसी दीक्षा कही गई है ॥ ४७ ॥

विशेषार्थ—शत्रु और मित्र में जो सम है अर्थात् राग द्वेष से रहित है, प्रशंसा अर्थात् गुणों की स्तुति, निन्दा अर्थात् अवर्णवाद-मिथ्यादोष कहना, लब्धि निरन्तराय भोजन होना और अलब्धि अर्थात् भोजन आदि में अन्तराय हो जाना इनमें जो सम है,

---

१—नीतिसारे इन्द्रनन्दिनः । २ घाणिकस्य म० । ३-४ नीतिसारे इन्द्रनन्दिनः । ५ शालिका म० ।

तथा तृण और सुवर्ण में जो समभाव है–अनादर और आदर से रहित है, ऐसी जिनदीक्षा प्राचीन आचार्यों के द्वारा कही गई है ।। ४७ ।।

गाथार्थ—जो उत्तम मध्यम घरों एवं निर्धन और धनवान् के विषय में निरपेक्ष है, तथा जिसमें समस्त योग्य घरोंमें आहार ग्रहण किया जाता है ऐसी दीक्षा कही गई है

विशेषार्थ—ऊंचे तोरण आदि से सहित राजमहल उत्तमगृह कहलाते हैं, और तृण तथा पत्ते आदिसे निर्मित गृह नीचगृह कहलाते है । बीचके मध्यम गृह हैं जो दीक्षा इनके विषय में निरपेक्ष रहती है अर्थात् साधु ऐसा विकल्प नहीं करता है कि मैं भिक्षा के लिये उच्चगृह में जाता हूं और नीचगृह में प्रवेश नहीं करता हूं । जो दीक्षा दारिद्रय और धनसम्पन्नता के विषयमें निरपेक्ष रहती है अर्थात् कभी ऐसा अभिप्राय नहीं रखती है कि मैं भिक्षाके लिये दरिद्र-निर्धन के घर में प्रवेश नहीं करूं और ईश्वर–धनाढ्य के घर में प्रवेश करूं, जो समस्त योग्य गृहोंमें आहार करती है वह प्रव्रज्या-दीक्षा है ।

प्रश्न—वह अयोग्य गृह कौन हैं जिनमें भिक्षा नहीं ली जाती है ?

उत्तर—गायक-गाने बजाने वाले गंधर्व, तलार-कोटवार, नीचकर्मोपजीवी,-चमडे की मशक से जल भरने वाले, मालिक- फूलोंका काम करने वाले, विलिंग-भरट--भाड़ चलाने वाले, वेश्या और तैलिक--तेली के घर मुनि भिक्षा ग्रहण नहीं करते हैं ।।१ ।।

दीनस्य---दीन-जो श्रावक होकर भी दीन भाषण करता है, सूतिका–जो बालकोंका जन्म कराती है, छिपक -जो कपडे छापता है. मद्यविक्रयी–जो मदिरा बेचता है, और मद्य-पायीसंसर्गी–जो मदिरा पीने वालोंके साथ समर्ग रखता है, उसके घर खास कर साधु आहार नहीं लेते हैं ।। २ ।।

कोलिको—कोलिक–कपडा बुनने वाला–जुलाहा मालाकार, कुम्भकार, तेली और नाई ये पांच स्पृश्य कारु कहलाते हैं ।। ३ ।।

रजकस्---धोबी, बढ़ई, लोहार, सुनार, और सिलावट इत्यादि बहुतसे कारु माने गये हैं ।। ४ ।।

क्रियते—मोक्षका अभिलाषी मुनि इनके घर भोजन नहीं करता है । इन्हींके समान अन्य लोगोंका भी अपने मनसे विचार कर लेना चाहिये ।। ५ ।।

वर स्वहस्तेन--अपने हाथसे रसोई पका लेना अच्छा है परन्तु मिथ्यादृष्टियों के घर भोजन करना अच्छा नहीं है क्योंकि उससे समस्त सावद्यों-पापोंका संगम होता है ।। ६ ।।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४६॥

निर्ग्रन्था निस्सङ्गा निर्मानाशा अरागा निर्दोषा।
निर्ममा निरहङ्कारा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४६॥

णिग्गंथा परिग्रह-रहिता, अथवा नि अतिशयवद्भिः ग्रन्थैः शास्त्रैः सहिता निर्ग्रन्था। *णिस्संगा* स्त्रीप्रमुख-संगरहिता, अथवा निश्चितैः शोभनैः अंगैर्द्वादशांगैः संयुक्ता निस्सङ्गा, अथवा निश्चितैरंगैरष्टभिः शरीरैरुपांगैश्च सहिता।

[1]प्राज्ञेन ज्ञातलोकव्यवहृतिमतिना तेन मोहोज्झितेन।
प्राग्विज्ञातः सुदेशो द्विजनृपतिवणिग्वर्ण [2]वर्ण्योऽङ्गपूर्णः।
भूभल्लोकाविरुद्धः स्वजनपरजनोन्मोचितो वीतमोह—
[3]श्चिन्तापस्माररोगाद्यपगत इति च ज्ञातिसंकीर्तनाद्यैः॥

इति वीरनन्दिभिरुक्तत्वात्। अथ कानि तान्यष्टावङ्गानीति चेत्?

[4]णलया बाहू य तहा णियंबपुट्ठी उरं च सीसं च।
अट्ठेव दु अंगाइं सेस उवंगाइ देहस्स॥

कुरूपिणो हीनाधिकाङ्गस्य कुष्ठादिरोगिणश्च प्रव्रज्या न भवति।

णिम्माणासा निर्माना अष्टमद रहिता, निराशा आशा रहिता। उक्तञ्च—

[5]आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥

अथवा—

आशा दासीकृता येन तेन दासीकृतं जगत्।
आशाया यो भवेद्दासः स दासः सर्वदेहिनाम्॥

निरश्वा अश्वरहिता तदुपलक्षणं गजवृषादीनाम्। *अराय* रागरहिता, अथवा प्रव्रज्यायां राजभिः सह स्नेहादिकं न कर्तव्यम्। तदुपलक्षणं मन्त्र्यादीनां प्रत्यक्षनरकपातवद्व्याख्यातत्वात्। केचिच्च जिनधर्मप्रभावनार्थं मुनीनां सुस्थित्यर्थं च तन्निषेधं न कुर्वन्ति, म्लेच्छादि पीडानिराकरणहेतुत्वात्। *णिद्दोसा* अप्रीतिलक्षण द्वेषरहिता अथवा वातपित्तश्लेष्मादिदोषरहितस्य प्रव्रज्या भवतीति निर्दोषा। *णिम्मम* निर्ममा ममेति शब्दोऽव्ययः निर्गतं ममेति यस्यां प्रव्रज्यायां सा निर्ममा, अथवा मश्च मा च ममे निर्गते ममे द्वे यस्याः सा निर्ममा मद्यमांसमधु मकारत्रयरहिता लक्ष्मीस्वीकाररहिता चेत्यर्थः। तथा चोक्तम्—

अकिञ्चनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः[6]॥१॥

णिरहंकारा अहंकाररहिता कर्मोदयप्रधाना सुखं वा दुःखं वा जीवस्य कर्मोदयेन भवति मयेदं कृतमित्यहङ्कारो न कर्तव्य[7] इत्यर्थः। तथाचोक्तं समन्तभद्रेण तार्किकशिरोमणिना—

[8]अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्वस्वादि[9]॥१॥

१—आचारसारे। २—वर्णाङ्क म०। ३—श्चिता म०। ४—कर्मकाण्डे नेमिचन्द्रस्य। ५—आत्मानुशासने गुणभद्रस्य। ६—आत्मानुशासने गुणभद्रस्य। ७—कर्तव्यमित्यर्थः म०। ८—बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे। ९—साध्ववादीः क०।

संहृत्य कार्येष्विनि कोऽर्थः ? सुखादि-कार्योत्पादकेषु मन्त्र-तन्त्रादि-सहकारिकारणेषु मिलित्वा। अथवा णिरहंकारा-णिरहं-निरहं-निरघं निष्पापं सर्वसावद्ययोगरहितत्वं यथा भवत्येवं-कारात् कस्य शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य निजात्मस्वरूपस्य आरात्समीपतो वर्तते कारात्, चिच्चमत्कार-लक्षण-ज्ञायकैक-स्वभाव-टङ्कोत्कीर्णनिजात्मनि तल्लीना प्रव्रज्या भवतीति ज्ञातव्यम्। 'पापक्रियाविरमणं चरणं किलेति' वचनात्। पव्वज्जा प्रव्रज्या दीक्षा। एरिसा ईदृशी उक्तलक्षणा भणिया गौतमस्वामिना प्रतिपादिता ॥४९॥

गाथार्थ—जो निर्ग्रन्थ हो—परिग्रह से रहित हो अथवा निग्रन्थ हो नि-अतिशय-पूर्ण ग्रन्थों से सहित हो निःसङ्ग हो—स्त्री आदिके संपर्क से हित हो अथवा निश्चित-शोभमान बारह अङ्गों से सहित हो अथवा निश्चित आठ अङ्गो और उपाङ्गों से सहित हो, निर्मानाशा हो—निर्माना—आठ म से रहित हो तथा निराशा आशासे रहित हो, अथवा निरश्वा—घोड़ा हाथी बैल आदिके वाहन से रहित हो, अरागा—राग रहित हो अथवा अराजा—राजा आदिके साथ स्नेहसे रहित हो, निर्दोषा हो—द्वेषसे रहित हो अथवा वात पित्तादि दोषोंसे रहित हो, निर्मम हो—ममता भावसे रहित हो, अथवा म—तीन मकार और मा—लक्ष्मी से रहित हो और निरहंकारा—अहंकार से रहित हो अथवा निष्पाप होकर निज शुद्ध स्वरूपके निकट हो—उसमें लीन हो वह दीक्षा कही गई है ॥४९॥

विशेषार्थः—प्राकृत के 'णिग्गंथा' शब्द की संस्कृत छाया निर्ग्रन्था अथवा निग्रन्था होती है अतः दोनों रूपोंको दृष्टिमें रखकर अर्थ किया गया है कि जो ग्रन्थेभ्यो निर्गता अर्थात् परिग्रहों से रहित हो, अथवा नि—नितरां—अतिशयपूर्ण ग्रन्थों—शास्त्रों से सहित हो (नितरां अतिशयपूर्णाः ग्रन्थाः शास्त्राणि यस्यां सा)। प्राकृतके 'णिस्संगा' शब्दकी निस्सङ्गा, निःस्वङ्गा अथवा निःस्वाङ्गा छाया है उसीके आधार पर उसका अर्थ है कि जो निस्सङ्गा—स्त्री आदिके संसर्गसे रहित हो, अथवा निश्चित उत्तम अङ्गों—द्वादशाङ्गों से सहित हो—जिसमें द्वादशांगोंका पठन पाठन होत हो (निश्चितानि सुष्ठु-शोभनानि अंगानि-द्वादशांगानि यस्यां सा) अथवा शरीर के निश्चित आठ अंगों और उपांगोंसे सहित हो (निश्चितानि स्वस्य-स्वशरीरस्य अङ्गानि यस्यां सा)। दीक्षा कौन ले सकता है ? इसका वर्णन आचारसारमें श्री वीरनन्दी आचार्य ने इस प्रकार किया है—

प्राज्ञेन—लोकव्यवहार और लोक-बुद्धिके ज्ञाता, निर्मोह आचार्य जिसे पहलेसे जानते हों, जो उत्तम देशका रहने वाला हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णमें से किसी वर्णका हो, अङ्गोंसे पूर्ण हो—विकलाङ्ग अथवा अधिकाङ्ग न हो, राजाका अपराधी न हो, स्वजन और परिजन के लोगोंने जिसे छोड़ दिया हो—दीक्षा लेनेकी अनुमति दे दी हो,

मोहरहित हो, चिन्ता तथा अपस्मार (मूर्च्छाविशेष) आदि रोगोंसे रहित हो। अब वे आठ अङ्ग कौन हैं जिनकी पूर्णता साधुको आवश्यक है इसका उत्तर देते हैं—

णलया—दो पैर, दो भुजा, नितम्ब, पृष्ठ, छाती, और शिर ये शरीर के आठ अङ्ग हैं और शेष उपाङ्ग कहलाते हैं।

कुरूपी, हीनाङ्ग, अधिकाङ्ग और कुष्ठादिरोग से युक्त मनुष्य की दीक्षा नहीं होती है।

प्राकृत के 'णिम्माणासा' शब्दकी निर्मानाशा और निर्मानाश्वा ये दो संस्कृत छाया होती हैं अतः दोनोंको दृष्टि में रखते हुए अर्थ किया गया है कि जो निर्माना-आठ मदसे रहित हो, और निराशा-तृष्णा से रहित हो (मानश्च आशा च मानाशे, निर्गते मानाशे यस्याः सा निर्मानाशा)। आशा बहुत दुःखदायी है जैसा कि कहा गया है-

आशागर्तः—प्रत्येक प्राणीके सामने ऐसा आशा रूपी गड्ढा खुदा हुआ है जिसमें समस्त संसार अणुके समान है। फिर किसके लिये कितना प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् सबकी मनोऽभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकती, इसलिये हे संसारी प्राणियो ! तुम्हारी विषयों की इच्छा करना व्यर्थ है।

और भी कहा है-

आशा—जिसने आशाको दास बना लिया उसने संसार को दास बना लिया और जो आशाका दास है, वह सब प्राणियोंका दास है।

'निर्मानाश्वा' छायाके पक्षमें अर्थ इस प्रकार है कि जो निर्माना—आठ मदसे रहित हो तथा निरश्वा-अश्व आदिसे रहित हो। यहां अश्व शब्द हाथी तथा बैल आदिका उपलक्षण है। दिगम्बर साधुदीक्षा इन घोड़ा हाथी आदि वाहनोंके परिकरसे रहित होती है।

'अराय' इस प्राकृत शब्दकी संस्कृत छाया अरागा और अराजा होती है। 'अरागा' का अथ है—जो रागसे रहित हो और 'अराजा' का अर्थ है जो राजासे रहित हो। साधु-दीक्षा में राजाओंके साथ स्नेह नहीं करना चाहिये। यहां राजा शब्द उपलक्षण है इस लिये मन्त्री आदिका भी ग्रहण समझना चाहिये। साधुओं के लिये राजा तथा मन्त्री आदि का संपर्क प्रत्यक्ष नरकपात के समान बतलाया गया है। कोई लोग जिनधर्म की प्रभावना के लिये तथा मुनियों की अच्छी स्थिति बनी रहे इस उद्देश्य से इसका निषेध नहीं करते हैं। क्योंकि म्लेच्छ आदिके द्वारा मुनियों को पीडा पहुंचाई जाने पर उसके निराकरण

करनेके लिये राजा तथा मन्त्री आदि का संपर्क आवश्यक होता है।

'णिद्दोषा' प्राकृत शब्द की संस्कृत छाया निर्द्वेषा और निर्दोषा होती है जिनका अर्थ इस प्रकार है–जो निर्द्वेषा–अप्रीति रूप द्वेषसे रहित हो अथवा निर्दोषा–वात पित्त कफ आदि दोषोंसे रहित हो।

'णिम्मम' प्राकृत शब्द की छाया निर्ममा है जिसकी व्याख्या इस प्रकार है 'मम' यह ममता वाची अव्यय शब्द है (निर्गतं मम यस्या सा निर्ममा) जिसमें से मम–ममता भाव निकल गया हो वह निर्ममा है। जिन-दीक्षा में किसी बाह्य पदार्थ के साथ ममता नहीं रहती है। अथवा नामके एक देश से सर्व–देशका ग्रहण होता है इसलिये 'म' से मद्यमांस और मधु इन तीनों मकारों का ग्रहण होता है और 'मा का अर्थ लक्ष्मी है इसलिये म और मा शब्दका द्वन्द्व समास कर निर् शब्दके साथ बहुव्रीहि समास करने पर निर्ममा का अर्थ होता है कि जो तीन मकारके सेवन तथा लक्ष्मी के स्वीकारसे रहित हो (मश्च मा च ममे, निर्गते ममे यस्याः सा निर्ममा)। जिन दीक्षा में रञ्चमात्र लक्ष्मी का स्वीकार करना सर्वथा निषिद्ध है। जैसा कि कहा है–

अकिंचनोऽहं––'मैं अकिञ्चन हूं'-मेरा कुछ परिग्रह नहीं, ऐसी भावना करता हुआ तू चुपचाप बैठ। इस भावना से तू तीन लोक का अधिपति बन सकता है। हे साधो ! मैंने तेरे लिये परमात्मा का वह रहस्य बतलाया है जिसे योगी ही जान सकते हैं।

'णिरहंकारा' इस प्राकृत पदकी छाया 'निरहङ्कारा' और निरघं कारात्'की है इसलिये इसका अर्थ इस प्रकार है जो निरहङ्कारा-अहंकार से रहित है। जिन-दीक्षा कर्मोदय को प्रधान मानती है अर्थात् जीवको जो सुख अथवा दुःख होता है वह कर्मोदय से ही होता है इसलिये 'मैंने यह किया' इस प्रकार का अहंकार नहीं करना चाहिये। जैसा कि तार्किक-शिरोमणि श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है––

अलङ्घ्य—अन्तरंग और वहिरंग–उपादान और निमित्त दोनों कारणों से प्रगट हुए कार्य हो जिसकी पहिचान है, ऐसी यह भवितव्यता–होनहार अलङ्घ्यशक्ति है-.इसकी सामर्थ्यको कोई लांघ नहीं सकता है। अहंकार से पीडित हुआ यह प्राणी मिलकर भी कार्योंके विषय में असमर्थ रहता है--जब तक जिस कार्य कीं भवितव्यता नहीं आ पहुंची है तब तक यह प्राणी अकेला नहीं अनेक के साथ मिलकर भी कार्य करने में असमर्थ ही रहता है। हे भगवन् ! ऐसा आपने ठीक ही कहा है।

णिण्णेहा णिल्लोहा, णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५० ॥

निःस्नेहा निर्लोभा निर्मोहा निर्विकारा निष्कलुषा।
निर्भया निराशभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

णिण्णेहा निःस्नेहा पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहरहिता, अथवा तैलाद्यभ्यङ्गरहिता निःस्नेहा। *णिल्लोहा*[1] हे मुने! हे तपस्विन्! तवेदं वस्तु वस्त्रादिकं दास्यामि मम गृहे भिक्षा गृह्यतां भवतेति लोभरहिता, अथवा सुवर्णरजतताम्रायस्त्रपुनागादिभाजनविवर्जिता निर्लोभा। *णिम्मोहा* दर्शनमोहो मिथ्यात्वं त्रिविधं चारित्र-मोहः पंचविंशतिप्रकारस्तद्द्वाभ्यामपि रहिता निर्मोहा, अथवा निश्चिताया अकलंकदेवसमन्तभद्रविद्यानन्दि-प्रभाचंद्रादिभिस्तार्किकैर्निर्धारिताया माया प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणोपलक्षिताया प्रमाणद्वयस्य ऊहो वितर्को विचा-रणा यस्यां प्रव्रज्यायां सा निर्मोहा। *णिव्वियार* निर्विकारा वस्त्राभरणादिवपविकाररहिता निर्विकारा, अथवा निश्चितो विचारो विवेको भेदज्ञानं यस्यां सा निर्विचारा, आत्मा पृथक् कर्म पृथक् इति विवेकोपेता उक्तं च—

मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मीर्बुद्धिः कृतज्ञता।
विवेकेन विना सर्वं सदप्येतन्न किंचन ॥ १ ॥

अन्यच्च—

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे।
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ॥ १ ॥

णिक्कलुसा निष्कलुषा निष्पापा। [1]*णिब्भय* निर्भया सप्तभयरहिता। *णिरासभावा* निराशभावा आशारहितस्वभावा। *पव्वज्जा एरिसा भणिया* प्रव्रज्या ईदृशी भणिता श्रीवृषभनाथेनेति शेषः।

प्रश्न—'संहत्य कार्येषु' इस पदका क्या अर्थ है?

उत्तर—सुख आदि कार्योंके उत्पादक मन्त्रतन्त्र आदि सहकारी कारणोंमें मिल कर।

अब 'निरघं कारात्' छायाके अनुसार व्याख्या करते हैं। प्राकृत में 'घ' के स्थान में 'ह' होजाता है इसलिये 'णिरहं' की छाया 'निरघं' की गई है। और कारात् शब्दके अन्त हलका प्राकृतमें लोप कर कारा शब्द बना था उसे संस्कृतमें 'कारात्' स्वीकृत किया गया। इस तरह निरघं और कारात् ये दो शब्द हैं इनमें निरघं शब्द क्रिया–विशेषण है जिसका अर्थ होता है निरघं अर्थात् निष्पाप। 'क' शब्दका अर्थ है शुद्धबुद्ध–वीतराग और

१—म० टी०।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुत्र णिराउहा संता।
परकियनिलयनिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५१ ॥

यथाजातरूपसदृशा अवलम्बितभुजा निरायुधा शान्ता।
परकृतनिलयनिवासा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

जहजायरूवसरिसा यथाजातरूपसदृशा नग्नरूपा इत्यर्थः। *अवलंबियभुत्र* अवलम्बितभुजा प्रायेण कायोत्सर्गस्थिता पद्मासनादिस्थिता वा। पद्मासनं किं?—

सर्वज्ञता स्वभावको लिये हुए निज आत्माका स्वरूप। आरात् अव्यय समीप अर्थमें आता है इसलिये 'कस्य आरात् कारात्' इस समासके अनुसार कारात् का अर्थ हुआ आत्म-स्वरूपके समीप-वर्ती। इस तरह निरघं कारात् शब्दका सामूहिक अर्थ यह हुआ कि जो समस्त पाप सहित योगोंका त्यागकर आत्मस्वरूप के निकट है अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्तिका प्रमुख कारण है! जिनदीक्षा, चिच्चमत्कार लक्षण मात्र ज्ञायक स्वभाव से निरन्तर युक्त निजस्वरूप में लीन होती है। शास्त्रों में ऐसा कहा भी है कि 'पापक्रियासे विरत होना चारित्र है'[1] गौतमस्वामी ने जिन-दीक्षाका स्वरूप ऐसा कहा है ॥४९॥

गाथार्थ—जो स्नेह रहित हो, लोभ रहित हो, मोह रहित हो, अथवा निश्चित प्रमाण के तर्कसे सहित हो, विकार रहित हो अथवा निश्चित विचार से सहित हो, कलुषता-रहित हो, निर्भय हो और निराश भाव से सहित हो, आगामी आशा से रहित हो वह जिनदीक्षा कही गई है ॥५०॥

विशेषार्थ—स्नेहका अर्थ पुत्र स्त्री तथा मित्र आदिका प्रेम और तैल आदिका मर्दन है। जिनदीक्षा निःस्नेह होती है—पुत्र स्त्री मित्र आदिके स्नेह से रहित होती है अथवा तेल आदि सचिक्कण पदार्थोंके मालिशसे शून्य होती है। जिनदीक्षा निर्लोभ—लोभ रहित होती है अर्थात् हे मुनिराज! हे तपस्विन्! मैं तुम्हारे लिये यह वस्त्रादिक दूंगा आप हमारे घर पर भिक्षा ग्रहण कीजिये, इस प्रकार के लोभ से रहित है अथवा सोना, चांदी, ताम्बा, लोहा रांगा आदिके पात्रोंसे हित होनेके कारण निर्लोभ है। जिनदीक्षा निर्मोह है—मोहसे रहित है। दर्शन-मोहको मिथ्यात्व कहते हैं उसके गृहीत अगृहीत और सांशयिकके भेदसे तीनभेद हैं अथवा मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिके भेद से तीन भेद हैं। चारित्र मोह पच्चीस प्रकारका है जिनदीक्षा दोनों प्रकारके मोहोंसे रहित

१—हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च। पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥
रत्नकरण्डश्रावकाचारे समन्तभद्रस्य

[1]संन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्यामूर्वोरुपरि युक्तितः ।
भवेच्च समगुल्फाभ्यां पद्मवीरसुखासनं ॥ १ ॥

तत्र सुखासनस्येदं लक्षणं—

[2]गुल्फोत्तानकरांगुष्ठरेखारोमालिनासिकाः ।
समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामनः[3] ॥ १ ॥

णिराउहा निरायुधा दण्डाद्यायुधरहिता, अथवा निरायुर्हा प्रासुकान् प्रदेशान् हन्ति गच्छतीति निरायुर्हा । *संता* शान्तरूपा अक्रूरस्वभावा । *परकियनिलयनिवासा* परेण केनचित्कृते निलये उपाश्रये निवासः स्थितिर्यस्यां सा परकृतनिलयनिवासा सर्पवत् । *पव्वज्जा एरिसा भणिया* प्रव्रज्या ईदृशी भणिता प्रतिपादिता प्रियकारिणीपुत्रेणेति शेषः ।

है । अथवा 'निश्चिता मा निमा, तस्या ऊहो यस्यां सा निमोहा' इस समास के अनुसार अकलंक देव समन्तभद्र, विद्यानन्दि और प्रभाचन्द्र आदि तार्किक विद्वानोंके द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष परोक्ष भेदों से युक्त दोनों प्रमाणोंके ऊह-वितर्क अथवा विचारणासे सहित है । निर्विकार है—वस्त्रआभूषण आदिमे निर्मित वेषके विकारसे रहित है अथवा 'निश्चितो विचारो यस्यां सा' इस समासके अनुसार निश्चित विचार--विवेक अथवा भेदज्ञानसे सहित है । क्योंकि जिन-दीक्षा 'आत्मा पृथक् है और कर्म पृथक् है' इस विवेक से सहित होती है । कहा भी है—

मानुष्यं—मनुष्य पर्याय, उत्तमकुल में जन्म, लक्ष्मी, बुद्धि, और कृतज्ञता ये सब रहते हुए भी एक विवेक के विना कुछ नहीं है ।

और भी कहा है—

आत्मा—आत्मा भिन्न है, उसके साथ लगा हुआ कर्म भिन्न है, दोनोंकी निकटता से जो विकार होता है वह भी भिन्न है, काल क्षेत्र आदि जो कुछ है वह भी भिन्न है, तथा अपने अपने गुणोंकी कला से अलंकृत यह सब कुछ भिन्न २ हैं ।

जिनदीक्षा निष्कलुष है—पाप से रहित है । निर्भय है—ऐहलौकिक, पारलौकिक, वेदना, मरण, अत्राण, अगुप्ति और आकस्मिक इन सात भयों से रहित है । और निरा-

---

१-२ यशस्तिलकचम्प्वां सोमदेवस्य, ३—आराधनासारटीकायां आसनानां लक्षणानि यथा- "स्याज्जङ्घयो रधोभागे पादोपरि कृते सति । पर्यङ्को नाभिगोत्तान दक्षिणोत्तरपाणिकः ॥" अयमेवैक-जङ्घाया अधोभागे पादोपरि कृतेऽर्धपर्यङ्कः "वामोऽङ्घ्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं वामोरूपरि दक्षिणः । क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं स्मृतम् ॥" "जङ्घाया-मध्यभागेषु संश्लेषो यत्र जङ्घया । पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः ॥"

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा ।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५२ ॥

उपशमक्षमादमयुक्ता शरीरसंस्कारवर्जिता रूक्षा ।
मदरागदोषरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

उवसमखमदमजुत्ता उपशमेन कर्मक्षयेण निर्जरया संवरेण अक्रूरपरिणामेन वा युक्ता, क्षमया उत्तमक्षमया युक्ता । उक्तं च शुभचन्द्रेण योगिना—

[1]आक्रुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः ।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना ॥ १ ॥

दमेन युक्ता जितेन्द्रिया व्रतोपपन्ना वा । *सरीरसक्कारवज्जिया* शरीरसंस्कारवर्जिता दन्तनखकेशमुखाद्यवयवशृङ्गाररहिता । *रुक्खा* तैलाद्यभ्यंगरहिता । *मयरायदोसरहिया* मदरहिता मायारहिता वा, प्रीतिलक्षणरागरहिता, अप्रीतिलक्षणद्वेषरहिता दोषो वा व्रतादिष्वतीचारस्तेन रहिता । *पव्वज्जा एरिसा भणिया* प्रव्रज्या दीक्षादृशी भणिता प्रतिपादिता सिद्धार्थनन्दनेनेति शेषः ।

शभाव–आशारहित स्वभावसे युक्त हैं । इस प्रकार भगवान् वृषभ नाथ ने जिन दीक्षाका स्वरूप कहा है ॥५०॥

जहजाय—गाथार्थ—जो तत्काल उत्पन्न हुए बाकक के समान नग्न सहित रूपसे है, जिसमें भुजाएं नीचे की ओर लटकी रहती हैं, जो शस्त्र से रहित है अथवा प्रासुक प्रदेशों पर जिसमें गमन किया जाता है, जो शान्त है तथा दूसरे के द्वारा बनाये हुए उपाश्रय में जिसमें निवास किया जाता है, वह जिनदीक्षा कही गई है ॥५१॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार तत्काल का उत्पन्न हुआ बालक निर्विकार और नग्न रहता है उसी प्रकार जिन दीक्षामें निर्विकार नग्न रूप धारण किया जाता है । जिनदीक्षामें भुजाएं नीचे की और लटकी रहती हैं अर्थात् ध्यानके लिये प्रायः कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा हुआ जाता है और पद्मासन आदि आसनों से भी बैठा जाता है ।

प्रश्न—पद्मासन क्या है ?

उत्तर—सन्यस्ताभ्यां पैरोंको जांघोंके नीचे रखने पर पद्मासन, जांघोके ऊपर रखने पर वीरासन और उस तरह मिलाकर रखने पर जिसमें कि दोनों की गांठें समभाग रहे सुखासन होता है ॥१॥

उनमें सुखासन का यह लक्षण है—

गुल्फोत्तान—सुखासन से बैठा हुआ मनुष्य न ज्यादा तन कर बैठे और न ज्यादा

१—यशस्तिलकचम्प्वाम् । २—दोष म० ।

विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५३ ॥

विपरीतमूढभावा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वा।
सम्यक्त्वगुणविशुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

विवरीयमूढभावा विपरीतमूढभावा विशेषेण परि समन्तात् इतो गतो नष्टो मूढभावो जडतास्वरूपं यस्याः सा विपरीतमूढभावा। *पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता* प्रणष्टानि कर्माण्यष्टौ यस्यां सा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वा पंचमिथ्यात्वरहिता। उक्तं च—

[१]*एयंत बुद्धदरिसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ।*
इंदो वि य संसयिदो मक्कडियो चेव अण्णाणी ॥ १ ॥

अस्या अयमर्थः—सर्वथा क्षणविनाशवादी बुद्धः। ब्रह्मवादी विपरीतः आत्मानं शाश्वतमेवैकान्तेन मन्यते। तापसो वैनयिकः सर्वविनयेन मोक्षं मन्यते गुणदोषविचारणा तन्मते नास्ति। इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रवादी संशयमिथ्यादृष्टिः चतुरपरजैनाभासाश्च। संशयवादी किलैवं मन्यते—

[२]*सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य तह य अण्णो य।*
समभावभावियप्पा लहेइ मोक्खं ण संदेहो ॥ १ ॥

मस्करपूरणः खल्वेवं वदति—

[३]*अण्णाणादो मोक्खं णाणं णत्थित्ति मुक्कजीवाणं।*
पुणरागमणं भमणं भवे भवे णत्थि जीवाणं ॥ १ ॥

सम्मत्तगुणविसुद्धा सम्यक्त्वमेव गुणस्तेन विशुद्धा निर्मला, अथवा सम्यक्त्वगुणैर्निःशंकितनिष्कांक्षितनिर्विचिकित्सितामूढदृष्टिउपगूहनस्थितीकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणैरष्टभिः सम्यक्त्वगुणैर्विशुद्धा विशेषेण निर्मला पंचविंशतिदोषरहिता सम्यक्त्वगुणविशुद्धा। *पव्वज्जा एरिसा भणिया* प्रव्रज्या दीक्षा ईदृशी भणिता प्रतिपादिता चतुर्विंशतितमेन तीर्थकृतेति शेषः।

भुककर। किन्तु समदृष्टि होता हुआ पैरों की गांठोंपर रखे हुए उत्तान (चित्त) हाथके अंगूठे की रेखाओं को नाभिके नीचे स्थित रोमावली को और नासिका को सम रखे अर्थात् हाथके अंगूठे को वक्र न करे, अधिक भुककर रोमावली को वक्र न करे और न ऊपर नीचे तथा आजू बाजू देख कर नासिका को विषम करे ॥१॥

जिन दीक्षा निरायुधा होती है-दण्ड आदि आयुधों से रहित होती है अथवा 'निरायुहा' संस्कृत छाया मान कर यह अर्थ भी हो सकता है कि जिनदीक्षा निरायुः—निर्जीव-प्रासुक स्थानों पर ही गमन करती है। संस्कृत व्याकरण में 'हन्' धातुका हिंसा और गति इन दोनों अर्थों में प्रयोग होता है। जिन दीक्षा शान्त है-क्रूर स्वभावसे रहित है और जिनदीक्षा में किसी दूसरे के द्वारा बनाये हुए उपाश्रय में निवास किया जाता

१--जीवकाण्डे नेमिचन्द्रस्य।

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंघयणेसु भणिय णिग्गंथा ।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥ ५४ ॥

जिनमार्गे प्रव्रज्या षट्संहननेषु भणिता निर्ग्रन्था ।
भावयन्ति भव्यपुरुषाः कर्मक्षयकारणे भणिता ॥

जिणमग्गे पव्वजा जिनमार्गे आर्हतशासने प्रव्रज्या दीक्षा । *छहसंघयणेसु* षटसंहननेषु वज्रर्षभनाराचवज्रनाराचनाराचार्धनाराचकीलिकाप्राप्तासृपाटिकनामसु षट्सु संहननेषु । *भणिया णिग्गंथा* भणिता प्रतिपादिता श्रीन्द्रभूतिनामगणधरदेवेनेति शेषः । कथंभूता भणिता, [1]निर्ग्रन्था यथाजातरूपधारिणी यतोऽस्मिन् क्षेत्रेऽन्त्यो निर्ग्रन्थो वीराङ्गजो यो भविष्यति पंचमकालस्यान्ते स किलाप्राप्तासृपाटिको संहननो भविष्यति तेन षष्ठेऽपि संहनने निर्ग्रन्थप्रव्रज्या ज्ञातव्या । *भावंति भव्वपुरिसा* भावयन्ति मानयन्ति एतद्वचनं, के ? भव्यपुरुषा आसन्नभव्यजीवाः । *कम्मक्खयकारणे भणिया* पारम्पर्येण कर्मक्षयकारणे मोक्षप्राप्तिनिमित्त भणिता प्रतिपादिता ।

है । जिस प्रकार सर्प अपना विल स्वयं नहीं बनाता, अपने आप बने हुए अथवा किसीके द्वारा बनाये हुए बिलमें निवास करता है उसी प्रकार जिनदीक्षा का धारक साधु अपना उपाश्रय स्वयं न बना कर पर्वतकी गुफा तथा वृक्षकी कोटर आदि अपने आप बने हुए अथवा किसी अन्य धर्मात्मा के द्वारा बनवाये हुए मठ आदि में निवास करता है । प्रियकारिणी के पुत्र भगवान् महावीर ने जिनदीक्षा का स्वरूप ऐसा कहा है ॥५ ॥

गाथार्थ—जो उपशम, क्षमा और दम से सहित है, शरीरके संस्कार से रहित है, रूक्ष है, और गद, राग, द्वेष अथवा दोषोंसे रहित है, वह जिनदीक्षा कही गई है ।५२।

विशेषार्थ—जिन-दीक्षा, उपशम अर्थात् कर्मोंके क्षय, निर्जरा, संवर अथवा दया रूप परिणाम तथा उत्तम क्षमा से युक्त है । जैसा कि शुभचन्द्र योगी ने कहा है—

आकृष्टोऽहं—किसी दूसरेके द्वारा उपसर्ग किये जानेपर मुनिराज इस प्रकार विचार करते हैं कि इस भाईने मुझे खींचा ही तो है मारा नहीं है, अथवा मारा ही तो है मेरे दो टुकड़े तो नहीं किये, अथवा दो टुकड़े कर मारा ही तो है मेरा धर्म तो नहीं नष्ट किया ॥१॥

दमका अर्थ इन्द्रियोंको जीतना अथवा व्रत धारण करना है । जिनदीक्षा दमसे सहित है—इन्द्रियों को जीतने वाली अथवा अहिंसा आदि व्रतों से युक्त है । जिनदीक्षा, शरीर के संस्कार से रहित है अर्थात् दन्त, नख, केश और मुख आदि अवयवों की सजावट से रहित है । तेल आदिके मर्दन से रहित होनेके कारण रूक्ष है, मद अथवा माया से रहित

१--निग्रन्था क० म० ।

तिलओसत्तनिमित्तं समबाहिरगंथसंगहो णत्थि।
पावज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं ॥ ५५ ॥

तिलकोशत्वमात्रं समबाह्यग्रन्थसंग्रहो नास्ति।
प्रव्रज्या भवति एषा यथा भणिता सर्वदर्शिभिः ॥

तिलओसत्तनिमित्तं तिलस्य पितृप्रयबीजस्य कोशत्वमात्रं तिलतुषमात्रमपि अश्रमणपरिग्रहः। *समबाहिरगंथसंगहो णत्थि* तिलतुषमात्रसमोऽपि बाह्यग्रन्थस्य संग्रहो नास्ति न विद्यते। *पावज्ज हवइ एसा* प्रव्रज्या भवत्येषा। *जह भणिया सव्वदरिसीहिं* यथा भणिता सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञदेवैरिति

है, अप्रीति रूप द्वेष से रहित है अथवा व्रत आदिमें अतिचार लगने रूप दोष से रहित है। राजा सिद्धार्थ के पुत्र—भगवान् महावीर ने जिनदीक्षा का ऐसा स्वरूप कहा है ॥५२॥

विवरीय—गाथार्थ—जिसमें मूढताएं नष्ट हो चुकती हैं, जिसमें आठ कर्म नष्ट हो जाते हैं, जिसमें मिथ्यात्व नष्ट हो चुकता है और जो सम्यक्त्वरूप गुणसे विशुद्ध है, वह जिनदीक्षा कही गई है ॥५३॥

विशेषार्थ—जिनदीक्षा में मूढभाव—जड़ता विशेष रूप से नष्ट हो चुकती है, ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट होजाते हैं और एकान्त आदि पांच प्रकारका मिथ्यात्व नष्ट हो चुकता है। पांच प्रकार के मिथ्यात्व और उनमें प्रसिद्ध पुरुषों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

एयंत—एकान्त मिथ्यात्व में बौद्ध, विपरीत मिथ्यात्व में ब्रह्मवादी, वैनयिक मिथ्यात्व में तापस, संशय मिथ्यात्वमें इन्द्र नामका श्वेताम्बर गुरु और अज्ञान मिथ्यात्व में मस्करी प्रसिद्ध हुआ है ॥१॥

इस गाथाका स्पष्ट अर्थ यह है—'समस्त पदार्थों का सब प्रकार से क्षणक्षण में विनाश होता है' इसप्रकार एकान्तसे समस्त पदार्थोंको क्षणिक मानने वाला बुद्ध एकान्त मिथ्यादृष्टि है। ब्रह्मवादी विपरीत मिथ्यादृष्टि है वह आत्माको एकान्त से नित्य ही मानता है। तापस वैनयिक मिथ्यादृष्टि है वह सब की विनयसे मोक्ष मानता है उसके मतमें गुण दोषका विचार नहीं है। इन्द्रचन्द्र 'नागेन्द्र' नामका वादी संशय मिथ्यादृष्टि है, इसी प्रकार शेष चार जैनाभास भी संशय मिथ्यादृष्टि हैं। संशय-वादी मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है कि—

सेयंबरो—श्वेताम्बर हो चाहे दिगम्बर, बुद्ध हो चाहे अन्य कोई, यदि उसकी आत्मा समभावसे सुसंस्कृत है तो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है, इसमें संशय नहीं है ॥२॥

मस्करपूरण ऐसा कहता है–

अण्णाणादो—अज्ञान से मोक्ष होतो है, मुक्त जीवोंके ज्ञान नहीं है। मुक्त जीवों का पुनरागमन और भवभव में भ्रमण नहीं होता है।

जिन दीक्षा सम्यक्त्व रूप गुणसे विशुद्ध रहती है अथवा सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ गुणोंके द्वारा विशुद्ध–विशेषरूप से निर्मल होती है। तीनमूढता, छह अनायतन, शङ्कादि आठ दोष और आठमद इन पच्चीस दोषों से रहित होनेसे विशुद्ध है। चौवीसवें तीर्थंकर श्री महावीरस्वामी ने जिन दीक्षाका इस प्रकार स्वरूप बतलाया है ॥५३॥

गाथार्थ—अरहन्त भगवान् के शासन में जिनदीक्षा छहों संहननों में कही गई है। जिन-दीक्षा निर्ग्रन्थ है--परिग्रह-रहित है और कर्मक्षय के कारणों में कही गई है, ऐसा भव्य पुरुष चिन्तन करते हैं ॥५४॥

विशेषार्थ—जिन मार्ग—अरहन्त भगवान् के शासन में जिनदीक्षा बज्रर्षभनाराच, बज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिका इन छह संहननोंके धारक जीवोंके कही गई है। क्योंकि इस क्षेत्र में पञ्चम कालके अन्तमें जो वीराङ्गज नामका अन्तिम निर्ग्रन्थ–मुनि होगा वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन का धारी होगा इससे छठे संहनन में भी निर्ग्रन्थ-दीक्षा होती है, यह जानना चाहिये। जिन दीक्षा निर्ग्रन्थ होती है समस्त परिग्रहों से रहित होती है, तथा कर्मक्षय कारणोंमें कही गई है अर्थात् जिनदीक्षा परम्परा से मोक्ष प्राप्तिका निमित्त है, ऐसा निकट-भव्य जीव मानते हैं ॥ ५४ ॥

तिलओस—गाथार्थ–जिसमें तिल तुषके अग्रभागके बराबर भी बाह्य परिग्रह का संग्रह नहीं है वही जिन दीक्षा है, ऐसा सर्व-दर्शी--जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ॥ ५५ ॥

विशेषार्थ—तिलका दाना अत्यन्त छोटा होता है उसके तुषके अग्रभागके बराबर भी बाह्य परिग्रह का संग्रह मुनिके नहीं होता है ऐसा सर्वज्ञ देवने कहा है ॥ ५५ ॥

गाथार्थ--जिन दीक्षा उपसर्ग और परीषहों को सहन करती है, इसके धारक निरन्तर निर्जन स्थान में रहते हैं तथा सर्वत्र शिला, काष्ठ अथवा भूमितल पर आरूढ होते हैं--बैठते अथवा शयन करते हैं ॥ ५६ ॥

विशेषार्थ----तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और अचेतन पदार्थोंसे उत्पन्न होनेके कारण उपसर्ग के चार भेद हैं। परीषह के बाईस भेद पहले कहे जा चुके हैं। जिन दीक्षा उन उपसर्ग और परीषहों के सहन करनेमें समर्थ है। जिन दीक्षा-जिन दीक्षा के धारक मुनि

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ ।
सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥ ५६ ॥

उपसर्गपरीषहसहा निर्जनदेशे हि नित्यं तिष्ठति ।
शिलायां काष्ठे भूमितले सर्वाणि आरोहति सर्वत्र ॥

उवसग्गपरिसहसहा उपसर्गाश्च तिर्यग्मानवदेवाचेतनभवाश्चतुःप्रकाराः, परीषहाश्च पूर्वोक्ता द्वाविंशतिः उपसर्गपरीषहास्तान् सहते तेषु वा सहा समर्था उपसर्गपरीषहसहा । *णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ* निर्जनदेशे मनुष्यरहितप्रदेशे वने हि स्फुटं नित्यं तिष्ठति । *सिल कट्ठे भूमितले* शिलायां दृषदि, काष्ठे दारुफलके, भूमितले भूमौ [१]तृणायां वा । *सव्वे आरुहइ सव्वत्थ* एतानि सर्वाणि, आरोहति उपविशति शेते च सर्वत्र वने ग्रामनगरादौ वा ॥ ५६ ॥

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५७ ॥

पशुमहिलाषण्ढसंगं कुशीलसंगं न करोति विकथाः ।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

पसुमहिलसंढसंगं यत्र पशवो भवन्ति तत्र न स्थीयते, यत्र महिला भवन्ति, यत्र पंढा नपुंसकानि भवन्ति तत्र न स्थीयते । *कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ* कुशीलस्य कुत्सिताचारस्य साधुलोकशिक्षापराङ्मुखस्य संगं न करोति–[२]तत्संगतो दुर्ध्यानमुत्पद्यते, न करोति विकथाश्च राजकथास्त्रीकथाभोजनकथाचोरकथाश्चेति । *सज्झायझाणजुत्ता* स्वाध्यायेन वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशलक्षणेन पंचविधेन युक्ता प्रव्रज्या भवति, ध्यानेन धर्म्यध्यानशुक्लध्यानद्वयेन युक्ता आर्त्तरौद्रदुर्ध्यानद्वयरहिता । *पव्वज्जा एरिसा भणिया* प्रव्रज्या जैन दीक्षा ईदृशी एतल्लक्षणविराजमाना भणिता प्रतिपादिता अकलङ्कदेवेनेति शेषः ॥ ५७ ॥

निश्चयसे निरन्तर निर्जन देश–मनुष्यरहित वनमें रहते हैं और सर्वत्र शिला काठके पाटे, भूमितल अथवा तृण-समूह पर आरूढ होते हैं—बैठते हैं तथा शयन करते हैं । यहां सव्वत्थ (सर्वत्र) शब्दसे सूचित होता है कि मुनियों का निवास वन अथवा ग्राम नगर आदिमें भी होता है ॥५६॥

गाथार्थ—जो पशुओं महिलाओं, नपुंसकों और कुशील मनुष्योंका संग नहीं करती है, विकथाएं नहीं करती है, तथा स्वाध्याय और ध्यानमें युक्त रहती है वह जिन-दीक्षा कही गई है ॥५६॥

विशेषार्थ—जिसमें, जहां पशु होते हैं वहां नहीं बैठा जाता है, जहां स्त्रियां तथा नपुंसक रहते हैं वहां भी नहीं बैठा जाता है, खोटे आचार के धारक अथवा मुनिजनों की शिक्षा से पराङ्मुख मनुष्य की संगति नहीं की जाती है क्योंकि उसकी संगति में खोटा ध्यान

१–तृणायां म० । २–तत्संगते म० ।

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५८ ॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धा संयमसम्यक्त्वगुणविशुद्धा च।
शुद्धा गुणैः शुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥

तववयगुणेहिं सुद्धा तपोभिरिच्छानिरोधलक्षणैर्द्वादशभिः, व्रतैरहिंसादिभिः पंचभिः रात्रिभोजन-परिहारव्रतषष्ठैः, गुणैश्चतुरशीतिलक्षलक्षणैः शुद्धा उज्वला। *संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य* संयमा इन्द्रियप्रा णसंयमलक्षणा द्वादश, सम्यक्त्वानि दशप्रकाराणि द्वित्रिप्रकाराणि च, ते च ते गुणा आत्मोपकारकाः परिणामविशेषास्तैर्विशुद्धा निर्मला प्रव्रज्या भवति। निसर्गजमधिगमजं सम्यक्त्वं द्विविधं, उपशमवेदकक्षायिकभेदात्सम्यक्त्वं त्रिविधं।

"आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्[1]।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च"

इत्यार्याकथिताः सम्यक्त्वस्य दशप्रकारा ज्ञातव्याः। तद्विवरणं वृत्तत्रयं यथा—

[2]आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपंचं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता-
या सद्ज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥ १ ॥
आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्
सक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥ २ ॥
यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरिह तं विद्धि विस्तारदृष्टिं
संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता याऽवगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥ ३ ॥

सुद्धा गुणेहिं सुद्धा या प्रव्रज्या गुणैः कृत्वा शुद्धा सा शुद्धा कथ्यते न तु वेषमात्रेण शुद्धोच्यते। *पव्वज्जा एरिसा भणिया* प्रव्रज्या दीक्षेदृशी भणिता प्रतिपादिता शान्तिनाथेनेति शेषः ॥ ५८ ॥

उत्पन्न होता है। जिसमें, राजकथा, स्त्री कथा, भोजन कथा और चोर कथा ये विकथाएं नहीं की जाती हैं और जो वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश इस पांच प्रकार के स्वाध्याय से युक्त रहती है तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दो ध्यानोंसे सहित एवं आर्त्त और रौद्र इन दो खोटे ध्यानोंसे रहित होती है वह जिन दीक्षा है, ऐसा अकलङ्क देव—वीतराग जिनेन्द्र देवने कहा है ॥५७॥

१—२-आत्मानुशासने गुणभद्रस्य।

गाथार्थ—जो तप, व्रत और गुणोंसे शुद्ध है, संयम और सम्यक्त्व रूपी गुणोंसे विशुद्ध है और मूलगुणों से निर्दोष है वही शुद्ध दीक्षा कही गई है ॥५८॥

विशेषार्थः—इच्छा-निरोध रूप लक्षण से युक्त तपके अनशन–अवमौदर्य आदि बारह भेद हैं, व्रतके अहिंसा आदि पांच और रात्रिभोजन त्याग नामका छटवां इस प्रकार छह भेद हैं, गुणोंके चौरासी लाख भेद हैं। संयमके, छह इन्द्रिय–संयम और छह प्राण-संयम इस प्रकार बारह भेद हैं। सम्यक्त्व के दश, दो अथवा तीन भेद हैं। निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा सम्यक्त्व दो प्रकारका है। उपशम, वेदक और क्षायिक के भेदसे तीन प्रकारका है तथा 'आज्ञामार्ग' इस आर्यामें कहे हुए १ आज्ञासमुद्भव, २ मार्गसमुद्भव, ३ उपदेशभव, ४ सूत्रभव, ५ बीजभव, ६ संक्षेपभव, ७ विस्तारभव, ८ अर्थभव, ९ अवगाढ और १० परमावगाढके भेदसे दश प्रकारका है। इन दश भेदों के स्वरूप का वर्णन करने वाले तीन पद्य इस प्रकार हैं—

आज्ञासम्यक्त्व—१ वीतराग सर्वज्ञ देव की आज्ञा मात्रसे जो श्रद्धा होती है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं। २ ग्रन्थोंके विस्तार को छोड़कर दर्शनमोह–कर्मके उपशमसे आनन्ददायी मोक्षमार्ग की जो श्रद्धा होती है उसे मार्ग–सम्यक्त्व कहते हैं। ३ शलाका पुरुषों के पुराणके उपदेश से जो सम्यक्त्व होता है उसे सम्यग्ज्ञानके वर्धक आगम रूप सागरका प्रसार करने वाले मुनि उपदेश सम्यक्त्व कहते हैं। ४ मुनियों के चारित्र की विधिका वर्णन करने वाले आचार सूत्रको सुनकर जो श्रद्धा होती है उसे सूत्र सम्यक्त्व कहते हैं। ५ अनुपम प्रशम गुणके कारण किन्हीं बीजोंके द्वारा दुर्ज्ञेय अर्थ की जो श्रद्धा होती है उसे बीज दृष्टि कहते हैं। ६ संक्षेप से ही पदार्थों को जानकर जो श्रद्धाको प्राप्त होता है वह संक्षेप दृष्टि है। ७ द्वादशाङ्ग को सुनकर जो श्रद्धाको प्राप्त होता है उसे विस्तार दृष्टि कहते हैं। ८ जो शास्त्रके वचनके विना किसी अर्थसे श्रद्धान होता है वह अर्थ सम्यक्त्व है। ९ अङ्ग तथा अङ्ग बाह्य शास्त्रोंका अवगाहन करनेसे जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे अवगाढ सम्यक्त्व कहते हैं और १० केवलज्ञानके द्वारा देखे हुए पदार्थों में जो श्रद्धा होती है उसे परमावगाढ सम्यक्त्व कहते हैं।

इस प्रकार जो अनशनादि बारह तपों, अहिंसा आदि छह व्रतों और चौरासीलाख उत्तर गुणोंसे शुद्ध है। बारह संयमों, तथा दो तीन अथवा दश प्रकारके सम्यग्दर्शन रूपी गुणोंसे विशुद्ध है और अट्ठाईस मूलगुणों से शुद्ध है—निरतिचार है वही जिनदीक्षा है ऐसा श्री शान्तिनाथ भगवान्ने कहा है। यहां यह भाव स्पष्ट किया गया है कि जो दीक्षा गुणोंसे शुद्ध है वही शुद्ध दीक्षा कहलाती है, मात्र वेषसे दीक्षा शुद्ध नहीं कही जाती ॥५८॥

एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविसुद्ध सम्मत्ते ।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥ ५९ ॥

एवं आत्मतत्वगुणपर्याप्ता बहुविशुद्धसम्यक्त्वे ।
निर्ग्रन्थे जिनमार्गे संक्षेपेण यथाख्यातम् ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण । *आयत्तणगुणपज्जत्ता* [१]आत्मतत्वगुणपर्याप्ता परिपूर्णा, [२]आत्मगुणभावनारहितेयं प्रव्रज्या परिपूर्णा न भवति, आत्मगुणभावनासहिता तु स्तोकापि प्रव्रज्या पर्याप्ता सम्पूर्णा भवतीति भावार्थः । *बहुविसुद्धसम्मत्ते* बहुविशुद्धसम्यक्त्वे मुनौ प्रव्रज्या पर्याप्ता भवति मिथ्यात्वदूषिते तु नग्नेऽपि मुनौ दीक्षा अदीक्षा भवति संसारविच्छेदरहितत्वात् । उत्कृष्टतया [३]नवमग्रैवेयकपदं लब्ध्वापि मिथ्यादृष्टयस्तपस्विनः पुनः संसारे पतन्तीति ज्ञात्वा पुनः पुनः भणामि सम्यक्त्ववता मुनिना भवितव्यं । उक्तं चानेनैव भगवता कुन्दकुन्दाचार्येण—

सम्मं चेव य भावे मिच्छाभावे तहेव बोद्धव्वा ।
चइऊण मिच्छभावे सम्मम्मि उवट्ठिदे वंदे ॥ १ ॥

णिग्गंथे निर्ग्रन्थे । *जिणमग्गे* जैनमार्गे नग्ने जिनमार्गे, वस्त्रसहितस्तु मोक्षं प्राप्नोतीति मिथ्यादृष्टिमार्गः । *संखेवेण* संक्षेपेण समासेन । *जहाखादं* यथा मया कथितं प्रव्रज्यालक्षणं स सर्वोऽपि संक्षेप इति ज्ञातव्यमिति भावः । विस्तरस्तु गौतमस्वामिसूत्रे बोद्धव्यः ।

पव्वज्जा—प्रव्रज्यास्वरूपं निरूपितम् ।

प्रव्रज्या कोऽर्थः ? पारिव्राज्यं तस्य सूत्रपदानि सप्तविंशतिर्जिनसेनाचार्यैरुक्तानि । तथा हि—

जातिर्मूर्तिश्च तत्रस्थं लक्षणं सुन्दराङ्गता
प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते ॥ १ ॥
सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणाः ।
अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने ॥ २ ॥
[४]क्षेत्राज्ञे तत्सभा कीर्ति वंद्यता वाहनानि च ।
भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः[५] ॥ ३ ॥

इति त्रिभिः श्लोकैः सप्तविंशतिः प्रव्रज्यासूत्रपदानि ज्ञातव्यानि । एतेषां विवरणं तैरेव कृतं वर्तते तथा हि—

जात्यादिकानिमान् सप्तविंशतिं परमेष्ठिनाम् ।
गुणानाहुर्भजेद्दीक्षां[६] स्वेषु तेष्वकृतादरः ॥ १ ॥
जातिमानप्यनुत्सिक्तः संभजेदर्हतां क्रमौ ।
यतो जात्यन्तरे जात्यां याति जातिं चतुष्टयीं[७] ॥ २ ॥

जातौ भवा जात्या तां जात्यां उत्तमां जातिं मुनिर्याति । कस्मिन् जात्यन्तरे चतुःप्रकारजातिभेदे । किं कुर्वाणः ? अर्हत्क्रमौ भजमानः ।

[८]जातिरैन्द्री भवेद्दिव्या चक्रिणां विजयाश्रिता ।

१—आत्मतत्व म० घ० । २—आत्मभावना गुण क० म० । ३—नवग्रैवेयक घ० । ४—क्षेत्राज्ञासभाः महापुराणे । ५—महापुराणे पर्व ३९ । ६—स्तेषु म० । ७ महापुराणे १६६-१६७ पर्व ३९ ८—महापुराणे । पर्व ३९ श्लोक १६८-२००

परमा जातिरार्हन्त्ये स्वत्मोत्था सिद्धिमीयुषाम् ॥ ३ ॥
मूर्त्यादिष्वपि नेतव्या कल्पनेयं चतुष्टयी ।
पुराणज्ञैरसंमोहात्क्वचिच्च त्रितयी मता ॥ ४ ॥
कर्शयन् मूर्तिमात्मीयां रक्षन् मूर्तीः शरीरिणां ।
तपोऽधितिष्ठेद्दिव्यादिमूर्तीराप्तुमना मुनिः ॥ ५ ॥
स्वलक्षणमनिर्देश्यं मन्यमानो जिनेशिनां ।
लक्षणान्यभिसंधाय तपस्येत्कृतलक्षणः ॥ ६ ॥
म्लापयन् स्वाङ्गसौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत् ।
वाञ्छन् दिव्यादिसौन्दर्यमनिवार्यं परं परं ॥ ७ ॥
मलीमसाङ्गो व्युत्सृष्टस्वकायप्रभवप्रभः ।
प्रभोः प्रभां मुनिर्ध्यायन् भवेत्क्षिप्रं प्रभास्वरं ॥ ८ ॥
स्वं मणिस्नेहदीपादितेजोऽपास्य जिनं भजन् ।
तेजोमयमयं योगी स्यात्तेजोवलयोज्वलः ॥ ९ ॥
त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि प्राक्तनानि प्रशान्तभाक् ।
जिनमाराध्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥ १० ॥
त्यक्तस्नानादिसंस्कारः संश्रित्य स्नातकं जिनं ।
मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति परं जन्माभिषेचनं ॥ ११ ॥
स्वं स्वाम्यमैहिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनं ।
सेवित्वा सेवनीयत्वमेष्यत्येष जगज्जनैः ॥ १२ ॥
स्वोचितासनभेदानां त्यागात्त्यक्ताम्बरो मुनिः ।
सिंहं विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत् ॥ १३ ॥
स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभून्निरुपधिर्मुनिः ।
शयानः स्थण्डिले बाहुमात्रार्पितशिरस्तटः ॥ १४ ॥
स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽप्तसत्क्रियः ।
देवैर्विरचितं दीप्रमास्कन्दत्युपधानकं ॥ १५ ॥
त्यक्तशीतातपत्राणसकलात्मपरिच्छदः ।
त्रिभिश्छत्रैः समुद्भासिरत्नैरुद्भासते स्वयं ॥ १६ ॥
विविधव्यजनत्यागादनुष्ठिततपोविधिः ।
चामराणां चतुःषष्ट्या वीज्यते जिनपर्यये ॥ १७ ॥
उज्झितानकसंगीतघोषः कृत्वा तपोविधिं ।
स्याद्द्युदुन्दुभिनिर्घोषैर्घुष्यमाणजयोदयः ॥ १८ ॥
उद्यानादिकृतां छायामपास्य स्वां तपो व्यधात् ।
यतोऽयमत एवास्य स्यादशोकमहाद्रुमः ॥ १९ ॥

स्वं स्वापतेयमुचितं त्यक्त्वा निर्ममतामितः ।
स्वयं निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः ॥ २० ॥
गृहशोभां कृतारक्षां दूरीकृत्य तपस्यतः ।
श्रीमण्डपादिशोभास्य स्वतोऽभ्येति पुरोगतां ॥ २१ ॥
तपोऽविगाहनादस्य गहनान्यधितिष्ठतः ।
त्रिजगज्जनतास्थानसहं स्यादवगाहनं ॥ २२ ॥
क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात्क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुषः ।
स्वाधीनं त्रिजगत्क्षेत्रमैश्यमस्योपजायते ॥ २३ ॥
आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानयं ।
प्राप्नोति परमामाज्ञां सुरासुरशिरोधृतां ॥ २४ ॥
स्वामिष्टभृत्यबन्ध्वादिसभामुत्सृष्टवानयं ।
परमात्मपदप्राप्तावध्यास्ते त्रिजगत्सभां ॥ २५ ॥
स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः ।
स्तुतिनिन्दासमो भूयः कीर्त्यते भुवनेश्वरैः ॥ २६ ॥
वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्तं यतोऽनुष्ठितवांस्तपः ।
ततोऽयं वन्द्यते वन्द्यैरनिन्द्यगुणसन्निधिः ॥ २७ ॥
तपोऽयमनुपानत्कः पादचारी विवाहनः ।
कृतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति ॥ २८ ॥
वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्या यतोऽयं तपसि स्थितः ।
ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात्प्रीणयन्त्यमखिलां सभां ॥ २९ ॥
अनाश्वान्नियताऽऽहारपारणोऽतप्तयत्तपः ।
तदस्य दिव्यविजयपरमामृततृप्तयः ॥ ३० ॥
त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाच्चिरं यतः ।
ततोऽयं सुखसाद्भूतः परमानन्दथुं भजेत् ॥ ३१ ॥
किमत्रबहुनोक्तेन यद्यदिष्टं यथाविधं ।
त्यजेन्मुनिरसंकल्पस्तत्तत् सूतेऽस्य तत्तपः ॥ ३२ ॥
प्राप्तोत्कर्षं तदस्य स्यात्तपश्चिन्तामणेः फलं ।
यतोऽर्हज्जातिमूर्त्यादिप्राप्तिः सैषानुवर्णिता ॥ ३३ ॥
जैनेश्वरीं परामाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन् ।
तपस्यां यदुपादत्ते पारिव्राज्यं तदाञ्जसं ॥ ३४ ॥
अन्यच्च बहुवाग्जाले निबद्धं युक्तिबाधितं ।
पारिव्राज्यं परित्याज्यं ग्राह्यं चेदमनुत्तरं ॥ ३५ ॥

पञ्चत्रिंशच्छ्लोकैः प्रव्रज्या वर्णिता ।

इति श्रीबोधप्राभृते एकादशः समाप्तः ॥ ११ ॥ ४९

गाथार्थ—इस प्रकार अत्यन्त विशुद्ध सम्यक्त्वसे युक्त मुनि में प्रव्रज्या आत्मगुणों की भावना से परिपूर्ण होती है। [कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैंने] निर्ग्रन्थ जैन मार्ग के विषय में जो कहा है वह संक्षेप से ही कहा है ॥५९॥

विशेषार्थ—पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जो प्रव्रज्या आत्मतत्व के गुणोंसे परिपूर्ण है वही पूर्ण प्रव्रज्या है। जो प्रव्रज्या आत्म-गुणोंकी भावना से रहित है वह परिपूर्ण नहीं होती। इसके विपरीत जो प्रव्रज्या आत्मगुणों की भावना से सहित है वह छोटी होनेपर भी परिपूर्ण होती है। यह प्रव्रज्या अत्यन्त विशुद्ध सम्यक्त्व से युक्त मुनि में पूर्णताको प्राप्त होती है। मिथ्यात्वसे दूषित मुनि भले ही नग्न रहता हो उसकी दीक्षा दीक्षा नहीं होती क्योंकि वह संसारके विच्छेद से रहित है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि मुनि उत्कृष्ट रूपसे नवम ग्रैवेयकके पदको भी प्राप्त करलेते हैं तो भी पुनः संसार में ही पड़ते हैं ऐसा जानकर मैं वार वार कहता हूं कि मुनिको सम्यग्दृष्टि होना चाहिये। जैसा कि इन्हीं भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

सम्मं—जिस प्रकार सम्यक्त्व रूप भाव हैं उसी प्रकार मिथ्यात्व रूप भी भाव होते हैं। उनमेंसे मिथ्यात्व रूप भावोंको छोड़कर जो सम्यक्त्व भाव को प्राप्त हुए हैं, मैं उन्हें वन्दना करता हूं।

जिनमार्ग परिग्रह से रहित है—नग्न रूप है। 'वस्त्र सहित मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है' यह मिथ्यादृष्टियों का मार्ग है। इस जैनमार्ग में जैसा कुछ प्रव्रज्या का लक्षण मैंने कहा है वह संक्षेप से ही कहा है, ऐसा जानना चाहिये। इसका विस्तार श्री गौतम स्वामीके परमागम में जानना चाहिये।

इस प्रकार प्रव्रज्या के स्वरूपका निरूपण किया।

प्रश्न—प्रव्रज्या इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—प्रव्रज्याका अर्थ पारिव्रज्य है। उसके सत्ताईस सूत्र श्री जिनसेनाचार्यने कहे हैं। जो इस प्रकार हैं—

जातिर्—जाति, मूर्ति, उसमें रहने वाले लक्षण, शरीरकी सुन्दरता, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वन्दनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं ॥१–३॥

इन तीन श्लोकोंके द्वारा प्रव्रज्या के सत्ताईस सूत्र पद जानना चाहिये। इनका वर्णन उन्हीं जिनसेनाचार्य ने किया है जो इस प्रकार है—

जात्यादिका--ये जाति आदि सत्ताईस सूत्र पद परमेष्टियों के गुण कहलाते हैं। उस भव्य पुरुष को अपने जाति आदि गुणोंसे आदर न करते हुए दीक्षा धारण करना चाहिये। (ये जाति आदि गुण जिस प्रकार परमेष्ठियों में होते हैं उसी प्रकार दीक्षा लेने वाले शिष्य में भी यथा-संभव रूपसे होते हैं परन्तु शिष्यको अपने जाति आदि गुणों का सन्मान नहीं कर परमेष्ठियों के ही जाति आदि गुणोंका सन्मान करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से वह शिष्य अहंकार आदि दुर्गुणों से बचकर अपने आत्मा उत्थान शीघ्र ही कर सकता है)। स्वयं उत्तम जाति वाला होनेपर भी अहंकार-रहित होकर अरहन्त देवके चरणों की सेवा करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे वह भव्य दूसरे जन्म में उत्पन्न होनेपर दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार उत्तम जातियों को प्राप्त होता है ॥१-२॥

जातिरैन्द्री--इन्द्रके दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियों के विजयाश्रिता, अरहन्त देवके परमा और मोक्षको प्राप्त हुए जीवोंके अपने आत्मा से उत्पन्न होनेवाली स्वा जाति होती है ॥३॥

इन चारों को कल्पना मूर्ति आदि में कर लेनी चाहिये अर्थात् जिसप्रकार जातिके दिव्या आदि चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति आदिके भी समझ लेना चाहिये। परन्तु पुराणों को जानने वाले आचार्य मोह-रहित होनेसे किसी किसी जगह तीन ही भेदोंकी कल्पना करते हैं अर्थात् सिद्धोंमें स्वा मूर्ति नहीं मानते हैं ॥४॥ जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कृश करना चाहिये तथा अन्य जीवों के शरीरों की रक्षा करते हुए तपश्चरण करना चाहिये ॥५॥ इसी प्रकार अनेक लक्षण धारण करने वाला वह पुरुष अपने लक्षणों को निर्देश करनेके अयोग्य मानता हुआ जिनेन्द्र देवके लक्षणोंका चिन्तवन कर तपश्चरण करे ॥६॥ जिनको परम्परा अनिवार्य है ऐसे दिव्य आदि सौन्दर्यों की इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीर के सौन्दर्य को मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे ॥७॥ जिसका शरीर मलिन होगया है, जिसने अपने शरीरसे उत्पन्न होनेवाली प्रभाका त्याग कर दिया है और जो अरहन्त देवकी प्रभा का ध्यान करता है ऐसा साधु शीघ्रही देदीप्यमान होजाता है अर्थात् दिव्य-प्रभा आदि प्रभाओं का प्राप्त करता है, ॥८॥ जो मुनि अपने मणि और तेल के दीपक आदिका तेज छोड़कर तेजोमय जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है वह प्रभामण्डल से उज्ज्वल हो उठता है ॥९॥ जो पहले के अस्त्र, वस्त्र और शस्त्र आदिको छोड़कर अत्यन्त शान्त होता हुआ जिनेन्द्र

भगवान् की आराधना करता है वह योगिराज धर्मचक्रका अधिपति होता है ॥१०॥ जो मुनि स्नान आदिका संस्कार छोड़कर केवली जिनेन्द्र का आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिन्तवन करता है वह मेरु पर्वतके मस्तक पर उत्कृष्ट जन्माभिषेक को प्राप्त होता है ॥११॥ जो मुनि अपने इस लोक-सम्बन्धी स्वामीपनेको छोड़कर परमस्वामी श्री जिनेन्द्र देवकी सेवा करता है वह जगत् के जीवोंके द्वारा सेवनीय होता है अर्थात् जगत् के सब जीव उसकी सेवा करते हैं ॥१२॥ जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनों के भेदोंका त्याग करके दिगम्बर हो जाता है वह सिंहासन पर आरूढ होकर तीर्थको प्रसिद्ध करने वाला अर्थात् तीर्थंकर होता है ॥१३॥ जो मुनि अपने तकिया आदिका अनादर कर परिग्रह-रहित हो जाता है और केवल अपनी भुजा पर शिरका किनारा रख कर पृथिवी के ऊंचे नीचे प्रदेश पर शयन करता है वह महा-अभ्युदय को पाकर जिन होजाता है। उस समय सब लोग उसका आदर-सत्कार करते हैं और वह देवोंके द्वारा बने हुए देदीप्यमान तकिया को प्राप्त होता है ॥१४-१५॥ जो मुनि शीतल छत्र आदि अपने समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है वह स्वयं देदीप्यमान रत्नोंसे युक्त तीन छत्रोंसे सुशोभित होता है ॥१६॥ अनेक प्रकारके पङ्खाओंके त्यागसे जिसने तपश्चरण की विधिका पालन किया है ऐसा मुनि जिनेन्द्र पर्याय में चौंसठ चमरोंसे वीजित होता है अर्थात् उस पर चौंसठ चमर ढुलाये जाते हैं ॥१७॥ जो मुनि नगाडे तथा संगीत आदि की घोषणा का त्यागकर तपश्चरण करता है उसके विजयका उदय स्वर्ग के दुन्दुभियों के गंभीर शब्दोंसे घोषित किया जाता है ॥१८॥ चूंकि पहले उसने अपने उद्यान आदिके द्वारा की हुई छाया का परित्याग कर तपश्चरण किया था इसलिये ही अब उसे (अरहन्त अवस्था में) महा अशोक वृक्ष की प्राप्ति होती है ॥१९॥ जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्वभाव को प्राप्त होता है वह स्वयं आकर दूर दरवाजे पर खडी हुई निधियोंसे सेवित होता है अर्थात् समवसरण भूमि में निधियां दरवाजे पर खड़े रहकर उसकी सेवा करती हैं ॥२०॥ जिसकी रक्षा सब ओरसे की गई थी ऐसी घरकी शोभाको छोड़कर इसने तपश्चरण किया इसीलिये श्रीमण्डप की शोभा अपने आप इसके सामने आती है ॥२१॥ जो तप करनेके लिये सघन वनमें निवास करता है उसे तीनों जगत् के जीवोंके लिये स्थान दे सकनेवाली अवगाहन शक्ति प्राप्त होजाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमें तीनों लोकोंके जीव सुखसे स्थान पा सकते हैं ॥२२॥ जो क्षेत्र मकान आदिका परित्याग

करके शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है उसे तीनों जगत्के क्षेत्रको अपने अधीन रखने वाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥२३॥ जो मुनि आज्ञा देनेका अभिमान छोड़कर मौन धारण करता है उसे सुर और असुरोंके द्वारा शिर पर धारण की हुई उत्कृष्ट आज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञा सब जीव मानते हैं ॥२४॥ चूंकि इस मुनिने अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदिकी सभाका त्याग किया था इसलिये उत्कृष्ट अरहन्त पदकी प्राप्ति होनेपर वह तीनों लोकों की सभा अर्थात् समवसरण भूमिमें विराजमान होता है ॥२५॥ जो सब प्रकार की इच्छाओं का परित्याग कर अपने गुणोंकी प्रशंसा करना छोड़ देता है और महा तपश्चरण करता हुआ स्तुति तथा निन्दा में समान भाव रखता है वह तीनों लोकोंके इन्द्रोंके द्वारा प्रशंसित होता है अर्थात् सब लोग उसकी स्तुति करते हैं ॥२६॥ चूंकि इस मुनिने वन्दना करने योग्य अरहन्त देव की वन्दना कर तपश्चरण किया था इसीलिये यह वन्दना करने के योग्य पूज्य पुरुषों के द्वारा वन्दना किया जाता है तथा प्रशंसनीय उत्तम गुणोंका भण्डार हुआ है ॥२७॥ जो जूता और सवारीका परित्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है वह कमलों के मध्यमें चरण रखनेके योग्य होता है अर्थात् अरहन्त अवस्था में देवलोग उसके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं ॥२८॥ चूंकि यह मुनि वचन गुप्तिको धारण कर अथवा हित मित वचन रूप भाषा समितिका पालन कर तपश्चरण में स्थित हुआ था इसलिये ही इसे समस्त सभा को संतुष्ट करने वाली दिव्यध्वनि प्राप्त हुई है ॥२९॥ इस मुनिने पहले उपवास धारणकर अथवा नियमित आहार और पारणाएं कर तप तपा था इसलिये ही इसे दिव्य तृप्ति, विजय तृप्ति परमतृप्ति और अमृत तृप्ति ये चारों ही तृप्तियां प्राप्त हुई हैं ॥३०॥ चूंकि यह मुनि काम जनित सुखको छोड़कर चिर काल तक तपश्चरण में स्थिर रहा था इसलिये ही यह सुखस्वरूप होकर परमानन्द को प्राप्त हुआ है ॥३१॥ इस विषय में बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? संक्षेपमें इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्प-रहित होकर जिस जिस वस्तुका परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिये वही वही वस्तु उत्पन्न कर देता है ॥३२॥ जिस तपश्चरण रूपी चिन्तामणिका फल उत्कृष्ट पदकी प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अरहन्त देवकी जाति तथा मूर्ति आदिकी प्राप्ति होती है ऐसी इस पारिव्रज्य नामकी क्रिया का वर्णन किया ॥३३॥ जो आगम में कही हुई जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है उसीके वास्तविक पारिव्रज्य होता है ॥३४॥ अनेक प्रकार के वचनों के जालमें निबद्ध तथा युक्तिसे बाधित अन्य

अथेदानीं बोधप्राभृतस्य चूलिकां गाथात्रयेण निरूपयन्ति—

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥ ६० ॥

रूपस्थं शुद्ध्यर्थं जिनमार्गे जिनवरैर्यथा भणितम्।
भव्यजनबोधनार्थं षट्कायहितंकरं-उक्तम् ॥

रूवत्थं सुद्धत्थं रूपस्थं निर्ग्रन्थरूपस्थितमाचरणं मयोक्तमिति सम्बन्धः। किमर्थं भणितं, सुद्धत्थं शुद्धयर्थं कर्मक्षयनिमित्तं। *जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं* जिनमार्गे जिनशासने जिनवरैर्तीर्थंकरपरमदेवै-र्गौतमान्तगणधरदेवैश्च यथा येन प्रकारेण भणितं। *भव्वजणबोहणत्थं* आसन्नभव्यजीवसम्बोधनार्थं। *छक्कायहियंकरं उत्तं* षट्कायहितंकरं सर्वजीवदयाप्रतिपालनार्थं उक्तं निरूपितम् ॥ ६० ॥

लोगोंके पारिव्रज्य को छोडकर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्रज्य को ग्रहण करना चाहिये ॥३५॥ इस प्रकार पैंतीस श्लोकोंके द्वारा प्रव्रज्याका वर्णन किया गया है * ॥५९॥

इसतरह श्री बोधप्राभृतमें प्रव्रज्याधिकार नामका ग्यारहवां अधिकार समाप्त हुआ।

अब आगे तीन गाथाओंके द्वारा बोधप्राभृतकी चूलिकाका निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—जिनमार्ग में जिनेन्द्र देवने जिस प्रकार वर्णन किया है उसी प्रकार छह काय के जीवोंका हित करने वाला यह निर्ग्रन्थ रूपका आचरण कर्मक्षय के निमित्त मैंने भव्यजीवोंको संबोधने के लिये कहा है ॥ ६० ॥

विशेषार्थ—जिन शासनमें तीर्थंकर परमदेव अथवा गौतमान्त गणधरों ने जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार निकट–भव्य जीवोंको सम्बोधने के लिये छहकाय के जीवोंका हित करने वाला यह निर्ग्रन्थमुद्राधारी मुनिका आचरण मैंने कर्मक्षय रूप शुद्धिके प्रयोजन से कहा है ॥ ६० ॥

---

*पं० जयचन्द्रजी ने 'आयतण गुणपज्जत्ता' की छाया 'आयतनगुणपर्याप्ता' स्वीकृत की है तथा 'बहुविसुद्ध सम्मत्ते' इसे 'जिणमग्गे' का विशेषण माना है। ऐसा मान कर उन्होंने इस गाथाका अर्थ निम्न प्रकार किया है—

ऐसें पूर्वोक्त प्रकार आयतन जो दीक्षा का ठिकाना निर्ग्रन्थ मुनि ताके गुण जे ते हैं तिनकरि पज्जत्ता कहिये परिपूर्ण, बहुरि अन्य भी जे बहुत दीक्षामें चाहिये ते गुण जामें होंय ऐसी प्रव्रज्या जिनमार्ग में जैसे ख्यात कहिये प्रसिद्ध है तैसे संक्षेप करि कही, कैसा है जिनमार्ग, विशुद्ध है सम्यक्त्व जामें अतीचार रहित सम्यक्त्व जामें पाइये है, बहुरि कैसा है जिनमार्ग निर्ग्रन्थरूप है जामें बाह्य अन्तर परिग्रह नांही है। भावार्थ—ऐसी पूर्वोक्त प्रव्रज्या निर्मल सम्यक्त्व सहित निर्ग्रन्थ रूप जिनमार्ग विषैं कही है, अन्य नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, मीमांसक, पातंजलि बौद्ध आदिक मतमें नांही है, बहुरि काल दोष तैं जैनमत तैं च्युत भये अर जैनी कहावैं ऐसे श्वेताम्बर आदिक तिनिमें भी नाहीं है ॥१५९॥

सद्दवियारो हूओ भासा[1]सुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं [2]णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥

शब्दविकारो भूतः भाषासूत्रेषु यत् जिनेन कथितम् ।
तत् तथा कथितं ज्ञातं शिष्येण च भद्रबाहोः ॥

सद्दवियारो हूओ शब्दविकारो भूतोऽर्हद्ध्वनिर्गतः *भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं* सर्वार्धमागधी-भाषासूत्रेषु यज्जिनेन कथितं श्रीवीरेणार्थरूपं शास्त्रं कथितं । *सो तह कहियं णायं* तत्तथा कथितं ज्ञातमवगतं । *सीसेन य भद्दबाहुस्स* केन ज्ञातं ? शिष्येणान्तेवासिना भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्वलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशानामाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञातं ।

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं ।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥ ६२ ॥

द्वादशाङ्गविज्ञानः चतुर्दशपूर्वाङ्गविपुलविस्तरणः ।
श्रुतज्ञानिभद्रबाहुः गमकगुरुः भगवान् जयतु ॥

बारसअंगवियाणं द्वादशाङ्गविज्ञानयुक्तः । *चउदसपुव्वंगवित्थरणं* चतुर्दशानां पूर्वाङ्गानां विपुलं प्रथु विस्तरणं यस्य स चतुर्दशपूर्वाङ्गविपुलविस्तरणः । *सुयणाणिभद्दबाहू* पंचानां श्रुतकेवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहुः । *गमयगुरूभयवओ जयओ* यादृशः सूत्रेऽर्थस्तादृशो वाक्यार्थस्तं जानन्तीति गमकास्तेषां गुरुरुपाध्यायो भगवान् इन्द्रादीनामाराध्यो जयतु सर्वोत्कर्षेण वर्ततां तन्नायस्माकं नमस्कार इत्यर्थः ।

गाथार्थ—शब्द विकार रूप परिणत भाषा सूत्रों में जिनेन्द्र भगवान् ने जो [क]हा था भद्रबाहुके शिष्य ने उसे वैसा हो कहा तथा जा[न]ा है ॥ ६१ ॥

विशेषार्थ—अरहन्त भगवान् की दिव्यध्वनि से जो पदार्थ निकला था वह शब्द विकार रूप परिणत हुआ अर्थात् गणधरों ने उसकी शास्त्र रूप रचना की । भगवान् की दिव्यध्वनि सर्वार्धमागधी भाषा रूप थी । उसमें जिनेन्द्र भगवान् ने-(वर्तमान की अपेक्षा अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान् ने) जो अर्थ रूप शास्त्र जिसप्रकार कहा था उसे भद्रबाहुके शिष्यने उसी प्रकार कहा तथा जाना है । यहां भद्रबाहुके शिष्यसे विशाखाचार्य का ग्रहण है । इन विशाखाचार्य के 'अर्हद्वलि और 'गुप्ति गुप्त' ये दो नाम और भी हैं, तथा ये दश पूर्वके धारक ग्यारह आचार्योंके मध्य प्रथम आचार्य थे ॥ ६१ ॥

गाथार्थ—जो द्वादशाङ्ग के ज्ञानसे युक्त थे, जिन्होंने चौदह पूर्वोंका अत्यन्त विस्तार किया था तथा जो गमकों—व्याख्याकारोंके गुरु थे वे भगवान श्रुतज्ञानी भद्रबाहु जयवंत हों ॥६२॥

१- जुत्तेसु ग० । २--णार्ण म० ।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपंचकविराजितेन श्रीसीमन्धरस्वामिज्ञानसंबोधितभव्यजनेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता बोधप्राभृतस्य टीका परिसमाप्ता।

विशेषार्थ—इस पद्य में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने अन्तिम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुके प्रति विनय प्रगट करते हुए कहा है कि जो बारह अङ्गोंके ज्ञाता थे, चौदह पूर्वोका जिन्होंने बहुत विस्तार किया था, जो पूर्ण श्रुत ज्ञानी थे—पांच श्रुत केवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली थे, जो गमकोंके गुरु अर्थात् उपाध्याय थे और इन्द्र आदिके द्वारा आराधना के योग्य होने से भगवान् थे, वे भद्रबाहु महाराज जयवंत रहें उनके लिये हमारा नमस्कार है। शास्त्रके शब्द और उसके अनुरूप अर्थको जो जानते हैं वे गमक कहलाते हैं॥ ६२॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पांच नामोंसे विराजित, श्रीसीमन्धर स्वामीके ज्ञानसे भव्यजनोंको सबोधित करने वाले, श्रीजिनचन्द्र सूरि भट्टारक के पट्टके आभूषण, कलिकालसर्वज्ञ श्री कुन्दकुन्दके द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में समस्त मुनियों की मण्डली से सुशोभित, कलिकालके गौतमस्वामी, श्रीमल्लिभूषण भट्टारकके द्वारा अनुमत, समस्त विद्वज्जनके समूहसे सन्मानित उभयभाषा के कवियोंमें श्रेष्ठ श्रीविद्यानन्दि गुरुके शिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित बोधप्राभृत की टीका समाप्त हुई।

भाव प्राभृतम्

अथेदानीं भावप्राभृतं कुर्वन्तः श्रीकुन्दकुन्दाचार्या इष्टदेवतां नमस्कुर्वन्ति—

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे ।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥ १ ॥

नमस्कृत्वा जिनवरेन्द्रान् नरसुरभवनेन्द्रवन्दितान् सिद्धान्
वक्ष्यामि भावप्राभृतं-अवशेषान् संयतान् शिरसा ॥

णमिऊण जिणवरिंदे नमस्कृत्य, कान् ? जिनवरेन्द्रान् अप्रमत्तकृति च येन भूयैः देशैः ज...: सदृष्टयः श्रावकादय एकादशगुणस्थानवर्तिनः क्षीणकषायाश्च सयोगकेवलिनश्च जिना उच्यन्ते गणधरदेवाश्च तेषां मध्ये वराः श्रेष्ठा अयोगकेवलिनश्च तेषामिन्द्राः स्वामिनस्तीर्थंकरपरमदेवा उत्तमाः ... तान् नत्वा । कथंभूतान् जिनवरेन्द्रान्, *णर सुरभवणिदवंदिए* नरेन्द्रसुरेन्द्रभावनेन्द्रवंदितान् *सिद्धे* ताहृग्विशेषणविशिष्टान् सिद्धांश्च नत्वा *वोच्छामि भावपाहुडं* वक्ष्यामि कथयिष्यामि, किं तद्भावप्राभृतं । न केवलम् र्हत्सिद्धान् वन्दित्वाऽपि तु *अवसेसे संजदे* अवशेषान् संयतान् आचार्योपाध्यायसर्वसाधून् त्रिविधान मुनीन् नत्वा केन, *सिरसा* उत्तमांगेन जानुकूर्परशिरःपंचकेन प्रणिपत्येत्यर्थः ।

भावो य पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति ॥ २ ॥

भावश्च प्रथमलिंगं न द्रव्यलिंगं च जानीहि परमार्थम् ।
भावः कारणभूतः गुणदोषाणां जिना विदन्ति ॥

भावो य पढमलिंगं भावश्च प्रथमलिंगं दीक्षाचिन्हं भावो भवति । चकाराद्द्रव्यलिंगं धृत्वा भावलिंगं प्रगटं क्रियते यथाऽपत्योत्पादनेन पुरुषशक्तिः प्रकटीभवति तथा द्रव्यलिंगिनो मुनेर्भावलिंगं प्रकटं भवति पुरुषशक्तेर्भावस्य च लोचनानामगोचरत्वात् । उक्तं चेन्द्रनन्दिना भट्टारकेण समयभूषणप्रवचने —

अब इस समय भाव प्राभृत की रचना करते हुए श्रीकुन्दकुन्दाचार्य इष्ट देवताको नमस्कार करते हैं—

गाथार्थ—मनुष्य, देव और भवनवासियों के इन्द्रों से वन्दित तीर्थंकर परमदेव, सिद्ध परमेष्ठी तथा अन्य संयमी मुनियों को शिरसे नमस्कार कर मैं भावप्राभृतको कहूंगा ॥१॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, सम्यङ् मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ-इन सात प्रकृतियों के क्षय की अपेक्षासे अविरत सम्यग्दृष्टि, श्रावक पञ्चम गुणस्थानको आदि लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीव, क्षीणकषाय, सयोग-

द्रव्यलिंगं समास्थाय भावलिंगी भवेद्यतिः ।
विना तेन न वन्द्यः स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ॥ १ ॥
द्रव्यलिंगमिदं ज्ञेयं भावलिंगस्य कारणं ।
तदध्यात्मकृतं स्पष्टं न नेत्रविषयं यतः ॥ २ ॥
मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मान्यते ।
राजमुद्राधरोऽत्यन्तहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥ ३ ॥

ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं द्रव्यलिंगे सति भावं विना परमार्थसिद्धिर्न भवति तेन कारणेन द्रव्यलिंगं परमार्थसिद्धिकरं न भवति मोक्षं न प्रापयति, तेन कारणेन द्रव्यलिंगपूर्वकं भावलिंगं धर्तव्यमिति भावार्थः । ये तु गृहस्थवेषधारिणोऽपि वयं भावलिंगिनो वर्तामहे दीक्षायामन्तर्भावत्वात्ते मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्या विशिष्टजिनलिंगविद्वेषित्वात्, योद्धुमिच्छवः कातरवत्स्वयं नश्यन्ति, अपरानपि नाशयन्ति, ते मुख्यव्यवहारधर्मलोपकत्वाद्विशिष्टैर्दण्डनीयाः । *भावो कारणभूदो* भावः परममुक्तिकारणभूतः । *गुणदोसाणं* गुणानां केवलज्ञानादीनां, दोषाणां नरकपातादीनां च कारणभूतो भाव एव । यदि द्रव्यलिंगं धृत्वा रागद्वेषमोहादिषु पतति मुनिस्तदा स तस्य भावः संसारकारणं भवति । यदि द्रव्यलिंगं धृत्वा नीरागनिर्द्वेषनिर्मोहभावनां भावयति तदा केवलज्ञानादीनां गुणानुत्पादयति मुक्तिं गच्छति : एतदर्थं *जिणा विंति* केवलिनो जानन्ति ।

केवली और गणधर देव जिन कहलाते हैं । इनमें वर-श्रेष्ठ अपर केवली हैं, उनके इन्द्र-स्वामी तीर्थंकर परमदेव जिनवरेन्द्र कहे जाते हैं । ये जिनवरेन्द्र नरेन्द्र सुरेन्द्र और भावनेन्द्रों के द्वारा वन्दित होते हैं । जिनके समस्त कर्मोंका क्षय हो चुका है वे सिद्ध कहलाते हैं, सिद्ध भी नरेन्द्र सुरेन्द्र और भावनेन्द्रों के द्वारा वन्दित हैं इन अरहन्त और सिद्धके सिवाय आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु नामक तीन प्रकारके संयमी और हैं ! इस तरह इन पांचों परमेष्ठियों को शिरसे अर्थात् दो घुटने दो कोहनीं और शिर इन पांच अङ्गों से नमस्कार कर मैं भावप्राभृत ग्रन्थको कहूंगा । ऐसा श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने मङ्गलाचरण के साथ प्रतिज्ञा—वाक्य को प्रगट किया है ॥ १ ॥

आगे भाव—लिङ्गको प्रमुखता का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—भाव ही प्रथम लिङ्ग है, द्रव्य—लिङ्ग परमार्थ नहीं है, अथवा भावके विना द्रव्यलिङ्ग परमार्थ की सिद्धि करने वाला नहीं है, गुण और दोषोंका कारण भाव ही है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् जानते हैं ॥ २ ॥

विशेषार्थ—भाव प्रथम लिङ्ग है अर्थात् दीक्षाका प्रथम चिह्न है । 'भावो य'-'भावश्च' यहां 'च' शब्द से यह सूचित किया है कि द्रव्य—लिङ्ग धारण करके भावलिंग प्रगट किया जाता है । जिस प्रकार सन्तान की उत्पत्ति से मनुष्य की पुरुषत्व शक्ति प्रगट होती है उसी प्रकार दिव्यलिंगी मुनिके भावलिङ्ग प्रकट होता है क्योंकि मनुष्यकी पुरुषत्व शक्ति

और भाव नेत्रो के विषय नहीं हैं–आंखो से दिखाई नहीं देते हैं। जैसा कि श्रीइन्द्रनन्दो भट्टारक ने समयभूषण प्रवचन में कहा है—

द्रव्यलिङ्ग—मुनि द्रव्यलिङ्ग धारण कर भावलिङ्गी होता है क्योंकि नाना व्रतो का धारक होने पर भी मुनि द्रव्यलिङ्ग के विना वन्दनीय नहीं है-नमस्कार करनेके योग्य नहीं है॥ १॥ इस द्रव्यलिङ्गको भावलिङ्गका कारण जानना चाहिये क्योंकि भावलिङ्ग आत्मा के भीतर होनेसे स्पष्ट ही नेत्रोंका विषय नहीं है॥ २॥ सब जगत् मुद्रा मान्य होती है, मुद्रा-हीन मनुष्यकी मान्यता नहीं होती। जिस प्रकार राजमुद्रा (चपरास) को धारण करने वाला अत्यन्त हीन व्यक्ति भी लोक में मान्य होता है, उसी तरह द्रव्यलिङ्ग नग्नदिगम्बर मुद्राको धारण करने वाला साधारण पुरुष भी मान्य होता है, यह शास्त्रका निर्णय है ॥ ३ ॥

द्रव्य–लिङ्ग होनेपर भी यदि भाव–लिङ्ग नहीं है तो वह द्रव्य–लिङ्ग परमार्थ की सिद्धि करने वाला नहीं है इसलिये द्रव्य–लिङ्ग पूर्वक भाव–लिङ्ग धारण करना चाहिये। इसके विपरीत जो गृहस्थ वेषके धारक होकर भो 'हम भावलिङ्गी हैं क्योंकि दीक्षाके समय हमारे अन्तः करणमें मुनिव्रत धारण करनेका भाव था' ऐसा कहते हैं उन्हें मिथ्या-दृष्टि जानना चाहिये, क्योंकि वे विशिष्ट जिन लिङ्गके विरोधी हैं–उससे द्वेष रखनेवाले हैं। युद्ध की इच्छा करते हुए कायर की तरह स्वयं नष्ट होते हैं और दूसरों को भी नष्ट करते हैं। मुख्य व्यवहार धर्मके लोपक होनेके कारण वे विशिष्ट पुरुषों द्वारा दण्डनीय हैं। केवल ज्ञान आदि गुणोंका और नरक-पात आदि दोषोंका कारण भाव ही है। यदि कोई मुनि द्रव्यलिङ्ग–नग्नमुद्रा को धारण करके राग द्वेष मोह आदि में पड़ता है तो उसका वह भाव संसार का कारण होता है। और यदि द्रव्यलिङ्ग धारण कर मैं 'नीराग हूं'—राग रहित हूँ, 'निर्द्वेष हूं—द्वेष रहित हूं, एवं 'निर्मोह हूं—मोह रहित हूं ऐसी भावना भाता है तो वह केवल ज्ञान आदि गुणोंको उत्पन्न करता है तथा मुक्तिको प्राप्त होता है। इस अर्थको केवली–जिनेन्द्र जानते हैं ॥२॥

[यहां कुन्दकुन्द स्वामीने प्रकट किया है कि भावलिङ्ग ही प्रमुख लिङ्ग है। भाव लिङ्गके विना मात्र द्रव्य-लिङ्ग परमार्थ नहीं है। जिसके भाव लिङ्ग होता है उसके द्रव्य लिङ्ग होता ही है पर जिसके द्रव्य-लिङ्ग है उसके भावलिङ्ग होता भी है और नहीं भी होता है। जिनेन्द्र भगवान् ने मोक्ष-प्राप्ति के लिये दोनों लिङ्गों को आवश्यक बतलाया है। द्रव्य-लिङ्ग के विना मात्र भावलिङ्ग से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता और भाव–लिङ्गके

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भन्तरगंथजुत्तस्स ॥ ३ ॥

भावविशुद्धिनिमित्तं बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः ।
बाह्यत्यागो विफलः अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥

विना मात्र द्रव्य-लिङ्ग से आत्माका कल्याण नहीं हो सकता। यहां भाव-लिङ्ग पहले होता है। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि सप्तम गुणस्थानका भाव पहले होता है और वस्त्र–त्याग रूप द्रव्यलिङ्ग पीछे होता है क्योंकि ऐसा मानने से सवस्त्र अवस्था में सप्तम गुणस्थान मानना पड़ेगा, पर ऐसा मानना शास्त्र-सम्मत नहीं है। इसलिये प्रथम भावलिङ्ग होता है, इसका अर्थ यह है कि संसार की मोह-ममतामें लीन प्राणी प्रथम उससे विरक्ति का दृढ निश्चय करता है- मैं परिग्रह त्याग कर दैगम्बरी दीक्षा धारण करूं, ऐसा भाव हृदय में उत्पन्न करता है। इस भावना से प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय उत्तरोत्तर मन्दसे मन्दतर होता जाता है, उसी मन्द मन्दतर अवस्थामें वह केशलोंच तथा वस्त्र-त्याग आदिकी क्रिया करता है और उसके बाद सप्तम गुणस्थान को प्राप्त होता है। तदनन्तर सप्तम गुणस्थान से गिरकर छठवें गुणस्थान में होता है। इसका यह छठवें सातवें गुण-स्थानका क्रम हजारों बार चलता रहता है। संस्कृत टीकाकार ने जो यह लिखा है कि 'द्रव्यलिङ्ग धारण कर भाव-लिङ्ग प्रकट किया जाता है' वह इसी अभिप्राय से लिखा है कि केशलोंच तथा वस्त्र-त्याग आदिकी क्रिया पहले होती है, सप्तम गुणस्थान का भाव पीछे होता है। करणानुयोग की अपेक्षा भावों की गति का पहिचानना प्रत्येक व्यक्तिके लिये शक्य नहीं है, अत मुनि या श्रावकके आचारकी व्यवस्था चरणानुयोगके आधार पर ही शास्त्रकारों ने की है, करणानुयोग के आधार पर नहीं। इस स्थिति में जो अन्य साधु वस्त्र धारण कर गृहस्थ के वेष में रहते हुए भी यह कहते हैं कि हम भाव-लिङ्ग की अपेक्षा मुनि हैं, द्रव्य-लिङ्गकी अपेक्षा नग्न नहीं हुए तो क्या हुआ ? सो उनका वैसा कहना ठीक नहीं है वे जिन-लिङ्ग के द्वेषी हैं तथा कर्म रूपी शत्रुओं से युद्धके इच्छुक होते हुए भी कायर मनुष्यों की तरह स्वयं नष्ट होते हैं और अपने शिथिलाचार से दूसरोंको भी नष्ट करते हैं। विवेकी मनुष्य भाव-लिङ्गके अनुसार व्यवहार धर्मका अवश्य पालन करते हैं।]

भावविसुद्धिनिमित्तं भावस्यात्मनो विशुद्धिनिमित्तं कारणं । *बाहिरगंथस्स कीरए चाओ* बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः वस्त्रादेर्मोचनं विधीयते । *बाहिरचाओ विहलो* बाह्यत्यागो विफलोऽन्तर्गडुर्भवति । *अब्भंतरगंथजुत्तस्स* अभ्यन्तरपरिग्रहयुक्तस्य नग्नस्यापि वस्त्रादेराकांक्षायुक्तस्येति भावः । तथा चोक्तं—

बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति ।
यः पुनरन्तःसंगत्यागी लोके स दुर्लभः साधुः ॥ १ ॥

भावरहिओ न सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।
जम्मंतराइं बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥ ४ ॥

भावरहितो न सिद्ध्यति यद्यपि तपश्चरति कोटिकोटीः ।
जन्मान्तराणि बहुशः लम्बितहस्तो गलितवस्त्रः ॥

भावरहिओ न सिज्झइ भावरहित आत्मस्वरूपभावनारहितो विषयकषायभावनासहितस्तपस्वी अपि न सिद्ध्यति न सिद्धिं प्राप्नोति । *जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ* यद्यपि तपश्चरति करोति कोटकोटी *जम्मंतराइं* जन्मान्तराणि । बहुशोऽनेककोटीकोटीजन्मान्तराणि । कथंभूतः सन्, *लंबियहत्थो* अधोमुक्तबाहुद्वयः । *गलियवत्थो* नग्नमुद्राधरोऽपि सन् ।

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुंचेइ बाहरे य जई ।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥ ५ ॥

परिणामे अशुद्धे ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान् च यदि ।
बाह्यग्रन्थत्यागो भावविहीनस्य किं करोति ॥

गाथार्थ—भावोंकी विशुद्धि के लिये बाह्य परिग्रहका त्याग किया जाता है । जो अन्तरङ्ग परिग्रह से सहित है उसका बाह्य त्याग निष्फल है ॥३॥

विशेषार्थ—भाव—आत्माकी विशुद्धता के निमित्त वस्त्र और बाह्य परिग्रहका त्याग किया जाता है, पर जो बाह्यमें नग्न होकर भी अन्तरङ्ग-परिग्रह से युक्त है—वस्त्र आदि की आकांक्षा रखता है उसका वह बाह्य-त्याग निष्फल है । कहा भी है—

बाह्य—दरिद्र मनुष्य अपने पापके कारण बाह्य परिग्रह के त्यागी तो स्वयं हैं पर-जो अन्तरङ्ग का त्यागी है, ऐसा साधु लोकमें दुर्लभ है ॥१॥

गाथार्थ—भावरहित साधु यद्यपि कोटी कोटी जन्मतक हाथोंको नीचे लटका कर तथा वस्त्रका परित्याग कर तपश्चरण करता है तो भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है ।४।

विशेषार्थ—भाव-आत्म-स्वरूपकी भावना से रहित और विषय कषाय की भावना से सहित साधु तपस्वी होनेपर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है भले ही वह अनेक कोटी कोटी जन्म तक दोनों भुजाओंको नीचेकी ओर लटका कर तथा नग्न-मुद्राका धारी होकर तपश्चरण भी करता रहा हो ॥४॥

परिणामम्मि असुद्धे परिणामे मनोव्यापारेऽशुद्धेऽपि विषयकषायादिभिर्मलिने सति । *गंथे मुञ्चेइ बाहिरे य जई* ग्रन्थान् मुञ्चति परिग्रहान् वस्त्रादीन् त्यजति यतिर्जिनलिंगधारी मुनिः । *बाहिरगंथच्चाओ* बाह्यग्रन्थत्यागो वस्त्रादित्यजनं । *भावविहूणस्स किं कुणइ* भावविहीनस्यात्मभावनारहितस्य बहिरात्मनो जीवस्य किं करोति, न किमपि कर्मसंवरनिर्जरालक्षणं कार्यं करोतीति भावार्थः ।

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण ।
पंथिय सिवउरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥ ६ ॥

जानीहि भावं प्रथमं किं ते लिंगेन भावरहितेन ।
पथिक ! शिवपुरीपथः जिनोपदिष्टः प्रयत्नेन ॥

जाणहि भावं पढमं जानीहि भावमात्मस्वरूपभावानां प्रथमं मुख्यं । *किं ते लिंगेण भावरहिएण* किं तव लिंगेन भावरहितेन किं, न किमपि संवरनिर्जरादिलक्षणं कार्यं, अपि तु न किमपि कार्यं भवति लिंगेन वस्त्रादित्यजनलक्षणेनात्मस्वरूपभावनारहितेन । *पंथिय* हे पथिक ! मोक्षमार्गमार्गक ! *सिवउरिपंथं* मोक्षनगरीमार्गः । *जिणउवइट्ठं* जिनोपदिष्टः । प्रयत्नेन यतः कारणादिति शेषः ।

भावरहिएण सउरिस अणाइकालं अणंतसंसारे ।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरनिग्गंथरूवाइं ॥ ७ ॥

गाथार्थ—भावके अशुद्ध रहते हुए यदि कोई बाह्य परिग्रह का त्याग करता है तो उस भावविहीन मनुष्यका वाह्य परिग्रह त्याग क्या कर देगा ? अर्थात् कुछ नहीं ॥५॥

विशेषार्थ—परिणाम अर्थात् मनोव्यापार के अशुद्ध होनेपर भी विषय कषाय आदि से मलिन रहने पर भी यदि कोई जिन-लिङ्ग धारी मुनि वस्त्रादि बाह्य परिग्रहका त्याग करता है तो उसका वह बाह्य त्याग भाव-विहीन अर्थात् आत्मा की भावना से रहित बहिरात्मा जीवका क्या कर सकता है ? अर्थात् कर्मोंके संवर और निर्जरा रूप कुछ भी कार्य नहीं कर सकता है ॥५॥

गाथार्थ—भावको प्रमुख जान, भाव-रहित लिङ्ग से तुझे क्या प्रयोजन है—उससे तेरा कौनसा कार्य सिद्ध होनेवाला है ? हे पथिक ! मोक्ष नगरका मार्ग जिनेन्द्र भगवान्ने बड़े प्रयत्नसे बताया है ॥६॥

विशेषार्थ—भाव—आत्मस्वरूप की भावना को प्रमुख जानो अथवा सबसे पहले भावको पहिचानो, भाव-रहित लिङ्ग से—मात्र द्रव्य-लिङ्गसे तुझे क्या प्रयोजन है ? उससे संवर निर्जरा आदि रूप कुछ भी कार्य नहीं होता है । हे पथिक ! तू मोक्षमार्ग की खोज कर करा है । सो मोक्षपुरी का मार्ग जिनेन्द्र भगवान् ने बड़े प्रयत्न से—बतलाया है । तू उसी मार्ग पर चल ॥६॥

भावरहितेन सत्पुरुष ! अनादिकालं अनन्तसंसारे ।
गृहीतोज्झितानि बहुशः बाह्यनिर्ग्रन्थरूपाणि ।

भावरहिएण सउरिस भावरहितेन सत्पुरुष ! भावविवर्जितेनात्मरूपभावनारहितेन त्वया । *अणाइकालं अणंतसंसारे* अनादिकालमनन्तसंसारे । *गहिउज्झियाइं बहुसो* गृहीतान्युज्झितानि च बहुशोऽनेकवारान् । *बाहिरनिग्गंथरूवाइं* बहिर्निर्ग्रन्थरूपाणि आत्मरूपभावनारहितानीति भावार्थः ।

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए ।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव[1] ॥ ८ ॥

भीषणनरकगतौ तिर्यग्गतौ कुदेवमनुष्यगतौ ।
प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं भावय जिनभावनां जीव ॥

भीसणणरयगईए भीषणा भयानका या नरकगतिस्तस्यां भीषणनरकगत्यां । *तिरियगईए* तिर्यग्गत्यां *कुदेवमणुगइए* कुत्सितदेवकुत्सितमनुष्यगत्योर्विषये । *पत्तोसि तिव्वदुक्खं* प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं एकान्तेन दुःखं । *भावहि जिणभावणा जीव* यया विना त्व तीव्रं दुःखं प्राप्तश्च गतिषु तां भावय जिनभावनां जिनसम्यक्त्वभावनां हे जीव ! हे आत्मन ! बहिरात्मत्वं मिथ्यादृष्टित्व परित्यज्य सम्यग्दृष्टिर्भव त्वं, । तेन तव चतुर्गतिदुःखं विनंक्ष्यति स्तोकेन कालेनाल्पभवान्तरेण तीर्थंकरो भूत्वा मुक्तिं यास्यसि । तथा चोक्तं—

गाथार्थ—हे सत्पुरुष ! तू ने भाव-रहित होकर अनादि कालसे इस अनन्त संसार में बहुत वार बाह्य निर्ग्रन्थ मुद्रा को ग्रहण किया तथा छोड़ा है ॥७॥

विशेषार्थ—हे सत्पुरुष ! आत्मस्वरूप की भावना से रहित होकर तू ने अनादि कालसे इस अनन्त संसार में अनेकों वार बाह्य निर्ग्रन्थ मुद्रा को धारण किया तथा छोड़ा पर उससे तेरा कुछ भी कल्याण नहीं हुआ ॥७॥

गाथार्थ—हे जीव ! जिस जिन भावना के विना तू भयंकर नरक गतिमें, तिर्यञ्च गति में, कुदेवगति में और कुमानुष गति में तीव्र दुःख को प्राप्त हुआ है, अब उस जिन-भावना का चिन्तन कर ।

विशेषार्थ—भयानक नरक गति, तिर्यञ्च गति, भवनत्रिक आदि कुत्सित देवगति तथा कुत्सित मनुष्य गति में तू ने एकान्त रूप से तीव्र दुःख, जिस जिन-भावना—जिन सम्यक्त्व भावना ने विना प्राप्त किये हैं, हे जीव ! हे आत्मन् ! अब तो उस जिनभावना का चिन्तन कर अर्थात् बहिरात्मा—मिथ्यादृष्टि अवस्था का परित्याग कर, सम्यग्दृष्टि हो जा । उससे तेरे चतुर्गति के दुःख थोड़े ही समय में नष्ट हो जावेंगे और तू थोड़े ही भावों के बाद तीर्थंकर होकर मोक्षको प्राप्ति कर लेगा ॥ जैसा कहा है—

एकापि समर्थेयं—यह एक ही जिन-भक्ति, दुर्गति को दूर करने, पुण्य को पूर्ण

१—जीवा ग । जीवो घ० ।

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ १ ॥

कासौ जिनभावना ? लोकप्रसिद्धं दोधकमिदम्—

जिण पुज्जहि जिणवरु थुणहि जिणहं म खंडहि आण ।
जं जिणधम्मिसु रत्तमण ते जाणिज्जइ जाण ॥
एक्कहि फुल्लहि माटिदेइ जु सुरनररिद्धडी ।
एही करइ कुसाटिवपु भोलिम जिणवरतणी ॥

अन्यच्च—

[1]सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥ १ ॥

एवमर्थं ज्ञात्वा ये जिनपूजनस्नपनस्तवननवजीर्णचैत्यचैत्यालयोद्धारणयात्राप्रतिष्ठादिकं महापुण्यं[2] कर्मविध्वंसकं तीर्थंकरनामकर्मदायकं विशिष्टं निदानरहितं प्रभावनाङ्गं गृहस्थाः सन्तोऽपि निषेधन्ति ते पापात्मानो मिथ्यादृष्टयो नरकादिदुःखं चिरकालमनुभवन्ति अनन्तसंसारिणो भवन्तीति भावार्थः ।

करने तथा कुशल मनुष्यको मोक्ष—लक्ष्मी प्रदान करने के लिये समर्थ है ॥१॥

प्रश्न—वह जिन-भावना क्या है ?

उत्तर—इस लोक-प्रसिद्ध दोहा में जिनभावना का स्वरूप स्पष्ट है ।

जिणपुज्जहि—जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करो, जिनेन्द्र देव की स्तुति करो, जिनेन्द्र देवकी आज्ञा का खण्डन न करो । जो जिन धर्मके धारकोंमें रक्त-चित्त हैं--सह-धर्मी जनों से वात्सल्य—भाव रखते हैं वे ही ज्ञानी हैं, ऐसा जान ।

एक्कहि—जो भगवान्को एक फूल चढाता है उसे समवसरणमें अनेक फूल प्राप्त होते हैं अर्थात् वह पुष्पवृष्टि नामक प्रातिहार्य को प्राप्त होता है । वह जीव ज्यों ज्यों जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करता है त्यों त्यों उसके पाप नष्ट होते जाते हैं ।

और भी कहा है—

सुखयतु—जिस प्रकार वैषयिक सुखकी भूमि-स्वरूप स्त्री अपने पतिको सुखी करती है उसी प्रकार आत्म-जन्य सुखकी भूमि, जिनेन्द्र देवके चरण कमलों का अवलोकन करने वाली सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे सुखी करे । जिस प्रकार शुद्धशीला—पातिव्रत्य धर्मसे युक्त माता पुत्र की रक्षा करती है उसी प्रकार शुद्धशीला निरतिचार शीलव्रतों से युक्त

१—रत्नकरण्ड श्रावकाचारे समन्तभद्रस्य । २—महापुण्यं कर्म म० ।

सत्तसुनरयावासे दारुणभीसाइं असहणीयाइं ।
भुत्ताइं सुइरकालं दुक्खाइं निरंतर सहिय ॥ ९ ॥

सप्तसुनरकवासे दारुणभीष्माणि असहनीयानि ।
भुक्तानि सुचिरकालं दुःखानि निरन्तरं स्वहित ॥

सत्तसुनरयावासे सप्तानां सुनरकाणां महानरकाणां वासे निवासे सति हे जीव ! *दारुणभीसाइं* दारुणानि तीव्राणि, भीष्माणि भयानकानि । *असहणीयाइं* असहनीयानि असह्यानि सोढुमशक्यानि । *भुत्ताइं* भुक्तानि अनुभूतानि । *सुइरकालं* सुष्ठु अतीव चिरकालं दीर्घकालं एकसागरमारभ्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपर्यन्तमुत्कृष्टायुष्कं । दुःखान्यसातानि कष्टानि भुक्तानि निरन्तरमविच्छिन्नं । *सहिय* हे स्वहित ! हे आत्महित ! किं त्वया आत्मनो हितं कृतमित्याक्षेपः ।

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च ।
पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ॥ १० ॥

खननोत्तापनज्वालनव्यजनविच्छेदनानिरोधं च ।
प्राप्तोऽसि भावरहितः तिर्यग्गतौ चिरं कालम् ॥

सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करे और जिसप्रकार गुणभूषा—गु रूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुलको पवित्र करती है उसी प्रकार मूलगुण अथवा प्रशम संवेग आदि गुणोंसे युक्त सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे पवित्र करो ॥१॥

इस तरह अर्थ को जानकर जो जिन पूजन, जिनाभिषेक, जिनस्तवन, नवीन अथवा जीर्ण मूर्ति और मन्दिरों का निर्माण अथवा जीर्णोद्धार, यात्रा तथा प्रतिष्ठा आदि महान् पुण्य कर्मका और कर्मोंको नष्ट करने वाले, तीर्थंकर नाम कर्म के दायक, निदान रहित विशिष्ट प्रभावना अङ्गका गृहस्थ होते हुए भी निषेध करते है, वे पापी मिथ्यादृष्टि चिर काल तक नरकादि दुःख को भोगते हैं और अनन्त संसारी होते हैं अर्थात् अनन्त कालतक संसारमें भ्रमण करते रहते हैं ॥८॥

गाथार्थ—हे स्वहित ! हे आत्म-हित के वाञ्छक भव्य-पुरुष ! तूने सात नरकोंके निवास में अत्यन्त कठोर भयंकर असहनीय दुःख चिरकाल तक निरन्तर भोगे हैं ॥९॥

विशेषार्थ—हे जीव ! तूने सात महानरकोंके निवासमें तीव्र भयानक, असहनीय दुख दीर्घकाल तक अर्थात् उत्कृष्ट आयुकी अपेक्षा एकसागरसे लेकर तेतीस सागर तक निरन्तर—लगातार भोगे हैं । हे स्वहित ! हे आत्महितके अभिलाषी प्राणी ! तूने अपना हित क्या किया ? ॥९॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू भाव–रहित होकर तिर्यञ्च गतिमें चिरकाल तक खोदा

खणण पृथिवीकायस्त्वं यदा जातस्तदा खननं कुद्दालादिनाऽवदारणदुःखं त्वया सोढं। *उत्तावण* अप्कायस्त्वं यदाभूतस्तदाऽग्न्युपर्युत्तापनदुःखं त्वया क्षमितं। *वालण* अग्निकायिको जीवो यदा त्वं जातस्तदा ज्वालनदुःखं त्वयानुभूतं। *वेयण* वायुकायिको जीवो यदा त्वं जातस्तदा व्यजनादिनावीजनदुःखं त्वया तितिक्षितं। *विच्छेयणा* हे जीव! वनस्पतिकायिको जीवो यदा त्वं उत्पन्नस्तदा विच्छेदना कुठारादिना [१]कर्तनं दुःखं त्वया मृषितं। *णिरोहं* च शङ्खशुक्तिवृश्चिकगोमिभ्रमरमक्षिकावर्लीवर्दमहिषादिकस्त्वं समुत्पन्नस्तदा निरोधादिदुःखं त्वया भुक्तं। इति स्थावरत्रसदुःखानि अनुक्रमेण सूचितानि भवन्तीति ज्ञातव्यं। *पत्तोसि भावरहिओ* प्राप्तोऽसि भावरहितो जिनभक्तिभ्रष्ट आत्मभावनादूरीकृतश्च। *तिरियगईए चिरं कालं* तिर्यग्गतौ दीर्घं कालं असंख्यातवर्षपर्यन्तं वनस्पतिकायापेक्षयानन्तकालं चेत्यागमानुसारेण ज्ञातव्यम्।

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तोसि अणतयं कालं॥ ११॥

आगन्तुकं मानसिकं सहजं शारीरिकं च चत्वारि।
दुःखानि मनुजजन्मनि प्राप्तोसि अनन्तकं कालम्॥

आगंतुक आगन्तुकं दुःखं विद्युत्पातादिकं। मानसिकदुःखं स्त्रीकटाक्षादिताडने सति तदप्राप्तौ भवति। तथा चोक्तं—

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यफलं,
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम्।

जाना, तपाया जाना, जलाया जाना, पङ्खाका झला जाना, छेदा जाना तथा रोका जाना आदिके दुःखको प्राप्त हुआ है॥१०॥

विशेषार्थः—हे जीव! जब तू पृथिवी-कायिक हुआ तब तूने कुदाली आदिके द्वारा खोदे जानेका दुःख सहा। जब जलकायिक हुआ तब अग्निके ऊपर तपाये जानेका दुःख सहा। जब अग्निकायिक हुआ तब जलाये जानेका दुःख भोगा। जब वायुकायिक हुआ तब पङ्खा आदिके द्वारा प्रेरित होनेका दुःख सहा। जब वनस्पति कायिक जीव हुआ तब कुठार आदिके द्वारा छेदे जानेका दुःख सहन किया और जब शङ्ख, शुक्ति, विच्छू, गोभी, भ्रमर, मक्खी, बैल तथा भैंसा आदिक त्रस में उत्पन्न हुआ तब निरोध—रोका जाना आदिका दुःख तूने भोगा है। इस प्रकार जिन-भक्ति से भ्रष्ट होकर अर्थात् आत्मा की भावना से दूर रहकर तूने तिर्यञ्च गतिमें दीर्घ काल तक—असंख्यात वर्षों तक अथवा वनस्पति-कायिक की अपेक्षा अनन्त कालतक दुःख प्राप्त किये हैं॥१०॥

१—धर्षणं म०।

तत्तावत्स्मरमि स्मरस्मित-[1]सितापाङ्गै रनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ॥ १ ॥

सहजं व्याधिवेदनोत्पन्नं दुःखं । *सारीरियं* छेदनभेदनादिकं दुःखं । चकार उक्तसमुच्चयार्थस्तेन खलजनोक्तमिथ्यावचनश्रवणं यद्दुःखं भवति तत् केनापि सोढुं न शक्यते । तदुक्तं रुद्रटेन महाकविना—

शल्यमपि स्खलदन्तः सोढुं शक्येत हालाहालदिग्धं ।
धीरैर्न पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनं ॥ १ ॥

चत्तारि एतानि चत्वारि । *दुःखाइं* दुःखानि । *मणुयजम्मे* मनुजजन्मनि मनुष्यभवे । *पत्तोसि* प्राप्तोऽसि हे जीव ! त्वं प्राप्तवानसि भवसि । *अणंतयं कालं* अनन्तकं कुत्सितमनन्तं कालं समयमिति ।

गाथार्थ—आगन्तुक, मानसिक, सहज और शारीरिक इस तरह चार प्रकारके दुःख तूने मनुष्य जन्म में अनन्त काल तक प्राप्त किये हैं ॥ ११॥

विशेषार्थ—बिजली-बज्र आदिके गिरने से जो दुःख प्राप्त होता है उसे आगन्तुक दुःख कहते हैं । स्त्री के कटाक्ष आदिसे ताड़न होने तथा उसकी प्राप्ति न होनेपर जो दुःख होता है वह मानसिक दुःख है । जैसा कि कहा गया है—

संसारे—संसार में, नरकादि गतियोंके काल में स्मरण आते ही अत्यन्त उद्वेग करने वाले जो दुख आपने सेवन किये हैं वे इसी तरह रहें उनका इस समय स्मरण नहीं है किन्तु निर्धन अवस्था में स्त्रियोंके कामसे खिले सफेद कटाक्ष रूपी कामके बाणों से तुषार से जलकर मूर्छित खड़े वृक्षकी भांति जो दुःख प्राप्त किया है उसका स्मरण तो है।

बीमारी की वेदनासे जो दुःख उत्पन्न होता है वह सहज दुःख है और छेदन भेदन आदिका दुःख शारीरिक दुःख है। यहां 'चकार' शब्द उक्त समुच्चयार्थक है अर्थात् कहने से जो शेष रह गया है उसका संग्रह करने वाला है, इसलिये दुष्ट मनुष्योंके द्वारा कहे हुए मिथ्यावचन सुनने से जो दुःख होता है वह किसीके द्वारा नहीं सहा जा सकता । जैसा कि महाकवि रुद्रट ने कहा है—

शल्यमपि—धैर्यशाली मनुष्योंके द्वारा भीतर गड़ी हुई विषलिप्त शल्य भी-वाणकी अनी भी सही जा सकती है परन्तु अकारण क्रुद्ध दुष्ट मनुष्योंका मिथ्या दुर्वचन नहीं सहा जा सकता । इन आगन्तुक आदि चारों प्रकार के दुःखों को हे जीव ! तू मनुष्य भवमें अनन्त काल तक प्राप्त हुआ है । यहां नाना भवोंकी अपेक्षा अनन्त काल कहा है, एक भव की अपेक्षा नहीं । अनन्तकं शब्दमें जो 'क' प्रत्यय हुआ है वह कुत्सित अर्थमें हुआ है ॥११॥

१—सिता म० ।

सुरनिलएसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं ।
संपत्तोसि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ॥ १२ ॥

सुरनिलयेषु सुराप्सराविग्रोगकाले च मानसं तीव्रम् ।
संप्राप्तोऽसि महायशः ! दुःखं शुभभावनारहितः ॥

सुरनिलएसु स्वर्गेषु । *सुरच्छरविओयकाले* देवीवियोगावसरे *य* चकारात्त्वं देवी जाता तदा देववियोगकाले । *माणसं तिव्वं* इन्द्रविभूतिं दृष्ट्वा मानसं मनसि भवं दुःखं त्वं प्राप्तः, तद्दुःखं तीव्रमत्युत्कृष्टं, हा ! मया मनुष्यभवे प्राप्तेऽपि निर्मलं चारित्रं न पालितं अनेन तु निरतिचारं चारित्रं प्रतिपालितं तेनायं मम किल्विषादेरादेशं ददाति स तु दुरतिक्रमः कथं मया नानुष्ठीयते इत्यादि मानसं तीव्रं दुःखं हे जीव ! त्वं *संपत्तोसि* सम्यक्प्रकारेण प्राप्तोऽसि अनुभूतवानसि । *महाजस* महत् त्रैलोक्यव्यापनशीलं यशः पुण्यगुणानुकीर्तनं यस्य स भवति महायशाः तस्य सम्बोधनं क्रियते कुन्दकुन्दाचार्येण हे महायशः । *दुखं सुहभावणारहिओ* ईदृग्विधं दुःखं कस्मात्प्राप्तमित्याह—सुहभावणारहिओ- शुभस्य विशिष्टपुण्यस्य भावनारहितः । कासौ शुभभावना ? दर्शनविशुद्धयादयः षोडशभावनाः शुभास्तीर्थकरनामकर्मोपार्जनहेतुत्वात् । अतिशयेन शुभाऽत्र जिनसम्यक्त्वभावना, मिथ्यात्वभावना त्वतीव पापीयसी । तथा चोक्तं समन्तभद्रेण महाकविना—

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ १ ॥

सम्यक्त्वभावनया एकयापि तीर्थंकरनामकर्म बद्धयते पंचदशापरभावना विनापि । तस्य सम्यक्त्वस्य शुद्धता चर्मजलघृततैलहिंगुवर्जनेन भवति । अन्यं राप्युपासकाध्ययनादिशास्त्रेणोक्तेनाचारेण विस्तरेण ज्ञातव्या । तथा चोक्तं शिवकोटिनाचार्येण—

चर्मपात्रगतं तोयं घृतं तैलं प्रवर्जयेत् ।
[1]नवनीतंप्रसूनादिशाकं नाद्यात्कदाचन ॥ १ ॥

गाथार्थ—हे महायशके धारक जीव ! तूने शुभ-भावनासे रहित होकर स्वर्गोंमें देव अथवा देवाङ्गनाओंके वियोगके समय अथवा अन्य कालमें तीव्र मानसिक दु.ख प्राप्त किया है ॥ १२ ॥

विशेषार्थ—स्वर्गोंमें यदि देव हुआ तो देवीके वियोगके समय और देवी हुआ तो देवके वियोगके समय हे जीव ! तूने तीव्र मानसिक दुःख प्राप्त किया है । इसी प्रकार यदि तू सामान्य देव हुआ तो इन्द्रकी विभूति देखकर तूने तीव्र मानसिक दुःख प्राप्त कियाहै । उस समय तू विचार करता है कि हाय मनुष्य भव प्राप्त होनेपर भी मैंने निर्मल चारित्र,

१—नवनीत प्रसूनादि म० ।

कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य।
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥ १३ ॥

कान्दर्पीत्यादयः पंच अपि अशुभादिभावनाश्च।
भावयित्वा द्रव्यलिङ्गी प्रहीणदेवः दिवि जातः ॥

का पालन नहीं किया था और इस इन्द्रने निर्मल चारित्रका पालन किया इसी लिये यह इस समय मुझे किल्विष आदि हीन देवोंका आदेश दे रहा है। इसका यह आदेश अनुल्लङ्घनीय है, मैं इसका किस तरह पालन करूं इत्यादि तीव्र मानसिक दुःखको हे जीव ! तूने अच्छी तरह प्राप्त किया है-भोगा है। यहां श्रीकुन्दकुन्दाचार्य इस जीवको 'महायश' पदसे सम्बोधन करते हुए उसके स्वरूप की स्मृति दिलाते हैं—हे जीव ! तू तो महायश का धारक है, तेरा यश तीनलोकमें फैलने की क्षमता रखता है, तू तीर्थंकर हो सकता है और तब तेरे पुण्यगुणोंका वर्णन तीनों लोकों में व्याप्त होसकता है, फिर शुभ भावना को छोड़कर कहां भटक रहा है ? यह सब दुःख तू शुभ भावनासे रहित होकर ही उठा रहा है। शुभका अर्थ विशिष्ट पुण्य है, तू उसकी भावनासे रहित हो रहा है। यह अर्थ 'शुभस्य भावना' इस षष्ठी तत्पुरुष समासको दृष्टिमें रखकर किया गया है। दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाएं शुभ भावनाएं हैं कि वे शुभ—तीर्थंकर नामकर्म के बन्धकी कारण हैं। इन सब भावनाओं में जिन सम्यक्त्व भावना—दर्शन-विशुद्धि भावना अत्यन्त शुभ है और मिथ्यात्व भावना अत्यन्त पाप रूप है—अशुभ है। जैसा कि महाकवि समन्तभद्र ने कहा है—

न सम्यक्त्व—तीनों काल और तीनों लोकोंमें जीवोंका सम्यक्त्वके समान कल्याण कारक और मिथ्यात्वके समान अकल्याण-कारक दूसरा नहीं है।

शेष पन्द्रह भावनाओंके न होनेपर भी एक सम्यक्त्व भावनासे ही तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध होजाता है। उस सम्यक्त्वकी शुद्धता चमड़ेके पात्रमें रखे हुए जल, घी, तेल, तथा हींगके छोड़नेसे होती है, साथ ही उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोंमें कहेगये अन्य विस्तृत आचारसे भी होती है ऐसा जानना चाहिये। जैसा कि शिवकोटि आचार्यने कहा है—

चर्मपात्र—चमड़ेके पात्रमें रखा हुआ पानी, घृत, तथा तैलका त्याग करना चाहिये। नवनीत तथा फूल आदि का शाक कभी नहीं खाना चाहिये ॥ १-१२ ॥

गाथार्थ—कान्दर्पी आदि पांचों अशुभ भावनाओंका चिन्तवन कर तू द्रव्यलिङ्गी रहा और मरकर स्वर्गमें अत्यन्त हीन देव हुआ ॥१३॥

कंदप्पमाइयाओ कान्दर्पी इत्येवमादिका: । *पंच वि असुहादिभावणाई य* पंचापि अशुभशब्दादयो भावनाश्च कान्दर्पीप्रभृतयः पंचाशुभभावना इत्यर्थः *भाऊण दव्वलिंगी* तास्त्वं भावयित्वा द्रव्यलिंगः सन् । *पहीणदेवो दिवे जाओ* प्रहीणदेवो–हीनदेवः प्रकर्षेण नीचदेवः किल्विषादको देवः दिवे–स्वर्गे हे जीव ! त्वं जात उत्पन्नः । कास्ताः पंचाशुभभावना इत्याह–कान्दर्पी, कैल्विपी, आसुरी, सांमोही, आभियोगिकी चेति एतासां नामानुसारेणार्थश्चिन्तनीयः । उक्तं च शुभचन्द्रेण योगिना—

कान्दर्पी कैल्विषी चैव भावना चाभियोगिकी ।
दानवी चापि साम्मोही [1]त्याज्या पंचतयी च सा ॥ १ ॥

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥ १४ ॥

पार्श्वस्थभावना अनादिकालं अनेकवारान् ।
भावयित्वा दुःखं प्राप्तः कुभावनाभावबीजैः ॥

विशेषार्थ—कान्दर्पी आदि पांच अशुभ भावनाएं हैं इनका चिन्तवन करके हे जीव ! तू द्रव्य–लिङ्गी रहा तथा अन्तमें मरकर स्वर्गमें किल्विषक आदि जातिका अत्यन्त नीच देव हुआ ।

प्रश्न—वे पांच अशुभ भावनाएं कौन हैं ?

उत्तर—१ कान्दर्पी, २ कैल्विषी, ३ आसुरी, ४ सांमोही और ५ आभि-योगिको । इनका अर्थ नामके अनुसार चिन्तन करना चाहिये । शुभचन्द्र मुनिने भी कहा है—

कान्दर्पी—कान्दर्पी, कैल्विषी, आभियोगिकी, दानवी और साम्मोही ये पांच प्रकार की भावनाएं छोड़ने योग्य हैं ॥१-१३॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू अनादि कालसे अनेक वार पार्श्वस्थ भावनाओंका चिन्तन कर खोटी भावनाओंके भावरूप बीजोंके द्वारा दुःखको प्राप्त हुआ है ॥१४॥

विशेषार्थ—हे जीव ! तूने अनादिकालसे अनन्तोंवार पार्श्वस्थ भावनाओंकी भावना करके कुभावनाओं–खोटी भावनाओंके परिणामरूपी बीजोंके द्वारा दुःख प्राप्त किया है ।

प्रश्न—वे पार्श्वस्थ आदि पांच भावनाएं कौन हैं ?

उत्तर—जो मुनि वसतिकाओं में नियम-बद्ध निवास करता है तथा यन्त्र मन्त्र आदि उपकरणों से उपजीविका–आहारादि प्राप्त करता हुआ साधुओंके पार्श्व–समीपमें स्थित रहता है, वह पार्श्वस्थ है । क्रोध आदि कषायोंसे जिसकी आत्मा कलुषित है, जो व्रत

१–तासां पञ्चतयी च ज्ञा० क० ख० ग० घ० ।

पासत्थभावणाओ पार्श्वस्थभावना: । अणाइकालं अणेयवाराओ अनादिकालमादिरहितकालपर्यन्तं अनेकवाराननन्तवारान् । भाऊण दुहं पत्तो भावयित्वा दुःखं हे जीव ! त्वं प्राप्तवान् । कुभावणाभावबीएहिं कुभावनानां भावाः परिणामास्त एव बीजान्यंकुरोत्पत्तिहेतवस्तैः कुभावनाभावबीजैः । कास्ताः पार्श्वस्थपचभावनाः ? यो वसतिषु प्रतिबद्ध उपकरणोपजीवी श्रवणानां पार्श्वे तिष्ठति स पार्श्वस्थः । क्रोधादिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैः परिहीनः संघस्याविनयकारी कुशील उच्यते । वैद्यकमंत्रज्योतिषोपजीवी राजादिसेवकः संसक्तः कथ्यते । जिनवचनानभिज्ञो मुक्तचारित्रभारो ज्ञानचरणभ्रष्टः करणालसोऽवसन्न आभाष्यते । त्यक्तगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्रः परिलप्यते स्वछन्द इति वा, एते पंचश्रवणा जिनधर्मबाह्या न वन्दनीयाः । तेषां कार्यवशात् [1]किमपि न देयं जिनधर्मोपकारार्थमिति ।

देवाण गुणविहूई इड्ढी माहप्प बहुविहं दट्ठुं ।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहुमाणसं दुक्खं ।। १५ ।।

देवानां गुणविभूति ऋद्धिं माहात्म्यं बहुविधं दृष्ट्वा ।
भूत्वा हीनदेवः प्राप्तो बहुमानसं दुःखम् ।।

गुण और शीलसे रहित है तथा मुनिसंघकी अविनय करता है—अहंकार-वश उद्दण्ड आचरण करता है, वह कुशील कहलाता है । जो वैद्यक मन्त्र और ज्योतिष द्वारा उपजीविका करता है तथा राजा आदिकी सेवा करता है—अधिकतर उनके संपर्कमें रहता है वह संसक्त कहलाता है । जो जिन-वचन—जैन शास्त्रों से अनभिज्ञ है, चारित्रका भार छोड़ करके जो ज्ञान और चारित्रसे भ्रष्ट हो चुका है तथा क्रियाओंके करनेमें आलसी रहता है वह अवसन्न कहा जाता है और जो गुरुकुलको छोड़कर अकेला विहार करता है तथा जिनेन्द्र देवके वचनों में दोष लगाता है वह मृगचारित्र अथवा स्वच्छन्द कहलाता है । ये पांच प्रकारके मुनि जिनधर्म से बाह्य हैं, अतः वन्दना करनेके योग्य नहीं हैं । जिनधर्मके उपकारके लिये इन्हें कार्यवश कुछ भी नहीं देना चाहिये क्योंकि भ्रष्ट मुनियोंको आहार आदि देने तथा उनकी भक्ति वन्दना आदि करनेसे जिनधमका अपवाद होता है । इन पांच प्रकारके मुनियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली पार्श्वस्थ आदि पांच भावनाएं हैं । इस जीवने अनादि कालसे अनन्तों वार इनकी भावना की है तथा उसके फलस्वरूप बहुत दुःख प्राप्त किया है ।।१४।।

गाथार्थ—हे जीव ! तूने हीन देव होकर दूसरे देवोंकी गुण विभूति, ऋद्धि तथा बहुत प्रकारका माहात्म्य देखकर बहुत मानसिक दुख प्राप्त किया है ।।१५।।

१—किमपि देयं म० घ० ।

देवाण गुणविहूई देवानां गुणान्—

अणिमा महिमा लघिमा गरिमान्तर्द्धानकामरूपित्वं ।
प्राप्तिकाम्यवशित्वेशित्वाप्रतिहततत्वमिति वैक्रियिकाः ॥ १ ॥

इत्यार्योक्तलक्षणान् गुणान् दृष्ट्वा । इड्ढी ऋद्धि इंद्राणीप्रमुखपरिवारं । उक्तं च—

शची पद्मा शिवा श्यामा कालिन्दी सुलसाञ्जुका ।
भान्वाख्या दक्षिणेन्द्राणां विश्वेषामपि कीर्तिताः ॥ १ ॥
उदीचां श्रीमती रामा सुसीमा च प्रभावती ।
जयसेना सुषेणा च सुमित्रा च वसुंधरा ॥ २ ॥
षोडशाद्ये सहस्राणि विक्रियोत्थाः पृथक्च ताः ।
द्विगुणा द्विगुणास्तस्मात्परत्र समभात्मना ॥ ३ ॥
१६०००–३२०००–६४०००–१२८०००
२५६०००–५१२०००–१०२४००० ।
क्रमाद्द्वात्रिंशदष्ट द्वे सहस्राः पंचशत्यथ ।
अर्धार्धाश्च त्रिषष्टिश्च सप्तस्थानेषु वल्लभाः ॥ ४ ॥

विशेषार्थ—देवोंमें अनेक गुण होते हैं जैसे—

अणिमा—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, अन्तर्धान, कामरूपित्व, प्राप्तिकाम्य, वशित्व, ईशित्व और अप्रतिहतत्व ये देवोंके विक्रिया जन्य गुण हैं। इनके सिवाय देवों का जो इन्द्राणी आदिका प्रमुख परिवार है वह सब ऋद्धि कहलाता है। जैसा कि कहा गया है।

शची—स्वर्गोंके इन्द्र दक्षिणेन्द्र तथा उत्तरेन्द्रके भेदोंमें विभासित हैं। दक्षिणेन्द्रों की प्रमुख देवियां इस प्रकार हैं—

शची पद्मा—शची, पद्मा, शिवा, श्यामा, कालिन्दी, सुलसा, अञ्जुका, और भानु।

उत्तरेन्द्रोंकी प्रमुख देवाङ्गनाएं इस प्रकार हैं—

श्रीउदीचां—श्रीमती, रामा, सुषीमा, प्रभावती, जयसेना, सुषेणा, सुमित्रा और वसुन्धरा।

षोडशाद्ये—प्रथम स्वर्ग में सोलहहजार देवियोंका परिवार है। विक्रियासे अनेक रूप बनाने वाली देवाङ्गनाएं इनसे पृथक् हैं। आगे आगे के स्वर्गोंमें इनकी संख्या क्रमसे दूनी दूनी होती जाती है, जो इस प्रकार है १६०००, ३२०००, ६४०००, १२८०००, २५६०००, ५१२०००, क्रमाद् नीचे लिखे सात स्थानों में इन्द्रोंकी क्रमसे बत्तीसहजार,

सप्तस्थानानि कानि ? सौधर्मैशानौ १, सानत्कुमारमाहेन्द्रौ २, ब्रह्मब्रह्मोत्तरौ ३, लान्तवकापिष्ठौ, ४, शुक्रमहाशुक्रौ ५, शतारसहस्रारौ ६, आनतप्राणतारणाच्युताश्चत्वारः स्वर्गा एकं स्थानमिति सप्तस्थानानि, इत्यादि देव्यादि ऋद्धिं दृष्ट्वा । *माहप्पं बहुविहं दट्ठुं* इन्द्रवाचा दीर्घायुरपि म्रियते अल्पायुषोऽप्यायुर्न त्रुट्यते इत्यादि माहात्म्यं बहुविधं दृष्ट्वा । *होऊण हीणदेवो* हीनदेवो भूत्वा । *पत्तो बहुमानसं दुःखं* प्राप्तोऽसि बहुतरं प्रचुरं मनसि भवं मानसं दुःख हे जीव ! त्वमिति कारणात् जिनभक्तिं कुर्विति भावार्थः ।

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो ।
होऊण कुदेवत्तं पत्तोसि अणेयवाराओ ॥ १६ ॥

चतुर्विधविकथासक्तः मदमत्तः अशुभभावप्रकटार्थः ।
भूत्वा कुदेवत्वं प्राप्तोऽसि अनेकवारान् ॥

चउविहविकहासत्तो चतुर्विधविकथासक्तः आहारकथा-स्त्रीकथा-राजकथा-चौरकथालक्षणासु विकथासु चतुर्विधास्वासक्तः । *मयमत्तो* अष्टमदैर्मत्तो गर्वितः । *असुहभावपयडत्थो* अशुभभावः पापपरिणामः प्रकटः स्फुटीभूतोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स अशुभभावप्रकटार्थः । *होऊण कुदेवत्तं* अशुभभावप्रकटार्थो भूत्वा कुदेवत्तं कुत्सितदेवत्वं । *पत्तोसि* प्राप्तोऽसि । हे जीव ! असुरादिकुदेवगतीरनेकवारान् प्राप्तोऽसि ।

[1]असुईवीहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि ।
वसिओसि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ॥ १७ ॥

अशुचिबीभत्सासु कलिमलबहुलासु गर्भवसतिषु ।
उषितोसि चिरं कालं अनेकजननीनां मुनिप्रवर ॥

आठहजार, दोहजार, पांचसौ, ढाईसौ, सवासौ, और तिरेशठ, वल्लभिकाएं यानी-अत्यन्त प्रिय देवाङ्गनाएं होती हैं। सप्त स्थान इस प्रकार हैं—

१ सौधर्मैशान, २ सानत्कुमार माहेन्द्र, ३ ब्रह्मब्रह्मोत्तर, ४ लान्तव कापिष्ठ, ५ शुक्रमहाशुक्र, ६ शतारसहस्रार, और ७ आनत प्राणत आरण अच्युत इन चार स्वर्गोंका एक स्थान।

देवोंका माहात्म्य भी नाना प्रकारका होता है जैसे इन्द्रके कहनेसे दीर्घायु मनुष्य भी मर जाता है और अल्प आयु वालेकी भी आयु जल्दी समाप्त नहीं होती। हे जीव ! अन्य हीन देव होकर देवोंकी गुण रूप विभूति, ऋद्धि तथा बहुत प्रकारका माहात्म्य देख कर तूने बहुत मानसिक दुःख प्राप्त किया है इसलिये अब तू जिन-भक्ति कर, जिससे हीन देवकी अवस्था पुनः प्राप्त न हो ॥१५॥

गाथार्थ—हे जीव ! चार विकथाओं में आसक्त होकर, मदसे मत्त होकर, तथा अशुभ भावको ही प्रयोजन बनाकर तू अनेक वार कुदेव—नीच देवकी पर्यायको प्राप्त हुआ है।

१—मुद्रति म० ।

असुईवीहत्थेहि य अशुचिषु अपवित्रासु बीभत्सासु, च विरूपकासु । *कलिमलबहुलाहि* पापबहुलासु । *गब्भवसहीहि* गर्भगृहेषु उदरवसतिषु । *वसिओसि चिरं कालं* उषितोऽसि स्थितोऽसि चिरं दीर्घकालमनन्तकालमनादिकालं । *अणेयजणणीण मुणिपवर* गर्भवसतिषु अनेका अनन्ता जनन्यो जाताः, हे मुनिप्रवर ! हे मुनीनामुत्तम ।

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं ।
अण्णण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥ १८ ॥

पीतोऽसि स्तनक्षीरं अनन्तजन्मान्तराणि जननीनाम् ।
अन्यासामन्यासां महायशः ! सागरसलिलादधिकतरम् ॥

पीओसि थणच्छीरं पीतोऽसि पीतवान् धयितवानसि स्तनक्षीरं अपवित्रं वक्षोरुहक्षीरं स्तनदुग्धं । *अणंतजम्मंतराइं* अनन्तजन्मान्तराणि अनन्तभवान्तरेषु । *जणणीणं* जननीनां अनन्तमातृणां । *अण्णण्णाण* अन्यासामन्यासां *महाजस* महत् त्रैलोक्यव्यापकं यशो यस्य भवति महायशास्तस्य सम्बोधनं क्रियते हे महायशः । *सायरसलिलादु अहिययरं* सागरसलिलादप्यधिकतरं अतिशयेनाधिकतरमनन्तसागरजलसमानं ।

विशेषार्थ—हे जीव ! तू आहार कथा, स्त्रीकथा, राज-कथा और चोर-कथा इन चार प्रकारकी विकथाओं में आसक्त रहा है । ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ पदार्थोंके मदसे सदा मत्त रहा है । तथा पाप-रूपी परिणामको ही तूने अपना प्रयोजन बनाया है इसकारण तू कुदेव—असुर आदि नीच देवोंकी गतिको अनेक वार प्राप्त हुआ है ॥१६॥

हे मुनिप्रवर ! तूने अनेक माताओंकी अपवित्र घृणित, और पाप रूप मलसे परिपूर्ण गर्भ वसतिकाओं में चिरकाल तक निवास किया है ॥१७॥

विशेषार्थ—यहां आचार्यने मुनियोंको उपदेश देते हुए उन्हें 'मुनिप्रवर' इस सम्बोधनसे सम्बोधित किया है जिसका अर्थ होता है । हे मुनियों में उत्तम । वे कहते हैं कि मुनिप्रवर ! तुम्हारा यह मुनि पद तो कर्मक्षयका कारण था पर मात्र द्रव्यलिङ्ग धारण करके तुम संसारमें ही भटकते रहे । पहले विकार आदि में आसक्त होकर हीन देव-पर्यायको प्राप्त किया तदनन्तर वहां से च्युत होकर मानुषी के अपवित्र एवं घृणित गर्भवास में तुमने निवास किया है, वह भी एकाध वार नही किन्तु अनेक वार । अनादि कालसे यही करते आ रहे हो । इस बीचमें तुम्हारी अनेक माताएं हो चुकी हैं ॥१७॥

गाथार्थ—हे महायश के धारक मुनि ! तूने अनन्त जन्मोंमें अन्य २ माताओंके स्तनका इतना दूध पिया है जो समुद्रके जलसे भी अत्यन्त अधिक है—अनन्तगुणित है ।१८।

विशेषार्थ—हे महायश ! हे त्रैलोक्य-व्यापक यशके धारक मुनि ! तूने द्रव्यलिङ्ग

तुह मरणे दुक्खेणं अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं ।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं ॥ १९ ॥

तव मरणे दुःखेन अन्यासामन्यासां अनेकजननीनाम् ।
रुदितानां नयननीरं सागरसलिलात् अधिकतरम् ॥

तुह मरणे दुक्खेणं तव मरणे सति दुःखेन कृत्वा "ङसा दि दे इ ए तु त उय उब्भ तुब्भ तम्ह तुमाइ तुमो तुमे तुव तुहं तइ तुहाः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण तव शब्दस्य तुह इत्यादेशः । *अण्णण्णाणं* अन्यासामन्यासां मानुषीसिंहीव्याघ्रीमार्जारीमृगीगोगवरीबडवाकरेणुप्रभृतीनां । *अणेयजणणीणं* अनेकजननीनां प्रत्येकमनन्तमातॄणां । *रुण्णाण* रुदितानां । *णयणणीरं* लोचनबाष्पजलं । *सायरसलिलादु अहिययरं* सागरसलिलादधिकतरं प्रत्येकं समुद्रतोयस्त्यधिकतरमनन्तसागरसलिलपरिमाणं भवति ।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी
पुंजेइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥२०॥

धारण करके, मनुष्यके अनन्त जन्म धारण किये और उनमें अन्य अन्य माताओंके अपवित्र स्तन के दूधको इतना अधिक पिया कि वह समुद्र के जलसे भी अतिशय अधिक है अर्थात् अनन्त समुद्रों के जलके समान है ॥१८॥

गाथार्थ—हे जीव ! तेरा मरण होनेपर दुःख से रोती हुई अन्य अन्य अनेक माताओं का अश्रुजल समुद्रके जलसे अत्यन्त अधिक है ॥१९॥

विशेषार्थ—हे जीव ! तू ने द्रव्य लिङ्गके कारण नानायोनियों में भ्रमण करके मानुषी, सिंही, व्याघ्री, मार्जारी, मृगी, गौ, भैंस, घोड़ी, तथा हस्तिनी आदिको माता बनाया है तथा अपना मरण होनेपर दुःखसे इन अनन्त माताओंको इतना रुलाया है कि उनके आंसू समुद्रके जलसे भी बहुत अधिक हैं अर्थात् अनन्त समुद्रोंके जलके बराबर हैं । गाथा में संस्कृत 'तव' शब्दके स्थानमें 'ङसादि दे'—आदि प्राकृत व्याकरणके सूत्रसे 'तुह' आदेश होगया है ॥१९॥

गाथार्थ—हे जीव ! तूने अनन्त संसार सागर में जिन केश, नख, नाभिनाल और हड्डियोंको कटने के पश्चात् छोड़ा है यदि कोई यक्ष उन्हें इकट्ठा करे तो उनकी राशि पर्वत से भी अधिक होजाय ॥२०॥

विशेषार्थ—हे जीव ! इस अनन्त संसार सागर में मज्जनोन्मज्जन करते हुए तूने इतने अधिक जन्म धारण किये हैं और उनमें केश, नख, नाभिका नाल तथा हड्डियोंको इतना अधिक क्षुरा, नख-भञ्जिका तथा क्षुरी आदिसे काट काट कर छोड़ा है-जहां तहां फेंका है यदि इन्द्रकी आज्ञासे आया हुआ कोई देव उन्हें इकट्ठा करे तो केश आदिकी वह राशि सुमेरु पर्वतसे भी अधिक अर्थात् अनन्त सुमेरु पर्वतोंके बराबर हो सकती है ॥२०॥

भवसागरे अनन्ते छिन्नोज्झितकेशनखरनालास्थीनि ।
पुञ्जयति यदि कश्चित् देवो भवति च गिरिसमधिका राशिः ॥ २० ॥

भावसायरे अणंते भावसागरेऽनन्ते संसारसमुद्रेऽन्तरहिते । *छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी* छिन्नानि उज्झितानि मुक्तानि क्षुरेण नखलुना छुरिकया पूर्वं छिन्नानि पश्चादुज्झितानि केशनखरनालास्थीनि । *पुंजेइ जइ को वि जए* पुंजयति राशीकरोति यदि चेत् कोऽपि शक्रसन्तानागतः कश्चिद्देवः । *हवदि य गिरिसमधिया रासी* भवति च गिरेर्मेरोरपि समधिका राशिः केशादीनां प्रत्येकमनन्तमेरुसमा राशयो भवन्तीति भावार्थः ।

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरिकुरुवणाइं सव्वत्तो ।
वसिओसि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥२१ ॥

जलस्थलशिखिपवनांबरगिरिसरिद्दरीकुरुवनादिषु सर्वत्र ।
उषितोसि चिरं कालं त्रिभुवनमध्येऽनात्मवशः ॥

हे जीव ! हे चेतनानाथ ! त्वं *जल* उदके उषितोऽषि निवासं चकर्थ । *थल* थले भूम्यां । *सिहि* शिखिनि हुताशने । *पवण* पवने झंझामारुतादौ । *अंबर* अम्बरे विहायसि । *गिरि* पर्वते । *सरि* सरिति नद्यां *दरि* दर्यां गुहायां । *कुरुवणाइं* देवकुरूत्तरकुरूत्तमभोगभूमिकल्पवृक्षवने । आदिशब्दाद् भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतादयो लभ्यन्ते । *सव्वत्तो* किं बहुना सर्वतः सर्वत्र । *वसिओसि चिरं कालं* उषितोऽसि चिरं दीर्घमनन्तं कालमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालसमयपर्यन्तं । *तिहुवणमज्झे अणप्पवसो* त्रिभुवनमध्येऽनात्मवशः निजशुद्धबुद्धैकस्वभावचिच्चमत्कारलक्षणटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावात्मभावनाजिनस्वामिसम्यक्त्वभावनाभ्रष्ट इत्यर्थः ।

गाथार्थ—हे जीव ! तूने अनात्म–वश होकर–आत्मस्वभावसे भिन्न वस्तुओंके वशीभूत होकर तीनों लोकोंके मध्य जल, स्थल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, गुफा, तथा देवकुरु उत्तरकुरु आदि स्थानोंमें सब जगह चिरकाल तक निवास किया है ।

विशेषार्थ—हे चेतनानाथ ! तूने अनात्मवश होकर–निज शुद्ध बुद्ध रूप एक स्वभाव से युक्त चैतन्यचमत्कार मात्र टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव वाले आत्म–तत्वकी भावना अथवा जिनेन्द्र देवके द्वारा प्रतिप्रादित सम्यक्त्वको भावना से भ्रष्ट होकर जलमें, स्थलमें, अग्निमें, वायुमें. आकाशमें, पर्वतमें, नदीमें, गुफामें, देव कुरु उत्तर कुरु नामक उत्तम भोगभूमि-सम्बन्धी कल्पवृक्षोंके वनमें तथा आदि शब्दसे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत आदि क्षेत्रोंमें अधिक क्या कहें तीनों लोकोंमें सर्वत्र चिरकाल तक–अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके कालपर्यन्त निवास किया है ॥२१॥

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं ।
पत्तोसि तो ण तित्तिं पुणरूवं ताइं भुंजंतो ॥ २२ ॥

ग्रसिताः पुद्गला भुवनोदरवर्तिनः सर्वे ।
प्राप्तोसि तन्न तृप्तिं पुनारूपं तान् भुंजानः ॥

गसियाइं पुग्गलाइं ग्रसिताः पुद्गलाः सर्वेऽप्यणवः । *भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं* भुवनोदरवर्तिनः सर्वेऽपि । *पत्तोसि तो ण तित्तिं* प्राप्तोऽसि तदपि न तृप्तिं धृतिं । *पुणरूवं ताइं भुंजंतो* पुनारूपं पुनर्नवमिति तान् पुद्गलान् भुंजानः । उक्तं च पूज्यपादेन गणिना—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे ।
तो वि ण तिण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥ २३ ॥

त्रिभुवनसलिलं सकलं पीतं तृष्णया पीडितेन त्वया ।
तदपि न तृष्णाछेदो जातः चिन्तय भवमथनम् ॥

गाथार्थ—हे जीव ! तूने संसारके मध्य वर्तमान समस्त पुद्गलोंको यद्यपि ग्रसा है—खाया है तथापि तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ । अब उन्हें नया समझ कर फिरसे खा रहा है ॥ २२ ॥

विशेषार्थ—हे प्राणिन् ! तीन लोकके अन्दर अनन्तानन्त परमाणु व्याप्त हैं तूने उन सब परमाणुओंको यद्यपि ग्रहण किया है तथापि तू संतोषको प्राप्त नहीं हुआ । अब पुनः उन्हीं गृहीतोज्झित पुद्गल परमाणुओं को नवीन समझ कर ग्रहण कर रहा है । पूज्यपाद आचार्य ने कहा भी है—

भुक्तोज्झिता—मैंने मोहके कारण सभी पुद्गलोंको भोगकर छोड़ा है सो अब जूंठे की तरह स्थित उन पुद्गलोंमें मुझ ज्ञानीकी क्या इच्छा होसकती है ? अर्थात् कुछ नहीं ।

गाथार्थ—हे जीव ! तूने प्यासके पीडित होकर तीन लोकका समस्त पानी पी डाला तो भी प्यास का नाश नहीं हुआ अतः संसार को नष्ट करने वाले रत्नत्रय का चिन्तवन कर ॥२३॥

विशेषार्थ—हे आत्मन् ! तूने स्वरूप से भ्रष्ट होकर अनन्त भव धारण किये हैं और उन भवोंमें तृष्णा—प्यास से पीडित होकर यद्यपि तूने तीन लोकका समस्त पानी पिया है तो भी तेरी तृष्णा—प्यासका नाश नहीं हुआ । यहां श्लेषसे तृष्णाका दूसरा अर्थ अप्राप्त वस्तु की इच्छा भी है सो उस तृष्णासे पीडित होकर तूने तीनलोककी समस्त

तिहुयणसलिलं सयलं त्रिभुवनसलिलं सकलं । *पीयं* पीतं त्वया । *तिरहाए* तृष्णया । *पीडिएण* पीडितेनावगाढेन ! *तुमे* त्वया भवता । "तुमइ तुमाइ तुमे तुमए तुमं तु इ तु ए ते दि दे मे टया" इति व्याकरणसूत्रेण टावचनेन सह युष्मदः तुमे आदेशः । *तो वि* तदपि । *ण* नैव । *तिरहाछेओ* तृष्णाच्छेदः । *जाओ* जातः । *चिंतेह भवमहणं* हे जीव ! त्वं चिन्तय अन्वेषस्व भवस्य संसारस्य मथनं विनाशनं सम्यग्दर्शनज्ञान, चारित्रत्रयमिति भावार्थः ।

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।
ताणं णत्थि पमाणं अणन्तभवसायरे धीर ॥ २४ ॥

गृहीतोज्झितानि मुनिवर ! कलेवराणि त्वया अनेकानि ।
तेषां नास्ति प्रमाणं अनन्तभावसागरे धीर ! ॥

गहिउज्झियाइं गृहीतोज्झितानि । हे *मुनिवर* मुनिश्रेष्ठ ! *कलेवराइं* कलेवराणि शरीराणि । *तुमे अणेयाइं* त्वयाऽनेकान्यनन्तानि । *ताणं णत्थि पमाणं* तेषां कलेवराणां नास्ति न विद्यते प्रमाणं गणनमनन्तत्वात् । *अणन्तभवसायरे धीर* अनन्तभवसागरेऽन्तातीतसंसारसमुद्रे हे धीर ! ध्येयं प्रति धियमरियतीति धी स्तस्य सम्बोधनं क्रियते हे धीर ! हे योगीश्वर ! भावचारित्रं विनेति शेषः ।

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं ।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥ २५ ॥

विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्रग्रहणसंक्लेशानाम् ।
आहारोच्छ्वासानां निरोधनात् क्षीयते आयुः ॥

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्रग्रहणसंक्लेशानां । *आहारुस्सासाणं* आहारोच्छ्वासानां । *णिरोहणा* निरोधनात् । *खिज्जए आऊ* क्षीयते आयुः ।

वस्तुओंको ग्रहण किया पर उनसे तेरी तृष्णा शान्त नहीं हुई, अब ऐसा प्रयत्न कर कि जिससे भव धारण ही न करना पड़े । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भवको संसारको नष्ट करने वाले हैं अतः इन्हींका चिन्तवन कर । गाथा में आया हुआ 'तुमे' शब्द युष्मद् शब्दके तृतीया का एक वचन है । टा प्रत्यय के साथ साथ युष्मद् शब्दके स्थान में 'तुमइ तुमाइ' आदि प्राकृत व्याकरण के सूत्रसे 'तुमे' आदेश हुआ है ॥२३॥

गाथार्थ—हे धीर वीर ! मुनिवर ! इस अनन्त संसार सागरके बीच तूने जिन अनेक शरीरों को ग्रहण कर कर छोड़ा है उनका प्रमाण नहीं है ॥२४॥

विशेषार्थ—जो मुनियों में श्रेष्ठ है उसे मुनिवर कहते हैं तथा जो ध्येय—ध्यान करने योग्य पदार्थकी ओर बुद्धिको प्रेरित करे उसे धीर कहते हैं । गाथा में आचार्यने मुनिवर और 'धीर' दोनों पदोंका सम्बोधन में प्रयोग करते हुए कहा है कि हे धीर वीर ! मुनिश्रेष्ठ ! तूने भावचारित्रके विना मात्र द्रव्यलिङ्ग धारण कर अनन्त संसार सागर में

हिम जलण सलिल गुरुयर पव्वय तरुरुहण पडण भंगेहिं ।
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं ॥ २६ ॥

हिमज्वलनसलिलगुरुतरपर्वततरुरोहणपतनभङ्गैः ।
रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः विविधैः ॥

जो अनेक शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं उनका प्रमाण नहीं हैं अर्थात् तूने अनन्त शरीर धारण कर छोड़े हैं ॥२४॥

आगे आयु क्षीण होनेके कारण बतलाते हैं—

गाथार्थ—विषकी वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र की चोट, संक्लेश तथा आहार और श्वासोच्छ्वास के निरोधसे आयु क्षीण हो जाती है ॥२५॥

विशेषार्थ—हे जीव ! मात्र द्रव्य-लिङ्गको धारण कर तूने ऐसे अनेक भव प्राप्त किये हैं जिनमें विषजनित वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र-ग्रहण, संक्लेश, तथा आहार और श्वासोच्छ्वासके रुकजानेसे असमयमें ही आयु क्षीण हुई है अर्थात् अकाल-मरण हुआ है।

[जहां आयु कर्मके निषेक, अपनी निषेक-रचना के स्वाभाविक क्रमको छोड़कर एकदम खिर जाते हैं उसे अकाल-मरण कहते हैं। यह अकालमरण उपपाद जन्मवाले देव और नारकियोंके, चरमशरीरी मनुष्योंके, भोगभूमिमें उत्पन्न हुए असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यञ्चों के नहीं होता है। कर्मभूमिके अवशिष्ट मनुष्य और तिर्यञ्चोंके ही होता है। आज कल कुछ लोग ऐसा कहने लगे हैं कि केवलज्ञानीके ज्ञान में जीवोंकी जितनी आयु दिखती है उतनी ही आयु पूरी कर उनका मरण होता है, अतः अकालमरण नामकी कोई चीज नहीं है, सबका कालमरण ही होता है। परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अकाल-मरण की परिभाषा ऊपर दी जा चुकी है, उसके अनुसार जिन जीवोंके आयु कर्मके निषेक अपने स्वाभाविक क्रमको छोड़ एक साथ खिरते हैं उनका अकाल-मरण कहलाता है। केवल-ज्ञानमें भी यही बात आती है कि इस जीव की आयु इतनी है परन्तु उसके निषेक अमुक समय में अमुक कारण से एक दम खिर जावेंगे। जिनागम में अपवर्त्यायुष्क और अनपवर्त्यायुष्क दोनों प्रकार के जीवोंका उल्लेख है, अतः सबको अनपवर्त्यायुष्क कहना आगम-सम्मत नहीं है। कोई कोई लोग यह कहते देखे जाते हैं कि निश्चयनय से अकाल-मरण नहीं है, व्यवहार नयसे है, पर वे यह भूल जाते हैं कि निश्चय नयसे जीवका न मरण होता है और न जन्म होता है। जन्म और मरण दोनोंका उल्लेख व्यवहार नयका ही विषय है।]

आगे आयु क्षीण होनेके कुछ कारण और बताते हैं—

हिम केषांचिज्जन्तूनां मानवानां च शीतेनापमृत्युर्भवति । *जलणं* केषांचिज्ज्वलनेनाग्निनापमृत्युर्भवति *सलिल* केषांचित्सलिलेन समुद्रादिजलेनापमृत्युर्भवति । *गुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं* गुरुतरा अत्युन्नतशिखरास्ते च ते पर्वतास्तुंगीगिर्यादयः, तथा तरवो वृक्षा गुरुतरपर्वततरवस्तेषां रोहणेण पतनेन च कृत्वा ये भंगाः शरीरामर्दनानि ते तथा तैः हिमज्वलनसलिलगुरुतरपर्वततरुरोहणपतनभंगैः *रसविज्जजोयधारणअणयपसंगेहि* रसस्य विषस्य या विद्या विज्ञानं तस्या योगोऽनेकौषधमेलनं तस्य धारणं सेवनमास्वादनं अनयप्रसंगश्चान्यायकरणं ते रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगास्तै रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः । *विविहेहिं* विविधैर्नानाप्रकारैः । तथा चोक्तं लक्ष्मीधरेण भगवता—

[1]अण्णाएण दालिद्दियहं अरे जिय दुहु आवग्गु ।
लक्कडियइं विणु खोडयहं मग्गु सचिक्खलु दुग्गु ॥ १ ॥

इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं ।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त ॥ २७ ॥

इति तिर्यङ्मनुष्यजन्मनि सुचिरं उपपद्य बहुवारम् ।
अपमृत्युमहादुःखं तीव्रं प्राप्तोऽसि त्वं मित्र ॥

इय *तिरियमणुयजम्मे* इति पूर्वोक्तप्रकारेण तिर्यङ्मनुष्यजन्मनि । *सुइरं* सुचिरं सुष्ठु दीर्घकालं ।

गाथार्थ—हे जीव ! हिम, अग्नि, पानी, बहुत ऊंचे पर्वत अथवा वृक्षोंके ऊपर चढ़ने और गिरने के समय होने वाले अङ्ग भङ्ग से तथा रस–विद्याके योग धारण और अनीतिके नाना प्रसङ्गोंसे आयु क्षीण होती है ॥२६॥

विशेषार्थ—कितने ही जन्तुओं और मनुष्योंकी शीतसे अपमृत्यु होती है, किन्हीं की अग्निसे अपमृत्यु होती है, किन्हीं की समुद्रादि के जलसे अपमृत्यु होती है, किन्हीं की अत्यन्त ऊंची शिखरवाले तुंगीगिरि आदि पर्वत तथा वृक्षोंके ऊपर चढने और गिरनेके कारण उत्पन्न अङ्गभङ्गसे और किन्हींकी रस अर्थात् विषविद्याके योगसे—अनेक औषधियों के मेलसे, किन्हींको विष निर्मित औषधियों के सेवनसे तथा किन्हीं की नाना प्रकारके अनय प्रसङ्गसे अर्थात् अन्याय करनेसे अपमृत्यु होतो है । जैसा कि भगवान् लक्ष्मीधरने कहा है—

अण्णाएण—हे जीव ! अन्याय के कारण दरिद्र पुरुषोंको सदा दुःख ही दुःख प्राप्त होता है, सो ठीक ही है क्योंकि खोटे पुरुषोंके तो लकड़ीके सहारेके विना कीचड़ वाला मार्ग दुर्गम ही होता है ।

गाथार्थ—हे मित्र ! इस प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य जन्ममें चिरकाल तक अनेक वार उत्पन्न होकर तू अपमृत्यु के तीव्र महादुःखको प्राप्त हुआ है ॥२७॥

१–सावयधम्मदोहा ॥ १४८ ॥

उववज्जिऊण बहुवारं उपपद्य उत्पद्य जन्म गृहीत्वा बहुवारमनेकवारं । अवमिच्चुमहादुक्खं अपमृत्युमहादुःखं तिव्वं पत्तोसि तीव्रं दुःखमसहनीयमसातं प्राप्तोऽसि । त मित्त त्वं भगवन् हे मित्र ! हे बन्धो ! हे सुहृत् ।

छत्तीसं तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि ।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥ २८ ॥

षट्त्रिंशतं त्रीणि शतानि षट्षष्ठिसहस्रवारमरणानि ।
अन्तर्मुहूर्त्तमध्ये प्राप्तोऽसि निकोतवासे ॥

छत्तीसं तिण्णिसया षट्त्रिंशदधिकत्रिशतानि । *छावट्ठिसहस्सवारमरणानि* षट्षष्ठिसहस्रवारान् मरणानि ६६३३६ । *अन्तोमुहुत्तमज्झे* अन्तर्मुहूर्तमध्ये । *पत्तोसि निगोयवासम्मि* प्राप्तोऽसि निकोतवासे ।

वियलिंदिए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह ।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स ॥ २९ ॥

विकलेन्द्रियाणामशीतिं षष्टिं चत्वारिंशदेव जानीत ।
पञ्चेन्द्रियाणां चतुर्विंशतिं क्षुद्रभवान् अन्तर्मुहूर्त्तस्य ॥

वियलिंदिए असीदी विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजीवेषु अनुक्रमेण मरणसंख्यामन्त-

---

विशेषार्थ—यहां आचार्य जीवको प्रेमपूर्ण सम्बोधन द्वारा सम्बोधित करतेहुए कहते हैं कि हे मित्र ! तूने आत्मस्वभावसे च्युत हो तिर्यञ्च और मनुष्य गतिमें बार-बार उत्पन्न होकर दीर्घकाल तक अपमृत्युका भारी दुःख उठाया है । अब तो आत्मस्वभावकी ओर दृष्टि दे ॥२७॥

गाथार्थ—तू निकोत–वासमें अन्तर्मुहूर्तके भीतर छयासठ हजार तीनसौ छत्तीस वार मरणको प्राप्त हुआ है ॥२८॥

विशेषार्थ—गाथामें आये हुए 'निगोय वासम्मि' शब्द की संस्कृत छाया 'निकोत वासे' है । निगोद शब्द एकेन्द्रिय वनस्पति कायिक जीवोंके साधारण भेदमें रूढ है, जब कि निकोत शब्द पांचों इन्द्रियोंके सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होनेवाले लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में प्रयुक्त होता है । इसलिये यहां जो ६६३३६ वार मरणकी संख्या है वह पांचों इन्द्रियोंकी संम्मिलित समझना चाहिये ॥ २८ ॥

गाथार्थ—विकलेन्द्रिय जीवोंके अन्तमुहूर्तसम्बन्धी क्षुद्रभव क्रमसे अस्सी, साठ और चालीस जानो तथा पञ्चेन्द्रियों के चौबीस समझो ॥२८॥

विशेषार्थ—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय ये विकलत्रय कहलाते हैं । इनमें दो इन्द्रियोंके अस्सी, तीन इन्द्रियोंके साठ और चतुरिन्द्रियोंके चालीस क्षुद्रभव होते हैं । पञ्चेन्द्रिय जीवोंके चौबीस होते हैं । तात्पर्य यह है कि द्वीन्द्रिय जीव अन्तर्मुहूर्तमें अस्सी-

मुहूर्तस्य करोति। तथाहि। द्वीन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन अशीतिवारान् म्रियन्ते। त्रीन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन षष्ठिवारान् म्रियन्ते। चतुरिन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन चत्वारिंशतं वारान् म्रियन्ते। *पंचिंदिय चउवीसं* पंचेन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन चतुर्विंशतिं वारान् म्रियन्ते। *खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स* क्षुद्रभवा अन्तर्मुहूर्तस्य क्रमेण ज्ञातव्याः।

रयणत्ते सुअलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे।
इय जिणवरेहि भणियं त रयणत्तं समायरह ॥ ३० ॥

रत्नत्रये स्वलब्धे एवं भ्रमितोऽसि दीर्घसंसारे।
इति जिनवरैर्भणितं तत् रत्नत्रयं समाचर ॥

रयणत्ते सुअलद्धे रत्नत्रये सुष्ठु अलब्धे सति। *एवं भमिओसि दीहसंसारे* एवममुनाप्रकारेण भ्रमि-

बार मरते हैं, तीन इन्द्रिय जीव अन्तर्मूहूर्त में साठवार मरते हैं, चौ इन्द्रिय जीव चालीस वार और पञ्चेन्द्रिय जीव चौबीस वार मरते हैं। उक्त जीवों के अन्तर्मूहूर्त कालमें ऊपर बताए हुए मरण होते हैं और इतने हो क्षुद्र भव होते हैं[1] ॥२९॥

गाथार्थ—हे जीव ! रत्नत्रयके प्राप्त न होनेसे तू इस तरह दीर्घ संसारमें भ्रमण करता रहा है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है अतः रत्नत्रय का आचरण कर ॥३०॥

१—अन्तर्मुहूर्तमें किस जीवके कितने क्षुद्रभव होते हैं इसका स्पष्ट वर्णन गोम्मटसार जीवकाण्डमें इस प्रकार दिया है—

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठिसहस्सगाणि मरणाणि।
अन्तोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥१२०॥

अर्थ—एक अन्तर्मुहूर्त में एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव छयासठ हजार तीनसौ छत्तीस मरण और इतने ही भवों (जन्म) को भी धारण कर सकता है अर्थात् एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव यदि निरन्तर भवोंको धारण करे तो ६६३३६ जन्म और इतने ही मरणों को धारण कर सकता है, अधिक नहीं कर सकता।

सीदी सट्ठी तालं वियले चउवीस होंति पंचक्खे।
छावट्ठिं च सहस्सा सयं च बत्तीस मेयक्खे ॥१२३॥

अर्थ—विकलेन्द्रियोंमें द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ८० भव, त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ६०, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के ४० और पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के २०, तथा एकेन्द्रियोंके ६६१३२ भवों को धारण कर सकता है, अधिकको नहीं।

पुढविदगागणिमारुद साहारणथूल सुहुमपत्तेया।
एदेसु अपुण्णेसु य एक्केक्के बार खं छक्कं ॥१२४॥

अर्थ—पृथिवी कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक, और साधारण वनस्पति कायिक इन पांचके स्थूल तथा सूक्ष्म की अपेक्षा दो दो भेद और एक प्रत्येक वनस्पति कायिक इस ग्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंमें प्रत्येक के ६०१२ क्षुद्रभव होते हैं।

इसप्रकार एकेन्द्रिय के ६६१३२, द्वीन्द्रियके ८०, त्रीन्द्रियके ६०, चतुरिन्द्रियके ४० और पञ्चेन्द्रियके २४, कुल मिलाकर ६६३३६ होते हैं ॥१२४॥

तोऽसि पर्यटितवान् दीर्घसंसारेऽनादौ संसारे भवे । *इय जिणवरेहिं भणियं* इत्येतद्वचनं जिनवरैस्तीर्थंकर-परमदेवैर्भणितं प्रतिपादितं । *तं रयणत्तं समायरह* तत्तस्मात्कारणात् तज्जगत्प्रसिद्धं वा तत् त्वं वा रत्नत्रयं वा समाचर सम्यगाद्रियस्व वा ।

तं रयणत्तयं केरिसं हवदि । तं जहा । तद्रत्नत्रयं कीदृशं भवति ? तद्यथा–तदेव निरूपयति—

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो ।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गोत्ति[1] ॥ ३१ ॥

आत्मा आत्मनि रतः सम्यग्दृष्टिः भवति स्फुटं जीवः ।
जानाति तत् संज्ञानं चरतीह चारित्रमार्ग इति ॥

अप्पा अप्पम्मि रओ आत्मा आत्मनि रत आत्मनः श्रद्धानपरः, । *सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जवो* सम्यग्दृष्टिर्भवति स्फुटं निश्चयनयेन, व्यवहारनयेन तु तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं भवति, जीव आत्मा सम्यग्दृष्टिरिति ज्ञातव्यः । *जाणइ तं सण्णाणं* जानाति तं आत्मानं तत्सद्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं भवति, व्यवहारेण तु सप्ततत्त्वानि जानाति तत्सम्यग्ज्ञानं भवति । *चरदिह चारित्तमग्गोत्ति* तमात्मानं जीवो यच्चरति तन्मयो भवति आत्मन्येकलोलीभावो भवति, इहास्मिन् संसारे, चारित्रमार्ग इति, व्यवहारेण तु पापक्रियाविरमणं चरणं भवति ।

विशेषार्थः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको रत्नत्रय कहते हैं । रत्नत्रयके व्यवहार और निश्चयकी अपेक्षा दो भेद हैं इनमें से व्यवहार रत्नत्रय तो इस जीवको कईवार प्राप्त हुआ परन्तु निश्चय रत्नत्रय प्राप्त नहीं होसका । उसी निश्चय रत्नत्रय की ओर संकेत करते हुए गाथामें 'सु अलद्धो' लिखा गया है जिसका अर्थ होता है रत्नत्रयके सम्यक् प्रकारसे प्राप्त न होने से अर्थात् निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति न होनेसे यह जीव अनादि संसार में भटकता रहा है, ऐसा तीर्थंकर परम देवने कहा है अतः हे भव्य प्राणी ! तू उस निश्चय रत्नत्रयका अच्छी तरह आचरण कर अथवा उसका अच्छी तरह आदर कर ॥३०॥

आगे वह रत्नत्रय कैसा होता है ? वही निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—आत्मामें लीन हुआ जीव सम्यग्दृष्टि है, जो आत्माको जानता है वह सम्यग्ज्ञान है और जो आत्मा में चरण करता है वह चारित्र मार्ग है ॥३१॥

विशेषार्थ—आत्म-श्रद्धान में तत्पर जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है और व्यवहार नयसे जीवादि तत्वोंका श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि है । जो आत्माको जानता है वह निश्चयसे सम्यग्ज्ञान है और व्यवहारनय से जो सात तत्वोंको जानता है वह सम्यग्ज्ञान है । जो आत्मा में चरण करता है अर्थात् उसीमें लीन होता है वह निश्चय से चारित्रका मार्ग है और पापक्रिया से विरत होना व्यवहार से चारित्रका मार्ग है ॥३१॥

१–मग्गुत्ति म० ।

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि ।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ॥ ३२ ॥

अन्यस्मिन् कुमरणमरणं अनेकजन्मान्तरेषु मृतोऽसि ।
भावय सुमरणमरणं जन्ममरणविनाशनं जीव ॥

अण्णे कुमरणमरणं अन्यस्मिन् भवसमूहे कुमरणमरणं–कुत्सितमरणमरणं यथा भवत्येवं । तथा अनेकजन्मान्तराण्यनन्तभवान्तरेषु । "अन्यार्थे अन्या" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण सप्तम्यर्थे द्वितीया । *मरिओसि* मृतोऽसि मरणं प्राप्तोऽसि । *भावहिं सुमरणमरणं* भावय सुमरणमरणं पंडितपंडितमरणं । कथंभूतं सुमरणमरणं, *जरमरणविणासणं* जरामरणविनाशनं परममोक्षदायकं । हे *जीव* हे चेतनस्वभाव ! आत्मन्निति ।

समुद्रादिकल्लोलवत्प्रतिसमयमायुस्त्रुट्यति तदावीचिकामरणं स्थितिप्रदेशावीचिकाभेदात्तद्द्विविधमप्येकविधं । भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपसृष्टपूर्वभवविगमनं तद्भवमरणमुच्यते । तत्त्वनन्तशः प्राप्तं जीवेनेति ज्ञातव्यं, तेन तद्भवमरणं न दुर्लभं । अवधिमरणं नाम कथ्यते-यो यादृशं मरणं साम्प्रतमुपैति तादृशमेव यदि मरणं [1]भविष्यत् तदवधिमरणं, तद्द्विविधं देशावधिमरणं सर्वावधिमरणं चेति । तत्र सर्वावधिमरणं नाम यदायुर्यथाभूतमुदेति साम्प्रतं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशैस्तथाभूतमेवायुः प्रकृत्यादिविशिष्टं पुनर्बन्धनात्युदेष्यति च यदि सर्वावधिमरणं । यत्साम्प्रतमुदेत्यायुर्यथाभूतं तथाभूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरणं । एतदुक्तं भवति–देशतः सर्वतो वा सादृश्येनावधीकृतेन विशेषितं मरणमवधिमरणमिति । साम्प्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्यन्तमरणमुच्यते । आदिशब्देन साम्प्रतं प्राथमिकं मरणमुच्यते, तस्यान्तो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यन्तमरणमुच्यते । प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतैः साम्प्रतमुपैति मृतिं तथाभूतां यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यन्तमरणं । बालमरणमुच्यते बालस्य मरणं बालमरणं । स च बालः पंचप्रकारोऽव्यक्तबालो व्यवहारबालो ज्ञानबालो दर्शनबालश्चारित्रबालः । धर्मार्थकामकार्याणि न वेत्ति न तदाचरणसमर्थशरीरोऽव्यक्तबालः । लोकवेदसमयव्यवहारान् न वेत्ति शिशुर्वा व्यवहारबालः । मिथ्यादृष्टयो दर्शनबालाः । वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानहीना ज्ञानबालाः । अचारि-

गाथार्थ—हे जीव ! तू अन्य अनेक भवोंमें कुमरण करके मृत्युको प्राप्त हुआ है, अब जन्म और मरणको नष्ट करनेवाले सुमरण मरण पण्डितपण्डित मरणकी भावना कर ।

विशेषार्थ—हे आत्मन् ! तू अन्य अनेक जन्मान्तरों–भवान्तरों में आर्त्त रौद्र-ध्यान से मरकर कुमरण को प्राप्त हुआ है, अतः अब जरा और मरणको नष्ट करनेवाले परम मोक्षदायक सुमरण मरणकी भावना कर । निरन्तर ऐसा हो चिन्तवन कर कि मेरा पण्डितपण्डितमरण हो । 'अणेय जम्मंतराइं' यहां पर 'अन्यार्थे अन्या' इस प्राकृत व्याकरण के सूत्रसे सप्तमीके अर्थ में द्वितीया विभक्तिका प्रयोग हुआ है ।

१–भविष्यति म० ।

त्राश्चारित्रबालाः। दर्शनबालमरणं द्विविधं इच्छाप्रवृत्तमनिच्छाप्रवृत्तं चेति। तत्रेच्छाप्रवृत्तमग्निना धूमेन शस्त्रेण विषेणोदकेन मरुत्प्रपातेनोच्छ्वासरोधेन शीतपातेनोष्णपातेन रज्वा क्षुधा तृषा जिह्वोत्पाटनेन विरुद्धाहारसेवनेन च मरणमिच्छामरणं। कालेऽकाले वाऽध्यवसानादिना विना जिजीविषोर्मरणमनिच्छाप्रवृत्तं। पंडितमरणमुच्यते—पंडितश्चतुर्धा व्यवहारपंडितः सम्यक्त्वपंडितो ज्ञानपंडितश्चारित्रपंडितश्चेति। लोकवेदसमयगतव्यवहारनिपुणो व्यवहारपंडितः, अथवानेकशास्त्रज्ञः शुश्रूषादिबुद्धिगुणसमन्वितो व्यवहारपंडितः। त्रिविधान्यतमसम्यक्त्वः दर्शनपंडितः। पंचविधज्ञानपरिणतो ज्ञानपंडितः। पंचविधचारित्रान्यतमचारित्रपरिणतश्चारित्रपंडितः। नरके भवनेषु विमानेषु ज्योतिष्केषु वानव्यन्तरेषु द्वीपसमुद्रेषु च ज्ञानपंडितमरणं [1]मनःपर्ययमरणं मनुष्यलोक एव मरणं। आसन्नमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितसंयतसार्थात् प्रच्युतः आसन्न उच्यते, तदुपलक्षणं पार्श्वस्थस्वच्छन्दकुशीलसंसक्तानां। ऋद्धिप्रिया रसेष्वासक्ता दुःखभीरवः सदा दुःखकातराः कषायपरिणताः संज्ञावशगाः पाप-[2]श्रुताभ्यासकारिणः त्रयोदशक्रियास्वलसाः सदा संक्लिष्टचेतसः भक्ते उपकरणे च प्रतिबद्धा निमित्तमंत्रौषधयोगोपजीविनः गृहस्थवैयावृत्यकरा गुणहीना गुप्तिसमितिष्वनुद्यता मन्दसंवेगा दशधर्माकृतबुद्धयः शबलचारित्रा आसन्ना उच्यन्ते। ते यद्यन्ते आत्मशुद्धिं कृत्वा म्रियन्ते तदा प्रशस्तमेव मरणं। बालपंडितमरणं श्रावकस्य। सशल्यमरणं सुगमं। पलायमरणमुच्यते विनयवैयावृत्यादावकृतादरः प्रशस्तक्रियोद्वहनालसः त्रयोदशचारित्रेषु वीर्यनिगूहनपरो धर्मचिन्तायां निद्राघूर्णित इव ध्याननमस्कारादेः पलायते पलायमरणं। इन्द्रियवेदनाकषायनोकषायार्तमरणं वशार्तमरणं [3]अप्रतिसिद्धेऽननुज्ञाते च मरणे विप्राणसमरणं, विप्राणसमरणमुच्यते—गृध्रपृष्ठमिति संज्ञिते कृते प्रवर्तेते।

आगे मरण के सत्तरह[4] भेदों का संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं—

१ आवीचि मरण, २ तद्भव मरण, ३ अवधि मरण, ४ आद्यन्त मरण, ५ बाल-मरण, ६ पण्डित मरण, ७ आसन्न मरण, ८ बालपण्डित मरण, ९ सशल्य मरण, १० पलाय मरण, ११ वशार्त्त मरण, १२ विप्राणास मरण, १३ गृद्धपृष्ठ मरण, १४ भक्त-प्रत्याख्यान मरण, १५ प्रायोपगमन मरण, १६ इङ्गिनी मरण, और १७ केवलिमरण। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१ **आवीचिका मरण**—समुद्रादि की लहरों के समान जो आयु प्रति-समय कम होती जाती है वह आवीचिका मरण है। यह मरण स्थिति वीचिका और प्रदेश वीचिका के भेदसे यद्यपि दो प्रकारका है तथापि सत्तरह भेदों में एक सामान्य भेद ही लियागया है।

२ **तद्भव-मरण**—भवान्तर की प्राप्ति होना अर्थात् आगामी अनन्तर शरीर के

१—मनुष्यलोक एव केवलमनःपर्ययज्ञानपण्डितमरणं भवति- भगवती आराधना। २—पापश्रुताभ्यास० भ०। ३—अप्रसिद्धे भ०। ४—मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे। तत्थ वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि। —प्रथम आश्वास भगवती आराधना।

दुर्भिक्षे कान्तारे दुरुत्तरे पूर्वशत्रुभये दुष्टनृपभये स्तेनभये तिर्यगुपसर्गे एकाकिनः सोढुमशक्ये ब्रह्मव्रतनाशादिचारित्रदूषणे च जाते संविग्नः पापभीरुः कर्मणामुदयमुपस्थितं ज्ञात्वा सोढुमशक्तः तन्निस्तरणस्यासत्युपाये सावद्यकरणभीरुः विराधनमरणभीरुश्च एतस्मिन् [1]कारणे जाते कालेऽमुष्मिन् किं भवेत्कुशलमिति गणयता यद्युपसर्गत्रासितोऽहं संयमाद्भ्रश्यामि ततः संयमभ्रष्टो दर्शनादपि न [2]वेदनासंक्लिष्टः सोढुं प्रव्रज्यामुत्सहे। ततो रत्नत्रयाराधनाच्युतिर्ममेति निश्चितमतिर्निर्मायः चरणदर्शनविशुद्धः धृतिमान ज्ञानसहायोऽनिदानोऽर्हदन्तिके आलोचनामासाद्य [3]कृतशुद्धिलेश्यः प्राणापाननिरोधं करोति यत्त द्वुप्पाणसमरणमुच्यते। शस्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्गृध्रपृष्ठमित्युच्यते। मरणविकल्पसंभवप्रदर्शनमिदम् सर्वत्र कर्तव्यतयोपदिश्यते। भक्तप्रत्याख्यानं, प्रायोपगमनमरणं, इंगिनीमरणं, [4]केवलिमरणं चेति। इत्येतान्येवोत्तमानि पूर्वपुरुषैः प्रवर्तितानि। सप्तदशसु मध्ये त्रीण्युत्तमानि सुमरणानि। प्रायोपगमनं दर्भासने स्थितः स्वयमुपसर्गं न निवारयति, चेत्कोपि निवारयति तदा निवारयितुं ददाति। इंगिनीमरणे निवारयितुमपि न ददाति। केवलिमरणं तीर्थंकरगणधरानगारकेवलिमरणं ज्ञातव्यं। एतन्मरणत्रयं सुमरणं हे जीव! त्वं भावय।

द्वारा उपसृष्ट होनेपर पूर्व भवका छूट जाना तद्भव मरण है। यह तद्भवमरण इस जीवने अनन्त वार प्राप्त किया है इसलिये दुर्लभ नहीं है।

३–अवधि–मरण—जो प्राणी जिस प्रकारका मरण वर्तमान कालमें प्राप्त करता है वैसा ही मरण यदि आगामी कालमें हो तो उस मरण को अवधि–मरण कहते हैं। यह अवधि-मरण १ देशावधि मरण और २ सर्वावधि मरण के भेद से दो प्रकारका है। जो आयु वर्तमान में प्रकृति–स्थिति–अनुभाग और प्रदेश सहित जैसी उदय में आती है वैसी ही आयु फिर प्रकृत्यादि विशिष्ट बंधकर यदि उदयमें आवेगी तो उसको सर्वावधि मरण कहते हैं और जो आयु वर्तमान कालमें प्रकृत्यादि विशिष्ट होकर जैसी उदय आती है, वैसी ही आयु यदि किसी अंश में सदृश होकर बंधेगी और भविष्यत् कालमें उदय आवेगी तो उसे देशावधि मरण कहते हैं। अभिप्राय यह है कि कुछ अंश में अथवा पूर्ण रूपसे सादृश्य जिसमें पाया जाता है ऐसा अवधिसे विशिष्ट अर्थात् जिसमें पूर्ण सादृश्य मर्यादित हुआ है अथवा कुछ हिस्सेमें सादृश्यकी मर्यादा है और कुछ हिस्सेमें नहीं है ऐसे मरणको अवधि मरण कहते हैं।

४–आद्यन्त मरण—वर्तमानकालमें जैसा मरण जीवको प्राप्त हुआ है वैसा अर्थात् सदृश मरण आगे प्राप्त न होना आद्यन्त-मरण कहा जाता है। यहां आदि शब्दसे वर्तमानकालिक प्रथम कहा जाता है उसका अन्त अर्थात् विनाश जिस आगामी मरण में हो वह आद्यन्त मरण कहलाता है (आदेः अन्तो यस्मिंस्तत् आद्यन्तं तच्च तन्मरणञ्चेति आद्यन्त-

---

१–करणे म० क०। २–वेदनासंक्लिष्टः म०। ३–कृतशुद्धिलेश्य म०। ४–केवल म०।

मरणम्)। तात्पर्य यह है कि वर्तमान में जीव, जिसप्रकारके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशके द्वारा जैसी मृत्युको प्राप्त होता है वैसी मृत्युको एक–देश अथवा सर्व–देश रूपसे भविष्यत् में प्राप्त न हो तो वह आद्यन्त मरण कहा जाता है।

५–बालमरण—अब बालमरण कहा जाता है। बालका मरण सो बालमरण है। वह बाल पांच प्रकार का है–१ अव्यक्त बाल, २ व्यवहार बाल, ३ ज्ञान बाल, ४ दर्शन बाल और ५ चारित्र बाल। जो धर्म अर्थ और कामके कार्यको नहीं जानता है और न उनके आचरण में जिसका शरीर समर्थ है वह अव्यक्त बाल कहलाता है। जो लोक वेद और समयके व्यवहार को नहीं जानता है अथवा शिशु अवस्था वाला है उसे व्यवहार बाल कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन बाल हैं। जो वस्तुके यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले ज्ञानसे रहित हैं वे ज्ञान-बाल हैं और जो चारित्र से रहित हैं वे चारित्र-बाल कहलाते हैं। इनमें से दर्शन बालमरण दो प्रकारका है–१ इच्छा प्रवृत्त और अनिच्छा प्रवृत्त। उनमें इच्छा पूर्वक अग्नि, धुवां, शस्त्र, विष, पानी, पर्वतसे गिरना, श्वासरोकना, शीतमें पड़ना, उष्णमें पड़ना, रस्सी, भूख, प्यास, जिह्वाका उखाड़ना, और विरुद्ध आहारके सेवन से जो मरण होता है, वह इच्छा मरण कहलाता है। योग्य काल अथवा अकाल में मरनेके अभिप्राय के विना जीवित रहनेके इच्छुक प्राणीका जो मरण है वह अनिच्छा प्रवृत्त मरण है।

६–पण्डित मरण—अब पण्डित मरण कहा जाता है। पण्डित चार प्रकारके होते हैं—१ व्यवहार पण्डित, २ सम्यक्त्व पण्डित, ३ ज्ञान पण्डित और ४ चारित्र-पण्डित। लोक, वेद और समयानुकूल व्यवहारमें जो निपुण है वह व्यवहार–पण्डित है अथवा जो अनेक शास्त्रों का जानकार है और शुश्रूषा–श्रवण करने की इच्छा आदि बुद्धिके गुणोंसे सहित है वह व्यवहार पण्डित है। जो औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक इन तीन सम्यग्दर्शनों में से किसी एक सम्यग्दर्शन से सहित है वह दर्शन–पण्डित है। जो मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यय और केवल इन पांच प्रकारके सम्यग्ज्ञानों से परिणत है वह ज्ञान-पण्डित है और जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात इन पांच प्रकारके चारित्रों में से किसी एक चारित्रसे सहित है वह चारित्र पण्डित है। नरकोंमें, भवनवासी देवोंके भवनोंमें, स्वर्गके विमानोंमें ज्योतिष्क देवोंमें, व्यन्तर देवोंमें तथा द्वीप समुद्रोंमें ज्ञान-पण्डित मरण होता है, परन्तु मनःपर्यय ज्ञान मरण मनुष्य लोक (अढ़ाई द्वीपमें) ही होता है।

७–आसन्नमरण—अब आसन्न मरणका स्वरूप कहा जाता है। मोक्षमार्गमें चलने

वाले संयमीजनोंके समूहसे जो च्युत होगया है, उसे आसन्न कहते हैं। यह आसन्न शब्द उपलक्षण है, अतः पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्त इन भ्रष्ट मुनियोंका भी उसीसे ग्रहण समझना चाहिये। जिन्हें ऋद्धियां प्रिय हों, जो रसोंमें आसक्त हों, दुःखसे डरते हों सदा दुःखके समय दीनता दिखलाने वाले हों, कषाय भावसे युक्त हों, आहारादि संज्ञाओंके वशीभूत हों, पापके समर्थक शास्त्रों का अभ्यास करने वाले हों, तेरह प्रकारकी क्रियाओंके पालन करने में आलसी हों, जिनका चित्त सदा संक्लेश से युक्त रहता है, जो आहार तथा उपकरणोंमें सदा उपयुक्त रहते हैं, निमित्त ज्ञान, मन्त्र, औषध, तथा विषशोधनकी कला आदिसे आजीविका करते हैं अर्थात् इन कार्योंके द्वारा गृहस्थों को आहार देनेके निमित्त अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, गृहस्थोंकी वैयावृत्य करते हैं, गुणोंसे हीन हैं अर्थात् मूलगुणोंका जो निर्दोष पालन नहीं करते हैं, गुप्ति और समितियों के विषयमें अनुद्यमी हैं, जिनका संवेग अल्प है अर्थात् जिन्हें संसारसे पूर्ण भय नहीं है। अथवा जो धर्म और धर्मके फलके विषयमें अनुत्साही हैं, जिनकी बुद्धि उत्तमक्षमादि दश धर्मोंमें नहीं लगती है तथा जो दोषयुक्त चारित्रके धारक हैं वे आसन्न कहलाते हैं। [1]वे आसन्न मुनि यदि अन्तिम समय आत्मशुद्धि करके मरते हैं तो उनका मरण प्रशस्त ही कहलावेगा।

८ बालपण्डित मरण—बालपण्डित सम्यग्दृष्टि श्रावक को कहते हैं क्योंकि वह पूर्ण चारित्रका धारक न होनेसे बाल है और सम्यग्दृष्टि होजानेके कारण पण्डित है। उसका जो मरण है उसे बालपण्डित मरण कहते हैं।

९-सशल्य मरण—[2]सशल्य मरणका स्वरूप सुगम है। [मिथ्यादर्शन, निदान और

१—एवंभूताः सन्तो मृत्वा वराका भवसहस्रेषु भ्रमन्ति। दुःखानि भुक्त्वा भुक्त्वा पार्श्वरूपेण सुचिरं विहृत्यान्त आत्मनः शुद्धिं कृत्वा यदि मृतिमुपैति प्रशस्तमेव मरणं भवति। भगवती आराधना।

२-सशल्यमरणं द्विविधं यतो द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति। मिथ्यादर्शन-माया-निदान-शल्यानां कारणं कर्म द्रव्यशल्यम्। द्रव्यशल्येन सह मरणं पञ्चानां स्थावराणां भवति असंज्ञिनां त्रसानां च। ननु द्रव्यशल्यं सर्वत्रास्ति तत्किमुच्यते स्थावराणामिति। भावशल्य-विनिर्मुक्तं द्रव्यशल्यमपेक्ष्यते। एतदुक्तं—सम्यक्त्वातिचाराणां दर्शनशल्यत्वात्सम्यग्दर्शनस्य च स्थावरेषु अभावात् त्रसेषु च विकलेन्द्रियेषु। इदमेव स्यादनागतकाले इति मनसः प्रणिधानं निदानं। न च तदसंज्ञिष्वस्ति। मार्गस्य दूषणं, मार्गनाशनं, उन्मार्ग प्ररूपणं, मार्गाप्ररूपणं, मार्गस्थानां भेदकरणं मिथ्यादर्शनशल्यानि। तत्र निदानं त्रिविधं प्रशस्तमप्रशस्तं भोगकृतं चेति। परिपूर्णसंयममाराधयितु-कामस्य जन्मान्तरे पुंस्त्वादि-प्रार्थना प्रशस्तं निदानं, मानकषाय-प्रेरितस्य कुलरूपादि-प्रार्थनमनागतभवविषयं अप्रशस्तं निदानं। अथवा क्रोधाविष्टस्य स्वप्रत्युद्धव-प्रार्थना वशिष्ठस्येवोग्रसेनोन्मूलने। इह परत्र च भोगा अपि इत्थंभूता अस्माद् व्रतशीलादिकाद्भवन्त्विति मनः प्रणिधानं भोगनिदानं। असंयत-सम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य वा निदानशल्यं भवति। पार्श्वस्थादि-रूपेण चिरं विहृत्य पश्चादपि आलोचनामन्तरेण यो मरणमुपैति तन्मायाशल्यं मरणं तस्य भवति। एतदुसंयते, संयतासंयते, अविरत-सम्यग्दृष्टावपि भवति। —भगवती आराधना गाथा २५ प्रथमाश्वास विजयोदया टीका

मायाके भेदसे शल्यके तीन भेद हैं। शल्य सहित जीवका मरण सशल्यमरण कहलाता है।]

१०-पलायमरण—जो विनय तथा वैयावृत्य आदिमें आदर नहीं करता है, प्रशस्त क्रियाओंके करनेमें आलसी रहता है, तेरह प्रकारके चारित्र में अपनी शक्ति छिपाता है, धर्मके चिन्तन में मानो निद्रासे झूमने लगता है और ध्यान तथा नमस्कार आदिसे दूर भागता है, उसे पलाय कहते हैं। पलाय के मरणको पलायमरण कहते हैं।

११-वशार्त मरण—इन्द्रिय, वेदना, कषाय, और नो कषायसे पीडित व्यक्तिके मरणका वशार्त मरण कहते हैं।

१२ विप्राणस मरण—विप्राणसमरण और गृध्रपृष्ठ मरण नामवाले दो मरणोंका जैनागममें निषेध नहीं है और अनुज्ञा भी नहीं है। इनमें विप्राणस मरणका स्वरूप कहते हैं—

दुष्कालके पड़ने पर, जिसका पार करना कठिन है ऐसे जङ्गल नें फंसजानेपर, पूर्वशत्रु का भय, दुष्टराजाका भय, अथवा चोरका भय उपस्थिस होनेपर, जिसका अकेले सहन करना असंभव है, ऐसा तिर्यञ्च-कृत उपसर्ग उपस्थित होनेपर, तथा ब्रह्मचर्य व्रतका नाश आदि चारित्रका दोष उत्पन्न होनेपर संसारसे भयभीत तथा पापसे डरनेवाला मुनि विचार करता है कि मेरे कर्मका जो उदय आया है उसे सहन करनेके लिये मैं असमर्थ हूं, तथा इस उपद्रवसे पार होनेका कुछ उपाय भी नहीं है, मैं पापकार्यके करनेसे डरता हूं तथा चारित्र की विराधना कर असंयमी अवस्था में मरनेसे भी भयभीत हूं, ऐसे कारण उपस्थित होनेपर इस समय मेरी कुशल किस तरह हो सकती है···इस प्रकारका विचार करता हुआ वह पुनः सोचता है कि यदि मैं उपसर्गसे भयभीत हो संयम से च्युत होता हूं तो संयमसे भ्रष्ट कहलाऊंगा और संभव है सम्यग्दर्शनसे भी भ्रष्ट होजाऊं, मैं वेदना से संक्लिष्ट होकर दीक्षाका निर्वाह करनेमें समर्थ नहीं हूं, इन सब कारणोंसे मेरी रत्नत्रयकी आराधना छूटने वाली है···इसप्रकार का जिसे निश्चय हुआ है जिसने अपराधको छिपाने रूप मायाका त्याग कर दिया है, जो चारित्र और दर्शनमें विशुद्धता रखता है, धैर्यसे सहित है, ज्ञान ही जिसका सहायक है, और जो निदान से रहित है, अरहन्त भगवान्‌के समीप आलोचना को प्राप्त कर जिसने अपनी लेश्याको शुद्ध कर लिया है, ऐसा मुनि जो श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है, वह विप्राणस मरण कहलाता है।

१३ गृध्रपृष्ठमरण—उपर्युक्त कारण उपस्थित होनेपर शस्त्र ग्रहण करके जो मरण किया जाता है वह गृध्रपृष्ठ मरण है।

इसप्रकार मरणके जितने विकल्प संभव होसकते हैं उनका प्रदर्शन किया गया है।

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो ॥ ३३ ॥

स नास्ति द्रव्यश्रमणः परमाणुप्रमाणमात्रो निलयः ।
यत्र न जातो न मृतस्त्रिलोकप्रमाणकः सर्वः ॥

सो णत्थि स नास्ति न विद्यते । *णिलओ* गृहं स्थानं । कथंभूतो निलयः, *परमाणुपमाणमेत्तओ* परमाणुप्रमाणमात्रः अविभागी परमाणुर्यावन्तं प्रदेशं रुणद्धि तन्मात्रोऽपि निलयो नास्ति । स कः प्रदेशः । *जत्थ* यत्र प्रदेशे । *दव्वसवणो* द्रव्यदिगम्बरः मिथ्यादृष्टिस्तपस्वी । *ण जाओ* न जातो नोत्पन्नः । *ण मओ* न मृतो न मरणं प्राप्तः । स निलयः कियान्, *तियलोयपमाणिओ* त्रिभुवनेन मापितः । *सव्वो* समस्तोऽपि ।

अब सर्वत्र करने योग्य मरणोंका उपदेश किया जाता है । भक्त-प्रत्याख्यान, प्रायोपगमन, इङ्गिनीमरण, और केवलि-मरण । ये मरण ही उत्तम-मरण हैं तथा पूर्व-पुरुषों के द्वारा प्रवर्तित हैं ।

१४ **भक्त प्रत्याख्यानमरण**—एक साथ जीवन पर्यन्तके लिये अथवा क्रम क्रमसे कुछ समयकी अवधि लेते हुए आहारका त्याग करके जो समाधिमरण किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान कहते हैं । उपर्युक्त सत्तरह मरणोंमें प्रायोपगमन, इङ्गिनीमरण और केवलि-मरण ये तीन मरण उत्तम मरण कहलाते हैं ।

१५ **प्रायोपगमन मरण**—प्रायोपगमन मरणमें कुशासन पर बैठा हुआ मुनि स्वयं उपसर्गका निवारण नहीं करता है, यदि कोई दूसरा करता है तो करने देता है ।

१६ **इङ्गिनी मरण**—इङ्गिनी मरण में दूसरे को भी निवारण नहीं करने देता ।

१७ **केवलिमरण**—तीर्थंकर, गणधर और अनगार-केवलियों का मरण केवलि मरण जानना चाहिये । यह तीन प्रकारका मरण सुमरण है । हे जीव ! तू इन्हीं की भावना कर ॥३२॥

गाथार्थ—ऐसा परमाणु प्रमाण भी स्थान नहीं है जहां द्रव्य-लिङ्गी मुनि न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो । समूचा तीन लोक उसका स्थान है ॥३३॥

विशेषार्थ—द्रव्य-लिङ्गी मुनिका मुनिपद मुक्तिका कारण नहीं है किन्तु संसारका ही कारण है, यह बताते हुए श्रीकुन्दकुन्द स्वामी दरशाते हैं कि परमाणुके बराबर भी ऐसा स्थान नहीं है जहां द्रव्यलिङ्गी साधु-मिथ्यादृष्टि तपस्वी न उत्पन्न हुआ हो और न मरणको प्राप्त हुआ हो, उसका स्थान तो समूचा तीन लाक है अर्थात् तीनों लोकोंमें ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जहां द्रव्यलिङ्गी मुनि न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो ॥३३॥

कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं ।
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण ॥ ३४ ॥

कालमनन्तं जीवः जन्मजरामरणपीडितः दुःखम् ।
जिनलिङ्गेन अपि प्राप्तः परम्पराभावरहितेन ॥

कालमणंतं जीवो कालं समयमनेहसमिति यावत्, अनन्तमन्तरहितं कर्मतापन्नं जीव आत्मा दुःखं प्राप्त इति क्रियाकारकसम्बन्धः । कालाध्वदेशभावानां कर्मसंज्ञा सिद्धैव वर्तते कथंभूतो जीवः, *जम्मजरामरणपीडिओ* जन्मजरामरणपीडितः चम्पितः । *जिणलिंगेण वि* अहद्रूपाविशिष्टाऽपि अपि शब्दादविशिष्टोऽपि कथंभूतेन जिनलिंगेन *परंपराभावरहिएण* परम्परा आचार्यप्रवाहस्तदुपदिष्टं शास्त्रं च परम्परा शब्देन लभ्यते तत्र भावरहितेन प्रतीतिवर्जितेन मिथ्यादृष्टिना जीवेनेत्यर्थः । कासौ परंपरा ? अस्यामवसर्पिण्यां तृतीयकालप्रान्ते श्रीवृषभनाथेनार्थशास्त्रमुक्तं, वृषभसेनगणधरेण ग्रन्थः कृतः, तत्परम्परया वीरेण भगवतार्थः प्रकाशितः गौतमेन गणिना ग्रन्थितः, तदनुक्रमेण पंचमकाले प्रमाणभूतैर्दिगम्बराचार्यैराचार्यैरुपदिष्टं तच्छास्त्रं प्रमाणीकर्तव्यं विसंघादिभिर्मिथ्यादृष्टिभिः कृतं शास्त्रं न प्रमाणनीयं । अथ के ते आचार्या यैः कृतं शास्त्रं प्रमाणीक्रियते इत्याह—

श्रीभद्रबाहुः श्रीचन्द्रो जिनचन्द्रो महामतिः ।
गृध्रपिच्छगुरुः श्रीमांल्लोहाचार्यो जितेन्द्रियः ॥ १ ॥
एलाचार्यः पूज्यपादः सिंहनन्दी महाकविः ।
वीरसेनो जिनसेनो गुणनन्दी महातपाः ॥ २ ॥
समन्तभद्रः श्रीकुंभः शिवकोटिः शिवंकरः ।
शिवायनो विष्णुसेनो गुणभद्रो गुणाधिकः ॥ ३ ॥
अकलङ्को महाप्राज्ञः सोमदेवो विदांवरः ।
प्रभाचंद्रो नेमिचन्द्र इत्यादिमुनिसत्तमैः ॥ ४ ॥
यच्छास्त्रं रचितं नूनं तदेवाऽऽदेयमन्यकैः ।
विसंघै रचितं नैव प्रमाणं साध्वपि स्फुटं ॥ ५ ॥

गाथार्थ—इस जीवने जिनलिङ्ग भी धारण किया परन्तु आचार्य-प्रवाहके द्वारा उपदिष्ट तत्व अथवा शास्त्र की प्रीतिसे रहित होकर धारण किया इसलिये अनन्त काल तक जन्म जरा और मरणसे पीडित होता हुआ यह दुःखको प्राप्त हुआ है ॥३८॥

विशेषार्थ—इस जीवने यद्यपि अनन्तवार जिनलिङ्ग भी धारण किया है-नग्न दिगम्बरमुद्रा रखकर घोर तपश्चरण भी किया है तथापि उसने वह जिनलिङ्ग परम्परा भावसे रहित होकर धारण किया । परम्पराका अर्थ आचार्य प्रवाह है । आचार्य प्रवाहने जो उपदेश दिया है वह, तथा उनकी आम्नायमें जो शास्त्र लिखेगये हैं वे सब परम्परा शब्द

पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्ठं ।
गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीव ॥ ३५ ॥

प्रतिदेशसमयपुद्गलायुपरिणामनामकालस्थम् ।
गृहीतोज्झितानि बहुशः अनन्तभवसागरे जीव ॥

पडिदेस यावन्तः प्रदेशाः लोकाकाशस्य वर्तन्ते एकैकं प्रदेशं प्रति शरीराणीति पूर्वोक्तमेव ग्राह्यं गृहीतोज्झितानि । तथा प्रतिसमयं-समयं समयं प्रति प्रतिसमयं शरीराणि गृहीतोज्झितानि । प्रतिपुद्गलं प्रतिपरमाणु-परमाणुं परमाणुं प्रति प्रतिपरमाणु अनन्तानि शरीराणि गृहीतोज्झितानि । *आउगं* प्रत्यायु आयुः आयुः प्रति प्रत्यायुः अनन्तानि शरीराणि गृहीतोज्झितानि । *परिणाम* परिणामं परिणामं प्रति परिप्रतिणामं

से व्यवहृत होते हैं उस परम्परामें भाव अर्थात् प्रतीति—दृढ श्रद्धासे रहित होकर इसने जिनलिङ्ग धारण किया है, अतः जिनलिङ्ग धारण करके भी अनन्तकाल तक जन्मजरा और मरणसे पोडित होकर इसने दुःख प्राप्त किया है। जब जिनलिङ्ग धारण करके भी दुःख प्राप्त किया तब बिना जिनलिङ्ग धारण किये दुःख प्राप्त करनेकी तो बात ही क्या है ? काल, मार्ग देश और भाव-वाचक शब्दोंकी कर्म संज्ञा व्याकरणसे सिद्ध है अतः 'अणंतं कालं' यहां अत्यन्त संयोग अर्थमें कालशब्द को कर्मसंज्ञा हुई है और उसी कारण उसमें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग हुआ है।

प्रश्न—वह परम्परा क्या है ?

समाधान—इस अवसर्पिणी युगके तृतीय कालके अन्तमें श्री भगवान् वृषभनाथने अर्थ रूपसे शास्त्रका उपदेश दिया था और वृषभसेन गणधरने उसे ग्रन्थरूपसे परिणतकिया था, उसी परम्परामें भगवान् महावीरने अर्थका प्रकाश किया और गौतम गणधरने उसे ग्रन्थ रूपसे परिणत किया अर्थात् द्वादशाङ्गकी रचना की। उसी अनुक्रमसे पञ्चम कालमें प्रामाणभूत दिगम्बर आचार्योंने उपदेश दिया है सो उन्हीं आचार्योंके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिये। मूलसंघको विघटित करके विरुद्ध अथवा विविध संघोंकी स्थापना करने वाले मिथ्यादृष्टि लोगोंके द्वारा रचित शास्त्रको प्रमाण नहीं मानना चाहिये। अब वे आचार्य कोन हैं ? जिनके द्वारा रचित शास्त्र प्रमाण कियेजाते हैं ? इसका उत्तर देते हुए कुछ आचार्योंके नाम प्रकट किये जाते हैं।

श्रीभद्रबाहु—श्रीभद्रबाहु, श्रीचन्द्र, जिनचन्द्र, महामति, गृद्ध्रपिच्छगुरु, इन्द्रियोंको जीतनेवाले लोहाचार्य, एलाचार्य, पूज्यपाद, महाकवि सिंहनन्दी, वीरसेन, जिनसेन, महातपस्वी गुणनन्दी, समन्तभद्र, श्रीकुम्भ, कल्याणकारी शिवकोटि, शिवायन, विष्णुसेन,

क्रोधमानमायालोभमोहरागद्वेषादिपरिणामान प्रति प्रतिपरिणामं अनन्तानि शरीराणि गृहीतोज्झितानि । *णाम* नाम नाम प्रति प्रतिनामं नपुंसकं चेति वचनाद्वाऽदन्तो निपातः, यावन्ति नामानि गतिजात्यादीनि वर्तन्ते तावन्ति प्रति अनन्तानि शरीराणि गृहीतोज्झितानि । *कालट्ठं* प्रतिकालस्थं उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालस्थं यथा भवत्येवं तत्समयांश्च प्रति प्रतिकालस्थं अनन्तानि शरीराणि गृहीतोज्झितानि । *गहिउज्झियाइं बहुसो* गृहीतोज्झितानि बहुशोऽनन्तवारान । *अणंतभवसायरे जीव* अनन्तभवसागरेऽनन्तानन्तसंसारसमुद्रे हे जीव ! हे आत्मन्निति । जिनसम्यक्त्वं भवनेति भावार्थः । जिनसम्यक्त्वभावेन त्वनन्तसंसार उच्छिद्यते स्तोककालेन मुक्तो भवति ।

अधिक गुणोंके धारक गुणभद्र, महाबुद्धिमान् अकलङ्क, विद्वानोंमें श्रेष्ठ सोमदेव, प्रभाचन्द्र, और नेमिचन्द्र[1] इत्यादि श्रेष्ठमुनयोंने जो शास्त्र रचे हैं यथार्थमें वे ही शास्त्र ग्रहण करने योग्य हैं । अन्य विविध अथवा विरुद्ध संघवालोंके द्वारा रचित शास्त्र ठीक होनेपर भी प्रमाण नहीं मानना चाहिये[2] ॥१–५॥

गाथार्थ—हे जीव ! तूने भाव-लिङ्गके विना अनन्त संसार सागरमें प्रत्येक देश, प्रत्येक समय, प्रत्येक पुद्गल, प्रत्येक आयु, प्रत्येक परिणाम, प्रत्येक नामकर्म, और प्रत्येक कालमें स्थित हो अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं ॥३५॥

विशेषार्थ—हे आत्मन् ! सम्यक्त्वरूप भावलिङ्गके विना तूने लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं, एक एक कर उन सब प्रदेशों पर स्थित होकर अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । प्रत्येय समयमें तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । पुद्गलके प्रत्येक परमाणु पर स्थित हो तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । प्रत्येक आयुमें तूने

१- यहां आचार्योंकी जो नामावली दी है उसमें काल--क्रमकी अपेक्षा नहीं का गई है तथा अन्य जिन प्रामाणिक आचार्योंके नाम रहगये हैं उनका 'इत्यादि मुनिसत्तमैः' पदमें दिये हुए इत्यादि पदसे संकलन जानना चाहिये

२,–३४ वीं गाथाका भाव पं० जयचन्द्रजीने अपनी भाषा वचनिकामें इसप्रकार स्पष्ट किया है—

अर्थ—यह जीव या संसार विषें जामें परम्परा भावलिङ्ग न भया संता अनन्तकाल पर्यन्त जन्मजरा मरण कर पीडित दुःख ही कूं प्राप्त भया ।

भावार्थ—द्रव्यलिङ्ग धारया अर तामैं परम्परा करि भी भाव लिङ्गकी प्राप्ति न भई यातैं द्रव्यलिङ्ग निष्फल गया, मुक्तिकी प्राप्ति नहीं भई, संसार ही मैं भ्रम्या ।

यहां आशय ऐसा जो द्रव्यलिङ्ग है सो भावलिङ्गका साधन है परन्तु काललब्धि विना द्रव्यलिङ्ग धारे भी भावलिङ्गकी प्राप्ति न होय यातैं द्रव्यलिङ्ग निष्फल जाय है ऐसैं मोक्षमार्ग प्रधानकरि भावलिंग ही है । यहां कोई कहै है ऐसैं है तो द्रव्यलिंग पहले काहे कूं धारणा ? ताकूं कहिये एसैं मानें तो व्यवहारका लोप होय है तातैं ऐसैं मानना जो द्रव्यलिंग पहले धारया, ऐसा न जानना जो याही तें सिद्धि है, भावलिंग कूं प्रधान मानि तिसके सन्मुख उपयोग राखनां, द्रव्यलिंग कूं यत्न त साधना, ऐसा श्रद्धान भला है ॥ ३४ ॥

तेयाला तिण्णि सया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं ।
मुत्तूणट्ठपएसा जत्थ ण डुरुडुल्लिओ जीवो ॥ ३६ ॥

त्रिचत्वारिंशत्त्रीणि शतानि रज्जूनां लोकक्षेत्रपरिमाणं ।
मुक्त्वाऽष्टौ प्रदेशान् यत्र न भ्रमितः जीवः ॥

तेयाला तिण्णि सया त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशतरज्जुघनाकाररज्जूनां [1]च लोकक्षेत्रपरिमाणं भवति *मुत्तूणट्ठपएसा* मुक्त्वाऽष्टौ प्रदेशान् मेरुकंदे गोस्तनाकारेण येऽष्टप्रदेशा वर्तन्ते तन्मध्ये जीवो नोत्पन्नो न मृतः अन्यत्र सर्वत्र जातो मृतश्चायं जीवः । तेऽष्टौ प्रदेशा निजात्मशरीरमध्ये गृहीतास्तन्मध्ये नोत्पन्न इति वृद्धा । *जत्थ ण डुरुडुल्लिओ जीवो* यत्रात्मा न पर्यटितः स कोऽपि प्रदेशो नास्ति । "पर परी डुस डुम कुम् गुम् भुम झंप रुंट तलयंट भमाड भमड भम्मड चक्कम्म ढंढल्ल ढुढुल्ल टिरिटिल्ल डुरुडुल्लभ्रमेः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण भ्रमधातोः डुरुडुल्ल इत्यादेशः । धनपालकृतदेशीलक्ष्म्यां तु "घालिय डुंडुल्लियाइ भमियत्थे" सूत्रं ।

अनन्त शरीर धारण कर छोड़े हैं अर्थात् जघन्य आयुसे लेकर उत्कृष्ट आयु तक आयुके जितने विकल्प हैं उन सबमें उत्पन्न होकर तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि समस्त परिणामोंकी अपेक्षा तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । गति जाति आदि नाम कर्मके जितने विकल्प हैं उन सबकी अपेक्षा तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । और उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी कालमें स्थित हो उसके प्रत्येक समयकी अपेक्षा तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं । इस तरह अनन्तानन्त संसार सागर के बीच हे जीव ! तूने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पांच परिवर्तनोंको अनन्तवार पूरा किया है । तेरे इस परिभ्रमणका कारण जिन–सम्यक्त्वका अभाव रहा है । जिनसम्यक्त्वरूप भावके द्वारा अनन्त संसारका छेद होजाता है तथा अल्प कालमें जीव मुक्त होजाता है ॥३५॥

गाथार्थ—तीनसौ तेतालीस राजू लोक क्षेत्रका परिमाण है । इसके आठ मध्य प्रदेशोंको छोड़कर, ऐसा कोई प्रदेश नहीं जिसमें यह जीव नहीं घूमा हो ॥३६॥

विशेषार्थ—यह लोक चौदह राजु ऊंचा है । लोकके नीचे पूर्व से पश्चिम तक एक राजु चौड़ा है, फिर क्रमसे घटता घटता मध्य लोकके यहां एक राजु चौड़ा, है फिर क्रमसे बढ़ता बढता पांचवें ब्रह्मस्वर्गके यहां पांच राजु चौड़ा है, फिर क्रमसे घटता घटता अन्तमें एक राजु चौड़ा है। उत्तरसे दक्षिण तक सब जगह सात राजु विस्तार वाला है । इन सब का क्षेत्रफल निकालने पर सम्पूर्ण लोकका क्षेत्र तीन सौ तेतालीस घन राजु प्रमाण होता

१—अत्र 'च' शब्दोऽधिकः प्रतिभाति ।

एक्केक्कंगुलिवाही छण्णवादी होंति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया[1] भणिया ॥ ३७ ॥

एकैकाङ्गुलौ व्याधयः षण्णवतिः भवन्ति जानीहि मनुष्याणाम्।
अवशेषे च शरीरे रोगा भण कियन्तो भणिताः ॥

है। मेरु पर्वत की जड़में गोस्तनके आकार लोकके जो आठ मध्य प्रदेश हैं उनमें यह जीव न उत्पन्न हुआ है और न मरा है, शेष सब जगह उत्पन्न हुआ तथा मरा है। उन आठ प्रदेशोंको इस जीवने अपने शरीरके मध्य ग्रहण तो किया है परन्तु उनमें उत्पन्न नहीं हुआ ऐसा वृद्धजनों का कथन[2] है। इस तरह गाथाका अर्थ इस प्रकार होता है कि 'तीनसौ तेतालीस घनराजु प्रमाण लोकक्षेत्रमें आठ प्रदेशोंको छोड़ कर ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जहां इस जीवने भ्रमण न किया हो। ढुरुढुल्लिओ' यहां पर 'पर परी ढुम ढुम'—आदि प्राकृत व्याकरण सूत्रके द्वारा भ्रम धातुके स्थानमें 'ढुरु ढुल्ल' आदेश होगया है परन्तु धनपाल कृत देशी लक्ष्मीमें 'घोलिय ढुंढुल्लियाइ भमियत्थे' यह सूत्र है ॥३६॥

१–पंचेव य कोडीओ तह चेव अडसट्ठिलक्खाणि।
णवणउदि च सहस्सा पचसया होंति चुलसीदी ॥

अर्थ—समस्तशरीर में पांच करोड अठसठ लाख निन्यानवें हजार पांचसौ चौरासी रोग हैं।

२–जीवके सर्व जघन्य शरीरकी अवगाहना घनांगुलके असंख्येय भाग प्रमाण होती है। यह अवगाहना लोकके आठ मध्यप्रदेशों से बहुत बड़ी होती है इसलिये उनमें समूचे जीवकी न उत्पत्ति हो सकती है और न मरण हो सकता है किन्तु क्षेत्र परिवर्तन को पूरा करते समय जीव उन आठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर अनन्त बार उत्पन्न हुआ तथा मरा है। श्रीकुन्दकुन्दस्वामी ने इस गाथामें 'मुत्तूणट्ठपएसा'-आठ प्रदेशोंको छोड़कर अन्यत्र सब जगह भ्रमण करनेकी बात लिखी है परन्तु उन्हीं कुन्दकुन्दस्वामी ने बारसणुपेक्खा की संसार भावना में निम्नलिखित गाथा द्वारा समस्त लोकक्षेत्रमें भ्रमण करनेका निरूपण किया है–

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्थि जण्ण उप्पण्णं
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥२६॥

अर्थ—समस्त लोक क्षेत्रमें वह स्थान नहीं है जहां यह जीव क्रमसे उत्पन्न न हुआ हो। अपनी अवगाहन के द्वारा इस जीवने क्षेत्रमें अनेकवार भ्रमण किया है।

यही गाथा श्रीपूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धिमें भी ज्यों की त्यों उद्धृतकी है तथा लिखा है कि यह जीव लोकके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके मध्य प्रदेश करके उतनी बार उत्पन्न होता है जितने कि घनांगुलके असंख्येयभाग प्रमाण अवगाहनाके प्रदेश होते हैं। संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरिने दोनों कथनोंकी संगति बैठाने का प्रयत्न किया है।

एक्केक्कंगुलिवाही एकैकांगुलौ व्याधयो रोगाः। *छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं* षण्णवतिर्भवन्ति हे जीव ! त्वं जानीहि मनुजानां मनुष्याणां शरीरे। *अवसेसे य सरीरे* अवशेषे च शरीरे एकाङ्गुलेरुद्धरितादवशिष्टे शरीरे ! *रोया भण किसिया भणिया* रोगा व्याधयस्त्वं भण कथय कियन्तो भणिता इति।

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे।

एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥ ३८ ॥

ते रोगा अपि च सकलाः सोढा त्वया परवशेन पूर्वभवे।

एवं सहसे महायशः ! किं वा बहुभिः लपितैः ॥

ते रोया वि य सयला ते रोगाः सकला अपि सर्वेऽपि। *सहिया ते परवसेण पुव्वभवे* सोढास्त्वया परवशेन कर्माधीनतया पूर्वभवे पूर्वजन्मान्तरसमूहे। *एवं सहसि महाजस* एवममुनाप्रकारेण त्वं सहसेऽनुभवसि हे महायशः ! । *किं वा बहुएहिं लविएहिं* किं वा बहुभिर्लपितैर्जल्पितैः।

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले।

उयरे वसिओसि चिरं नवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥ ३९ ॥

गाथार्थ—हे जीव ! मनुष्योंके एक एक अंगुलमें छियानवे रोग होते हैं फिर समस्त शरीरमें कितने रोग कहे गये हैं सो कह ॥३७॥

विशेषार्थ—हे आत्मन् ! मनुष्योंका शरीर रोगोंका घर है उसके एक एक अंगुल में छियानवे छियानवे रोग होते हैं, तब समस्त शरीरमें कितने रोग होंगे, इसका अनुमान तू स्वयं लगा ॥३७॥

गाथार्थ—हे महायशस्वी मुनि ! तूने वे सब रोग पर-भवमें पर-वश होकर सहन किये हैं और इसी प्रकार इस समय भी सह रहा है, अधिक कहनेसे क्या लाभ है ॥३८॥

विशेषार्थ—यहां आचार्य इस जीवको 'महाजस'—महायशके धारक पदसे संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे जीव ! तू तो महायशका धारक है अनन्तवीर्य आदि गुणोंका धारक है फिर क्यों कर्मके चक्रमें फंस रहा है। पूर्व भवमें तूने कर्मोंके अधीन हो पूर्वोक्त अनेक रोगोंको सहन किया है और वर्तमानमें भी सहन कर रहा है। अधिक क्या कहें ? इतना निश्चय कर कि यदि भावकी ओर दृष्टि न दी तो इसी तरह भविष्यमें भी अनेक दुःखोंको सहन करना पड़ेगा ॥३८॥

गाथार्थ—पित्त, आंत, मूत्र, प्लीहा, यकृत्, रुधिर, खरिस, और कृमिके समूहसे युक्त माताके उदर में तूने पूरे नौ दस मास चिरकाल तक निवास किया है ॥३९॥

विशेषार्थ—पित्त, आंत और मूत्रका अर्थ प्रसिद्ध है। फेफस प्लीहाको कहते हैं।

पित्तान्त्रमूत्रफेफसयकृद्रुधिरखरिसकृमिजाले ।
उदरे वसितोसि चिरं नवदशमासैः पूर्णैः ॥

पित्तं च मायुः । अंत्राणि च परीतंति । मूत्रं च प्रस्रावः । फेफसश्च प्लीहा । *कालिज्जय* यकृत "उदर्यो जलाधारो हृदयस्य दक्षिणे यकृत् कालखण्डं क्लोम वामे प्लीहा [1]पुष्पसश्चेति" वैद्याः । वरहल इति देश्यां । *रुहिर* रुधिरं च । *खरिस* खरिसश्च, अपक्वविटमिश्ररुधिरश्लेष्मा खरिसः कथ्यते । खउरिय इति देश्यात् । *किमि* कृमयश्च द्वीन्द्रिया जीवास्तेषां जालं समूहो यत्रोदरे तत् पित्तान्त्रमूत्रपुष्पसकालियकरुधिखरिसयकृमिजालं तस्मिन् । *उयरे वसिओसि चिरं* उदरे कुक्षिमध्ये उषितोऽसि निवासं कृतवानसि त्वं चिरं दीर्घकालं, अनन्तगर्भग्रहणापेक्षया चिरमिति विशेषणं । *नवदसमासेहिं पत्तेहिं* नवभिर्दशभिर्वा मासैः प्राप्तैः परिपूर्णैर्जातैः तन्मध्ये तदुपरि च कियान् कालो लभ्यते प्राप्तशब्देनेति ।

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णंते ।

छद्दिखरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए ॥ ४० ॥

द्विजसङ्गस्थितमशनमाहृत्य मातृभुक्तमन्नान्ते ।
छर्दिखरिसयोर्मध्ये जठरे उषितोषि जनन्याः ॥

यकृत् लीवर को कहते हैं यह पेटमें जलका आधार है तथा हृदयके दाहिनी ओर होता है इसे यकृत्, कालखण्ड अथवा क्लोम कहते हैं । हृदय के बांई ओर जो जलाधार है उसे प्लीहा अथवा पुष्पस कहते हैं, ऐसा वैद्योंका कहना है । देशी शब्दोंमें उसे 'वरहल' कहते हैं (कहीं कहीं तिल्ली या वाउट भी कहते हैं) अपक्व मलसे मिला हुआ रुधिर और कफ का जो समूह है उसे खरिस कहते हैं । देशी शब्दों में इसे 'खउरिय' कहते हैं (कहीं कहीं आंव भी कहते हैं) सूक्ष्म लटके आकार दो इन्द्रिय जीवोंको कृमि कहते हैं । इन सबसे भरे हुए माताके पेटमें इस जीवने चिरकाल तक निवास किया है अर्थात् अनन्तवार गर्भ धारण कर नौ नौ दश दश मास तक माताके गर्भमें निवास किया है इसलिये हे मुनि ! यदि गर्भवासके इन दुःखोंसे बचना चाहता है तो भावलिङ्ग को धारण कर ॥३९॥

गाथार्थ—हे जीव ! तूने माताके उदरमें उसके द्वारा खाये हुए अन्नके मध्य तथा वमन और अपक्व मलके बीच निवास किया है और माताके द्वारा खाये तथा उसके दांतोंके संगसे दले हुए भोजन को ग्रहण किया ॥४०॥

विशेषार्थ—हे जीव ! भाव-लिङ्गके विना गर्भवासके दुःख उठाते हुए तूने माताके उदरमें निवास किया है वह भी वमन तथा आमाशय अथवा माताके द्वारा खाये हुए अन्नके मध्य निवास किया है और चवाते समय माताके दांतोंके संगमें स्थित अर्थात् दान्तोंसे

१–पुप्फस. क० । पुष्प० ख० ।

हे जीव ! त्वं जनन्या मातुः । जठरे उदरे उषितोऽसि निवासं चकर्थ । कथंभूते जठरे, *छद्दिखरिसाणमज्झे* छर्दिश्च वान्तमन्नं, खरिसश्च अपक्वं दर्दरं मलं रुधिरलिप्तं तयोः छर्दिखरिसयोः तयोः छर्दिखरिसयो र्मध्ये मध्यावि शष्टे । अथवा जठरे उषितोऽसि कुत्रोषितोऽसि छर्दिखरिसयोर्मध्ये त्वमुषितोऽसि । किं कृत्वा-पूर्वं, *असणं आहारिय* अशनं भोजनं आहृत्य आहार कृत्वा । कथंभूतमशनं, *दियसंगट्ठियं* द्विजानां दन्तानां अस्थ्यङ्कुराणां संगे स्थितं, चर्वणवेलायां मातृमुखे दन्तानां समीपे स्थितं अस्थिभिः स्पृष्टं उच्छिष्टीकृतं । क उषितोऽसि, *मायभुत्तमण्णंते* यन्मात्रा भुक्तं तस्यान्नस्यान्ते मध्ये उषितोऽसि । अथवा मात्रन्नं भुत्तं-भुक्तं तेत्वया । तथा चोक्तं—

[१]अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्त्तः प्रतीच्छन्
कर्मायत्तः सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्धया ।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि ॥ १ ॥

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं ।
असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥ ४१ ॥

शिशुकाले च अज्ञाने अशुचिमध्ये लुठितोसि त्वम् ।
अशुचिः अशिता बहुशः मुनिवर ! बालत्वप्राप्तेन ॥

छूकर जूंठे हुए आहारको ग्रहण किया है । अथवा 'मायन्नं भुत्तं ते' ऐसा भी पाठ है उसका अर्थ होता है कि इस जीवने माताके द्वारा खाया हुआ तथा उसके दांतोंसे चर्वित जूंठा अन्न ही खाया है । जैसा कि कहा गया है—

हे प्राणी ! तूने कर्मोंके अधीन हो चिरकाल तक माताके उदरमें स्थित मलके मध्य निवास किया है । वहां भूख प्याससे पीड़ित होकर बड़ी तृष्णासे तूने मुख विवरमें भीतर पड़ते हुए अन्नकी इच्छा की है । गर्भाशयमें सिकुड़े रहनेके कारण तू निश्चेष्ट रहा है तथा कृमि–कुलके साथ तूने निवास किया है । इस तरह जन्मके समय जो क्लेश उठाना पड़ता है उससे भयभीत होकर ही तू जन्मके कारणभूत मरणसे डरता है ।

भावार्थ—यह जीव मरणसे इसीलिये डरता है कि मरनेके बाद फिर जन्म धारण करना पड़ेगा और उसके भारी दुःख सहन करने पड़ेंगे ॥४०॥

गाथार्थ—हे मुनिवर ! तू ज्ञान-रहित शिशुकालमें विष्ठा आदि अपवित्र वस्तुओं के मध्य लेटा है तथा उसी बाल्य-अवस्था की प्राप्तिके कारण तूने अनेक बार अशुचि

१—आत्मानुशासने गुणभद्रस्य ।

सिसुकाले य अयाणे गर्भरूपकाले स्तनन्धयावसरेऽज्ञाने निर्विवेके । असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं अशुचिमध्ये गूथमध्ये लोलितो लुठितस्त्वं भवान् । *असुई असिया बहुसो* अशुचिर्विष्ठा अमेध्यमशिता भक्षिता बहुशोऽनेकवारान् । *मुणिवर बालत्तपत्तेण* हे मुनिवर ! यतिवराणां ज्ञानिनां मध्ये श्रेष्ठ ! परम प्रशस्य बालत्वप्राप्तेन अव्यक्तबालत्वं गतेन । तथा चोक्तं—

[1]बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं ।
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने ।
मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वार्धक्येऽर्धमृतः क्व जन्मफलिते धर्मो भवेन्निर्मलोः ॥ १ ॥

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधं ।
खरिसवसपूयखिब्भिसभरियं चिंतेहि देहउडं ॥ ४२ ॥

मांसास्थिशुक्रशोणितपित्तान्त्रस्रवत्कुणिमदुर्गन्धम् ।
खरिसवसापूयकिल्बिषभरितं चिन्तय देहकुटम् ।

वस्तुका भक्षण किया है ॥४१॥

विशेषार्थ—बालककी स्तनन्धय–दूध पीनेके अवस्थाको शिशुकाल कहते हैं । उस समय इसे पवित्र तथा अपवित्रका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है । उस दशामें यदि बालक अशुचि करलेता है और माता पिता आदि इष्ट जन नहीं देख पाते हैं तो वह उसी अशुचि पदार्थसे लिप्त पड़ा रहता है इतना ही नहीं कदाचित् उस अशुचि का भक्षण भी करलेता है । हे मुनिवर ! हे यतियों–ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ परम प्रशंसनीय ! साधो ! बाल्य-अवस्थाके प्रसङ्गसे यह सब तुमने किया है । अथवा बालत्व-मिथ्यादर्शन से युक्त द्रव्य-लिङ्गके प्राप्त होनेसे यह सब दशा तुमने भोगी है । जैसा कि कहा है–

बाल्ये–हे जीव ! बाल्य-अवस्थामें अङ्गोंकी पूर्णता न होनेसे तू हित और अहितको कुछ भी नहीं जानता है । यौवन अवस्थामें कामसे अन्धा होकर स्त्रीरूप वृक्षोंसे सघन वनमें भ्रमण करता है । मध्यअवस्थामें बढीहुई तृष्णासे धन-उपार्जन करनेके लिये पशुकी तरह अज्ञानी हो खेती आदिके द्वारा क्लेश उठाता है और बुढापेमें अर्धमृतकके समान होजाता है फिर तेरा जन्म सफल हो तो कहां हो ? और तेरा धर्म निर्मल हो तो कहां हो ॥४१॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू ऐसा चिन्तन कर कि यह शरीर रूपी घड़ा मांस, हड्डी,

---

१–आत्मानुशासने गुणभद्रस्य ।

हे जीव ! शुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मन् ! त्वं देहउडं कायकुटं शरीरघटं । *चिंतेहि* चिन्तय विचारय पर्यालोचयस्व । कथंभूतं देहकुटं मसेत्यादि मांसं च पिशितं, अस्थीनि च हड्डानि, शुक्रं च सप्तमो धातुः बीजं वीर्यं चेति यावत्, शोणितं रुधिरं-रक्तं लोहितमिति यावत्, पित्तं च उष्णविकारो मायुरिति, अंत्राणि च पुरीतंति, एतैः स्रवद्गलत् कुणिमं शटितमृतकं तद्वद्दुर्गन्धमसुरभि । पुनः कथंभूतं देहकुटं त्वं चिन्तय, खरिसश्च अपक्वमलरुधिरमिश्रितं द्रव्यं । वसा च वपा भेद इति य वत शुद्धमांसस्वेद इत्यर्थः । पूयं च विनष्ट-रुधिरं । पूइ इति पाठेऽपवित्रं । किल्विषं च कश्मलं एतैर्भरितं पूरितं ।

भाव वेमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।
इय भाविऊण उज्झसु गंथं अब्भंतरं धीर ॥ ४३ ॥

भावविमुक्तो मुक्तः न च मुक्तः बान्धवादिमित्रेण ।
इति भावयित्वा उज्झय गन्धमभ्यतरं धीर ॥

भावविमुत्तो मुत्तो बान्धवादीनां प्रेमलक्षणेन भावेन विमुक्तो रहितो मुनिर्विमुक्तः कथ्यते । *ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण* न च नैव मुक्तो यतिरुच्यते, कीदृशः ? बान्धवादिकुटुम्बेन मुक्तस्त्यक्तो मुक्त उच्यते बान्धवादिमात्रेण मुक्तो मुनिर्नोच्यते- किं तर्हि उच्यते-गृहस्थ एवोच्यते इति भावार्थः । *इय भाविऊण उज्झसु* इतीदृशमर्थं भावयित्वा सम्यग्विचार्य उज्झसु-परित्यज परिहर । कं, गन्धं परिमलं वासनां भावनां । कथं-भूतं गन्धं, अभ्यन्तरं मनसि स्थितं बान्धवादिस्नेहं । हे धीर ! हे योगीश्वर ! ध्येयं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति धीर इति व्युत्पत्तेः ।

वीर्य, रुधिर, पित्त, और आंतोंसे निकलती हुई सड़े मुरदे की भांति दुर्गन्धसे युक्त है तथा खरिस, चर्वी, पीप और विष्ठा आदि वस्तुओंसे भरा हुआ है ॥४२॥

विशेषार्थ—हे जीव ! हे शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारक आत्मन् ! तेरा यह शरीर रूपी घट कैसा है ? थोड़ा इसका चिन्तवन तो कर । यह मांस हड्डी वीर्य रुधिर, पित्त, और आंतो से झरती हुई सड़े मुरदे जैसी दुर्गन्धसे युक्त है तथा खरिस—अपक्वमल और रुधिरसे मिश्रित द्रव्य—आंव, चर्वी, पूय-बिगड़ा खून-पीप और कश्मल-विष्टा आदि पदार्थोंसे भरा हुआ है । ऐसे घृणित शरीरकी प्राप्ति भावकी पहिचान न होनेसे ही हुई है ॥४२॥

गाथार्थ—जो मुनि भावसे मुक्त है वही मुक्त कहलाता है, बान्धवादि इष्टजनों से मुक्त 'मुक्त' नहीं कहलाता, ऐसा विचार कर हे योगीश्वर ! तू आभ्यन्तर गन्ध-स्नेह को छोड़ ॥४३॥

विशेषार्थ—ध्येयके प्रति जो धी—बुद्धिको प्रेरित करे वह धीर है, इस व्युत्पत्तिसे धीरका अर्थ योगीश्वर होता है । योगीश्वरको सम्बोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि **अहो योगीश्वर ! जो मुनि बान्धव आदि कुटुम्बी जनोंके प्रेमरूप भावसे छूटा है यथार्थमें**

देहादिचत्तसङ्गो माणकसाएण कलुसिओ धीर ।
अत्तावणेण जादो बाहुवली कित्तिय कालं ॥ ४४ ॥

देहादित्यक्तसङ्गः मानकषायेन कलुषितो धीर ।
आतापनेन जातो बाहुबलिः कियंतं कालम् ॥

देहादिचत्तसंगो देहः शरीरं, आदिशब्दाद्धस्त्यश्वरथपदाति समूहः पुत्रकलत्रादिवर्गश्च लभ्यते तस्मात्यक्तसंगो निष्परिग्रहः *माणकसाएण कलुसिओ धीर* संज्वलन मानलक्षणकषायेण कलुषितो मलिनितः हे धीर ! *अत्तावणेण जादो* आतापनेन योगेन उद्भकायोत्सर्गेण । *बाहुवली कित्तियं कालं* श्रीबाहुबलिस्वामी कियंतं कालं वर्षपर्यन्तं कालं कलुषित इति सम्बन्धः । तथा चोक्तं—

[1]चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुंचेत् ।
क्लेशं किलाप स हि बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति ॥ १ ॥

वही छूटा हुआ कहलाता है, मात्र बान्धव आदि कुटुम्बी जनोंसे छूटा मुनि, छूटा नहीं कहलाता है किन्तु गृहस्थ ही कहलाता है । इस अर्थका अच्छी तरह विचार कर, तू आभ्यन्तर गन्धको—मनमें स्थित बान्धवादिके सम्बन्ध अथवा स्नेहको छोड़ ॥४३॥

गाथार्थ—अहो यतिवर शरीरादिसे स्नेह छोड़ देनेपर भी बाहुबली स्वामी मान कषायसे कलुषित रहे, अतः आतापन योगके द्वारा उन्हें कितने समय तक कलुषित रहना पड़ा ॥४४॥

विशेषार्थ—शरीर तथा आदि शब्दसे हाथी घोड़ा रथ पदातियोंका समूह तथा पुत्र स्त्री आदिका वर्ग लिया जाता है उन सबसे स्नेहका त्याग कर बाहुबली—भगवान् वृषभदेवके पुत्र यद्यपि भरत चक्रवर्तीके द्वन्द्वसे विरक्त हो निष्परिग्रह बन चुके थे तथापि वे संज्वलन मान—सम्बन्धी किञ्चित् कषाय से—(मैं भरतकी भूमि पर खड़ा हूं) इसप्रकारकी अव्यक्त कषायसे कलुषित रहे, अतः कितने ही काल तक अर्थात् एक वर्ष तक उन्हें आतापन योगसे कलुषित रहना पड़ा । जैसा कि कहा गया है—

चक्रं विहाय—अपनी दाहिनी भुजा पर स्थित चक्र रत्नको छोड़कर बाहुबलीने जो दीक्षा ली थी उससे वे उसी समय मुक्त हो सकते थे परन्तु चिरकाल तक क्लेश पाते रहे । सो ठीक ही है क्योंकि थोड़ा भी मान बहुत भारी हानि करता है ॥४४॥

१—आत्मानुशासने गुणभद्रस्य ।

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो ।
सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥ ४५ ॥

मधुपिंगो नाम मुनिः देहाहारादित्यक्तव्यापारः ।
श्रवणत्वं न प्राप्तः निदानमात्रेण भव्यनुत ॥

महुपिंगो णाम मुणी मधुपिंगो नाम मुनिः । *देहाहारादिचत्तवावारो* शरीराहारादित्यक्तव्यापारः । *सवणत्तणं ण पत्तो* श्रमणत्वं दिगम्बरत्वं न प्राप्तः द्रव्यलिंगी बभूवेत्यर्थः । *णियाणमित्तेण भवियणुय* निदानमात्रेण सगरं सकुटुम्बं क्षयं नेष्यामीति निदानमात्रेण त हे भविकनुत ! भव्यजीवस्तुतमुने ! इयं कथा महापुराणादिषु विश्रुता वर्तते । तथा हि । अथेह भरतक्षेत्रे चारणयुगलनगरे राजा सुयोधनः, राज्ञी अतिथिः, सुता सुलसा । तस्याः स्वयंवरे सर्वत्र दूता गताः । सर्वे नृपाः चारणयुगले पुरे मिलिताः । अयोध्यापतिस्तत्र सगर आगन्तुमुद्यमं चकार । पश्चात्स्नाने सति तैलोपलेपिना सगरेण राज्ञा पलितं केशं दृष्ट्वा तत्र गमने विरक्तेन बभूव । तत्रावसरे मन्दोदरी धात्री राजानमुवाच । देव ! नवं पलितमिदं तवापूर्वद्रव्यलाभं वदति तत्रैव विश्वभूःमंत्री कथयति । हे राजन् ! सुलसा परनृपान् मुक्त्वा त्वामेव वरयिष्यति तथाहं कुशलतया करिष्यामि । तत्श्रुत्वा हृष्टो राजा तत्र चतुरङ्गसैन्येन चचाल । तत्र केषुचिद्दिवसेषु गतेषु मन्दोदरी सुलसा-

---

गाथार्थ—हे भव्य-नुत ! हे भव्य जीवोंके द्वारा स्तुत मुनिराज ! देखो, मधुपिङ्ग नामक मुनिने यद्यपि शरीर तथा आहार आदि समस्त व्यापारका परित्याग कर दिया था तथापि वे निदान मात्रके कारण श्रमणपनेको—भावसे मुनिअवस्था को प्राप्त नहीं हुए थे ।

विशेषार्थ—मधुपिङ्ग नामक मुनिने दीक्षा धारण कर शरीर तथा आहार आदि व्यापारका परित्याग कर दिया था फिर भी वे इस निदानसे कि 'मैं सगरको सकुटम्ब नष्ट कर दूंगा' भाव-मुनि अवस्थाको प्राप्त नहीं हुए अर्थात् द्रव्यलिङ्गी बने रहे । हे मुनि ! तू भव्य जीवोंके द्वारा स्तुत हो रहा है अर्थात् भव्य जीव तेरी स्तुति करते हैं सो इतने मात्र से तू अपने आपको कृत-कृत्य मत समझ, भाव शुद्धिकी ओर लक्ष्य दे यह कथा महापुराण आदिमें प्रसिद्ध है जो कि इस प्रकार है—

मधुपिङ्ग मुनिकी कथा—

अथानन्तर इसी भरत क्षेत्रके चारण युगल नगरमें एक राजा सुयोधन रहता था । उसकी स्त्रीका नाम अतिथि था । उन दोनोंका सुलसा नामकी पुत्री थी । सुलसाका स्वयंवर निश्चित हुआ, अतः सब ओर दूत भेजे गये । सब राजा चारण-युगल नगरमें एकत्रित हुए । अयोध्याके राजा सगरने भी वहां जानेका उद्यम किया । पीछे स्नान कर जब सगर राजा तैल लगा रहा था तब शिरमें सफेद वाल देखकर वह वहां जानेमें विरक्त हुआ । उसी समय मन्दोदरी नामक धायने राजासे कहा-देव ! यह नवीन सफेद वाल आपको अपूर्व द्रव्यका लाभ बतला रहा है । वहीं विश्वभू नामका मन्त्री था, वह भी कहने लगा कि हे

तिकं गत्वा हे पुत्रि ! कुलरूपसौन्दर्यविक्रमनयविनयविभवबन्धुसम्पदादयो ये गुणा वरे विलोक्यन्ते ते सर्वेऽपि साकेतपतौ सगरे सन्तीत्युवाच । तत्श्रुत्वा सा तत्र रक्ता बभूव । अतिथिस्तज्ज्ञात्वा युक्तिवचनैस्तं दूषयित्वा हे पुत्रि ! सुरम्यदेशे पोदनापुरे बाहुबलिकुले सर्वराजसु ज्येष्ठो मम भ्राता तृणपिंगलः राज्ञी सर्वयशास्तत्पुत्रो मधुपिंगलः सर्वैर्वरगुणैराढ्यो[1] नवे वयसि वर्तते स त्वया वरमालया मदाक्षेपेण माननीयः । साकेतपतिना सपत्नीदुःखदायिना किं करिष्यसि ? इत्यवदत् । सुलसा तु तदुपरोधं नामन्यत । अतिथिरुपायेन मंदोदरीप्रवेशं तत्र निवारयामास । सा निजस्वामिनं नष्टं कार्यं जगाद । राजाह हे विश्वभूमंन्त्रिन् ! इदं मम कार्यं त्वया सर्वथा कार्यं । तत्श्रुत्वा तेन विश्वभुवा स्वयंवरविधानं नाम सामुद्रिकं शास्त्रं नवीनं रचयित्वा तत्पुस्तकं मंजूषायां निक्षिप्य यथा कोऽपि न जानाति तथा वनमध्ये भू-तिरोहितं निदधे । तत्रोद्या

राजन् ! सुलसा सब राजाओं को छोड़कर तुम्हें ही वरेगी ऐसा मैं चतुराई से उद्यम करूंगा । यह सुनकर हर्षित हो राजा चतुरङ्ग सेनाके साथ चल पड़ा । वहां कितने ही दिन व्यतीत होजानेपर एक दिन मन्दोदरी सुलसा के पास जाकर बोली कि हे पुत्रि ! कुल, रूप, सौन्दर्य, पराक्रम, राजनीति, विनय, विभव, भाई बन्धु और सम्पत्ति आदि जो गुण वरमें देखे जाते हैं वे सभी गुण अयोध्याके स्वामी सगरमें विद्यमान हैं । यह सुनकर सुलसा उसमें अनुरक्त हो गई ।

जब सुलसाकी माता अतिथिको इस बातका पता चलगया तब उसने युक्ति-पूर्ण वचनोंसे राजा सगरको दूषित कर अर्थात् उसमें अनेक दोष दिखाकर कहा कि हे पुत्रि ! सुरम्यदेशके पोदनापुर नगरमें बाहुबलीके कुलमें सब राजाओं में श्रेष्ठ तृणपिङ्गल नामका मेरा भाई है । उसकी स्त्रीका नाम सर्वयशा है । उन दोनोंका मधुपिङ्गल नामका पुत्र है जो वरके समस्त गुणोंसे सहित है तथा नई अवस्थामें विद्यमान है । तुझे मेरे कहनेसे वरमालाके द्वारा उसे ही सन्मानित करना चाहिये । सौतके दुःखको देनेवाले अयोध्याके राजा सगरसे तू क्या करेगी ? माताने यह सब कहा परन्तु सुलसाने उसके अनुरोध को स्वीकृत नहीं किया । तदनन्तर अतिथिने किसी उपायसे सुलसाके पास मन्दोदरी धायका प्रवेश रोक दिया । मन्दोदरी ने अपने स्वामी राजा सगरसे कह दिया कि कार्य नष्ट होगया है । राजाने विश्वभूमन्त्री से कहा कि हे मन्त्रिन् ! तुम्हें मेरा यह कार्य सब तरहसे सिद्ध करना चाहिये । यह सुनकर विश्वभूमन्त्री ने स्वयंवर-विधान नामक एक नवीन सामुद्रिक शास्त्र की रचना कर उसकी पुस्तक को एक पेटीमें रक्खा और जिस तरह कोई न जान सके इस तरह पेटीको वनके मध्य पृथिवी के अन्दर छिपा दिया ।

१—युक्त इति क० पुस्तके ।

नभूशोधनं कारयन् हलाग्रे लग्नां मंजूषां समानीय मया लब्धेयं चिरन्तनशास्त्रसंयुक्ता मंजूषा । स्वयमजानन्निव राजपुत्राणामग्रे वाचितवान् । वरकदम्बके कन्या पिङ्गाक्षं मालया न संभावयेत् । संभावयेच्चेत्तर्हि सा कन्या म्रियते । पिङ्गाक्षेण सभामध्ये न प्रवेष्टव्यं । पापभयाल्लज्जितव्यं च प्रधानान्न बिभेति च न लज्जते तदा स पापी निर्घाटनीयः । तच्छ्रुत्वा तद्गुणत्वाल्लज्जया निर्गत्य हरिषेणगुरुपादमूले दीक्षां जग्राह । तज्ज्ञात्वा सगरो विश्वभूश्च मुदं प्रापतुः । अन्ये च कुटिला मुदं प्रापुः । सत्पुरुषास्तद्बान्धवाश्च विषादं प्रापुः । वञ्चनाकृतं पापमर्थिनो न पश्यन्ति । अथाष्टदिनानि महापूजां जिनेशिनामभिषेकं च कृत्वा स्नातालंकृतां शुद्धतिथिवारादिसन्निधौ कन्यां पुरोहितो रथमारोप्य नीत्वा सुभटपरिवृतान् भद्रासनारूढान् नृपान् स्वयंवरमण्डपे यथाक्रमं पृथक्कुलजात्यादिकं विनिर्दिश्य विरराम । सा तु समासक्ता सगरं वरमालया वर-

---

तदनन्तर मन्त्रीने उसी स्थानपर बगीचाके लिये भूमिको साफ कराना शुरू किया । वह पेटी हल की नोंकमें आ लगी । मन्त्रीने उस पेटीको लाकर प्रकट किया कि मुझे प्राचीन शास्त्रसे युक्त यह पेटी मिली है । तथा स्वयं अनजान-जैसा बनकर राजपुत्रोंके आगे उसने वह पुस्तक बचवाई । उसमें लिखा था कि वरोंके समूह में कन्या ऐसे वरको वर—मालासे सन्मानित न करे जिसके नेत्र पीले हों । यदि करेगी तो वह कन्या मर जावेगी । पीले नेत्र वालेको सभाके बीच प्रवेशमें नहीं करना चाहिये तथा पापके भयसे उसे लज्जित होना चाहिये । इतने पर भी यदि वह सभाके प्रधानसे भयभीत न हो तथा लज्जित न हो तो उस पापीको निकाल देना चाहिये । यह सुन कर अपनेमें वह गुण होनेसे अर्थात् पीले नेत्र होनेसे मधुपिङ्गल लज्जाके कारण सभासे स्वयं बाहर निकल गया और वहां उसने हरिषेण गुरुके पादमूल में दीक्षा ग्रहण करली यह जानकर सगर राजा तथा विश्वभूमन्त्री हर्षको प्राप्त हुए । इनके सिवाय अन्य कुटिल परिणामी मनुष्य भी हर्षको प्राप्त हुए । सत्पुरुष और उनके इष्ट जन विषादको प्राप्त हुए । ठीक ही है स्वार्थी मनुष्य वञ्चनाके द्वारा किये हुए पापको नहीं देखते हैं ।

तदनन्तर लगातार आठ दिन तक जिनेन्द्र भगवान् की महापूजा और अभिषेक किया गया । तथा शुद्धतिथि और शुद्ध वार आदिके उपस्थित होनेपर जिसे स्नान कराकर उत्तमोत्तम अलंकार पहिनाये गये थे और जो उत्तम योद्धाओंसे घिरी थी ऐसी उस कन्याको रथ पर बैठा कर पुरोहित स्वयंवर मण्डपमें ले आया और उत्तमोत्तम आसनों पर बैठे हुए राजाओंको लक्ष्य करके क्रम क्रमसे उनके अलग अलग कुल तथा जाति आदिका निर्देश करके चुप हो रहा । किन्तु कन्या तो सगर राजामें आसक्त थी इसलिये उसने वर-मालासे उसे वर लिया । वहां जो राजा ईर्ष्या-रहित थे वे 'विधाताने इनका योग्य सम्बन्ध जुटाया है' यह कहते हुए सन्तुष्ट हुए । विवाह विधिके होजाने पर सगर सुलसाके साथ

यामास। निर्मत्सरं राजमण्डलं तु तुतोष। अनयोरनुरूपः संगमो विधात्रा कृत इति। विवाहविधौ च जाते सगरः सुलसासहितस्तत्र कानिचिद्दिनानि तत्र सुखेन स्थित्वा साकेतं गतः। भोगसुखमनुभवन् स्थितः। मधुपिंगलस्तु साधुः कस्मिंश्चित्पुरे भिक्षार्थं प्रविशन् केनचिज्जैनेन नैमित्तिकेन दृष्टः। राज्यार्हलक्षणोऽयं भिक्षाशी किंलक्षणशास्त्रेणेति निनिन्द। तदाकर्ण्यापर एवं बभाषे। राजलक्ष्मीं भुंजान एष सगरमंत्रिणा वृथा दूषितः कृत्रिमं सामुद्रिकं रचयित्वेति लज्जितस्तपो जग्राह, सुलसा सगरं च। तच्छ्रुत्वा कोपाग्निदीपितं निदानं चक्रे, तपःफलेन सगरकुलं सर्वं जन्मान्तरे निर्मूलयिष्यामीति। ततोऽसौ मृत्वाऽसुरेन्द्रस्य प्रथमम -षानीके चतुःषष्ठिसहस्रासुरस्वामी बभूव। स महाकालासुरनामा निजदेवैर्वेष्टितो विभंगेन पूर्वभवसम्बन्धं ज्ञात्वा पापी चेतसा मंत्रिणि तत्प्रभौ सगरे च प्ररूढवैरोऽपि तौ हन्तुमनिच्छन्नत्युग्रं पापं तयोरिच्छन् तदुपायं सहायांश्च संचिन्त्य स्थितः। मम महापापं भविष्यतीति नाचिन्तयत् धिग्मूढतां। तदभिप्रायसाधनमिद-

वहां कुछ दिन तक सुखसे रहकर अयोध्या चला गया और भोग सम्बन्धी सुखका अनुभव करता हुआ रहने लगा।

उधर मधुपिङ्गल मुनि भिक्षाके लिये किसी नगरमें प्रवेश कर रहे थे। प्रवेश करते समय किसी जैन निमित्त-ज्ञानीने उन्हें देखा। उन्हें देखकर वह यह कहकर सामुद्रिक शास्त्र की निन्दा करने लगा 'कि यह पुरुष तो राज्य-प्राप्तिके योग्य लक्षणोंसे सहित है परन्तु भिक्षा-भोजी हो रहा है लक्षण शास्त्र से क्या प्रयोजन है? अर्थात् लक्षण शास्त्र मिथ्या है। निमित्त ज्ञानीकी बात सुनकर दूसरा आदमी इस प्रकार कहने लगा कि यह तो राज्य-लक्ष्मीका ही उपभोग करता था परन्तु सगर राजाके मन्त्रीने कृत्रिम सामुद्रिक शास्त्र रचकर इसे व्यर्थ ही दूषित ठहरा दिया इसलिये लज्जित होकर इसने तप ग्रहण कर लिया और सुलसा ने राजा सगरको। यह सुनकर मधुपिङ्गल मुनिने क्रोध-रूपी अग्निसे प्रदीप्त हो निदान किया कि मैं तपके फलसे अन्य जन्ममें सगरके समस्त कुलको निर्मूल कर दूँगा-जड़से नष्ट कर दूंगा। तदनन्तर वह मरकर असुरेन्द्रकी प्रथम महिष सेनामें चौंसठ हजार असुरोंका स्वामी हुआ। वह महाकाल नामक असुर अपने देवोंसे परिवृत हो विभङ्गावधि ज्ञानसे पूर्व भवका सब सम्बन्ध जान गया। वह पापी यद्यपि हृदयसे मन्त्री और उसके स्वामी राजा सगर पर अत्यधिक वैर धारण कर रहा था तथापि उन्हें मारना नहीं चाहता था। वह उनसे किसी भयंकर पापको कराना चाहता था इसलिये उसके योग्य उपाय और सहायकोंका विचार करता हुआ चुप रह गया। इस विचारसे मुझे महापाप लगेगा ऐसा उसने विचार नहीं किया। सो ठीक ही है क्योंकि मूढता को धिक्कार है। अब आगे जो कथा लिखी जाती है वह इसी अभिप्राय को साधने वाली है।

इस भरत क्षेत्रके धवल देश-सम्बन्धी स्वस्तिकावती नामक नगरमें हरिवंशमें उत्पन्न

मत्रान्यत्प्रकृतं । तथा हि अत्र भरते धवलदेशे स्वस्तिकावतिपुरे हरिवंशजो राजा विश्वावसुः । देवी श्रीमती पुत्रो वसुः । तत्रैव क्षीरकदम्बनामा सर्वशास्त्रज्ञो ब्राह्मणोऽध्यापकोत्तमः पूज्यो विख्यातश्च । तत्पुत्रः पर्वतो देशान्तरागतो नारदो विश्वावसुपुत्रो वसुश्च एते त्रयोऽपि विद्यानां पारं प्रापुः । तेषु [1]पर्वतोऽकीर्तिर्विपरीतार्थग्राही वसुनारदौ यथोपदिष्टार्थग्राहिणौ । ते त्रयोऽपि सोपाध्याया दर्भादिकं चेतुं वनं गताः । तत्र गिरिशिलोपरि [2]स्थितः [3]श्रुतधरगुरुः । मुनित्रयं तस्मादष्टाङ्गनिमित्तं पपाठ । तत्समाप्तौ स्तुतिं कृत्वा सुखं तस्थौ तस्य निपुणतापरीक्षार्थं गुरुः पप्रच्छ । भो मुनित्रय ! अधीयानस्य छात्रत्रयस्यास्य किं नाम, कस्य किं कुलं को भावः प्रान्ते कस्य का गतिर्भविष्यतीत्युक्ते एकः प्राह–अस्मत्समीपगो वसुः, राज्ञः सुतः, तीव्ररागादि-

हुआ राजा विश्ववसु रहता था। उसकी स्त्रीका नाम श्रीमती था और पुत्रका नाम वसु था। उसी नगरमें एक क्षीर–कदम्ब नामका ब्राह्मण रहता था जो सब शास्त्रोंका ज्ञाता था, अध्यापकों में श्रेष्ठ था, पूज्य था और अतिशय प्रसिद्ध था। क्षीर कदम्बकका पुत्र पर्वत, दूसरे देशसे आया हुआ नारद और राजा विश्वावसुका पुत्र वसु ये तीनों उसके पास पढ़कर विद्याओंके पारको प्राप्त हो चुके थे। उन तीनों शिष्योंमें पर्वत का कीर्ति ठीक नहीं थी, वह विपरीत अर्थको ग्रहण करता था परन्तु वसु और नारद जैसा उपदेश दिया गया था वैसा ही अर्थ ग्रहण करते थे। एक दिन वे तीनों शिष्य उपाध्याय के साथ कुशा आदि इकट्ठा करनेके लिये वनको गये थे। वहां पर्वत की शिलाके ऊपर एक श्रुतधर गुरु विराजमान थे तथा तीन मुनि उनसे अष्टाङ्ग निमित्त शास्त्र पढ रहे थे। पाठकी समाप्ति होनेपर स्तुति करके तीनों मुनि सुखसे बैठे थे। उनकी चतुराई की परीक्षा करनेके लिये गुरुने पूछा–हे मुनित्रय ! ये जो तीन छात्र पढ़ रहे हैं इनमें किसका क्या नाम है, क्या कुल है, क्या भाव है, और अन्तमें किसकी क्या गति होगी ? गुरुके ऐसा कह चुकने पर एक मुनि बोला कि हमारे पास जो बैठा है इसका नाम वसु है, यह राजाका पुत्र है, तीव्र राग आदिसे दूषित है और हिंसा धर्म है, ऐसा निश्चय कर नारकी होगा। दूसरा मुनि बोला–जो बीचमें बैठा है वह पर्वत है, ब्राह्मणका लड़का है, दुर्बुद्धि तथा क्रूर परिणाम वाला है, महाकालके उपदेशसे अथर्वण (अथर्व वेद) नामक पाप शास्त्रको पढ़कर खोटे मार्गका उपदेश करेगा, तथा 'हिंसा ही धर्म है' इस प्रकारके रौद्रध्यानमें तत्पर हो बहुत जनोंको नरक भेजकर स्वयं भी नरक जावेगा। तीसरा मुनि बोला–यह जो पीछे बैठा है इसका नाम नारद है, यह ब्राह्मण है, बुद्धिमान् है, धर्मध्यानमें तत्पर रहता है, आश्रित मनुष्योंको अहिंसा धर्मका उपदेश देता है, यह गिरितट नगरका स्वामी होगा और अन्तमें दीक्षा लेकर सर्वार्थ सिद्धि जावेगा। उन तीनों मुनियोंके द्वारा कहे हुए उत्तर को सुनकर

१—अकीर्तिविपरीतार्थग्राही क । २—स्थितं मुनित्रयं क० । ३—श्रुतधरमुनिः क ।

दूषितः, हिंसाधर्मं विनिश्चित्य नारको भावी। द्वितीयो मुनिः प्राह-मध्यस्थितो पर्वतः, द्विजपुत्रः, [1]दुर्बुद्धिः क्रूरः, महाकालोपदेशादथर्वणं पापशास्त्रं पठित्वा दुर्मार्गदेशका हिंसैव धर्म इति रौद्रध्यानपरायणो बहून् नरके प्रवेश्य स्वयमपि नरकं यास्यति। तृतीयो मुनिरुवाच-एष पश्चात्स्थितो नारदः, द्विजः, धीमान्, धर्मध्यानपरायणोऽहिंसालक्षणं धर्मं श्रितानां व्याकुर्वाणो भावीगिरितटाख्यपुरस्य स्वामी भूत्वा दीक्षित्वा सर्वार्थसिद्धिं यास्यति। तन्मुनित्रयोक्तं श्रुतधरः श्रुत्वा साधु पठितं निमित्तं भवद्भिरिति तुष्टाव। क्षीरकदम्ब उपाध्यायः समीपतरतरुसभाश्रयस्तदाकर्ण्य तद्वर्तिविधिचेष्टितमशुभं धिगिति भणित्वा किमत्र मया क्रियते इति विचिन्त्य तत्रस्थित एव मुनीनभिवन्द्य वेमनस्येन शिष्यैः सह नगरं प्रविवेश। तदनन्तरमेकवर्षेण [2]शास्त्रे बालत्वे पूर्णे जाते विश्वावसुर्वसवे राज्यं दत्वा दीक्षां जग्राह। वसुर्निष्कण्टकराज्यं कुर्वन्नेकदा वनं क्रीडितुं गतः तत्राकाशे उड्डीयमानाः उड्डीयमानान्, पक्षिणः स्खलित्वा पतितान् दृष्ट्वा चिन्तयामास। आकाशे उड्डीयमाना यत्पक्षिणः पतन्ति तत्र किमपि कारणं भविष्यतीति तस्मिन् प्रदेशे बाणं मुमोच। सोऽपि तत्र स्खलितः, तत्र स्वयं जगाम सारथिना सह तत्र पस्पर्श। आकाशस्फटिकस्तंभं विज्ञाय परैरविदितं तमानयामास। तस्य पादचतुष्टयं पृथु निर्माप्य तत्सिंहासनमारुह्य नृपादिभिः सेव्यमानः सत्यमाहात्म्यात् खे सिंहा-

श्रुतधर गुरु 'आपलोगोंने निमित्त शास्त्रका अच्छी तरह पढ़ा है' यह कहते हुए संतुष्ट हुए।

क्षीर-कदम्ब उपाध्याय निकवर्ती एक वृक्षके नीचे बैठा बैठा यह सब सुन रहा था सुनकर 'यह सब विधिकी चेष्टा है, विधिकी इस अशुभ चेष्टाको धिक्कार है' ऐसा कहकर वह विचार करने लगा कि इस विषय में मैं क्या कर सकता हूं ? तदनन्तर वहां बैठे बैठे ही मुनियोंको नमस्कार कर वह बेमनसे शिष्योंके साथ नगरमें प्रविष्ट हुआ।

तदनन्तर एक वर्षमें जब वसुकी शास्त्र विषयक बाल्य अवस्था पूर्ण हो गई अर्थात् उसका जब शास्त्राध्ययन समाप्त होगया तब विश्वावसुने उसके लिये राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली। वसु निष्कण्टक राज्य करने लगा। एक दिन वह क्रीडा करनेके लिये वनमें गया। वहां कुछ पक्षी उड़ रहे थे। वे पक्षी अचानक रुककर नीचे गिरगये, उन्हें देख वसु विचार करने लगा कि पक्षी आकाशमें उड़ते उड़ते गिरजाते हैं उसमें कुछ कारण अवश्य होगा, ऐसा विचार करके उसने उस स्थानपर अपना बाण छोड़ा। परन्तु वह बाण भी वहां रुक गया। तदनन्तर वसुने सारथिके साथ वहां स्वयं जाकर वहां का स्पर्श किया। यह आकाश स्फटिकका स्तम्भ है, यह जानकर वसु उसे ले आया तथा इसका किसीको हाल मालूम नहीं होने दिया। उसने उसके चार बड़े बड़े पाये बनवाकर सिंहासनका निर्माण कराया। वह उस सिंहासन पर बैठा, राजा आदि उसकी सेवा करने लगे,। राजा वसु सत्यके माहात्म्यसे अन्तरीक्ष सिंहासन पर बैठा है, इस प्रकार आश्चर्य करते हुए लोगोंने उसकी उन्नति की घोषणा शुरू कर दी।

1—मन्दबुद्धिः क०। 2--शास्त्रेष म०।

सने स्थितो वसुरिति विस्मयमानेन लोकेन [1]घोषितोऽतिस्तथौ । एवमस्य काले गच्छति पर्वतनारदावेकदा समित्पुष्पार्थं वनं गतौ । तत्र नदीतटे मयूरा जलं पीत्वा गतास्तन्मार्गदर्शनान्नारदः प्राह-ये मयूराः पानीयं पीत्वा गतास्तेष्वेको मयूरः सप्त मयूर्यो वर्तन्ते । तत् श्रुत्वा पर्वतः प्राह-मृषा वार्तामौ । मनस्यसहमानः पणितबन्धनं बबन्ध । तत्र किंचिदन्तरं गत्वा नारदोक्तं सद्भूतं ज्ञात्वा विस्मित्याग्रे गत्वा करेणुमार्गं ददर्श । तं दृष्ट्वा नारद उवाच-एषा हस्तिनी गता, सा वामलोचनेनान्धा, तामारूढा गर्भिणी स्त्री, पट्टाम्बरसहिता, अद्य पुत्रमजीजनत् । अन्धसर्पबिलप्रवेशवत् पूर्वोक्तं तव वचनं यादृच्छिकं सत्यमभूत्, इदं तु मिथ्या मयाऽविदितं किमस्तीति स्मित्वा स सासूयं विस्मयं चित्ते प्राप्य तदसत्यं कर्तुं हस्तिनीमनुगतः पुरं प्रविवेश । नारदोक्तं तथैव ददर्श । गृहमेत्य पर्वतो मातुरग्रे जगाद । किं जगाद ? मातः ! मे पिता यथा नारदं शिक्षितवांस्तथा मां नापीपठत्, अस्य चेतसि नारदो वर्तते नाहमिति । तेन वचनेन विप्राया हृदयं विदारितं । पापोदयाद्विपरीतं तथा विचारितं । शोकं च ब्राह्मणी चकार । क्षीरकदम्बस्तु स्नात्वा अग्निहोत्रादिकं कृत्वा भुक्त्वा च स्थितः । तं प्रति ब्राह्मण्युवाच-त्वया पुत्रो न शिक्षितः, लोको व्युत्पादितः । क्षीर-

इस प्रकार वसुका समय व्यतीत हो रहा था । एक दिन पर्वत और नारद समिधा तथा फूलोंके लिये वन गये । वहां नदीके तटपर पानी पीकर कुछ मयूर जा चुके थे । उनका मार्ग देखकर नारदने कहा कि जो मयूर पानी पीकर गये हैं उनमें एक मयूर है और सात मयूरी हैं । यह सुन कर पर्वत ने कहा कि यह बात मिथ्या है । तथा मनमें सहन न करते हुए उसने एक शर्त बांधली । तदनन्तर कुछ दूर जाकर नारदके कथनको सत्य जानकर वह विस्मय करने लगा । पश्चात् आगे जानेपर उन्होंने हाथियोंका मार्ग देखा । उसे देख नारद ने कहा-यहांसे जो हस्तिनी गई है वह बांये नेत्रसे अन्धी थी, उसके ऊपर रेशमी वस्त्र पहिने हुए एक गर्भिणी स्त्री बैठी थी तथा आज उसने पुत्र उत्पन्न किया है । इसके उत्तर में पर्वतने कहा कि जिस प्रकार कभी अचानक अन्धा सर्प अपने बिलमें प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार अचानक तुम्हारा पहलेका वचन सत्य होगया परन्तु यह तो मिथ्या है । मेरे द्वारा अविदित—अज्ञात क्या है ? ऐसा कौन पदार्थ है जिसे मैं जान न सकूं । इस प्रकार मन्द हास्य करके उसने ईर्ष्याके साथ हृदयमें विस्मय प्राप्त किया और नारदके कथन को असत्य करनेके लिये हस्तिनीके पीछे चलता हुआ वह नगर में जा पहुंचा । वहां जाकर नारदने जैसा कहा था वैसा ही पर्वतने देखा ।

घर आकर पर्वत ने माताके आगे कहा कि हे मातः ! मेरे पिताने जिस प्रकार नारदको पढ़ाया है उस प्रकार मुझे नहीं पढ़ाया । इनके हृदयमें नारद है, मैं नहीं । पुत्रके

१—घोषितोऽत्रेति म० ।

कदम्ब उवाच-प्रिये ! अहं निर्विशेषोपदेशः पुरुषं पुरुषं प्रति [1]मतयस्तु भिन्नाः सन्ति । तेन नारदो कुशलो बभूव । प्रिये ! त्वत्पुत्रः स्वभावेन मन्दो नारदेऽसूयते किं क्रियते । इत्युक्त्वा स्त्रिया विश्राममुत्पादयितुं पर्वतसमीपे नारदं पप्रच्छ । हे नारद ! त्वं वने भ्राम्यन् केन कारणेन पर्वतस्य बहुविस्मयं कारितवान् । नारद उवाच-स्वामिन् ! पर्वतेन सह वनं गच्छन् नर्मकथापरः पीतवारां मयूराणां संघो नद्या निवर्तने स्वचन्द्रककलापाम्बुमध्यमज्जनगौरवात् भीत्वा व्यावृत्य विमुखं कुर्वन् पश्चात्पदस्थितिः शिखी च गतश्च नेकः । शेषास्त्वीषज्जलार्दिता पत्रभागं विधूय अगुः । तं दृष्ट्वाहमुक्तवान्-पुमानेकः शेषाः स्त्रिय इत्यनुमानात् । ततो वनान्तरात्कश्चिदागत्य पुरसमीपे करिण्यारूढां स्त्रियं नयन् पुरं प्रति पश्चिमपादाभ्यां प्रयाणके स्वमूत्रघट्टनात् करिणीमकथयं । दक्षिणे भागे तरुवीरुद्भंगेन वामलोचनेऽन्धां जगाद । मार्गात्प्रच्युत्य प्रमादारूढ·

इस वचनसे ब्राह्मणीका हृदय विदीर्ण होगया पापके उदयसे उसने विपरीत विचार किया। ब्राह्मणीने शोक किया। जब क्षीरकदम्ब स्नान, होम तथा भोजन कर बैठा तब ब्राह्मणी बोली कि तुमने संसारको तो व्युत्पन्न बनाया, पर पुत्र को शिक्षित नहीं किया ! क्षीरकदम्ब बोला—प्रिये ! मैं एक समान उपदेश देता हूं परन्तु प्रत्येक पुरुषमें बुद्धि भिन्न भिन्न होती है इसलिये नारद कुशल होगया। प्रिये ! तुम्हारा पुत्र स्वभावसे ही मूर्ख है तथा नारदसे ईर्ष्या रखता है, क्या किया जाय ? इतना कहकर उसने स्त्रीको विश्वास उत्पन्न करानेके लिये पर्वतके सामने नारदसे पूछा। हे नारद ! तूने वनमें घूमते हुए किस कारण पर्वतको बहुत आश्चर्य में डाल दिया था नारद बोला—स्वामिन् ! पर्वतके साथ जाता हुआ मैं हास्य कथा कर रहा था। उसी समय पानी पी चुकने वाले मयूरोंका एक झुण्ड नदीसे लौट रहा था। उनमें एक मयूर अपने चन्द्रक समूहको पानीके मध्य डूबजाने से भारी होनेके कारण भयभीत हो लौटकर उल्टे पैर रखता हुआ गया था। शेष मयूर थोड़े जलसे भीगने के कारण पङ्खोंको फड़फड़ा कर गये थे। वह देखकर मैंने अनुमानसे कहा था कि उन मयूरोंमें एक तो पुरुष था और बाकी स्त्रियां थीं। तदनन्तर वनके मध्यसे आकर कोई पुरुष नगरके समीप हस्तिनी पर बैठी स्त्रीको नगरकी ओर लिये जा रहा था। ठहरने के स्थान पर हस्तिनीने पेशाब की थी। वह पेशाब उसके पिछले पांवों से सटती हुई गिरी थी इसलिये मैंने उसे हस्तिनी कह दिया था। वह हस्तिनी जिसमार्ग से आई थी उसके दांये भागके वृक्ष तथा लताएं भग्न हुई थीं इसलिये मैंने उसे बांये नेत्रसे अन्धी कहा था। उसपर बैठी हुई स्त्रीने थकावट के कारण मार्गसे कुछ दूर हटकर शीतल छाया की इच्छासे नदीके तटपर शयन किया था। उसके पेटका स्पर्श होनेसे वहां जो चिह्न बनगये थे उनसे उसे गर्भिणी तथा झाड़ोमें लगे हुए वस्त्रके छोड़से स्त्री जाना था। हस्तिनी जिस मार्गसे गई थी वहां गृहके ऊपर सफेद पताका फहरा रही थी इसलिये पुत्र-जन्म हुआ

[1]—प्रति-मतयस्तु मध्ये ब्रवामि पाठः म०।

योषितः शीतच्छायाभिलाषेण पुलिनस्थले सुप्ताया उदरस्पर्शमार्गेण गर्भिणीं गुल्मलग्नदशया स्त्रियं च 'वेद। करेणुश्रितमार्गे गृहोपरिस्थितकेतुदर्शनेन पुत्रजन्मोक्तवान्। तच्छ्रुत्वा विप्रो निजापराधाभावं भार्याया अकथयत्। तदा पर्वतमाता प्रसन्ना जाता। प्रिये! मुनिना भाषितं यत्पर्वतो नरकं यास्यति। तत्प्रीत्यर्थं भार्या स्वयं च एकान्ते गत्वा पिष्टेन द्वौ बस्तौ निर्माय पुत्रच्छात्रभावपरीक्षणार्थं द्विजोत्तम एकं पुत्राय द्वितीयं छात्राय ददौ। परादृश्यप्रदेशे गत्वा गन्धपुष्पमंगलैरर्चित्वा कर्णच्छेदं कृत्वा एतावद्यैवानय तं युवां। तत्र पर्वतः पापी अस्मिन् वने न कोऽपि वर्तते इति कर्णौ छेदयित्वा पितरमागत्य पूज्य! यथा त्वयोक्तं मया तथैव कृतमित्यवदत्। नारदस्तु वनं गत्वा विचारयति गुरुणोक्तमदृश्यप्रदेशेऽस्य कर्णौ छेदनीयाविति। चन्द्रः पश्यति। रविर्निरीक्षते। नक्षत्राणि विलोकन्ते। ग्रहास्तारकाश्च पश्यन्ति। देवता निरीक्षन्ते। सन्निहिताः पक्षिणो मृगजातयश्च निषेद्धुं न शक्यन्ते इति विचार्य कर्णयोश्छेदमकृत्वा गुरुसमीपमागतो नारदः। यतोऽयं भव्यात्मा वनेऽदृष्टदेशस्यासंभवात्, नामस्थापनाद्रव्यभावानां विचारचतुरः पापापख्यातिकारण-

है, ऐसा कहा था। नारद का उत्तर सुनकर ब्राह्मणने स्त्रीसे कहा कि इसमें मेरा अपराध नहीं है। जब पर्वत की माता प्रसन्न होगई तब ब्राह्मणने यह कहा कि प्रिये! मुनिने कहा था कि पर्वत नरक जावेगा। मुनिके कथन की प्रतीतिके लिये भार्या तथा स्वयं ब्राह्मणने एकान्त में जाकर चून के दो बकरे बनाये और पुत्र तथा छात्रके भावकी परीक्षाके लिये ब्राह्मणने एक बकरा पुत्रके लिये और दूसरा शिष्यके लिये दिया। साथ ही यह आदेश दिया कि तुम लोग जहां कोई देख न सके ऐसे स्थानमें जाकर गन्ध, पुष्प तथा मङ्गल द्रव्योंसे इनकी पूजा करो और कान काटकर दोनों बकरोंको आज ही वापिस लाओ।

उन दोनोंमें पापी पर्वतने 'इस वन में कोई नहीं है' यह विचारकर बकरेके दोनों कान काट लिये और आकर पितासे कह दिया कि पूज्य! आपने जैसा कहा था वैसा मैंने कर दिया है। परन्तु नारद वनमें जाकर विचार करता है कि गुरु ने कहा था—अदृश्य स्थान में जाकर इसके कान काटना चाहिये। यहां चन्द्रमा देख रहा है, सूर्य देखता है, नक्षत्र देखते हैं, पक्षी और नाना प्रकार के मृगोंको नहीं रोका जा सकता, यह विचार कर नारद कानोंको विना काटे ही गुरुके पास आगया क्योंकि वह भव्य जीव था। उसने कहा कि वनमें ऐसे स्थानका मिलना असभव था जिसे कोई नहीं देख रहा हो। मैं नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपके विचार करनेमें चतुर हूं, पाप और अपकीर्तिकी कारण जो क्रियाएं हैं उन्हें नहीं करना चाहिये, इस विचारसे मैंने इस बकरेको छिन्नाङ्ग नहीं किया है अर्थात् इसके कान नहीं काटे हैं। नारदका उत्तर सुनकर क्षीर-कदम्ब अपने पुत्रकी मूर्खता को जान गया। वह विचारने लगा कि मिथ्यादृष्टि एकान्त से कहा करते हैं कि कार्यकी सिद्धि

१—च वेद क० ज०, विवेद म०।

क्रियाणामकर्तव्यत्वादहमिमं छागं विच्छिन्नावयवं नाकार्षमित्युवाच । तत्श्रुत्वा क्षीरकदम्बः स्वपुत्रस्य जडत्वभावं ज्ञात्वा विचारयामास । यन्मिथ्यादृष्टय एकान्तेन ब्रुवन्ति कारणात्कार्यसिद्धिरिति तदसत्यं अत्र कारणं गुरुः कार्यं शिष्यबुद्ध्युत्कर्षः तत्त्वेकान्तेन न भवति यतो मयि पाठयत्यपि मत्पुत्रो जड इति तेन धिगेकान्तं मतं तत्कुमतमेव । कारणानुगतं कार्यं क्वचिद्भवत्येव क्वचिन्न भवत्येवेत्यनेकान्तमतं सत्य-मित्यनेकशस्तुष्टाव । नारदस्य योग्यतां ज्ञात्वा नारद ! त्वमेव सूक्ष्मबुद्धिर्यथार्थज्ञाता । अद्य प्रभृत्युपाध्यायपदे त्वं मया स्थापितः । सर्वशास्त्राणि त्वया व्याकर्तव्यानि इति तं प्रपूज्य प्रावर्धयत् । धीमतां सर्वत्र गुणैरेव प्रीतिः । निजसन्मुखं स्थितं पुत्रं जगाद-त्वं विवेकमन्तरेणैव एतद्विरूपकं चकर्थ, शास्त्रादपि तव कार्या-कार्यविवेको नास्ति. मच्चक्षुःपरोक्षे त्वं अरे कथं जीविष्यसि मूर्ख । एवं शोकेन दत्तशिक्षो नारदे बद्धवैरो बभूव । कुधियामीदृशी गतिर्भवति । उपाध्यायस्त्वेकदा गृहादिकं त्यजन् वसुं गत्वोवाच-पर्वतस्तन्माता

कारण से होती है, वह असत्य है । यहां कारण गुरु है और शिष्यकी बुद्धिका उत्कर्ष होना कार्य है परन्तु वह नियमसे नहीं होता क्योंकि मेरे पढ़ाने पर भी मेरा पुत्र मूर्ख है । इस लिये एकान्त मतको धिक्कार है । आखिर वह कुमत ही है । कारण के अनुसार कार्य कहीं होता है और कहीं नहीं होता है 'ऐसा अनेकान्त मत ही सत्य है' इस तरह उसने अनेकान्त मतकी अनेक वार स्तुति की । नारद की योग्यता को जानकर क्षीरकदम्ब ने कहा—हे नारद ! तुम्हीं सूक्ष्म-बुद्धि और यथार्थ ज्ञाता हो, आजसे मैं तुम्हें उपाध्याय पद पर स्थापित करता हूं, तुम्हें सब शास्त्रोंकी व्याख्या करनी चाहिये । इस प्रकार उसका सत्कार कर उसे खूब बढ़ावा दिया । बुद्धिमानों को सब जगह गुणोंसे ही प्रेम होता है । अपने सामने बैठे हुए पुत्र से उसने कहा कि तूने विवेक के विना ही यह विरुद्ध कार्य किया है । शास्त्रसे भी तुझे कार्य तथा अकार्य का विवेक नहीं हुआ । अरे मूर्ख ! मेरे नेत्रोंके पीछे अर्थात् मेरे मरने के बाद तू कैसे जीवित रहेगा ? इस प्रकार पिता ने तो उसे शिक्षा दी परन्तु शोक के कारण वह नारद पर वैर बांध बैठा, सो ठीक ही है क्योंकि दुर्बुद्धि मनुष्यों की ऐसी ही गति होती है ।

एक दिन क्षीरकदम्ब गृह आदिका त्याग करता हुआ वसुके पास जाकर बोला कि यद्यपि पर्वत और उसकी माता दोनों ही मन्द—बुद्धि हैं तथापि भद्र ! मेरे पीछे उनकी सब तरह से रक्षा करना । वसुने कहा—हे पूज्यपाद ! आपके उपकार से मैं प्रसन्न हूं । यह कार्य तो विना कहे ही सिद्ध था, इस कार्यमें मुझसे यह क्या कहना था ? इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये । आप यथायोग्य अपना परलोक सुधारिये । इस प्रकार की मनोहर वार्ता रूपी अम्लान मालाके द्वारा राजा वसुने ब्राह्मण की पूजा की । क्षीरकदम्बक उपा-

च द्वावपि मन्दधियौ तथापि मत्परोक्षे त्वया सर्वथा भद्र ! पालनीयाविति । वसुरुवाच—हे पूज्यपाद भवदनुग्रहादहं प्रीतोऽस्मि । एतदनुक्तमेव सिद्धं । अस्मिन् कार्ये ममेदं किं वक्तव्यं । अत्र सन्देहो न कर्त्तव्यः । यथोचितं परलोकं कर्तुमर्हति भवान् । इति मनोहरकथा[1]म्लानमालया द्विजोत्तमं नृप आनर्च । क्षीरकदम्ब उपाध्यायस्तु सम्यक्संयमं प्राप्य संन्यासं कृत्वोत्तमं स्वर्गलोकमवाप । पर्वतस्तु पितृस्थानमध्यास्य [2]विश्वदिक्शिष्याणां [3]व्याकर्तुं रतिं चकार । तस्मिन्नेव नगरे नारदो विद्वज्जनान्वितः सूक्ष्मबुद्धिर्विहितस्थानो व्याख्याया यशो बभार । एवं तयोः काले गच्छति सत्येकदा विद्वत्सभायां "अजैर्यष्टव्यमिति" वाक्यस्यार्थप्ररूपणे महान् विवादो बभूव । नारदः प्राह—अंकुरशक्तिरहितं यवबीजं त्रिवर्षस्थं अजमिति कथ्यते तद्विकारेण वन्हिमुखे देवार्चनं विद्वांसो यज्ञं वदन्ति । पर्वत उपन्यसति स्म अजशब्देन पशुभेदस्तद्विकारेण हिरण्यरेतसि होत्रं [4]यज्ञो विधीयते । इति तयोः सुधीप्रध्योरुपन्यासं श्रुत्वा ब्राह्मणमुख्याः साधवः प्राहुः प्राणिवधाद्धर्मो न भवति । नारदे मत्सरित्वात् पर्वतोऽयमधर्मं प्रवर्तयितुं दुरात्मोपन्यास्थत् । पतितोऽयमयोग्यः सहसंभाषणादिषु, इत्युक्त्वा चपेटाभिस्ताडितः निर्भर्त्सितोऽयं पापात्मा लोके घोषितः । दुर्बुद्धेः फलमत्रैवेदृशं भवति एव सर्वैरपि बहिष्कृतो मानभंगाद्वनं जगाम तत्र ब्राह्मणवेषेण कृतान्तारोहणासन्नसोपानपदवीमिव वलीरुद्वहता अन्धचक्षुषेव मुहुः स्खलता विरलेनां

ध्याय ने समीचीन संयम को प्राप्त कर अन्तमें संन्यास–मरणके द्वारा उत्तम स्वर्ग लोक प्राप्त किया । इधर पर्वत पिताका स्थान प्राप्त करके सब दिशाओंसे आगत शिष्योंके लिये शास्त्रोंका व्याख्यान करने लगा । सूक्ष्म-बुद्धि नारद भी उसी नगरमें स्थान बनाकर विद्वानोंके साथ रहने लगा और व्याख्यासे यशको धारण करने लगा अर्थात् शास्त्रोंकी व्याख्या से उसका यश सब ओर फैलने लगा ।

इस तरह पर्वत और नारद दोनोंका समय बीत रहा था । एक दिन विद्वानोंकी सभामें "अजैर्यष्टव्यम्" इसका अर्थ निरूपण करनेमें विवाद उठ खड़ा हुआ । नारद कह रहा था कि अंकुर की शक्तिसे रहित तीन वर्षके पुराने जौ 'अज' कहलाते हैं । उनसे बने हुए साकल्यके द्वारा अग्नि–कुण्ड में देव पूजा करनेको विद्वान् लोग यज्ञ कहते हैं । और पर्वत कहता था कि अज शब्दसे पशुका एक भेद अर्थात् बकरा लिया जाता है उसके द्वारा निर्मित सामग्रीसे अग्नि में होम करना यज्ञ कहलाता है । इस प्रकार उन दोनों विद्वानोंके व्याख्यान को सुनकर साधु स्वभाव वाले श्रेष्ठ ब्राह्मण बोले कि प्राणि–वधसे धर्म नहीं होता । नारदके ऊपर ईर्ष्यालु होनेके कारण यह दुष्ट पर्वत पृथिवी पर अधर्म चलानेके लिये ऐसी व्याख्या कर रहा है । यह पापी है तथा साथ साथ वार्तालाप करने आदि कार्योंके अयोग्य है अर्थात् इस पापीके साथ वार्तालाप भी नहीं करना चाहिये । ऐसा कह

१—म्लानं मालाया ङ० । २—विश्वदिक् शिक्षाणां म० विश्व शिक्षाणां ङ० । ३—व्याकर्तुमिति चकार क० । ४—(यज्ञोऽभिधीयते)

सितेन मूर्धजेन ततं राजतं शिरस्त्राणं समीपयमजाद्भयादिव दधता जराङ्गनासमासङ्गसुखेनेव मीलच्चक्षुषा चलच्छिन्नकरेण करिणेव कुपितसर्पेणेव ऊर्ध्वश्वासिना राजवल्लभेनेवाऽग्रतो[1] स्फुटं पश्यता भग्नपृष्ठेन अपटुजल्पितेन [2]समेन योग्यदण्डेन राज्ञेव त्रिगुणीकृतमुपवीतं धारयता विश्वभूनृपसुलसासु निजं बद्धक्रोधं वक्तुमिव स्वाभिमतारंभसिद्धिगवेषिणा पर्वते पर्यटन् पर्वतो महाकालासुरेण दृष्टः सन् तमभिगम्यानम्य चाभिवादनमभ्यधात्। महाकालस्तं समाश्वास्य सादरं तव स्वस्त्यस्त्वित्युवाच। तमविज्ञातपूर्वत्वात्प्राह त्वं कुतस्त्यो वने पर्यटनं कस्मादिति। पर्वतस्तु निजवृत्तान्तमादितः प्राह। तत्श्रुत्वा महाकालश्चिन्तयामास। मम शत्रुं सगरं निर्वंशीकर्तुं समर्थ एष स्यात्। भोः पर्वत! तव पिता स्थंडिलः[3]अहं विष्णुरूपमन्युः। एतौ द्वावपि भौमोपाध्यायशिष्यौ शास्त्राभ्यासमकारिषातां। त्वत्पित मम धर्मभ्राता तमहं द्रष्टुमागतः ममागमनं त्वन्तर्गडु जातं। पुत्र पर्वत! मा त्वं भैषीः तव शत्रुविध्वंसनेऽहं सहायो भविष्यामि। इति क्षीरकदम्ब पुत्रेष्टार्थस्यानुगता अथर्वणगताः [4]षष्ठिसहस्रप्रमिताः पृथक् ऋचो वेदरहस्यानीति स्वयमुत्पाद्य पर्वतमध्याप्य शान्तिपुष्टयभिचारात्मकक्रियाः पूर्वोक्तमंत्रैर्निशिताः पवनोपेताग्निज्वालासमा इष्टेः फलमुत्पादयिष्यन्ति, पशुहिंसनादप्युक्ताः सत्य इति। ततः साकेतपुरमध्यास्य शांतिकादिफलप्रदं हिंसायागं समारभ्य प्रभावं वयं कुर्महे। इति पर्वतमुक्त्वा वैरिविनाशार्थं निजतीव्रदैत्यान् सगरराष्ट्रस्य बाधां ज्वरादिभिःयूयं कुरुध्वमिति सम्प्रेष्य पर्वतेन युतः साकेतं महाकालासुरो गतः। पर्वतो मंत्रगर्भिताशीर्वादेनालोक्यं सगरस्य स्वप्रभावं प्रकाशितवान्। हे राजन्! त्वद्देशप्राप्तं विषममशिवं अहं [5]सुमित्रेण यज्ञेन लघु [6]शेषयिष्यामि।

कर लोगोंने उसे चांटों से पीटा और अपमान कर लोकमें घोषित कर दिया कि यह पापी है। दुर्बुद्धिका यही ऐसा फल होता है। इस प्रकार सबके द्वारा बहिष्कृत होकर मान भंगके कारण पर्वत वनमें चला गया।

वहां वनमें मधुपिङ्गल मुनिका जीव महाकाल नामका असुर घूम रहा था। वह ब्राह्मणके वेषमें था, यमराजके चढ़नेके लिये निकटवर्ती सीढ़ियोंके मार्गके समान अनेक बलियों–सिकुड़नोंको धारण कर रहा था, अन्धे मनुष्य की तरह वार वार गिर रहा था। उसके शिर पर विरल तथा सफेद बाल व्याप्त थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों समीपवर्ती यमराज से होनेवाले भयके कारण चांदीका शिरस्त्राण ही धारण कर रहा हो। उसके नेत्र कुछ कुछ बन्द थे उनसे ऐसा जान पड़ता था कि मानों वृद्धावस्था रूपी स्त्रीके आलिङ्गनसे उत्पन्न सुखसे ही उसके नेत्र बन्द होगये थे। वह उस हाथीके समान जान पड़ता था जिसकी कटी सूंड हिल रही हो। क्रुद्ध सांपके समान ऊपर को श्वास खींच रहा

१–अग्रतः स्फुटं क०। २–असमेन योग्यदण्डेन म०। ३–क्षीरकदम्बस्य द्वितीय नाम (क×टी)। ४–षट्सहस्र ऋचो वर्तन्ते पूर्वं। एका मेकां ऋचं प्रति शतं शतं ऋचः प्रक्षेपितवान् तेन षष्टिसहस्रप्रमिता ऋचो जाताः (क+टी) ५–यस्मिन् यज्ञे चतुःषष्टिसहस्राणां पशूनां वधः क्रियते स सुमित्रो यज्ञः कथ्यते। ६–शोषयिष्यामि म०।

था, राजा के प्रिय मनुष्यके समान आगे स्पष्ट नहीं देखता था, उसकी पीठ झुकी हुई थी वार्तालाप अस्पष्ट था, हाथमें योग्य दण्ड लिये हुए था इसलिये योग्य दण्ड–सेनासे सहित राजाके समान जान पड़ता था। विश्वभू मन्त्री, सगर राजा और सुलसा स्त्री पर अपने बद्ध क्रोधको प्रकट करनेके लिये ही मानों तीन लड़ का यज्ञोपवीत धारण कर रहा था और अपने इष्ट कार्यके आरम्भ-सम्बन्धी सफलता की खोज कर रहा था। पर्वत भी वहीं एक पर्वत पर घूम रहा था। महाकाल असुरने उसे देखा। पर्वत ने संमुख जाकर तथा नमस्कार करके अभिवादन का उच्चारण किया। महाकाल ने उसे आश्वासन देकर कहा कि तुम्हारा कल्याण हो और पहलेसे परिचित न होनेके कारण कहा कि तुम कहांसे आये हो और वनमें किस लिये घूम रहे हो ? पर्वत ने प्रारम्भसे अपना सब वृत्तान्त कहा। उसे सुनकर महाकाल ने विचार किया कि मेरे शत्रु सगरको निर्वंश करने के लिये यह समर्थ हो सकता है। उसने कहा कि हे पर्वत ! तुम्हारे पिता स्थण्डिल (क्षीरकदम्ब) और मैं विष्णु रूप मन्यु, ये दोनों ही भौम नामक उपाध्यायके शिष्य थे तथा उनके पास शास्त्रका अभ्यास करते थे। तुम्हारे पिता मेरे धर्म भाई थे, इसलिये मैं उन्हें देखनेके लिये आ रहा था परन्तु मेरा आना व्यर्थ हुआ। बेटा पर्वत ! तुम डरो मत, तुम्हारे शत्रुके नाशमें मैं सहायक होऊंगा। इस प्रकार क्षीरकदम्बक के पुत्र (पर्वत) के अभिलषित अर्थसे सम्बन्ध रखने वाली अथर्व वेद सम्बन्धी साठ हजार पृथक् ऋचाएं पूर्वोक्त मन्त्रोंसे तीक्ष्ण-शक्तिशालिनी होती हैं और 'ये वेदके रहस्यका बतलाने वाली हैं, ऐसा कह कर उस महाकाल असुरने स्वयं बनाईं तथा पर्वत को पढ़ाईं और कहा कि शान्तिक, पौष्टिक तथा अभिचारात्मक (बलिदानात्मक) क्रियाएं यदि पशु–हिंसाके साथ प्रयोगमें लाई जाती हैं तो वायु से युक्त अग्नि की ज्वालाके समान यज्ञका फल उत्पन्न करती हैं। इसके बाद उसने पर्वत से यह भी कहा कि हम साकेत–अयोध्या नगरी में रह कर वहां शान्तिक आदि फलको देनेवाला हिंसायज्ञ प्रारम्भ करेंगे और उसका प्रभाव दिखलावेंगे। इस प्रकार पर्वतसे कह कर वैरियोंका विनाश करनेके लिये उसने अपने तीव्र आज्ञा–कारी दैत्योंको 'तुम लोग सगर के देशमें ज्वर आदि से बाधा करो' ऐसी आज्ञा देकर सगरके देशमें भेजा और स्वयं भी पर्वतके साथ अयोध्या जा पहुचा। पर्वतने मन्त्र-गर्भित आशीर्वाद देकर राजा सगरका दर्शन किया तथा उसके सामने अपना प्रभाव प्रकाशित करते हुए कहा कि हे राजन् ! तुम्हारे देशपर जो बहुत भारी अनिष्ट आया है, मैं उसे सुमित्र नामक यज्ञसे शीघ्र ही समाप्त कर दूंगा।

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञो हि वृद्धयै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥"

इति कारणात् स्वर्गमहासुखसाधनं पुण्यमेव भविष्यतीति पापी प्रत्याय्य तं जगाद । हे राजन् यागसिद्धयर्थं पशूनां षष्ठिसहस्राणि तद्योग्यमन्यद्द्रव्यं च संगृहाण । सगरोऽपि सर्वं मेलयित्वा तस्मै समर्पितवान् । पर्वतो यागं प्रारभ्य पशूनभिमंत्रयामास महाकालासुरस्तान् वषट्कृतान् शरीरेण सह स्वर्गं गतोऽयं स्वर्गं गतोऽयमिति विमानारूढानाकाशे नीयमानान् दर्शयामास । देशस्याशिवोपसर्गं तदैव निराचकार । तद् दृष्ट्वा मुग्धाः प्राणिनस्तद्वंचनया मोहिताः सन्तः स्वर्गगतये स्पृहयन्तो यागमृतिं भृशमाचकांक्षुः । सुमित्रयज्ञावसाने जात्यश्वमेकं विधिपूर्वकं हुतवान्, राजाज्ञया सुलसां च खलो वषट्चकार । प्रियकान्तावियोगदुःखदावानलज्वालाभिः प्लुष्टकायो राजा नगरं प्रविष्टः, शय्योपरि शरीरं निचिक्षेप । प्राणिहिंसनं महदिदं वृत्तं किमयं धर्मः किमधर्मः इति संशयानः स्थितः अन्यस्मिन्नहनि यतिवरनामानं मुनिमभिवन्द्य विज्ञप्तवान् । भट्टारक ! मयारब्धं कर्म पुण्यं पापं वा सम्यक्कथय । यतिवरः प्राह धर्मशास्त्रबाह्यमिदं कर्म कर्तारं सप्तमं नरकं प्रापयेत् । स्वामिन्नस्ति तत्राभिज्ञानं । मुनिराह–राजन् सप्तमे दिने तव मस्तकेऽशनिः पतिष्यति इत्यभिज्ञानेन त्वं[1]सप्तमं नरकं यास्यसि । तदाकर्ण्य राजा भीत्वा पर्वताय निवेदयामास । पर्वतः प्राह–राजन्नसौ नग्नः क्षपणकः किं वेत्ति तथापि यदि तव शंका वर्तते तदत्र शान्तिर्विधीयते इति वचनैस्तस्य मनः सन्धार्य शिथिलीचकार । पुनः सुमित्रमेव यज्ञं प्रारब्धवान् । ततः सप्तमे दिने पापासुरस्य मायया सुलसा आकाशे स्थिता देवत्वं प्राप्ता पूर्वं[2]पश्वग्रेसरी यागमृत्युफलेनैषा मया देवगतिर्लब्धा ? तं प्रमोदं तव निरूपयितुमहं विमानेनागता तव यज्ञेन

यज्ञार्थ—यज्ञके लिये पशु विधाताने स्वयं बनाये हैं । चूंकि यज्ञ सबकी वृद्धिके लिये है, इसलिये यज्ञमें हुई हिंसा, हिंसा नहीं है ।

इस कारण यज्ञसे स्वर्गके महान् सुखको देनेवाला पुण्य ही होगा इस प्रकार विश्वास दिलाकर पापी पर्वत ने राजा सगरसे कहा–हे राजन् ! यज्ञकी सिद्धिसे लिये साठ हजार पशु और उसके योग्य अन्य द्रव्यका संग्रह करो । सगर ने भी सब सामग्री इकठ्ठी कर उसके लिये सौंप दी । पर्वत ने यज्ञ प्रारम्भ कर पशुओंको मन्त्रित किया । महाकाल असुर होमे गये उन पशुओं को 'यह शरीरके साथ स्वर्ग गया, स्वर्ग गया' इस प्रकार कहता हुआ विमानमें बैठे आकाशमें ले जाते हुए लोगोंको दिखाता था । देशके ऊपर जो अनिष्टकारी उपसर्ग आया था उसे भी उसने उसी समय दूर कर दिया । यह देख भोले प्राणी उसकी मायासे मोहित हो स्वर्ग जाने की इच्छा करते हुए यज्ञ में मरने की तीव्र आकांक्षा करने लगे । सुमित्र नामक यज्ञके अन्तमें उसने एक उत्तम जातिके घोड़ेको विधिपूर्वक होम दिया । यही नहीं उस दुष्टने राजाकी आज्ञासे उसकी रानी सुलसा को भी होम दिया । प्रिय स्त्रीके वियोग-जन्य दुःख रूपी दावानल की ज्वालाओं से जिसका

१—सप्तमे म० । २—पूर्वं ये पशवो हतास्तेषां मध्येऽहमग्रेसरी भूत्वा देवत्वं प्राप्ता ।

देवाः पितरश्च प्रीणिता इत्यभाषत । तद्वचनात्प्रत्यक्षं यागमृत्युफलं दृष्टं, जैनमुनेर्वाक्यमसत्यं जातं । तदनु राजा तत्तीव्रेण [1]हिंसानुरागेण सद्धर्मद्वेषेण संजातदुष्परिणामेन मूलोत्तरविकल्पितात् तत्प्रायोग्यसमुत्कृष्टदुष्ट-संक्लेशसाधनात् नरकायुराद्यष्टकर्मस्वोचितस्थितेः अनुभागबन्धनिकाचितबन्धने सति भीषणाशनिरूपेण [2]कालासुरेण तन्मस्तके पतिते सति यागकर्मासक्तनिखिलप्राणिभिः सह म .रः सप्तमे नरके पपात । स काला-सुरस्तत्क्षणेन महाक्रोधस्तं दण्डयितुं तृतीयनरकपर्यन्तं पृष्ठतो जगाम । तमदृष्ट्वा साकेतमागतः । विश्वभू·

शरीर जल गया था, ऐसा राजा सगर नगर में प्रविष्ट हुआ और शय्याके ऊपर लेट रहा। उसके मनमें संशय उठा कि यह बहुत भारी प्राणि-हिंसा हुई है यह धर्म है या अधर्म ? दूसरे दिन उसने यतिवर नामक मुनिकी वन्दना करके निवेदन किया कि स्वामिन् ! मेरे द्वारा प्रारम्भ किया कार्य पुण्यरूप है या पाप रूप ? ठीक ठीक कहिये। मुनिराज बोले—यह कार्य धर्म-शास्त्रसे बाह्य है तथा करने वालेको सातवें नरक पहुंचा सकता है। सगरने कहा—स्वामिन् ! इसका कुछ परिचायक है ? मुनिराज ने कहा—राजन् ! सातवें दिन तुम्हारे मस्तक पर वज्र गिरेगा, इस परिचायक चिह्नसे तुम सातवें नरक जाओगे। यह सुन कर राजाने भयभीत हो पर्वत से कहा। पर्वतने कहा—राजन् ! यह नग्न साधु क्या जानता है ? फिर भी यदि तुम्हें शङ्का है तो इसकी भी शान्ति करते हैं, इस प्रकारके वचनोंसे उसके मनको स्थिर करके शिथिल कर दिया। पुनः उसने सुमित्र नामका ही यज्ञ प्रारम्भ किया।

तदनन्तर सातवें दिन पापी असुर की माया से आकाश में खड़ी सुलसा कह रही थी कि मैं देव पदको प्राप्त हुई हूं। पहले जो पशु मारे गये थे मैं उन सब में अग्रेसरी हूं—प्रधान हूं। यज्ञ में मृत्यु होनेके फल स्वरूप ही मुझने यह देव गति पाई है। उस आनन्द को तुम्हें बतलानेके लिये मैं विमान से आई हूं। तुम्हारे यज्ञसे सब देव तथा पूर्व पुरुष प्रसन्न हुए हैं। सुलसाके कहने से यज्ञमें मरनेका फल प्रत्यक्ष दिख गया, इसलिये जैन मुनि का कहना असत्य होगया। तदनन्तर राजा सगरको तीव्र हिंसाके अनुराग, समीचीन धर्मके साथ होनेवाले द्वेष, तथा मूल—प्रकृति और उत्तर—प्रकृति के विकल्पसे युक्त उस पर्यायमें होने योग्य सर्वाधिक दुष्ट संक्लेशके कारणों से उत्पन्न होनेवाले खोटे परिणामों से नरकायु आदि आठ कर्मोंका अपने योग्य स्थिति बन्ध तथा अनुभाग बन्धका निकाचित बन्ध होगया। उसी समय भयंकर वज्ररूप कालासुर (यमराज) मस्तक पर गिरा जिससे

१—राजा तीव्रेण म०। २—कालासुरेण क०।

प्रभृतिवैरिवर्गमारणार्थं [1]निःशूकः सुलसासंयुक्तं सगरं विमानमारूढं व्योम्नि दर्शयामास । पर्वतप्रसादेन यज्ञपुण्येनाहं स्वर्गं गतः सुखं प्राप्तवानिति प्रशशंस । सगरपरोक्षे विश्वभूसचिवो राजा जातः । महामेधे उद्यमं चकार । महाकालासुरेण विमानगता देवाः पितरश्चाकाशे सर्वेषां व्यक्तं दर्शिताः । ते ऊचुः–भो विश्वभूस्त्वया महामेधः कृतः पुण्यवता त्वत्प्रसादेन वयं सर्वेऽपि वषट्कृताः स्वर्गसुखं प्राप्ता इति स्तुतिं चक्रुः नारदस्तापसाश्च तत् श्रुत्वानेन दुरात्मना एष दुर्मार्गोऽधिकृतो लोकस्य प्रकाशितः, धिक् पर्वतं, निवारणीयोऽयमुपायेन केनचित् पापपण्डितोऽयमिति साकेतमागताः । यथाविधि विश्वभुवं विलोक्य ऊचुः–ये पापिनो नरा भवन्ति तेऽपि अर्थार्थं कामार्थं च प्राणिनां वधं न कुर्युः । केऽपि क्वापि धर्मार्थं प्राणिनां घातकाः किं सन्ति । अहो पर्वत ! वेदविद्भिर्ब्रह्मनिरूपिते वेदे[2] अहिंसक एव वेद उक्तः । अहिंसा तु मातेव सखीव कल्पवल्लीव जगते हिताक्ता इति पूर्वर्षिवाक्यस्य प्रामाण्यं त्वयेच्छता कर्मनिबंधनं कर्मैतद्वधप्रायं त्याज्यमेवेति तापसैरुक्तं । ते तापसाः सर्वप्राणिहितैषिणः । विश्वभूरुवाच–भोस्तापसाः ! साक्षात्स्वर्गसाधनं दृष्टं कर्म कथं त्याज्यं मयेति । नारदो विश्वभुवं प्रत्याह–सचिवोत्तम ! त्वं विद्वान् किमिदं कर्म स्वर्गसाधनं भवति ? सपरिवारं सगरं निर्मूलयितुं कांक्षता केनचित्कुहकेनायमुपायः कृतो मुग्धानां मोहकारणं । ततः [3]शीलो-

यज्ञ कार्य में लगे समस्त प्राणियों के साथ राजा सगर सातवें नरक में जा पड़ा । महा क्रोधसे भरा कालासुर उसे दण्ड देनेके लिये उसी समय तीसरे नरक तक पीछे पीछे गया परन्तु उसे वहां न देखकर अयोध्या को लौट आया । वहां आकरके उस दुष्टने विश्वभू मन्त्री आदि शत्रुओंके समूहको मारनेके लिये सुलसा से सहित राजा सगर को विमान में बैठा हुआ आकाशमें दिखलाया । विमानमें बैठा सगर प्रशंसा कर रहा था कि मैंने पर्वतके प्रसादसे जो यज्ञ किया था उसीके पुण्य से स्वर्ग पहुंच कर सुखको प्राप्त हुआ हूं ।

सगरके पीछे विश्वभू मन्त्री राजा हुआ । उसने भी महायज्ञ का उद्यम किया । महाकाल नामक असुरने विमानों द्वारा आये हुए देव तथा पितर (पूर्व पुरुष) आकाशमें सबको दिखाये । वे कहने लगे कि हे विश्वभू ! तुझ पुण्य–शालीने महामेध (महायज्ञ) किया है उसमें तुम्हारे प्रसाद से होमे गये हम सभी स्वर्ग-सुखको प्राप्त हुए हैं । इस तरह उन देवों तथा पितरोंने विश्वभू मन्त्री की स्तुति की ।

इधर नारद तथा अन्य तापसोंने जब यह सुना तब वे यह विचार करके अयोध्या आये कि इस दुष्टने यह खोटा मार्ग अपना कर लोगोंको बतलाया है, इस पर्वतको धिक्कार है, इसे किसी उपाय से रोकना चाहिये, यह पाप-पण्डित है अर्थात् पापके चलाने में निपुण है । वे सब विश्वभूको देखकर बोले–जो पापी मनुष्य होते हैं वे भी धन तथा कामके लिये प्राणियोंका वध नहीं करते । क्या कहीं भी कोई भी धर्मके अर्थ प्राणियों का घात करने वाले हैं ? वेदके जानने वाले विद्वानों ने ब्रह्मनिरूपित वेदमें अहिंसक वेदको ही वेद कहा

१–निःशंकः (क० टि) २–विशे क० । ३–शीतोप म० ।

पवासादिकं कर्म स्वर्गसाधनमार्षागमोक्तं त्वयाप्याचर्यतां। विश्वभूः पर्वतं प्राह–पर्वत ! नारदः किलैवं वक्ति तत्त्वया श्रुतं ? पर्वतोऽसुरोक्तेन शास्त्रेण मोहितो दुर्मतिः प्राह–हंहो सचिवोत्तम ! इदं शास्त्रं नारदः किं न शुश्राव ? मम गुरुरस्य च मम पितैवासीत्। न चान्यः कोऽपि एष नारदः। तदापि मयि समत्सरः इदानीं किं वोच्यते 'मद्गुरोधर्मभ्राता स्थविरनामा जगति विख्यातः। सोऽपि श्रौतं रहस्यं यागमृत्युफलमेव प्रतिपादितवान्। मयापि साक्षात्प्रकटीकृतं। यदि तव प्रत्ययो नास्ति तर्हि विश्ववेदसमुद्रपारगं वसुं पृच्छेः। यः सत्येन गगने स्थितो वर्तते। तत्श्रुत्वा नारद उवाच–को दोषः स एव पृच्छ्यतां। इदं तावद्विचाराह्ः चेद्वधोऽत्र धर्मसाधनं तर्हि अहिंसादानशीलादि पापप्रसाधनं भवेत्। एवं चेदस्ति तर्हि [2]दाशादीनां परमा गतिरस्तु सत्यधर्मतपोब्रह्मचारिणां अधोगतिरस्तु। यज्ञे पशुवधाद्धर्मो वर्तते नान्यत्रेति चेन्न वधस्य दुःखप्रत्ययत्वे उभयत्र सादृश्यात् फलेनापि सदृशेन भाव्यं। अथ [3]त्वं एवं वक्षि, पशूनां सृष्टिः स्वयंभुवा यज्ञार्थं कृता तन्न, अन्यथा विनियोगस्यागच्छमानत्वात्। अयमागमोऽतिमुग्धाभिलाषः विदुषां

है। 'अहिंसा माताके या सखीके अथवा कल्पलताके समान जगत्के हित करने के लिये कही गई है' पूर्व ऋषियों के इस वाक्य को यदि तुम प्रमाण मानते हो तो कर्मका बन्ध करने वाला तथा अधिकतर हिंसासे परिपूर्ण यह कार्य छोड़ ही देना चाहिये, ऐसा तापसों ने कहा। वे तापस सब प्राणियों का हित चाहने वाले थे। विश्वभू ने कहा कि तापसो ! जो काम साक्षात् स्वर्गका साधन देख लिया गया है उसे मैं कैसे छोड़ सकता हूं ? नारद ने विश्वभू से कहा–हे मन्त्रि-श्रेष्ठ ! तुम तो विद्वान् हो, क्या यह कार्य स्वर्गका साधन है ? परिवार सहित सगरको निर्मूल नष्ट करनेकी इच्छा रखने वाले किसी कपटीने भोले लोगोंको भ्रान्ति में डालने वाला यह उपाय, रचा है। इसलिये शील तथा उपवास आदि कार्य स्वर्गके साधन हैं, ऐसा आर्ष–आगममें कहा गया है, तुम भी उसे मान्य करो। विश्वभू पर्वतसे बोला–पर्वत ! नारद जो ऐसा कह रहा है उसे तुमने सुना ? कालासुरके द्वारा कहे हुए शास्त्रसे मोहित दुर्बुद्धि पर्वत बोला–अहो मन्त्रि-श्रेष्ठ ! यह शास्त्र क्या नारदने नहीं सुना है ? मेरे तथा इसके गुरु मेरे पिता ही थे। यह नारद कोई दूसरा नहीं है। उस समय भी यह मुझपर समत्सर था अर्थात् मुझसे ईर्ष्या रखता था फिर अब तो कहना ही क्या है ? [4]मेरे गुरुका धर्म भाई स्थविर नामका विद्वान् था जो कि जगत् प्रसिद्ध था उसने

१––मम गुरो म०। २–दासादीनां म० क०। 'कैवर्ते दाशधीवरौ' इत्यमरः ३––त्वमेव वक्षि क०।

४–इस गद्यका मूल गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराणके निम्न श्लोक हैं 'सश्रुतो मद्गुरोर्धर्म––भ्राता जगति विश्रुतः। स्थविरस्तेन च श्रौतं रहस्यं प्रतिपादितम् ॥३९८॥ यागमृत्युफलं साक्षान्मयापि प्रकटीकृतम्। न चेत्ते प्रत्ययो विश्ववेदाम्भोनिधिपारगम् ॥३९९॥ पर्व ६७। इन श्लोकोंमें बताया गया है कि मेरे गुरुके धर्मभाई जगत्-प्रसिद्ध स्थविर नामके विद्वान् थे उन्होंने 'अजैर्यष्टव्यम्' इस श्रुतिका रहस्य मुझे बतलाया था अर्थात् बकरोंसे यज्ञ करना चाहिये यह श्रुतिका गूढ अर्थ मुझे बतलाया था। तथा मैंने भी यज्ञमें मृत्युका क्या फल होता है उसे साक्षात् प्रकट करके दिखाया है। –परन्तु यहां गद्यमें पद-विन्यास कुछ अस्त व्यस्त होगया है।

गर्हितः। यद्यदर्थं सृष्टं ततोऽन्यत्र विनियोगेऽर्थकृत कथं स्यात्। श्लेष्मादिशमनौषधं ततोऽन्यत्र कथमुपयोगि स्यात्। क्रयविक्रयादौ हलानांभार[1]वाहनादौ महादोषः स्यात्. [2]हे दुर्बल ! त्वां वादिनं दृष्ट्वा सन्मुखमभ्यागत्य[3] भ्रमः। यथा शस्त्रादिभिः प्राणिघाती पापेन बध्यते तथा मंत्रादिनापि घातकृत्पापेन बध्यते एवाविशेषत्वात्। हंहो पर्वत ! पश्वादिलक्षणा सृष्टिर्व्यज्यतेऽथवा क्रियते ? चेत्क्रियते तर्हि खपुष्पादिकमप्यविद्यमानं कथं न क्रियते। अथ विद्यमानैव सृष्टिर्यज्ञार्थं व्यज्यते तर्हि सर्ववचनं[4]कारणप्रतिपादकमनर्थकं स्यात [5]प्रदीपज्वलनमेव घटादेः पूर्वमन्धकारप्ररूपकं यतः। अनावृतस्यैव व्यक्तिः क्रियते इति चेत्तर्हि सृष्टित्रादौ [6]भवद्भिः पूर्वं क्रियतां ? इति नारदेन कृतमुपन्यासमाकर्ण्य [7]सर्वेऽपि सभास्थास्तं तुष्टुवुः। अथ सभ्या ऊचुः द्वयोर्विवादो वसुना चेच्छेद्यते तर्हि स एव अभिगम्यतां इति श्रुत्वा ताभ्यां नारदपर्वताभ्यां [समं] सर्वापि संसत् स्वस्तिकावतीमुच्चचाल। तत्र पर्वतः सर्वं वृत्तान्तं स्वमात्रे निवेदयामास। सा तेन युता वसुं ददर्श। पुत्र वसो ! पर्वतोऽपरिणीतः। [8]तपोयुजा गुरुणापि तवायमर्पितः। नारदेन सह तव प्रत्यक्षे वादो

भी यज्ञमें मृत्यु प्राप्त करना ही श्रुतिका रहस्य बतलाया था तथा मैंने भी साक्षात् प्रकट किया है अर्थात् लोगोंको स्पष्ट दिखलाया है कि यज्ञ में मरे हुए प्राणी स्वर्ग गये हैं। यदि तुम्हें विश्वास नहीं है तो समस्त वेद रूपी समुद्र के पार-गामी राजा वसुसे पूछ लो जो सत्यके कारण आकाशमें स्थित रहता है। यह सुनकर नारद ने कहा—क्या हानि है ? उसीसे पूछ लिया जाय। विचारने योग्य बात तो यह है कि—

यदि हिंसा धर्मका साधन है तो अहिंसा, दान, शील आदिको पापका साधन होना चाहिये। यदि ऐसा है तो धीवर आदिकी उत्कृष्ट गति हो और सत्य धर्म, तप तथा ब्रह्म चारियों की अधोगति हो। यदि तुम्हारा यह कहना है कि यज्ञमें पशु वधसे धर्म होता है अन्यत्र नहीं, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि वध यज्ञमें हो चाहे यज्ञके बाहर हो—दोनों स्थानों पर दुःखका कारण है, अतः सदृशताके कारण फल भी समान होना चाहिये। यदि तुम यह कहो कि पशुओंकी सृष्टि विधाता ने यज्ञके लिये की है, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि फिर अन्य प्रकारसे पशुओंका उपययोग संगत नहीं होता अर्थात् यज्ञ वधके सिवाय खेती आदिके कार्योंमें उनका उपयोग नहीं होन ।चाहिये, यह आगम अर्थात 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः—' इत्यादि शास्त्र अत्यन्त मूर्ख जनोंकी इच्छा मात्र हैं तथा विद्वानोंके लिये निन्दनीय हैं। जो जिसके लिये रचा जाता है उससे अन्य कार्य में उसका उपयोग होनेपर वह

१—वाहनादौ म–। २—दुर्बलं त्वां म०। ३—सन्मुखमागत्य म०। ४—पूर्वं वचनं म०। ५—इतः पूर्वं 'अथाभिव्यज्यते तस्य वाच्यं प्राक्प्रतिबन्धकम्' इति भावनिरूपकेण गद्यांशेन भवितव्यं, किन्तूपलब्ध–प्रतिषु न दृश्यते सः। ६—'भवद्भिः क्रियताम्' इत्यत्र 'भवद्भिरूरीक्रियताम्' इति पाठः सुष्ठु प्रतिभाति ऊरी क्रियताम्-स्वीक्रियताम् इत्यर्थः। ७—समास्तारास्तं म० समावस्तारा क०। ८—तपोयता म०।

भविष्यति, तत्र यद्यस्य भंगो भविष्यति तदास्य यमगृहप्रवेशो भविष्यतीति निश्चिनु । अस्य शरणमन्यो न वर्तते । वसुरुवाच । मातः! गुरुशुश्रूषकोऽहं वर्ते । "गुरुवद्गुरुपुत्रं गुरुकलत्रं च पश्येत्" इत्यहं नीतिशास्त्रस्य जयं करिष्यामि । त्वं भैषीर्मा । अथान्येद्युस्ते तथाविधं सिंहासनमारूढं वसुं ददृशुः । तत्र विश्वभूप्रभृतयः संपप्रच्छुः । हे राजन्! त्वत्तः पूर्वमपि अहिंसाधर्मरक्षणे तत्परा अत्र चत्वारो राजानो हिमगिरिमहागिरिसमगिरिवसुगिरिनामानो हरिवंशजाः पुरा च संजाताः । तत्रैव वंशे विश्वावसुमहाराजः संजातः । ततश्च भवान् संबभूव । तत्राहिंसाधर्मरक्षितत्वे किमुच्यते । त्वमेव सत्यवादीति प्रघोषस्त्रिभुवने वर्तते । वस्तुसंदेहे त्वं विषवत् वन्हिवत् तुलावत् वर्तसे । प्रत्ययोत्पादी त्वमेव, तेनास्माकं प्रभो! संशयं छिंधि । नारदः खल्वहिंसालक्षणं धर्मं पक्षं कक्षीचकार । पर्वतस्तु तद्विपरीतमाचिक्षेप । तत्कथयतु भवानुपाध्यायस्योपदेशमित्यभ्यर्थितः । गुरुपत्न्या पुरा प्रार्थित उपाध्यायोपदेशं जानन्नपि राजा महाकालोत्पादितमहामोहो

सार्थक कैसे हो सकता है ? कफ आदिको शान्त करने वाली औषधि दूसरे रोगमें उपयोगी कैसे हो सकती है ? खरोदना वेचना आदिमें तथा हल, गाड़ी और बोझा ढोना आदिमें महान् दोष होना चाहिये । हे दुर्बल ! तुझे वादी देख सन्मुख आकर हम कहते हैं—जिस प्रकार शस्त्र आदिके द्वारा प्राणीका घात करने वाला पापसे बद्ध होता है उसी प्रकार मन्त्र आदिके द्वारा घात करने वाला पुरुष भी पापसे बद्ध होता है क्योंकि दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है । हे पर्वत ! यह भी तो कहो कि पशु आदि की सृष्टि विधाताके द्वारा प्रकट की जाती है या नवीन रची जाती है ? यदि नवीन रची जाती है तो आकाशके फूल: आदि अविद्यमान वस्तु भी क्यों नहीं रची जाती है ? यदि यह कहते हो कि पहले से विद्यमान सृष्टि ही यज्ञके लिय प्रकट की जाती है तो 'सृष्टि की जाती है' इस अर्थको प्रतिपादन करने वाले सभी वचन निरर्थक हो जावेंगे । यदि यह मान लिया जाय कि विद्यमान सृष्टि ही विधाता के द्वारा प्रकट की जाती है तो फिर उसका प्रतिबन्धक क्या है ? क्योंकि दीपकका जलना ही यह बतलाता है कि पहले घटादि पदार्थ अन्धकारसे आच्छादित थे । अर्थात् जिस प्रकार पहले अन्धकारसे आच्छादित घटादिको दीपक प्रकट करता है, उसी प्रकार यहां बतलाना चाहिये कि सृष्टि पहले किससे आच्छादित थी ? इस दोषसे बचने के लिये यदि यह कहते हो कि सृष्टि किसीसे आवृत नहीं थी, अनावृत सृष्टि ही प्रकट की जाती है तो फिर आपको सृष्टिवाद ही स्वीकृत करना चाहिये । इस प्रकार नारदके द्वारा किये हुए प्रस्तावको सुनकर सभामें बैठे हुए सब लोग उसकी स्तुति करने लगे ।

तदनन्तर सभासदोंने कहा कि यदि दोनोंका विवाद वसुके द्वारा समाप्त होता है तो उसीके संमुख चला जाय । यह सुनकर सभी सभा उन नारद और पर्वत के साथ स्वस्तिकावती को चल पड़ी । वहां जाकर पर्वतने सब वृत्तान्त अपनी मातासे कहा । माता

दुःषमकालनिकटवर्तित्वात् विषयसंरक्षणानन्दनामरौद्रध्यानतत्परः पर्वतोक्तं तत्त्वं वर्तते । प्रत्यक्षे वस्तुन्यनुपपन्नता का । पर्वतोक्तयागेन सस्त्रीकः सगरः स्वर्गमवाप । ज्वलन्तं प्रदीपं कोऽन्यो दीपो यस्तं प्रकाशयेत् । तेन पर्वतोक्तं यज्ञं स्वर्गसाधनं भयं त्यक्त्वा यूयं कुरुध्वं । इति हिंसानृतानन्दबद्धनारकायुर्मिथ्यापापादपवादाबाभीरुर्जगाद । तदा ब्रह्माण्डं स्फुटितमिवाकाशे ध्वनिः संजातः,आकाशः खल्वित्याक्रोशं[1]चकारेव । किमाक्रोशयदाकाशः अहो नारद ! अहो तापसाः ! पृथिवीपतेर्मुखादीदृशमपूर्वं घोरं वचनं संजातमिति । नद्यः प्रतिकूलजलस्रवाः संजाताः । सरांसि सद्यः शुष्काणि । रुधिरवर्षणमनागतं बभूव । सूर्यांशवो मन्दाः संजाताः । सर्वा दिशो मलीमसाः सम्पद्यन्ते स्म । भयविह्वलाः प्राणिनः कम्पं दधुः । तदा भूमिर्द्विधा भक्तिं गता । तस्मिन् महारन्ध्रे वसोः सिंहासनं ममज्ज । आकाशे स्थिता देवविद्याधरेशा इत्यूचुः-अहो वसुनरेन्द्र महाबुद्धे ! धर्मविध्वंसनं मार्गं मा त्वमीदृशं वादीरित्यघोषयन् । सिंहासने निमग्ने सति पर्वतो वसुश्च

पुत्रके साथ वसुसे मिली और उससे बोली बेटा वसु ! पर्वत अविवाहित है, तप धारण करते हुए गुरुने भी इसे तुम्हारे लिये सौंपा था । नारदके साथ तुम्हारे सामने इसका वाद होगा, उसमें यदि इसकी पराजय होगी तो इसका यमके घरमें प्रवेश होगा ! ऐसा निश्चय करो । तुम्हारे सिवाय इसका और शरण नहीं है । वसुने कहा -'माता ! मैं गुरुका सेवक हूं । 'गुरुके पुत्र और गुरुको स्त्रीको समान ही देखना चाहिये ।' मैं इस नीतिको जानता हूं अतः इसकी जीत करूंगा, तुम डरो मत' ।

तदनन्तर दूसरे दिन सब लोगोंने उस तरहके अर्थात् अन्तरीक्ष दिखने वाले सिंहासन पर आरूढ राजा वसुके दर्शन किये । वहां विश्वभू आदि ने पूछा कि हे राजन् ! आप से पूर्व भी यहां अहिंसा धर्मकी रक्षा करनेमें तत्पर रहने वाले हिमगिरि, महागिरि, समगिरि और वसुगिरि नामके चार राजा पहले हो चुके हैं । ये सब हरिवंश में उत्पन्न हुए थे उसी हरिवंश में विश्वावसु महाराज भी हुए थे और उनसे आप उत्पन्न हुए हैं । उस वंशमें अहिंसा धर्मकी रक्षा सदासे होती आई है इस विषयमें क्या कहना है । 'आपही सत्य वादी हैं' इस प्रकार की जोरदार घोषणा तीनों लोकोंमें हो रही है । वस्तुमें संदेह उपस्थित होनेपर आप विषके समान, अग्निके समान अथवा तुलाके समान विद्यमान हैं । हे प्रभो ! चूंकि विश्वासको उत्पन्न करने वाले आप ही हैं, अतः हम लोगोंका संशय दूर करो । नारदने अहिंसा लक्षण धर्मका पक्ष स्वीकार किया है और पर्वत उसके विपरीत आक्षेप कर रहा है । अतः आप गुरुका उपदेश कहिये अर्थात् यह बताइये कि गुरु–क्षीरकम्बक का क्या उपदेश था । इसप्रकार विश्वभू मन्त्री आदिने राजा वसुसे प्रार्थना की ।

गुरुपत्नी अर्थात् पर्वत की माता जिससे पहले प्रार्थना कर चुकी थी, महाकाल असुरने जिसे महामोह–तीव्रमिथ्यात्व उत्पन्न कराया था तथा जो विषय संरक्षणानन्द

१—चकार च ।

परिम्लानमुखौ बभूवतुः । तौ तादृशौ निरीक्ष्य महाकालस्य किंकरास्तापसाकारं गृहीत्वा समूचुः—हे पर्वत हे वसो ! युवां भीतिं मा कार्ष्टामित्युक्त्वा स्वयमुत्थापितं सिंहासनं दर्शयामासुः । तत्र स्थितो वसुरुवाच । अहं तत्वविन् कथं बिभेमि पर्वतस्य सत्यवचनं जानन्निति ब्रुवाणः कण्ठपर्यन्तं निमग्नवान् । तद् दृष्ट्वा साधवो जगदुः । अनेन मिथ्यावादेन भूपतेरियमवस्था संजाता । हे राजन् ! अद्यापि मिथ्यामार्गं त्यजेति साधुभिः प्रार्थितोऽपि तथापि मूर्खो यज्ञमेव सन्मार्गं कथितवान् । भूम्या कुपितया सर्वाङ्गोऽपि निगीर्णः सप्तमं नरकं जगाम । तदा कालासुरो लोकप्रत्ययनिमित्तं गगने स्थितं सगरवसुरूपद्वयं दिव्यं दर्शयामास । आवां यागश्रद्धया दिवमवापाव । यूयं नारदस्य वचनं मा मानयतेति प्रोच्य अन्तर्दधौ कालासुरः । अथ शोकाश्चर्ययुक्तेन जनेन वसुः स्वर्गं गतो. न हि न हि नरकं गत इति विसंवदमानेन सह विश्वभूः प्रयागं गत्वा राजसूयविधिं विदधे । महापुराधिपप्रमुखा लोकस्य मूढत्वं निन्दन्तः परमब्रह्मनिर्दिष्टमार्गे मनाक्

त्मक रौद्र ध्यान में तत्पर था ऐसा राजा वसु गुरुके द्वारा प्रदत्त उपदेशको जानता हुआ भी दुःषम काल–पञ्चम कालके निकटवर्ती होनेसे कहने लगा कि जो तत्व पर्वतने कहा है, वही ठीक है । प्रत्यक्ष वस्तुमें अनुपपत्ति क्या है ? पर्वत के द्वारा कहे हुए यज्ञके द्वारा सगर पत्नी सहित स्वर्गको प्राप्त हो चुका है । जलते हुए दीपकको दूसरा कौन दीपक है जो प्रकाशित कर सके ? इसलिये आप लोग पर्वतके द्वारा कहे हुए यज्ञको स्वर्गका साधन समझ, भय छोड़कर करो । इस प्रकार हिंसानन्द और मृषानन्द रौद्रध्यान के द्वारा जिसे नरकायु का बन्ध पड़गया था तथा जो मिथ्या पाप और अपवादसे नहीं डर रहा था ऐसे वसुने कहा । उस समय आकाशमें ऐसा शब्द हुआ मानों ब्रह्माण्ड फट गया हो । ऐसा जान पड़ने लगा मानो आकाश ही चिल्ला चिल्ला कर कह रहा हो–अहो नारद ! अहो तापसो ! राजाके मुखसे ऐसा अपूर्व भयंकर वचन उत्पन्न हुआ है । नदियोंके जलका प्रवाह उल्टा बहने लगा, तालाब शीघ्र सूख गये, रक्तकी वर्षा निरन्तर होने लगी, सूर्यकी किरणें फीकी पड़ गईं, सब दिशाएं मलिन हो गईं, प्राणी भयसे विह्वल होकर कांपने लगे । उसी समय पृथिवी फट गई और उस महाछिद्रमें वसुका सिंहासन धंस गया । आकाश में स्थित देव और विद्याधरोंके अधिपति यह कहने लगे–अहो महाबुद्धिमान् ! राजावसु ! तुम इसतरह धर्मका विध्वंस करने वाले मार्गका कथन मत करो । सिंहासन के धंस जाने पर पर्वत और वसु म्लान–मुख होगये । उन्हें वैसा देख महाकालके किंकर तापसोंका आकार रख कर अर्थात् तापसोंके वेषमें आकर कहने लगे–हे पर्वत ! हे वसु ! तुम दोनों भय मत करो । इस प्रकार कह कर उन्होंने वसुके सिंहासन को ऊपर उठा हुआ दिखलाया । उस सिंहासन पर बैठा हुआ वसु कह रहा था–'मैं तत्वका जानने वाला कैसे भयभीत हो सकता हूं ! मैं पर्वत के वचनोंको सत्य जानता हूं' इस प्रकार कहता हुआ वसु कण्ठ पर्यन्त पृथिवीमें

स्थितास्तस्थुः। नारदेन धर्ममर्यादा रक्षितेति तं प्रशस्य गिरितटनाम्नीं पुरं तस्य ददुः। तापसास्तु दयाधर्मनाशस्य कारणं कलिकालं कलयन्तो यथास्थिति विधुराशया जग्मुः। अथान्येद्युर्नारदो दिनकरदेवं विद्याधरं निजमभीष्टं प्रत्युवाच-पर्वतस्य विरुद्धाचरणं त्वया निवार्यतामिति। सोऽपि तथा करिष्यामीति नागान्तं गत्वा निजविद्यया धारपन्नगान् हूय तत्प्रपंचं निवेदयामास। धारपन्नागास्तु संग्रामे कालासुरं भंक्त्वा यागविघ्नं चक्रुः। विश्वभूपर्वतौ तद् दृष्ट्वा शरणान्वेषिणौ यावदास्तां तावन्महाकालमग्रतः स्थितं ददृशतुः तदग्रे तं वृत्तान्तं निवेदयाञ्चक्रतुः। कालासुर उवाच-अस्मद्द्वेषिणो नागास्तैरयमुपद्रवो विहितः। विद्यानुप्रवादोक्ता नागविद्यास्तासां विजृंभणं जिनबिम्बानामुपरि न भवति ततः सुरूपान् जिनाकारान् चतुर्षु दिक्षु निवेश्य पूजयित्वा च यज्ञविधिं युवां कुरुतमिति। तमुपायं श्रुत्वा तौ तथा चक्रतुः। पुनर्विद्याधराधिपो यागविघ्नं कर्तुमागताः। जिनबिम्बानि दृष्ट्वा नारदाय कथयति स्म यन्मेविद्या अत्र न क्रामन्तीति स्वस्थानं जगाम। तदनन्तरं यज्ञो निर्विघ्नो बभूव। तदनु विश्वभूः पर्वतश्च सप्तमं नरकं गतौ। दीर्घकालं महादुःख-

---

धंस गया। यह देख साधुओंने कहा—इस असत्य कथन से वसु राजाकी यह दशा हुई है। हे राजन्! अब भी मिथ्यामार्ग छोड़ दो···इस प्रकार यद्यपि साधुओंने उससे प्रार्थना की थी तथापि वह मूर्ख यज्ञको ही सन्मार्ग कहता गया। कुपित पृथिवी ने उसे सर्वाङ्ग निगल लिया तथा मरकर वह सातवें नरक गया। उस समय कालासुरने लोगोंको विश्वास दिलाने के लिये आकाशमें स्थित सगर और वसुके दो दिव्य रूप दिखलाये। वे कह रहे थे कि हम दोनों यज्ञकी श्रद्धासे स्वर्गको प्राप्त हुए हैं, तुम सब नारदका वचन मत मानो···इस प्रकार कह कर कालासुर अन्तर्हित होगया।

तदनन्तर शोक और आश्चर्य में निमग्न लोगोंमे कोई तो कहता था कि वसु स्वर्ग गया है और कोई कहता था कि नहीं नहीं नरक गया है। इस प्रकार विवाद करते हुए लोगोंके साथ विश्वभूने प्रयाग जाकर राजसूय यज्ञको विधि की। महापुर के राजा आदि जो प्रमुख पुरुष थे वे लोगोंको मूढता की निन्दा करते हुए परम ब्रह्म जिनेन्द्र देवके द्वारा निर्दिष्ट मार्गमें ही स्थित रहे। 'नारद ने धर्ममर्यादा की रक्षा की है' इस तरह उसकी प्रशंसा कर उसके लिये गिरितट नामकी नगरी दी। तापस लोग कलिकाल को दयाधर्मके नाशका कारण समझते हुए दुःखित-हृदयसे यथा—स्थान चले गये।

तदनन्तर किसी दिन नारदने दिनकर देव नामक विद्याधरसे अपने मनकी बात कही—आपके द्वारा पर्वतके विरुद्ध आचरणका निवारण किया जाना चाहिये। दिनकर देवने 'वैसा करूंगा' इस तरह अपनी स्वीकृति दे दी। उसने नाग जातिके देवके पास जाकर अपनी विद्याके द्वारा धारपन्नग नामक देवोंको बुलाया और पर्वतका यह सब प्रपञ्च कह सुनाया। धारपन्नग देवोंने संग्राममें कालासुरको पराजित करके यज्ञमें विघ्न उत्पन्न

मनुबभूवतुः । अथ महाकालोऽभिप्रेतं साधयित्वा निजरूपं धृत्वा लोकान् प्रत्याह—पोदनापुरे पूर्वभवेऽहं मधुपिङ्गलो नाम राजा आसं। सुलसानिमित्त मया महत्पापमुपार्जितं अहिंसालक्षणो धर्मो जिनेन्द्रैः कथितः स भवद्भिः कर्तव्यो धर्मिष्ठैरिति संप्रोच्य अन्तर्दधौ। पुनर्दयार्द्रधीः सन् सुदुश्चेष्टापापस्य प्रायश्चित्तं

कर दिया। विश्वभू और पर्वत उस विघ्नको देखकर जब शरण की खोज करते हैं तब सामने खड़े हुए महाकाल का देखते हैं। उन्होंने महाकाल के आगे सब वृत्तान्त कहा। कालासुर बोला—नाग देव हमारे द्वेषी हैं उन्होंने यह उपद्रव किया है। विद्यानुप्रवाद में नाग विद्याएं कही गई हैं उनका प्रभाव जिन प्रतिमाओं पर नहीं होता है इसलिये चारों दिशाओं में सुन्दर जिन प्रतिमाएं रखकर पूजा करो, इस प्रकार यज्ञ की विधिको तुम दोनों पूरा करो। उस उपाय को सुनकर विश्वभू और पर्वत ने वैसा ही किया। विद्याधरों का राजा फिर से यज्ञमें विघ्न करने के लिये आया परन्तु जिन प्रतिमाओं को देखकर नारद से बोला कि मेरी विद्याएं यहां नहीं चलती हैं। ऐसा कहकर वह अपने स्थान पर चला गया। तदनन्तर यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होगया। पश्चात् विश्वभू और पर्वत सप्तम नरक गये तथा दीर्घ काल तक महा दुःख भोगते रहे।

तदनन्तर महाकाल ने इष्ट कार्य सिद्ध कर अपना असली रूप धारण किया और लोगों से कहा कि मैं पूर्व-भव में पोदन-पुरमें मधु-पिङ्गल नामका राजा था। सुलसा के निमित्त मैंने यह महापाप उपार्जित किया है। जिनेन्द्र देवने जो अहिंसा लक्षण धर्म कहा है आप सब धर्मात्माओं को उसीका पालन करना चाहिये। ऐसा कह कर वह अन्तर्हित होगया पुनः दयासे आर्द्र-बुद्धि होकर उसने अत्यन्त दुष्ट चेष्टा रूप पापका स्वयं प्रायश्चित्त किया। क्या प्रायश्चित्त किया ? अज्ञान से किये हुए पापका छोड़ देना ही प्रायश्चित्त है. इसी प्रायश्चित्त को उसने किया तदनन्तर दिव्य ज्ञान के धारक अवधिज्ञानी मुनियों ने कहा कि हिंसा धर्म की प्रवृत्ति कराने वाले विश्वभू आदि नारकी हुए हैं अर्थात् नरक में गये हैं। यह सुनकर पापसे डरने वाले कितने ही लोगोंने पर्वतके द्वारा उपदिष्ट मार्गका आश्रय नहीं लिया अर्थात् उसे छोड़ दिया और कितने ही दीर्घ संसारी जीव उसी कुमार्ग में स्थित रहे आये।

इस प्रकार मधुपिङ्गल की कथा समाप्त हुई।

स्वयं चकार। किं प्रायश्चित्तं ? सम्मोहात्कृतस्य पापस्य निवृत्तिरेव प्रायश्चित्तं तामसौ चकार। अथ दिव्यबोधैर्मुनिभिरित्युक्तं विश्वभूप्रमुखा हिंसाप्रवर्तका नारका बभूवुः। तत् श्रुत्वा पर्वतोद्दिष्ट दुर्मार्गं केचित् पापभीरवो नाशिश्रियुः। केचित् दीर्घसंसारिणस्तस्मिन्नेव दुर्मार्गे स्थिता इति।

इति श्रीभावप्राभृते मधुपिंगलद्रव्यलिंगिनः कथा समाप्ता[1]।

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।

सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीव ॥ ४६ ॥

अन्यच्च वशिष्ठमुनिः प्राप्तः दुःखं निदानदोषेण।

तन्नास्ति वासस्थानं यत्र न भ्रान्तो जीव ! ॥

अण्णं च वसिट्ठमुणी अन्यच्च भावरहितद्रव्यमुनिदृष्टान्तकथानकं वर्तते। तत्कि वशिष्ठमुनिः। *पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण* प्राप्तो दुःखं निदानदोषेण शत्रुवधप्रार्थननिदानदोषेण। नवमेन विष्णुना यः कंसनामा नृपो मारितः स वशिष्ठमुनिचरो मल्लयुद्धे मरणदुःखं प्राप्तः। *सो णत्थि वासठाणो* तन्नास्ति वासस्थानं जन्ममरणस्थानं। *जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीव* हे जीव ! हे आत्मन् ! यत्र त्वं न जातो नोत्पन्नश्च दुरुदुल्लिओ भ्रान्त इति। वशिष्ठस्य कथा यथा—

गाथार्थ—और भी, वशिष्ठ मुनि निदान के दोषसे दुःख को प्राप्त हुआ सो ठीक ही है क्योंकि हे आत्मन् ! ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां यह जीव न घूमा हो ॥ ४६ ॥

विशेषार्थ—भाव रहित द्रव्य मुनिका दूसरा दृष्टान्त भी है। वह यह कि वशिष्ठ नामका मुनि जो आगे चलकर कंस हुआ था, शत्रु के मारने को अभिलाषा रूप निदान के दोषसे नौवें नारायण श्री कृष्ण के द्वारा मल्ल युद्ध में मरण के दुःखको प्राप्त हुआ। वह जन्म मरण का स्थान कोई ऐसा नहीं है जहां हे जीव ! तू न उत्पन्न हुआ हो, अथवा न घूमा हो। वशिष्ठ मुनिकी कथा इस प्रकार है—

गङ्गा और गन्धवती नदियों के सगम स्थान पर जठर कौशक नामकी तापसियों की वसति थी। उसका नायक वशिष्ठ नामका साधु था जो पञ्चाग्नि व्रतका आचरण करता हुआ रहता था। एक वार वहां गुणभद्र और वीरभद्र नामक चारण ऋद्धि धारी मुनिराज पहुंचे। उन्होंने वशिष्ठ से कहा कि तुम्हारा यह तप अज्ञान के द्वारा किया हुआ है। यह सुनकर दुर्बुद्धि वशिष्ठ ने क्रुद्ध हो उनके आगे खड़ा होकर पूछा कि मेरी अज्ञानता किस कारण है ? उनमें भगवान गुणभद्र ने कहा क्योंकि सत्पुरुष हित-भाषी होते ही हैं। उन्होंने जटाओं के समूह में उत्पन्न जुएं तथा लीखोंके निरन्तर घात को, जटाओं के मध्यमे लगी हुई छोटी छोटी लीखोंको तथा जलते हुए काठके मध्यमें

१—पञ्चिकामूर्णा क०।

गंगागन्धवत्योर्नद्योः संगमे जठरकौशिकं नाम तापसानां पल्ली बभूव। तत्र वशिष्ठो तापसः पंचाग्निव्रतं चरन्नास्ते स्म। तत्र गुणभद्रवीरभद्रनामचारणमुनिवरौ जगदतुः—अज्ञानकृतमिदं तप इति। तच्छ्रुत्वा वशिष्ठः कुधीः सक्रोधं तयोः पुरतः स्थित्वा पप्रच्छ—कस्मान्मेऽज्ञानमिति। तत्र गुणभद्रो भगवानाह यतः सत्पुरुषा हि हितभाषिणो भवन्ति। जटाकलापसंजातयूकालिक्षाभिघट्टन सतत स्नानेन जटामध्यलग्न-मृतमीनकान् दह्यमानकाष्ठमध्यस्थितकीटकान् प्रदर्श्य इदं तवाज्ञानमिति प्राबोधयत्। काललब्धिमासाद्य स वशिष्ठः सुधीभूत्वा गुणभद्रचरणान्ते तपो निर्ग्रन्थं गृहीत्वा सोपवासमातापनयोगं जग्राह। तत्तपोमाहात्म्यात् सप्तव्यन्तरदेवता अग्रतः स्थित्वा ब्रुवन्ति स्म—मुने! आदेशं देहीति। मुनिराह—इदानीं मम प्रयोजनं नास्ति गच्छत यूयं। जन्मान्तरं मच्छिष्टिं करिष्यथ। एवं तपः कुर्वन् वशिष्ठः क्रमेण मथुरापुरीमाजगाम। तत्र मासोपवासी सन्नातापनयोगे स्थितवान्। स उग्रसेनेन राज्ञा दृष्टः। भक्तिवशेन पुर्यां घोषणां कारयामास—अयं मुनिर्मद्गृहे एव भिक्षां गृह्णातु नान्यत्रेति। सोऽपि पारणादिने मथुरां जगाम।

स्थित कीड़ोंको दिखा कर समझाया कि तुम्हारा अज्ञान यह है। काललब्धि पाकर उस वशिष्ठ साधुने बुद्धिमान हो निर्ग्रन्थ तप अर्थात् दिगम्बरी दीक्षा धारण करली और उपवास के साथ आतापन योग ग्रहण किया। उसके महान तपके माहात्म्य से सात व्यन्तर देवताओं ने आगे खड़े होकर कहा—मुनिराज! 'आज्ञा देओ'। मुनिने कहा इस समय मेरा कोई प्रयोजन नहीं है इसलिये तुम सब जाओ! जन्मान्तर में मेरा शेष कार्य पूरा करना। इस प्रकार तप करते हुए वशिष्ठ मुनि क्रम क्रमसे मथुरापुरी में आये। वहां एक मासके उपवास का नियम लेकर वे आतापन योग मे स्थित होगये। राजा उग्रसेन ने उनके दर्शन किये तथा भक्ति-वश नगर में घोषणा करा दी कि ये मुनि मेरे घर ही भिक्षा ग्रहण करें, अन्यत्र नहीं।

पारणा के दिन मुनिराज भी मथुरा गये परन्तु वहां उठती हुए अग्निको देख लौटकर वनमें वापिस आगये और एक महीने के उपवास का नियम लेकर ध्यानारूढ होगये। मासोपवास समाप्त होने पर वे पुनः पारणा के निमित्त नगर में गये, परन्तु याग हस्तीका क्षोभ देखकर वन में लौट आये, पुनः एक मासके उपवास कर पारणा के लिये नगर गये परन्तु उस दिन जरासन्ध का पत्र देखकर राजा व्यग्रचित्त था इसलिये मुनि फिर लौट आये। जब अत्यन्त दुर्बल शरीर के धारक वसिष्ठ मुनि लौट रहे थे तब उन्हें देख किसी मनुष्य ने कहा कि यह राजा मुनि को मारे डालता है, स्वयं भिक्षा देता नहीं है और दूसरों को रोकता है, न जाने इसका क्या अभिप्राय है? यह सुनकर वशिष्ठ मुनिने पापके उदय से निदान किया कि मैं अपने दुष्कर तपके फल—स्वरूप इस

तत्राग्निमुत्थितं दृष्ट्वा व्याघुट्य वनमाजगाम। पुनर्मासोपवासं जग्राह। पुनः पारणार्थं मासोपवासावसाने पुरं गतः। तत्र यागहस्तिनः क्षोभं दृष्ट्वा वनमागतः। पुनर्मासोपवासपारणायां नगरं गतः। तदा जरासन्धपत्रकं दृष्ट्वा राजनि व्यग्रचित्ते सति पुनर्वलितः। तदा क्षीणशरीरं वशिष्ठमुनिं दृष्ट्वा लोको जगाद-अनेन राज्ञा मुनिर्मारितः, स्वयं भिक्षां न ददाति परान् वारयतीति न ज्ञायते कोऽभिप्रायो नृपस्येति। तच्छ्रुत्वा वशिष्ठो मुनिः पापहृदयान्निदानं चकार। मम दुष्करतपःफलादस्य राज्ञः पुत्रो भूत्वा अमुं निगृह्य अस्य राज्यं गृह्णाम्यहमित्यनेन दुष्परिणामेन मृत्वा पद्मावतीगर्भे पुत्रतया स्थितः। सा गर्भार्भकक्रौर्येण दोहदं चकार-राज्ञो हृदयमांसमश्नामीति। तदप्राप्नुवन्ती दुर्बला बभूव। तज्ज्ञात्वा मंत्रिणः प्रयोगेण विहितं दोहदं पूरयन्ति स्म। विद्वांसः किन्न कुर्युः। तदा सा पूर्णमनोरथा सुतपातकमसूत। मातापितरौ दष्टोष्ठं सभ्रूभंगं बद्धमुष्टिं तं दृष्ट्वा न पोषणे योग्योऽयमिति विचिन्त्य तद्विसर्जनोपायं चक्रतुः। कंसमयीं मंजूषामानीय सवृत्तकं कंसं तस्यां निधाय यमुनाप्रवाहे मुमुचतुः। कोशाम्बीपुरे मन्दोदरी नाम कल्पपाली, तया प्रवाहे

राजा का पुत्र होऊं और इसका निग्रह कर इसका राज्य ग्रहण करूं"। इस खोटे परिणाम से मरकर वह राजा उग्रसेन को पद्मावती रानी के गर्भ में पुत्र रूपसे स्थित हुआ। गर्भस्थित बालक की क्रूरता से उसे दोहला हुआ कि मैं राजा के हृदय का मांस खाऊं। उस मांसको न पानेसे वह दुर्बल हो गई। यह जान कर मन्त्रियोंने कृत्रिम मांस देकर उसका दोहला पूरा कर दिया सो ठीक ही है विद्वान् क्या नहीं कर सकते हैं? मनोरथ पूर्ण होनेपर रानीने पापी पुत्रको उत्पन्न किया। जब वह उत्पन्न हुआ तब अपना ओठ डस रहा था, भौंहकी भङ्गसे सहित था, और मुट्ठी बांधे था उसे देख माता पिता ने विचार किया कि यह पालन पोषण करने योग्य नहीं है, अतः उसे छोड़ने का उपाय किया। एक कांसकी पेटी लाकर उसमें सब समाचार के साथ कंसको (उस बालकको) रख दिया तथा यमुना के प्रवाह में छोड़ दिया।

कौशाम्बी नगरी में मन्दोदरी नामकी एक कल्पपाली (कलारन) रहती थी उसने प्रवाह के बीच कांसकी पेटी में रखे हुए उस बालक को देखा और पुत्र रूपसे उसका पालन किया। आचार्य कहते हैं कि तपस्वियों के हीन कोटिके पुण्य भी क्या नहीं करते हैं? अर्थात् उनसे भी विशिष्ट लाभकी प्राप्ति होती है। कितने ही दिनों में वह बालक उलाहना आदिको सहन करने वाली अवस्थाको प्राप्त होगया। खेलता हुआ वह विना कारण ही समस्त बालकोंको चांटा, घूंसा तथा दण्ड आदिसे मार देता था तथा हिंसाका पाप बांधता था। उसके दुराचार के उलाहनों को जब मन्दोदरी नहीं सह सकी तब उसने

मंजूषामध्ये स दृष्टः पुत्रतया पालितश्च । तपस्विनां हीनान्यपि पुण्यानि किं न कुर्युः । कैश्चिद्दिनैर्लंघनादिसहं वयः प्राप । आक्रीडमानो निष्कारणं सकलबालकान् चपेटया मुष्टिना दण्डादिना च प्रहारं ददाति वधपापं बध्नाति । तद्दुराचारोपलंभान असहमाना मन्दोदरी तं तत्याज पुत्रं सोऽपि शौर्यपुरं गत्वा वसुदेवपदातिर्भूत्वा तत्सेवां करोति यावत् अत्रान्तरे जरासन्धो राजा त्रिखण्डमेदिनीपतिरपि कार्यशेषवान् वर्तते । सुरम्यदेशे पोदनापुराधीशं सिंहरथं युद्धे बद्ध्वा य आनयति तस्मै देशार्धं मत्सुतां कालिंदसेनासंजातां [1]जीवद्यशोनामानं ददामीति पत्रमालां राज्ञां समूहान् प्रति प्रेषयामास । तत्पत्रं वसुदेवो गृहीत्वा प्रवाचितवान् । निजाश्वान् सिंहमूत्रेण भावयित्वा तैर्वाह्यं रथमारुह्य संग्रामे तं जित्वा कंसेन निजभृत्येन बन्धयित्वा सिंहरथं राज्ञे अर्पयामास । जरासन्धस्तु तुष्ट्वा निजसुतां देशार्धं च ददौ । वसुदेवस्तु तां कन्यां दुष्टलक्षणां दृष्ट्वोवाच—देव ! नाहं सिंहरथं बद्धवान् , धर्मेदं कंसः कृतवान् , भवत्प्रेषणकारिणेऽस्मै कन्या प्रदीयतां । तत्श्रुत्वा जरासन्धः कंसस्य कुलं विज्ञातुं मन्दोदरीं प्रति दूतं प्रजिघाय । तं दृष्ट्वा मन्दोदरी

उस पुत्र को छोड़ दिया । अब वह कंस शौर्यपुर जाकर वसुदेवका सेवक बन करके उनकी सेवा करने लगा ।

इसी बीच में तीन खण्ड पृथिवी के अधिपति राजा जरासन्धका एक कार्य बाकी रह गया था उसकी पूर्ति के लिये उसने समस्त राजाओं के समूह के पास इस आशयके पत्र भिजवाये कि सुरम्यदेश में पोदनपुरके स्वामी सिंहरथको युद्ध में बाँधकर जो लावेगा उसके लिये मैं आधा देश तथा कालिन्द सेना से उत्पन्न अपनी जीवद्यशा नामकी पुत्री दूंगा उस पत्र को लेकर वसुदेव ने बचवाया और अपने घोड़ोंको सिंहके मूत्रसे संस्कारित कर उन्हें रथ में जोता तथा उस रथ पर आरूढ हो संग्राम में सिंह-रथको जीता तथा अपने सेवक कंससे बँधवाकर उसे जरासंघ को सौंप दिया । जरासंघ सतुष्ट होकर अपनी पुत्री और आधा देश देने लगा परन्तु वसुदेव ने उस कन्याको खोटे लक्षणों वाली देखकर कह दिया कि हे देव ! मैंने सिंहरथको नहीं बांधा है, यह कार्य कंसने किया है इसलिये आपके पास भेजने वाले इस कंसके लिए हो कन्या दी जावे । यह सुनकर जरासंघ ने कंसका कुल जानने के लिये मन्दोदरी के पास दूत भेजा उसे देख मन्दोदरी, 'क्या मेरे पुत्रने वहां भी अपराध किया है ?' इस भयसे उस मंजूषाको साथ लेकर वहां गई । जरासंघ के आगे मजूषा रखकर मन्दोदरी ने कह दिया कि यह इसकी माता है । कांसकी मञ्जूषा में रखा हुआ यह बालक यमुना के जलमें बहता आया था मैंने प्राप्त करके इसे पाला पोषा और बढ़ाया तथा कांस की मञ्जूषा में मिलने के कारण मैंने इसका कंस नाम रक्खा ।

१—जीवद्यशा नामानं क० ।

मम पुत्रः किं तत्रापि कृतापराध इति भीत्वा समंजूषा तत्र जगाम । जरासन्धाग्रे मंजूषां निक्षिप्य इयमस्य मातेत्युवाच । देव ! [1]कंसमंजूषामधिष्ठायाऽभंक आगतो यमुनाजले मया लब्धः प्रतिपाल्य वर्धितश्च नत एव नाम्ना कंसः कृतः । अयं स्वभावेन शौर्यदर्पिष्ठः शिशुत्वेऽपि निरगलः पश्चादुपालंभशतैर्लोकानां मया वर्जितः । तच्छ्रुत्वा मंजूषायाः पत्रं गृहीत्वा उच्चैर्वाचयामास । उग्रसेनपद्मावत्याः सुतं विज्ञाय सुतामर्धराज्यं च तस्मै वितितार । कंसोऽपि जातमात्रोऽहं नद्यां प्रवाहित इति क्रोधेन मथुरापुरं स्वयमागत्य मातरं पितरं च बन्धस्थौ कृत्वा गोपुरे धृतवान् । विचारविकलाः पापीयांसः कुपिताः किं किं न कुर्युरिति । अथ वसुदेवं महीपतिं पुरमानीय निजानुजां देवकीं दत्वा तत्र तं स्थापितवान् महाविभूतिमन्तं तं चकार एवं सुखेन कंसस्य काले गच्छति सत्येकदाऽतिमुक्तको मुनिर्भिक्षार्थं राजमन्दिरं प्रविष्टः । तं दृष्ट्वा जीवद्यशा हर्षमाणा [2]तं हास्येनोवाच—हे मुने ! देवकी तव लघुभगिनी पुष्पजानन्दवस्त्रं तवैतद्दर्शयति वस्त्रेण स्वचेष्टितं प्रकाशयतीति । तच्छ्रुत्वा मुनिः कोपं कृत्वा वाग्गुप्तिं भित्वा जगाद—मुग्धे ! किं हृष्यसि देवक्या यो भविष्यति

इसे स्वभाव से ही अपनी शूरता का घमण्ड है यह बाल्य-अवस्था में भी निरर्गल स्वच्छन्द था । पीछे लोगोंके सैकड़ों उलाहने आने लगे, तब मैंने इसे छोड़ दिया यह सुनकर मञ्जूषा से पत्र लेकर जोरसे बचवाया तथा उसे राजा उग्रसेन और पद्मावती का पुत्र जानकर उसके लिये पुत्री और आधा राज्य दे दिया

कंस ने भी 'मुझ उत्पन्न होते ही इन्होंने नदी में बहा दिया था' इस क्रोधसे मथुरापुरी आकर तथा स्वयं माता पिताको बन्धन में डालकर गोपुर के ऊपर रख दिया सो ठीक ही है क्योंकि विचार-हीन पापी मनुष्य क्रुद्ध होकर क्या क्या नहीं कर बैठते हैं ? तदनन्तर कंसने राजा वसुदेव को अपने नगर लाकर उन्हें अपनी छोटी बहिन देवकी दी तथा उन्हें वहीं रखकर महा विभूति से युक्त कर दिया । इस प्रकार कंसका समय सुखसे बीत रहा था कि एक दिन अतिमुक्तक नामक मुनिराज भिक्षाके लिये राजभवन में प्रविष्ट हुए उन्हें देख हर्षित होती हुई जीवद्यशा ने हास्य भावसे कहा कि मुनि ! देवकी नामक तुम्हारी छोटी बहिन अपना यह ऋतु-कालीन वस्त्र तुम्हें दिखलाती है और अपनी चेष्टा को प्रकट करती है । वह सुन मुनिने क्रोध करके तथा वचन--गुप्तिको तोडकर कहा कि मूर्खे ! क्यों हर्षित होती है, देवकी का जो पुत्र होगा वह तेरे भर्ताको अवश्य मारेगा । यह सुन जीवद्यशा ने उस वस्त्रके दो टुकड़े कर दिये । मुनिने फिर कहा कि मूर्खे ! न केवल तुम्हारे पतिको ही मारेगा किन्तु तुम्हारे पिताको भी मारेगा । इतना कहने पर उसने कुपित होकर उस वस्त्रको पैरों से रोंद दिया । यह देख मुनिने फिर कहा कि मूर्खे !

१—कंसस्य सुवर्णविशेषस्य मंजूषा तां । २ तव चेष्टितेन ।

पुत्रः स तव भर्तारमवश्यं हनिष्यति । तत्श्रुत्वा जीवद्यशा कोपेन तद्वस्त्रं द्विधा चक्रे । मुनिराह—मुग्धे ! न केवलं तव पतिमेव हनिष्यत्यनेन पितरमपि तव हनिष्यति । इत्युक्ते सा कुपित्वा तद्वस्त्रं पादाभ्याममर्दयत् । तद्दृष्ट्वा मुनिर्जगाद—मुग्धे ! अनेन सागरावधि पृथ्वीं नारीमिव पालयिष्यति । जीवद्यशास्तत्श्रुत्वा गत्वै कान्तं भर्त्रे निवेदयामास कंसो भीत्वा हास्येनापि प्रोक्तं मुनेः सफलं भविष्यतीति वसुदेवं राजानं गत्वा सस्नेहमिदमयाचत देवकी मम गृहान्तरं प्रसूतिं [1]कुर्यान्मतादिति । वसुदेवस्तेनापरुद्धः सं्तथास्त्विति जगाद अवश्यंभाविकार्येषु मुनिरपि मुह्यति । अथैकदा स मुनिर्देवकीगेहं भिक्षार्थं प्रविवेश । वसुदेवो देवकी च तं प्रतिगृह्य [2]भोजयित्वावाच— आवयोर्दीक्षा भविष्यतीति छद्मना जगदतुः । मुनिस्तदिङ्गितं ज्ञात्वोवाच युवयोः सप्त पुत्रा भविष्यन्ति तेषु षट् पुत्राः परस्थाने वृद्धिमित्वा मोक्षं यास्यन्ति सप्तमस्तु पुत्रो निजच्छत्रच्छायया पृथ्वीं निर्वाप्य चक्रवर्ती दीर्घकालं पालयिष्यति । देवकी ततस्त्रियमलान् [3]लेभे । तान् ज्ञानवान् शक्रश्चरमाङ्गान् ज्ञात्वा नैगमर्षं देवं प्रोवाच एनांस्त्वं रक्ष । स च भद्रिलपुरे अलकाया वणिक-

तेरी इस चेष्टा से सिद्ध होता है कि वह सागरान्त पृथिवी का स्त्री की तरह पालन करेगा । जीवद्यशा ने यह सुन एकान्त में जाकर पतिसे सब समाचार कहा । मुनि हास्य-भावसे यदि कुछ कहदे तो वह सफल—सत्य होता है यह सोचकर कंस डर गया । उसने राजा वसुदेव के पास जाकर स्नेह के साथ यह याचना की कि पूर्व-दत्त वर-दानसे देवकी हमारे घरके भीतर ही प्रसूति करे । कंसके उपरोध में आकर वसुदेवने 'तथास्तु'-ऐसा ही हो, कह दिया सो ठीक ही है क्योंकि अवश्य होनहार कार्योंमें मुनि भी भूल कर जाते हैं ।

तदनन्तर उन्हीं मुनिने एक दिन भिक्षा के लिये देवकीके घर में प्रवेश किया । वसुदेव और देवकी ने उन्हें पड़िगाह करके आहार कराया । पश्चात् हम दोनों क्या दीक्षा धारण कर सकेंगे ? इस तरह छलसे पुत्रोत्पत्तिके विषय में पूछा । मुनि उनका अभिप्राय जानकर बोले—तुम दोनोंके सात पुत्र होंगे, उनमें छह पुत्र दूसरेके स्थान में वृद्धिको प्राप्त कर मोक्ष जावेंगे परन्तु सातवां पुत्र अपने छत्र की छाया द्वारा पृथिवीको संतुष्ट कर चक्रवर्ती (नारायण) होता हुआ उसका पालन करेगा । तदनन्तर देवकी ने तीन युगल पुत्र प्राप्त किये अर्थात् क्रमसे तीन वार युगल पुत्र उत्पन्न किये । ज्ञानी इन्द्रने उन सबको चरम-शरीरी जानकर नैगमर्ष नामक देवसे कहा कि इनको तुम रक्षा करो । उस देवने भद्रिलपुर में अलका नामकी वणिक् पुत्री के आगे उन पुत्रोंको रखकर तथा उसके उस समय हुए मृत युगल पुत्रोंको लाकर देवकी के आगे रख दिया । कंस उन युगल पुत्रोंको मरा देखकर 'ये मेरा क्या करेंगे ? 'इस तरह मुनिका वचन झूंठ होगया' यह कहने लगा

१—पूर्वदत्तवरदानात् (क० टि) । २—म प्रतौ अयाच नास्ति । ३—त्रियमलान् क० ।

पुत्र्याः पुरो निक्षिप्य तत्पुत्रांस्तदा भूनात् गृहीत्वा मृतान् यमान् देवकस्याग्रे निचिक्षेप । कंसस्तान् मृतान् यमान् दृष्ट्वा किममी मे मृताः करिष्यन्तीति मुनेर्वाक्यमसत्यमभूदिति प्राच्य माशंकः शिलायामास्फालयामास । पश्चाद्देवकी सप्तमं पुत्रं सप्तम एव मासे जनितवती निजगृहे एव महाशुक्राच्च्युतं निर्नामकचरं मुनिवरं । वसुदेवो बलभद्रश्च नीतिमन्तौ, देवकीं ज्ञापयित्वा गृहीतवन्तौ. बलेन बाल उद्धृतः, पिता धृतच्छत्रो रात्रावेव निष्कासितः । तत्पुण्येन पुरदेवता वृषभरूपेणाग्रेऽग्रे निजशृङ्गमणिदीपिकाकृतालोका मार्गं दर्शयामास । *बालपादस्पर्शाद्गोपुरमुद्घाटितारं सद्यो जातं । तत्र बन्धनस्थित उग्रसेन उवाच

फिर भी कुछ आशङ्का से युक्त हो उन्हें शिला पर पछाड़ दिया गया।

पश्चात् देवकी ने सातवां पुत्र सातवें ही मास में अपने घर में ही उत्पन्न किया। वह पुत्र महाशुक्र स्वर्ग से च्युत होकर आया था तथा निर्नामक मुनिका जीव था। वसुदेव और बलभद्र नीतिके जानकार थे, अतः उन्होंने देवकी को सब समाचार बतलाकर उससे बालक ले लिया। बलभद्र ने बालक को उठाया और पिताने छत्र लगाया तथा रात्रिमें ही उसे बाहर निकाल दिया। पुत्रके पुण्यसे नगर देवता बैलका रूप रख अपने सींगोंपर रखी मणि मय दीपिकाओं से प्रकाश करता हुआ मार्ग दिखाता जा रहा था। उस बालक के पैरके स्पर्श से गोपुर के किवाड़ शीघ्र ही खुल गये। वहां बन्धन में पड़े उग्रसेन बोले कि किवाड़ोंका उद्घाटन कौन कर रहा है? बलदेव ने कहा—जो तुम्हें बन्धन से मुक्त करेगा, अतः चुप रहो 'ऐसा ही हो' इस प्रकार आशीर्वाद के द्वारा उसका अभिनन्दन कर उग्रसेन चुप हो गये। अब बलदेव और वसुदेव यमुना नदी के पास पहुंचे। होनहार चक्रवर्ती के प्रभावसे यमुना ने भी दो भागों में विभाजित हो मार्ग दे दिया सो ठीक ही है क्योंकि समान वर्ण वाला (पुत्र की कान्ति काली थी तथा यमुना का पानी भी काले रङ्गका था इसलिये पुत्र और यमुना में कविने सवर्णता बतलाई है] ऐसा कौन सार्द्र—दयालु (यमुनापक्षमें जलसे सहित) है जो सहायता न करे। आश्चर्य से युक्त बलदेव और वसुदेव यमुना को पार कर जब आगे गये तो उन्होंने बालिकाको लेकर आते हुए नन्दगोप को देखा। उसे देखकर उन्होंने कहा कि हे भद्र! तुम अकेले रात्रिमें यहां किस लिये आये हो? नन्द गोपने प्रणाम कर कहा कि मेरी प्रियाने जा कि आप की सेवका है पुत्र-प्राप्ति के लिये गन्ध आदि से देवता की पूजा कर याचना की था—हे देवि! तू मेरेलिये पुत्र दे। मेरी उस प्रिया ने आज रात्रि में पुत्री प्राप्त की। वह बोली कि यह स्त्रीरूप सन्तान उन्हीं देवताओं के लिये दे आओ। हे स्वामिन् शोकसे युक्त प्रिया के कहने से यह स्त्री रूप सन्तान देवताओं को देनेके लिये मेरा यह प्रयास हो रहा है, ऐसा नन्दगोपने कहा। उसके वचन सुन बलदेव और वसुदेव 'हमारा कार्य सिद्ध हो गया' इसलिये

*—[illegible]।

कपाटोद्घाटनं कः करोति ? बलदेव उवाच—यस्त्वां बन्धान्मोचयिष्यतीति तूष्णीं तिष्ठेति । उग्रसेन एवं भवन्त्वित्याशीर्भिरभिनन्द्य स्थितः । तौ तु यमुनामितौ । सा भविष्यच्चक्रिप्रभावेन द्विधा भूत्वा मार्गं ददौ । सवर्णाः का वा बन्धुतां सार्द्रो न कुर्यात् । तौ विस्मितौ यमुनां व्यतिक्रम्य बालिकामुद्धृत्यागच्छन्तं नन्दगोपति ददृशतुः । तं दृष्ट्वा तावूचतुः—भद्र ! त्वमसहायो रात्रावत्र किमित्यागतः । स प्रणम्योवाच—मम प्रिया युष्मत्प्रचारिका पुत्रार्थं गन्धादिभिः पूजयित्वा देवतां याचितवती—देवि ! पुत्रं मे देहीति । [1]साद्य रात्रौ पुत्रीं लेभे । सोवाचेति इदमपत्यं ताभ्य एव देहि । तस्याः सशोकाया वचनादिदं इत्यपत्यं देवताभ्यो दातुं मम प्रयासोऽयं स्वामिन्निति जगाद । तद्वचनं तौ श्रुत्वाऽस्मत्कार्यं सिद्धमिति प्रहृष्य तमूचतुः—त्वमस्माकमभीष्टस्तेन तव गुह्यं कथ्यते, अयं बालश्चक्री भविष्यति त्वं पालयेति इयं तु बालिकाऽस्मभ्यं दीयतामिति । तां गृहीत्वा गूढतया पुरं गतौ । नन्दगोपस्तु गृहं गत्वा प्रियां प्राह-प्रिये ! देवता तुष्टा महापुण्यं पुत्रं तुभ्यं ददुः प्रसन्ना इति प्रोच्य तं पुत्रं तस्यै समर्पयामास । कंसस्तु देवकी पुत्री प्रसूतवतीति

हर्षित होते हुए उससे बोले तुम हमारे अभीष्ट हो इसलिये तुमसे एक गूढबात कही जाती है। यह बालक चक्रवर्ती होगा तुम इसका पालन करो और यह बालिका हमारे लिये दे दो। बालिका को लेकर बलदेव और वसुदेव गुप्त रूपसे नगर की ओर चल दिये तथा नन्दगोप घर जाकर अपनी स्त्रीसे बोला-प्रिये ! देवताओं ने संतुष्ट होकर तुम्हें महा पुण्यवान् पुत्र दिया है वे बहुत प्रसन्न हैं, यह कह कर नन्दगोप ने वह पुत्र स्त्री के लिये सौंप दिया।

इधर कंसने जब सुना कि देवकी ने पुत्रीको जन्म दिया है तो उसने वहां जाकर उस पुत्रीको भग्ननासा कर दिया अर्थात् उसकी नाक विकृत कर दी। माताने उस पुत्री का भूमि-गृह-तलघर जैसे गुप्त स्थानमें उसका लालनपोषण किया। जब वह प्रौढयौवन वती हुई तो नाक की विकृति को देख उसने शोकवश आर्यिका के पास उत्तम व्रतों से युक्त दीक्षा ग्रहण कर ली तथा विन्ध्य पर्वत पर स्थान का योग लेकर अर्थात् यहां से अन्यत्र न जाऊंगी ऐसा नियम लेकर रहने लगी कुछ वनवासी लोग 'यह देवता है' ऐसा समझ उसकी पूजा कर गये ही थे कि रात्रिमें व्याघ्रने उसे खा लिया तथा मरकर वह स्वर्ग लोक गई। तदनन्तर दूसरे दिन उन वनवासियोंने उसके हाथकी तीन अंगुलियां देखीं। उस देशके अविवेकी निवासियोंने उन तीन अँगुलियों की दूध तथा केशर आदिसे पूजा कर उस आर्या को विन्ध्यवासिनी देवी रूपसे प्रमाणिक किया।

---

[1]—यशोदा।

श्रुत्वा तत्र गत्वा तां सुतां भग्ननासां चकार। मात्रा तु सा बालिका भूमिगेहे वर्धिता प्रौढयौवना नासाविकृतिं विलोक्य आर्यिकापार्श्वे सुव्रतां दीक्षां जग्राह शोकेनेति। विन्ध्यपर्वते स्थानयोगं गृहीत्वा स्थिता। वनवासिषु देवतेति पूजयित्वा गतेषु रात्रौ व्याघ्रेण भक्षिता स्वर्गलोकं जगाम। अथापरस्मिन् दिने व्याधैर्हस्ताङ्गुलित्रयं दृष्टं। क्षीरकुंकुमादिभिः पूजितं देशवासिभिर्विमूढात्मभिरसावार्या विन्ध्यवासिनी देवतेति प्रमाणिता। अथ तस्मिन् पुरे महोत्पाताः प्रसूताः। तान् दृष्ट्वा कंसेन वरुणः पृष्टः किमेषां फलमिति स आह— तव शत्रुः समुत्पन्नो महान् इति। नैमित्तिकवचनं श्रुत्वा राजा चिन्तावस्थो बभूव तदा पूर्वोक्ता देवताः समागताः किं कर्तव्यमिति पप्रच्छुः। स आह-मम शत्रुं पापिष्ठं कचिदुत्पन्नमन्विष्य मारयत यूयं तत्श्रुत्वा सप्तापि गतास्तथास्त्विति। तत्र पूतना विभंगात् ज्ञात्वा वासुदेवं मारयितुं यशोदातन्मातृरूपं गृहीत्वा विषस्तनपानोपायेन दुष्टा मारणं चिकीर्षुरागता। तद्बालपालनोद्युक्ता काचिदन्या देवता स्तनदा-

तदनन्तर उस नगरमें बड़े २ उत्पात होने लगे उन्हें देख कंसने वरुण से पूछा कि इनका फल क्या है? वह बोला कि तुम्हारा बड़ा भारी शत्रु उत्पन्न हो चुका है। निमित्त-ज्ञानीके वचन सुनकर राजा कंस चिन्ता-निमग्न होगया। इसी समय पूर्वोक्त देवताओं ने आकर पूछा कि क्या कार्य करनेके योग्य है? कंसने कहा—मेरा पापी शत्रु कहीं उत्पन्न हो चुका है सो उसे खोजकर तुम लोग मार डालो यह सुनकर सातों ही देवता 'तथास्तु' कहकर चल दिये। उन देवताओं में एक पूतना नामकी देवी थी। वह विभङ्गावधिज्ञान से वासुदेवको जान गई तथा उसे मारने के लिये उसने बालक की माता यशोदा का रूप ग्रहण किया। वह दुष्टा विष मिश्रित स्तन पिलाने के उपाय से बालक को मारने की इच्छा करती हुई आई। उस बालक की रक्षा करने में तत्पर किसी दूसरी देवी ने स्तन देनेके समय उसके स्तन में बहुत जोर की पीडा पहुंचाई। पूतना देवी उस पीड़ा को सहन करने के लिये असमर्थ हो 'मैं मरी' इस प्रकार चिल्ला कर भाग गई (१) दूसरी देवी शकट—गाड़ी का आकार रख बालकके ऊपर दौड़ती आ रही थी कि बालक ने उसे पैरों की ठोकर से नष्ट कर दिया (२) दूसरे दिन नन्दगोप की स्त्री अर्थात् यशोदा बालक को कमर में एक उखली बाधकर पानी भरने के लिये गई थी फिर भी वह उसके पीछे पीछे चला गया। उस समय दो देवियां अर्जुन वृक्ष का रूप रख कर उस बालकके ऊपर गिरना चाहती थीं कि बालक ने उन्हें जड़ से उखाड़ दिया (३-४) जब विष्णु घूम रहे थे तब एक देवी ताड़का वृक्ष बनकर उनके मस्तक पर कठोर फल और पत्थर गिराने को उद्यत हुई (५)। तथा दूसरी देवी गधी बन कर उन्हें काटने के लिये आई। विष्णु ने उस गधीका पैर पकड़ कर उसीसे उस वृक्षको ताड़ित किया (६)। किसी दूसरे

नावसरे बलवत्पीडां चकार। तत्पीडां सोढुमसमर्था मृताहमित्याक्रोशं कृत्वा पलायिता (१)। द्वितीया देवता शकटाकारं गृहीत्वा शिशूपरि धावन्ती तेन पादाभ्यां ताडिता नष्टा (२)। अपरेद्युर्नन्दगोपी कट्या-मुदूखलं बद्ध्वा जलमानेतुं गता तथापि शिशुरन्वगमत्। तदा तं बालं मारयितुं द्वे देवते अर्जुनतरू भूत्वा तदुपरि पतन्त्यौ मूलादुन्मूलयामास (३-४)। विष्णोश्चंक्रमण'वेलायामेका तालतरुर्भूत्वा तन्मस्तके फलानि दृषदोऽपि निष्ठुराणि पातयितुमुद्यता (५)। अपरा रासभी भूत्वा तं दष्टुमागता। तां रासभीं चरणे धृत्वा तयैव तं वृक्षमताडयत् (६)। अन्यस्मिन् दिनेऽन्या देवता तुरंगमो भूत्वा तं मारयितुमागता। तस्य वदनं मुष्टिना जघान (७)। एवं सप्तैव देवताः कंसमागत्योचुः—वयं तव शत्रुमाहन्तुं न समर्थाः स्म इति। विद्युत इव विलीनाः। देवतानामपि शक्तयः पुण्यवज्जने न समर्थाः शक्रवज्रेऽरिशस्त्राणीव। अन्यस्मिन् दिनेऽरिष्टनामा देवस्तत्पराक्रमं द्रष्टुं तत्पुरमागतः कृष्णवृषाकारः,

---

दिन एक देवी घोड़ा बनकर उन्हें मारने के लिये आई तो उन्होंने घूंसे के द्वारा उसका मुख तोड़ दिया। इस तरह सातों ही देवियां कंसके पास आकर कहने लगीं कि हम लोग तुम्हारे शत्रुको मारने के लिये समर्थ नहीं है इस प्रकार कह कर वे बिजली की तरह विलीन हो गईं। सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रके वज्र पर शत्रुओं के शस्त्र असमर्थ रहते हैं उसी प्रकार पुण्यवान् मनुष्य पर देवताओं की शक्तियां भी असमर्थ रहती हैं।

किसी एक दिन अरिष्ट नामका देव उनका पराक्रम देखने के लिये उस नगर में आया और एक काले बैल का रूप रख कर घूमने लगा। बालक श्रीकृष्ण उसकी गर्दन तोड़ने का उद्यम करने लगा माता यशोदा ने उसे मना भी किया कि बेटा! इस तरह प्रारम्भ से ही अन्य क्लेशों को उत्पन्न करने वाली निष्फल चेष्टा से दूर रहो। वार वार मना करने पर भी गर्वसे भरा कृष्ण अपनी उस चेष्टा को करता ही रहा सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी मनुष्य पराक्रम के कार्य में रोके नहीं जा सकते। इस प्रकार श्रीकृष्ण के पराक्रम की चर्चा सर्वत्र फैल गई। लोगोंके कहने से जब देवकी और वसुदेव ने यह कथा सुनी तो वे भी उसे देखने के लिये उत्कण्ठित हो, गोमुखी नामक उपवास के बहाने वे बलभद्र तथा अन्य परिवार के साथ बड़े ठाट बाट से गोदावन (गोकुल) गये उसी समय कृष्ण गर्वसे भरे वृषभेन्द्र की गर्दन तोड़ कर बहुत भारा पराक्रम का अवलम्बन कर बैठे थे। उन्हें उस प्रकार का देख देवकी तथा वसुदेवने चन्दन और माला आदि से सन्मानित कर विभूषित किया। तदनन्तर प्रदक्षिणा करती हुई देवकी के स्वर्ण कलशके

१—चंक्रमण क०।

तस्य ग्रीवाभंजने स उद्यमं चकार। तन्माता यशोदापि तं तर्जयति स्म—पुत्र ! एवमादित एवाफलचेष्टि-नात् क्लेशान्तरसम्पादका द्रुममेति पुनः पुनर्निवारितोऽपि महोत्कटस्तच्चेष्टितं चकार। महौजसोऽपदाने निवारयितुं न शक्यन्ते। तत्पौरुषं ख्यातं लोकवचनादाकर्ण्य देवकीवसुदेवौ तद्दर्शन उत्कण्ठितौ। गोमुखी-नामोपवासमिषेण सोऽरणा सह महत्या विभूत्या गोदावनं गोष्ठं परिवारेण सह गतौ। तस्मिन्नेव दर्पवद्वृषभेन्द्रग्रीवाभंगावसरे कृष्णं महाबलं समालम्ब्य स्थितं दृष्ट्वा [१]गन्धमाल्यादिसन्मानानन्तरं भूषयामासतुः तदनन्तरं प्रदक्षिणं कुर्वत्या देवक्याः शातकुंभकुंभसदृशयोः स्तनयोः क्षीरं सुस्राव कृष्णस्याभिषेकं कुर्वत्या इव। बलस्तद्वीक्ष्य मंत्रभेदभयादुपवासपरिश्रान्ता माता मूर्छितेति जल्पन् सुधीः कुंभपूर्णपयोभिस्तां समन्ततोऽभ्युक्षितवान्। ततो [२]गोष्ठवृक्षादीनामपि तद्योग्यं पूजनं कृत्वा गोपालकुमारैः सह कृष्णं भोज-यित्वा स्वयं च भुक्त्वा माता पिता च [३]विकुर्वाणौ [४]पुरं प्रविविशतुः। कदाचिन्महावर्षपाते जातं गोवर्धनाख्यं-पर्वतमुद्धृत्य हरिर्गवामावरणं चकार। तेन ज्योत्स्नेव तत्कीर्तिरखिलं जगत् व्याप्नोति स्म शत्रुमुखकमल-

सदृश स्तनों से दूध झरने लगा मानों वह कृष्णका अभिषेक ही कर रही हो। यह देख बुद्धिमान बलदेव ने मन्त्र भेदके भय से 'उपवास के कारण थक कर माता मूर्च्छित हुआ चाहती है' यह कहते हुए घड़े भर दूध से उसका अभिषेक कर दिया अर्थात् उस पर घड़ा भर दूध उड़ेल दिया। तदनन्तर गोकुल के वृक्ष आदि का भी यथा-योग्य पूजन कर माता पिता ने गोपाल कुमारों के साथ कृष्ण को भोजन कराया और स्वयं भी भोजन कर हर्षित होते हुए नगर में प्रवेश किया।

किसी समय बहुत जोर की वर्षा हुई, उस समय श्री कृष्णने गोवर्धन नामक पर्वत को उठा कर गायोंको छाया की। इस घटना से शत्रुके मुख कमल को संकुचित करने वाली चांदनी के समान उनकी कीर्ति समस्त जगत् में फैल गई। उस नगर की स्थापना के हेतुभूत जिनालय के समीप पूर्व दिशा में एक देवता के गृह में श्री कृष्ण के पुण्याति-शयसे नागशय्या, धनुष और शङ्ख ये तीन रत्न प्रकट हो गये, जो कि देवताओं के द्वारा रक्षित थे तथा नारायण की होनहार लक्ष्मी को सूचित करने वाले थे उन्हें देख कंसने भयभीत हो वरुणसे पूछा कि इनकी उत्पत्तिका क्या फल है ? वरुण ने कहा—हे राजन् ! इन तीन रत्नों को शास्त्रोक्त विधिसे जो सिद्ध कर लेता है वह चक्रवर्ती होगा यह सुन कंस स्वयं ही उन तीनो रत्नों को सिद्ध करने की इच्छा करने लगा परन्तु सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सका, अतः कुछ खेदखिन्न हो चुप हो रहा। उसने कहा कि जो नागशय्या पर चढ़कर एक हाथ से शङ्ख को पूरेगा और दूसरे हाथ से धनुष को चढ़ावेगा

१—संमानानन्तर क०। २—वृक्षा० ख०। ३—हर्षमाणौ। ४—प्रतिप्रवतुः क०। प्रविवतुः ख०।

संकोचकारिणी। तन्नगरस्थापनाहेतुभूतजिनालयसमीपे पूर्वदिशि देवतागृहे हरिपुण्यातिरेकात् नागशय्या धनुः शंखश्च त्रीणि रत्नानि देवतारक्षितानि नारायणस्य भविष्यल्लक्ष्मीसूचकानि समुत्पन्नानि। तानि दृष्ट्वा कंसो वरुणं सभयः पप्रच्छ—एतेषां प्रादुर्भूतेः किं फलमिति। स प्राह—हे राजन ! एतानि त्रीणि रत्नानि शास्त्रोक्तविधिना यः साधयति स चक्रवर्ती भविष्यतीति। तत् श्रुत्वा कंसः स्वयं तत्त्रितयं साधयितुमिच्छुरपि साधयितुमशक्तो मनाक् खिन्नः साधनाद्विरराम। उक्तवांश्च यो नागशय्यामारुह्यैकेन हस्तेन शंखं पूरयति द्वितीयेन करेण धनुरारोपयति युगपत्कार्यत्रयं करोति तस्मै निजपुत्रीं दास्यामीति स्वशत्रुं परिज्ञातुं साशंकः पुरे घोषणामचीकरत्। तद्वार्तां श्रुत्वा सर्वे राजान आगताः। राजगृहात् कंसश्यालकः स्वर्भानुनामा भानुनामानं स्वपुत्रं भानुमहशमादायाजगाम। निवेशं चिकीर्षुर्गोदावनसमीपे महासर्पनिवाससरोवरतटे निवासं कर्तुमना गोपालकुमारेभ्यः श्रुत्वा कृष्णं विनाऽस्य सरसो जलमानेतुं परैर्न शक्यमिति तमाहूय यथास्थानं स्कन्धावारं निवेशयामास। कृष्ण उवाच—राजन् ! त्वया कुत्र गम्यते

अर्थात् तीनों काम एक साथ करेगा उसके लिये मैं अपनी पुत्री दूंगा। इस प्रकार आशङ्कासे युक्त कंस ने अपने शत्रुका पता लगानेके लिये नगर में घोषणा कराई। इस बात को सुनकर सब राजा वहां आ पहुंचे। राजगृह से कंस का साला स्वर्भानु, सूर्यके समान अपने भानु नामक पुत्रको लेकर आ गया। आते समय वह गोदावन (गोकुल)के समीप महासर्प निवास (जिसमें बड़े बड़े साँपोंका निवास था) सरोवर के तट पर अपना पड़ाव डालना चाहता था। उसने गोपाल कुमारों से सुना कि कृष्ण के विना और कोई इस सरोवर से जल नहीं ला सकता अतः उसने श्रीकृष्ण को बुलाकर यथास्थान पर अपना पड़ाव डाला। कृष्ण ने कहा—राजन् ! आप कहाँ जा रहे हैं ? उत्तर में स्वर्भानुने श्रीकृष्णको अपना मथुरा जानेका प्रयोजन बतलाया। कृष्ण ने फिर कहा—राजन् ! यह कार्य क्या हमारे-जैसे लोगोंके द्वारा भी किया जा सकता है ? यह सुनकर स्वर्भानु विचार करने लगा कि यह केवल बालक ही नहीं है सातिशय पुण्यात्मा भी है। कृष्ण से उसने कहा कि यदि तुम उस कार्यके करने में समर्थ हो तो आओ। इस प्रकार सुभानु जिसका दूसरा नाम था ऐसा स्वर्भानु कृष्णको अपने पुत्रके समान साथ लेकर मथुरा पहुंचा। वहां जाकर उसने कंस के यथायोग्य दर्शन किये। उस कार्यके करने में जिनका मान खण्डित हो चुका था ऐसे बहुत से राजाओं को देख कृष्णने स्वर्भानु के पुत्र भानुको अपने पास ही खड़ा कर उक्त तीनों कार्य एक साथ सम्पन्न कर दिये। तदनन्तर सुभानु का आदेश पा कर कृष्ण उसी समय गोष्ठ—गोकुल चले गये।

इधर कितने ही पुरुषोंने कंस से कहा कि यह कार्य भानु ने किया है और उसके

इति । स्वर्भानुर्मथुरागमनप्रयोजनं तस्याकथयत् । कृष्ण उवाच—राजन् ! एतत्कर्म किमस्मद्विधैरपि कर्तुं भवेत् तच्छ्रुत्वा स्वर्भानुश्चिन्तयामास असौ शिशुः पुण्याधिकः केवलो न वर्तत इति । तस्य क्रमणः शक्तिश्चेदागच्छेति निजपुत्रमिव तं गृहीत्वा सुभानुपरनामा स्वर्भानुर्मथुरां जगाम । यथाह कंसं ददर्श तत्कर्मकरण बहून् भग्नमानान् दृष्ट्वा कृष्णः स्वर्भानुसुत भानु समीपगं कृत्वा कर्मत्रय समकालं चकार । ततः सुभानुना दिष्टयाविष्टः कृष्णो गोष्ठं जगाम । कश्चित्पुरुषः कंसो भणितः "तत्कर्म भानुना कृत" । केश्चत्तद्रक्षकरुक्तं "न भानुना तत्कर्म कृतं अन्येन [1]मल्लेन कुमारेणेति" । तच्छ्रुत्वा कसः प्राह—सोऽन्यायः स्वष्यानीयतां तस्मै कन्या प्रदीयते इति । स कस्य, किं कुलं, कस्मिन्निति । तावन्नन्दगोपेन सम्यग्विज्ञातं अनेन मत्पुत्रेण तत्कर्म सम्यक्कृतमिति भीत्वा गोमण्डलं नीत्वा पलायांबभूव शिलास्तंभमुद्धतु तत्र सर्वे जनाः प्राप्तास्त नाशक्नुवन् । कृष्णेन केलेनैव समुद्धृतः । तत इह तान् सर्वे जना विस्मित्य जहृषुः । परार्घ्यांशुकाभरणादिदानेन पूजयामासुः । नन्दगोपस्तु मनसि [2]पुत्रस्वप्रभावेण कुतोऽपि भयं नास्तीति प्राक्तनमेव स्थानं

कितने ही रक्षकों ने कहा कि भानुने वह काम नहीं किया है किन्तु किसी अन्य मल्ल कुमारने किया है यह सुनकर कसने कहा कि उस दूसरे कुमार को खोजकर लाया जाय, उसके लिये यह कन्या दी जाती है । वह किसका लड़का था, उसका क्या कुल है और कहां रहता है ? इसका पता लगाया जाय । जब नन्दगोप को अच्छी तरह मालूम होगया कि वह कार्य मेरे इस पुत्र ने ही किया है तो भय से वह अपने गोमण्डल को लेकर भाग गया । गोकुल में एक पत्थर का बड़ा भारी खम्भा लगा था उसे उखाड़नेके लिये लोग पहुंचे परन्तु समर्थ न हो सके परन्तु कृष्णने उसे अकेले ही उखाड़ दिया । कृष्णके इस साहससे सब लोग विस्मय करते हुए हर्षित हो उठे । उन्होंने श्रेष्ठ वस्त्रआभूषण देकर कृष्णका सन्मान किया । नन्दगोप ने विचार किया कि मुझे इस पुत्रके प्रभाव से किसी से भय नहीं है यह सोच कर वह अपने गोमण्डल को पूर्वस्थान पर ही ले आया । यद्यपि खोज करने वाले ने राजा से कहा था कि यह कार्य नन्दगोप के पुत्रने किया है तथापि उसका पूर्ण निश्चय नहीं हो सका अत. राजाने शत्रुको जानने की इच्छा से नन्दगोप को आज्ञा भेजी कि तुम नागेन्द्र के द्वारा रक्षित सहस्र दल कमल भेजो । यह आज्ञा सुनकर नन्दगोप शोकसे व्याकुल हो गया वह कहने लगा कि राजा तो प्रजाके रक्षक होते हैं परन्तु खेद है कि वे आज मारने वाले हो गये । बड़ी उदासीनता के साथ नन्द ने कृष्णसे कहा-पुत्र ! तुम जाओ राजा की आज्ञा ऐसी है भयंकर सर्पोंसे रक्षित कमल तुम्हारे द्वारा ही राजा के लिये दिये जाना चाहिये । कृष्ण ने कहा—मेरे लिये क्या कोई भी पदार्थ दुष्कर

१— मल्लेन, च प्रतौ नास्ति । २—पुत्रप्रभावेण म० ।

गोकुलं निनाय। अन्वेषकैस्तु नन्दगोपसुतेनैतत्कर्म कृतमिति राज्ञे निवेदितं। तथापि तन्निश्चये सहस्रदलं कमलमहीशरचितं प्रेष्यतामिति राज्ञा नन्दगोप आज्ञापितः शश्वद्विशंकया। तच्छ्रुत्वा नन्दगोपः शोकाकुलो बभूव "राजानः किल प्रजानां पालका भवन्ति। प्रमेतन् तेऽद्य मारकाः संजाता इति।" निर्विण्ण पुत्र! त्वं याहि 'राजविष्टिरीदृशी वर्तते इति। त्वयैवोग्रसर्पपरिरक्षितानि कमलानि राज्ञः प्रदातव्यानीति जगाद। कृष्णः प्राह—कोऽपि पदार्थः किं दुष्करो मम वर्तते इत्यपूर्वतेजा नागनगे जगाम। त्वरितं तत्र निःशंकं प्रविवेश च। तं ज्ञात्वा कोपेन वेपमानो लेलिहानः स्वनिःश्वासनसमुद्भूज्वलज्ज्वालाकणान् किरन् फणारत्नप्रभाभासिफणाप्रकटाटोपभयानकः प्रचलद्रसनायुगलो विस्फुरद्दीर्घनयनोऽत्युग्रवीक्षणः प्रत्युत्थाय कृतान्ताकारस्तं निगरितुमुद्यतः। कृष्णस्तु मम वसनमिदमस्य ताडने शुद्धशिला भवत्विति बलाद् पीतवस्त्रं मुक्त्वा फटायां तं निष्ठुरं ताडयामास। तस्माद्वस्त्रपाताद्वज्रपातादपि दुर्धरात् पूर्वपुण्योदयाच्च भीतः कालियारिः फणीन्द्रोऽदृश्यतां जगाम। हरिर्यथेष्टं कमलानि गृहीत्वा शत्रोः समीपं प्रापयामास। तानि

है ? इस प्रकार कह कर अपूर्व तेज से युक्त कृष्ण नाग सरोवर की ओर चल पड़ा और शीघ्र ही निःशङ्क होकर उसमें जा घुसा यह जानकर जो क्रोध से कांप रहा था अपनी श्वास के साथ निकली हुई देदीप्यमान ज्वालाओं के कणोंको सब ओर बिखेर रहा था, फणा पर स्थित रत्न की कान्ति से सुशोभित फणा के प्रकट विस्तार से जो अत्यन्त भयानक था, जिसकी दो जिह्वाएं लपलपा रही थीं, खुले हुए नेत्रों से जो अत्यन्त भयंकर दिख रहा था, तथा यमराज के समान जिसका आकार था ऐसा नागेन्द्र कृष्णको निगलने के लिये उद्यत हुआ। परन्तु कृष्ण यह मेरा वस्त्र है इसके पछाडने के लिये यह खासी अच्छी शिला है, ऐसा कह अपना गीला पीताम्बर खोलकर फणा पर उसे बडी निष्ठुरता से पछाडने लगे। उनके उस पीताम्बर से जो कि वज्रपात से भी कहीं दुर्धर था तथा पूर्व पुण्यके उदय से भयभीत हुआ कालिया नाग नामक नागेन्द्र अदृश्यता को प्राप्त हो गया। कृष्णने इच्छानुसार कमल लाकर शत्रु के पास पहुंचा दिये उन्हें देख कंस को ऐसा लगा मानो मैं अपना शत्रु ही देख रहा हूं उसने निश्चय कर लिया कि मेरा शत्रु नन्दगोप के समीप है।

एक दिन कंस ने नन्दगोप को आदेश दिया कि तुम अपने मल्लों के साथ मल्ल युद्ध देखने के लिये आओ। नन्दगोप उस संदेश को सुनकर कृष्ण आदि मल्लोंके साथ प्रविष्ट हुआ। उसी समय एक मदोन्मत्त हाथी जिसने बन्धन तोड दिया था, जिसका आकार यमराज के समान था, मदकी गन्धसे खिचे एवं गुनगुनाते भ्रमर जिसकी सेवा कर

१—आज्ञा (क. टि.) बेगार इति।

दृष्ट्वा कंसो निजकृत्युं दृष्टवानिव नन्दगोपसमीपे मम शत्रुर्वर्तते इति निश्चिकाय। एकदा नन्दगोपालमादिष्टवान् मल्लयुद्धमीक्षितुं निजमल्लैः सहाऽऽगच्छेरिति। स च तत्सन्देशं श्रुत्वा कृष्णादिभिर्मल्लैः सह प्रविवेश। तत्र मत्तगजं वीतबन्धनं कृतान्ताकारं [1]मदगन्धाकृष्टरुवद्भ्रमरसेवितं नियमच्युतराजकुमारवत् निरंकुशं दन्तमुशलाघातनिर्भिन्नसुधामन्दिरम् धावन्तं विलोक्य कश्चित् संमुखं प्रढौक्य दन्तमेकमुत्पाट्य तेनैव तं ताडयामास। गजोऽपि भीतो दूरं जगाम। तद्दृष्ट्वा हरिर्भृशं तुष्टः सन्नुवाच—अनेन निमित्तेन कुटुम्बप्रकटीकृतो जयोऽस्माकं भविष्यतीति गोपान् समुत्साह्य कंससंसदं विवेश वसुदेवोऽपि राजा कंसाभिप्राय विदित्वा निजसेनां सन्नह्यैकत्र स्थितः बलभद्रोऽपि कृष्णेन सह रंगं प्रविष्ट इव दोर्दण्डस्फालनध्वनिं कृत्वा समन्तात् परिभ्रमन् कंसविनाशोऽद्य तव समय इति समाख्याय निर्जगाम। तदा कंसादेशेन विष्णुविधेया गोपकुमाराः प्रदर्पवन्तः भुजास्फाल्य गृहीतमल्लपरिच्छदाः श्रोत्रानन्दकारिवादित्रचटुलध्वनिभिरेकत्रीभूत्वा [थ . चरणोत्क्षेपा निक्षेपाः प्रोन्नतभुजद्वयोत्कटाः पर्यानतिप्रलक्षणीयभ्रूभंगभया-

रहे थे, जो नियम से च्युत राजकुमार के समान निरकुंश था. और दन्त रूपी मुशलों के आघात से जिसने बड़े २ मकान गिरा दिये थे, सामने से दौड़ता चला आ रहा था उसे देख किसी ने सामने जाकर उसका एक दांत उखाड लिया और उसी दांत से उसे पीटना शुरू कर दिया जिससे भयभीत होकर हाथी दूर भाग गया यह देख कृष्ण बहुत संतुष्ट होते हुए बोले कि इस निमित्त से कुटुम्ब को प्रकट करने वाली हमारी जीत होगी। इस प्रकार गोपों को उत्साहित कर कृष्ण ने कंस की सभा में प्रवेश किया। राजा वसुदेव भी कंस का अभिप्राय जानकर अपनी सेना का तैयार किये हुए एक ओर बैठे थे। बलभद्र भी कृष्ण के साथ रङ्गभूमि (अखाड़े) में प्रविष्ट हुए की तरह भुजदण्ड के आस्फालन का शब्द कर सब ओर घूमने लगे और धीरे से 'आज तुम्हारा कंस को मारनेका समय है' यह कह कर बाहर निकल गये। उस समय कंस की आज्ञा से कृष्णके आज्ञाकारी गोपकुमार रङ्ग भूमिके समीप ही बैठे थे वे गोपकुमार गर्व से भरे थे, भुजाओंका आस्फालन कर मल्ल का वेष धारण किये थे. कानोंको आनन्द देने वाले बाजों की चञ्चल ध्वनि से एकत्रित होकर पैरोंको ऊपर उठाते और नीचे पटकते थे, ऊपर उठी हुई दोनों भुजाओंसे भयंकर दिखाई देते थे. क्रमसे नचाई गई देखनेयोग्य भौहों के भङ्ग से भयानक हो रहे थे, तथा गरुड़ों के अनिवर्तन, शतावर्तन, विभ्रमण, बलान, प्लवन समवस्थान तथा अन्य २ प्रकार के आसनों से रङ्ग भूमि के समीप-वर्ती प्रदेश को अलकृत कर रहे थे, एवं नेत्र और मनको हरने वाले थे। पूरे ऊंचे तथा पराक्रम से परिपूर्ण चाणूर आदि कंस के मल्ल भी रङ्ग भूमिके निकट अधिकार कर जमे हुए थे।

[1]—मत्त म०।

नकशब्दानिवर्तनशतावर्तनसंभ्रमणवल्गनपल्वनसमवस्थानैरपरैश्च स्फुटैः करणैः रंगसमीपमलंकृत्य नयनमनोहरास्तस्थिवांसः । कंसमल्लाश्च प्रोद्वृत्ताश्चाणूरप्रमुखा विक्रमैकरसा रंगाभ्यर्णं समाक्रम्य स्थितवन्तः विष्णुश्च रंगस्य मध्ये समुदात्तमनाः प्रसंगे वीर उरुमल्लाग्रणीः प्रतिमल्लयुद्धविजयं प्रागेव प्राप्त इव दीप्ततेजा [1]देवोऽवतीर्णोऽधुना मल्लत्वं प्राप्तो भास्वानिव अहं जेष्यामीति प्रवृद्धपराक्रमैकरसः [2]स्वयं संभावयन् निविडपरिगृहीतपरिधानः [3]प्रबद्धकेशः स्वभावेन मसृणाङ्गो विकूर्चश्चित्तवृत्तिविततोऽप्रतिमल्लैः[4]गोपमल्लैर्निरन्तराभ्यस्तनियुद्धवाद-विकल्पत्कन्धजयलाभः सर्वैरपि संभावितोत्साहः स्थिरतरपादनिवेशो वज्रसारास्थिबन्धो भुजार्गलापरविबाधी मुष्टिसंमायिमध्यप्रदेशः कृतानेककरणसमूहो लघुसंचरणप्रवीणोऽतिकठिनविस्तीर्णवक्षःस्थलो बृहन्नीलपर्वतोत्तुङ्गो दर्पप्रवृद्धित्रिगुणितनिजमूर्तिर्ज्वलितवलितनेत्रत्व दुर्निरीक्ष्यसांमुख्योऽतिशयेनाशनिपातवदुग्रो नन्दनन्दनः स्थितः सन् यमस्याप्युच्चभयमसहनीयमुत्पादयन् वरमखिलं शौर्यं मूर्तिमन्मिलितमिव समस्तं रहो मनुष्याकारमागतमिव सिंहाकारः सहसाकृतसिंहध्वनिः रंगाद्रंगणमिव

इधर जिनके मनका प्रसार बहुत भारी था, जो वीर थे, बड़े २ मल्लों में अग्रेसर थे, जो प्रतिद्वन्द्वी मल्लसे युद्धमें विजय को पहले ही प्राप्त हुए के समान देदीप्यमान तेजसे युक्त हो रहे थे तथा ऐसे जान पड़ते थे मानों आकाश से उतर कर सूर्य ही मल्लपनेको प्राप्त हुआ हो 'मैं जीतूंगा' इस भावना से जिनका पराक्रम—सम्बन्धी अद्वितीय उत्साह खूब वृद्धि को प्राप्त हो रहा था, जो उत्तम भाग्य की सराहना कर रहे थे, जिन्होंने वस्त्र को अच्छा कस कर पहिना था, बालोंको अच्छी तरह बांध रक्खा था, जिनका शरीर स्वभाव से ही चिकना था, जो डाड़ी मूंछ से रहित थे, जिनकी चित्त-वृत्ति अत्यन्त प्रसिद्ध थी, अद्वितीय गोपमल्लों के साथ बाहुयुद्ध का निरन्तर अभ्यास करनेके कारण जिन्हें पूर्ण विजय प्राप्त होने वाली थी, सभी लोग जिनके उत्साह की सराहना करते थे, जिनके पैर बड़ी मजबूती के साथ रखे जाते थे, जिनकी हड्डियों का बन्धन वज्रके समान सुदृढ था, जो अपने बाहुरूपी अर्गलाके द्वारा दूसरों को बाधा पहुंचाते थे, जिनकी कमर मुष्टिमेय अर्थात् अत्यन्त पतली थी, जो अनेक आसनों के समूह को करने वाले थे, जो बड़ी तेजी के साथ रङ्गभूमि के सब ओर सचार करने में प्रवीण थे, जिनका वक्षःस्थल अत्यन्त कठोर और चौड़ा था, जो बड़े भारी नील पर्वत के समान ऊंचे थे, गर्व की वृद्धिसे जिनका शरीर तिगुना सा जान पड़ता था, देदीप्यमान सबल नेत्रोंसे सहित होनेके कारण जिनके

१—देवोऽवतीर्णं म० । २—सुष्ठु भयः स्वयः तम् । ३—प्रबद्धकेशः म० प्रवृद्धकेशः क० । ४—म प्रतौ गोपमल्लैः नास्ति ।

नभोङ्गणमलंघत पुनराकाशादशनिवद्वनिमापत्य आत्मपादपाताभिघातचलिताचलसन्धिबन्धो मुहुर्वल्गन् परिसरंश्च प्रतिजृम्भमाणसिंदूररंजितभुजदण्डौ समुद्भ्रमी क्रुद्धः प्रवलयन् श्रोणीद्वितयभागविलंबिपीतवस्त्रो नियुद्धकुशलं पर्वतशिखरोन्नतं प्रतिमल्लं चाणूरमाहत्य सहसा सिंहवदावभासे। तं दृष्ट्वा रुधिरोद् भोग्र-लोचनः कंसः स्वयं मल्लतां प्रत्यागच्छति स्म। तमुग्रसेनतनय जन्मान्तरद्वेषात् करेण चरणे संगृह्य आशे भ्रामयन्नल्पाण्डमिव यमराजस्य समीप उपायनीकुर्तुमिव स कृष्णो भूमावास्फालयामास। तदा कृष्णमस्तके व्योम्नः कुसुमानि प्रपेतुः देवदुंदुभयो ध्वनि चक्रुः। वसुदेवसेनासमुद्र प्रक्षोभणात् कोलाहलध्वनिरुत्तस्थे। मुशलीवीरवरो विरुद्धनृपतीनाक्रम्य रंगे स्थितः। स्वानुजं स्वीकृत्य [1]गर्जितं चकार। विष्णुस्त्रिखण्डलक्ष्म्या कटाक्षितः।

इति श्रीभावप्राभृते द्रव्यलिंगिनो वशिष्ठमुनेः कथा [2]परिसमाप्ता।

सामने देखना भी कठिन था, और जो वज्रपात के समान अत्यन्त उग्र थे ऐसे नन्दपुत्र श्री कृष्ण रङ्गभूमिके मध्यमें खड़े हुए। उस समय वे यमराज को भी बहुत भारी असह नीय भय उत्पन्न कर रहे थे, ऐसा जान पड़ता था मानों समस्त उत्कृष्ट शूरवीरता ही मूर्तिधारी होकर इकट्ठी आ मिली हो. अथवा समस्त वेग ही मनुष्य के आकार को प्राप्त हुआ हो, वे सिंह के आकार थे और सिंहके समान गर्जना कर रङ्गभूमि से आकाश मे ऐसे उछले मानों घरके अङ्गण में ही जा पहुंचे हों। पुनः आकाश से वज्रके समान पृथिवी पर आ पड़े। उस समय उन्होंने पृथिवी पर पैर इतने जोरसे पटके कि उनके आघात से पर्वतों के सन्धि बन्धन भी विचलित हो गये। वे बार बार उछलते थे, रङ्गभूमि में चारों ओर चक्कर लगाते थे, बढ़ते हुए सिन्दूर से रगे दोनों भुज--दण्डों को क्रोध-पूर्वक घुमाते थे, तथा उनकी कमर की दोनों ओर पीताम्बर लटक रहा था। वे देखते २ बाहुयुद्ध में कुशल तथा पर्वत की शिखर के समान ऊंचे प्रतिद्वन्द्वी चाणूर मल्लको मार कर सिंहके समान सुशोभित होने लगे। चाणूर को मरा देख रुधिर के निकलने से भयंकर नेत्रोंको धारण करने वाला कंस स्वयं मल्ल बनकर आया। कृष्ण ने जन्मान्तर के द्वेष से उस उग्रसेन के पुत्र—कंसका पैर अपने हाथसे पकड़ उसे छोटे अण्डेके समान आकाश में घुमा दिया और यमराज के भेंट भेजने के लिये ही मानों उन्होंने उसे पृथिवी पर पछाड़ दिया। उस समय कृष्ण के मस्तक पर आकाश से पुष्प वरसे और देव दुन्दुभियोंने शब्द किये। वसुदेव को सेना रूपी समुद्र में क्षोभके कारण कोलाहल का शब्द उठा वीरशिरोमणि

१–गर्ज क०। २–परिसंपूर्णा क०।

सो णत्थि त पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि ।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीव ॥ ४७ ॥

स नास्ति त्वं प्रदेशः चतुरशीतिलक्षयोनिवासे ।
भावविरतोऽपि श्रमणो यत्र न भ्रान्तः जीव ॥

पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । हे *जीव* ! हे चेतनस्वरूपात्मन् ! । *जत्थ* यत्र प्रदेशे । *तं* त्वं भवान् । *ण दुरुदुल्लिओ* न भ्रान्तः स प्रदेशः संसारे नास्ति । कस्मिन्, *चउरासीलक्खजोणिवासम्मि* चतुरशीतिलक्षयोनिवासे स्थाने । कथंभूतस्त्व, *भावविरओ वि समणो* श्रमणो दिगम्बरोऽपि सन् भावविरतो जिनसम्यक्त्वरहितः । उक्तं च [1]गुम्मटसारग्रन्थे नेमिचन्द्रेण गणिना—

णिचिदरधादु सत्तय तरु दस वियलिंदिएसु छच्चेव ।
सुरनरयतिरियचदुरो चउदस मणुए सदसहस्सा ॥ १ ॥

बलदेव भी विरुद्ध राजाओं पर आक्रमण कर मैदान में खड़े होगये । बलदेव ने अपने छोटे भाई का स्वीकार कर गर्जना को अर्थात् सबके सामने परिचय देते हुए प्रकट किया कि कृष्ण हमारा छोटा भाई है । तीन खण्ड की लक्ष्मी ने श्री कृष्ण की ओर कटाक्षपात किया ।

इसप्रकार भाव प्राभृत में द्रव्यलिङ्गी वशिष्ठमुनिकी कथा समाप्त हुई ।

गाथार्थ—हे जीव ! चौरासी लाख योनियों के निवास में वह प्रदेश नहीं है जहां तू भावरहित साधु होकर न घूमा हो ॥४७॥

विशेषार्थ—हे चेतन स्वरूप आत्मन् । यह संसार चौरासी लाख योनियोंका निवास स्थान है । इतने बड़े संसार में ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जहां तू भाव--रहित—जिन सम्यक्त्व से रहित दिगम्बर साधु होकर भी नहीं घूमा हो । भाव-रहित दिगम्बर मुद्रा संसार से पार करने वाली नहीं है । चौरासी लाख योनियों का वर्णन करते हुए नेमिचन्द्र आचार्य ने गोम्मटसार ग्रन्थ में कहा है—

णिच्चिदर—इस गाथाका अर्थ यह है—नित्यनिगोद जीवोंकी सात लाख, इतर निगोद जीवोंकी सात लाख, धातु अर्थात् पृथिवी कायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, और

१—गोम्मटसार इति प्रचलित नाम ।

अस्या अयमर्थः—नित्यनिकोतजीवानां सप्तलक्षा जातयः ७००००० । इतरनिगोदजीवानां जातयः सप्तलक्षाः ७००००० । धातूनां पृथिवीकायजीवानां अप्कायजीवानां तेजःकायजीवानां वायुकायजीवानां जातयः चतुर्णां प्रत्येकं सप्तलक्षाः । पृथ्वी ७००००० । अप ७००००० । तेज ७००००० । वायु ७००००० । तरु दह—वनस्पतिकायजीवानां जातयो दशलक्षा १०००००० । वियलिंदिएसु छच्चेव—द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजीवानां जातयः समुदायेन षड्लक्षाः । द्वीन्द्रिय २००००० । त्रीन्द्रिय २००००० । चतुरिन्द्रिय २००००० । सुरनरयतिरिचदरो—सुराणां जातयश्चतस्रो लक्षाः ४००००० । नारकाणां जातयश्चतस्रो लक्षाः ४००००० । तिरश्चां जातयश्चतस्रो लक्षाः ४००००० चोद्दस मणुए—चतुर्दश लक्षा जातयो मनुजे मनुष्यजीवानां १४००००० सदसहस्सा—शतसहस्राः ।

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ४८॥

भावेन भवति लिङ्गी न हु भवति द्रव्यमात्रेण ।
तस्मात् कुर्याः भावं किं क्रियते द्रव्यलिंगेन ॥

भावेण होइ लिंगी भावेन निदानादिरहिततया जिनसम्यक्त्वसहिततया लिंगी सन् लिंगी भवति निदानादिसहितो जिनसम्यक्त्वरहितो लिंगी मुनिर्लिंगी जिनलिंगी सत्यलिंगी न भवति । *ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण* न हु-स्फुटं लिंगी सन्नपि लिंगी न भवति द्रव्यमात्रेण शिरोलोचमयूरपिच्छकमण्डलुग्रहणवस्त्रत्यजनमात्रेण लिंगी सन्नपि लिंगी न भवति पुनः संसारपतनहेतुत्वात् । *तम्हा कुणिज्ज भावं* तस्मात्कारणात् कुर्यास्त्वं । कं भावं—जिनसम्यक्त्वनिर्मलपरिणामं । *किं कीरइ दव्वलिंगेण* पूर्वोक्तद्रव्यलिंगेन किं क्रियते न किमपि मोक्षसुखं क्रियत इति भावः ।

वायु कायिक जीवों में प्रत्येक मान सात लाख, वनस्पति कायिक जीवोंकी दश लाख, विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंकी सबकी मिलाकर छह लाख देव नारकियों और तियञ्चोंकी चार चार लाख तथा मनुष्यों की चौदह लाख इस तरह सब मिलाकर चौरासी लाख योनियां हैं ॥४७॥

गाथार्थ—मनुष्य भावसे ही लिङ्गका धारक मुनि होता है द्रव्य मात्रसे लिङ्गी मुनि नहीं होता अतः भावको प्राप्त करना चाहिये मात्र द्रव्य लिङ्गसे क्या किया जा सकता है ?

विशेषार्थ—भाव अर्थात् निदान आदिसे रहित तथा जिन सम्यक्त्व से सहित होनेके कारण ही यह मनुष्य लिङ्गी अर्थात् साधु होता है जिन सम्यक्त्व से रहित मुनि, मुनिलिङ्गी, जिनलिङ्गी, अथवा सत्यलिङ्गी नहीं होता । द्रव्य मात्र अर्थात् केशलोंच, मयूर पिच्छ और कमण्डलु का ग्रहण तथा वस्त्र के त्याग रूप बाह्यवेष से मुनि होता हुआ भी पारमार्थिक मुनि नहीं होता क्योंकि भावके विना मात्र द्रव्य वेष संसार पतन का हेतु

दंडयणयरं सयलं डहिउं अभंतरेण दोसेण ।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवं णरयं ॥४९॥

दण्डकनगरं सकलं दग्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण ।
जिनलिंगेनापि बाहुः पतितः स रौरवं नरकम् ॥

दंडयणयरं सयलं दण्डकस्य राज्ञो नगरं सकलं । *डहिउं अभंतरेण दोसेण* दग्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण क्रोधेन कृत्वा । *जिणलिंगेण वि बाहू* जिनलिंगेनापि जिनलिंगसहितोऽपि बाहुर्नाममुनिः । *पडिओ सो रउरवं णरयं* पतितो गतः रौरवं नाम नरकं । अस्य कथा—दक्षिणापथे भरतदेशे कुम्भकारकटनगरे दण्डको नाम राजा । तन्महादेवी सुव्रता । बालको नाम मंत्री । तत्र अभिनन्दनादयः पंचशतमुनयः समागताः । खण्डकेन मुनिना बालको मंत्री वादे जितः । ततो रुष्टेन तेन भंडो मुनिरूपं कारयित्वा सुव्रतया समं रममाणो दर्शितः । भणितं च तेन देव । दिगम्बरेषु भक्तोऽसि मुक्तोऽसि येन भार्यामपि तेभ्यो दातुमिच्छसि । ततो रुष्टेन राज्ञा मुनयो यंत्रे निष्पीलिताः । ते तमुपसर्गं प्राप्य परमसमाधिना सिद्धिं गताः । पश्चात्तन्नगरं बाहुर्नाम मुनिरागतः । स लोकैर्वारितः । अत्र नगरे राजा दुष्टो वर्तते तेन पंचशतमुनयो यन्त्रे पीडिता

है । इस कारण हे आत्मन ! तू भावको कर अर्थात जिन सम्यक्त्व से निर्मल परिणाम को प्राप्त कर । मात्र द्रव्यलिङ्ग से क्या किया जाता है अर्थात् कुछ भी मोक्ष सुख नहीं किया जाता है ॥४८॥

गाथार्थ—बाहु मुनि जिन लिङ्ग से सहित होने पर भी क्रोध कषाय रूप आभ्यन्तर दोष से राजा दण्डक के समस्त नगरको भस्म कर स्वयं रौरव नामक नरक में पड़ा ।

विशेषार्थ—मात्र बाह्य लिङ्ग मनुष्य का कुछ उपकार नहीं कर सकता इसके समर्थन के लिये यहां बाहु मुनिका दृष्टान्त दिया गया है यद्यपि वे बाह्य में जिनलिङ्ग से सहित थे, दिगम्बर मुद्राके धारी थे तथापि अन्तरङ्ग में क्रोध कषाय की प्रबलता हो जाने के कारण उनका भाव लिङ्ग नष्ट होगया, मात्र द्रव्य-लिङ्ग रह गया उसी समय राजा दण्डक के समस्त नगरको भस्मकर वे रौरव नरक में जा पड़े-इनकी कथा इस प्रकार है—

बाहु मुनिकी कथा

दक्षिणा पथके भरत देशमें एक कुम्भकार कट नामका नगर था उसमें दण्डक नाम का राजा रहता था । उसकी स्त्रीका नाम सव्रता था और मन्त्रीका नाम बालक था । वहां एक वार अभिनन्दन आदि पांचसौ मुनि आये । उन मुनियों में एक खण्डक नामके मुनि थे । उन्होंने बालक नामक मन्त्री को वाद में परास्त कर दिया, उससे रुष्ट होकर

भवन्तमपि तथा करिष्यति। तद्वचनेन बाहू रुष्टः। तेजोऽशुभसमुद्घातेन राज्ञा मंत्रिणा च सह सर्वं नगरं भस्मीचकार। स्वयमपि मृतः। रौरवे नरके पतितं राजानं मंत्रिणं चान्वेष्टुमिव तत्र गतः। को नाम रौरवो नरक इति चेत्? सप्तमे नरके पंच बिलानि वर्तन्ते तेषु पूर्वदिशि रौरवः। दक्षिणेऽतिरौरवः। पश्चिमेऽसिपत्रः। उत्तरे कूटशाल्मलिः। मध्ये कुंभीपाक इति।

[1]अवरोत्ति दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो।
दीवायणुत्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ॥ ५०॥

उसने एक भाँडको मुनिका रूप रखा कर उस सुव्रता रानी के साथ हँसी करते दिखाया तथा राजा से जाकर कहा कि हे देव! आप दिगम्बर साधुओं की भक्ति करने में चूंकि बहुत प्रमुख हो इसलिये उन्हें अपनी स्त्री भी देना चाहते हो इस घटना से रुष्ट हुए राजा ने सब मुनियों को घानी में पिलवा दिया। वे सब मुनि उस भारी उपसर्ग को प्राप्त कर उत्कृष्ट समाधिसे सिद्धि को प्राप्त हुए। पश्चात् एक बाहुनामक मुनि उस नगर में आये। लोगोंने उसे रोका था कि इस नगर में राजा दुष्ट है उसने पांचसौ मुनियोंको घानी में पिलवा दिया है आपको भी वैसा ही करेगा उन लोगोंके वचन सुन कर बाहु मुनि रुष्ट होगये जिससे उन्होंने अशुभ तैजस समुद्घात के द्वारा राजा और मन्त्री सहित समस्त नगर को भस्म कर डाला और स्वयं भी मर गया। मरकर वह रौरव नामक नरक में जा पड़ा मानों उस नरक में पड़े हुए राजा और मन्त्री को खोजनेके लिये ही वह वहां गया था।

प्रश्न—रौरव नामका नरक कौन है?

उत्तर—सातवें नरक में पांच बिल हैं उनमें से पूर्व दिशामे रौरव, दक्षिण दिशामे अति रौरव, पश्चिम दिशामें असिपत्र, उत्तर दिशा में कूट शाल्मलि और बीच में कुम्भीपाक नामका बिल है ॥४९॥

गाथार्थ—द्वीपायन नामका एक दूसरा साधु भी द्रव्य श्रमण हुआ है जो कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्त संसारी हुआ है ॥५०

विशेषार्थ—दूसरा द्रव्य श्रमण द्वीपायन है। भाव रहित अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के वचनों की श्रद्धा से रहित मुनि द्रव्य श्रमण कहलाता है। वह जिन सम्यक्त्व सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र से पतित था अर्थात् सम्यग्दृष्टि मुनियों की पङ्क्ति में बैठने के अयोग्य था और इसी कारण अनन्त संसारी हुआ था इसकी कथा इस प्रकार है—

1—अवरोवि क०।

अपर इति द्रव्यश्रमणो दर्शनवरज्ञानचरणप्रभ्रष्टः ।
द्वीपायन इति नामा अनन्तसंसारिको जातः ॥

अवरोत्ति दव्वसवणो अपर इति द्रव्यश्रमणो भावरहितो मुनिर्जिनवचनप्रतीतिरहितः । दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो दर्शनेन जिनसम्यक्त्वेन वरं श्रेष्ठं यज्ज्ञानं चरणं च चारित्रं तेभ्यस्त्रिभ्योऽपि प्रभ्रष्टः पतितः सम्यग्दृष्टीनां मुनीनामपाङ्क्तेयः । दीवायणुत्ति णामो द्वीपायन इति नामा । अणंतसंसारिओ जादो अनन्तसंसारिकः अनन्ते संसारे नियुक्तः नियोगवान् कर्मपरवश इत्यर्थः, जातो भवति स्म । द्वीपायनस्य

द्वीपायन मुनि की कथा

बलभद्र ने नेमिनाथ भगवान् से पूछा स्वामिन् ! यह द्वारिका नगरी कालका अन्त होनेपर अर्थात् प्रलय काल आने पर समुद्र में निमग्न होगी अथवा किसी दूसरे कारण से नष्ट होगी ? भगवान् ने कहा—रोहिणीका भाई द्वीपायन कुमार है जो तुम्हारा मामा होता है वह क्रोध से बारहवें वर्ष में इस नगरीका जलाने वाला होगा और उसका कारण होगा मदिरापान । यह सुनकर द्वीपायन कुमार जिनेन्द्र देवके इस वचन को असत्य करने की इच्छा से दीक्षा लेकर पूर्व देशकी ओर चला गया । बारह वर्षको अवधि पूर्ण करने के लिये उसने तप करना प्रारम्भ किया । नेमिनाथ भगवान् ने यह भी बताया कि जरत्कुमार के द्वारा कृष्ण का मरण होगा । उसे सुनकर बलभद्र आदि सभी यादव नेमिनाथ भगवान् को नमस्कार कर द्वारिका में प्रविष्ट होगये ।

तदनन्तर कृष्ण और बलभद्रने नगरी में मद्यनिषेध की घोषणा करवाई । उस घोषणा से मद्य-पायी लोगोंने पिष्ट किण्व आदि मदिरा बनानेके साधनों को, मदिरा को तथा पत्थर की कुण्डी आदि वर्तनोंको कदम्ब वन-सम्बन्धी पर्वत की एक गुफा में फेंक दिया । वह मदिरा कदम्ब वनके कुण्डों में जा पहुंची और कर्मोदय के कारण वहां अवस्थित रही आई । श्री नेमिनाथ भगवान् का विहार पल्लव देश में हो रहा था तथा भव्य लोग जिनेन्द्र देवके साथ उत्तरापथ की ओर चल रहे थे । इधर द्वीपायन मुनिने भ्रान्तिसे बारहवें वर्ष को पूर्ण हुआ मान यह समझ लिया कि अबतो जिनेन्द्र देवकी आज्ञा निकल चुकी है अतः सम्यक्त्व से हीन द्वीपायन द्वारिका आकर पर्वतके निकट नगर के बाहर मार्ग में आतापन योग धारण कर स्थित होगया ।

कथा यथा—श्रीनेमिनाथो बलभद्रेण पृष्टः स्वामिन् ! इयं द्वारवती पुरी किं कालान्तरे समुद्रे निमंक्ष्यति कारणान्तरेण वा विनंक्ष्यति भगवानाह—रोहिणीभ्राता द्वीपायनकुमारस्तव मातुलोऽस्याः पुर्याः रुषा दाहको भविष्यति द्वादशे वर्षे मद्यहेतुत्वात । तच्छ्रुत्वा द्वीपायनकुमार इदं जैनवचनमसत्यं चिकीर्षुर्दीक्षां गृहीत्वा पूर्वदेशं गतः । द्वादशावधिपूरणार्थं तपः कर्तुमारब्धवान् । जरत्कुमारेण कृष्णमरणमाकर्ण्य

वन क्रीडा से थके तथा प्यासमे पीडित शंभव आदि कुमारों ने कदम्बवनके कुण्डों में 'यह जल है' ऐसा जानकर उस मदिराको पी लिया कदम्बवन में स्थित तथा इकट्ठी होकर सामूहिक रूपसे स्थित उस छोड़ी हुई मदिराको पीकर कुमार विकारको प्राप्त हो गये । यद्यपि वह मदिरा पुरानी पड़ गई थी तथापि कर्मोदयसे उसने तरुणीके समान उन तरुणोंको अपने वशमें कर लिया था । वे सब कुमार नशाके कारण असम्बद्ध गाना गा रहे थे, लड़खडाते पैरोंसे नाच रहे थे, उनके बाल बिखरे हुए थे, फूलोंके कर्णफूल बनाकर पहने हुए थे और कण्ठ में फूलोंकी मालाएं लटकाये हुए थे इस तरह सब मस्ती करते हुए नगर की ओर आ रहे थे । उसी समय उनकी दृष्टि आतापन योगमें स्थित द्वीपायन मुनिकी ओर पड़ी । नशाके कारण नेत्रोंको घुमाते हुए वे कहने लगे कि यह वही द्वीपायन मुनि है जो द्वारिका को जलावेगा अब यह दीन हमलोगों के आगेसे कहां जायगा ? इस प्रकार कहकर सब ओर से ढेले तथा पत्थरोंसे वे उसे तब तक मारते रहे जब तक पृथिवी पर न गिर पड़ा । इस प्रकार निर्दय कुमारों के द्वारा ताडित होनेसे द्वीपायन को अत्यधिक क्रोध उत्पन्न होगया । ओंठ डसते हुए उसने यादवों और अपने तपके विनाश के लिये भौंह चढ़ाली । कुमार द्वारिका की ओर चले गये । किन्हीं लोगोंने कुमारोंके इस दुराचार की सूचना बलभद्र और कृष्णको शीघ्र ही दी । वह सुनकर उन्होने उसी समय मान लिया कि जिनेन्द्र देवने जो द्वारिका का प्रलय कहा था वह आ पहुंचा है वे उसी समय परिकर से रहित हो मुनिके समीप गये उस समय द्वीपायन मुनि क्रोधसे अग्निके समान जल रहा था, उसकी बुद्धि अत्यन्त संक्लेश से युक्त थी, भौंहों के भङ्गसे उसका मुख अत्यन्त विषम हो रहा था, उसके नेत्रोंको ओर देखना कठिन था उसके प्राण क्षीण होकर कण्ठगत हो रहे थे, तथा उसका स्वरूप अत्यन्त भयङ्कर था । ऐसे मुनिको बलभद्र और कृष्णने देखा । देखते ही उन्होंने हाथ जोड़ कर बड़े आदर से झुककर नमस्कार किया और यह जानते हुए भी कि हमारी याचना निष्फल होगी, मोह वश इस प्रकार याचना की । हे साधो ! चिरकाल से जिसकी आपने रक्षा की है, क्षमा ही जिसकी जड़

बलभद्रादयो नेमिनाथं नमस्कृत्य सर्वेऽपि यादवा द्वारवतीं विविशुः। ततः कृष्णो बलभद्रश्च पुर्यां घोषणां मद्यनिषेधिनीं कारयामासतुः ततो मद्यपैर्मद्याङ्गानि पिष्टकिण्वादीनि मद्यानि च कदम्बवने गिरिगह्वरे शिलाभाण्डानि आस्फालितानि। सा मदिरा कदम्बवनकुण्डेषु गता। कर्मविपाकहेतुत्वेनावस्थिता। श्री नेमिनाथः पल्लवदेशे गतः। जिनेन सह भव्यलोक उत्तरापथमुच्चलितः। द्वीपायनस्तु द्वादशं वर्षं भ्रान्त्याऽतीतं मन्वानो जिनादेशो व्यतिक्रान्त इति ध्यात्वा सम्यक्त्वहीनो द्वारवतीमागत्य गिरेर्निकटनगरबाह्यमार्गे आतापनयोगे स्थितः। वनक्रीडापरिश्रान्तास्तृष्णया व्याकुलीभूताः कादम्बकुण्डेषु जलमिति ज्ञात्वा शंभवादयस्तां सुरां पिबन्ति स्म कदम्बवनस्थितां कदम्बकन्यास्थितां विसृष्टां कादम्बरीं पीत्वा कुमारा विकारांश्च प्रापुः। सा पुराणापि वारुणी परिपाकवशात् तरुणांवत्तरुणान् वशेऽकरोत्। ते कुमाराः अमंबदं गायन्तो नृत्यन्तश्च स्खलितपादाः प्रमुक्तकुन्तलाः पुष्पकृतावतंसाः कण्ठालम्बितपुष्पमालाः सर्वे पुरं समागच्छन्तः सूर्यप्रतिमास्थितं द्वीपायनमुनिं दृष्ट्वा घूर्णमाननयना इत्यूचुः सोऽयं द्वीपायनो यतिर्यो द्वारवतीं धक्ष्यति सोऽस्माकमग्रतः क्व यास्यति वराक इति प्रोच्य मवतो लोष्टुभिः पाषाणैश्च तावत्प्रजघ्नुर्यावद्-

---

है तथा जो मोक्षका साधन है ऐसे तपके समूह की रक्षा की जाय। मूर्ख तथा प्रमादसे भरे कुमारों ने आपके प्रति जो खोटी चेष्टा की है उसे क्षमा किया जाय। क्रोध चतुर्वर्ग का शत्रु है, क्रोध निज और पर को नष्ट करने वाला है, हे मुनि ! हम लोगोंके लिये प्रसन्नता कीजिये। इस प्रकार प्रिय वचन कहते हुए कृष्ण और बलभद्रने यद्यपि उनके चरणों में लगकर प्रार्थना की तथापि वह पीछे नहीं हटा। जिसकी बुद्धि पाप-पूर्ण थी तथा समस्त प्राणियों से सयुक्त द्वारिका के जलाने का जो निश्चय कर चुका था ऐसे उस द्वीपायन ने दो अंगुलियां उठाकर संकेत किया कि मात्र तुम दोनोंको नहीं जलाऊंगा। 'इनका क्रोध दूर नहीं किया जा सकता' ऐसा जानकर खेद से भरे कृष्ण और बलदेव आदि किंकर्तव्य-विमूढ हो लौटकर नगरी में प्रविष्ट हुए उसी समय शंभवकुमार आदि चरम–शरीरी यादव नगर से निकल कर तथा दीक्षा लेकर पर्वत की गुफाओं आदि में स्थित होगये। और द्वीपायन क्रोध की शल्यसे मरकर भवन- वासी देव हुआ। वह अग्निकुमार नामका भवनवासी हुआ था। उसने विभङ्ग अवधि ज्ञानके द्वारा पूर्व-वैर का स्मरण कर बाल वृद्ध और पशुओं से सहित द्वारिकाको भस्म कर दिया, मात्र कृष्ण और बलदेव को छोड़ा। वे दोनों द्वारिका से चलकर दक्षिणापथ के वनमें प्रविष्ट हुए। भीलके वेष के धारण करने वाले जरत्कुमार ने कृष्ण के पैर में बाणसे प्रहार किया। जिससे मरकर वे तीसरे नरक गये और द्वीपायन अनन्त संसार का पात्र हुआ ॥५०॥

भूमौ पपात। एवं तैर्निर्मूल्कैस्ताडित उत्पन्नाधिकक्रोधो दष्टोष्ठो यदूनां स्वतपसश्च विनाशाय भ्रकुटिं चकार कुमारास्तु पुरीं प्रति गमनं चक्रुः केश्चित्तद्दुराचारो विष्णोर्बलस्य लघु निवेदितः। तच्छ्रुत्वा द्वारवत्या प्रलयं जिनोक्तं प्राप्तं तदापि मेनाते परिच्छदरहितौ मुनिसमीपं गतौ। अग्निमिव ज्वलन्तं क्रोधेन संक्लिष्टधियं भ्रूभंग–विषमवक्त्रं दुर्निरीक्ष्येक्षणं क्षीणकण्ठगतप्राणं विभीषणस्वरूपं ददृशतुः कृताञ्जलिपुटौ महादरात्प्रणिपत्य याचनां वन्ध्यां जानन्तावपि मोहाद्याचितवन्तौ। हे साधो! चिरं परिरक्षितस्तपोभारः क्षमामूलः क्रोधाग्निना धक्ष्यते मोक्षसाधनं परिरक्ष्यतां परिरक्ष्यतां। मूढैः प्रमादबहुलैर्दुर्विचेष्टितं भवतः कृतं तत्क्षम्यतां क्षम्यतां। क्रोधश्चतुर्वर्गशत्रुः, क्रोधः स्वपरनाशनः, अस्मभ्यं प्रसादः क्रियतां मुने! इति प्रियवादिनौ तौ पादयोर्लगित्वा प्रार्थितवन्तौ तथापि सोऽनिवर्तकः संजातः। सर्वप्राणिसंयुक्तद्वारवती दाहे पापर्षिः कृतनिश्चयः युवामेव न धक्ष्यामीत्यङ्गुलिद्वयेन संज्ञां चकार। अनिवर्तकक्रोधं ज्ञात्वा विषण्णौ व्याघुट्य किं कर्तव्यतामूढौ पुरीं प्रविष्टौ। तदा शंभवाद्याश्चरमाङ्गका यादवाः पुर्या निष्क्रम्य दीक्षां गृहीत्वा गिरिगुहादिषु तस्थिवांसः। द्वीपायनस्तु क्रोधशल्येन मृत्वा भवनामरो बभूव। सोऽग्निकुमारनामा विभंगेन पूर्ववैरं स्मृत्वा द्वारवतीं बालवृद्धस्त्रीपशुसमेतां विष्णुबलौ मुक्त्वा ददाह। तौ दक्षिणापथे वनं प्रविष्टौ। तत्र विष्णुर्जरत्कुमारभिल्लेन पादे बाणेन ताडितो मृतः तृतीयं नरकं जगाम। द्वीपायनस्तु अनन्तसंसारी बभूव।

भावसवणो य धीरो जुवईयणवेढिओ विसुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो परित्तसंसारिओ जादो ॥५१॥

भावश्रमणश्च धीरो युवतिजनवेष्टितो विशुद्धमतिः।
नाम्ना शिवकुमारः परीतसंसारिको जातः॥

गाथार्थ—शिवकुमार नामक भाव-श्रमण युवतिजनों से वेष्टित होने पर भी निर्मल बुद्धिका धारक धीर, संसारको पार करने वाला हुआ ॥५१॥

विशेषार्थ—जो भाव श्रमण थे अर्थात् जिन-सम्यक्त्व से सहित, थे, धीर थे अर्थात् दृढ सम्यक्त्व से युक्त थे विकट परिस्थिति में भी जिनका मन विचलित तथा मलिन नहीं हुआ था, जो हाव भाव विभ्रम तथा विलास से सहित राज-कन्याओं रूप अपनी तरुण स्त्रियों के समूह से परिवृत होकर भी विशुद्ध बुद्धिसे युक्त रहे अर्थात् निर्मल ब्रह्मचर्य से जिनका चित्त कलुषित नहीं हुआ ऐसे शिवकुमार नामा राजपुत्र संसारका परित्याग कर

---

१ निर्मूलैः। २ तदपि क०। ३ भ्रूभङ्ग विषम म०। ४ प्रथमं क०।

भाव समणो य धीरो भावश्रमणश्च जिनसम्यक्त्ववासितः धीरो दृढसम्यक्त्वः अविचलितामलमनाः । *जुवईयण वेढिओ विसुद्धमई* युवतीजनवेष्टितः हावभावविभ्रमविलासापेतराजकन्यासमयुवतिसमूहपरिवृतोऽपि विशुद्धमतिः निर्मलब्रह्मचर्यनिष्कलुषचित्तः । *णामेण शिवकुमारो* नाम्ना कृत्वा शिवकुमारो नरेन्द्रपुत्रः । *परित्तसंसारिओ जादो* अल्पसंसारिकः परित्यक्तसंसार आसन्नभव्यो जातः, इह भरतक्षेत्रे जम्बूनामान्त्यकेवली बभूवेति क्रियाकारकसम्बन्धः । शिवकुमारस्य कथा यथा—अथ श्रेणिकः श्रीवीरं विपुलगिरौ समवस्थितं प्रणम्य श्रीगौतमस्वामिनं प्रत्याह—अत्र भरतक्षेत्रे पश्चिमकेवली को भविष्यति

निकट-भव्य हुए अर्थात् इस भरत क्षेत्र में जम्बू नामक अन्तिम केवली हुए । शिवकुमारकी कथा इस प्रकार है—

शिवकुमारकी कथा

अथानन्तर राजा श्रेणिक ने विपुलाचल पर स्थित श्रीमहावीर भगवान् को प्रणाम कर श्री गौतम स्वामी से कहा—हे भगवन् ! इस भरत क्षेत्रमें अन्तिम केवली कौन होगा ?

तदनन्तर श्री गौतम स्वामी ज्योंही कथा का निरूपण करनेके लिये उद्यम करते हैं त्यों ही वहां उसी समय ब्रह्मस्वर्ग का स्वामी ब्रह्म हृदय नामक विमान में उत्पन्न हुआ विद्युन्माली देव जिसका कि मुकुट देदीप्यमान तेजसे सुशोभित था, जो नाम और अपने दर्शन से प्रिय था तथा विद्युत्प्रभा और विद्युद्वेगा आदि अपनी देवियों से घिरा हुआ था, आ पहुंचा और जिनेन्द्र देव की वन्दना कर यथा-स्थान बैठ गया । उसे देख गौतम स्वामीने राजा श्रेणिक से कहा—राजन् ! इसी व्यक्ति के द्वारा केवल ज्ञान रूपी ज्योति की समाप्ति होगी । वह किस तरह ? यदि यह जानना चाहते हो तो कहता हूं । आजसे सातवें दिन यह ब्रह्मेन्द्र स्वर्ग से आकर इस राजगृह नगर में अर्हद्दास सेठ की प्रिय भार्या जिनदासी के यहां हाथी, सरोवर, शालिवन प्रज्वलित ज्वालाओं से युक्त निर्धूम अग्नि तथा देवकुमारों के द्वारा लाये गये जामुन के फल स्वप्न में दिखा कर जम्बू नामका महान कान्तिमान्, अतिशय प्रसिद्ध, और विनीत पुत्र होगा । अनावृत देव उसकी पूजा करेगा । तथा यौवन के प्रारम्भ में भी वह निर्विकार रहेगा । जब जम्बूस्वामी का यौवन काल रहेगा तभी श्री वर्धमान भट्टारक—भगवान् महावीर स्वामी पावापुर में मोक्ष प्राप्त करेंगे । उसी समय मुझे केवल ज्ञान उत्पन्न होगा । सुधर्म गणधर के साथ संसार रूपी

भगवन्निति। ततः कथां यावत्प्ररूपयितुं श्रीगौतम उद्यमं करोति स्म तस्मिन्नेवावसरे ब्रह्मकल्पाधाशो ब्रह्महृदयाह्वविमानो विद्युन्मालीजाज्वल्यमानतेजोविराजमानमुकुटः स्वतनुभा स्वदर्शनेन च प्रिया विद्युत्प्रभाविद्युद्वेगादिनिजदेवीभिर्वृत आगत्य जिनं वन्दित्वा यथास्थानं स्थितः। तं दृष्ट्वा राजन्! अनेन केवलज्योतिषः परिसमाप्तिर्भविष्यति। तत्कथं चेत्कथयिष्यामि। अस्माद्दिनात् सप्तमे दिनेऽयं ब्रह्मेन्द्रः स्वर्गादभ्येत्यास्मिन् राजगृहे नगरेऽर्हद्दासेभ्यस्य प्रियभार्याजिनदास्यां गजं सरोवरं शालिवनं निर्धूमानलं

अग्नि से संतप्त भव्य प्राणियों को धर्मामृत रूप जलसे आह्लाद करते हुए हम इसी राज गृह नगरमें आकर इसी विपुलाचलपर स्थित होंगे। यह समाचार सुनकर चेलनी रानी का पुत्र कुणिक राजा समस्त परिवारके साथ आकर मेरी तथा सुधर्म गणधर की पूजा कर दान शील उपवास आदिक स्वर्ग और मोक्षके साधक धर्म को ग्रहण करेगा। कुणिक के साथ आया हुआ जम्बूकुमार भी वैराग्य को प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण करनेके लिये उत्सुक होगा। उसके कुटुम्बके लोग उससे कहेंगे कि कुछ वर्षोंके व्यतीत हो जाने पर हम सब भी तुम्हारे साथ दीक्षा ग्रहण करेंगे। कुटुम्ब के लोगोंने जो कहा जम्बूकुमार न तो उसे सहन करने के लिये समर्थ होगा और न निराकरण करनेके लिय। अन्त में वह नगर में वापिस आवेगा। वहां उसे मोह उत्पन्न करनेके लिये कुटुम्बी जनोंके द्वारा सुख-कारी बन्धन विवाह प्रारम्भ किया जावेगा। यथार्थ में बान्धव जन कुटुम्ब परिवार कल्याणके बाधक हैं। अन्त में वह सागर दत्त और पद्मावती की पुत्री, लक्ष्मी से उत्कृष्ट, अच्छे लक्षणों वाली पद्म श्री, कुबेर दत्त और कनक मालाकी पुत्री सुन्दर लोचनोंसे युक्त कनक श्री, वैश्रवण दत्त और विनयवतीकी पुत्री, मृग नेत्री तथा सुन्दरी विनय श्री और उसी वैश्रवण दत्त की दूसरी स्त्री धन श्री की पुत्री रूप--श्री इन चारोंको विधिपूर्वक विवाह कर समीचीन रत्नोंमय दीपोंकी कान्तिसे अन्धकार--रहित शयनागार में नाना रत्नों के समीचीन चूर्ण से निर्मित रङ्गावली से सुशोभित एवं नाना प्रकार के फूलोंके उप-हार से सहित पृथिवी तल पर बैठेगा।

सुरम्यदेश सम्बन्धी पोदनपुर के राजा विद्युद्राज और उसकी रानी विमलमति का पुत्र विद्युत्प्रभ किसी कारण अपने बड़े भाई से कुपित होकर पांचसौ योद्धाओं के साथ अपने नगर से निकल पड़ा था और उसने अपना विद्युच्चोर नाम रक्खा था। वह पापी मनुष्यों में सबसे आगे स्मरणीय था, दुष्ट लोगोंके द्वारा वन्दना करने योग्य था, दुर्गुणी था, अनुत्सुक था एवं स्वभाव से तीक्ष्ण था। चौर शास्त्रके उपदेश से वह मन्त्र

प्रज्वलज्ज्वालं स्वर्गकुमारसमानीयमानजम्बूफलानि च स्वप्ने दर्शयित्वा महाद्युतिर्जम्बूनामाऽनावृतदेवाप्तपूजाऽतिविख्यातो विनीतः सुतो भविष्यति। यौवनारम्भेऽपि निर्विकारो भावी। तस्मिन् जम्बूस्वामियौवनकाले श्रीवीरभट्टारकः पावापुरे मुक्तिं यास्यति तस्मिन्नेव समये मम केवलज्ञानमुत्पत्स्यते सुधर्मगणधरेण सह संसारागततमानां भव्यप्राणिनां धर्मामृतादकेन ल्हादं करिष्यन्निदमेव राजगृहपत्तनमागत्यास्मिन्नेव विपुलाचलेऽहं स्थास्यामि। तत्समाकर्ण्य चेलनीसुतः कुणिको नृपः सर्वपरिवारेण समागत्य मां सुधर्मं च पूजयित्वा दानशीलोपवासादिकं स्वर्गमोक्षमफलं धर्मं ग्रहीष्यति। तेन महात्मना जम्बूनामा निर्वेदं प्राप्य दीक्षाग्रहणोत्सुको भविष्यति। तं कुटुम्बं वदिष्यति स्तोकेषु वर्षेषु गतेषु त्वया सह वयं सर्वेऽपि दीक्षां ग्रहीष्याम इति। तेन प्रोक्तं सोढुमशक्नुवन्निरागन्तुं च तदक्षमः पुरमायास्यति। तस्य मोहमुत्पादयितुं सुखबन्धनं विवाह आरप्स्यते तेन कुटुम्बवर्गेण। बान्धवा हि श्रेयसो विघ्नाः। सागरदत्तपद्मावत्योः सुता श्रियोत्कृष्टा सुलक्षणा पद्मश्रीः, कुबेरदत्तकनकमालयोः सुता सुलोचना कनकश्रीः वैश्रवणदत्तविनयवत्योर्धुदा गतलोचनावलोकनेच्छा विनयश्रीः, तस्यैव वै वणदत्तस्य धनश्रियाः सुता रूपश्रीः एताश्चतस्रो

तन्त्र के सब विधान सीख गया था अतः शरीर को अदृश्य बनाना तथा बन्द किवाड़ों को खोलना आदि कार्योंका अच्छा जानकार था जिस समय जम्बू कुमार शयनागार में अपनी नव विवाहित स्त्रियोंके साथ बैठा उसी समय वह विद्युच्चोर जम्बूकुमार के पिता अर्हद्दास सेठ के घर के भीतर रत्न तथा धन आदि को चुराने के लिये घुसेगा। उस समय जम्बूकुमारकी माता जिन-दासी जाग रही होगी—पुत्रके वैराग्यकी बात सुनकर उसे निद्रा नहीं आवेगी उसे जागती देख विद्युच्चोर पूछेगा कि तू इस तरह क्यों जाग रही है? जिनदासी कहेगी कि 'मेरे एक ही पुत्र है और वह भी 'मैं प्रातःकाल ही तपोवन को जाऊंगा' ऐसा संकल्प करके बैठा है. इसी कारण शोकसे युक्त हो मैं जाग रही हूं। तुम बुद्धिमान् दिखाई देते हो यदि तुम इसे उपायों द्वारा इस हठसे निवृत्त कर सको तो मैं तुम्हारा मन चाहा सब धन दे दूंगी'।

जिनदासी को उक्त बातको सुनकर विद्युच्चोर विचार करेगा कि यह इस तरह भोगों से सम्पन्न कुमार तो विरक्त होगा और मैं यहां धन हरनेके लिये प्रविष्ट हुआ हूं, मुझे धिक्कार हो, इस प्रकार अपनी निन्दा करता हुआ वह निःशङ्क भाव से जम्बू कुमार के पास पहुंचेगा। उन कन्याओं के साध्यभाव से सहित अर्थात् पूर्वोक्त कन्याएं जिसे वश करने के लिये घेरकर बैठी होंगी तथा जिसकी समीचीन बुद्धि विस्तृत हो रही होगी ऐसे जम्बू कुमार को वह विद्युच्चोर ऐसा देखेगा। जैसे पिंजड़े में पड़ा पक्षी हो, अथवा जालमें

विधिपूर्वकं परिणीय सौधागारे समीचीनरत्नदीपदीप्तिभिर्निरस्तान्धकारे नानारत्नसमीचीनचूर्णरंगवल्ली-संशोभिते विचित्रपुष्पोपहारसहिते जगतीतले स्थास्यति। एतस्य माता अयं मे सुतो रागेण प्रेरितः स्मित-हासकटाक्षेक्षणादिना विकृतिं भजन् किं भवेन्न वा भवेदित्यात्मानं निरोधाय पश्यन्ती स्थास्यति। तस्मि-न्नवसरे सुरम्यदेशपोदनापुरेशविद्युद्राजविमलवत्योः सुतः पापिष्ठानां धुरन्धरो दुरात्मनां वन्द्यगाथाऽगु-णवानुत्सुकश्च तीक्ष्णो विद्युत्प्रभनामा केनापि कारणेन निजज्येष्ठभ्रात्रा कुपित्वा पंरशनानुमतो गतः। विद्युच्चोरनामानमात्मानं कृत्वा चौरशास्त्रोपदेशेन मंत्रतंत्रबलेन अदृश्यशरीरत्वकपाटोद्घाटनादिकं जानन्नर्हद्दासगृहाभ्यन्तरं रत्नकनकादिकं चोरयितुं प्रविश्य जिनदास्यां नष्टनिद्रां विलोक्यात्मानं निवेद्य किमर्थं विनिद्रा त्वमेवमिति प्रक्ष्यति? मम एक एव पुत्रः प्रातरेवाह्न तपोवनं गमिष्यामीति संकल्पस्थितो वर्तते तेनाहं शोकिनी सती जागर्मि। त्वं बुद्धिमान् दृश्यसे यदि त्वमिममाग्रहादुपायैर्वारयसि तत्त्वदभीप्सितं धनं सर्वमहं दास्यामीति वदिष्यति। सोऽपि तत्प्रतिपद्यैवं सम्पन्नभोगोऽयं [1]किल विरंस्यति, इह धनमाहर्तुं प्रविष्टं मां धिगिति स्वनिन्दनं कुर्वन्निःशंकं तदन्तिकं प्राप्य तं तासां कन्यकानां [2]साध्वनयाचित्रितं कुमारं प्रसरत्सद्बुद्धिं पंजरगतं पक्षिणमिव, जालगतं मृगबालकमिव, अपारकर्दमे मग्नं भद्रजातिगजपतिमिव, लोहपंजरैर्निरुद्धं सिंहमिव प्रत्यासन्नसंसारक्षयं सम्प्राप्तनिर्वेदं समीक्ष्य विद्युच्चोरः सुधीरष्टकथानकं वदिष्यति हे कुमार! त्वया श्रूयतां—कश्चित्क्रमेलकः स्वेच्छया चरन्नेकदा गिरेरुन्नतप्रदेशात् तृणं खादन्नेतन्मधुर-सम्मिश्रं सकृदास्वाद्योत्सुकस्तादृशमेवाहमाहरिष्यामीति मधुपानाभिलाषेच्छया तृणान्तरचर्वणात्पराङ्-मुखस्तस्थौ मम्रे च तथा त्वमप्येतानुपस्थितान् भोगाननिच्छन् स्वर्गभोगार्थी बुद्धिरहितः क्रमेलकावस्थां

फंसा मृगका बालक हो, अथवा अपार कीचड़ में फसा भद्रजातिका गजराज हो अथवा लोहेके पिंजड़ों से रुका सिंह हो। पश्चात् जिसके संसार का क्षय अत्यन्त निकट है तथा जिसे पूर्ण रूपसे वैराग्य प्राप्त हो चुका है ऐसे जम्बू कुमार को देखकर वह बुद्धिमान् विद्युच्चोर आठ कथाएं कहेगा—

(१) हे कुमार! सुनो, एक ऊंट अपनी इच्छासे चरता हुआ एक वार किसी पर्वत के पास पहुंचा। वहां पर्वत के ऊंचे प्रदेश से मधु को कुछ बूंदे टपक कर घास पर पड़ गई थीं, मधु रससे मिश्रित उस घास को एकवार खा कर वह ऊंट इतना उत्सुक हो उठा कि मैं तो सदा ऐसी ही घास खाऊंगा। इस तरह मधुपान की इच्छासे दूसरी घास खाने से विमुख हो निराहार बैठा रहा तथा मर गया। इसी प्रकार तुम भी इन उपस्थित भोगोंको न चाहते हुए स्वर्गके भोगोंकी इच्छा कर रहे हो सो तुम बुद्धि-रहित हो, ऊंटकी अवस्था को प्राप्त होओगे।

१—किल विरंसति घ०। २—क प्रतौ केनापि संशोधितं कल्पकानां मध्ये तपोऽधिष्ठितं।

प्राप्स्यसि (१) इति चौरप्रतिपादितं श्रुत्वा कुमारः प्रत्युत्तरं दास्यति—कश्चित्पुमान् महादाहकरेण रविणा परिपीडितो नदीसरोवरतडागादिपानीयं पुनः पुनः पीत्वा तथापि न विनष्टतृष्णस्तृणाग्रस्थितजलकणं पिबन् किं तृप्तिं याति तथायं जीवोऽपि चिरकालं दिव्यसुखं भुक्त्वाप्यतृप्तोऽनेन मनुष्यभवजातेन स्वल्पेन गजकर्णास्थिरेणास्वादुना तृप्तिं यायात्—अपि तु न यायात् (२) इति तद्वाचं श्रुत्वा स एकागारिकः कथयिष्यति कथां—एकस्मिन् वने किरातश्चण्डो महातरुमाधारं कृत्वा गण्डान्तं धनराकृष्य वाणेन वारणं जघान। तरुकोटरस्थितसर्पदष्टस्तं सर्पं मारयित्वा स्वयं च मृतः। अथ तान् त्रीन् किरातसर्पगजान् मृतान् दृष्ट्वा क्रोष्टाऽतिलुब्धस्तावदेतांस्त्रीनपि पूर्वं धनुर्मौर्वीं प्रान्तस्थितां च स्नुसां भक्षयामीति कृतोद्यमस्तच्छेदं विधेयश्चकार। सद्यो धनुरग्रनिर्भिन्नगलः सोऽपि मृतः। ततोऽतिगृध्नुना त्वया त्याज्या (३)। इति श्रुत्वा कुमारश्चिन्तयित्वा सूक्तं प्रवक्ष्यति चतुर्मार्गसमयोगदेशमध्ये सुमहद्रत्नराशिं प्राप्य पथिको मुखस्तदात्म[१]मना दायकेनापि कारणेन गतः पुनर्वनादागत्य तं देशं तं रत्नपुंजं किं पुनर्लभते तथा गुणमाणिक्यसंचय दुष्प्रापमगृह्णन् संसारसमुद्रे कथं पुनः प्राप्नुयात् (४)। तदा मलिम्लुचोऽन्यदन्यायसूचनमुपाख्यानं

इस प्रकार चोर के द्वारा कही कथा को सुनकर जम्बू कुमार उत्तर देगा—

(२) एक पुरुष ने महा संताप उत्पन्न करने वाले सूर्यसे पीडित होकर नदी सरोवर तालाव आदिका पानी वार २ पिया फिर भी उसकी प्यास नष्ट नहीं हुई। वह अब क्या तृणके अग्र भाग पर स्थित जलके कणको पीता हुआ क्या तृप्तिको प्राप्त हो जावेगा ? उसी प्रकार यह जीव भी चिर काल तक स्वर्गके सुख भोगकर भी तृप्त नहीं हुआ। अब क्या मनुष्य भव में उत्पन्न होनेवाले, अत्यन्त अल्प और हाथी के कानके समान अस्थिर अमनोज्ञ सुख से क्या तृप्ति को प्राप्त हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता।

जम्बूकुमार के वचन सुनकर चोर फिर कथा कहेगा—

(३) एक वन में चण्ड नामका अथवा अत्यन्त क्रोध करने वाला एक भील रहता था। उसने एक वार किसी महावृक्ष को आधार बना कर अर्थात् उस पर चढ़कर गाल पर्यन्त धनुष खींच वाण द्वारा हाथी को मारा। उसी वृक्ष की कोटर में एक सांप रहता था उस सांपने भीलको काट खाया। भील ने बदले म सापका मार दिया और वह स्वयं मर गया। तदनन्तर किरात, साप और हाथीको मरा देख एक लोभी शृगाल वहां आया। वह कहने लगा कि मैं तीनों का अभी खाता हूं, पहले धनुष के छोर पर लगी तांतको खाता हूं। ऐसा विचार कर उस मूर्ख ने तात को काटने का उद्यम किया। फलस्वरूप धनुष के अग्रभाग से उसका गला फट गया और वह मर गया। इसलिये तुम्हें अधिक

१—तदात्मना म०।

वदिष्यति कश्चित्शृगालो मुखस्थितं मांसपिण्डं मुक्त्वा संक्रीडमानं मीनं भक्षितुं जले पपात। जलवेग-वहत्प्रवाहेण प्रेर्यमाणो मृतः। मीनस्तु दीर्घायुर्जलमध्ये सुखं तस्थौ। एवं शृगालवदतिलुब्धो मरिष्यति (५)। एवं मुख्यतस्करवाचं श्रुत्वा प्रत्यासन्नमुक्तिः कुमारो भणिष्यति—कश्चिन्निद्रालुको वणिक् निद्रासुखरतः परार्घ्यरत्नगर्भनिजकच्छपुटः सुप्तः। चौरैरपहृते माणिक्यसचये तद्दुःखेन दुर्मृतिमर्तिं प्राप। तथायं जीवो विषयाल्पसुखासक्तो रागचौरकैर्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नेष्वपहृतेषु निर्मूलं नश्यति ( )। दस्युरथ गदिष्यति—स्वमातुलानी—दुर्वचनकोपेन काचित्कन्या तरुतले सर्वाभरणमण्डिता स्थिता। मरणोपायम-जानती व्याकुलमनाः सुवर्णहारकेण पापिना मार्दङ्गिकेण दृष्टा। तदाभरणानि जिघृक्षुणा तस्या [1]लम्बनोपायो [2]दर्शयामास। स्वकीयं मर्दलं वृक्षतले समुद्भं संस्थापयांबभूव। तस्या गलपाशदानशिक्षणार्थं मर्दलोपरि पादौ धृत्वा गले पाशं चकार। केनापि कारणेन मर्दले पतिते मार्दङ्गिकस्य गले पाशो [3]लग्नस्तेन खलीभूत-कण्ठः प्रोद्गतलोचनः शमनमन्दिरं प्राप। कन्या तद्दृष्ट्वा मरणभयात् गृहमागता तथा कुमार त्वया लोभो हेयः (७)। इति तस्य वाग्जालमाकर्ण्य जम्बूनामा कुमारोऽसहमानस्तं प्रति भणिष्यति कस्यचिद्राज्ञो

लोभका त्याग करना चाहिये।

यह सुन जम्बूकुमार विचार करके एक सुभाषित कहेगा—

(४) एक पथिक को चौराहे पर ऐसी रत्नों की राशि मिली जिसे वह अच्छी तरह ग्रहण कर सकता था परन्तु वह मूर्ख उसे उठाये विना किसी कारण से वनको चला गया। पीछे लौटकर उस स्थान पर आया तो उसे वह रत्नराशि क्या मिल सकती थी? इसी प्रकार यह जीव अत्यन्त दुर्लभ गुण रूपी मणियोंके समूह को यदि अभी ग्रहण नहीं करता है तो संसार समुद्र में फिर कैसे प्राप्त कर सकता है?

तदनन्तर चोर अन्याय को सूचित करने वाली एक दूसरी कथा कहेगा—

(५) कोई एक शृगाल मुख में स्थित मांस-पिण्डको छोड़ कर क्रीड़ा करती हुई मछली को खानेके लिये पानी में गिर पड़ा और जलके वेगसे बहते हुए प्रवाह से प्रेरित होता हुआ मर गया परन्तु दीर्घ आयु वाली मछली पानीके मध्य में सुख से रही आई। इस प्रकार अतिशय लोभी तुम शृगालके समान मरोगे।

इस प्रकार मुख्य चारके वचन सुन अत्यन्त निकट मुक्तिका प्राप्त करने वाला जम्बू कुमार कहेगा—

(६) निद्रा सुखमें निमग्न रहनेवाला कोई एक निद्रालु वणिक् था वह अपनी कांखमें श्रेष्ठ मणियोंको छिपा कर सो गया। परन्तु चोरोंने उसका मणियों का समूह

१—आलम्बनोपायं दर्शयामास म० घ० २—तेना [illegible] घ० म०। ३—[illegible] घ०।

महादेवी ललिताङ्गनामधेयं धूर्तविटं दृष्ट्वा मदनविह्वला संजाता। तस्य विटस्यानयननिरन्तरोपायनियुक्ता तद्धात्री तं गुप्तमानीतवती। सा महादेवी यथा भर्ता न जानाति तथैकान्तप्रदेशे यथेष्टं तं रममाणा स्थिता बहुभिर्दिनैः शुद्धान्तरक्षकैः ज्ञात्वा राज्ञो ज्ञापिता च। उपपत्यपनयोपायमजानन्त्यः परिसारिकास्तं खलं नीत्वा वस्करगृहे निक्षिप्तवत्यः। स तत्रातिदुर्गन्धेन तत्कीटैश्च दुःखं प्राप। पापोदयेनात्रैव नरकावासं प्राप्तः। तद्वदल्पसुखाभिलाषिणो जीवस्य निघोरनरकादिषु महापदो भवन्ति (८)। कुमारः पुनरप्येकं प्रपंचं

चुरा लिया उसके दुःखसे कुमरण को प्राप्त होता हुआ मर गया। इसी प्रकार यह जीव विषय रूपी अल्प सुख में आसक्त हो रहा है। राग रूपी चोरोंके द्वारा दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्नोंके चुरा लिये जाने पर वह नष्ट हो रहा है।

इसके बाद चोर कहेगा—

(७) समस्त आभरणों से सुशोभित कोई एक कन्या अपनी मामीके कटुक वचनों से उत्पन्न हुए क्रोधके कारण वृक्षके नीचे स्थित थी। वह मरने का उपाय नहीं जानती हुई मन ही मन बहुत व्याकुल हो रही थी। सुवर्णको हरने वाले किसी पापी मृदङ्ग-वादक ने उसे देख लिया। यह उसके आभूषण लेना चाहता था इसलिये उसने उसके लिये वृक्ष से लटकने का उपाय बतलाया। उसने अपना मृदङ्ग वृक्षके नीचे खड़ा रक्खा। फिर उस लड़की को गले में फांसी देनेकी शिक्षा देनेके लिये उसने मृदङ्ग पर दोनों पैर रखकर अपने गले में फांसी लगाई। इतने में किसी कारण मृदङ्ग गिर पड़ा जिससे उसके गलेमें फांसी का फंदा पक्का लग गया इससे उसका कण्ठ फंस गया और आंखे निकल आई तथा वह यमराजके गृहको प्राप्त होगया अर्थात् मर गया यह देख कन्या मरण के भय से घर आ गई। हे कुमार! इसी तरह तुम्हें लोभ छोड़ना चाहिये।

इस प्रकार चोरके वाग्जाल को सुनकर जम्बू कुमार सहन न करता हुआ उसके प्रति कहेगा—

(८) किसी राजा की महारानी ललिताङ्ग नामके एक धूर्त विटको देखकर काम से विह्वल होगई। उस विटको लानेके लिये रानीने एक धायको नियुक्त किया। सो वह धाय गुप्त रूपसे उसे ले आई। महारानी, जिस तरह राजा को पता न चल सके उस तरह एकान्त में उसके साथ रमण करती हुई रहने लगी। बहुत दिन बाद अन्तः पुरके रक्षकों को इस बातका पता चल गया और उन्होंने राजासे कह भी दिया। रानी की सेविकाए उपपति को अलग करने का उपाय नहीं जान सकीं इसलिये उन्होंने उस दुष्टको

कथयिष्यति येन श्रुतेन सतां लघु संसारनिर्वेगो भवति। जीवोऽयं पथिकः संसारकान्तारे भ्राम्यन् मृत्युमत्तगजेन जिघांसुना कषानुयातोऽतिभीरुः पलायमानो मनुष्यत्वतरुवरारूढस्तन्मूले कुलगोत्रादि वचित्र वल्लीसमाकुले जन्मकूपे पतित आयुर्वल्लीलग्नकायः सितासितदिवसानेकमूषिकोच्छिद्यमानतद्वल्लीकः सप्तनरकप्रसारितमुखसप्तसर्पनिकटः । तद्वृक्षेष्टार्थपुष्पोत्पन्नसुखमधुरसलालसस्तद्ग्रहणोत्थापितसमग्रापन्मक्षिकाभक्षितः तत्सेवासुखं ज्ञात्वा सर्वोऽपि विषयलंपटो दुर्बुद्धिर्जीवति तथा धीमान दुर्वह तपोऽकुर्वन्नत्यक्तसंगः कथं वर्तते ? इति तस्य वचनमाकर्ण्य माता कन्याश्चौरश्च संसारशरीरभोगेष्वतिविरागत्वं यास्यन्ति । तदान्धकारं निराकृत्य कोकं प्रियया कुमारं दीक्षयेव योजयन् निजकरैः समाक्रम्य कुमारस्य मनःकमलमिव रंजयन्नुदयाद्रेः शिखरे रविस्तपसि कुमार इवोदेष्यति। सर्वसन्तापकारी तीव्रकरोऽनवस्थितः क्रूरो दिवाकुवलयध्वंसी तदा सूर्यः कुनृपस्योपमां धरिष्यति। नित्योदयो बुधाधीशोऽखण्ड वसुद्धमण्डलः प्रवृद्धः पद्माल्हादी सुराजनं वाऽर्यमाजेष्यति । अस्य कुमारस्य बान्धवा भववैमुख्यं विज्ञाय

लेजाकर अशौच गृह में गिरा दिया। वह वहां अत्यन्त दुर्गन्ध तथा उसके कीड़ों से दुःख को प्राप्त हुआ पापके उदय से उसने यहीं पर नरक का निवास प्राप्त कर लिया। इसी के समान अल्प सुख की इच्छा करने वाले जीवको अत्यन्त भयंकर नरक आदि में बहुत भारी दुःख प्राप्त होते हैं।

कुमार फिर भी एक कथा कहेगा जिसके सुनने से सत्पुरुषों को शीघ्र ही संसार से वैराग्य हो जाता है—

यह जीव एक पथिक है, संसार रूपी अटवी में घूम रहा है, घात करनेका इच्छुक मृत्यु रूपी मत्त हाथी क्रोधसे उसका पीछा कर रहा है, अत्यन्त भयभीत हो भागता हुआ वह मनुष्य पर्याय रूपी वृक्ष पर चढ़ गया, उस वृक्षके नीचे कुल गोत्र आदि नाना प्रकारकी लताओं से व्याप्त संसार रूपी कुआ है उसी कुए में वह गिर गया, परन्तु आयु रूपी लता में उसका शरीर संलग्न होकर रह गया, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष के दिन रूपी अनेक चूहे उस लता को काट रहे हैं, उस संसार रूप कुए में सात नरक रूपी सात सर्प मुख फैलाकर बैठे हुए हैं, उस वृक्षके ऊपर इष्ट अर्थ रूपी पुष्प से उत्पन्न सुख रूपी मधु लगा हुआ है उसके रसकी लालसा उस पथिक को लग रही है, सुख रूपी मधुको प्राप्त करने के कारण उड़ी हुई अनेक आपत्ति रूपी मधु मक्खियां उसे काट रही हैं फिर भी उसको प्राप्तिको सुख जान कर सभी विषय लंपट दुर्बुद्धि मनुष्य जीवन व्यतीत करते हैं परन्तु जो बुद्धिमान् है वह कठिन तप किये तथा परिग्रह को छोड़े विना कैसे रह सकता है ?

इस प्रकार जम्बू कुमार के वचन सुन उसकी माता, चारों कन्याए, और चार संसार शरीर तथा भोगों से अत्यन्त वैराग्य को प्राप्त हो जावेंगे। उस समय अन्धकार को नष्ट कर चकवा को चकवी के साथ मिलाना और अपनी किरणों से कमल का अनुरञ्जित करता हुआ सूर्य उदयाचल पर उस तरह उदित होगा जिस तरह कि तप पर जम्बू कुमार। वह सूर्य चकवा को चकवी के साथ इस तरह मिला रहा था, जिस तरह कि कुमारको दीक्षाके साथ और अपनी किरणों से कमल को उस तरह अनुरञ्जित कर रहा था जिस तरह कि जम्बू कुमारके मनको। उस समय सूर्य खोटे राजाकी उपमा को धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार खोटा राजा सर्व--संतापकारी होता है—सबको दुःख देने वाला होता है उसी प्रकार सूर्य भी सर्व सताप--कारी थी-सबको गर्मी पहुंचाने वाला था, जिस प्रकार खोटा राजा तीक्ष्ण कर—अत्यधिक टेक्स लगाने वाला होता है उसी प्रकार सूर्य भी तीक्ष्ण कर—उष्ण किरणों वाला था, जिस प्रकार खोटा राजा अनवस्थित होता है—चञ्चल--बुद्धि होता है उसी प्रकार वह सूर्य भी अनवस्थित था—सदा एकसा न रहने वाला था, जिस प्रकार खोटा राजा क्रूर—स्वभाव का दुष्ट होता है उसी प्रकार सूर्य भी क्रूर--अत्यन्त उष्ण प्रकृति वाला था, और जिस प्रकार खोटा राजा दिवा कुवलयध्वंसी-दिन में पृथिवी मण्डल को नष्ट करने वाला होता है उसी प्रकार सूर्य भी दिवा कुवलयध्वसी दिनमें नील कमलों को निमोलित करने वाला था। अथवा वह सूर्य किसी उत्तम राजा को जीतने वाला होगा क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा नित्योदय होता है—निरन्तर अभ्युदय से युक्त होता है उसी प्रकार सूर्य भी नित्योदय प्रति दिन उदित होनेवाला होता है जिस प्रकार उत्तम राजा बुधाधीश -विद्वानों का स्वामी होता है उसी प्रकार सूर्य भी बुधाधीश -बुध नामक ग्रहका स्वामी था, जिस प्रकार उत्तम राजा अखण्ड विशुद्धमण्डल -अखण्डित और विशुद्ध राष्ट्र से सहित होता है उसी प्रकार सूर्य भी निर्दोष मण्डल पूर्ण तथा निर्दोष परिधि से सहित था जिस प्रकार उत्तम राजा प्रवृद्ध--अत्यन्त विस्तार से युक्त रहता है उसी प्रकार सूर्य भी प्रवृद्ध--अत्यन्त वृद्ध होगा और जिस प्रकार उत्तम राजा पद्माह्लादी—लक्ष्मीको हर्षित करने वाला होता है उसी प्रकार सूर्य भी पद्माह्लादी- कमलों को हर्षित करने वाला होगा।

इस कुमार की संसार से विमुखता जान इसके कुटुम्बी जन, कुणिक महाराज की अठारह श्रेणियां तथा अनावृत देव सब मिलकर मङ्गल जलसे इसका अभिषेक करेंगे।

[1]कुणिकमहाराजश्रेण्योऽष्टादशापि देवोऽनावृतश्च सर्वे संगम्य मंगलजलैरभिषेकं करिष्यन्ति। अथ कास्ता अष्टादशश्रेणयः—सेनापतिर्गणको राजश्रेष्ठी दण्डाधिपो मंत्री [2]महत्तरो [3]बलवत्तरः चत्वारो वर्णाः चतुरंगं बलं पुरोहितोऽमात्यो महामात्य इति। असौ कुमारस्तत्कालोचितवेषो देवनिर्मितां शिबिकामारुह्य भूरि भूत्या उच्चैर्विपुलाचलशिखरे स्थितं मां महामुनिभिर्निषेवितं समभ्येत्य भक्त्या त्रिःपरीत्य यथाविधि प्रणम्य वर्णत्रयसमुत्पन्नैर्भूयोभिर्विनेयै[4]र्विद्युच्चौरेण तत्पंचशतसेवकैश्च समं सुधर्मगणधरपादमूले समचित्तः संयमं ग्रहीष्यति। द्वादशवर्षान्ते मयि मोक्षं गते सुधर्मा केवली भविष्यति जम्बूनामा श्रुतकेवली भविष्यति ततो द्वादशवर्षपर्यन्ते सुधर्मणि निर्वाणं गते जम्बूनाम्नः केवलज्ञानमुत्पत्स्यते। जम्बूनाम्नः शिष्यो भवो

अब वे अठारह श्रेणियां कौन हैं ? इसका उत्तर देते हैं--सेनापति, गणक, राज-श्रेष्ठी, दण्डाधिकारी, मन्त्री, महत्तर, बलवत्तर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण, हाथी, घोड़ा, रथ, और पियादा—ये चार चतुरङ्ग सेना, पुरोहित, अमात्य और महामात्य ये अठारह श्रेणियां हैं।

उस समय के योग्य वेष को धारण करने वाला वह कुमार देव—निर्मित पालकी में सवार होकर बड़ी विभूति के साथ उन्नत विपुलाचल की शिखर पर स्थित तथा बड़े बड़े मुनियों से सेवित मेरे सामने आवेगा, भक्तिपूर्वक तीन प्रदक्षिणाएं देकर विधि पूर्वक प्रणाम करेगा और त्रिवर्ण में उत्पन्न बहुत से शिष्यों विद्युच्चर चोर और उसके पांच सौ सेवकों के साथ सुधर्म गणधर के चरण मूल में समचित्त होकर संयम ग्रहण करेगा। बारह वर्ष के बाद जब मैं मोक्ष चला जाऊंगा तब सुधर्माचार्य केवली होंगे और जम्बू स्वामी श्रुत केवली होंगे तदनन्तर बारह वर्षके बाद जब सुधर्माचार्य मोक्षको प्राप्त होंगे तब जम्बू स्वामी केवली होंगे। जम्बू स्वामी का एक शिष्य जिसका कि नाम भव होगा ब्यालीस वर्ष तक इस भरत क्षेत्र में विहार करेगा।

यह सुनकर राजा श्रेणिक के रहते हुए अनावृत देव कहेगा कि इसने (जम्बू कुमार ने) हमारे वंशका माहात्म्य बढ़ाया है ऐसा अन्यत्र नहीं देखा, ऐसा जोरसे कहकर वह हर्ष से नृत्य करने लगेगा। उसे देख राजा श्रेणिकने कहा कि जम्बूकुमारके साथ इस देवकी बन्धुता किस प्रकार है ? भगवान् गौतम स्वामी कहने लगे—जम्बू कुमार के वंशमें पहले धर्मप्रिय नामका एक सेठ था उसकी गुणदेवी नामकी स्त्री थी। उन दोनोंके अर्हद्दास नामका पुत्र था, वह धन और यौवन के मदसे पिताकी शिक्षा को न गिनता हुआ

१—कुणिक म० क०। २—ग्रामाध्यक्षः (क० टि०) ३ तलवरः (क० टि०)। ४—विनयै म०।

नाम चत्वारिंशद्वर्षाणीह भरतक्षेत्रे विहरिष्यति । तदाकर्ण्य श्रेणिकं स्थितेऽनावृतो देवो मदीयवंशस्येदं माहात्म्यमुद्धृतमीदृशमन्यत्र न दृष्टमित्युक्त्वानन्दनाटकं कृतवान् तं दृष्ट्वा श्रेणिक उवाच—कस्मादनेन-बन्धुत्वमस्य देवस्येति ? भगवान् गौतमो बभाण—जम्बूनाम्नो वंशे पूर्वं धर्मप्रियश्रेष्ठी गुणदेवी श्रेष्ठिनी। तयोरहद्दासः सुतो धनयौवनमदेन पितुः शिक्षामगणयन् कर्मवशात् सप्तव्यसनेषु निरंकुशो बभूव । निज-दुराचारेण दरिद्री संजातः । पश्चादुत्पन्नपश्चात्तापो मत्पितुः शिक्षा मया न श्रुता, उत्पन्नशमभावः किंचित्पुण्यमुपार्ज्यानावृतनामा व्यन्तरो जातः, तत्र समुत्पन्नसम्यक्त्वसम्पदिति बन्धुताप्रीतिरस्य । अथ श्रेणिकः प्राह—स्वामिन्नयं विद्युन्माली देवः कस्मादागतः, किं पुण्यं पूर्वभवे कृतवान्, अस्य प्रभा आयु-रन्तेऽप्यनाहतेति । तदनुग्रहबुद्धयैव भगवान् गौतमः प्राह—अत्र जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविषये

कर्मवश सात व्यसनों में स्वच्छन्द हो गया । अपने इस दुराचारके कारण वह दरिद्र हो गया । पीछे उसे इस बातका पश्चात्ताप हुआ कि मैंने अपने पिता की शिक्षा को नहीं सुना । इस तरह शमभाव उत्पन्न होनेपर किञ्चित् पुण्यका उपार्जन कर वह अनावृत नामका व्यन्तर देव हुआ । वहां इसे सम्यग्दर्शन रूपी सम्पत्ति उत्पन्न हुई है इसलिये जम्बू कुमार के प्रति इसे बन्धुता के कारण प्रीति उत्पन्न हुई है ।

तदनन्तर श्रेणिक ने कहा–हे स्वामिन् ! यह विद्युन्माली किस कारण आया ? इसने पूर्व भव में क्या पुण्य किया था ? इसकी प्रभा आयुके अन्त तक अनाहत है । श्रेणिक के उपकार की बुद्धि से ही भगवान् गौतम स्वामी कहने लगे—

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुष्कलावती देशमें एक वीतशोक नाम का नगर है उसमें महापद्म नामका राजा रहता था उसकी रानी का नाम वनमाला था । उन दोनों के शिवकुमार नामका पुत्र था । एकदिन नवयौवन से सम्पन्न शिवकुमार अपने मित्रों के साथ वन विहार के लिये गया था । जब वहां से वापिस आ रहा था, तब गन्ध पुष्प आदि मङ्गल द्रव्य रूपी उत्तम पूजा की सामग्री के साथ लोगोंको आते देख उसे आश्चर्य उत्पन्न हुआ । उसने अपने बुद्धि सागर मन्त्री के पुत्र से पूछा कि यह क्या है ? मन्त्री ने कहा–कुमार ! सुनो, सागरदत्त नामके मुनिराज जो कि श्रुत केवली तथा दीप्त तपसे सुशोभित हैं एक मासके उपवास के बाद पारणा के लिये नगर में प्रविष्ट हुए थे । कामसमुद्र नामक सेठने विधिपूर्वक भक्तिसे दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये हैं । इससे जिन्हें कौतुक उत्पन्न हुआ है ऐसे नगर वासी लोग मनोहर नामक उद्यान में निवास करने वाले उक्त मुनिराज की पूजा कर वन्दना करने के लिये परम भक्ति से जा रहे हैं ।

वीतशोकपत्तने महापद्मो राजा तन्महादेवी वनमाला। तयोः सुनः शिवकुमारः नवयौवनसम्पन्नः सवयोभिर्वनं विहृत्य पुनरागच्छन् गन्धपुष्पादिमंगलद्रव्योत्तमपूजया सह जनानागच्छतो दृष्ट्वा समुत्पन्नविस्मयो [1]बुद्धिसागरमंत्रिणः पुत्रं किमेतदिति पप्रच्छ। स प्राह—कुमार! शृणु—सागरदत्तनामा मुनीन्द्रः श्रुतकेवली दीप्ततपोमण्डितो मासोपवासपारणार्थं पुरं प्रविष्ट। कामसमुद्रो नाम श्रेष्ठी विधिपूर्वकं भक्त्या दानं दत्वा पंचाश्चर्यं [2]प्राप तेनोत्पन्नकौतुकाः पौरास्तं मनोहरोद्यानवासिनं पूजयित्वा वन्दितुं परमभक्त्या यान्तीति। शिवकुमारः प्राह—अयं सागरदत्ताख्यां [3]मश्रुततां विविधर्द्धीश्च कथं प्राप। मंत्रिपुत्रोऽपि यथा श्रुतं तथा प्राह—पुष्कलावतीविषये पुण्डरीकिणी नगरी, तस्याः चक्री वज्रदत्तः। तस्य महादेवी यशोधरा गर्भिणी समुत्पन्नदोहदा। सा सीतासागरसंगमे महाविभूत्या गत्वा महाद्वारेण समुद्रं प्रविष्टा। जलकेलीविधाने जलजानना आसन्ननिर्वृतिं पुत्रं प्राप। तेन हेतुनास्य [4]स्वजनाभवः सागरदत्ताख्यां चक्रुः। अथ

शिवकुमारने कहा कि इन मुनिराज ने सागरदत्तनामक, श्रुत केवली अवस्था तथा अनेक ऋद्धियों को किस कारण प्राप्त किया? मन्त्रि पुत्र ने भी जैसा सुन रक्खा था वैसा कहना प्रारम्भ किया—

पुष्कलावती देश में पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है उसके राजा का नाम चक्रवर्ती वज्रदत्त था उसकी स्त्री का नाम यशोधरा था जब वह गर्भिणी हुई तो उसे दोहला उत्पन्न हुआ। दोहला की पूर्ति के लिये वह जहां सीता नदी समुद्र में मिलती है वहां बड़े वैभव के साथ गई और महाद्वार से समुद्रमें प्रविष्ट हुई। जल—क्रीडा के समय ही उस कमल मुखी ने निकट मोक्षगामी पुत्रको उत्पन्न किया इसी कारण इसके कुटुम्बी जनोंने इसका सागरदत्त नाम रक्खा। तदनन्तर एक बार तरुण सागर दत्त अपने परिवारके साथ महलकी छत पर बैठकर नाटक देख रहा था उसी समय अनुकूल नामक सेवक ने उससे कहा कुमार! तुम यह आश्चर्य देखो, मेरु पर्वत के आकार यह मेघ स्थित है। उस सुन्दर मेघ को देखनेके लिये ज्योंही वह ऊपर की ओर मुंह उठाकर देखने की चेष्टा करता है त्योंही वह मेघ तत्काल नष्ट होगया। सागर दत्त विचार करने लगा कि जिस प्रकार यह मेघविनश्वर है उसी प्रकार यौवन, धन, शरीर जीवन तथा अन्य समस्त पदार्थ विनश्वर हैं। इस प्रकार विचार कर वह वैराग्य को प्राप्त होगया दूसरे दिन वह मनोहर नामक उद्यान में धर्म तीर्थ के नायक अमृत सागर नामक तीर्थंकर को वन्दना करने के लिये अपने पिता वज्रदत्त के साथ गया। वहां धर्मका श्रवण कर इसने सर्व स्थिति का निश्चय

१—बुद्धिसागर पुत्रं क०। २—प्राप्य म०। ३—सश्रुतां म० क०। ४—गोत्रिणः।

सागरदत्तः परिप्राप्तयौवनः स्वपरिवारमण्डितो हर्म्यतले स्थितो नाटकं पश्यन्ननुकूलाख्यनाम्ना चेटकेनोक्तः। हे कुमार! त्वमाश्चर्यं पश्य मेर्वाकारोऽयं मेघस्तिष्ठति। तं मेघं लोचनप्रियं सन्मुखो निरीक्षितुमैहिष्ट। स मेघस्तत्काल एव नष्टः। सागरदत्तश्चिन्तयामास यौवनं धनं शरीरं जीवितमन्यच्च सर्वं वस्तु विनश्वरं वर्तते यथायं मेघ इति निर्वेगं गतः। अपरेद्युर्मनोहरोद्याने धर्मतीर्थनायकममृतसागरं नाम तीर्थंकरं वज्रदत्तेन निजवप्त्रा सह वन्दितुमितः। तत्र धर्मं श्रुत्वा निश्चितसर्वस्थितिः सर्वबन्धुविसर्जनं कृत्वा बहुभी राजभिः समं संयमं जग्राह। मनःपर्ययर्द्धिसम्पदं प्राप्य धर्मोपदेशेन देशान् विहृत्यात्र वीतशोकपुरमागतः। इति मंत्रिपुत्रवचनानि श्रुत्वा शिवकुमारः प्रीतमनाः स्वयं च गत्वा मुनिवरं स्तुत्वा धर्मामृतं ततः पीत्वा जगाद भगवन्! भवन्तं दृष्ट्वा मम महान् स्नेहः संजातः। तत्र कः प्रत्यय इत्यपृच्छत्। भगवान् सागरदत्तः प्राह अत्र जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे मगधदेशे वृद्धग्रामे राष्ट्रकूटो नाम वणिक्। तस्य भार्या रेवती। तयोर्द्वौ पुत्रौ भगदत्तभवदेवौ। तयोर्मध्ये भगदत्तः सुस्थितनामगुरुं नत्वा दीक्षां जग्राह। विनयान्वितो गुरुणा सह नानादेशान् विहृत्य स्वजन्मग्राममाजगाम। तदा तद्बान्धवाः सर्वेऽपि हर्षमाणाः समेत्य मुनिं सुस्थितं प्रदक्षिणीकृत्य संपूज्य चागन्तुमुद्यताः। तत्रैव ग्रामे दुर्मर्षणो नाम गृहपतिः। तस्य नागवसुर्भार्या। तयोः

किया तथा समस्त बन्धु जनोंको विदा कर बहुत से राजाओं के साथ संयम ग्रहण कर लिया। मनःपर्यय ऋद्धि रूपी संपत्तिको प्राप्त कर धर्मोपदेश द्वारा अनेक देशों में विहार कर वे यहां वीतशोक नगरमें पधारे हैं। इस प्रकार मन्त्रि पुत्रके वचन सुनकर शिवकुमार बहुत प्रसन्न हुआ और स्वयं जाकर मुनिराज की स्तुति कर तथा उनसे धर्मामृत का पान कर कहने लगा भगवन्! आपके दर्शन कर मुझे बड़ा हर्ष हुआ है इसका क्या कारण है? भगवान् सागर दत्त कहने लगे—

इसी जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र सम्बन्धी मगधदेश के वृद्ध ग्राम में राष्ट्र कूट नामका एक वणिक् रहता था उसकी स्त्री का नाम रेवती था। उन दोनोंके भगदत्त और भवदत्त नामके दो पुत्र हुए। उनमें भगदत्त ने सुस्थित नामक गुरुको नमस्कार कर दीक्षा धारण करली। विनयी भगदत्त गुरुके साथ नाना देशों में विहार कर अपने जन्मके ग्राम आया। तब उसके सभी कुटुम्बी जनों ने हर्षित हो मिलकर सुस्थित नामक मुनिराज की प्रदक्षिणा देकर पूजा की। पूजा करने के बाद सब लोग वापिस आने को उद्यत हुए। उसी ग्राम में एक दुमर्षण नामका वैश्य रहता था। उसको नागवसु नामकी स्त्री थी। उन दोनों की नामश्री नामकी पुत्री थी। उन्होंने वह पुत्री भगदत्त के भाई भवदेव के लिये दी थी। भगदत्त का आगमन सुनकर भवदेव भी कुछ विकार करता हुआ वहां आया और भगदत्तको विनय-पूर्वक प्रणाम कर बैठ गया। भगदत्त ने आशीर्वाद दिया जिससे

पुत्री नागश्रीः । सा विधिपूर्वकं भवदेवाय ताभ्यां ददे । भगदत्त गमनं श्रुत्वा भवदेवोऽपि विकुर्वाणोऽत्रागत्य भगदत्तं विनयात्प्रणम्य तद्दत्ताशीर्वादेनाद्रितमनास्तस्थिवान् । भगदत्तो धर्मस्वरूपं संसारवैरूप्यं व्याख्याय गृहीतकर एकान्ते भ्रातः ! त्वया संयमो गृहीतव्य इत्याह । भवदेव—उवाच—नागश्रीमोचनं विधाय भवत उदितं करिष्यामि । भगदत्त उवाच—हे भ्रातः ! संसारे जायादिपाशबद्धो जीवः कथमात्महितं करोति परित्यज मोहमेतमिति । तदा भवदेव उत्तरमपश्यन् ज्येष्ठानुरोधेन दीक्षायां मतिं विदधौ । भगदत्तः स्वगुरु सुस्थितसमीपं तं नीत्वा संसारच्छेदनार्थं मोक्षीं दीक्षां मङ्क्षु ग्राहयांबभूव । सतां सौदर्यमीदृग्भवति । भवदेवो द्रव्यसंयमी भूत्वा गुरुभिः समं द्वादशवर्षाणि विहृत्यापरेद्युरेकाकी निजं वृद्धग्रामं गत्वा सुव्रतां

उसका मन आर्द्र हो गया। भगदत्त ने धर्म का स्वरूप और ससार की विरूपता का उपदेश देकर भवदत्त का हाथ एकान्त में पकड़ कर एकान्त में कहा—भाई ! तुझे संयम ग्रहण करना चाहिये। भवदेव ने कहा—नागश्री से छुट्टी लेकर आपका कहा करूंगा। भगदत्त ने कहा—हे भाई ! संसार में स्त्री आदिके जाल में बधा हुआ जीव आत्मा का हित कैसे कर सकता है ? इस मोह को छोडो। तब कोई उत्तर न देख भवदेव ने बड़े भाईके अनुरोध से दीक्षा लेनेका विचार कर लिया। भगदत्त ने उसे अपने गुरु सुस्थित मुनिराज के पास ले जाकर संसारका छेद करने के लिये शीघ्र ही मोक्ष की दीक्षा दिला दी सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषों का भाई-चारा ऐसा ही होता है भवदेव द्रव्यसयमी होकर गुरुओं के साथ बारह वर्ष तक विहार करता रहा। किसी समय वह अज्ञानी अकेला ही अपने वृद्धग्राम आया। वहां सुव्रता नाम की गणिनी को देखकर बोला—हे मातः ! क्या यहां कोई नागश्री नामकी स्त्री है ? वह उसके अभिप्रायको जानकर बोली हे मुने ! मैं नागश्री के वृत्तान्त को अच्छी तरह नहीं जानती। यह सुन कर भवदत्त मुनि उदासीनता को प्राप्त हो गया उसे संयम में दृढ करने के लिये सुव्रता नामकी गणिनी गुणवती आर्यिका का लक्ष्य कर एक कथा कहने लगी—

(१) एक सर्व समृद्ध नामका वैश्य था, उसकी दासीका एक लड़का था जो निरन्तर घिनावना रहता था तथा दारुक उसका नाम था। अपनी माता अर्थात् वैश्यकी स्त्रीने उससे कहा कि तुझे हमारे सेठका जूंठा भोजन खाना पड़ेगा हठ कर उससे कहा, खिला भी दिया। परन्तु दारुक ने उसे ग्लानि-वश उगल दिया। सेठानी ने उस वमन को कांसे के पात्रमें रखकर कपड़े से ढांक कर रख दिया। दारुक को पुनः भूख लगी तब उसने अपनी माता से भोजन मांगा। माता ने वमन से भरा वह ही कांसेका पात्र उसे दे दिया था। दारुक ने भूखसे पीड़ित होने पर भी अपने वमनको नहीं खाया। उस दारुक ने घिनावना

गणिनीं समीक्ष्य तां प्राह—हेऽम्ब ! [1]काचिन्मागश्रीर्नामा काचिदस्ति । सा तस्येङ्गितं ज्ञात्वा जगाद—मुने ! तदुदन्तमहं सम्यग्न वेदेति । तदौदासीन्यं प्राप्तं तं संयमे स्थिरीकर्तुं [2]गुणवत्यार्यिकां प्रति अर्थाख्यानकं जगाद । सर्वसमृद्धनामा वैश्यः, तद्दासीसुतोऽशुचिर्दारुकाभिधेयः स्वमात्रा प्रोचे—अस्मत्श्रेष्ठग् च्छिष्टभोजनं तु त्वयाऽशनीयमिति । निर्बन्धाद् भोजितः । स जुगुप्सया वान्तवान् । तत् कंसपात्रेण धृत्वाऽऽच्छाद्य धृतं । दारुकः पुनर्बुभुक्षुः स्वमातरं भोजनं ययाचे । तया तत्कंसपात्रं वान्तभृतमुपढौकितं । क्षुत्पीडितोऽपि स आत्मवान्तं न जग्राह । सोऽशुचिरपि चेत्तादृशस्तर्हि साधुः कथं त्यक्तमभीप्सतीति (१) । गुणवति ! पुनरेकमर्थाख्यानकं निजं मनो निश्चलं कृत्वा त्वं शृणु । नरपालनामा नरेन्द्र एकं श्वानं कुतूहलेन मृष्टान्नेन संपोष्य कनकाभरणभूषितं सदा वनक्रीडादौ सुवर्णरचितां शिबिकामारोप्यैव मन्दमतिस्तमपालयत् । एकदा शिबिकारूढः सन्मासुतो गच्छन बालविष्टामालोक्य तामालेढुमापपात । तद् दृष्ट्वा राजा लकुटीताडनेन तमपाचकार । तथा पुत्रि ! साधुः सर्वेषां पूजनीयः पूर्वत्यक्तं पुनर्वाञ्छन् पराभवं प्राप्नोति(२) । हे गुणवति ! पुनरेकां कथां शृणु-कश्चित्कोपि पथिकस्तद्वनान्तरं सुगन्धिफलपुष्पादिसेवया गुनस्तं तरुं त्यक्त्वा सन्मार्गं विहाय महाटवीसंकटे पतितः । तत्र जिघांसुकं चमूरं दृष्ट्वा ततो भीत्वा धावन्नेकस्मिन् भीमे कूपे बिभ्यत् पपात । तत्रय

होने पर भी जब अपना वमन नहीं खाया तब साधु अपनी छोड़ी वस्तुकी कैसे इच्छा कर सकता है ?

(२) हे गुणवति ! अपना मन निश्चल कर एक कथा और सुन । नरपाल नाम का एक राजा था उसने एक कुत्तेको मिठाई खिला खिला कर पाला था वह उसे सुवर्ण के आभूषणों से विभूषित कर सदा वन–क्रीडा आदिके समय सुवर्णनिर्मित पालकी में बैठाकर साथ ले जाता था । इस तरह वह मूर्ख राजा उस कुत्ते का पालन करता था । एक दिन पालकी पर चढ़ा कुत्ता जा रहा था तो बालक को विष्ठा देख उसे चाटनेके लिये कूद पडा । राजा ने यह देख उसे डंडे से पीट कर भगा दिया । हे पुत्रि ! इसी तरह सबका पूजनीय साधु यदि पहले छोडी हुई वस्तुको इच्छा करता है तो तिरस्कारको प्राप्त होता है

(३) हे गुणवति ! एक कथा और सुन । कहीं कोई एक पथिक किसी वनमें एक वृक्षके नीचे ठहरा था उसके सुगन्धित फल और फूल आदिका उपभोग करता हुआ रहता था । वह उस वृक्षको छोड आगे गया तो सन्मार्गको भूल सघन जंगलमें जा पडा । वहां एक चीता उसे खानेके लिये आया उसे देख भयभीत होता हुआ वह भागा और भागता

१–काचिन्मार्गश्रीर्नामा काचिदस्ति म० । क प्रतौ नामास्ति, काचित् पदं केनापि निःसारितम् ।
२–सुव्रता नामा गणिनी अर्थाख्यानकं गुणवतीं प्रति जगाद इति पूर्वापर संबन्धः (क० टी०)

पापाच्छीतादिभिर्दोषत्रयसंभवे वाग्दृष्टिश्रुतिगतिप्रभृतिहीनं सर्पादिबाध निकटं तस्मान्निर्गमनोपायमजानन्तं तं कोऽपि भिषग्वरो यदृच्छया गच्छन् दृष्ट्वा दयार्द्रचित्तः केनाप्युपायेन महादरान्निष्कास्य मंत्रौषधिप्रयोगेण विहितचरणप्रसारणं सूक्ष्मरूपमालोकनान्मीलितनेत्रं स्फुटाकर्णने विज्ञाननिजशक्तिकर्णयुगलं व्यक्त-वाक्प्रसरसंयुक्तजिह्वं स चकार। पुनः सर्वरमणीयं पुरं तन्मार्गदर्शनेन प्रस्थापयामास। निर्मलहृदयाः कस्योपकारं न विदध्युः। पुनः स विषयाक्तमतिः पथिकदुर्मतिः प्रकटीकृतदिग्भागमाहः प्राक्तनकूपकं सम्प्राप्य तस्मिन् पुनः पतितः तथा क्वचित्संसारे मिथ्यात्वादिकपंचाप्रव्याधयो दीप्त्युपागता जन्मकूपे क्षुधादाहार्त्या समज्जितं वीक्ष्य गुरुः सन्मतिवैद्यो दयालुत्वाद्धर्माख्यानोपायपण्डितस्तस्मान्निर्गमय्य जिनवाण्यौषधिनिषेवना (णा) त् सम्यक्त्वलोचनमुन्मील्य सम्यग्ज्ञानश्रुतियुगलमुद्घाट्य सद्वृत्तपादौ प्रसारितौ विधाय दयामयीं जिह्वां व्यक्तां विधाय विधिपूर्वं पंचप्रकारस्वाध्यायवचनानि तं वादयित्वा स्वर्गापवर्गयोर्मार्गं सुधीः सान्व-गमयत्। तत्र केचिद्दीर्घसंसाराः स्वपापोदयात् भ्रमरा इव सुगन्धिबन्धुरोद्भिन्नचम्पकसमीपवर्तिनस्ततस्तौ-

---

भागता एक भयंकर कुएमें जा पड़ा। वहां पापके कारण शीत आदि लगनेसे उसे त्रिदोष की बीमारी हो गई। उसकी बोलने देखने सुनने तथा चलने आदि की शक्ति नष्ट होगई, सर्प आदिकी बाधा उसके निकट हो थी, वह वहांसे निकलनेका उपाय भी नहीं जानता था, भाग्य-वश स्वेच्छासे कोई वैद्य वहांसे निकला, उसने उसे देखा, देखते ही उसका चित्त दयासे आर्द्र हो गया, अतः उसने किसी उपायसे उसे उस महा कूपसे निकाला तथा मन्त्र और औषधिक प्रयोगसे ठीक किया। चलने में उसके पैर पसरने लगे, सूक्ष्म रूपके देखने में उसके नेत्र खुल गये, अच्छी तरह सुनने में उसके दोनों कान अपनी शक्तिसे युक्त हो गये, तथा उसकी जिह्वा भी स्पष्ट वचन बोलने लगी। वैद्य ने उसे ठीक कर उसके सब सुन्दर नगरको उसका मार्ग दिखाकर रवाना कर दिया, सो ठीक ही है क्योंकि निर्मल हृदय वाले मनुष्य किसका उपकार नहीं करते ? परन्तु वह दुर्बुद्धि पथिक विषय आसक्त-चित्त हो दिग्भाग में मूढताको प्रगट करता हुआ उसी पहले कुए में जा पड़ा। उसी प्रकार कहीं संसार में मिथ्यात्व आदि पञ्च भयंकर बीमारियां प्रबलताको प्राप्त हो रही हैं और यह जीव संसाररूप कुए में पडा पडा क्षुधाकी दाहसे दुखी हो रहा है उसे देख सद्-बुद्धिके धारक गुरु रूपी वैद्य जो कि धर्मोपदेशरूपी उपायके जानने में निपुण हैं, दयालु होनेसे उसे उस संसार कूपसे बाहर निकलवाते हैं, जिनवाणी रूपी औषधिका सेवन कराकर उसके सम्यक्त्व रूपी लोचनको खोलते हैं, सम्यग्ज्ञान रूपी कानोंके युगलको खोलते हैं, सदा-चार रूपी पैरोंको पसारते हैं, दया रूपी जिह्वाको प्रगट करते हैं, विधिपूर्वक पांच प्रकारके स्वाध्याय के वचन उससे बुलवाते हैं, और यह सब कह कर बुद्धिमान् वैद्य उसे स्वर्ग तथा

गन्धपरिबोधरहिताः पार्श्वस्थाख्याः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसमीपवर्तनात्, क्रोधादिकषायस्पर्शादिविषय-लौकिकज्ञानचिकित्सादिकुज्ञानाः जिह्वायामष्टधा स्पर्शेषु च लम्पटा दुराशयाः कुशीलनामानः. निषिद्धेषु द्रव्येषु भावेषु च लोलुपाः संसक्ताह्वया, हीयमानज्ञानादिका अवमानसंज्ञाः, समाचारबहिर्भूता मृग-चर्यानामधेयका महामोहाननुवृत्या कृत्वा [1]आजवंजवागस्तदन्धकूपे पेतुर्निपतन्ति च (३) भवदेव इति श्रुत्वा सम्प्राप्तशान्तभावो बभूव। सुव्रता गणिनी सर्वार्यिकाप्रेसरी तद्विज्ञाय दारिद्र्योत्पादितदौस्थित्यां नागश्रियमानय्य तं दर्शयामास। भवदेवोऽपि तां दृष्ट्वा संसारस्थितिं स्मृत्वा धिगिति निन्दित्वा पुनः संयमं गृहीत्वाऽऽयुःप्रान्ते भ्रात्रा भगदत्तेन सह आराधनां शिश्राय। समाधिना मृत्वा माहेन्द्रकल्पे बलभद्रविमाने सामानिको देवः सप्तसागरोपमायुर्बभूव। अहं भगदत्तचरः सागरदत्तश्चक्रिसुतः संजातः। त्वं भवदेवचरः शिवकुमारोऽत्र बभूविथ। स इति श्रुत्वा संसाराद्विरक्तो दीक्षां गृहीतुमुद्युक्तो बभूव। वनमालया मात्रा महापद्मेन पित्रा च वारितो वीतशोकं नगरं प्रविश्य संजातसंवित् अप्रासुकाहारं नाहरिष्यामीति व्रतं

मोक्षके मार्गमें अच्छी तरह वाना करता है। उनमें कितने ही दीर्घससारी जीव अपने पापके उदयसे उन भ्रमरों के समान जो सुगन्धि से युक्त खिले हुए चम्पाके समीपवर्ती होकर उसकी सुगन्धिके ज्ञान से रहित हैं, पार्श्वस्थ नाम धराते हैं, क्योंकि वे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रक समीप में रहते हैं। कितने ही लोग क्रोधादि कषाय तथा स्पर्शादि विषयोंके लौकिक ज्ञान और औषध आदि के मिथ्याज्ञान से युक्त हो जिह्वा इन्द्रिय के तथा आठ प्रकार के स्पर्शोंके विषयमें लम्पट होकर कुशील नाम धराते हैं, इनका अभिप्राय खोटा रहता है। कितने ही लोग निषिद्ध द्रव्य और भावोंमें लुभाकर संसक्त कहलाने लगते है। कितने ही लोग जिनके ज्ञान आदिक निरन्तर घटे रहते हैं, अवसान नाम रखाते हैं और कितने ही समीचीन आचारसे बाह्य होकर मृगचर्या नाम पाते हुए महामोह के दूर न होनेके कारण ससार पतन के कारण अपराध को करते हैं तथा उसी अन्धकूप में पड़े हैं और वर्तमान में पड़ रहे हैं।

भवदेव इन सब कथाओं को सुनकर शान्तभाव को प्राप्त होगया। तदनन्तर समस्त आर्यिकाओं की प्रधान सुव्रता गणिनी ने दरिद्रता से जिसकी खराब दशा हो रही थी ऐसी नागश्री को बुलाकर दिखलाया। भवदेव भी उसे देखकर तथा संसारकी स्थितिका स्मरण कर धिक्कार देता हुआ अपनी निन्दा करने लगा। उसने पुनः संयम धारण किया और आयु के अन्तमें भाई भगदत्तके साथ आराधना का आश्रय लिया। समाधिसे मर कर वह

१–आजवंजवास्ताधकूपे म० ध.।

गृहीत्वा स्थितः । एतावर्तादीक्षां विना प्रासुकाहारः कुतः ? भूपस्तद्वार्तां श्रुत्वा प्राह—यः कोऽपि शिवकुमारं भोजयति तस्मै सम्प्रार्थितमहं दास्यामीति सभायां घोषयामास । तद्विज्ञाय सप्तस्थानसमाश्रयो दृढधर्मनामा श्रावकः समागत्य शिवकुमारं प्राह । अथ कानि तानि सप्तस्थानानीति चेत्—

सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा ॥ १ ॥

अथ दृढधर्मा किं प्राहेति चेत् ? हे कुमार ! तव ज्ञातयः तव शत्रवः पापस्य कारणं स्वपरघातका वर्तन्ते । तेन त्वं भावसंयममघातमकृत्वा तव प्रासुकाशन संपाद्य पर्युपासनमहं कुर्वे । बन्धुवियोगं विना संयमे प्रवृत्तिस्तवापि दुर्लभेति हितं वचनं जगाद च । सोऽपि तद्विदित्वा आचाम्लनिर्विकृतिरसरहितभोजनः

माहेन्द्र स्वर्ग में बलभद्र विमानमें सात सागरकी आयु वाला सामानिक जाति का देव हुआ मैं भगदत्तका जीव चक्रवर्तीका पुत्र सागरदत्त हुआ हूं और तू भवदेवका जीव शिवकुमार हुआ है । इस प्रकार सुनकर शिवकुमार संसारसे विरक्त हो दीक्षा लेने के लिये उद्यत हो गया । वनमाला माता और महापद्म पिता ने उसे दीक्षा लेने से मना किया तो वह वीतशोक नगरमें प्रवेश कर आत्म-ज्ञानसे युक्त हो यह नियम लेकर रहने लगा कि मैं अप्रासुक आहार नहीं करूंगा । इतनी दीक्षाके विना उसे प्रासुक आहार कैसे प्राप्त होता था ? इसका उत्तर यह है कि राजाने उस बातको सुन कर सभामें ऐसी घोषणा करा दी थी कि जो कोई शिवकुमारको आहार करावेगा मैं उसके लिये मन-चाही वस्तु दूंगा । यह जानकर सप्त स्थानोंके आश्रयभूत दृढधर्म नामक श्रावक ने आकर शिवकमार से कहा । वे सप्त स्थान कौन हैं यदि यह जानना चाहते हो तो उसका उत्तर इस प्रकार है—

सज्जाति—सज्जाति, सद्गृहस्थ, पारिव्रज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, उत्कृष्ट आर्हन्त्य पद और निर्वाण ये सात परम स्थान हैं ।

दृढधर्म श्रावक ने शिवकुमार से कहा था कि हे कुमार ! तुम्हारे घरके लोग तुम्हारे शत्रु हैं, पापके कारण हैं तथा स्वपरका घात करने वाले हैं । इसलिये तुम भाव संयमका घात किये बिना प्रवृत्ति करो अर्थात् संयम धारण करने का जैसा तुम्हारा भाव है उसके अनुसार प्रवृत्ति करो, मैं प्रासुक आहार देकर तुम्हारी सेवा करता हूं । घरके लोगोंको छोड़े बिना संयम में तुम्हारी भी प्रवृत्ति दुर्लभ है, इस प्रकारके हितकारी वचन कहे । शिवकुमार ने भी यह जान कर आचाम्ल, निर्विकृति तथा नीरस भोजन का नियम ले लिया । वह सुन्दर स्त्रियोंके पास रह कर भी सदा निर्विकार चित्त रहता था और स्त्रियोंके

सन् दिव्यस्त्रीसन्निधौ स्थित्वापि सदा वकाररहितमनाः स्त्रियस्तृणाय मन्यमानः खङ्गतीक्ष्णधारायां संवर्तमानो द्वादशसंवत्सरांस्तपः कृत्वा संन्यासं गृहीत्वा जीवितान्ते ब्रह्मेन्द्रनाम्नि कल्पे विद्युन्माली देहदीप्तिव्याप्तदिक्तटो देवो बभूव। विद्युन्मालिन एवाष्टदेव्योऽत्रागत्य जम्बूनाम्नः तत्र चतस्रो भार्याः पद्मकनकविनयरूपश्रियो भूत्वा निजभर्त्रा सह दीक्षित्वाऽच्युतकल्पं गत्वा स्त्रीलिंगच्युता देवा भूत्वा पश्चादत्रागत्य मोक्षं यास्यन्ति। सागरदत्तनामा स्वर्गं गत्वात्रागत्य निर्वाणं यास्यति। इति जम्बूस्वामिचरित्रं श्रुत्वा श्रेणिको जहर्ष।

इति श्रीभावप्राभृते शिवकुमारकथा समाप्ता।

अंगाइं दस य दुण्णि य चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं।
पढिओ अ भव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥५२॥

अङ्गानि दश च द्वे च चतुर्दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानम्।
पठितश्च भव्यसेनः न भावश्रमणत्वं प्राप्तः ॥

तृणके समान तुच्छ मानता हुआ खड्ग तीक्ष्ण धारा व्रतका लगातार बारह वर्ष तक पालन करता रहा। अन्त में संन्यास धारण कर ब्रह्मेन्द्र नामक स्वर्ग में शरीर की प्रभासे दिशाओं को व्याप्त करता हुआ विद्युन्माली नामका देव हुआ। विद्युन्माली देवकी जो आठ देवियां थीं उनमें चार देवियां जम्बूकुमार को पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री, और रूपश्री नामकी स्त्रियाँ होकर अपने पतिके साथ दीक्षा लेवेंगी और अच्युत स्वर्ग जाकर स्त्री लिङ्ग छेद देव होंगी पीछे यहां आकर मोक्ष जावेंगी। सागरदत्त नामक मुनि पहले स्वर्ग जावेगे फिर यहां आकर निर्वाण को प्राप्त होंगे।

इस प्रकार जम्बूस्वामीका चारित्र सुनकर राजा श्रेणिक हर्षित हुआ। इस तरह भाव प्राभृत में शिवकुमारकी कथा समाप्त हुई।

गाथार्थ—भव्यसेन मुनिने बारह अङ्ग तथा चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुतज्ञान को पढ़ा फिर भी वह भाव श्रमण अवस्था को प्राप्त नहीं हो सका॥ ५२ ॥

विशेषार्थ—भव्यसेन नामक मुनि, द्वादशाङ्ग तथा चतुर्दश पूर्व रूप सकल श्रुतका पाठी होने पर भी भाव-मुनि नहीं हो सका अर्थात् जैन सम्यक्त्व के विना अनन्त संसार का पात्र रहा। यहां भव्यसेन मुनि ने ग्यारह अङ्गोंको तो शब्द तथा अर्थ दोनों रूपसे पढ़ा,

अंगाइं दस दुण्णि य अंगानि दश च द्वे च अंगे। *चउदसपुव्वाइं* च दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानं। *पढिओ* अ पठितश्च। *भव्वसेणो* भव्यसेननामा मुनिः। *ण भावसवणत्तणं पत्तो* भावश्रमणत्वं न प्राप्तः। जैनसम्यक्त्वं विनाऽनन्तसंसारी बभूवेति भावार्थः। अत्र भव्यसेनो मुनिरेकादशाङ्गानि शब्दतोऽर्थतश्च पठितस्तद्बलेनैव द्वादशस्याङ्गस्य चतुर्दशपूर्वाणां चार्थपरिज्ञायकत्वात् श्री कुन्दकुन्दाचार्येण सकलश्रुतमधीतं प्रोक्तमिति ज्ञातव्यं सकलश्रुतेऽधीती संसारे न पततीत्यागमः। भव्यसेनस्य कथा यथा—विजयार्द्धगिरौ दक्षिणश्रेणौ मेघकूटपत्तने राजा चन्द्रप्रभः सुमतिमहादेवीकान्तश्चन्द्रशेखराय राज्यं दत्वा परोपकारार्थं जिनमुनिवन्दनाभक्त्यर्थं च काश्चन विद्यां दधानो दक्षिणमथुरामागत्य मुनिगुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जातः। स एकदा जिनमुनिवन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथुरां चलितः सन् श्रीमुनिगुप्तमाचार्यं पप्रच्छ किं कस्य

था और चौदह पूर्वों को वह अर्थ मात्रसे जानता था इसी दृष्टिसे कुन्दकुन्द स्वामी ने उसे सकल श्रुतका पाठी कह दिया है, ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि समस्त श्रुतको पढने वाला पुरुष संसारमें नहीं पड़ता, ऐसा आगमका वचन है। भव्यसेनकी कथा इस प्रकार है—

भव्यसेन की कथा

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणीमें मेघ-कूट पत्तन नामका नगर है उसमें सुमति महादेवीका पति चन्द्रप्रभ नामका राजा रहता था। वह चन्द्रशेखर नामक पुत्रके लिये राज्य देकर परोपकार के अर्थ तथा जिनदेव और जिन मुनियों की वन्दना एवं भक्तिके अभिप्राय से कुछ विद्याओंको धरता हुआ दक्षिण मथुरामें आकर मुनि गुप्ताचार्यके समीप क्षुल्लक हो गया। वह एक समय जिन मुनियोंकी वन्दना और भक्तिके लिये उत्तर मथुरा की ओर जाने लगे। चलते समय उन्होंने श्रीमुनि गुप्त आचार्यसे पूछा कि किससे क्या कहना है? गुप्तमुनिराज ने कहा कि सुव्रत मुनिके लिये नमोस्तु और महाराज वरुणकी महादेवी रेवतीसे धर्मवृद्धि कहना। इस तरह क्षुल्लकने तीन वार पूछा और मुनि ने तीन ही वार वही उत्तर दिया क्षुल्लक ने अपने मनमें विचार किया कि ग्यारह अङ्गके धारी भव्य-सेनाचार्य तथा अन्य मुनियोंका भगवान् नाम भी नहीं लेते हैं उसमें कुछ कारण अवश्य होना चाहिये ऐसा विचार कर वे चले गये। सुव्रत मुनिके लिये भगवान मुनि गुप्ताचार्य की वन्दना कह कर तथा उनका विशिष्ट वात्सल्य देखकर क्षुल्लक भव्यसेन की वसतिका को गये। वहां भव्यसेन ने उनके साथ संभाषण भी नहीं किया। क्षुल्लक कमण्डलु लेकर भव्यसेन के साथ बाह्यभूमि में गये और विक्रिया कर उन्होंने हरे कोमल तृणाकुरोंसे आच्छादित मार्ग दिखाया। उस मार्गको देखकर भव्यसेन आगम में ये जीव कहे जाते हैं, ऐसा कह आगममें अश्रद्धा करता हुआ तृणोंके ऊपर चलने लगा। जब भव्यसेन शौचके

कथ्यत इति। गुप्त उवाच—सुव्रतमुनेर्नमोऽस्तु वरुणमहाराजमहादेव्या रेवत्या धर्मवृद्धिरिति वक्तव्यं त्वया। एवं त्रीन् वारान् पृष्टो मुनिस्तदेवोवाच क्षुल्लकः स्वगतं एकादशाङ्गधारिणो भव्यसेनाचार्यस्यान्येषां च नामापि भगवान् नादत्त तत्र प्रत्ययेन भवितव्यमिति विचार्य तत्र गतः। सुव्रतमुनेर्भट्टारकीयां वन्दनां कथयित्वा तदीयं विशिष्टं वात्सल्यं च दृष्ट्वा भव्यसेनवसतिं जगाम। तत्र भव्यसेनेन संभाषणमपि न कृतं। कुण्डिकां गृहीत्वा भव्यसेनेन सह बहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणां कृत्वा हरितकोमलतृणांकुरच्छन्नो मार्गो दर्शितः। तं मार्गं दृष्ट्वा भव्यसेन आगमे किलैते जीवाः कथ्यन्ते इति भणित्वा आगमेऽरुचिं कृत्वा तृणानामुपरि गतः। शौचसमये कुण्डिकाजलं शोषयित्वा क्षुल्लक उवाच—भगवन्! कुण्डिकायामुदकं नास्ति तथा विकुर्वणी इचेष्टिकादिकाः क्वापि नाहमीक्षे। अतोऽत्र निर्मलसरोवरे मृत्स्नया शौचं कुरु ततस्तत्रापि तथैव भणित्वा शौचं चकार। ततस्तं मिथ्यादृष्टिं द्रव्यलिंगिनं ज्ञात्वा भव्यसेनस्य अभव्यसेनोऽयमिति नामान्तरं चकार। ततोऽन्यदिने पूर्वस्यां दिशि पद्मासनस्थं चतुर्वक्त्रमुपवीतदर्भमुंजीदण्डकमण्डलुप्रभृतिसहितं देवदानववन्द्यमानं ब्रह्मरूपं दर्शयामास। तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च गताः। रेवती काऽयं ब्रह्मनाम देव इति भणित्वा लोकैः प्रेरितापि तत्र न गता। अन्यस्मिन् दक्षिणस्यां दिशि गरुडारूढं चतुर्भुजं चक्रशंख-

---

लिये गया तब क्षुल्लक ने कमण्डलुका जल सुखा कर कहा—भगवन्! कमण्डलु में पानी नहीं है तथा पासमें कहीं ईंट आदि पदार्थ भी नहीं देख रहा हूं अतः इस निर्मल सरोवर में मिट्टीसे शुद्धि कर लीजिये। तदनन्तर वहां भी उसने 'तथास्तु' कह, कर शुद्धि कर ली इन सब घटनाओंसे क्षुल्लकने द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि जानकर भव्यसेनका 'यह तो अभव्यसेन है' इस प्रकार दूसरा नाम रख दिया। तदनन्तर किसी दिन उस क्षुल्लक ने पूर्व दिशा में ब्रह्माका रूप दिखाया। उस समय वह पद्मासन से बैठा था, चारों दिशाओंमें उसके चार मुख दिखाई देते थे, यज्ञोपवीत दर्भ, मूंज, दण्ड, तथा कमण्डलु आदिसे सहित था, और देव दानवोंके द्वारा वन्दनीय था। राजा आदि तथा भव्यसेन आदि सब लोग वहां गये। परन्तु रेवती रानी 'यह ब्रह्मा नामका कौन देव है, ऐसा कहकर लोगोंके द्वारा प्रेरित होने पर भी नहीं गई। दूसरे दिन क्षुल्लकने दक्षिणमें नारायणका रूप दिखाया। वह नारायण गरुड पर बैठा था, उसके चार भुजाएं थीं और चक्र, शङ्ख तथा, गदा आदिका धारक था। इसी प्रकार एक दिन पश्चिम दिशामें वृषभ पर बैठे, अर्धचन्द्र, जटाजूट पार्वती तथा गणों सहित शङ्कर का रूप दिखाया तथा एक दिन उत्तर दिशा में समवसरण के बीच आठ प्रातिहार्यों से सहित, सुर, नर, विद्याधर और मुनियोंके समूह से वन्दनीय पद्मासन से स्थित तीर्थंकर का रूप दिखाया। वहां भी सब लोग गये परन्तु रेवती रानी लोगोंके द्वारा प्रेरित होने पर भी नहीं गई। वह यह सोच कर अपने घर स्थित रही कि नारायण नौ ही होते है, रुद्र ग्यारह ही होते हैं, और तीर्थंकर चौबीस ही जिनागम में

गदादिधारकं वासुदेवरूपं दर्शयामास। पश्चिमदिशि वृषभारूढं सार्धचन्द्रजटाजूटगौरीगणोपेतं शंकररूपं, उत्तरस्यां दिशि समवसरणमध्ये प्रातिहार्याष्टकसहितं सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दवन्द्यमानं पर्यंकस्थं तीर्थंकररूपं दर्शयति स्म। तत्र सर्वे लोका गच्छन्ति स्म। रेवती तु लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता। नवैव वासुदेवाः, एकादशैव रुद्राः, चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकरा जिनागमे प्रतिपादिताःसन्ति ते तु सर्वेऽप्यतीताः। कोऽप्ययं मायावी वर्तते इति विचिन्त्य स्थिता। ब्रह्मा तु कोऽपि नास्ति। उक्तं च—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य।
ब्रह्मेति गीः प्रगीता न चापरा विद्यते ब्रह्मा ॥ १ ॥

अन्यस्मिन् दिने चर्यावेलायां व्याधिपीडितक्षुल्लकरूपेण रेवतीगृहसमीपप्रतोलीमार्गे मायामूर्च्छया पतितः। रेवती तदाकर्ण्य भक्त्योत्थाप्य नीत्वोपचारं कृत्वा पथ्यं विधापयितुमारेभे स च सर्वमाहारं भुक्त्वा दुर्गन्धवमनं चकार तदपनीय हा! विरूपकं पथ्यं मया दत्तमिति रेवतीवचनमाकर्ण्य प्रतोषान्मायामुपसंहृत्य तां देवीं वन्दित्वा गुरोराशीर्वादं पूर्ववृत्तान्तं च कथयित्वा लोकमध्ये तस्या अमूढदृष्टिमुच्चैः प्रशस्य स्वस्थानं चन्द्रप्रभो जगाम। वरुणमहाराजस्तु शिवकीर्तये निजपुत्राय राज्यं दत्त्वा दीक्षामादाय माहेन्द्रकल्पे देवो बभूव। रेवती तु तपः कृत्वा ब्रह्मकल्पे देवो बभूव।

इति श्री भावप्राभृते भव्यसेनमुनिकथा समाप्ता

बतलाये गये हैं तथा वे सब हो चुके हैं यह कोई मायावी है। और ब्रह्मा नामका कोई देवता तो है ही नहीं क्योंकि कहा है—

आत्मनि—ब्रह्मा इस प्रकार का शब्द आत्मामें, ज्ञान में, चारित्रमें तथा भरत के पिता भगवान वृषभदेव में प्रसिद्ध है और कोई दूसरा नहीं है।

दूसरे दिन वह क्षुल्लक चर्याके समय एक बीमार क्षुल्लक के वेषमें रेवती के घर के समीप निकला और गोपुरके मार्गमें माया-मयी मूर्च्छासे गिर पड़ा। यह सुन रेवती रानी भक्ति से दौड़ीगई और उठाकर तथा सेवा सुश्रूषा कर पथ्य कराने के लिये तत्पर हुई। क्षुल्लक ने सब प्रकार का आहार कर दुर्गन्धित वमन कर दिया। उस वमनको दूर कर रेवती कहने लगी हाय! मुझसे कोई अयोग्य पथ्य दिया गया है। रेवती के वचन सुन संतोषसे मायाको संकोच कर चन्द्रप्रभ क्षुल्लक ने देवीका वन्दना की तथा गुरुका आशीर्वाद और पूर्व वृत्तान्त कह कर लोगोंके मध्य उसके अमूढदृष्ट अङ्ग को खूब प्रशंसा की। तदनन्तर वह अपने स्थान पर चला गया वरुण महाराज शिवकीर्ति नामक निज पुत्रके लिये राज्य देकर दीक्षा धारण कर महेन्द्र स्वर्ग में देव हुए और रेवती रानी तप कर ब्रह्मस्वर्ग में देव हुई।

इस प्रकार श्री भावप्राभृत में भव्यसेन मुनिकी कथा समाप्त हुई।

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुड जाओ ॥५३॥

तुषमाषं घोषयन् भावविशुद्धो महानुभावश्च ।
नाम्ना च शिवभूतिः केवलज्ञानी स्फुटं जातः ॥

तुसमासं घोसंतो तुषमाषशब्दं घोषयन् पुनः पुनरुच्चारयन् मा विस्मृतिं यासीदिति कारणात् । *भावविसुद्धो* भावविशुद्धः । *महानुभावो य* महानुभावश्च महाप्रभावयुक्तश्च । *णामेणयसिवभूई* नाम्ना च शिवभूतिः चकारादर्थेन च शिवभूतिः शिवानां सिद्धानां भूतिरैश्वर्यं अनन्तचतुष्टयलक्षणं त्रैलोक्यनायकत्वं यस्य स भवति शिवभूतिः । *केवलणाणी फुडं जाओ* केवलज्ञानी केवलज्ञानवान् लोकप्रकाशकपंचमज्ञानवान् स्फुटं शक्रादिदेवैः प्रकटीकृतघातिक्षयजातिशयदशकः सर्वप्रसिद्धः संजात इति । अस्य कथा यथा—कश्चिच्छिवभूतिनामासन्नभव्यजीवः परमवैराग्यवान् कस्यचिद्गुरोः पादमूले दीक्षां गृहीत्वा महातपश्चरणं

गाथार्थ—भावसे विशुद्ध शिवभूति मुनि, तुषमाष शब्द का बार बार उच्चारण करते हुए महा प्रभावके धारक केवल-ज्ञानी हो गये, यह सर्व प्रकट है ॥ ५३ ॥

विशेषार्थ—भूल न जाऊं इस भावना से तुषमाष शब्द का बार बार उच्चारण करते, भाव से विशुद्ध और महा प्रभावसे युक्त शिवभूति नामक मुनि केवल ज्ञानी हो गये लोकालोक को प्रकाशित करने वाले पञ्चम ज्ञानसे युक्त हो गये, यह सर्व प्रकट है । इन्द्रादिदेवोंने घातिया कर्मोंके क्षयसे होने वाले उनके दश अतिशय प्रकट किये । इस तरह वे सर्व प्रसिद्ध हो गये । गाथा में णामेण य (नाम्ना च) यहां नाम के साथ च शब्दका भी प्रयोग हुआ है उससे यह सिद्ध होता है कि वे मुनि नामसे ही शिवभूति नहीं किन्तु अर्थ से भी शिवभूति थे । शिव अर्थात् सिद्धोंकी भूति अर्थात् अनन्त चतुष्टय रूप अथवा त्रैलोक्याधिपति रूप ऐश्वर्य जिनके पास है वे शिवभूति कहलाते थे । यह शिवभूति शब्दको सार्थकता है । इनकी कथा इस प्रकार है—

शिवभूति मुनि की कथा

कोई एक शिवभूति नाम के अत्यन्त निकट—भव्य जीव थे । परम वैराग्य से युक्त होकर उन्होंने किसी गुरुके पादमूल में दीक्षा ले ली और घोर तपश्चरण करने लगे । वे शास्त्रके सिर्फ 'तुषमाष भिन्न' इन छह अक्षरोंको जानते थे । इससे अधिक कुछ भी पाण्डित्य उनमें नहीं था । वे आत्माको शरीर तथा कर्मोंके समूहसे भिन्न जानते थे । उन्हें आगमका बहु वाक्य नहीं आता था, मात्र गुरुके द्वारा कहे हुए इस दृष्टान्त को कि

करोति षट् प्रवचनमात्रामात्रं जानाति परं वैदुष्यं किमपि तस्य नास्ति। आत्मानं शरीरकर्मचयाद् भिन्नं जानाति। तद्ग्रन्थं नायाति गुरुणा प्रोक्तं दृष्टान्तं पुनः पुनरुच्चारयति तुषान्माषो भिन्न इति यथा तथा शरीरादात्मा भिन्न इति। तं शब्दं घोषयन्नपि कदाचिद्विस्मृतवान्। अर्थं जानन्नपि शब्दं न जानाति। एकाकी विहरति च। शब्दविस्मरणक्लेशावर्तो कांचिद्युवतिं वटकादिकपचनार्थं माषान् सूपीकृतान् जलमध्ये स्नावितांस्तुषेभ्यो भिन्नान् कुर्वन्तीं दृष्ट्वा पृष्टवान् किं कुरुषे भवति! इति। सा प्राह—तुषमाषान् भिन्नान् करोमि। स आह—मया प्राप्तमिति कचिद्गतः। तावन्मात्रद्रव्यभावश्रुतेनात्मन्यतिलीनो भावं प्राप्तोऽन्तर्मुहूर्तेन केवलज्ञानं प्राप्य नवकेवललब्धिमान् देशान् विहृत्य भव्यजीवानां मोक्षमार्गं प्रदर्श्य मोक्षं गत इति।

इति श्रीभावप्राभृते शिवभूतिमुन्युपाख्यानं समाप्तं।

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥५४॥

भावेन भवति नग्नः बहिर्लिंगेन किं च नग्नेन।
कर्मप्रकृतीनां निकरं नश्यति भावेन द्रव्येण ॥

जिस प्रकार तुष से माष उड़द भिन्न है, उसी प्रकार शरीर से आत्मा भिन्न है, बार बार उच्चारण कर पक्का करते रहते थे। उस शब्दके उच्चारण करते रहने पर भी वे कदाचित् उसे भूल गये। अब वे अर्थको तो जानते थे परन्तु शब्द नहीं जानते थे। अकेले ही विहार करते थे इसलिये (किसी से पूछनेका अवसर भी नहीं मिलता था)। शब्द के भूल जानेका क्लेश उन्हें बार बार उठाना पड़ता था। उन्होंने एक बार किसी स्त्रीको बड़े आदि बनानेके लिये दाल रूप परिणत उड़दोंको पानीके मध्य डुबाकर तुषोंसे पृथक् करती हुई देखा और देखकर पूछा कि आप यह क्या कर रही हैं? उस स्त्री ने उत्तर दिया कि मैं तुषों और उड़दोंको अलग अलग कर रही हूं। मुनि बोले कि मैंने 'पा लिया'। इतना कह कर वे कहीं चले गये। उतने मात्र द्रव्य और भाव श्रुतज्ञानके द्वारा वे आत्मा में इतनी तल्लीनता को प्राप्त हुए कि अन्तर्मूहूर्तमें केवलज्ञान को प्राप्त कर नौ केवल लब्धियों से युक्त हो गये तथा देशों में विहार कर भव्य जीवोंको मोक्षमार्ग दिखलाते हुए मोक्ष गये।

इस प्रकार श्री भावप्राभृत में शिवभूति मुनिकी कथा समाप्त हुई।

गाथार्थ—भावसे नग्न होता है बाह्य लिङ्ग रूप नग्न वेषसे क्या साध्य है? अर्थात् कुछ नहीं भावसहित द्रव्यलिङ्गके द्वारा ही कर्मप्रकृतियोंका समूह नष्ट होता है ॥५४॥

विशेषार्थ—भाव अर्थात् जिन सम्यक्त्व से ही निर्ग्रन्थ रूप प्राप्त होता है। पशुओंके

भावेण जिनराजसम्यक्त्वेन। *होइ णग्गो* भवति नग्नो निर्ग्रन्थस्वरूपः। *बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण* बहिर्लिंगेन किं च बाह्यनग्नतया न किमपि मोक्षलक्षणं कार्यं सिद्धयति पशूनामिव। *कम्मपयडीण णियरं* कर्मप्रकृतीनां निकरं समूहः अष्टचत्वारिंशदधिकशत-संख्यानां वृन्दं *णासइ भावेण दव्वेण* नश्यति भावेन द्रव्येण चेति। ये मिथ्यादृष्टयो गृहस्था अपि सन्तोऽस्माकं भावो विद्यते इति वदन्ति स्त्रीभिः सह ब्रह्मचर्यं च भजन्ति ते लौकाः चार्वाकसदृशा नास्तिकास्तन्मतनिरासार्थमिदं वचनमुक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-स्वामिभिः "णासइ भावेण दव्वेण" भावेण—कर्मक्षयो भवति भावपूर्वकद्रव्यलिंगेन गृहीतेन द्वाभ्यां भाव-द्रव्यलिंगाभ्यां कर्मप्रकृतिनिकरो नश्यति न त्वेकेन भावमात्रेण द्रव्यमात्रेण वा कर्मक्षयो भवति। इति व्याख्यानबलेन ते नास्तिका पूर्ववच्छिक्षणीया इति भावार्थः।

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।

इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥ ५५ ॥

नग्नत्वं अकार्यं भावरहितं जिनैः प्रज्ञप्तम्।

इति ज्ञात्वा च नित्यं भावयेः आत्मानं धीर ॥

समान केवल बाह्य-लिङ्ग रूप नग्न मुद्रा धारण करनेसे मोक्षरूप कार्य सिद्ध नहीं होता कर्मोंकी एकसौ अड़तालीस प्रकृतियोंका समूह भाव और द्रव्य दोनों लिङ्गोंके धारण करने से ही नष्ट होता है। जो मिथ्यादृष्टि गृहस्थ होते हुए भी कहते हैं कि हमारे मुनिका भाव विद्यमान है, तथा स्त्रियोंके साथ रहते हुए ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं वे लौंक लोग चार्वाकों के समान नास्तिक हैं उनके मतका निराकरण करनेके लिये श्रीकुन्दकुन्दाचार्य स्वामी ने यह वचन कहा है 'णासइ भावेण दव्वेण' अर्थात् भावपूर्वक द्रव्यलिङ्ग के ग्रहण करने में ही कर्म प्रकृतियों का समूह नष्ट होता है, केवल भावसे अथवा केवल द्रव्यसे नष्ट नहीं होता। इस व्याख्या के बलसे वे नास्तिक पहले की तरह शिक्षा देने योग्य हैं ॥५४॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान ने भाव रहित नग्नत्वको अकार्य—कार्य-रहित कहा है ऐसा जान कर हे धीर पुरुष! निरन्तर आत्मा की भावना करना चाहिये ॥ ५५ ॥

विशेषार्थ—पञ्चपरमेष्ठियोंकी बाह्य भावना से रहित तथा शुद्ध-बुद्ध—वीतराग सर्वज्ञता रूप एक स्वभावसे युक्त निज आत्माकी अन्तरङ्ग भावनासे रहित जो नग्नता है अर्थात् सर्व बाह्य परिग्रह से रहित अवस्था है वह सब कर्म क्षय रूप मोक्ष कार्यसे रहित है। ऐसा तीर्थंकर परम देवने, अनगार केवलियों ने अथवा गणधर देवों ने कहा है। ऐसा

१—लौका क०।

णग्गत्तणं अकज्जं नग्नत्वं सर्वबाह्यपरिग्रहरहितत्वं अकार्यं सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षकार्यरहितं। कथंभूतं नग्नत्वं, *भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं* भावनारहितं पंचपरमेष्ठिबाह्यभावनारहितं निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मान्तरङ्गभावनारहितं च जिनैस्तीर्थंकरपरमदेवैरनगारकेवलिभिर्गणधरदेवैश्च प्रज्ञप्तं प्रणीतं प्रतिपादितं कथितं भणितमिति यावत्। *इय णाऊण य णिच्चं* इति ज्ञात्वा विज्ञाय नित्यं सर्वकालं। *भाविज्जहि अप्पयं धीर* भावयेस्त्वं आत्मानं बहिस्तत्वं च हे धीर! योगीश्वर! इति सम्बोधनपदेन ध्येयं प्रति धियमीरन्ति प्रेरयन्ति इति धीरा योगीश्वरा एव ग्राह्या न तु गृहस्थवेषधारिणः [1]पापिष्ठलोकाः गृहस्थानां सम्यक्त्वपूर्वकमणुव्रतेषु दानपूजादिलक्षणेषु गुरूणां [2]वैयावृत्यफलेषु नियोगो ज्ञातव्य इति। तथा चोक्तं लक्ष्मीचन्द्रेण गुरुणा—

[3]विज्जावच्चें विरहियहं वय णियरो वि ण ठाइ।
सुक्क सरहु किह हंस कुलु जंतउ धरणहं जाइ॥

तं भावलिंगं केरिसं हवदि तं जहा—

तद्भावलिंगं कीदृशं भवति तद्यथा—तदेव निरूपयन्ति भगवन्तः—

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू॥ ५६॥

जानकर हे धीर! हे योगीश्वर! तू आत्मा तथा बाह्य तत्वकी भावना कर। यहां आचार्य महाराज ने जो 'धीर' यह सम्बोधन पद दिया है उससे ध्येय के प्रति बुद्धिको प्रेरित करने वाले मुनियोंका ही ग्रहण करना चाहिये। गृहस्थ वेषको धारण करने वाले पापी लौकों का नहीं। दान पूजा आदि जिनके लक्षण हैं तथा गुरुओं की वैयावृत्य जिनका फल है ऐसे सम्यक्त्व-पूर्वक अणुव्रत धारण करना गृहस्थों का कार्य जानना चाहिये। जैसा कि लक्ष्मीचन्द्र गुरुने कहा है—

वैयावच्चें—जो पुरुष वैयावृत्य से रहित हैं उनके व्रतोंका समूह नहीं ठहरता, सो ठीक ही है क्योंकि सूखे सरोवरसे जाता हुआ हसोंका कुल किस प्रकार रोका जासकता है?

वह भावलिङ्ग कैसा होता है? यही श्री कुन्दकुन्द भगवान निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—जो शरीर आदि परिग्रह से रहित है, मान कषायसे पूर्णतया निर्मुक्त है, तथा जिसकी आत्मा आत्मस्वरूपमें लीन है वह साधु भावलिङ्गी होता है॥ ५६॥

विशेषार्थ—देह शरीरको कहते हैं उसे आदि लेकर पुस्तक कमण्डलु पिच्छी पटट

१—लोकाः क०। २—वैयावृत्यसकालेषु म०। ३—सावय धम्म दोहा।

देहादिसंगरहितः मानकषायैः सकलपरित्यक्तः।
आत्मा आत्मनि रतः स भावलिङ्गी भवेत् साधुः॥

देहादिसंगरहिओ देहः शरीरं स आदिर्येषां पुस्तककमण्डलुपिच्छपट्टशिष्यशिष्याछात्रादीनां कर्म-नोकर्मद्रव्यकर्मभावकर्मादीनां सगानां चेतनाचेतनबहिरंगाभ्यन्तरंगपरिग्रहाणां ते देहादिसंगा। अथवाऽऽगम-भाषया—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं। हिरण्यं च सुवर्णं च कुप्यं भांडं बहिर्दश॥ १॥

मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट् कषायचतुष्टयं। रागद्वेषौ च संगाऽस्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश॥ २॥

इति श्लोकद्वयकथितक्रमेण चतुर्विंशतिपरिग्रहास्तेभ्यो रहितो देहादिसंगरहितः। *माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो* मानकषायैः सकलपरित्यक्तः मनोवचनकायैः रहितः। *अप्पा अप्पम्मि रओ* आत्मा आत्मनि रतः। य एवं विधः स *भावलिंगी हवे साहू* स साधुर्भावलिंगी भवेत्।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे॥ ५७॥

शिष्य, शिष्या तथा छात्र आदि, अथवा कर्म, नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म आदि अथवा चेतन अचेतन बहिरङ्ग परिग्रह ये सब देहादिसंग कहलाते हैं। अथवा आगमकी भाषासे—

क्षेत्रं वास्तु—खेत, मकान, धन, धान्य, द्विपद—दासी दास, चतुष्पद—गाय भैंस घोड़े आदि पशु, चांदी, सुवर्ण, वस्त्र तथा वर्तन ये दश बाह्य परिग्रह हैं।

मिथ्यात्व—मिथ्यात्व, वेद, हास्यादि ६ नोकषाय, चार कषाय, राग और द्वेष ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं।

जो मुनि पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में कहे गये चौबीस प्रकार के परिग्रहसे दूर रहता है उसे देहादि संग–रहित बतलाया गया है। इसके सिवाय जो सब प्रकारके मान कषायों से मुक्त हो तथा जिसकी आत्मा आत्मा में ही लीन रही है, वह साधु भावलिङ्गी कहा जाता है।

[यहां अन्य परिग्रहोंके त्यागके साथ शरीर के त्यागका भी उल्लेख किया है सो शरीर वस्त्र आदिके समान सर्वथा भिन्न परिग्रह तो है नहीं तब इसका त्याग किस प्रकार हो सकता है। इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक है परन्तु उसका उत्तर यह है कि शरीरसे ममता भावका छोड़नाही शरीर रूप परिग्रहको त्यागना है।]

गाथार्थ—मैं निर्ममभाव को प्राप्त होकर ममता भावको छोड़ता हूं। अब चूंकि मेरा आलम्बन मेरा ही आत्मा है अतः अन्य समस्त भावोंको छोड़ता हूं॥ ५७॥

ममत्वं परिवर्जामि निर्ममत्वमुपस्थितः ।
आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषाणि व्युत्सृजामि ॥

ममत्ति परिवज्जामि ममत्वं ममतां ममेदमहमस्येति भावं परिवर्जामि परिहरामि । *णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो* निर्ममत्वमिति भावमुपस्थित आश्रितः । *आलंबणं च मे आदा* यद्येवं ममत्वं परिहरसि निषेधं करोषि तर्हि कं विधिं श्रयसि "एकस्य निषेधोऽपरस्य विधिः" इति वचनात् इयमत्रति पृष्टे उत्तरं ददाति आलम्बनं चाश्रयो मे मम आदा आत्मा निजशुद्धबुद्धैकजीवपदार्थ इति विधिः । *अवसेसाइं वोसरे* अवशेषाणि आत्मन उद्धरितानि रागद्वेषमोहादीनि व्युत्सृजामि परिहरामि

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चारित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ ५८ ॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥

विशेषार्थ—'यह मेरा है और मैं इसका हूं' इस प्रकार के भावको ममत्व कहते हैं। मैं इस ममत्व भावको छोड़ता हूं और निर्ममत्व भावको प्राप्त होता हूं यदि इस प्रकार ममत्व भावको छोड़ते हो अर्थात् इसका निषेध करते हो तो फिर किस विधिका आश्रय लेते हो क्योंकि 'एक का निषेध होता है और दूसरे की विधि होती है, ऐसा आगम का वचन है ? अतः यहां विधि और निषेध दोनों का समन्वय क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि मेरा आलम्बन मेरा शुद्ध बुद्ध स्वभाव वाला आत्मा है अर्थात् यह विधि हुई और आत्मा से अतिरिक्त रागद्वेष मोह आदिको छोड़ता हूं, यह निषेध हुआ। परम भेद-विज्ञान के द्वारा यहां निज शुद्ध बुद्ध आत्मा को उपादेय तथा रागादि विकार भावोंको हेय बतलाया है ॥५७॥

गाथार्थ—निश्चय से मेरे ज्ञानमें आत्मा है, सम्यग्दर्शन में आत्मा है, चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान में आत्मा है, संवर में आत्मा है और योग-ध्यान में आत्मा है।५८

विशेषार्थ—यहां निश्चयनय की अपेक्षा गुण और गुणी का अभेद कथन करते हुए कहा गया है कि ज्ञान गुण में निज चैतन्य स्वरूप मेरा आत्मा ही विद्यमान है। अथवा ज्ञान रूप कार्य की उत्पत्ति में मेरा आत्मा ही निमित्त है, ज्ञानके उपकरणादिक जो पुस्तक तथा पट्टी आदि हैं वे कारण नहीं हैं। दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व में मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा सम्यक्त्व रूप कार्य की उत्पत्ति में मेरा आत्मा ही कारण है अन्य

आदा खु मज्झ णाणे आत्मा निजचैतन्यस्वरूपो जीवपदार्थः खु स्फुटं मम ज्ञाने ज्ञानकार्ये, ज्ञाननिमित्तं ममात्मैव वर्तते नान्यत्किमपि ज्ञानोपकारणादिकं पुस्तकपटिटकादिकमिति भावः। *आदा मे दंसणे चरित्ते य* आत्मा मे दर्शने सम्यक्त्वे सम्यग्दर्शनकार्ये नान्यत्किमपि तीर्थयात्राजिनप्रतिष्ठाशास्त्रश्रवणवन्दनस्तवनादिकं इत्यादि सम्यक्त्वोत्पत्तिकारणं। चरित्रे च ममात्मैव—चारित्रकार्ये ममात्मैव वर्तते न तु नानाविकल्परूपं व्रतसमितिगुप्तिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयादिकमास्रवनिरोधलक्षणभावसंवरनिमित्तं। *आदा पच्चक्खाने* आगामिदोषनिराकरणलक्षणं प्रत्याख्यानं प्रत्याख्याननिमित्तं ममात्मैव वर्तते। *आदा मे संवरो जोगे* आत्मा मे मम संवरे संवरनिमित्तं कर्मास्रवनिरोधलक्षणसंवरकार्ये ममात्मैव वर्तते। योगस्य ध्यानस्य कार्ये ममात्मैव वर्तते इति भावः।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥

एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः॥

तीर्थयात्रा, जिन-प्रतिष्ठा, शास्त्र-श्रवण, वन्दना, तथा स्तवन आदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण नहीं हैं। चारित्र में भी मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा चारित्र रूप कार्य की उत्पत्ति में मेरा आत्मा ही कारण है, अन्य नाना विकल्प रूप व्रत समिति गुप्ति धर्म अनुप्रेक्षा और परीषहजयादिक कारण नहीं हैं। आगामी दोषोंका निराकरण करना प्रत्याख्यान है। इस प्रत्याख्यान में मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा प्रत्याख्यान की उत्पत्ति में मेरा आत्मा ही कारण है, अन्य गुरु शिष्यादि कारण नहीं हैं। आस्रव का निरोध होजाना संवर है। इस संवर में मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा कर्मास्रव-निरोध लक्षण संवर रूप कार्य में मेरा आत्मा ही कारण है, अन्य पदार्थ नहीं। योग ध्यान को कहते हैं। योग में मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा योग–ध्यान रूप कार्य में मेरा आत्मा ही कारण है।

[यहां पर टीका-कार ने उपादान कारण की अपेक्षा आत्मा को ज्ञान, दर्शन ही चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग का कारण कहा है क्योंकि आत्मा ही ज्ञानादि रूप परिणमन करता है। बाह्य कारणों का सर्वथा निषेध नहीं समझना चाहिये क्योंकि व्यवहार नयसे उनको भी उपयोगिता होती है] ॥५८॥

गाथार्थ—अविनाशी और ज्ञान दर्शन रूप लक्षण से युक्त एक आत्मा ही मेरा है कर्मोंके संयोग से होने वाले अन्य सभी भाव मुझ से बाह्य हैं मेरे नहीं हैं ॥५९॥

एगो मे सस्सदो अप्पा एको मे शाश्वत आत्मा अन्यत्सर्वं विनश्वरमित्यर्थः । स आत्मा अर्थंभूतः *णाणदंसणलक्खणो* निश्चयेन केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणः, व्यवहारेणाष्टविधज्ञानचतुर्विधदर्शनचिन्हः, मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि सम्यग्ज्ञानं पंचविधं कुमतिकुश्रुतविभंगलक्षणं मिथ्याज्ञानं त्रिविधं, इत्यष्टभेदा ज्ञानस्य । चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति चतुर्विधं दर्शनं, इति द्वादशभेद उपयोगो जीवस्य व्यवहारभूतं लक्षणं । *सेसा मे बाहिरा भावा* शेषा ज्ञानदर्शनद्वयाद्बहिर्भूताः पुत्रकलत्रमित्रादयः पदार्था बाह्या भावाः पदार्था भवन्ति । *सव्वे संजोगलक्खणा* सर्वे संयोगेन कर्मोदयेन मिलिता इत्यर्थः ।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धनिम्मलं चेव ।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं ॥६०॥

भावयत भावशुद्धं आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव ।
लघु चतुर्गतिं त्यक्त्वा यदि इच्छत शाश्वतं सुखम् ॥

भावेह भावसुद्धं भावयत यूयं कथं ? यथा भवति भावसुद्धं-भावशुद्धं परिणामस्य निष्कुटिलत्वं मायामिथ्यानिदानशल्यत्रयरहितत्वं यथा भवत्येवं आत्मानमर्हत्सिद्धादिकं च हे भव्याः ! भावयत । 'इजित्था मध्यमस्य' इति सूत्रेण तस्थाने इ । *अप्पा सुविसुद्धनिम्मलं चेव* आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव । आत्मानं कथंभूतं, सुविशुद्धनिर्मलं सुष्ठु अतिशयेन विशुद्धं कर्ममलकलंकरहितं निर्मलं रागद्वेषमोहमलरहितं । *लहु चउगइ चइऊणं* लघु शीघ्रं चतुर्गतिं त्यक्त्वा प्रमुच्य । *जइ इच्छह सासयं सुक्खं* यदि चेत् इच्छत यूय शाश्वतमविनश्वरं सौख्यं परमानन्दलक्षणमिति ।

विशेषार्थ—निश्चयनय से केवल ज्ञान और केवल दर्शन लक्षण वाला तथा व्यवहारनय से आठ प्रकार के ज्ञान तथा चार प्रकार के दर्शन रूप लक्षण से युक्त एक अविनश्वर आत्मा ही मेरा है, कर्मोदय से मिले हुए पुत्र स्त्री तथा मित्र आदि पदार्थ मेरे नहीं हैं, स्पष्ट ही मुझ से बाह्य भाव हैं मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांच सम्यग्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन मिथ्याज्ञान इस प्रकार ज्ञान के आठ भेद हैं और चक्षुर्दर्शन, अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये दर्शनके चार भेद हैं । दोनों मिलाकर उपयोग के बारह भेद होते हैं । यह बारह प्रकार का उपयोग जीवका व्यवहार नयाश्रित लक्षण है ॥५९॥

गाथार्थ—हे मुनिवर ! यदि तुम चारों गतियों को छोड़कर अविनाशी सुखकी इच्छा करते हो तो शुद्ध भाव-पूर्वक अत्यन्त विशुद्ध और निर्मल आत्मा का ध्यान करो ।

विशेषार्थ—हे भव्य ! यदि तू लघु अर्थात् शीघ्र ही चतुर्गति से छूट कर शाश्वत अविनश्वर सुख की इच्छा करता है तो भावोंको शुद्ध बनाकर-माया मिथ्या और निदान

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो।

सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥ ६१ ॥

यो जीवो भावयन् जीवस्वभावं सुभावसंयुक्तः।

स जरामरणविनाशं करोति स्फुटं लभते निर्वाणम् ॥

जो जीवो भावंतो यो जीव आसन्नभव्यः भावंतो-भावयन् भवति। कं भावयन् भवति *जीवसहावं* जीवस्वभावमात्मस्वरूपं अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखस्वरूपं केवलं केवलज्ञानमयं वा आत्मानं। कथंभूतःसन्, *सुभावसंजुत्तो* शोभनपरिणामसंयुक्तो रागद्वेषमोहादिविभावपरिणामरहितः। *सो जरमरणविणासं स कुणइ* फुडं जीवोऽन्तरात्मा भेदज्ञानबलेन जरामरणविनाशं करोति पुनर्जराजीर्णो न भवति न च कश ? म्रियते फुडु-स्फुटं निश्चयेन तीर्थंकरो भवति। *लहइ णिव्वाणं* लभते किं निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं अनन्तसुखं प्राप्नोतीत्यर्थः।

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ ॥

सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकारणणिमित्ते ॥ ६२ ॥

इन तीनों शल्यों से मुक्त होकर आत्मा का अथवा अर्हन्त सिद्ध आदिका चिन्तन करो। यह अत्यन्त विशुद्ध अर्थात् कर्म मल कलङ्क से रहित तथा रागद्वेष और मोह रूपी मलसे रहित है। 'भावेह' यहां पर 'हजित्वा मध्यमस्य, इस सूत्रसे त के स्थ नमें 'ह' होगया है ६१

गाथार्थ—जो जीव उत्तम भावों से युक्त होकर आत्मस्वभाव का चिन्तन करता है वह जरा और मरणका नाश करता है तथा स्पष्ट ही निर्वाणको प्राप्त होता है ६१

विशेषार्थ—जो प्राणी सुभाव-उत्तम परिणामों से युक्त तथा रागद्वेष मोह आदि विभाव परिणामों से रहित होता हुआ जीवस्वभावका अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख स्वरूप अथवा मात्र केवल ज्ञानमय आत्मा का ध्यान करता है वह अन्तरात्मा भेदज्ञान के बलसे जरा और मरण का नाश करता है अर्थात फिर न जरा से जीर्ण होता है और न मरता है किन्तु निश्चय से तीर्थंकर होता है और सब कर्म क्षय रूप लक्षण से युक्त एवं अनन्तसुख-सम्पन्न मोक्ष को प्राप्त होता है ॥६१॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने ज्ञान स्वभाव वाले एवं चेतना से सहित जीवका निरूपण किया है कर्मोंका क्षय करनेके लिये वह जीव अवश्य ही जानने योग्य है॥६२॥

विशेषार्थ—श्रीमान्-भगवान्-अर्हन्त-सर्वज्ञ वीतराग देव ने जीव पदार्थ का निरूपण किया है इसलिये 'जीव नहीं हैं' ऐसा जो चार्वाक कहते हैं इस पदसे उनके इस मत

जीवो जिनप्रज्ञप्तः ज्ञानस्वभावश्चेतनासहितः ।
स जीवो ज्ञातव्यः कर्मक्षयकारणनिमित्ते ॥

जीवो जिणपण्णत्तो जीव आत्मा जिनप्रज्ञप्तः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागेण प्रणीतः कथितः । जीवो नास्तीति ये चार्वाककुशिष्या वदन्ति तन्मतमनेन पदेन निरस्तं भवतीति ज्ञातव्यं । तथा चोक्तं—

[1]*तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।*
[2]*भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥ १ ॥*

कथंभूतः प्रणीतः, *णाणसहाओ य* ज्ञानस्वभावो ज्ञानस्वरूपः । तथा चोक्तं—

विभावसोरिवोष्णत्वं [3]*चरेण्योरिव चापलं ।*
शशाङ्कस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः ॥ १ ॥

का निराकरण होजाता है । ऐसा ही कहा है—

तदहर्ज—यह ज्ञान स्वभाव जीव सनातन है–अनादि-सिद्ध है । पृथवी जल अग्नि और वायु इस भूत चतुष्टय से नवीन उत्पन्न नहीं हुआ है क्योंकि उसी दिन उत्पन्न हुए बालक की स्तन पीने की चेष्टा देखी जाती है यदि जीवको पूर्व भवका संस्कार न होता तो वह एक दिनकी अवस्था में ही माता का स्तन न पीता । इसके सिवाय प्रेत पूर्व भव की वार्ता सुनाते देखे जाते है और किन्हीं को अपने पूर्व भवों का स्मरण भी होता देखा जाता है इससे भी सिद्ध होता है कि इस जीव का पूर्वभवों से सम्बन्ध रहता है, सर्वथा नवीन ही उत्पन्न नहीं होता है । जो जिससे उत्पन्न होता है उसका अन्वय–सम्बन्ध उसके साथ अवश्य रहता है परन्तु भूत–चतुष्टय का जीवके साथ कुछ भी अन्वय नहीं देखा जाता, इससे सिद्ध होता है कि जीवकी उत्पत्ति भूतचतुष्टय से नहीं होती ।

प्रश्न—यह जीव कैसा है ?

उत्तर—यह जीव ज्ञान स्वभाव वाला है, ऐसा ही कहा है–

विभावसो—जिस प्रकार अग्निका स्वरूप उष्णता है, वायुका स्वरूप चपलता है, और चन्द्रमा का स्वरूप शीतलता है उसी प्रकार आत्मा का स्वरूप ज्ञान है । इस कथन से सत्कार्य इस दूसरे नामको धारण करने वाले मिथ्यादृष्टि सांख्य जो यह कहते हैं कि 'जीव मुक्त होता हुआ बाह्य पदार्थों के ग्रहण से रहित हो जाता है' उसका खण्डन हो जाता है । जैसा कि कहा है–

१—यशस्तिलके सोमदेवस्य । २–प्रमेयरत्नमालायां जीवः इत्यास्य स्थाने सिद्धः पाठः । ३—चरेण्यो म० ।

इत्यनेन ये सांख्याः कापिलाः सत्कार्यपरनामानो मिथ्यादृष्टयो वदन्ति 'ज्ञानः खलु मुक्तः न् बाह्यग्राह्यरहितो भवति" तन्मतं निराकृतं भवतीति वेदितव्यं । तथा चोक्तं—

कपिलो यदि वाञ्छति चितिमचितिं सुरगुरुगीर्गुंफेष्वेव पतति ।

चैतन्यं बाह्यग्राह्यरहितमुपयोगि कस्य वद तत्र विदित ॥ १ ॥

चेयणासहिओ चेतनासहितः प्रतिपद्व राजमान इत्यनेन लोकायतमतं निरस्तं भवति ज्ञातव्य । एवं गुणविशिष्टेन जीवेन किं कार्यं भवतीति पर्यनुयोगे सतीदं प्राह:—*सो जीवो णायव्वो* स जीवः स आत्मा ज्ञातव्यः । *कम्मक्खयकारणणिमित्तो* कर्मक्षयकारणनिमित्तं कर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीय गुर्नामगोत्रान्तरायाणां समूलकाषं कषणं जीवपदार्थ एव समर्थ इति ज्ञातव्यं । अनन्तसौख्यदायहेतुरात्मेति भाव.

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ ।

ते होंति भिन्नदेहा सिद्धा वचिगोयरमतीदा ॥ ६३ ॥

येषां जीवस्वभावो नास्ति अभावश्च सर्वथा तत्र ।

ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धा वचोगोचरातीताः ॥

कपिल—यदि सांख्य अचेतन प्रकृति में ही ज्ञानको चाहता है अर्थात् ज्ञान पुरुष का धर्म न होकर अचेतन प्रकृति का धर्म है, ऐसा मानता है तो वह चार्वाक के वचन जाल में ही आ पड़ता है अर्थात् जिस प्रकार चार्वाक ज्ञानको अचेतन भूत-चतुष्टय का धर्म मानते हैं उसी प्रकार सांख्य भी ज्ञानको अचेतन प्रकृतिका कार्य मानते हैं, इस तरह सांख्य और चार्वाकोंका कहना एक सदृश होता है सांख्य चैतन्य को बाह्य ग्राह्य से रहित मानते हैं अर्थात् उसे ज्ञेयाकार परिच्छेद से पराङ्मुख स्वीकार करते हैं सो ऐसा चैतन्य किसके लिये उपयोगी है तुम्हीं कहो ?

प्रश्न—पुनः जीव कैसा है ?

उत्तर—चेतना से सहित है, अर्थात ज्ञान से शोभायमान है ।

इस कथन से चार्वाकों के मतका निराकरण होता है । इस प्रकार के गुणोंसे विशिष्ट जीवके द्वारा क्या कार्य होना है ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर कहते हैं–वह जीव ज्ञातव्य है–जानने के योग्य है । किस लिये ? कर्मक्षय के लिये । क्योंकि ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अन्तराय इन आठ कर्मोंका समूल क्षय करने में जीव पदार्थ ही समर्थ है । तात्पर्य यह है कि आत्मा अनन्त सुखको देनेवाला है ।

गाथार्थ—जिनके जीवका सद्भाव है, उसका सर्वथा अभाव नहीं है, वे ही शरीर से रहित तथा वचन के विषय से अतीत सिद्ध होते हैं ॥६३॥

जेसिं जीवसहावो येषामासन्नभव्यानां जीवस्वभाव आत्मस्वभाव आत्मनोऽस्तित्वमस्ति । *णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ* नास्त्यभावश्च सर्वथा तत्र । तत्रात्मनि अभावश्च नास्ति "अस्त्यात्मानादिबद्धः" इति वचनात् । *ते होंति भिन्नदेहा* ते पुरुषा भवन्ति भिन्नदेहाः शरीररहिताः *सिद्धा वचिगोयरमतीदा* ते पुरुषाः किं भवन्ति सिद्धाः । सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिर्विद्यते येषां ते सिद्धाः प्रज्ञादित्वादस्त्यर्थेऽणप्रत्ययः । कथंभूताः सिद्धाः, वचोगोचरातीता वाचां गोचरत्वे गम्यत्वेऽतीता अगम्या वक्तुं न शक्यन्ते—तत्सदृशानां केवलज्ञानिनां गम्या इत्यर्थः ।

[1]अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणसमद्दं ।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ६४ ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणसमाद्रं ।
जानीहि अलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ॥

विशेषार्थ—जिन निकट भव्य जीवों के आत्मा का अस्तित्व है अर्थात् जो आत्मा का सद्भाव स्वीकार करते हैं तथा उसका सर्वथा अभाव नहीं मानते वे ही शरीर को नष्ट कर अशरीर अवस्थाको प्राप्त होते हैं, सिद्ध कहलाते हैं तथा उनकी महिमा वचनके अगोचर होती है । [2]'अस्त्यात्मानादि-बद्धः' आदि वचनों से आत्मा का अस्तित्व आगम से सिद्ध है । [3]'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' आदि वचनसे सिद्धिका अर्थ स्वात्म-स्वरूपकी प्राप्ति है । वह सिद्धि जिनके है वे सिद्ध कहलाते हैं । सिद्धि शब्दसे अस्ति अर्थ में प्रज्ञादिगणी होनेसे अण् प्रत्यय होकर सिद्ध शब्द निष्पन्न होता है [अथवा सिधु धातु से क्त प्रत्यय होनेपर सिद्ध शब्द निष्पन्न होता है ।] सिद्ध भगवान् वचनोंके गोचर नहीं हैं अर्थात उनकी महिमा वचनों से नहीं कही जा सकती किन्तु उन्हीं के समान केवल ज्ञानियों के द्वारा जानी जा सकती है ॥६३॥

गाथार्थ—हे आत्मन् ! तू जीवको रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित, अव्यक्त, चेतना गुणसे युक्त, स्त्री पुरुषादि लिङ्गसे रहित और संस्थान से शून्य जान ॥६४॥

१—समयसारे नियमसारे चापीयं गाथा दृश्यते ।

२—नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्ते,—रस्त्यात्मानादि—बद्धः स्वकृतज—फलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी । ज्ञाता दृष्टा स्वदेहप्रमितिरुपसमाहारविस्तारधर्मा । ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत—इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः । सि० भ० । 'अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः । गुणपर्यय-समवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥ पु. सि. ३—सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादिदोषापहारात् । योग्योपादान-युक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धिः ॥ सि० भ० ।

अरसं मधुराम्लकटुतिक्तकषायपंचरसरहितं हे जीव ! त्वं जीवं जानीहि। *अरूवं* श्वेतपीतहरितारुण-कृष्णलक्षणपंचरूपरहितं जीवमात्मानं जानीहीति दीपकं सम्बन्धनीयं *अगंधं* सुरभिदुरभिलक्षणगन्धद्वय-वर्जितं जीवपदार्थं जानीहि। *अव्वत्तं* अव्यक्तं इन्द्रियानिन्द्रियाणामगोचरत्वादस्फुटं, केवलज्ञानिनां व्यक्तं स्फुटं जीवतत्वं हे जीव ! भेदज्ञानसमृद्धान्तरात्मन् ! जानीहि। निषेधं कृत्वा विधिं दर्शयन्ति—*चेयणागुण-समद्दं* चेतनागुणेन ज्ञप्तिमात्रेण सम्यक्प्रकारेणार्द्रं परिणतं। समिद्धमिति पाठे चेतनागुणेन ज्ञानगुणेन समृद्धमिति व्याख्येयं। *जाणमलिंगग्गहणं* जाण जानीहि त्वं हे जीव ! अलिंगग्रहणं स्त्रीपुंनपुंसकलिंग-त्रयस्य ग्रहणं स्वीकारस्तेन रहितं जीवमात्मानं विदांकुरु। व्यवहारनयेन यद्यपीयं स्त्री अयं पुमान् इदं नपुंसकमिति भण्यते तथापि निश्चयनयेनात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावो न लिंगत्रयवानिति। *जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं* जीवमात्मानं, अनिदिष्टसंस्थानं न निर्दिष्टानि जिनागमे प्रतिपादितानि संस्थानानि षडाकृतयो यस्येति

विशेषार्थ—किसी भी पदार्थ का स्वरूप वर्णन करने के लिये दो पद्धतियां अपनाई जाती हैं एक स्वरूप के उपादान की और दूसरी पररूपके अपोहन—निराकरण की। यहां स्वरूप के उपादान की पद्धति को दृष्टि में रखकर जीवका लक्षण कहा गया है—चेतना गुण समार्द्र अर्थात् जो चेतना गुण से सम्यक् प्रकार आर्द्र है—तद्रूप परिणत है अथवा जो चेतना गुण से समृद्ध है -संपन्न है वह जीव है। और पररूप-अपोहन की पद्धति के अनु-सार कहा गया है जो अरस--रसादि से रहित हो, वह जीव है। अरस आदि विशेषणोंका भाव इस प्रकार है। मधुर खट्टा, कडुआ, चिरपरा और कषायला ये रस के पांच भेद हैं तथा पुद्गल के परिणमन हैं, अतः जीव इससे रहित है। सफेद, पीला, हरा, लाल, और काला ये पांच रूप के भेद हैं तथा पुद्गल के परिणमन हैं अतः जीव इनसे रहित है। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेदसे गन्ध दो प्रकार का है तथा दोनों ही पुद्गल के परिणमन हैं अतः जीव इनसे रहित है। जीव अव्यक्त है अर्थात् इन्द्रिय और मनके अगोचर होनेके कारण अव्यक्त है--अस्पष्ट है, यह जीव केवल-ज्ञानियों को स्पष्ट है। लिङ्ग के तीन भेद हैं-स्त्री लिङ्ग, पुलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग। ये तीनों ही लिङ्ग पुद्गल द्रव्य के परिणमन हैं इसलिये जीवका इनके द्वारा ग्रहण नहीं होता है। यद्यपि व्यवहारनय से यह स्त्री है, यह पुरुष है, और यह नपुंसक है, ऐसा कहा जाता है तथापि निश्चयनय से आत्मा एक शुद्ध बुद्ध स्वभाव वाला ही है, तीन लिङ्गसे युक्त नहीं है। संस्थान शरीर की आकृति को कहते हैं और वह आकृति स्पष्ट ही पुद्गल द्रव्यका परिणमन है अतः आत्मा उनसे रहित है। जिनागममें प्रति-पादित छह संस्थानोंमें से जीवके एक भी संस्थान नहीं हैं, अतः जीव अनिर्दिष्ट संस्थान है।

अनिर्दिष्टसंस्थानत्वं जानीहि । अथ कानि तानि संस्थानानि यान्यात्मनो निश्चयनयेन नैव वर्तन्ते इति चेत् ? तन्नामनिर्देशः क्रियते— समचतुरस्रसंस्थानं (१) न्यग्रोधपारमण्डलसंस्थानं (२) स्वातिपरनामवाल्मिकसंस्थानं (३) कुब्जकसंस्थानं (४) वामनसंस्थानं (५) हुंडकसंस्थानं चेति (६) नामानुसारेण शरीराकारो ज्ञातव्य इति तात्पर्यं ।

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं ।
भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ ।। ६५ ।।

भावय पञ्चप्रकारं ज्ञानं अज्ञाननाशनं शीघ्रम् ।
भावनाभावितसहितः दिवशिवसुखभाजनं भवति ।।

भावहि पंचपयार भावय त्वं हे जीव ! पंचप्रकारं पंचविधं । किं ? *णाणं* सम्यग्ज्ञानं । कथंभूतं ज्ञानं, अज्ञाननाशनं अज्ञानस्याविवेकस्य नाशनं विध्वंसकं । कथं भावय, *सिग्घं* शीघ्रं लघुन्या । *भावणभावियसहिओ* भावना रुचिः तया भावितं वासितं तेन सहितः संहितः पुमान् प्रयुक्तो जीवः । *दिवसिवसुहभायणो होइ* दिवः स्वर्गस्य, शिवस्य मोक्षस्य, सुखस्य परमानन्दलक्षणस्य, भाजनममत्रं, भवति संजायते पंचज्ञानविस्तरस्तत्त्वार्थतात्पर्यवृत्तौ प्रथमाध्याये ज्ञातव्यः । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानमिति नामनिर्देशः ।

प्रश्न—वे संस्थान कौन हैं जो निश्चयनयसे आत्माके नहीं हैं ?

उत्तर— (१) समचतुरस्र संस्थान (२) न्यग्रोध परिमण्डल सस्थान (३) स्वाति अथवा वाल्मिक संस्थान (४) कुब्जक संस्थान (५) वामन संस्थान और (६) हुण्डक संस्थान । इन संस्थानों में इनके नामके अनुसार ही शरीरकी आकृति होती है ॥६४॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू शीघ्र ही अज्ञानको नष्ट करने वाले पांच प्रकार के ज्ञानकी भावना कर । क्योंकि भावनाओं के संस्कार से सहित जीव स्वर्ग और मोक्षके सुखका पात्र होता है ॥ ६५ ॥

विशेषार्थ—हे जीव ! तू अज्ञान—अविवेक को नष्ट करने वाले मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल इन पांच प्रकारके सम्यग्ज्ञानोंकी भावना कर अर्थात् इन्हे सम्यग्दर्शन के संस्कार से सुसज्जित कर क्योंकि भावनाके संस्कारसे सहित जीव स्वर्गके सांसारिक और मोक्षके परमानन्द रूप सुखका पात्र होता है । मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानोंका विस्तार तत्त्वार्थ सूत्रकी तात्पर्य-वृत्तिके प्रथमाध्यायसे जानना चाहिये । यहां मात्र नामोंका निर्देश किया है ॥ ६५ ॥

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण।

भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥६६॥

पठितेनापि किं क्रियते किं वा श्रुतेन भावरहितेन।

भावः कारणभूतः सागारानगारभूतानाम् ॥

पढिएण वि किं कीरइ पठितेन ज्ञानेन किं क्रियते--किं स्वर्गमोक्षं विधीयते-अपि तु न क्रियते इत्यर्थः। अपि शब्दादपठितेनापि अनभ्यस्तेनापि जिह्वाग्रेऽकृतेनापि ज्ञानेन स्वर्गो मोक्षश्च क्रियते इत्यर्थः। *किं वा सुनियेण* वा अथवा श्रुतेनाकर्णितेन ज्ञानेन किं ? न किमपि, स्वर्गश्च मोक्षश्च न भवतीत्यर्थः। कथंभूतेन पठितेन श्रुतेन च *भावरहिएण* भावरहितेन। *भावो कारणभूदो* भाव आत्मरुचिः जिनसम्यक्त्वकारणभूतो हेतुभूतः। *सायारणयारभूदाणं* सागारानागारभूतानां श्रावकाणां यतीनां चेति तात्पर्यं।

दव्वेण सयलनग्गा नारयतिरिया य सयलसंघाया।

परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥६७॥

द्रव्येण सकलनग्ना नारकतिर्यञ्चश्च सकलसंघाताः।

परिणामेन अशुद्धा न भावश्रवणत्वं प्राप्ताः

दव्वेण सयलनग्गा द्रव्येण बाह्यकारणेन सकलाः सर्वे जीवा नग्ना वस्त्रादिरहिताः। के ते, *नारय* नारकाः सप्ताधोभूमिस्थितचतुरशीतिशतसहस्रबिलसंजातसत्वाः। *तिरिया य* तिर्यंचश्च पशवो जीवा नग्ना

गाथार्थ—भाव-रहित शास्त्रों के पढने अथवा सुनने से क्या होता है ? क्योंकि गृहस्थ अथवा मुनि धर्मका कारण भाव ही है ॥ ६६ ॥

विशेषार्थ—भावका अर्थ आत्म-रुचि अर्थात् पर-पदार्थ से भिन्न आत्माकी श्रद्धा होना है यह आत्म श्रद्धा ही जिन सम्यक्त्व का कारण है। इसके बिना शास्त्रों को पढा भी जाय अथवा सुना भी जाय तो उससे क्या होता है ? अर्थात् स्वर्ग मोक्षकी प्राप्ति उससे नहीं होती। यथार्थ में गृहस्थ—धर्म अथवा मुनिधर्मका मूल कारण भाव अर्थात् सम्यक्त्व ही है ॥ ६६ ॥

गाथार्थ—द्रव्य अर्थात् शरीररूप बाह्य कारणकी अपेक्षा सभी जीव नग्न हैं। नारकी और तिर्यंच तो समुदाय रूपसे नग्न ही रहते हैं परन्तु भावसे अशुद्ध हैं, अतः भाव श्रमणपनेको प्राप्त नहीं होते ॥ ६७ ॥

विशेषार्थ—मात्र वस्त्रादि बाह्य पदार्थोंके त्याग से ही श्रमण-पना प्राप्त नहीं होता किन्तु उसके साथ भाव—शुद्धिके होने पर ही होता है यह सिद्ध करते हुए आचार्य

एव भवन्ति । तथा *सयलसंघाया* नारकाणां तिरश्चां च सर्वे समूहाः । अथवा सकलसंघाताः स्त्रीभिः सह मिलिताः कमनीयकामिनीभिरालिंगिताः सर्वे पुरुषसमूहा अपि द्रव्येण नग्ना निर्वस्त्रादिका भवन्ति । कथंभूतास्ते. *परिणामेण असुद्धा* परिणामेन मनोव्यापारेणाशुद्धा रागद्वेषमोहादिकश्मलिताः । *ण भावसवणत्तणं पत्ता* भावश्रमणत्वं परिणामदिगम्बरत्वं न प्राप्ता, न कर्मक्षयलक्षणमात्तनिर्गोचा बभूवुरिति पूर्वसम्बन्धः ।

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गा संसारसायरे भमइ

णग्गो न लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥ ६८

नग्नः प्राप्नोति दुःखं नग्नः संसारसागरे भ्रमति ।

नग्नो न लभते बोधिं जिनभावनावर्जितः सुचिरम् ॥

णग्गो पावइ दुक्खं नग्नः पुमान् प्राप्नोति लभते, किं ? दुःखं छेदनभेदनशूलारोपणयंत्रपीलनक्रकचाविदारणभ्राष्ट्रक्षेपणतप्तलोहपुत्तलिकालिंगनवैतरणीनदीविशेषमज्जनकूटशाल्मलिघर्षणासिपत्रवनच्छायानिवेशन शारीरमानसागन्तुकसातं नरकेषु तिर्यक्षु कुमनुष्येषु कुदेवेषु च दुःखं प्राप्नोतीत्यभिप्रायः श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणां *णग्गो संसारसायरे भमइ* नग्नः संसारसागरे भ्राम्यति मज्जनोन्मज्जनं करोति । *णग्गो न लहइ बोहिं*

महाराज निर्देश करते हैं कि मात्र शरीरकी अपेक्षा तो सभी जीव नग्न हैं । पृथवीके नीचे सात नरकोंके चौरासी लाख बिलोंमें रहने वाले नारकी तथा समस्त तिर्यञ्च तो नियम से नग्न ही रहते हैं । और रति आदिके समय पुरुष भी नग्न रहते हैं परन्तु ये सब परिणामोंसे अशुद्ध हैं अर्थात् राग द्वेष मोह आदि विकारोंसे मलिन हैं, अतः नग्न होने पर भी भाव श्रमण को अर्थात् दिगम्बर मुनि अवस्थाको प्राप्त नहीं होते । कहनेका तात्पर्य यह है कि भाव-शुद्धिके विना मात्र नग्नता कार्यकारी नहीं है ॥ ६७ ॥

गाथार्थ—जिनभावना–जिन सम्यक्त्वसे रहित नग्न पुरुष दुःख प्राप्त करता है । जिन-भावना से रहित नग्न पुरुष संसार सागर में भ्रमण करता है और जिन भावनासे रहित नग्न पुरुष चिरकाल तक रत्नत्रयको प्राप्त नहीं होता ॥ ६८ ॥

विशेषार्थ—जिनभावना का अर्थ सम्यक्त्व है, उससे रहित नग्न पुरुष नरक, तिर्यञ्च कुमनुष्य और कुदेवों में छेदा जाना, भेदा जाना, शूलीपर चढाया जाना, कोल्हू में पेला जाना, करोंतसे विदारा जाना, भाड़में फेंका जाना, तपे लोहकी पुतलियोंसे लिपटाया जाना वैतरणी नामकी विशेष नदीमें डुबाया जाना, विक्रियाकृत सेमरके वृक्षपर घसीटा जाना, असिपत्र वनकी छायामें बैठाया जाना, शारीरिक मानसिक तथा आगन्तुक आदि अनेक दुःखोंको प्राप्त होता है । जिन सम्यक्त्व से रहित नग्न मनुष्य संसार सागर में भ्रमण

नग्नो जीवो वोधिं रत्नत्रयप्राप्तिं न लभते—अनन्तानन्तसंसारे पर्यटितोऽपि जन्मशतसहस्रकोटिभिरपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षकारणानि न प्राप्नोतीत्यर्थः। कथंभूतो नग्नः, *जिणभावणवज्जिओ सुइरं* जिनस्य श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य सम्बन्धिनी या भावना सम्यक्त्वं तया वज्जिओ-वर्जितः। कथं, सुइरं सुचिरमतिदीर्घकालं तथा चोक्तं—

[1]कालु अणाइ अणाइ जिउ भवसायरु वि अणंतु।
जीवें वेण्णि न पत्ताइं जिणुसामिउसमत्तु॥ १॥

इति व्याख्यानं ज्ञात्वा [2]सम्यग्दर्शनेन दृढभावना कर्तव्येति भावार्थः।

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण। ६९॥

अयशसां भाजनेन च किं ते नाग्न्येन पापमलिनेन।
पैशुन्यहास्यमत्सरमायाबहुलेन स्रवणेन॥

अयसाण भायणेण य अयशसामपकीर्तीनां भाजनेनामत्रणाधारपात्रेण। *किं ते णग्गेण पावमलिणेण* हे जीव! ते तव नाग्न्येन नग्नत्वेन किं-न किमपि, स्वर्गमोक्षकायरहितेन वृथेत्यभिप्रायः। कथंभूतेन नाग्न्येन पापमलिनेन पापवन्मलिनेन कश्मलिना। अथवा पापेति पृथक्पदं तेनायमर्थः रे पाप! पापमूर्ते

करता है अर्थात् मज्जन और उन्मज्जन करता है तथा जिन—सम्यक्त्व से रहित नग्न मनुष्य चिरकाल तक रत्नत्रयको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् अनन्तानन्त संसारमें घूमता हुआ लाखों करोड़ों जन्ममें भी मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको नहीं प्राप्त होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

कालु अणाइ—काल अनादि है, जीव अनादि है, और भवसागर अनन्त है। इसमें भ्रमण करते हुए जीव ने आजतक दो वस्तुएं प्राप्त नहीं कीं, एक तो जिनदेव और दूसरी सम्यक्त्व।

इसप्रकार व्याख्यान को जानकर सम्यग्दर्शनद्वारा भावनाको दृढ करना चाहिये॥६८॥

गाथार्थ—हे जीव! तुझे उस नग्न वेषसे क्या मिलने वाला है जो अपयशका पात्र है, पापसे मलिन है, चुगली, हास्य, मात्सर्य, और मायासे परिपूर्ण है तथा स्रवण—धर्मके नाना स्रोतोंसे द्रव्यका उपार्जन करने वाला है अथवा सवन—वनवास से सहित है॥६९॥

विशेषार्थ—जो नग्न दिगम्बर मुद्राके धारक होकर भी आगम-विरुद्ध कार्य करते

१—सावयधम्म दोहा। २—सम्यग्दर्शने दृढभावना म०

दिगम्बरवेषाजीवक ! मलिनेन अतिचारानाचारातिक्रमव्यतिक्रमसहितेन नाग्न्येन किं ? न किमपि । तथा चोक्तं समासोक्तिना गुणभद्रेण भगवता—

[1]हे चन्द्रमः ! किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं,
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः ।
किं ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ॥ १ ॥

कथंभूतेन तव नाग्न्येन, *पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण* पैशून्यहास्यमत्सरमायाबहुलेन । पैशून्यं परदोषग्रहणं । उक्तं च—

मा भवतु तस्य पापं परहितनिरतस्य पुरुषसिंहस्य ।
यस्य परदोषकथने जिह्वा मौनतंत्र चरति ॥ १ ॥

हास्यं च वर्करः । मत्सरश्च परेषां शुभद्वेषः । उक्तं च—

हैं उन्हें संबोधते हुए आचार्य कहते हैं कि जीव ! तूने यद्यपि नाग्न्य वेष धारण किया है तथापि तू यन्त्र मन्त्र तन्त्र, जादू, ज्योतिष, वैद्यक आदि लौकिक कार्यों में उलझ कर उस नग्न वेषको अपयशका पात्र बना रहा है सो इससे तुझे क्या मिलने वाला है ? जिस स्वर्ग या मोक्षके उद्देश्य से तू ने यह पवित्र वेष धारण किया था उसकी पूर्ति तेरे इस वेष से नहीं हो सकती है । तेरा यह नाग्न्य वेष पाप मलिन है अर्थात् पापके समान मलिन है अथवा पाप यह स्वतन्त्र सम्बोधन पद है इसलिये ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि अरे पाप ! अरे पाप-मूर्ति ! तेरा यह नाग्न्यपद अतिचार अनाचार अतिक्रम और व्यतिक्रम से सहित होनेके कारण मलिन है । इससे तुझ क्या प्राप्त होगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं । जैसा कि समासोक्ति अन्योक्तिके द्वारा गुणभद्राचार्य ने कहा है—

हे चन्द्रमः—हे चन्द्र ! तू लाञ्छन कलङ्कसे युक्त क्यों हुआ ? यदि तुझे कलङ्क से युक्त ही होना था तो सर्वथा कलङ्कसे तन्मय क्यों नहीं हो गया ? तेरी उस मलिनता को अत्यन्त प्रगट करने वाली चाँदनी से तुझे क्या लाभ है ? यदि तू सर्वथा कलङ्क से तन्मय हुआ होता तो वैसी अवस्था में राहुके समान दृष्टि-गोचर नहीं होता । जिस प्रकार उज्ज्वल चन्द्रमामें छोटासा कलङ्क स्पष्ट दिखलाई देता है, उसी प्रकार मुनिपदमें थोड़ासा दोष भी स्पष्ट दिखाई देता है अतः मुनिपद धारण कर सदा निर्दोष प्रवृत्ति ही करना चाहिये ।

हे जीव ! तेरा यह नाग्न्य पद पैशुन्य, हास्य, मात्सर्य, और मायासे परिपूर्ण है

१—आत्मानुशासने ।

[1]उद्युक्तस्त्वं [2]तपस्विन्नधिकमभिभवं [3]त्वय्यगच्छन् कषायाः
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किं तु दुर्लक्ष्यमन्यैः ।
निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग्निम्नदेशेष्ववश्यं
मात्सर्यं ते स्वतुल्ये भवति परवशाद् दुर्जयं तज्जहीहि ॥ १ ॥

माया च परवंचना । उक्तं च—

यशो मारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं
हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः ।
स कृष्णः कृष्णोऽभूत्कपटबटुवेषेण नितरा—
मपि च्छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः । १ ।

पैशुन्यका अर्थ प -दोष-ग्रहण है । दूसरेके दोषों की ओर दृष्टि रखना बहुत बुरा है और दूसरे के दोषोंको न कहना उत्तम बात है । कहा भी है—

मा भवतु—पर-हितमें तत्पर रहने वाले उस श्रेष्ठ पुरुषका कभी भी अहित न हो, जिसकी कि जिह्वा दूसरे के दोष कहने में मौनव्रत धारण करती है ।

अपना बडप्पन बतानेके लिये दूसरोंकी हंसी उड़ाना हास्य कहलाता है । दूसरोंके शुभ कार्योंसे द्वेष रखना मत्सर कहा जाता है । यह मत्सर भाव प्राय: बड़े बड़े लोगोंमें भी पाया जाता है । कहा है—

उद्युक्तस्त्वं—हे तपस्विन् ! यद्यपि तू अधिक सावधान है, कषायें भी तुझमें पराभव को प्राप्त हैं अर्थात् तू ने कषायों को प्रभाव-हीन किया है, और समुद्र में जलके समान अगाध ज्ञान भी तुझ में प्रकट हुआ है तथापि जिस प्रकार प्रवाह के निकल जाने पर कितने ही नीचे स्थानों में पानी भरा रह जाता है और वह दूसरों की दृष्टि में नहीं आता उसी प्रकार कषाय आदि रूप प्रवाह के निकल जाने पर भी जो दूसरों की दृष्टि में नहीं आता, ऐसा अपनी समानता रखने वाले जोवों में तेरा मात्सर्य भाव शेष रह गया है, भले ही वह दूसरों के वशसे हुआ है और दुर्जय है तो भी तू उसे अवश्य छोड़ ।

माया का अर्थ दूसरे को ठगना है । कहा भी है—

यशो मारीचीयं—मारीच का यश सुवर्ण मृग की माया से मलिन हो गया । 'अश्वत्थामा' मारा गया यह कहने से युधिष्ठिर स्नेही जनों में लघुता को प्राप्त हुए और

१—आत्मानुशासने । २—तपस्व्यधिक मुद्रितात्मानुशासने । ३— मुद्रितात्मानुशासने 'त्वामगच्छन्' इति पाठः ।

पैशून्यहास्यमत्सरमायाबहुलं तेन तथोक्तेन। पुनः कथंभूतेन। नाग्न्येन, स्रवणेन निरन्तरसम्बन्धिना 'नानाधर्ममिषोपार्जितद्रव्येण अथवा सवनेन वनवाससहितेन। तथा चोक्तं—

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते वर्त्मनि यः प्रवर्तते विमुक्तरागस्य गृहं तपोवनं ?

पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भितरभावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ॥ ७०॥

प्रकटय जिनवरलिङ्गं अभ्यन्तरभावदोषपरिशुद्धः
भावमलेन च जीवो बाह्यसङ्गे मलिनः॥

पयडहि जिणवरलिंगं हे जीव! हे आत्मन्! प्रकटय जिनवरलिंगं पूर्वं जिनवरलिंगं त्वं धर नग्ना

कृष्ण कपट पूर्ण बालकका वेष रखनेसे अत्यन्त मलिन हुए। सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार थोड़ा सा विष बहुत भारी दुग्ध को दूषित कर देता है, उसी प्रकार थोड़ा सा छल भी बड़े बड़े पुरुषों को दूषित कर देता है। मारीच, युधिष्ठिर और कृष्ण के वामनावतार की कथाएं लोक में प्रसिद्ध हैं।

हे जीव! तेरा यह नाग्न्य पद पैशुन्य, हास्य, मात्सर्य और माया से बहुल है—परिपूर्ण है। साथ ही स्रवण है अर्थात् नाना धर्मोंके बहते द्रव्यको उपार्जित करने वाला है। अथवा सवणेण की संस्कृत छाया सवनेन मानकर वनवाससे सहित है, यह एक अर्थ भी किया जा सकता है अर्थात् तेरा यह नाग्न्य पद वनवास से सहित है परन्तु अन्तरङ्ग का विकार नष्ट हुए विना मात्र वनवास कुछ कार्यकारी नहीं है। जैसा कि कहा है—

वनेऽपि—रागी मनुष्यों के वनमें भी दोष उत्पन्न होते हैं और राग-रहित मनुष्यों के घर में भी पञ्चेन्द्रियों का निग्रह रूप तपश्चरण होता है। जो मनुष्य निर्दोष मार्ग में प्रवृत्ति करता है उस वीतराग के लिये घर ही तपोवन है।

[यहां अन्तरङ्ग की परमार्थता से रहित मात्र नग्न—वेष की निन्दा की गई है। निर्दोष आचरण करने वाले मुनिका नग्न वेष तो मोक्ष-मार्ग का अपरिहार्य अङ्ग है, अतः उसकी निन्दा किसी भी तरह नहीं की जा सकती।]

गाथार्थ—हे जीव! अन्तर्वर्त्ती भाव दोष से रहित होता हुआ तू जिन-लिङ्ग—निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राको धारण कर क्योंकि अन्तरङ्ग के दोष से यह जीव बाह्य पदार्थों के संपर्क में पड़कर मलिन हो जाता है॥७०॥

भव। पश्चात्कथंभूतो भव, *अभिंतरभावदोसपरिसुद्धो* अभ्यंतरभावेन जिनसम्यक्त्वपरिणामेन कृत्वा दोषपरिशुद्धो दोषरहितो भव। इदमत्र तात्पर्यं द्रव्यलिंग विना भावलिंगी सन्नपि मोक्षं न लभत इत्यर्थः शिवकुमारो भावलिंगी भूत्वापि स्वर्गं गतो न तु मोक्षं, जम्बूस्वामिभवे भवदेवो द्रव्यलिंगी अतिकष्टेन संजातस्तस्मिंश्च सति भावलिंगेन मोक्षं प्राप। *भावमलेण य जीवो* भावमलेनापरिशुद्धपरिणामेन जिनसम्यक्त्वरहिततया। *बाहिरसंगम्मि मयलियइ* बाह्यसंगे सति मइलियइ—मलिनो भवति सम्यक्त्वं विना निर्ग्रन्थोऽपि सग्रन्थो भवतीति भावार्थः। स्याद्भावेन मोक्षो द्रव्यलिंगापेक्षत्वात्, स्याद्द्रव्यलिंगेन मोक्षो भावलिंगापेक्षत्वात्, स्यादुभयं क्रमार्पितोभयत्वात्, स्यादवाच्यं युगपद्वक्तुमशक्यत्वात्, स्याद्भावलिंगं चावक्तव्यं च, स्याद्द्रव्यलिंगं चावक्तव्यं च, स्यादुभयं चावक्तव्यं चेति सप्तभंगी योजनीया।

धम्मम्मि निप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो।

विशेषार्थ—संस्कृत टीका-कार इस गाथा का भाव निम्न प्रकार प्रकट करते हैं। हे आत्मन्! तू पहले जिनलिङ्ग को धारण कर अर्थात् पहले नग्न हो पीछे अभ्यन्तर भाव अर्थात् जिन सम्यक्त्वके परिणाम से दोष रहित हो। यहां तात्पर्य यह है कि द्रव्यलिङ्ग के विना भाव लिङ्गी होनेपर भी अर्थात् सम्यग्दृष्टि होनेपर भी यह जीव मोक्षको नहीं प्राप्त कर सकता है। क्योंकि शिवकुमार मुनि भावलिङ्गी अर्थात् सम्यग्दृष्टि होकर भी स्वर्ग गये थे, न कि मोक्ष। और जम्बूस्वामीके भवान्तर वर्णनमें भव-देव बड़े कष्टसे, द्रव्य-लिङ्गी हुआ था और उसके होनेपर बाद में भावलिङ्ग के द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुआ था। भावमल अर्थात् अपरिशुद्ध परिणाम के द्वारा जिन-सम्यक्त्व से रहित होनेके कारण यह जीव बाह्य पदार्थोंका सङ्ग होनेपर मलिन हो जाता है अर्थात् सम्यक्त्व के विना निर्ग्रन्थ भी सग्रन्थ हो जाता है यहां द्रव्य-लिङ्ग और भाव लिङ्ग के विषय में एकान्तका पक्ष छोड़कर स्याद्वाद की पद्धति पर सात भङ्गों की योजना करना चाहिये। १ कथंचित् भाव-लिङ्ग से मोक्ष होता है क्योंकि उसमें द्रव्य लिङ्गकी भी अपेक्षा रहती है, २ कथंचित् द्रव्य-लिङ्ग से मोक्ष होता है क्योंकि उसमें भाव-लिङ्ग की भी अपेक्षा रहती है, ३ कथंचित् दोनों लिङ्गोंसे मोक्ष प्राप्त होता है क्योंकि क्रमसे दोनों की अपेक्षा रहती है, ४ कथंचित् मोक्षका कारण अवक्तव्य है क्योंकि एक साथ दोनोंका कथन नहीं हो सकता। ५ कथंचित् मोक्षका कारण भावलिङ्ग है तथा अवक्तव्य भी है, ६ कथंचित् मोक्षका कारण द्रव्य-लिङ्ग भी है तथा अवक्तव्य भी है और ७ कथंचित् मोक्षका कारण द्रव्य-लिङ्ग, भाव-लिङ्ग दोनों हैं तथा अवक्तव्य भी है।

मूल में द्रव्य-लिङ्ग, भावलिङ्ग और अवक्तव्य ये तीन धर्म हैं उनके संयोग-वश उक्त सात भङ्ग हो जाते हैं।

णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥७१॥

धर्मे निप्रवासो दोषावासश्च इक्षुपुष्पसमः ।
निष्फलनिर्गुणकारो नटश्रमणो नग्नरूपेण ॥

धम्मम्मि णिप्पवासो धर्मे दयालक्षणे चारित्रलक्षणे आत्मस्वरूपे उत्तमक्षमादिदशलक्षणे । उक्तं च—

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाण य रक्खणो धम्मो । १ ।

एवमुक्तलक्षणे धर्मे निप्पवासो–निरतिशयेन प्रवासः प्रगतवासः उद्वस इत्यर्थः । *दोसावासो य* दोषाणां मलातिचाराणामावासो निवासः । *उच्छुफुल्लसमो* इक्षुपुष्पसमः इक्षुपुष्पसदृशः । *णिप्फलणिग्गुणयारो* निष्फलो मोक्षरहितः, निर्गुणो ज्ञानरहितः । यथा इक्षुपुष्पं निष्फलं फलरहितं भवति सस्यविवर्जितं स्यात् तथा निर्गुणं गन्धहीनं भवति तथा परमार्थरहितो दिगम्बरो ज्ञातव्यः । तथा निर्गुणकारः परेषां गुणकारको न भवति सम्बोधको न स्यात् । *णडसवणो णग्गरूवेण* नग्नरूपेण कृत्वा नटश्रवणः नटश्रमणश्च सदृशः । स लोकरंजनार्थं नग्नो भवति तथायमपि । इति व्याख्यानं ज्ञात्वा सम्यक्त्वे ज्ञाने चारित्रे तपसि च दृढतया स्थातव्यं ।

गाथार्थ—जिसका धर्म में निवास नहीं है, अर्थात् जो धर्मसे दूर है, जिसमें दोषों का आवास है और जो ईख के फूल के समान निष्फल तथा निर्गुण है वह नाग्न्य वेष से नट श्रमण–मुनिका वेष रखने वाले नट के समान जान पड़ता है ॥७१॥

विशेषार्थ—धर्मका लक्षण दया है, धर्मका लक्षण चारित्र है, धर्मका लक्षण आत्मस्वरूप है, और धर्मका लक्षण उत्तम क्षमादि दश धर्म हैं । जैसा कि कहा गया है–

धम्मो वत्थुसहावो—वस्तु स्वभावको धर्म कहते है, अथवा क्षमा आदि दश धर्मों को धर्म कहते हैं, अथवा चारित्र को धर्म कहते हैं अथवा जीव–रक्षाका धर्म कहते हैं । इस तरह उक्त लक्षण वाले धर्मके विषय में जो अत्यन्त प्रवास है–उद्वस है अर्थात् दूरवर्ती है, जो दोषों अर्थात् अतिचारोंका निवास है और जो इक्षुके फूलके समान निष्फल अर्थात् मोक्ष रूप फलसे रहित तथा निर्गुण–ज्ञानसे रहित होता है । जिस प्रकार इक्षुका फूल फल रहित और निर्गन्ध होनेसे निर्गुण होता है उसी प्रकार जो मुनि निष्फल–मोक्ष रहित और निर्गुण-ज्ञान-हीन होता है अथवा दूसरों का निर्गुण कर देता है, वह नग्न रूपके कारण नट श्रमण ही है अर्थात् मुनि-वेषी नट श्रमण है । वह मात्र लोकोंको अनुरञ्जित करने के लिये नग्न होता है, यथार्थ में नहीं ।

इस तरह इस व्याख्यान का सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वनिग्गंथा ।
न लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥ ७२ ॥

ये रागसंगयुक्ता जिनभावनरहितद्रव्यनिर्ग्रन्थाः ।
न लभन्ते ते समाधिं बोधिं जिनशासने विमले ॥

जे रायसंगजुत्ता ये मुनयो रागेण स्त्रीप्रीतिलक्षणेन, संगेन परिग्रहेण युक्ता भवन्ति । अथवा रागेण संगं स्त्रीगमनं कुर्वन्ति । अथवा राजसंगः अर्हद्भावनां त्यक्त्वा राजसेवां कुर्वन्ति राजसेवायुक्ता भवन्ति *जिणभावणरहियदव्वनिग्गंथा* जिनभावनारहितद्रव्यनिर्ग्रंथाः, जिने भावना रुचिर्येषां नास्ति ते जिनभावनारहितास्ते च ते द्रव्य—निर्ग्रन्था नग्नरूपधारिणो जिनभावनारहितद्रव्यनिर्ग्रन्थाः । अथवा जिनस्य भावना तीर्थंकरनामकर्मोपार्जनप्रत्ययभूता दर्शनविशुद्धयादयो भावनाः षोडश ताभ्यो रहिताः । जिनसम्यक्त्वसहिता व्यस्ताः समस्ता वा भावनास्तीर्थंकरनामकर्मदायिका भवन्ति । दर्शनविशुद्धिरहिता अपराः पंचदशापि भावनास्तीर्थंकरनामकर्म नार्पयन्ति । तथा चोक्तं—

चारित्र और समीचीन तप में सदा दृढ रहना चाहिये ॥७१॥

गाथार्थ—जो मुनि राग रूप परिग्रह से युक्त हैं तथा जिन भावना से रहित होकर मात्र द्रव्य की अपेक्षा नग्न–मुद्राको धारण करते हैं, वे निर्मल जिन शासन में समाधि और बोधि–रत्नत्रय रूप सम्पत्ति को नहीं प्राप्त होते हैं ॥७२॥

विशेषार्थ—संस्कृत टीका-कार ने 'राय–संग—जुत्ता' इस पद की संस्कृत छाया राग-सङ्ग-युक्ता और राज-सङ्ग-युक्ता स्वीकृत की है। 'राग-सङ्ग-युक्ता' इस छाया में रागश्च सङ्गश्च राग-सङ्गौ ताभ्यां युक्ता ऐसा समास करके उक्त पदका अर्थ किया है कि जो मुनि स्त्री-प्रीति रूपी राग और परिग्रह—रूप सङ्ग से युक्त हैं। अथवा रागेण सङ्गः रागसङ्गः तेन युक्ताः ऐसा समास कर दूसरा अर्थ किया है कि जो रागसे सङ्ग अर्थात् स्त्री गमन करते हैं—स्त्रियों से अधिक संपर्क रखते हैं। अथवा 'राजसंग–युक्ता' इस छाया के अनुसार एक अर्थ यह भी किया है कि जो मुनि अर्हन्त भगवान् की भावना को छोड़ कर राज-सेवा करते हैं--राजदरवार में आना जाना आदि कार्यों में व्यासक्त रहते हैं। इसके सिवाय जो जिन भावना जिन–श्रद्धा से रहित होकर मात्र द्रव्य--निर्ग्रन्थ हैं--नग्न रूपको धारण करने वाले हैं अथवा जिन भावना का अर्थ तीर्थंकर नाम कर्म के बन्धमें कारणभूत दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाएं भी हैं सो जो इन भावनाओं से रहित होकर मात्र द्रव्य से निर्ग्रन्थ हुए हैं—मात्र नग्न रूपको धारण करने वाले हैं अथवा जो

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं ।

पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ १ ॥

अथवा द्रव्यनिर्ग्रन्थाः—बहुविधधर्ममिषेण द्रव्यमुपार्जयन्ति ये ते द्रव्यनिर्ग्रन्थाः कथ्यन्ते । न *लहंति ते समाहिं* ते मुनयः समाधिं रत्नत्रयपरिपूर्णतां धर्म्यशुक्लध्यानद्वयं वा न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति । *बोहिं जिणसासणे विमले* बोधिं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणां न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति जिनशासने श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागमते । कथंभूते, विमले पूर्वापरविरोधविवर्जिते कर्ममलकलङ्कक्षयहेतुभूते वा ।

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं ।

पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥ ७३ ॥

भावेन भवति नग्नः मिथ्यात्वादींश्च दोषान् त्यक्त्वा ।

पश्चाद्द्रव्येण मुनिः प्रकटयति लिंगं जिनाज्ञया ॥

इन भावनाओं से रहित होकर मात्र द्रव्य-धनके लिये नग्न मुद्रा धारण करते हैं अर्थात् नग्न-मुद्रा धारण कर नाना प्रकार के धर्मके मिष से द्रव्यका उपार्जन करते हैं वे मुनि समाधि अर्थात् रत्नत्रय की पूर्णता और अथवा धर्म्य-ध्यान और शुक्लध्यान इन दो उत्तम ध्यानों का एवं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी बोधिको नहीं प्राप्त होते हैं । जिनेन्द्र भगवान् का शासन विमल है, पूर्वा-पर विरोध से रहित है अथवा कर्म मल कलङ्क के क्षयका कारण है । ऊपर दर्शन विशुद्धि आदि जिन सोलह भावनाओं का उल्लेख हुआ है वे दर्शन-विशुद्धि अर्थात् जिन सम्यक्त्व से सहित सबकी सब हों अथवा पृथक् २ हों तीर्थंकर प्रकृति नामक नाम कर्मका बन्ध कराने वाली हैं । किन्तु दर्शन-विशुद्धि से रहित शेष पन्द्रह भावनाए भी हों तो भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं कराती हैं । जैसा कि कहा गया है--

एकापि—यह एक जिन--भक्ति दर्शन-विशुद्धि कुशल मनुष्य को दुर्गति का निवारण करने के लिये, पुण्य की पूर्ति करने के लिय और मुक्ति लक्ष्मी को देनके लिये समर्थ है ।

गाथार्थ—मुनि पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़ कर भावसे नग्न होता है, पीछे जिनेन्द्र देवकी आज्ञानुसार द्रव्य से लिङ्ग प्रकट करता है—नग्न वेष धारण करता है ।

विशेषार्थ—यहां भावका अर्थ परम धर्मानुराग रूप जिन-सम्यक्त्व है । मुनि पहले मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग रूप आस्रव द्वारों को छोड़ कर भावसे नग्न होता है पीछे जिनेन्द्र देव की आज्ञानुसार द्रव्य लिङ्ग को प्रकट करता है अर्थात् [illegible]

भावेण होइ णग्गो भावेन परमधर्मानुरागलक्षणजिनसम्यक्त्वेन भवति, कीदृशो भवति ? नग्नः वस्त्रादिपरिग्रहरहितः ? किं कृत्वा पूर्वं, *मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं* मिथ्यात्वादींश्च दोषांस्त्यक्त्वा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणास्रवद्वाराणि त्यक्त्वा । *पच्छा दव्वेण मुणी* पश्चात् भावलिंगधरणादनन्तरं मुनिर्दिगम्बरः । *पयडदि लिंगं जिणाणाए* प्रकटयति स्फुटीकरोति, किं तत् ? लिंगं—जिनमुद्रां, कया जिणाणाए—जिनस्याज्ञया जिनसम्यक्त्वेन सम्यक्त्वश्रद्धानरूपेणेति बीजांकुरन्यायेनोभयं संलग्नं ज्ञातव्यं । भावलिंगेन द्रव्यलिंगं, द्रव्यलिंगेन भावलिंगं भवतीत्युभयमेव प्रमाणीकर्तव्यं । एकान्तमतेन तेन सर्वं नष्टं भवतीति वेदितव्यं । अलं दुराग्रहेणेति ।

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो ।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥ ७४ ॥

भावोपि दिव्यशिवसुखभाजनं भाववर्जितः श्रमणः ।
कर्ममलमलिनचित्तः तिर्यगालयभाजनं पापः ॥

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो इदि विपुलानाम—गाथालक्षणं । भावोऽपि, अपिशब्दाद्द्रव्य-

होता है पीछे जिनेन्द्र देवकी आज्ञानुसार द्रव्य–लिंगको प्रकट करता है अर्थात् वस्त्र का परित्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण करता है यहां द्रव्य-लिङ्ग और भाव-लिङ्गको बीजांकुरन्याय से परस्पर संलग्न जानना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार बीजके विना अंकुर और अंकुर के विना बीज नहीं होता, उसी प्रकारसे भाव-लिङ्गके विना द्रव्य-लिङ्ग और द्रव्य लिङ्गके विना भावलिङ्ग नहीं होता । एकान्त मतसे सब सिद्धान्त नष्ट होजाता है इसलिये द्रव्य-लिङ्ग और भावलिङ्ग दोनों को प्रमाण मानना चाहिये । इनमें पहले कौन होता है और पीछे कौन ? इसका दुराग्रह करना व्यर्थ है ७३॥

गाथार्थ—भाव तथा द्रव्य दोनों लिङ्गों का धारक मुनि स्वर्ग और मोक्ष-सम्बन्धी सुखोंका भाजन होता है तथा भावलिङ्ग से रहित पापी मुनि कर्म रूपी मलसे मलिन चित्त होता हुआ तिर्यञ्च गतिका पात्र होता है ॥७४॥

विशेषार्थ—भावो वि--भावोऽपि यहां अपि शब्दसे द्रव्य-लिङ्ग का भी समुच्चय होता है अतः गाथाका अर्थ इस प्रकार निकलता है कि भाव तथा द्रव्य दोनों लिङ्गों को धारण करने वाला मुनि स्वर्ग और मोक्षके सुखका भाजन होता है और भावसे रहित अर्थात् मात्र द्रव्य लिङ्गका धारक पापी मुनि कर्म रूपी मल से मलिन-चित्त होता हुआ तिर्यञ्च गतिका पात्र होता है । यहां इतना विशेष समझना चाहिये कि सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग तकके सुख तो मुनिलिङ्ग के विना भी प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि

लिंगमपि। दिव्व-दिवि भवं दिव्यं सौधर्मैशानदेवीरतिक्रम्यान्यत्रमहर्द्धिकदेवसुखं सौधर्माद्यच्युतस्वर्गपर्यन्तं सुखं द्रव्यलिंगमनन्तरेण भावनीयं। तद्युक्तद्रव्यलिंगेन सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तं सुखं ज्ञातव्यं कस्यचिदभव्यस्य भावलिंगमन्तरेण द्रव्यलिंगेन नवग्रैवेयकपर्यन्तं पुनः पुनर्भवपातहेतुभूतं सुखं ज्ञातव्यं। तेनास्य पादस्य पृथ प्रकाश्यते। भावोऽपि दिव्यशिवसौख्यभाजनं स्वर्गमोक्षसौख्यभाजनं। *भाववज्जिओ सवणो* भाववर्जितः श्रवणो जिनसम्यक्त्वरहितो दिगम्बरः। *कम्ममलमलिणचित्तो* कर्ममलेन अतिचारानाचारातिक्रमव्यतिक्रमचेष्टितपापार्जि-

---

गृहस्थ सम्यग्दृष्टि जीवका उत्पाद सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग तक होता है उसमें भी सौधर्म और ऐशान स्वर्ग की देवियों को छोड़कर अन्य महर्द्धिक देवों में ही गृहस्थ सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है। यहां मात्र सौधर्म और ऐशान स्वर्ग की देवियों में इसका उत्पाद नहीं बताया है इसका यह अर्थ नहीं है कि आगामी स्वर्ग की देवियों में होता है क्योंकि समस्त स्वर्गों की देवियों की उत्पत्ति सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में ही होती है अतः इन दो स्वर्ग की देवियों में ही सब स्वर्गों की देवियों का अन्तर्भाव हो चुकता है। सम्यग्दृष्टि जीवका उत्पाद किसी भी प्रकार स्त्रियों में नहीं होता है। अच्युत स्वर्ग से ऊपर उत्पन्न होनेके लिये मुनि लिङ्गका होना आवश्यक रहता है इसलिये भाव लिंग सहित द्रव्य लिङ्ग के द्वारा यह जीव सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थ-सिद्धि तकके सुख प्राप्त करता है। इसमें भी विशेषता यह है कि यदि कोई अभव्य जीव मुनिव्रत धारण करता है तो उसके भावलिङ्ग नहीं हो सकता, सदा द्रव्य-लिङ्ग ही रहता है और उस द्रव्य-लिङ्ग के प्रभाव से भी वह नौवें ग्रैवेयक तकके सुख प्राप्त कर सकता है। अभव्य जीवका यह स्वर्ग-सम्बन्धी सुख पुनः संसार में पतन का ही कारण है, ऐसा जानना चाहिये। इस पादका दूसरा अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि भाव-लिङ्गी मुनि भी स्वर्ग और मोक्ष सुखका पात्र होता है। भाव-लिङ्गी मुनिकी यदि सराग चारित्र दशा में मृत्यु होती है तो वह मरकर स्वर्ग में ही उत्पन्न होता है, मोक्ष नहीं जा सकता क्योंकि मोक्षजाने के लिये पूर्ण वीतराग चारित्रकी आवश्यकता होती है और पूर्ण वीतराग चारित्र दशा में पर्याय समाप्त होती है तो मोक्ष जाता है इस तरह भाव-लिङ्गी मुनि स्वर्ग तथा मोक्ष दोनों जगह जाते हैं परन्तु भावसे रहित पापी मुनि तिर्यञ्च गतिका पात्र होता है। यहां भाव-रहित होनेके साथ २ पापी विशेषण भी दिया है उससे सिद्ध होता है कि जो द्रव्यसे मुनिपद रखकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हुए पापोपार्जन करते हैं वे तिर्यञ्च गतिके पात्र होते हैं—निगोद तक में उत्पन्न होते हैं। वैसे करणानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व न होनेके कारण जो भाव—लिङ्गी नहीं कहलाते फिर भी चरणानुयोग की पद्धति के अनुसार समीचीन आचरण करते हैं ऐसे द्रव्य-

लपापेन दोषेण मलिनचित्तः मलिनं मलदूषितं चित्तमात्मा यस्य स भवति कर्ममलमलिनचित्तः । *तिरियालयभायणो पावो* तिर्यगालयभाजनं तिर्यग्गतिस्थानं भवति, पापः पापात्मा विचित्रमतिनामर्मात्रिपुत्रवत् ।

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विउला ।
चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही ण [1]भव्वणुआ ॥ ७५ ॥

खचरामरमनुजानामञ्जलिमालाभिः संस्तुता विपुला ।
चक्रधरराजलक्ष्मीः लभ्यते बोधिं न भव्यनुता ॥

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च इयमपि विपुला गाथा ज्ञातव्या । अस्या अयमर्थः—खचरामरमनुजकराञ्जलिमालाभिश्च खे चरन्त्याकाशे गच्छन्तीति खचरा विद्याधरा उभयश्रेणिसम्बन्धिनः, न

लिङ्गी मुनि नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते ही हैं । भाव अर्थात् जिन—सम्यक्त्वसे रहित साधु जब चरणानुयोग में वर्णित मुनिके आचार विचार में भी श्रद्धा नहीं रखता तथा अतिचार अनाचार अतिक्रम और व्यतिक्रम रूप चेष्टाओंके द्वारा पाप कर्मका उपार्जन करने लगता है तब उसका चित्त सदा मलिन रहता है । उस दशा में वह पापी कहलाता है और विचित्र-मति नामक मन्त्रीके पुत्रके समान तिर्यञ्च गतिका पात्र होता है । इस गाथा में विपुला नामक आर्या छन्द है ॥ ७४ ॥

गाथार्थ—विद्याधर देव और मनुष्यों की हस्ताञ्जलियों के समूह से जिसकी अच्छी तरह स्तुति की गई है ऐसी चक्रवर्ती तथा अन्य राजाओं की भारी लक्ष्मी तो इस जीवके द्वारा कईबार प्राप्त की जाती है परन्तु भव्यजीवों के द्वारा स्तुत रत्नत्रय की लक्ष्मी प्राप्त नहीं की जाती अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥ ७५ ॥

विशेषार्थ—जो आकाश में चलते हैं वे विद्याधर हैं, ये विद्याधर विजयार्ध पर्वत की उत्तर तथा दक्षिण श्रेणियों पर निवास करते हैं जो बहुत काल तक मरते नहीं हैं अर्थात् दीर्घायुष्क होते हैं ऐसे व्यन्तर देव अमर कहलाते हैं । तथा प्रति-श्रुति आदि मनुओं—कुलकरों से जिनकी उत्पत्ति हुई है वे मनुज हैं । इन सबके कर-कुड्मलों की मालाओं से जिसकी सम्यक् प्रकार स्तुति की जाती है अर्थात् विद्याधर व्यन्तर देव तथा मनुष्य जिसे हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं ऐसी चक्रवर्तियों, मण्डलेश्वर, महा मण्डलेश्वर तथा अर्ध मण्डलेश्वर राजाओं की विपुल—बहुत भारी लक्ष्मी तो जीवके द्वारा प्राप्त की जाती है परन्तु श्रेष्ठ भव्य जीवोंके द्वारा स्तुत बोधि-रत्नत्रय रूप विभूति प्राप्त नहीं कही जाती ;

१—सुभावेणेति पाठान्तरं जयचन्द्रेणापि स्वीकृतं तस्मादृत्वाचाप्यात्तः ।

म्रियन्ते बहुकालेन प्रच्यवन्तेऽमरा व्यन्तरदेवाः, मणुय—प्रतिश्रुत्यादिभ्यो जाता मनुजाः, खचरामरमनुजास्तेषां कराञ्जलयः करकुड्मलानि तेषां मालाभिः श्रेणिभिश्च । संथुआ—संस्तुताः । चक्रवर्तिनां च तथा मण्डलेश्वरमहामण्डलेश्वरार्धमण्डलेश्वराणां राज्ञां लक्ष्मीः चक्रधरराजलक्ष्मी । *लब्भइ बोही ण भव्वणुआ* एतादृशी लक्ष्मीर्विभूतिर्लभ्यते प्राप्यते जीवेनेति, बोही ण—परं बोधिर्न लभ्यते । कथंभूता बोधिः, भव्यनुता भव्यवरपुण्डरीकैः स्तुता प्रशंसनीया । अथवा हे भव्यनुत ! आसन्नभव्यजीव ! त्वामदं जानीहीति शेषः ।

पगलियमाणकसाओ पगलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो ।

पावइ तिहुयणसारं बोही जिणसासणे जीवो ।। ७६ ।।

प्रगलितमानकषायः प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तः ।

प्राप्नोति त्रिभुवनसारां बोधिं जिनशासने जीवः ।।

अर्थात् चक्रवर्ती आदि की लक्ष्मी का मिलना तो सरल है परन्तु रत्नत्रय रूप विभूति का मिलना कठिन है । अथवा भव्वणुआ इस विशेषण को बोहो के साथ न लगाकर स्वतन्त्र संबोधन पद माना जा सकता है इस पक्ष में 'भव्वणुआ' पदका अर्थ होगा—हे भव्य जीवोंके द्वारा स्तुत निकट भव्यजीव ! तुम ऐसा जानो इस गाथामें भी विपुला नामक आर्या छन्द है ।

गाथार्थ—जिसकी मान कषाय गल चुकी है, जिसके मिथ्यात्व और मोह नष्ट हो चुके हैं तथा जिसका चित्त समता भावको प्राप्त हुआ है ऐसा जीव ही जिनशासन मे त्रिलोक श्रेष्ठ बोधि—रत्नत्रय रूप विभूतिको प्राप्त होता है ।। ७६ ।।

विशेषार्थ—मानका अर्थ अहंकार है, मिथ्यात्व विपरीत अभिप्राय को कहते हैं मोह, वैचित्त्य, निर्विवेकता अथवा पुत्र मित्र स्त्री आदिका स्नेह कहलाता है । समचित्त का अर्थ तृण, और सुवर्ण, सर्प और माला, शत्रु और मित्र, सुख और दुःख, वन और

श्री पं० जयचन्द्रेणापि स्वीकृते ।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं । असुहं अट्टरउद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ १ ॥

भावः त्रिविधप्रकारः शुभोऽशुभः शुद्ध एव ज्ञातव्यः । अशुभः आर्त्तरौद्रः शुभः धर्म्यं जिनवरेन्द्रैः ।।

टीका—भावं त्रिविधप्रकारं शुभं अशुभं शुद्धं एव निश्चयेन ज्ञातव्यं अशुभं आर्तरौद्रं । शुभं धर्मध्यानं जिनवरेन्द्रैः कथितम् ।

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं । इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ २ ॥

शुद्धः शुद्धस्वभावः आत्मा आत्मनि स च ज्ञातव्यः । इति जिनवरैः भणितः यच्छ्रेयः तत् समाचर ॥

टीका—हे मुने ! शुद्धं निर्मलं शुद्धस्वभावं तं आत्मानं आत्मनि ज्ञातव्यं । इति जिनवरैर्भणितं कथितं । यच्छ्रेयं कल्याणकारि तत् समाचर कुर्विति ।

पयलियमाणकसाओ प्रगलितमानकषायो मानकषायरहितः । *पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो* प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तो यद्विपरीतं तन्मिथ्यात्वं, मोहो वैचित्यं निर्विवेकता पुत्रमित्रकलत्रादिस्नेहः, प्रगतौ विनाशं प्राप्तौ मिथ्यात्वमोहौ यस्य स प्रगलितमिथ्यात्वमोहः, समं सर्वत्र तृणसुवर्ण–सर्पस्रक् शत्रुमित्र—सुखदुःख—वनभवन—पुरारण्यादिषु समानं चित्तं मनो यस्य समचित्तः । *पावइ तिहुयणसारं* प्राप्नोति लभते । कां, *बोही* बोधिं रत्नत्रयप्राप्तिं । कथंभूतां बोधिं, *तिहुयणसारं*–त्रैलोक्योत्तमां । *जिणसासणे जीवो* जिनशासने सर्वज्ञवीतरागस्वामिनो मते । मानमिथ्यात्वमोहरहितो जीवो बोधिं प्राप्नोतीति जिनवचनं ज्ञातव्यमिति ।

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊणं ।
तित्थयरनामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥ ७७ ॥

विषयविरक्तः श्रमणः षोडशवरकारणानि भावयित्वा ।
तीर्थंकरनामकर्म बध्नाति अचिरेण कालेन ॥

विसयविरत्तो समणो विषयेभ्यः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्देभ्यः पञ्चेन्द्रियार्थेभ्यो विरक्तः पराङ्मुखः श्रमणो दिगम्बरः, न तु श्वेताम्बरादिकः प्रत्याख्यानादिहीनः, तपःक्लेशसहः श्रमण उच्यते न तु बहुवारं जलस्य पाता भोजनस्य भोक्ता च *छद्दसवरकारणाइं भाऊणं* षोडशवरकारणानि भावयित्वा । *तित्थयरनामकम्मं बंधइ* तीर्थंकरनामकर्म बध्नाति त्रिनवतिमीं प्रकृतिं स्वीकरोति यया त्रैलोक्यं संचलयति पादाधः करोति । *अइरेण कालेण* अचिरेण कालेन अन्तर्मुहूर्तसमयेन, यया पंचकल्याणलक्ष्मीं प्राप्नोति, अनन्तकालमनन्तसुखमनुभवति, अनायासेन मोक्षं प्राप्नोति । अथ कानि तानि षोडशकारणानि यैस्तीर्थंकरनामकर्म बध्यत इति चेदुच्यते—

भवन, तथा नगर और अटवी में समभाव रखना है इस तरह जिसकी मान कषाय गल चुकी है, जिसके मिथ्यात्व और मोह नष्ट हो चुके हैं तथा जो तृण सुवर्ण आदि में समचित्त है–हर्ष विषाद से रहित है वही तीन लोक में सारभूत रत्नत्रय रूप विभूति को प्राप्त होता है, ऐसा जिनशासन–वीतराग सर्वज्ञ देवका वचन है ॥ ७६ ॥

गाथार्थ—विषयों से विरक्त रहने वाला साधु सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर थोड़े ही समय में तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध कर लेता है ॥७७॥

विशेषार्थ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये पञ्चेन्द्रियों के विषय हैं । दिगम्बर साधु इन विषयों से सदा विरक्त रहते हैं । तपश्चरण-सम्बन्धी क्लेश सहन करनेके कारण दिगम्बर साधु श्रमण कहलाते हैं । अन्य श्वेताम्बरादिक साधु प्रत्याख्यान से रहित हैं तथा अनेक वार जल पीते एवं भोजन ग्रहण करते हैं इसलिये उन्हें श्रमण संज्ञा नहीं

"[१]दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचन-वत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य"

इत्युमास्वामिसूरिणा प्रोक्तं सूत्रं। अस्यायमर्थः—इहलोकभय—परलोकभय-वेदनाभय-मरणभय-आत्मरक्षणोपायदुर्गाद्यभावागुप्तिभयः—अत्राणभयारक्षणभय—विद्युत्पाताद्याकस्मिभय इति सप्तभयरहित-तत्वं निःशंकितत्वं निर्ग्रन्थलक्षणो मोक्षमार्ग इति जिनमतं तथेति वा निःशंकितत्वं (१) इहलोकपरलोक-भोगोपभोगाकांक्षानिवृत्तिर्निष्कांक्षितत्वं (२) शरीरादौ शुचीति मिथ्यासंकल्परहितत्वं निर्विचिकित्सता, मुनीनां रत्नत्रयमंडितशरीरमलदर्शनादौ निशूकत्वं तत्र समाढौक्य वैयावृत्यविधानं वाविचिकित्सता (३) परतत्वेषु मोहोज्झकत्वममूढदृष्टित्वं (४) उत्तमक्षमादिभिरात्मनो धर्मवृद्धकरणं संघदोषाच्छादनं चोप बृंहणमुपगूहनं (५) कषायविषयादिभिर्धर्मविध्वंसकारणेषु सत्स्वपि धर्मप्रच्यवनरक्षणं स्थितिकरणं (६) जिनशासने सदानुरागता वात्सल्यं (७) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोभिरात्मप्रकाशनं शासनोद्योतकरणं वा प्रभावना (८) एतैरष्टभिर्गुणैर्युक्तत्वं चर्मजलतैलघृतभूतनाशनाऽयोगत्वं मूलकगाजरसूरणाकन्दगृंजनपलाण्डुबिसदौर्गिधककलिंगपंचपुष्पसंधानककौसुंभपत्रशाकमांसादिभक्षणाभावनं [illegible] दर्पापहरणं च

हैं। जो श्रमण-मुनि पञ्चेन्द्रियोंके विषयों से विरक्त होता हुआ सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन करता है वह अल्प ही समय में उस तीर्थंकर नामकी प्रकृति का बन्ध करता है जिससे पञ्चकल्याण रूप लक्ष्मीको प्राप्त होता है, अनन्त काल तक अनन्त सुखका अनुभव करता है और अनायास ही मोक्षको प्राप्त होता है।

प्रश्न—वे सोलह कारण भावनाएं कौन हैं जिनसे तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध होता है ?

उत्तर—श्री उमास्वामी सूरिने तत्वार्थ सूत्र में निम्न लिखितसोलह कारण भावनाएं कही हैं–१ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसंपन्नता, ३ शीलव्रतेष्वनतिचार, ४ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६ शक्तितस्त्याग, ७ शक्तितस्तप ८ साधुसमाधि ९ वैयावृत्य करण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्य भक्ति, १२ बहुश्रुत भक्ति, १३ प्रवचन भक्ति १४ आवश्यकापरिहाणि १५ मार्ग प्रभावना और १६ प्रवचनवत्सलत्व। (१) इनमें प्रथम भावना दर्शन विशुद्धि है जिसका प्रमुख अर्थ अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन धारण करना है। १ निःशङ्कित २ निःकांक्षित ३ निर्विचिकित्सित ४ अमूढदृष्टि ५ उपगूहन ६ स्थिति करण ७ वात्सल्य और ८ प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके आठ अङ्ग हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१ निःशङ्कित अङ्ग—इह लोकभय, परलोकभय, वेदनाभय, मरण भय, आत्मरक्षाके उपायभूत दुर्ग आदिके अभाव में होने वाला अगुप्ति भय, रक्षकोंके अभाव में होनेवाला

१—तत्वार्थसूत्रे षष्ठाध्याये।

दर्शनविशुद्धिः (१) ज्ञानदर्शनचारित्रेषु तद्वत्सु चादरोऽकषायता वा विनयसम्पन्नता (२) निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः (३) सततं ज्ञानस्योपयोगोऽभ्यासः अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः (४) संसाराद्भीरुत्वं संवेगः (५) स्वशक्त्यनुरूपं दानं (६) मार्गाविरुद्धः कालक्लेशस्तपः (७) मुनिगणतपःसन्धारणं साधुसमाधिः (८) गुणवतां दुःखोपनिपाते निरवद्यवृत्त्या तदपनयनं वैयावृत्यं (९) अर्हत्सु केवलिषु अनुरागो भक्तिः (१०) आचार्येष्वनुरागो भक्तिः (११) बहुश्रुतेष्वनुरागो भक्तिः (१२) प्रवचने

अत्राण अथवा अरक्षण भय, और विद्युत्पात आदि आकस्मिक भय इन सात भयोंका अभाव होना निःशङ्कित अङ्ग है अथवा मोक्षमार्ग निर्ग्रन्थ लक्षण है–मोक्ष दिगम्बर मुद्रासे ही साध्य है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का मत है सो वह यथार्थ है, इसप्रकार का अटल श्रद्धान होना सो निःशङ्कित अङ्ग है।

२ निःकांक्षित अङ्ग—इस लोक और परलोक सम्बन्धी भोगोपभोग की आकांक्षा का अभाव होना निःकांक्षित अङ्ग है।

३ निर्विचिकित्सित अङ्ग—शरीरादि में 'यह पवित्र है' इस प्रकार का मिथ्या-संकल्प न होना निर्विचिकित्सित अङ्ग है। अथवा मुनियों के रत्नत्रय से सुशोभित शरीर सम्बन्धी मल आदिके दिखने पर ग्लानि रहित अवस्था को प्राप्त हो वैयावृत्य करना निर्विचिकित्सित अङ्ग है।

४ अमूढदृष्टि अङ्ग—मिथ्या-दृष्टियोंके कल्पित तत्वोंमें मोह छोड़ना अमूढदृष्टि अङ्ग है।

५ उपबृंहण अथवा उपगूहन अङ्ग—उत्तम क्षमा आदिके द्वारा अपने धर्मकी वृद्धि करना अथवा संघके दोषोंको छिपाना उपबृंहण अथवा उपगूहन अङ्ग है।

६ स्थितीकरण अङ्ग—कषाय तथा विषय आदि द्वारा धर्म-घातका कारण उपस्थित होनेपर भी किसी को धर्मघात से बचाना स्थितीकरण अङ्ग है।

७ वात्सल्य अङ्ग—जिनशासन में सदा अनुराग दिखाना वात्सल्य अङ्ग है।

८ प्रभावना अङ्ग—सम्यग्दर्शन सम्यग् ज्ञान सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपके द्वारा आत्माका प्रकाश करना अथवा जिन शासन का उद्योत फैलाना सो प्रभावना अङ्ग है

इन आठ गुणोंसे युक्त होना तथा चमड़े में रखे हुए तैल घी और हींगका प्रयोग नहीं करना, एवं मूली, गाजर, सूरण कन्द गृञ्जन, प्याज, मृणाल, दुधी, तरबूज, पञ्च-पुष्प, अचार मुरब्बा, कुसुम्भ पत्र, पत्तोंवाली शाक, और मांस-भक्षी मनुष्यों के वर्तन तथा भोजन आदि का त्याग करना दर्शनविशुद्धि भावना है।

(२) दर्शन ज्ञान और चारित्र तथा इनके धारकों में आदर और अकषाय भावके

जिनसूत्रेऽनुरागो भक्तिः (१३) सामायिकं सर्वजीवेषु समत्वं, चतुर्विंशतिजिनानां स्तुतिः स्तवः कथ्यते, एकजिनस्य स्तुतिर्वन्दनाभिधीयते, कृतदोषनिराकरणं प्रतिक्रमणं, आगामिदोषनिराकरणं प्रत्याख्यानं। एकमुहूर्तादिषु शरीरव्युत्सर्जनं कायोत्सर्गः एतेषां षण्णामावश्यकानामपरिहाणिरेका चतुर्दशी भावना (१४) ज्ञानादिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना (१५ सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वं (१६) एताः षोडश-भावनाः समस्तास्तीर्थंकरनामकारणं दर्शनविशुद्धिसहिता व्यस्ता अपि तीर्थंकरनामकारणं भवन्तीति ज्ञातव्यं

धारण करनेको विनय सम्पन्नता कहते हैं।

(३) शील तथा व्रतोंमें निर्दोष प्रवृत्ति करना शील–व्रतेष्वनतीचार भावना है।

(४) निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना है।

(५) संसार से भयभीत रहना संवेग भावना है।

(६) अपनी शक्ति के अनुसार दान देना शक्तितस्त्याग भावना है।

(७) मार्गसे अविरुद्ध कायक्लेश करना शक्तितस्तप भावना है।

(८) मुनि-समूह का तपमें धारण करना अर्थात् उनके तपश्चरण में आये हुए विघ्नों का दूर करना साधु-समाधि है।

(९) गुणी मनुष्यों को दुःख उपस्थित होनेपर निर्दोष वृत्तिसे उसे दूर करना वैयावृत्य भावना है।

(१०) अर्हन्त केवली भगवान् में अनुराग होना अर्हद्भक्ति है

(११) आचार्यों में अनुराग होना आचार्य–भक्ति है।

(१२) अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता उपाध्याय आदिमें अनुराग होना बहुश्रुत भक्ति है।

(१३) प्रवचन—जिनागममें अनुराग होना प्रवचनभक्ति है।

(१४) सामायिक सब जीवों में समता भाव होना, स्तव अर्थात् चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करना, वन्दना अर्थात् एक तीर्थंकर को स्तुति करना, प्रतिक्रमण अर्थात् लगे हुए दोषोंका निराकरण करना, प्रत्याख्यान अर्थात् आगामी दोषोंका निराकरण करना, और कायोत्सर्ग अर्थात् एक मुहूर्त आदिके लिये शरीर से ममत्व भाव छोड़ना इन छह आवश्यक कार्योंको नहीं छोड़ना आवश्यकापरिहाणि भावना है।

(१५) ज्ञान आदिके द्वारा धर्मका प्रकाश करना मार्ग-प्रभावना है।

(१६) सहधर्मी भाइयों में स्नेह करना प्रवचन-वत्सलत्व भावना है। ये सोलह भावनाएं सब मिलकर अथवा दर्शन-विशुद्धिके साथ पृथक् २ भी तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध के कारण हैं॥ ७७॥

वारसविहतवयरणं तेरसकिरियाओ भाव तिविहेण ।

धरहि मणमत्तदुरियं णाणंकुसएण मुणिपवर ॥ ७८ ॥

द्वादशविधतपश्चरणं त्रयोदशक्रियाः भावय त्रिविधेन ।

धर मनोमत्तदुरितं ज्ञानाङ्कुशेन मुनिप्रवर ! ॥

वारसविहतवयरणं द्वादशविधं तपश्चरणं अ शनमनशनम्, अवमौदर्यमेकग्रासादिरल्पाहारः, वृत्तिप रिसंख्यानं गणितगृहेषु भोजनं वस्तुसंख्या वा, रसपरित्यागः षड्रसपरिवर्जनं. विविक्तेषु जन्तुस्त्रीपशु-नपुंसकरहितेषु स्थानेषु शून्यागारादिषु आसनं शयनं शय्या निद्रा- स्थानं अवस्थानं वा विविक्तशय्यासनं, कायक्लेशः ऊर्जनाद भोजनादिः इदं षड्विधं बाह्यं तपः । बाह्यं कस्मादिति चेत् ? बाह्यं भोजनादिकमपेक्ष्य प्रवर्तते, परप्रत्यक्षं वा प्रवर्तते, परदर्शनं पाषंडगृहस्थैश्च क्रियते तेन बाह्यमुच्यते । एतस्मात्-

गाथार्थ—हे मुनिप्रवर ! तुम बारह प्रकारके तपश्चरण और तेरह क्रियाओंका मन वचन कायसे पालन करो तथा ज्ञानरूपी अंकुशके द्वारा मन रूपी मत्त हाथीको वश करो।

विशेषार्थ—तपके बारह भेद हैं जिनमें छह बाह्य तप हैं और छह अन्तरङ्ग तप। अनशन अर्थात् चार प्रकारके आहार का त्याग कर उपवास करना, अवमौदर्य अर्थात् एक ग्रास आदि अल्पाहार लेना, वृत्ति परिसंख्यान अर्थात् गिनती के घरों में भोजन करना अथवा भोजन की वस्तुओं की संख्या निश्चित करना आदि, रस परित्याग अर्थात् घी दूध दही मीठा तेल और नमक इन छह रसों में से किसी का त्याग करना विविक्त शय्यासन अर्थात् जन्तु, स्त्री पशु और नपुंसकों से रहित शून्यागार आदि स्थानों में आसन लगाना—बैठना, शय्या—सोना अथवा ठहरना और कायक्लेश अर्थात् मात्र जल और भात आदि का भोजन कर शरीर को क्लेश पहुंचाना अथवा आतापनादि योग धारण करना ये छह बाह्य तप हैं ये तप बाह्य भोजन आदि की अपेक्षा रख कर प्रवृत्त होते हैं, दूसरों के देखने में आते हैं अथवा अन्य मतके पाषण्ड गृहस्थों के द्वारा भी किये जाते हैं इस लिये बाह्य तप कहलाते हैं। इस बाह्य तपसे कर्मोंका भस्म होना इन्द्रियोंका ताप करना, संयम, रागका नाश, कर्म नाश, ध्यान आदि, आशा का निवृत्त होना, शरीर के तेजका ह्रास होना, ब्रह्मचर्य, दुःख सहन करने का अभ्यास होना, सुखमें आसक्ति का न होना, तथा आगम की प्रभावना होना आदि फलकी प्राप्ति होती है।

अब छह प्रकारके अभ्यन्तर तपका वर्णन करते हैं चूंकि छह तप अन्य मतावल-

१—इति क प्रतौ केनापि संशोधितं ।

वश्यकर्तव्यव्रतविशेषस्य धर्मकथादिव्यासंगेन विस्मरणे सति पुनः करणे च इत्यादि चैवंविधे आलोचनमेव प्रायश्चित्तं। षडिन्द्रियवागादिदुष्परिणामे, आचार्यादिषु हस्तपादादिसंघट्टने, व्रतसमितिगुप्तिषु स्वल्पातिचारे, पैशुन्यकलहादिकरणे, वैयावृत्त्यस्वाध्यायादिप्रमादे, गोचरगतस्य लिंगोत्थाने, अन्यसंक्लेशकरणादौ च प्रतिक्रमणं प्रायश्चित्तं भवति। दिवसान्ते रात्र्यन्ते भोजनगमनादौ च प्रतिक्रमणं प्रायश्चित्तं। लोचनखच्छेदस्वप्नेन्द्रियातिचाररात्रिभोजनेषु पक्षमाससंवत्सरादिदोषादौ च उभयं आलोचनप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तं। [1]मौनादिना [मौनादिना] लोचकरणे उदरकृमिनिर्गमे, हिममशकादिमहावातादिसंघर्षातिचारे, स्निग्धभूहरिततृणपंकोपरिगमने, जानुमात्रजलप्रवेशकरणे, अन्यनिमित्तवस्तुस्वोपयोगकरणे, नावादिना नदीतरणे, पुस्तकप्रतिमापातने, पंचस्थावरघाते, अदृष्टदेशतनुमलविसर्गादौ, पक्षादिप्रतिक्रमणक्रियायां, अन्तर्व्याख्यानप्रवृत्त्यन्तादिषु कायोत्सर्ग एव प्रायश्चित्तं। उच्चारप्रस्रवणादौ च कायोत्सर्गः प्रसिद्ध एव। अनशनादिकरणस्थानमागमाद्बोद्धव्यं। नवविधप्रायश्चित्ते किं फलं? भावप्रसादोऽनवस्था शल्याभावदाढर्यादिकं फलं वेदितव्यं।

स्वाध्याय आदि में प्रमाद करना, आहार के लिये गये हुए साधु के लिङ्ग का उठना तथा दूसरे को संक्लेश करने वाली प्रवृत्ति का होना आदि कार्यों के समय प्रतिक्रमण नामका प्रायश्चित्त होता है। दिनके अन्तमें, रात्रिके अन्त में और भोजन तथा गमन के प्रारम्भ में भी प्रतिक्रमण नामका प्रायश्चित्त होता है।

केशलोंच, नखच्छेद, तथा स्वप्न में जननेन्द्रिय-सम्बन्धी अतिचार लगना स्वप्न में ही रात्रि भोजन करना, पक्ष, मास तथा वर्ष आदि के दोषों की समीक्षा के समय आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों ही प्रायश्चित्त होते हैं।

विना मौनके लोच करना, उदरसे कृमिका निकल आना, हिम, मच्छर आदि तथा तीव्र आंधी आदिके समय संघर्ष से अतिचार लगाना, तेल तथा घी आदि से स्निग्ध भूमि, हरे तृण और कीचड़ पर चलना, घुटने मात्र गहरे जलमें प्रवेश करना दूसरे के निमित्त रखी हुई वस्तुका अपने आपके लिये उपयोग करना, नाव आदिके द्वारा नदी का पार करना, पुस्तक तथा प्रतिमा का नीचे गिर जाना पांच प्रकार के स्थावर जीवोंका घात होना, विना देखे स्थान में शरीरका मल छोड़ना, पक्ष आदिके प्रतिक्रमण की क्रिया, और व्याख्यान के प्रारम्भ तथा अन्त आदि के समय कायोत्सर्ग करना ही प्रायश्चित्त है। दीर्घ शङ्का तथा लघुशङ्का आदि के समय कायोत्सर्ग करना प्रसिद्ध ही है। अनशन आदि तपोंके करनेका स्थान आगम से जानना चाहिये।

१—अनगारधर्मामृते तु मौनादिना विनालोचनकरणे। सर्वपुस्तकेषु ईदृगेव पाठः। २—संहर्षा म० क०।

अनलसेन देशकालादिविशुद्धिविधानज्ञेन सबहुमानो यथाशक्ति क्रियमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः। तत्त्वश्रद्धाने निःशंकितत्वादिर्दर्शनविनयः। ज्ञानदर्शनवतो [1]दुश्चरचरणे तद्वति च ज्ञानेऽपि भक्तिर्भावतश्चरणानुष्ठानं चरणविनयः। प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानवंदनानुगमनादिरात्मानुरूपः परोक्षेऽपि तेष्वंजलिक्रियागुणकीर्तनस्मरणानुज्ञानुष्ठायित्वादिश्च कायवाङ्मनोभिरुपचारविनयः। विनयस्य किं फलं? ज्ञानलाभः आचारशुद्धिः सम्यगाराधनादिश्च विनयस्य फलं वेदितव्यं इति चतुर्विधो विनयः।

दशविधं वैयावृत्त्यं। तथा हि। आचार्यस्य वैयावृत्यं, उपाध्यायस्य वैयावृत्यं, महोपवासाद्यनुष्ठायितपस्विनो वैयावृत्यं शास्त्राभ्यासिनः शैक्षकस्य वैयावृत्यं, रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानस्तस्य वैयावृत्यं स्थविरसन्ततिर्गणस्तस्य

प्रश्न—नौ प्रकार के प्रायश्चित्त का क्या फल है ?

उत्तर—भावोंकी निर्मलता, अनवस्था, अस्थिरता और शल्यका अभाव तथा दृढता आदि प्रायश्चित्त का फल जानना चाहिये।

विनय तपके चार भेद हैं—१ ज्ञान विनय, २ दर्शन विनय, ३ चारित्र विनय और ४ उपचार विनय इनका स्वरूप इस प्रकार है—

देश काल आदि की शुद्धिके विधान को जानने वाला मुनि—आलस्य रहित हो मोक्षकी प्राप्तिके लिये बहुत सन्मान के साथ शक्ति—अनुसार जो ज्ञानका ग्रहण, अभ्यास तथा स्मरण आदि करता है वह ज्ञान-विनय है तत्त्व श्रद्धान में निःशङ्कित आदि गुणों की प्रवृत्ति होना दर्शन—विनय है ज्ञान और दर्शनसे युक्त मुनिका अतिशय कठिन चारित्र तथा चारित्र युक्त ज्ञान में अतिशय भक्ति होना और भाव-पूर्वक चारित्र का पालन करना चारित्र विनय है। आचार्य आदि के प्रत्यक्ष होनेपर आते समय उठकर खड़े होना, वन्दना करना और जाते समय पीछे चलकर पहुंचा देना तथा उनके परोक्ष में भी हाथ जोड़ना, गुणोंका कीर्तन करना स्मरण करना और काय वचन तथा मनसे उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करना उपचारविनय है।

प्रश्न—विनय तपका क्या फल है ?

उत्तर—ज्ञान, लाभ, आचार, शुद्धि, तथा समीचीन आराधना आदि की प्राप्ति होना विनय तपका फल है।

इसप्रकार चार तरह की विनय का वर्णन हुआ।

आगे दश प्रकार की वैयावृत्य का वर्णन करते हैं—

१ आचार्य का वैयावृत्य, २ उपाध्याय का वैयावृत्य, ३ महोपवास आदिके करने

१—दुश्चरचरणे म०।

वैयावृत्यं दीक्षकाचार्यशिष्यसंघः कुलं तस्य वैयावृत्यं. ऋषिमुनियत्यनगारनिवहः संघः. अथवा ऋष्यार्यिका-श्रावकश्राविकानिवहः संघस्तस्य वैयावृत्यं, चिरप्रव्रजितः साधुस्तस्य वैयावृत्यं. विद्वत्तावक्तृत्वादिलोकसम्मतोऽसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा मनोज्ञस्तस्य वैयावृत्यं। किं तद्वैयावृत्यं ? एतेषां दशविधानामाचार्यादीनां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वादेः प्रासुकौषधभक्तादिप्रतिश्रयसंस्तरादिभिर्धर्मोपकरणैः सम्यक्त्वप्रतिस्थापनं च प्रतीकारो वैयावृत्यं बाह्यद्रव्याभावे स्वकाये (न) श्लेष्माद्यन्तमलापकषणादेस्तदानुकूल्यानुष्ठानं च वैयावृत्यं। वैयावृत्यकरणे किं फलं ? समाधानं (¹समाध्याधानं)।

वाचना, संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थार्थोभयस्य परं प्रत्यनुयोगः। आत्मोन्नतिपरा-

---

और ग्रन्थ अर्थ दोनोंका प्रतिपादन करना। दूसरा भेद प्रच्छना है—संशय को नष्ट करने तथा निश्चित अर्थ को सुदृढ़ करने के लिये दूसरों से ग्रन्थ अर्थ अथवा दोनोंका पूछना सो प्रच्छना नामका स्वाध्याय है। पूछते समय आत्म-प्रशंसा, पर-प्रतारणा अथवा उपहास आदि का अभिप्राय नहीं होना चाहिये। तीसरा भेद अनुप्रेक्षा है—जाने हुए पदार्थ का वाले तपस्वी का वैयावृत्य, ४ शास्त्र का अभ्यास करने वाले शैक्ष्यका वैयावृत्य ५ रोग आदि से जिनका शरीर क्लिष्ट हो रहा है ऐसे ग्लान मुनियों का वैयावृत्य, ६ वृद्धमुनियों की सन्तति-रूप गणका वैयावृत्य, ७ दीक्षा देनेवाले आचार्य के शिष्य समूह रूप कुल का वैयावृत्य, ८ ऋषि यति मुनि और अनगार इन चार प्रकार के मुनियोंके समूह रूप संघका अथवा मुनि आर्यिका श्रावक और श्रविका रूप चतुर्विध संघका वैयावृत्य, ९ चिरकाल के दीक्षित साधुका वैयावृत्य और, १० विद्वत्ता तथा वक्तृत्व कला आदिके कारण लोकप्रियताको प्राप्त मनोज्ञ साधुका अथवा उक्त गुण-विशिष्ट असंयत सम्यग्दृष्टि का वैयावृत्य करना सो दश प्रकारका वैयावृत्य है। इन आचार्य आदि दश प्रकारके मुनियों को व्याधि, परिषह अथवा मिथ्यात्व आदिका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर प्रासुक औषध, आहार आदि, रहने के लिये उपाश्रय तथा संस्तर आदि धर्म के उपकरणों से उनकी व्याधि आदिका प्रतीकार करना और उन्हें सम्यक्त्व में फिरसे स्थित करना वैयावृत्य कहलाता है। बाह्य पदार्थ के न होनेपर अपने हाथ आदि शरीर पर ही उन्हें थुका देना, हाथ से ही कफ आदि भीतरी मलका निकालना आदि तथा उनके अनुकूल चेष्टा करना वैयावृत्य है। वैयावृत्य करनेसे समाधान-स्वस्थता रूप फल की प्राप्ति होती है।

अब पांच प्रकारके स्वाध्याय का वर्णन करते हैं—

स्वाध्यायके पहले भेदका नाम वाचना है जिसका अर्थ होता है—निर्दोष ग्रन्थ अर्थ

१—समाध्याधान विचिकित्साभावप्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थं तत्त्वार्थराजवार्तिके अ० ९ सू० २४।

तिसन्धानोत्सुकतादिविवर्जितः प्रच्छना । अधिगतार्थस्यैकाग्रयेण मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा । घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः । दृष्टादृष्टप्रयोजनानपेक्षमुन्मार्गनिवर्तनसन्देहच्छेदापूर्वार्थप्रकाशनाद्यर्थो धर्मकथानुष्ठानं धर्मोपदेशः । पंचविधस्य स्वाध्यायस्य किं फलं ? प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायप्रवचनस्थितिसंशयोच्छेदपरवादिशंकाद्यभावसंवेगतावृद्ध्यतिचारविशुद्ध्याद्यर्थः पंचविधः स्वाध्यायः ।

नियतकालो यावज्जीवं वा कायस्य त्यागोऽभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः । बाह्यस्त्वनेकप्रायो व्युत्सर्गः । निःसंगत्वनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासदोषोच्छेदमोक्षमार्गभावनापरत्वादि व्युत्सर्गफलम् ।

अथ ध्यानं नाम द्वादशं तप उच्यते तदर्थमिदं सूत्रमुमास्वामिभिः कृतं—

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥"

अस्यायमर्थः—वज्रऋषभनाराचसंहननं, वज्रनाराच संहननं नाराचसंहननं संहननत्रयमुत्तमं संहनन मोक्षादिकारणत्वात् । प्रथमं संहननं मोक्षस्य हेतुः । ध्यानस्य हेतुस्त्रितयमपि भवति । अर्धनाराचस्य कीलि-

---

एकाग्रता पूर्वक मनसे अभ्यास करना सो अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय है । चौथा भेद आम्नाय है—उच्चारण की शुद्धतापूर्वक श्लोक आदिका पाठ करना आम्नाय है । पाँचवां भेद धर्मोपदेश है—दृष्ट अथवा अदृष्ट—प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रयोजन की अपेक्षा न रखकर उन्मार्ग की निवृत्ति, सन्देह का छेद तथा अपूर्व अर्थ को प्रकाशित करने आदिके उद्देश्यसे धर्मकथा का करना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है ।

प्रश्न—पांच प्रकार के स्वाध्याय का क्या फल है ?

उत्तर—बुद्धिका अतिशय, प्रशस्त निश्चय, आगम की स्थिति, संशय का उच्छेद, पर वादियों की शङ्का आदिका अभाव संवेगता की वृद्धि तथा अतिचारों की विशुद्धि आदि के लिये पांच प्रकारका स्वाध्याय किया जाता है ।

आगे व्युत्सर्ग तप का वर्णन करते हैं—

नियत काल अथवा जीवन पर्यन्त के लिये शरीर का त्याग करना अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है । बाह्योपधि व्युत्सर्ग के अनेक भेद हैं । निःसङ्गता—निष्परिग्रहता, जीवित रहने की आशा का त्याग, दोषोंका उच्छेद और मोक्षमार्ग की भावना में तत्पर रहना आदि व्युत्सर्ग तपका फल है ।

आगे ध्यान नामक बारहवें तपका वर्णन किया जाता है । उसके लिये उमास्वामी महाराज ने इस सूत्र की रचना की है—'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्'—इसका अर्थ है—उत्तम संहनन वाले जीवका किसी एक पदार्थ में अन्तर्मुहूर्त के लिये चिन्ता का रुक जाना ध्यान कहलाता है । वज्रर्षभ-नाराच संहनन, वज्रनाराच

काया असंप्राप्तासृपाटिकायाश्च संहननत्रयस्यान्तर्मुहूर्तकालं यावच्चिन्तानिरोधधारणायामसमर्थत्वात्। गमनभोजनादिक्रियाविशेषेष्वनियमेन प्रवर्तमानस्यात्मन एकस्याः क्रियायाः कर्तृत्वेनावस्थानं निरोधः—क्रियान्तरव्यवधानाभावेन एकक्रियायाः सातत्येन प्रवृत्तिर्निरोध इत्यर्थः। एकाग्र एकार्थे एकस्मिन्नग्रे प्रधाने वा वस्तुनि चिन्तानिरोधः—एकस्मिन् द्रव्ये पर्याये तदुभयात्मके स्थूले सूक्ष्मे वा चिन्तानिरोध इत्यर्थः। अथवा सद्ध्यानं अग्रं मुखं, एकमग्रं यस्य स एकाग्रः स चासौ चिन्तानिरोधश्चैकाग्रचिन्तानिरोधः। एकस्मिन्नर्थे वर्तमानो चिन्तानिरोधः एकमुखः सद्ध्यानं, अनेकशास्त्रादिष्वादौ अनेकमुखः सद्ध्यानं न भवति। [1]यथा प्रदीपशिखा अनिराबाधेन, परिस्पन्दते तथाऽनिराकुलताया ध्यानं न स्यात्। गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रादिकं यत्संवरकारणं तदेव ध्यानकारणमिति ज्ञातव्यं। आन्तर्मुहूर्तात् मुहूर्तमध्ये ध्यानं भवति। न चाधिकः कालो ध्यानस्यास्ति, कस्मात्? चिन्तानां दुर्धरत्वात् आत्मचपलत्वाच्च। एतावत्यां कालं उपलक्षितं ध्यान

संहनन, और नाराच संहनन, ये तीन संहनन उत्तम संहनन हैं क्योंकि ये मोक्ष आदि की प्राप्ति के कारण हैं इनमें से प्रथम संहनन मोक्षका कारण है किन्तु ध्यान के कारण तीनों संहनन है। अर्ध नाराच, कीलका और असंप्राप्त सृपाटिका इन तीन संहननों में अन्तर्मुहूर्त तक चिन्ता के निरोध करनेकी सामर्थ्य नहीं है। गमन भोजन आदि क्रिया विशेषों—विभिन्न २ क्रियाओं में अनियम पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले आत्मा को किसी एक क्रिया का कर्ता रखना निरोध कहलाता है। अर्थात् बीच में दूसरी क्रिया का व्यवधान न कर एक क्रिया का ही निरन्तर प्रवृत्ति करना निरोध है। एकाग्र अर्थात् एक पदार्थ में अथवा किसी एक प्रधान वस्तु में चिन्ताका निरोध करना—एक द्रव्य, एक पर्याय अथवा दोनों रूप स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ में चिन्ता का निरोध करना एकाग्र चिन्ता निरोध कहलाता है। अथवा ध्यान सद् रूप है, अग्र का अर्थ मुख है। एक है अग्र जिसमें उसे एकाग्र कहते हैं और जो एकाग्र है वही चिन्ता निरोध है, इस तरह एकाग्र और चिन्ता निरोधका विशेष्य विशेषण अथवा कर्मधारय समास करना चाहिये इस पक्षमें एकाग्र चिन्ता निरोध का अर्थ एक-मुख चिन्ता निरोध होता है। एक पदार्थमें वर्तमान चिन्ताका निरोध किया जाना एक-मुख चिन्ता-निरोध है। यही सद्ध्यान अर्थात् समीचीन ध्यान है। अनेक इन्द्रियों तथा अनेक शास्त्र आदि में जो ध्यान प्रवर्तमान रहता है, वह अनेक-मुख ध्यान कहलाता है अनेक मुखध्यान सद्ध्यान नहीं है। जिसप्रकार अनिराबाध अर्थात् वायुके संचार सहित स्थान में दीपक की शिखा स्फुरित नहीं होती, उसी प्रकार अनिराकुलता अर्थात् आकुलित

---

[1] —वीर्यविशेषात्प्रदीप शिखावत् ॥ ६॥ यथा प्रदीपशिखा निराबाधे प्रज्वलिता न परिस्पन्दते तथा निराकुले देशे वीर्यविशेषादवरुध्यमाना विना विधा ज्वलनेव। एकाग्रेणावतिष्ठते। त० वा० अ० ६ सूत्र २७

कर्मध्वंसाय भवति प्रलयकालमारुतवत् समुद्रजलशोषणवत् । तद्ध्यानं हेयमुपादेयं च । तत्र हेयमार्त्तं रौद्रं च । उपादेयं धर्म्यं शुक्लं च । ऋतौ दुःखे भवमार्तं । रुद्रः क्रूराशयः प्राणी तत्कर्म रौद्रं । धर्मो वस्तुस्वरूपं तस्मादनपेतं आश्रितं धर्म्यं । मलरहितात्मपरिणामोद्भवं शुक्लं । तत्र धर्म्यं शुक्लं च द्वयं मोक्षकारणं । संसारकारणमन्यद्द्वयमार्त्तरौद्रमिति ज्ञातव्यं । आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो वारं वारं चिन्तनं । मनोज्ञस्य विपरीतं चिन्तनं तद्विपरीतं । वेदनाचिन्तनं । निदानस्य चिन्तनं । हिंसानृतस्तेय-विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रं ध्यानमुत्पद्यते । आर्त्तमविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतेषु संभवति । रौद्रं अविरतदेशविरतेषु

दशा में ध्यान नहीं होता गुप्ति, समिति धर्म, अनुप्रेक्षा परोषह–जय और चारित्र आदि जो संवर के कारण हैं वे हो ध्यान के कारण हैं ऐसा जानना चाहिये । आन्तर्मुहूर्तात् इस पदका अर्थ है कि ध्यान अन्तमुहूर्त के भीतर होता है । अन्तर्मुहूर्त से अधिक ध्यानका काल नहीं होता है क्योंकि चिन्ताएं अत्यन्त दुर्धर और अत्यन्त चपल होती हैं । परन्तु इतने थोड़े समयमें भी यदि अविचल ध्यान हो जाय तो वह कर्मोंके ध्वंस–क्षयका कारण होता है जैसे कि प्रलय कालकी वायु और समुद्र के जलको सुखाने वाली वडवानल ।

वह ध्यान हेय भी है और उपादेय भी । आर्त्त और रौद्र ध्यान हेय हैं तथा धर्म्य और शुक्लध्यान उपादेय हैं । ऋत का अर्थ दुःख होता है, दुःख में जो होता है वह आर्त-ध्यान है । रुद्र क्रूर परिणाम वाले जीवको कहते हैं उसका जो कर्म है वह रौद्रध्यान है । धर्मका अर्थ वस्तु स्वरूप है, वस्तु स्वरूप से सहित जो ध्यान है वह धर्म्यध्यान है आत्मा के निर्मल परिणामों से जो उत्पन्न होता है वह शुक्लध्यान है । इनमें धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ये दो ध्यान मोक्षके कारण हैं और शेष दो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान संसार के कारण हैं ।

आर्त्तध्यान के चार भेद हैं—१ अमनोज्ञ-संप्रयोग, २ मनोज्ञ-विप्रयोग, ३ वेदना चिन्तन और ४ निदान चिन्तन । अमनोज्ञ अर्थात् अनिष्ट पदार्थका संयोग होनेपर उसके वियोग के लिये वार वार विचार करना अमनोज्ञ-संप्रयोग नामका आर्त्तध्यान है । मनोज्ञ अर्थात् इष्ट पदार्थ का वियोग होनेपर उसके संयोगके लिये वार वार विचार करना मनोज्ञ विप्रयोग नामका आर्त्तध्यान है । रोगादि को वेदना होने पर वार वार उसीका चिन्तन करना वेदना-चिन्तन नामका आर्तध्यान है और आगामी भोगोंकी आकांक्षा करना निदान चिन्तन नामका आर्तध्यान है ।

हिंसा झूठ चोरी और विषय सामग्री (परिग्रह) के संरक्षण से रौद्रध्यान होता है । इसके भी १ हिंसानन्द, २ मृषानन्द, ३ चौर्यानन्द और ४ विषय संरक्षणानन्द (परि-

संभवति। आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयैर्धर्म्यध्यानमुत्पद्यते । तत्पूर्वविदां मुनेः श्रेण्यारोहणात्पूर्वं भवति। श्रेण्योरपूर्वकरणाद्युपशान्तान्तानां प्रथमं शुक्लं भवति। क्षीणकषायस्य द्वितीयं शुक्लं। तृतीयं शुक्लं चतुर्थं च शुक्लं केवलिनां भवति। तत्र सयोगस्य तृतीयं चतुर्थमयोगस्येति। पृथक्त्ववितर्कवीचारं प्रथमं शुक्लं। एकत्ववितर्कावीचारं द्वितीयं शुक्लं। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनामकं तृतीयं शुक्लं। व्युपरतक्रियानिवर्तिनामधेयं चतुर्थं शुक्लं। तत्र पृथक्त्ववितर्कवीचारं त्रियोगस्य भवति मनोवाक्कायावष्टम्भैरात्मप्रदेशपरिष्पन्दात् त्रीन् योगानवलम्ब्य अवष्टभ्य उत्पद्यते इत्यर्थः। एकत्ववितर्कावीचारं त्रिषु योगेषु मध्ये एकस्य चलनद्वारेणात्मपरिस्पन्दे सति समुत्पद्यत इत्यर्थः। काययोगस्य केवलिनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लं भवति। अत्र काया-

---

ग्रहानन्द) के भेद से ४ भेद हैं। इनका स्वरूप नामसे ही स्पष्ट है।

आर्तध्यान, अविरत अर्थात् पहले से चौथे गुणस्थान तक देशविरत, और प्रमत्त विरत गुणस्थानों में होता है परन्तु निदान नामका आर्तध्यान प्रमत्त विरत गुणस्थान में नहीं होता। रौद्रध्यान, अविरत और देशविरत अर्थात् पहले से पांचवें गुणस्थान तक होता है। आज्ञाविचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय से धर्म्यध्यान होता है और वह पूर्वके ज्ञाता मुनि के श्रेणी चढ़ने के पहले पहले तक होता है। दोनों श्रेणियों में अपूर्व करण से लेकर उपशान्तमोह गुणस्थान तक प्रथम शुक्लध्यान होता है। क्षीण कषाय गुणस्थान में वर्ती मुनिके दूसरा शुक्लध्यान होता है। तीसरा और चौथा शुक्लध्यान केवलियों के होता है। उनमें से सयोग केवली के तीसरा और अयोग केवली के चौथा शुक्लध्यान होता है। पृथक्त्व-वितर्क वीचार पहला शुक्लध्यान है, एकत्व वितर्क अवीचार दूसरा शुक्लध्यान है, सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति तीसरा शुक्लध्यान है और व्युपरत क्रिया निवर्ति चौथा शुक्लध्यान है। उनमें से पृथक्त्व वितर्क वीचार नामका शुक्लध्यान तीनों योग वाले जीवके होता है। मन वचन और कायके अवलम्बन से आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्द होते हैं उन्हें तीन योग कहते हैं पृथक्त्व वितर्क वीचार नामका शुक्लध्यान इन तीनों योगोंके अवलम्बन से उत्पन्न होता है। एकत्व-वितर्कअवीचार नामका शुक्लध्यान तीन योगों में से किसी एक योगके कम्पन से आत्म प्रदेशों में परिस्पन्द होने पर उत्पन्न होता है। केवली भगवान् के जब मनोयोग और वचन योग नष्ट होकर जब मात्र काय योग रह जाता है तब उनके सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नामका शुक्लध्यान होता है। इस ध्यान में मात्र काययोग के अवलम्बन से आत्माका परिस्पन्द होता है। अयोग केवली के व्युपरत-क्रिया-निवर्ति नामका शुक्लध्यान होता है क्योंकि यहां काययोग के अवलम्बन से भी आत्म प्रदेशों में हलन चलन नहीं होता। पृथक्त्व वितर्क-वीचार और

वष्टम्भेनैवात्मनश्चलनं। अयोगकेवलिनो व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यानं यतोऽत्र कायाद्यवष्टम्भेनात्मप्रदेशचलनं न भवति। पृथक्त्ववितर्कवीचारमेकत्ववितर्कवीचारं ध्यानद्वयं पूर्वेष्वधीतिन एव। वितर्कवीचारसहितं पूर्वं। द्वितीयं तु वीचाररहितं। वीचारः किं? अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिर्वीचारः परिवर्तनमित्यर्थः। अर्थसंक्रान्तिः का? द्रव्यं विमुच्य पर्यायं गच्छति पर्यायं विहाय द्रव्यं समुपतीत्यर्थसंक्रान्तिः। व्यञ्जनसंक्रान्तिः का? एकं वचनं त्यक्त्वा वचनान्तरमवलम्बते तदपि त्यक्त्वाऽन्यद्वचनमवलम्बते इति व्यञ्जनसंक्रान्तिः। योगसंक्रान्तिः का? काययोगं त्यक्त्वा योगान्तरं गच्छति तदपि त्यक्त्वा काययोगं व्रजतीति योगसंक्रान्तिः। एवं श्रुतज्ञानेन वितर्क्य समूह्य द्रव्यं तत्पर्याये पर्यायान् वितर्क्य ततो द्रव्ये परिवर्तने वीचारे सति पृथक्त्वेन भेदेन अर्थपर्याययोर्वचनयोगयोर्वा श्रुतज्ञानपर्यालोचनेन संक्रान्तिः पृथक्त्ववितर्कवीचारः शुक्लध्यानं भवति। यद्यप्यर्थव्यञ्जनादिसंक्रान्तिरूपनया चलनं वर्तते तथापि दृढं ध्यानं। कस्मात्? एवंविधस्यैवास्य विवक्षितत्वात्। विजातीयानेकविकल्परहितस्य अर्थादिसंक्रमेण चिन्ताप्रबन्धस्यैव एतद्ध्यानत्वेनेष्टत्वात्। अथवा

एकत्व वितर्क अवीचार ये दो ध्यान पूर्वोंके पाठीके ही होते है[1]। पहला शुक्लध्यान वितर्क और वीचार से सहित है किन्तु दूसरा शुक्लध्यान वीचार से रहित है।

प्रश्न—वीचार क्या है?

उत्तर—अर्थ, व्यञ्जन और योगोंकी संक्रान्ति अर्थात् परिवर्तन को वीचार कहते हैं

प्रश्न—अर्थ-संक्रान्ति क्या है?

उत्तर—ध्यानस्थ जीव द्रव्य को छोड़कर पर्यायको प्राप्त होता है और पर्यायको छोड़कर अर्थको प्राप्त होता है, इस तरह अर्थके परिवर्तनको अर्थ-संक्रान्ति कहते हैं।

प्रश्न—व्यञ्जन-संक्रान्ति क्या है?

उत्तर—एक वचन को छोड़कर दूसरे वचनका आलम्बन लेता है और दूसरेको छोड़ कर अन्य वचनका आलम्बन लेता है, इस तरह शब्दों के परिवर्तन को व्यञ्जन-संक्रान्ति कहते हैं।

प्रश्न—योग-संक्रान्ति क्या है?

काय योगको छोड़कर अन्य योगको प्राप्त होता है और उसे छोड़कर काय योगको प्राप्त होता है, इस तरह योगोंके परिवर्तन को योग-संक्रान्ति कहते हैं।

इस प्रकार श्रुतज्ञान के द्वारा किसी द्रव्यका विचार कर उसकी पर्यायोंका विचार करता है और पर्यायोंका विचार कर द्रव्यका विचार करता है इस तरह द्रव्यके परिवर्तन

१—यह कथन उत्कृष्टता की अपेक्षा है अन्यथा बारहवें गुणस्थान में जघन्य ज्ञान अष्ट–प्रवचन मातृका नहीं सिद्ध हो सकेगा।

द्रव्यपर्यायात्मनो वस्तुन एकत्वात् सामान्यरूपतया व्यञ्जनस्य योगानां चैकीकरणादेकार्थचिन्तानिरोधोऽपि घटते । द्रव्यात्पर्यायं व्यञ्जनाद्व्यञ्जनान्तरं योगाद्योगान्तरं विहाय अन्यत्र चिन्तावृत्तौ अनेकार्थता न द्रव्यादेः पर्यायादौ प्रवृत्तौ । तथा श्रुतज्ञानेन एकार्थं वितर्कयन्नविचलितचित्तः प्रवृत्तः क्षीणकषाय एकत्ववितर्कवान् भवति । वाङ्मनोयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनोऽन्तर्मुहूर्तशेषायुर्वेदनामगोत्रः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिभाग्भवति । यदा पुनरायुषोऽधिकं वेद्यादित्रितयं तदा दण्डकपाटादिकं चतुःसमयैः कृत्वा पुनस्तावत्समयैः समुपहृत्य समं कृतकर्मचतुष्टयः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं ध्यायति । ततोऽयोगिनः समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिव्युपरतक्रियानिवर्तिपरनामकं ध्यानं भवति । तस्मिन् स्थाने स्थितस्य सर्वास्रवनिरोधात् सर्वशेषकर्मविध्वंसनसमर्थं सम्पूर्णं यथाख्यातचारित्रं साक्षान्मोक्षकारणं संजायते । अन्त्ये शुक्लध्यानद्वये चिन्तानिरोधाभावेऽपि ध्यानव्यवहारः ध्यानकार्यस्य योगापहारस्य अघातिघातस्य चोपचारनिमित्तस्य सद्भावात् । तथा साक्षात्कृतसमस्तवस्तावर्हति न किंचिद्ध्येयमस्ति । ध्यानं तु तत्र

होनेसे वीचार होता है। और वीचारके रहते हुए पृथक्त्व अर्थात् भेदके द्वारा अर्थ और पर्याय का तथा शब्द और योगका श्रुतज्ञान के पर्यालोचन से परिवर्तन होता है इसलिये पहला भेद पृथक्त्व वितर्क वीचार कहलाता है यद्यपि अर्थ और व्यञ्जन (शब्द) आदि की सङ्क्रान्ति होनेके कारण चञ्चलता रहती है तथापि यह ध्यान माना जाता है क्योंकि इसी प्रकार की इस ध्यानमें विवक्षा होती है। विजातीय अनेक विकल्पों से रहित अर्थ आदिके संक्रमण से जो चिन्ता की सन्तति होती है, उस सबको एक ध्यान रूपसे माना गया है। अथवा द्रव्य और पर्यायात्मक वस्तुको एक वस्तु माना जाता है और सामान्य रूपसे व्यञ्जनों तथा योगोंमें भी एक-रूपता है, अतः व्यञ्जन अर्थ और योगोंका परिवर्तन होनेपर भी एकाग्र चिन्ता निरोध घटित होजाता है। द्रव्यसे पर्याय को, व्यञ्जनसे व्यञ्जनान्तर को और योगसे योगान्तर छोड़कर यदि अन्य द्रव्य या उसकी अन्य पर्यायों में चिन्ता प्रवृत्त होती है तो उसमें अनेक-रूपता होती है, न कि एक द्रव्यसे उसकी पर्याय में चिन्ताके प्रवृत्त होने में।

उसी प्रकार (पृथक्त्व वितर्क वीचार की तरह) श्रुतज्ञान के द्वारा एक अर्थका चिन्तन करता हुआ क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती मुनि यदि उसी अर्थ पर अविचलित-चित्त रहता है तो वह एकत्व वितर्क नामक द्वितीय शुक्लध्यानका धारक होता है।

वचनयोग, मनोयोग और बादर काययोगको छोड़कर सूक्ष्म—काययोगका अवलम्बन करने वाले सयोग केवली के जब आयु, वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहजाती है तब वे सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति नामक तृतीय शुक्लध्यानके

असमानकर्मणां समानत्वकरणार्थं या चेष्टा, कर्मसाम्ये तत्क्षययोग्यसमया या अलौकिका मनीषा तदेव। सौख्यं मोहक्षयाज्ज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयाच्चात्मनो दर्शनं ज्ञानं च भवति। अन्तरायविनाशादनन्तवीर्यं जीवस्य स्यात्। आयुकर्मविध्वंसनाच्चेतनस्य जन्ममरणाभावो भवति। नामकर्मनिर्मूलनान्नरस्यामूर्तत्वं जायते। नीचोच्चगोत्रविद्रावणात्कुलद्वयविनाशो भवति। वेदनीयकर्मनिर्मूलकाषकषणात् जीवस्येन्द्रियोत्पन्नसुखाभावः संजायते। एकस्मिन्निष्टे वस्तुनि निश्चला मतिर्ध्यानं। आर्तरौद्रधर्म्यापेक्षया तु मतिश्चंचला अशुभा शुभा वा सा भावना कथ्यते, चित्तं चिन्तनं अनेकनययुक्तानुप्रेक्षणं ख्यापनं श्रुतज्ञानपदालोचनं वा कथ्यते न तु ध्यानं। अत्र संहननलक्षणं यथा यदुदयादस्थिबन्धनविशेषस्तत्संहननं षट्प्रकारं। वज्रा-

---

धारक होते हैं यदि कदाचित् वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थिति आयु कर्म से अधिक शेष रही हो तो चार समयों में दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक-पूरण समुद्घात की क्रिया करके और उतने ही समयों में आत्म-प्रदेशों को संकुचित कर पहले चारों अघातिया कर्मों की स्थिति बराबर करते हैं अर्थात् वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थिति को घटा कर आयु कर्म की स्थिति के बराबर करते हैं पश्चात् सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नामक शुक्लध्यान के धारक बनते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नामका शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में होता है। विहार या दिव्यध्वनि आदिके समय उनके कोई ध्यान नहीं होता।

तदनन्तर अयोग केवली के समुच्छिन्न-क्रिया-निवर्ति नामक चौथा शुक्लध्यान जिसका दूसरा नाम व्युपरत-क्रिया-निवर्ति भी है, होता है। उस ध्यान में स्थित अयोग केवली भगवान् के समस्त कर्मोंका आस्रव रुक जानेसे शेष समस्त कर्मोंके क्षय करने में समर्थ वह संपूर्ण यथा-ख्यात चारित्र होता है जो कि मोक्षका साक्षात् कारण होता है। अन्तिम दो शुक्लध्यानों में चिन्ता-निरोधका अभाव होनेपर भी ध्यानका व्यवहार होता है क्यों कि उनमें ध्यान का कार्य जो योगोंका अभाव और अघाति कर्मोंका क्षय है उसका सद्भाव पाया जाता है और यही योगोंका अभाव तथा अघाति कर्मोंका क्षय उनके ध्यान व्यवहार में निमित्त भूत हैं। दूसरी बात यह है कि समस्त वस्तुओं को साक्षात् जानने वाले अर्हन्त भगवान् के कुछ ध्येय भी तो नहीं है उनके जो ध्यान कहा है वह असमान कर्मोंकी स्थिति में समानता करने के लिये जो चेष्टा है उस रूप है अथवा कर्मोंकी स्थिति समान होनेपर उनके क्षय करने के योग्य समय में होनेवाली जो अलौकिक मनीषा—ज्ञान की परिणति है, उस रूप है।

अब किस कर्मके क्षयसे कौन गुण प्रकट होता है यह कहते हैं—मोहके क्षयसे जीवके

कारोभयास्थिमध्ये सवलयबन्धनं सनाराचं वज्रवृषभनाराचसंहननं। तदेव वलयरहितं वज्रनाराचसंहननं। वज्राकारवलयव्यपेतं सनाराचं नाराचसंहननं। एकमस्थि सनाराचं अपरमनाराचं अर्द्धनाराचसंहननं। उभयास्थिप्रान्ते सकीलकं कीलिकासंहननं। अन्तरप्राप्तपरस्परास्थिसन्धिर्बहिःशिरास्नायुमांसवेष्टितं असंप्राप्तासृपाटिकासंहननं चेति। अष्टसप्ततितम्यां गाथायां *बारसविहतवयरणे* इत्यस्य पादस्य व्याख्यानं समाप्तं। *तेरसकिरियाओ भाव तिविहेण* त्रयोदशक्रिया भावय त्वं त्रिविधेन त्रिकरणशुद्ध्या पंचनमस्काराः षडावश्यकानि, चैत्यालयमध्ये प्रविशता निसही निसही निसही इति वारत्रयं हृद्युच्चार्यते, जिनप्रतिमावन्दनाभक्ति कृत्वा बहिर्निर्गच्छता भव्यजीवेन आसही आसही आसही इति वारत्रयं हृद्युच्चार्यते इति त्रयोदशक्रिया हे भव्य! त्वं भावय। तथा चोक्तं—

सुख तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय से ज्ञान और दर्शन गुण प्रकट होते हैं। अन्तराय के नाश से अनन्त वीर्य होता है। आयुकर्मके क्षय से जन्म मरण का अभाव होता है। नाम कर्मके नाश से अमूर्तिकपना उत्पन्न होता है। नीच गोत्र और उच्च गोत्र के क्षय से नीच तथा उच्च दोनों कुलोंका नाश होता है और वेदनीय कर्मका निर्मूल नाश होनेसे जीवके इन्द्रिय-जन्य सुखका अभाव होता है।

किसी एक इष्ट वस्तु में जो बुद्धि स्थिर हो जाती है वही ध्यान कहलाती है। आर्त्त, रौद्र और धर्म्य ध्यानकी अपेक्षा जो जा अशुभ अथवा शुभ विकल्पको लिये हुए चञ्चल अस्थिर बुद्धि होती है वह भावना कहलाती है, उसीको चित्त, चिन्तन, अनेक नयोंसे युक्त अनुप्रेक्षण, ख्यापन अथवा श्रुतज्ञानके पदका आलोचन कहते हैं, न कि ध्यान।

अब यहां संहनन का लक्षण और उसके भेदोंका वर्णन करते हैं—

जिसके उदयसे हड्डियों का बन्धन–विशेष होता है उसे संहनन नाम कर्म कहते हैं। इसके छह भेद हैं-१ वज्रर्षभनाराच संहनन, २ वज्रनाराच संहनन, ३ नाराच संहनन, ४ अर्द्धनाराच संहनन, ५ कीलक संहनन और ६ असंप्राप्त--सृपाटिका संहनन। जिसमें वज्रके आकार दो हड्डियों के बीचमें वज्रके ही वेष्टन हों और वज्र की ही कीलें हों उसे वज्रर्षभ नाराच संहनन कहते हैं। जिसमें सिर्फ वज्रके वेष्टन न हों बाकी सब पूर्ववत् हो उसे वज्रनाराच संहनन कहते हैं। जो वज्राकार हड्डी और वज्राकार वेष्टन से रहित हो मात्र साधारण हड्डी कीलोंसे सहित हो उसे नाराच संहनन कहते हैं। जिसमें एक हड्डी कील से सहित हो और दूसरी कीलसे रहित हो उसे अर्द्धनाराच संहनन कहते हैं। जिसमें दोनों हड्डियों के अन्त में कीलें हों उसे कीलिका संहनन कहते हैं जिसमें हड्डियों की सन्धियां भीतर परस्पर एक दूसरे से न मिली हों सिर्फ बाह्यमें नसें तांत अथवा मांस

¹निःसंगोऽहं जिनानां सदनमनुपमं त्रिःपरीत्येत्य भक्त्या
स्थित्वा गत्वा निषिद्धयुच्चरणपरिणतोऽन्तः शनैर्हस्तयुग्मं ।
भाले संस्थाप्य बुद्धया मम दुरितहरं कीर्तये शक्रवन्द्यं
निन्दादूरं सदाप्तं क्षयरहितममुं ज्ञानभानुं जिनेन्द्र ॥ १ ॥

अरे लौंका दुरात्मानो ! यदि भवद्भिर्जिनप्रतिमा चैत्यालयश्च न मान्यते तर्हि इदं वृत्तं पूज्यपादैर्जिनवन्दनाविधिः कथमुक्तः । तेन दुराग्रहं विमुच्यास्तिकत्वं भावनीयं भवद्भिः । अथवा पंचमहाव्रतानि पंचसमितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति त्रयोदशक्रियास्त्रयोदशविधं चारित्रं हे भव्यवरपुण्डरीकमुने ! त्वं भावय । धरहि मणमत्तदुरयं विषयकषायान् गच्छन्तं मनोमत्तदुरयं मत्तगजं त्वं धर रक्ष । णाणंकुसएण मुनिपवर ज्ञानाङ्कुशेन निष्ठुरमस्तकप्रहारेण हे मुनिप्रवर ! महामुनिमतल्लिक ! इति शेषः ।

वेष्टित हो उसे असंप्राप्त-सृपाटिका संहनन कहते हैं । इस तरहसे अठहत्तरवीं गाथा में 'बारस विहतवयरणं' इस पदका व्याख्यान हुआ । अब 'तेरस किरियाओ भावि तिविहेण' इस पदका व्याख्यान करते हैं हे भव्य ! तू तेरह प्रकार की क्रियाओं की मन वचन काय से भावना कर । पञ्चपरमेष्ठियोंके पाच नमस्कार, समता, वन्दना, आदि छह आवश्यक, चैत्यालय के भीतर प्रवेश करते समय 'निसिहो निसिहो, निसिही' इस प्रकार तीन वार उच्चारण करना और जिन प्रतिमाकी वन्दना तथा भक्ति आदि करके बाहर निकलते हुए भव्य जीवक द्वारा 'असिही असिहो असिहो' इस प्रकार तीन वार कहना ये तेरह क्रिया हैं । हे भव्य ! तू इनका चिन्तन कर । जैसा कि कहा गया है—

निःसङ्गोऽहं—मैं निःस्पृह हो अनुपम जिनेन्द्र मन्दिरको जाता हूं, वहां भक्ति-पूर्वक तीन प्रदक्षिणाए देकर तथा निसिहो २ इस प्रकार तीन वार उच्चारण करता हुआ मन्दिर के भीतर प्रवेश करता हूं, पश्चात् दोनों हाथ जोड़ मस्तक पर रख अपने पापको हरने वाले उन जिनेन्द्र भगवान् को स्तुति करता हूं जो इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय हैं, निन्दासे दूर हैं, सत्पुरुषों के द्वारा शरण्य बुद्धि से प्राप्त हैं, क्षयसे रहित हैं और ज्ञानके सूर्य हैं ।

अरे दुरात्माओ लौंक जनो ! यदि आप लोग जिन प्रतिमा और जिन चैत्यालयों को नहीं मानते हो तो पूज्यपादाचार्य ने जिन-वन्दना को उक्त विधि क्यों कही ? इस लिये आप लोगों को दुराग्रह छोड़कर आस्तिक भावकी भावना करना चाहिये । अथवा पाच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियां ये तेरह प्रकारकी क्रियाएं हैं । यही तेरह प्रकार का सम्यक् चरित्र है सो हे भव्य पुरुष हो ! तुम इसकी भावना करो । विषय कषाय की ओर जाते हुए मन रूपी मत्त हाथीको तुम ज्ञान रूपी अंकुश से वश करो ॥७८॥

१—ईर्यासबुद्धो ।

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू ।
भावं भाविय पुव्वं जिणलिंगं [1]णिम्मलं सुद्धं ॥ ७६ ॥

पञ्चविधचेलत्यागं क्षितिशयनं द्विविधसंयमं भिक्षो ! ।
भावं भावयित्वा पूर्वं जिनलिंगं निर्मलं शुद्धम् ॥

पंचविहचेलचायं पंचविधानि पंचप्रकाराणि चेलानि वस्त्राणि तेषां त्यागः परिहारो यस्मिन् जिनलिंगे जिनमुद्रायां तत्पंचविधचेलत्यागं । उक्तं च गौतमेन गणिना प्रतिक्रमणसूत्रे—

"*अंडजं वा* कोशजं तसरिचीरं (१) *बोंडजं वा* कर्पासवस्त्रं (२) *रोमजं वा* ऊर्णामयं वस्त्रं एडकोष्ट्रादिरोमवस्त्रं (३) *वक्कजं वा* वल्कं वृक्षादित्वग्भंगादिछल्लिवस्त्रं तटटाविकं चापि (४) *चर्मजं वा* मृगचर्मव्याघ्रचर्मचित्रकचर्मगजचर्मादिकं न परिधानार्थं (५)"

खिदिसयणं दुविहसंजम भिक्खू क्षितिशयनं भूमिशयनं तृणकाष्ठशिलास्थंडिलशयनं, द्विविधः संयमो यस्मिन् जिनलिंगे तद्द्विविधसंयमं । इन्द्रियसंयमः पंचेन्द्रियमनसोश्च मनःसंकोचश्चेति षड्विधः संयमः प्राणसंयमः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिलक्षणपंचस्थावररक्षणं द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियचतुःप्रकारत्रसजीवरक्षणलक्षणः

गाथार्थ—जिसमें पांच प्रकारके वस्त्रोंका त्याग किया जाता है, पृथिवी पर शयन किया जाता है, दो प्रकारका संयम धारण किया जाता है, भिक्षा-भोजन कियाजाता है, भावकी पहले भावनाकी जाती है तथा शुद्ध—निर्दोष प्रवृत्ति की जाती है वही जिनलिङ्ग निर्मल कहा जाता है ॥७९॥

विशेषार्थ—प्रतिक्रमण सूत्रमें गौतम गणधरके कहे अनुसार वस्त्र पांच प्रकारके होते हैं—१--अण्डजकोशा तथा रेशमी वस्त्र, २-बोंडज—सूती वस्त्र, ३—रोमज—भेड़ तथा ऊंट आदि के रोमों से उत्पन्न ऊनी वस्त्र, ४—वल्कज-वृक्ष आदि की त्वचा अथवा छाल आदिसे उत्पन्न फट्टो आदि और ५ चर्मज—मृगचर्म, व्याघ्रचर्म, चित्रकचर्म, तथा गजचर्म आदि । जिनलिङ्ग में उक्त पांचों प्रकारके वस्त्रोंका तथा उपलक्षण से अन्य किसी भी प्रकार के वस्त्रोंका त्याग होता है । भूमि, तृण, काष्ठ, शिला तथा चबूतरा आदि पर शयन किया जाता है, इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयम के भेद से दो प्रकार के संयम का पालन किया जाता है । पांच इन्द्रियों और मनका संकोच करना छह प्रकार का इन्द्रिय संयम है तथा पृथिवी कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक पांच स्थावरों और द्वीन्द्रियादि त्रस जीवोंकी रक्षा करना छह प्रकार का प्राण संयम है ।

[1]— अमलं. ब० ।

षड्विधः प्राणसंयमः । भिक्खू—हे भिक्षो ! अहो तपस्विन् ! अथवा भिक्षाभोजनं कुर्वन् उद्दण्डचर्यायां पर्यटन् भिक्षुर्जिनलिंगमुच्यते । सा भिक्षा पंचविधा—[1]अक्षम्रक्षणं, [2]गर्तपूरणं, [3]भ्रामरी, [4]गोचरी, [5]उदराग्निविध्यापनं चेति । *भावं भाविय पुव्वं* भावं आत्मरूपं भावयित्वा जिनसम्यक्त्वं च भावयित्वा पवं

भिक्खू पद सम्बोधनान्त है इसलिये हे भिक्षो ! हे तपस्विन् ऐसा अर्थ करना चाहिये । अथवा प्रथमान्त मानकर ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जिसमें भिक्षु उद्दण्डचर्या से भ्रमण करता हुआ भिक्षा भोजन करता है । वह भिक्षा पांच प्रकार की होती है—१ अक्ष-म्रक्षण-२ गर्त-पूरण, ३ भ्रामरी, ४ गोचरी और ५ उदराग्नि विध्यापन इनका स्वरूप इसप्रकार है—

जिस प्रकार कोई वैश्य रत्न आदि से भरी हुई गाड़ी को किसी प्रकार की चिकनाई से ओंग कर उसे अपने इष्ट स्थान तक लेजाता है उसी प्रकार मुनि सम्यग्दर्शनादि रत्नों से भरी हुई शरीर-रूपी गाडीको सरस अथवा नीरस आहार से स्वस्थ कर मोक्ष स्थान तक ले जाता है इस वृत्तिको अक्ष-म्रक्षण कहते हैं ।

जिस प्रकार गृहस्थ अपने मकान के भीतर के गर्तको किसी भी वस्तु से भरकर सम कर लेता है उसी प्रकार मुनि भी अपने उदर रूपी गर्तको सरस अथवा नीरस किसी भी प्रकार के शुद्ध आहार से भरकर सम करलेते हैं, इस वृत्ति को गर्त-पूरण वृत्ति कहते हैं

जिस प्रकार भ्रमर फूलों से रस लेता है परन्तु उन्हें किसी प्रकार को पीड़ा नहीं पहुंचाता, इसी प्रकार मुनि गृहस्थ दाताओंसे आहार लेता है परन्तु उन्हें किसी प्रकारकी पीड़ा नहीं पहुंचाता, इस वृत्तिको भ्रामरी-वृत्ति कहते हैं । जिस प्रकार अलंकारों से अल-

१—स्निग्धेन केनचिद्वस्तुनाक्षलेपं विधाय भोः । नयेद्देशान्तरं वैश्यः शकटीं रत्नपूरिताम् ॥ १ ॥
गुणरत्नभृतां तद्वच्छरीरशकटीं मुनिः । स्वल्पाक्षम्रक्षणेनास्मात्प्रापयेच्छिवपत्तनम् ॥ २ ॥
२—यथा स्वगेहमध्यस्थं गृही गर्त्तं प्रपूरयेत् । येन केनापि नीतेन कलवारेण नान्यथा ॥ ३ ॥
तथोदरगतं श्वभ्रं पूरयेत्संयमी क्वचित् । यादृक् तादृक् विधानेन न च मिष्टाशनादिना ॥ ४ ॥
३—भ्रमरोऽत्र यथा पद्मात्गंधं गृह्णाति तद्ध्रुवम् । घ्राणेन न मनाक्तस्य बाधां जनयति स्फुटम् ॥ ५ ॥
तथाहरति आहारं वरं दातृजनैर्यतिः । न मनाक् पीडयेद् दातॄन् आत्मलाभाल्पनामतः ॥ ६ ॥
४—यथोपनीयमानं तृणादिकं विभ्रयोषिता । गौश्चाभ्यवहरत्यत्र न तदङ्गं निरीक्षते ॥ ७ ॥
तथालङ्कारधारिण्या विभ्रनार्योपढौकितम् । पिण्डं गृह्णाति सद्योगी तस्या रूपं न पश्यति ॥ ८ ॥
५—समुत्थितं यथा वह्निं भाण्डागारे भृते वणिक् । रत्नाद्यैः शमयेच्छीघ्रं शुच्यशुच्यादिवारिणा ॥९॥
तथोत्थितं क्षुधावह्निमुदरे शमयेद्यमी । सरसेनरसकेन हृगादिरत्नहेतवे ॥ १० ॥

मूलाचार-प्रदीपी (क० टि०)

जिनलिंगं भवति । *जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं* जिनलिंगं नग्नरूपमर्हन्मुद्रामयूरपिच्छकमण्डलुसहितं निर्मलं कथ्यते तद्द्वयरहितं लिंगं कश्मलमित्युच्यते । अन्यत्र तीर्थकरपरमदेवात्तप्तर्द्धेर्विना अवधिज्ञानादृते चेत्यर्थः, शुद्धं चर्मजलतैलघृतभूतनाशनास्वादरहितमुद्दण्डचर्यमन्तरायमलरहितं शुद्धमित्यभिप्रायः ।

कृत स्त्री किसी गायको घास का पूला डालने के लिए जाती है तो गाय उस स्त्री की ओर न देखकर घासके पूला को ओर देखती है, इसी प्रकार मुनि आहार देने वाली स्त्री के रूप आदिको अथवा गृहस्थों के महलों को साज सजावट को न देखकर सिर्फ आहार की ओर देखते हैं, यह गोचरी वृत्ति है।

जिस प्रकार मकानमें आग लगने पर गृहस्थ उसे खारे या मीठे किसी भी प्रकार के पानीसे बुझाने का प्रयत्न करता है, इसी प्रकारसे मुनि अपने उदरमें क्षुधा की बाधा रूपी अग्नि लगने पर उसे सरस या नीरस किसी भी प्रकार के आहार से बुझाने का प्रयत्न करते हैं, इस वृत्तिको उदराग्नि-विध्यापन कहते हैं।

भावका अर्थ परम-स्वरूप अथवा जिन-सम्यक्त्व है। जिस लिङ्ग के धारण करने के पूर्व उक्त भाव की भावना की जाती है वही जिन-लिङ्ग निर्मल होता है। जिनलिङ्ग में नग्न रूप धारण किया जाता है पीछी और कमण्डलु साथ रखना पड़ता है, इसीको अर्हन्मुद्रा कहते हैं। जो नग्न रूप पीछी और कमण्डलु से रहित होता है, वह सदोष कहा जाता है। [१]विशेषता यह है कि जिनके शरीर में मल मूत्र की बाधा नहीं रहती ऐसे तीर्थंकर परम देव तप्त ऋद्धि के धारक मुनि और अवधि ज्ञानसे युक्त मुनियों को इनकी आवश्यकता नहीं रहती जिन-लिङ्ग शुद्ध होता है और शुद्ध का अर्थ है चमड़े में रखे हुए जल तैल घी तथा हींग का जिसमें सेवन नहीं किया जाता, जिसमें उद्दण्डचर्या अर्थात् भिक्षा-वृत्ति से भोजन किया जाता है बत्तीस अन्तराय और चौदह मल रहित जिसमें भोजन किया जाता है ॥७९॥

१—इस कथन का मूल आधार जयसेन प्रतिष्ठापाठका निम्न लिखित वाक्य मालूम होता है। 'अत्र कमण्डलु-पिच्छिका-दानं तीर्थंकरस्य शौचक्रियाजीवघाताभावाच्च न कर्तुं प्रभवति, केवलं साधुत्वे उपयोगी, न तु प्रतिमायामर्हति चेत्याम्नायविदः।' परन्तु इस वाक्य में प्रतिमा तथा अर्हन्त अवस्था में पिच्छी और कमण्डलु का निषेध किया है। साधु अवस्था में नहीं। तीर्थंकर के तथा तप्त-ऋद्धि के धारक मुनिके यद्यपि मल-मूत्र की बाधा नहीं होती तथापि चर्या के अनन्तर बाह्य शुद्धि के लिये कमण्डलु की आवश्यकता रहती है। अवधि ज्ञानी मुनि सबके सब मल मूत्र से रहित नहीं होते, अतः उन्हें कमण्डलु आवश्यक है। और चरणानुयोग की प्रवृत्ति में अवधि ज्ञान का प्रयोग न होनेसे पिच्छी भी आवश्यक रहती है। पिच्छी का उपयोग विभिन्न प्रकारके मार्ग बदलने पर धूलि को मार्जन करने में भी होता है। ज्ञान केवल जीव जन्तुओंके दूर करनेमें। साथ ही भावसंग्रहका निम्न श्लोक भी विचारणीय है। मुनिको मयूर पिच्छका ग्रहण करना आवश्यक बतलाया है अवधि ज्ञान के बाद नहीं। पिच्छी कमण्डलु के सन्दर्भ में मुनि विद्यानन्द जी द्वारा लिखित पिच्छी, कमण्डलु, नामक पुस्तक का दशवां निबन्ध पिच्छि कमण्डलु देखना चाहिये।

जह रयणाण पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं ।

तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भावि भवमहणं ॥ ८० ॥

यथा रत्नानां प्रवरं वज्रं यथा तरुगणानां गोशीरम् ।

तथा धर्माणां प्रवरं जिनधर्मं भावय भवमथनम् ॥

जह रयणाणं पवरं यथा येन प्रकारेण रत्नानां मध्ये प्रवरं उत्तमं रत्नं किं वज्रं हीरकं षट्कोणं मौक्तिकगोमेदपुष्परागपुलकप्रवालचन्द्रकान्तरविकान्तजलकान्तहंसगर्भमसारगर्भरुचकपद्मरागेन्द्रनीलमहानीलनीलमरकतवैडूर्यलशुनकर्केतनेत्यादीनां रत्नानां मध्ये वज्रं हीरकं हि सर्वोत्तमं तस्य देवाधिष्ठितत्वात् । *जह तरुगणाण गोसीरं* तरुगणानां मध्ये यथा गोशीर्षं तैलपर्णिकं परमोत्तमचन्दनं प्रवरं । *तह धम्माणं पवरं* तथा धर्माणां मध्ये जिनधर्मं प्रवरं । हे मुने ! त्वं *भावि भवमहणं* भावय रोचय भवमथनं संसारविच्छेदकम् ।

तं धम्मं केदिसं हवदि तं तहा—

स धर्मः कीदृशो भवति तद्यथा-तमेव निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं ।

[1]मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८१॥

गाथार्थ—जिस प्रकार रत्नों में हीरा और वृक्षों के समूह में चन्दन उत्कृष्ट है उसी प्रकार धर्मों में संसार को नष्ट करने वाला जिन-धर्म उत्कृष्ट है ॥८०॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार मौक्तिक, गोमेद, पुष्पराग, पुलक, प्रवाल, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, जलकान्त, हंसगर्भ, मसारगर्भ, रुचक, पद्मराग, इन्द्रनील, महानील, नील, मरकत, वैडूर्य, लशुन और कर्केतन आदि रत्नों में षट्कोण हीरक मणि सर्वोत्तम होता है क्योंकि देव उसे धारण करते हैं और वृक्षोंके समूह में जिस प्रकार गोशीर्ष नामका चन्दन सर्वोत्तम होता है उसी प्रकार सब धर्मों में जैन धर्म सर्वोत्तम धर्म है क्योंकि वह संसार को नष्ट करने वाला है । हे मुने ! तुम इसी जिन-धर्म की भावना करो, उसी को रुचि—श्रद्धा करो ॥८०॥

आगे वह धर्म कैसा है इसी का श्री कुन्दकुन्दाचार्य निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—पूजा आदि शुभ कार्यो में व्रत सहित प्रवृत्ति करना पुण्य है, ऐसा जिन-मत में जिनेन्द्र देवने कहा है और मोह तथा क्षोभ से रहित आत्माका जो परिणाम है वह धर्म है, ॥८१॥

१—चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो । मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम् ।
मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनो धर्मः ॥

पूयादिसु वयसहियं पूजादिषु व्रतसहितं पूजा आदिर्येषां कर्मणां तानि पूजादीनि तेषु पूजादिषु व्रतसहितं श्रावकव्रतसहितं । *पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं* पुण्यं स्वर्गमोक्षदायकं कर्म जिनैस्तीर्थंकरपरमदेवैरपरकेवलिभिश्च हि स्फुटं शासने आर्हतमते उपासकाध्ययननाम्न्यङ्गे भणितं कर्तृतया प्रतिपादितं-इदं कर्म करणीयमित्यादिष्टं । तथा चोक्तं जिनसेनपादैः—

[1]पुण्यं जिनेन्द्रचरणार्चनसाध्यमाद्यं पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमेतत् ।
पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥ १ ॥

तथा समन्तभद्रस्वाम्याचार्यैरप्यभिहितं—

[2]देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणं ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यं ॥ १ ॥
[3]अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ २ ॥

विशेषार्थ—वीतराग जिनेन्द्र देव की पूजा करना, निर्ग्रन्थ गुरु आदि सत्पात्रों के लिये दान देना तथा श्रावकों के व्रत पालन करना आदि शुभ कार्य पुण्य कहलाते हैं तथा स्वर्ग सुख के देनेवाले हैं, ऐसा तीर्थंकर परम देव एवं च अन्य केवलियों ने भी कहा है । जिनशासनके उपासकाध्ययन नामक अङ्गमें इस पुण्यको करना चाहिये, ऐसा आदेश दिया है । जैसा कि जिनसेन स्वामी ने कहा है—

पुण्यं—जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की पूजा से प्राप्त होने वाला पहला पुण्य है, सत्पात्र के लिये दिये हुए दानसे उत्पन्न होने वाला दूसरा पुण्य है, व्रतोंका पालन करने से उत्पन्न होनेवाला तीसरा पुण्य है तथा उपवास करने से होनेवाला चौथा पुण्य है पुण्यके अभिलाषी मनुष्यों का उक्त चार प्रकार के पुण्यका उपार्जन करना चाहिये ।

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है—

देवाधिदेव—मनोरथों को पूर्ण करने वाले एवं कामको भस्म करने वाले देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की उपासना—पूजा वन्दना आदि समस्त दुःखों को दूर करने वाली है इसलिये श्रावक को बड़े आदर के साथ नित्य प्रति करना चाहिये ॥१॥

१—महापुराणे २-३—रत्नकरण्डश्रावकाचारे ।

यदीदं सर्वज्ञवीतरागपूजालक्षणं तीर्थंकरनामगोत्रबन्धकारणं विशिष्टं निर्निदानं पुण्यं पारम्पर्येण मोक्षकारणं गृहस्थानां श्रीमद्भिर्भणितं तर्हि साक्षान्मोक्षहेतुभूतो धर्मः क इत्याह—*मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो* मोहः पुत्रकलत्रमित्रधनादिषु ममेदमिति भावः, क्षोभः परीषहोपसर्गनिपाते चित्तस्य चलनं ताभ्यां विहीनो रहितः मोहक्षोभविहीन एवं गुणविशिष्ट आत्मनः शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य चिच्चमत्कारलक्षणश्चिदानन्दरूपः परिणामो धर्म इत्युच्यते। स परिणामो गृहस्थानां न भवति पचसूनासहितत्वात्। तथा चोक्तं—

खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुंभः प्रमार्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १ ॥

अर्हच्चरण—राजगृह नामक नगर में हर्ष से मत्त हुए मेण्डक ने महात्माओं के आगे अर्हन्त भगवान् के चरणों की पूजा का महान् फल प्रकट किया था ॥२॥

यदि तीर्थकर नाम कर्म के बन्धका कारण, एवं निदान-रहित यह सर्वज्ञ वीतराग देवकी पूजा रूप सातिशय पुण्य गृहस्थों के परम्परा से मोक्षका कारण है ऐसा आपने कहा है तो साक्षात् मोक्षका कारण भूत धर्म क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गाथा के उत्तरार्ध में कहते हैं कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम धर्म है। पुत्र स्त्री मित्र तथा धन आदि में 'यह मेरा है' इस प्रकार का जो भाव है वह मोह कहलाता है। परीषह तथा उपसर्ग के आने पर चित्तका विचलित होना क्षोभ है, उन दोनों से रहित शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव वाले आत्मा का जो चिच्चमत्कार अथवा चिदानन्द रूप परिणाम है, वह धर्म कहलाता है। ऐसा परिणाम गृहस्थों के नहीं होता है क्योंकि वे पञ्च सूनाओं से सहित रहते हैं। जैसा कि कहा गया है—

खण्डनी—कूटना, पीसना, चूला सिलगाना, पानी भरना, और बुहारी देना ये पांच हिंसाके कार्य गृहस्थके होते हैं, अतः वह मोक्ष नहीं जाता है, यद्यपि गृहस्थ साक्षात् मोक्ष नहीं जाता है तो भी जिनसम्यक्त्व पूर्वक दान पूजादि रूप विशिष्ट पुण्यका उपार्जन करता हुआ स्वर्ग जाता है और परम्परासे जिनलिङ्ग धारण कर मोक्षको भी प्राप्त होता है ॥८१॥

[इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने पुण्य और धर्मकी परिभाषाएं स्पष्ट करते हुए दोनों मे पार्थक्य सिद्ध किया है पूजा दान तथा व्रताचरण आदिका पुण्य बताया है तथा उन्हें साक्षात् स्वर्ग का प्राप्तिका कारण कहा है। पुण्य शुभोपयोग का कार्य है और मोह अर्थात् मिथ्यात्व और क्षोभ अर्थात् रागद्वेष से रहित आत्मा की निर्मल परिणति को धर्म कहा है। यह निर्मल परिणति शुद्धोपयोग मे होती है और साक्षात् मोक्षका कारण

यदि मोक्षं न गच्छति तदा जिनसम्यक्त्वपूर्वकं दानपूजादिलक्षणं विशिष्टगुणमुपार्जयन् [पुण्यं] गृहस्थः स्वर्गं गच्छति परंपरया जिनलिंगेन मोक्षमपि प्राप्नोति।

इति पुण्यधर्मयोः स्वरूपमुक्त्वेदानीं निर्विकल्पसमाधिलक्षणं कर्मक्षयकारणं कथयन्ति भगवन्तः—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि
पुण्णं भोयनिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयनिमित्तं ॥ ८२॥

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति।
पुण्यं भोगनिमित्तं न हु तत् कर्मक्षयनिमित्तम् ॥

सद्दहदि य श्रद्दधाति च तत्र विपरीताभिनिवेशरहितो भवति। *पत्तेदि य* प्रत्येति च मोक्षहेतुभूतत्वेन यथावत्तत्प्रतिपद्यते। *रोचेदि य* रोचते च मोक्षकारणतया तत्रैव रुचिं करोति *तह पुणो वि फासेदि*

है। गृहस्थ अपने पदके अनुकूल पुण्य रूप आचरण करता है और धर्मके वास्तविक स्वरूप की श्रद्धा रखता है। शुद्धोपयोग रूप परिणति के होनेपर शुभोपयोग रूप परिणति स्वयं छूट जाती है, शुभोपयोग का कार्य होनेसे यद्यपि पुण्य बन्ध का कारण है तथापि गृहस्थ की उसमें प्रवृत्ति होती है शुद्धोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग हेय है और अशुभोपयोगकी अपेक्षा उपादेय है। गृहस्थ को शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो नहीं सकती, इसलिये अशुभोपयोग से बचकर शुभोपयोग में प्रवृत्ति करने की आचार्यों ने उसे प्रेरणा दी है। जिन आचार्यों ने पुण्य को धर्म मानकर उसके करने के लिये आदेश दिया है वह पात्रकी योग्यता को लक्ष्य कर दिया है।]

इस प्रकार पुण्य और धर्मका स्वरूप कहकर अब भगवान् कुन्दकुन्द निर्विकल्प-समाधिरूप कर्मक्षयका साक्षात् कारण बतलाते हैं—

गाथार्थ—मोक्षका अभिलाषी जीव पुण्य की श्रद्धा करता है, पुण्य की प्रतीति करता है, पुण्य की रुचि करता है और पुण्यका स्पर्श करता है परन्तु पुण्य भोगका निमित्त है, कर्मक्षय का निमित्त नहीं है ॥८२॥

विशेषार्थ—मोक्षार्थी जीव पुण्यको मोक्षका कारण मानकर उसकी श्रद्धा करता है अर्थात् अपनी समझके अनुसार उसमें विपरीत-अभिनिवेश से रहित होता है उसकी प्रतीति करता है अर्थात् मोक्षका हेतु मानकर उसे यथायोग्य स्वीकार करता है। उसकी रुचि करता है अर्थात् मोक्षका कारण मानकर उसमें अपनी इच्छा प्रकट करता है और उसीका स्पर्श करता है अर्थात् उसे मोक्षका साधन समझ कर उसे प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करता है परन्तु यह स्पष्ट है कि मोक्षार्थी जीवके द्वारा किया जाने वाला यह पूजादि

मोक्षार्थित्वात्तन्मार्गनतया स्पृशति अवगाहयति । पुण्णं भोयनिमित्तं एतत्पूजादिलक्षणं पुण्यं मोक्षार्थितया क्रियमाणं साक्षाद्भोगकारणं स्वर्गस्त्रीणामालिंगनादिकारणं तृतीयादिभवे मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिंगेन । ण हु सो कम्मक्खयनिमित्तं न भवति हु—स्फुटं निश्चयेन साक्षात्तद्भवे गृहस्थलिंगेन कर्मक्षयनिमित्तं तद्भवे केवलज्ञानपूर्वकमोक्षनिमित्त पुण्यं न भवतीति ज्ञातव्य ।

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो ।

संसारतरणहेदुं धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ८३ ॥

आत्मा आत्मनि रतः रागादिषु सकलदोषपरित्यक्तः ।

संसारतरणहेतुः धर्म इति जिनैः निर्दिष्टः ॥

अप्पा अप्पम्मि रओ आत्मा अत सातत्यगमने अतत्यूर्ध्वं ऊर्ध्वस्वभावेनोर्ध्वमेव गच्छतीत्यात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मानि रतो निजशुद्धबुद्धैकस्वभावे एकलोलीभावभूतः । *रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो* रागादिषु रागादिभ्यः सकलदोषपरित्यक्तः रागद्वेषमोहलोभादिसकलदोषरहित इत्यर्थः । *संसारतरणहेदुं* संसारस्य तरणहेतुः कारणभूतः । *धम्मोत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं* धर्म इति जिनैर्निर्दिष्ट प्रतिपादितं जिनपूजादिकं पुण्यमिति शेषः । तेन कारणेन जिनपूजादिपु द्वेषो न कर्तव्यः । उक्तं च योगीन्द्रदेवैः—

प्रवृत्ति रूप पुण्य साक्षात् तो भोगका ही कारण है अर्थात् देवाङ्गनाओं के आलिङ्गन का कारण है और तृतीय भवमें निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करने पर मोक्षका कारण है । यह पुण्य निश्चय से साक्षात् अर्थात् उसी भव में गृहस्थ लिङ्ग द्वारा कर्मक्षयका निमित्त नहीं है—उसी भवमें केवल-ज्ञान-पूर्वक मोक्षका निमित्त पुण्य नहीं है, यह जानना चाहिये ॥८२॥

गाथार्थ—आत्मा में लीन तथा रागादि समस्त दोषों से रहित यह आत्मा ही संसार सागर से पार होनेका कारण धर्म है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है । [यहां अभेद नयसे गुण गुणी में अभेद कर आत्मा को ही धर्म कहा है ।] ॥८३॥

विशेषार्थ—आत्मन् शब्द 'अत सातत्यगमने' धातुसे सिद्ध होता है अतः अतति इति आत्मा इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो ऊर्ध्व-गमन स्वभाव होनेसे ऊर्ध्व ही गमन करता है, वह आत्मा है [अथवा गत्यर्थक धातुएं ज्ञानार्थक भी होती हैं इस नियम से जो निरन्तर पदार्थों को जाने वह आत्मा है] शुद्ध निश्चयनय से आत्मा शुद्ध बुद्धैक स्वभाव है अर्थात् रागादि-रहित ज्ञायक मात्र है जो आत्मा अपने इसी शुद्ध बुद्धैक स्वभाव में लीन है—तन्मयी भावको प्राप्त है और रागद्वेष मोह लोभ आदि समस्त दोषों से रहित है वह आत्मा ही संसार से पार होनेका कारण-भूत धर्म है, ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है । जिन पूजा आदिक पुण्य हैं और परम्परा से मोक्षके कारण हैं अतः उनमें द्वेष नहीं करना

देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्देसु करेइ ।
नियमिं पाउ हवेइ तसु जें संसारु भमेइ ॥ १ ॥

अस्य दोहकस्यार्थं भावः—देवशास्त्रगुरूणां प्रतिमासु निषेधिकादिषु च पुष्पादिभिः पूजादिषु च लोका द्वेष कुर्वन्ति तेषां पाप भवति तेन पापेन ते नरकादौ पतन्तीति ज्ञातव्यं ।

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं ।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ८४ ॥

अथ पुनः आत्मानं नेच्छति पुण्यानि करोति निरवशेषाणि ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनर्भणितः ॥

अह पुण अप्पा णिच्छदि अथ पुनरात्मानं नेच्छति न भावयति *पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं* पुण्यानि करोति निरवशेषाणि पूजादानादीनि सर्वाणि भोगाकांक्षानिदानख्यातिपूजालाभादिकमभिलाषुकतया करोति विदधाति परं जिनसम्यक्त्वेनान्तः-शून्यो निर्विवेकः बहिरात्मा जीवः । *तह वि ण पावदि सिद्धिं* तथापि नानापुण्यानि कुर्वन्नपि जीवो न प्राप्नोति न लभते, कां ? सिद्धिं आत्मोपलब्धिलक्षणां मुक्तिमिति जिनसम्यक्त्वरहितो दूरभव्योऽभव्यो वा स ज्ञातव्य इत्यर्थः । यदि सिद्धिं न प्राप्नोति तर्हि कीदृशो भवति ? *संसारत्थो पुणो भणिदो* संसारस्थोऽनन्तसंसारी पुनर्भणित आगमे प्रतिपादितः ।

चाहिये योगीन्द्र देवने कहा भी है—

देवहं—जो देव शास्त्र और श्रेष्ठ मुनियों से द्वेष करता है उसके नियम से वह पाप-बन्ध होता है जिससे संसार में भटकता है ।

इस दोहाका भाव यह है कि देवशास्त्र गुरुओंकी प्रतिमाओं तथा निषेधिका आदि धर्मायतनों की पुष्प आदिसे पूजा आदि करने में लोक लोग द्वेष करते हैं, अतः उन्हें पाप बन्ध होता है और उसके फल स्वरूप वे नरकादि में पडते हैं ॥ ८३ ॥

गाथार्थ—यदि कोई आत्मा की भावना नहीं करता है और समस्त पुण्य करता है तो वह पुण्य करताहुआ भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है, संसारी ही कहागया है ॥८३॥

विशेषार्थ—कितने ही जीव ऐसे है कि वे आत्मा को ओर लक्ष्य नहीं देते, मात्र भोगोंकी आकांक्षा रूप निदान, ख्याति पूजा लाभ आदि की इच्छा रख पूजा दान आदि समस्त पुण्य कर्म करते रहते हैं उन्हे आचार्य महाराज ने जिन-सम्यक्त्व से अन्तरङ्ग में शून्य, निर्विवेक बहिरात्मा कहा है । ऐसे जीव नाना प्रकारके पुण्य करते हुए भी आत्मोप-लब्धि रूप सिद्धिको नहीं पाते हैं । जिन-सम्यक्त्व से रहित जीवको दूर-भव्य या अभव्य जानना चाहिये । इन जीवोंको आगममें अनन्त संसारी कहा गया है ॥ ८४ ॥

एएण कारणेण य तं अप्पं सद्दहेह तिविहेण ।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥८५॥

एतेन कारणेन च तमात्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन ।
येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥

एएण कारणेण य एतेन कारणेन चात्मनो मोक्षहेतुत्वेन । *तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण* तमात्मानं श्रद्धत्त तत्र विपरीताभिनिवेशरहिता भवत यूयं त्रिविधेन मनोवचनकाययोगप्रकारेण । *जेण य लहेह मोक्खं* येन च कारणेनात्मश्रद्धानहेतुना लभध्वं मोक्षं सकलकर्मप्रक्षयलक्षणं मोक्षं प्राप्नुत यूयं । *तं जाणिज्जह पयत्तेण* तमात्मानं जानीत ज्ञानगुणेन भेदज्ञानेन बुध्यध्वं यूयं, प्रयत्नेन चारित्रगुणेनैकलोलीभावतया तत्र तिष्ठत यूयं ।

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महानरयं ।
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणा णिच्चं ॥ ८६ ॥

मत्स्योऽपि शालिसिक्थोऽशुद्धभावो गतः महानरकम् ।
इति ज्ञात्वा आत्मानं भावय जिनभावनां नित्यम् ॥

इस कारण उस आत्मा की ही मन वचन कायसे श्रद्धा करो तथा उसीको प्रयत्न पूवक जानो जिससे मोक्ष प्राप्त कर सको ॥८५॥

विशेषार्थ—आत्मा ही मोक्षका कारण है इसलिये विपरीत अभिनिवेश से रहित होकर उसी आत्मा को मन वचन कायसे श्रद्धा करो और प्रयत्न-पूर्वक अर्थात् चारित्र गुणके साथ एक लोलीभावको प्राप्त होकर उसी आत्मा को जानो, ज्ञान गुण अथवा भेद ज्ञानके द्वारा उसे समझो जिससे समस्त कर्म-क्षय रूप मोक्षको प्राप्त हो सको ॥८५॥

गाथार्थ—अशुद्ध भावोंसे युक्त शालिसिक्थ मच्छ भी महा नरक गया यह जान कर निरन्तर आत्मा की भावना करो आत्मस्वरूप का चिन्तन करो क्योंकि यही जिन-भावना है अथवा जिन-सम्यक्त्व है ॥८६॥

विशेषार्थ—राघवमच्छ के कान में एक छोटी अवगाहनाका मच्छ रहता है चावल के सीथके समान शरीरका प्रमाण होनेसे वह शालिमच्छ अथवा तण्डुल-मच्छ कहलाता है । वह यद्यपि राघवमच्छ के समान बाह्य हिंसा नहीं कर पाता है परन्तु भाव-हिंसाके कारण राघवमच्छके ही समान सातवें नरक में उत्पन्न होता है इसलिये आचार्य सावधान

मच्छो वि सालिसित्थो मत्स्योपि मीनजातिरल्पजीवः तन्दुलसिक्थप्रमाणशरीरत्वान्नाम्ना शालिसिक्थः। *असुद्धभावो गओ महानरयं* अशुद्धभावः सन् गतः प्राप्तः महानरकं सप्तमं नरक गतः। *इय णाउं अप्पाणं* इति ज्ञात्वात्मानं शुद्धबुद्धैकस्वभावरूपं टंकोत्कीर्णस्फटिकबिंबोपमं चिच्चमत्कारलक्षणं मुक्तिगतसिद्धसमानं शुद्धनिश्चयनयेन सिद्धं ज्ञायकैकस्वभावं हे जीव ! हे आत्मन् !। *भावह जिणभावणा णिच्चं* भावय त्वं भावनाविषयं कुरु इयं जिनभावनेति ज्ञात्वा, अथवा जिनभावनां जीवादिसप्ततत्त्वश्रद्धानं च नित्यं सर्वकालं भावय रोचस्व तस्मादिति अपध्यानं परिहृत्य अन्तस्तत्त्वं बहिस्तत्त्वं चाश्रयेति भावार्थः। किं तदपध्यानं ?—

[1]वधबन्धच्छेदादे [2]रागद्वेषाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥ १ ॥
"पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनं।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनं ॥"

इति पद्योक्तं चतुर्विधं ध्यानं भावय हे जीव !।

करते हुए कहते हैं कि देखो अशुद्धभावों के कारण शालिसिक्थ मत्स्य सातवें नरक गया। अतः हे आत्मन् ! तू निरन्तर शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव, टङ्कोत्कीर्ण स्फटिक बिम्बके तुल्य, चिच्चमत्कार लक्षण, मुक्तिको प्राप्त सिद्ध के समान, शुद्धनिश्चयनय से सिद्ध एवं एक स्वभावसे युक्त आत्मा की भावना कर—उसे ही भावनाका विषय बना तथा यही जिन भावना है—आत्म-चिन्तन ही जिनचिन्तन है ऐसा समझ। अथवा आत्मभावना रूप निश्चयसम्यक्त्व और जिन-भावना—जीवादि सप्ततत्त्वके श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यक्त्व का सदा चिन्तन कर। अर्थात् अपध्यान को छोड़कर अन्तस्तत्व और बहिस्तत्वका आश्रय ग्रहण कर।

प्रश्न—वह अपध्यान क्या है ?

उत्तर—द्वेष-वश किसीके वध बन्धन और छेद आदिका तथा रागवश परस्त्री आदिका निरन्तर ध्यान करना अपध्यान है, ऐसा जिनशासन के ज्ञाता आचार्य कहते हैं।

पदस्थं—मन्त्र वाक्य रूप पदस्थ, स्वात्म–चिन्तन रूप पिण्डस्थ, सर्वचैतन्य रूप, रूपस्थ और कर्म कालिमा से रहित सिद्ध परमेष्ठी रूप रूपातीत इस प्रकार सद्ध्यान के चार भेद हैं।

हे आत्मन् ! इस पद्यमें कहे हुए चार प्रकारके सद्ध्यानका तू निरन्तर चिन्तन कर।

१—रत्नकरण्डश्रावकाचारे। २—द्वेषाद्रागाच्चेति पाठान्तरमप्यत्र।

अथ शालिसिक्थमत्स्यकथा यथा—श्रीपुष्पदन्तजिनजन्मभूमौ काकन्दीपुरे श्रावककुलजन्मा सौरसेनो राजा बभूव। सकलधर्मानुरोधेन मांसव्रतं जग्राह। पुनर्वेदवैद्यरुद्रमतमोहितमतिः मांसभक्षणमतिः संजातः, अङ्गीकृतवस्तुनिर्वाहनकारणाल्लोकापवादाच्च मांसं जुगुप्समानः मनोविश्रामहेतुं कर्मप्रियनामकेतुं सूपकारं स्वाहूयैकान्ते निजाभिलाषं तमजिज्ञपत्। बिलचर-स्थलचर-जलचरजीवानां मांसमानायन्नपि अनेकराजकार्याकुलचित्ततया मांसभक्षणावसरं न प्राप। कर्मप्रियोऽपि नृपादेशं अहर्निशं कुर्वन्नेकदा सर्पबालकेन दष्टो मृतः स्वयंभूरमणसमुद्रे महामत्स्यो बभूव। भूपः सौरसेनोऽपि चिरकालेन मृत्वा मांसभक्षणाशयानुबन्धात्तस्मिन्नेव समुद्रे तस्यैव महामत्स्यस्य कर्णबिलमलाशनशीलः शालिसिक्थप्रमाणशरीरो मत्स्यो बभूव। तदन्वेष पर्याप्तद्रव्यभावेन्द्रियः तस्य महामत्स्य–मुखं व्यादाय निद्रायतो वेलानदीप्रवाहे इव गलगुहेऽनेकजलचरसमूहं प्रविश्य निष्क्रामन्तं निरीक्ष्य शालिसिक्थश्चिन्तयति—अयं पापकर्मा महामत्स्यो निर्भाग्यो यन्मुखे पतन्त्यपि यादांसि भक्षयितुं न शक्नोति। मम दैवेनैतावच्छरीरं यदि भवति तदा सकलमपि समुद्रं सत्वसंचाररहितं करोमीति चेतश्चिन्ताबलात्क्षुद्रमत्स्यो निखिलनक्रचक्रभक्षणपापाच्च महामत्स्योऽपि द्वावपि

अब शालिसिक्थ मत्स्य की कथा लिखते हैं—

शालिमत्स्य की कथा

श्री पुष्पदन्त भगवान् की जन्म भूमि काकन्दीपुर में श्रावक कुलमें उत्पन्न हुआ सौरसेन नामका राजा था। उसने मुनिराजके अनुरोधसे मांस-त्याग व्रत ग्रहण किया परन्तु पीछे वेदविद्या के ज्ञाता रुद्रमत से मोहित-बुद्धि हानेके कारण उसकी मांस खानेमें रुचि हो गई। गृहीत व्रतके निर्वाह के कारण तथा लोकापवाद के भयसे वह प्रत्यक्ष तो मांस से घृणा करता था परन्तु अन्तरङ्ग में उसकी इच्छा लगी रहती थी। एक दिन उसने मानसिक विश्रामके कारण कर्म-प्रिय-केतु नामक रसोइया को एकान्त में बुलाकर उससे अपनी अभिलाषा प्रकट की। विलमें रहने वाले, स्थल में रहने वाले और जलमें रहनेवाले जीवोंके मांसको वह बुलवाता तो था परन्तु राज्यसम्बन्धी अनेक कार्योंमें व्यग्रचित्त होनेके कारण उसे खानेका अवसर नहीं प्राप्त कर पाता था। कर्मप्रिय रसोईया भी राजाके आदेश का पालन करता हुआ प्रतिदिन मांस तैयार करता था। एक दिन सांपके बच्चेने उसे डश लिया जिससे वह मरगया और मरकर स्वयंभू रमण समुद्र में महामत्स्य हुआ। इधर सौरसेन राजा भी चिरकाल बाद मरकर मांस-भक्षण के अभिप्राय का संस्कार रहने से उसी समुद्र में उसी महामत्स्य के कान रूप विलके मलको खानेवाला शालिसिक्थ प्रमाण शरीर का धारक मत्स्य हुआ। पश्चात् जब इसकी द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियां पूर्ण होगईं तब वह मुख खोलकर सोते हुए महामत्स्य के वेला नदीके प्रवाहके समान

मृत्वा सप्तमनरके संजातौ । ततस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुषौ तौ द्वावपि परस्परमालापं चक्रतुः । अहो क्षुद्रमत्स्य ! महापापकर्मणो ममात्रागमनं संगच्छत एव । त्वं तु मत्कर्णमलाजीवनः कथमत्रागतः । शालिसिक्थचरनारकः प्राह—महामत्स्यचेष्टितादपि दुरन्तदुःखं :संबन्धनाद्दुर्भावनावशात् ।

इति श्रीभावप्राभृते शालिसिक्थमत्स्योपाख्यानं समाप्तं ।

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।
सयलो णाणज्झयणो निरत्थओ भावरहियाणं ॥ ८७ ॥

बाह्यसङ्गत्यागः गिरिसरिद्दरिकन्दराद्यावासः ।
सकलं ज्ञानाध्ययनं निरर्थकं भावरहितानाम् ॥

बाहिरसंगच्चाओ बाह्यसंगत्यागः निरर्थक इति सम्बन्धः *गिरिसरिददिकंदराइ आवासो* गिरा आवासः पर्वतोपरि आतापनयोगः पर्वते स्थितिर्वा, सरित्—नदीतटे तपश्चरणं भगीरथवत्, दरी गुहाया-मावासः, कन्दरो गिर्यादिविवरं तत्रावासः, आदिशब्दात् श्मशानोद्यानादौ आवासः स्थितिः । *सयलो णाण-ज्झयणो* सकलं वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशलक्षणं ज्ञानाध्ययनं शास्त्रपठनं । *निरत्थओ भावरहि-*

कण्ठ रूप गुहा में प्रवेश कर निकलते हुए अनेक जलचरों के समूह को देखकर चिन्ता करता है कि यह पापी महामत्स्य बड़ा अभागा है जो मुखमें पड़े हुए भी जल जन्तुओंको खाने में समर्थ नहीं है, भाग्यवश यदि मेरा शरीर इतना भारी होता तो मैं समस्त समुद्र को जीवोंके संचार से रहित कर देता इस प्रकार मानसिक विचार के बलसे क्षुद्रमत्स्य और समस्त मगरमच्छों के खानेसे उत्पन्न पापके कारण महामत्स्य दोनों ही मरकर सातवें नरक में उत्पन्न हुए । वहां तेतीस सागर की उनकी आयु हुई । दोनों मिलने पर परस्पर वार्तालाप करने लगे । महामच्छके जीवने कहा कि अहो क्षुद्रमत्स्य ! महापाप करने वाले मेरा यहां आना तो संगत है पर तुम तो कानका मल खाकर जीवित रहते थे तुम यहां कैसे आगये ? शालिसिक्थ के जीव नारकी ने कहा कि मैं महामत्स्य की चेष्टा से भी अधिक भयंकर दुःख देनेवाली खोटी भावनाके वशसे यहां उत्पन्न हुआ हूं ।

इस प्रकार श्री भावप्राभृत में शालिसिक्थ मत्स्य की कथा समाप्त हुई ॥८६॥

गाथार्थ—बाह्य परिग्रह का त्याग करना, पर्वत नदी गुफा और कन्दरा आदिमें निवास करना तथा समस्त शास्त्रोंका पढ़ना भावरहित जीवोंके निरर्थक है ॥८७॥

विशेषार्थ—भावकी महिमा बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि भावरहित अर्थात जिन-सम्यक्त्व से विवर्जित अथवा शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव से युक्त जिन—आत्मा की भावना से च्युत मुनियों का बाह्य परिग्रह का त्याग करना निरर्थक है, पवतके ऊपर आतापन

णां भावरहितानां जिनसम्यक्त्वविवर्जितानां निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मभावनापराङ्मुखानां यतीनां । उक्तं च—

बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुजाः स्वभावतः सन्ति ।

यः पुनरन्तःसंगत्यागी लोके स दुर्लभो जीवः ॥ १ ॥

भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण ।

मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥ ८८ ॥

भङ्ग्धि इन्द्रियसेनां भङ्ग्धि मनोमर्कटं प्रयत्नेन ।

मा जनरञ्जनकरणं बहिर्व्रतवेष ! त्वं कार्षीः ॥

भंजसु इंदियसेणं त्वं भंग्धि, कां ? इन्द्रियसेनां । *भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण* भंजसु-त्वं भंग्धि आमर्दय विषयकषायेभ्यो गच्छन्तं निरुन्द्धि, कं ? मणमक्कडं—मनोमर्कटं चपलस्वभावत्वान्मन एव मर्कटस्तं मनोवानरं प्रयत्नेन स्त्रीसंगपरित्यागेन । *मा जणरंजणकरणं* मा-नैव जनानां लोकानां रञ्जनकरणं अनुरागोत्पादकं कार्यं । हे ! *बाहिरवयवेषु* बहिर्व्रतवेष ! हे बाह्याकारदीक्षाचिन्हग्राहक ! । *तं* त्वं । मा कुणसु मा कार्षीः

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए ।

चेइयपवयणगुरुणं करेहि भत्तिं जिणाणाए ॥ ८९ ॥

योग धारण करना अथवा पर्वत पर रहना, भगीरथ के समान नदी तट पर तपस्या करना, गुहा में रहना तथा कन्दरा श्मशान उद्यान आदि में निवास करना निरर्थक है और वाचना प्रच्छना अनुप्रेक्षा आम्नाय तथा धर्मोपदेश रूप सब प्रकार का ज्ञानाध्ययन—शास्त्र स्वाध्याय करना निरर्थक है । जैसा कि कहा गया है ।

बाह्यग्रन्थ—दरिद्र मनुष्य तो बाह्य परिग्रहसे रहित स्वयं होता ही है अर्थात् बाह्य परिग्रह के त्यागी मनुष्य दुर्लभ नहीं हैं किन्तु जा अन्तरङ्ग परिग्रह का त्यागी है लोक में वही दुर्लभ है ॥८७॥

गाथार्थ—हे बाह्य व्रत वेषके धारक साधो ! तू इन्द्रियों की सेनाको भग्न कर, प्रयत्न पूर्वक मन रूपी वानरको नष्ट कर तथा जनता के अनुराग को उत्पन्न करने वाला कार्य मत कर । ८८॥

विशेषार्थ—हे साधो ! विषय और कषाय की ओर बढ़ती हुई इन्द्रियों की सेनाका तू नष्ट कर दे, मन रूपी चञ्चल वानर को प्रयत्न पूर्वक रोक तथा लोगोंको प्रसन्न करने वाले यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र आदि कार्योंको छोड़, सिर्फ बाह्य वेषको धारण करने वाला न बना रह, भावकी ओर लक्ष्य दे ॥८८॥

गाथार्थ—हे जीव ! भाव-शुद्धिपूर्वक नौ नोकषायों के समूह और मिथ्यात्व का

नवनोकषायवर्गं मिथ्यात्वं त्यज भावशुद्धया ।
चैत्यप्रवचनगुरूणां कुरु भक्तिं जिनाज्ञया ॥

णवणोकसायवग्ग नवनोकषायवर्गं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदलक्षणान् नोकषायान् ईषत्कषायान् यथाख्यातचारित्रघातकान् चयसु त्यजेति संबन्धः । तथा *मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए* मिथ्यात्वं पंचप्रकारं चयसु त्यज—

[1]एयंत बुद्धदरिसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ ।
इन्दो वि य संसयिदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥ १ ॥

एकान्तेन क्षणिकैकान्तेन मोक्षं बौद्धो वदति विपरीतेन हिंसया मोक्षं बंभ-ब्राह्मणो वदति तापसो विनयेन मोक्षं वदति । इन्द्र-इन्द्रचन्द्रो नागेन्द्रगच्छः संशयेन मोक्षं मन्यते । अपि च शब्दाद्गोपुच्छिको द्राविडो यापनीयाभिधो निष्पिच्छश्च संशयमोक्षो ज्ञातव्यः । मस्करपूरणो मार्कटिकोऽज्ञानान्मोक्षं मन्यते । एतन्महापातकं मिथ्यात्वपंचकं चयसु त्यज हे जीव ! त्वं । तथा च समन्तभद्रः प्राह—

त्याग करो तथा जिनेन्द्र देवकी आज्ञानुसार जिनप्रतिमा, जिनशास्त्र तथा गुरुओं की भक्ति करो ॥८९॥

विशेषार्थ—हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसक वेद ये नौ नोकषाय अथवा ईषत् कषाय हैं, यथाख्यात चारित्रका घात करने वाली हैं इन्हें तू छोड़। एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान ये पांच प्रकारके मिथ्यात्व हैं, भावशुद्धि पूर्वक तू इनका त्याग कर ।

एयंत—एकान्त मिथ्यात्वमें बौद्ध, विपरीत मिथ्यात्वमें ब्राह्मण, विनय मिथ्यात्व में तापस, संशय मिथ्यात्व में इन्द्र नामक श्वेताम्बर और अज्ञान मिथ्यात्व में मस्करी प्रसिद्ध हुआ है बौद्ध, सर्वथा क्षणिक एकान्त से मोक्ष कहते हैं। 'हिंसा से मोक्ष होता है' इस प्रकार ब्राह्मण विपरीत मिथ्यात्वका निरूपण करते हैं। 'सब धर्म तथा सब देवों की विनय से मोक्ष होता है' ऐसा तापस कहते हैं इन्द्र-चन्द्र-इन्द्र अर्थात् नागेन्द्र गच्छका प्रवर्तक इन्द्रचन्द्र संशय से मोक्ष मानता है। 'इन्दोविय' यहाँ जो 'अपिच' शब्द दिया है उससे गोपुच्छिक, द्राविड, यापनीय तथा निष्पिचछ लोगोंका भी संशय मिथ्यात्व में समावेश करना चाहिये क्योंकि ये भी संशय से मोक्ष मानते हैं। तथा मार्कटिक अथवा मस्कर पूरण अज्ञान से मोक्ष मानता है। ये पांचों मिथ्यात्व महापाप हैं इसलिये हे जीव ! तू इनका त्याग कर। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है—

१—गोम्मटसारे जीवकाण्डे

[1]न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ १ ॥

भावसुद्धीए—तत्वार्थश्रद्धानलक्षणया भावशुद्धया जिनसम्यक्त्वेन लौकपापसंभाषणसंगमपरिहारेण शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मरुचिपरिणामेनेति भावार्थः। चेइयपवयणगुरुणं चैत्यानां अर्हत्सिद्धप्रभृतिप्रतिमानां प्रवचनस्य जिननाथसूत्रस्य तथेति मस्तकोपर्यारोपणेन सरस्वतीप्रतिमापूजनेन गुरूणां निर्ग्रन्थदिगम्बराणां भव्यजीवभक्तजनविनेयमातृपितृमद्दशहितोपदेशकानां। करेहि भत्तिं जिणाणाए कुरु त्वं भक्तिं पंचामृतजलेक्षुरसहैयंगवीनगोमहिषीक्षीरगन्धोदकफलशस्नपनेन जलचन्दनाक्षतपुष्पचरुदीपधूपफलार्घदानेन स्तवनेन जपेन ध्यानेन श्रुतदेवताराधनेन नित्यं प्रातरुत्थाय सर्वज्ञवीतरागप्रतिमासर्वाङ्गावलोकनेन भक्तिं कुरु, तथा श्रुतभक्तिं श्रुतोक्तप्रकारेण कुरु, तथा गुरूणां पादमर्दनेन वैयावृत्ययथासंभवाहारदानश्रुतसमर्पणौषधप्रदानवसत्यर्पणाभयदानादिभिर्यथायोग्यं भक्तिं कुरु। एतत्सर्वं भक्तिलक्षणं कर्म जिनाज्ञया महापुराणश्रवणेन त्वं कुरु हे जीव! स्वर्गं मोक्षं च प्राप्स्यसि। लौकानां महापातकिनां वचनं मा मानयस्व।

न सम्यक्त्व—तीनों काल और तीनों लोकों में सम्यक्त्व के समान जीवोंका कल्याणकारी और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी दूसरा कुछ भी नहीं है।

भाव-शुद्धिका अर्थ तत्वार्थ श्रद्धान रूप जिन-सम्यक्त्व अथवा शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव से युक्त आत्मा की रुचि रूप परिणाम समझना चाहिये। चैत्यका अर्थ अर्हन्त सिद्ध आदि की प्रतिमा है तथा प्रवचन से जिनागम का ग्रहण होता है। जिन-प्रतिमा और जिनागम को मस्तक पर धारण कर तथा सरस्वती की प्रतिमाकी पूजा, कर उनकी भक्ति करना चाहिये। इसी प्रकार भव्य जीव, भक्तजन तथा शिष्योंका माता पिता के समान हितका उपदेश देनेवाले निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरुओंकी भी भक्ति करना चाहिये। हे जीव? तू जिनेन्द्र देव की आज्ञानुसार जिन-प्रतिमाओं को पञ्चामृत-जल, इक्षु रस, घी, गाय भैंसके दूध तथा गन्धोदक से भरे कलशों द्वारा अभिषेक से जल चन्दन, अक्षत, पुष्प, चरु, दीप, धूप, फल और अर्घ के देनेसे, स्तवन से, जपसे, ध्यान से, श्रुत देवता की आराधना से और नित्य प्रातःकाल उठकर सर्वज्ञ वीतराग की प्रतिमाओं के सर्वाङ्ग दर्शन से भक्ति कर। श्रुत की भक्ति शास्त्र में कही हुई विधि से कर तथा गुरुओं की भक्ति उनके पैर दाबना, वैयावृत्य, यथासंभव आहार दान, शास्त्र समर्पण, औषधदान, वसतिकार्पण एव अभयदान आदि के द्वारा यथा-योग्य रीति से कर। यह सब भक्ति रूप कार्य तू जिनाज्ञासे अर्थात् महापुराण के श्रवण से कर। इस भक्ति के द्वारा तू स्वर्ग और मोक्षको

१—रत्नकरण्डश्रावकाचारे।

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
भ वहि अणुदिणु अतुल विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥ ९० ॥

तीर्थंकरभाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रन्थितं सम्यक् ।
भावय अनुदिनं अतुलं विशुद्धभावेन श्रुतज्ञानम् ॥

तित्थयरभासियत्थं तीर्थंकरेण श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागेण भाषितः कथितोऽर्थो यस्य श्रुतज्ञानस्य तत्तीर्थंकरभाषितार्थं । *गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं* गणधरदेवैः गौतमस्वाम्यादिभिः ग्रन्थितं द्वादशाधिकशत-कोटित्र्यशीतिलक्षाष्टापंचाशत्सहस्रपञ्चाधिकपदैः निर्मितं ग्रन्थितं । च दशप्रकीर्णकैर्व्याख्यातं श्रुतज्ञानं । सम्मं सम्यक्प्रकारेण पूर्वापरविरोधरहितं । *भावहि* भावय । *अणुदिणु* अनुदिनमहर्निशं । *अतुलं* अनुपमं *विसुद्धभावेण सुयणाणं* चलमलिनपरिणामरहिततया । एकस्य पदस्य श्लोका यथा—५१०८८४६२१ अक्षर १६, उक्तं च श्रुतस्कन्धशास्त्रे—

एक्कावनकोडीओ लक्खा अट्ठेव सहसचुलसीदी ।
सयछक्कं णायव्वं सड्ढाइगवीसपयगंथा ॥ १ ॥

प्राप्त होगा ॥ ८९ ॥

गाथार्थ—तीर्थंकर भगवान् ने जिसके अर्थका निरूपण किया है तथा गणधर देवोंने जिसे भलीभांति गूथा है—द्वादशाङ्ग रूप निबद्ध किया है ऐसे अनुपम श्रुतज्ञान का तू प्रतिदिन विशुद्ध भावसे चिन्तन कर ॥९०॥

विशेषार्थ—तीर्थंकर अर्थात् अष्ट प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी से सहित भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ वीतराग देव ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा जिसका अर्थ रूपसे निरूपण किया है और गौतम स्वामी आदि गणधर देवोंने जिसकी ग्रन्थ रचना कर एकसौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पांच पदों द्वारा जिसका विस्तार किया है, यही नहीं चौदह प्रकीर्णकों के द्वारा भी जिसे सुविस्तृत किया है, ऐसे पूर्वापर विरोध से रहित अनुपम श्रुत ज्ञान को तू हे जीव ! प्रतिदिन भावना कर। चल, मलिन रूप परिणामों से रहित होकर प्रतिदिन उसीका चिन्तवन कर। द्वादशाङ्ग के एक पद में इक्यावन करोड आठ लाख चौरासी हजार छह सौ इक्कीस श्लोक बतलाये हैं, १६ अक्षर शेष रहते हैं। जैसा कि श्रुतस्कन्ध शास्त्र में कहा है—

एक्कावन—इक्यावन करोड़ आठ लाख चौरासी हजार छह सौ साढे इक्कीस श्लोक एक पद के बतलाये गये हैं ॥१॥

पाऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का ।

होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥ ९१ ॥

¹प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मथ्यतृषादाहशोषोन्मुक्ताः ।

भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥

पाऊण णाणसलिलं प्राप्य लब्ध्वा किं ? ज्ञानसलिलं सम्यग्ज्ञानपानीयं सिद्धा भवन्तीति सम्बन्धः कथंभूताः सिद्धाः *णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का* निर्मथ्या मथयितुमशक्या सा चासौ तृषा विषयाभिलाषः दाहश्च शरीरपरिसन्तापः शोषश्च रसादिहानिः निर्मथतृषादाहशोषाः तैरुन्मुक्ताः परित्यक्ता निर्मथतृड्दाहशोषोन्मुक्ताः *णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता* इति च क्वचित्पाठः तत्रायमर्थः—निर्मलो द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितः योऽसौ सुविशुद्धभावः कर्ममलकलङ्करहितः क्षायिको भावः परिणामः निष्केवल आत्मा वा तेन संयुक्ताः सहिता निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ताः । *होंति सिवालयवासी* भवन्ति संजायन्ते, के ते ? आसन्नभव्यजीवाः, कीदृशाः संजायंते ? शिवालयवासिन ईषत्प्राग्भारनाम्न्यां शिलायां वसन्तीति मुक्ति शिलोपरि-

गाथार्थ—ज्ञान रूपी जलको प्राप्त कर ये जीव, दुर्निवार तृषा दाह और शोषसे रहित हो शिवालय के वासी एवं तीन लोक के चूडामणि सिद्ध होते हैं ।९१॥

विशेषार्थ—श्रुत ज्ञान की भावना का फल बतलाते हुए श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि ये जीव ज्ञान रूपी जलको पाकर सिद्ध होते है सिद्ध होनेके पूर्व ये जीव जिसका नष्ट करना ²अशक्य है ऐसी तृषा अर्थात् विषयों की अभिलाषा, दाह अर्थात् शारीरिक संताप और शोष अर्थात् रसादि हानि से उन्मुक्त होजाते हैं—छूट जाते हैं । अथवा कहीं पर 'णिम्मह तिसडाह सोस उम्मुक्का' इस पाठके स्थान पर 'णिम्मल सुविसुद्ध—भाव संजुत्ता' ऐसा पाठ पाया जाता है उसका अर्थ इस प्रकार होता है कि ये जीव, द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नो कर्म से रहित सुविशुद्धभाव अर्थात् कर्म-मल-कलङ्क से रहित मात्र क्षायिक भाव रूप परिणाम से संयुक्त होते हैं । सिद्ध परमेष्ठी शिवालय वासी होते हैं अर्थात् ईषत्प्राग्भार नामक शिला पर जो कि मुक्ति शिला अथवा सिद्धशिला कहलाती है निवास करते

१—पीत्वा इति सम्यक् प्रतिभाति ।

२—पाऊण की छाया 'प्राप्य' न होकर पीत्वा ठीक जान पड़ती है और निर्मथ्य का अर्थ 'मथयितुमशक्या' के बदले 'निःशेषेण मथित्वा' उचित जान पड़ता है । इस दशा में निर्मथ्य का कर्म तृषा है । सामूहिक रूपसे गाथाका अर्थ यह संगत प्रतीत होता है—'ये जीव ज्ञानरूपी जलको पीकर तथा विषयाभिलाषा रूपी तृषा—प्यास को बिलकुल नष्ट कर दाह और शोष से रहित होते हुए शिवालयवासी एवं तीन लोकके चूडामणि सिद्ध होते हैं ।'

तिष्ठन्तीत्येवं शीलाः शिवालयवासिनः, अथवा शिवानां सिद्धानामालयः शिवालयः पंचचत्वारिंशल्लक्षयोजनविस्तारमुक्तिशिलायाउ परि तनुवातनामवातवलये निराधारा आकाशे तिष्ठन्तीति भावः। पुनः कथंभूताः सिद्धाः, *तिहुवणचूडामणी* त्रैलोक्यशिरोरत्नसदृशाः।

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण।
सुत्तेण अप्पमत्ता संजमघाद पमोत्तूण॥ ९२॥

दश दश द्वौ सुपरीषहान् सहस्व मुने! सकलकालं कायेन।
सूत्रेण अप्रमत्ता संयमघातं प्रमुच्य॥

दस दस दो दश च पुनर्दश च द्वौ च द्वाविंशतिरित्यर्थः। के ते, *सुपरीसह* सुष्ठु अतिशयेन परिसमन्तात् सह्यन्ते ये ते सुपरीषहाः "मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः" ते तु पूर्वोक्तवर्णना ज्ञातव्याः। *सहहि* सहस्व। *मुणी* हे मुने! हंहो तपस्विन्! *सयलकाल* सकलकालं सर्वकालं, कायेन शरीरेण वाग्मनश्चात्मनि स्थाप्यते इति भावः। *सुत्तेण* सूत्रेण जिनवचनेन कृत्वा। किं तज्जिनवचनं?—

"मार्गाच्यवननिर्जरार्थं [1]परिसोढव्याः परीषहाः"

इति। *अप्पमत्ता* अप्रमत्ताः प्रमादरहिताः इत्यर्थः। *संजमघादं पमोत्तूण* संयमस्य घातं प्रमुच्य।

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण।
तह साहू ण विभिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो॥ ९३॥

हैं। अथवा सिद्धों का जहां निवास है वह शिवालय कहलाता है। सिद्धोंका निवास पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाली सिद्ध शिला के ऊपर तनुवात वलय के अन्तिम पांच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण क्षेत्र में है। सिद्ध परमेष्ठी वहीं निराधार आकाश में स्थित रहते हैं। वे सिद्ध परमेष्ठी तीन लोकके ऊपर चूडामणि के समान सुशोभित होते हैं॥९१॥

गाथार्थ—हे मुने! तू जिनदेव के सूत्रानुसार–जिन–शास्त्र की आज्ञा प्रमाण प्रमाद रहित हो सयम के घातको छोड़कर सदा शरीर से बाईस परिषहों का सहन कर।

विशेषार्थ—हे तपस्विन्! जिनेन्द्र देवने अपने आगम में आज्ञा दी है–'मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः' अर्थात् गृहीत–मार्गसे च्युत न होने तथा कर्मोंकी निर्जरा के लिये परीषह सहन करना चाहिये, सो इस जिनाज्ञा के अनुसार तू सदा प्रमाद रहित होता हुआ संयम में जो बाधा आती है उसका बचाव कर तथा सदा शरीर से क्षुधा तृषा आदि बाईस परीषहों को सहन कर॥९२॥

१—"सीवुवसहोऽवेऽसो:" इति शाकटायनीयेन "सोढ" इति जैनेन्द्रीयेण पाणिनीयेन च सूत्रेण सत्वनिषेधः।

यथा प्रस्तरो न भिद्यते परिस्थितो दीर्घकालं उदकेन ।
तथा साधुर्न विभिद्यते उपसर्गपरीषहेभ्यः ॥

जह पत्थरो ण भिज्जइ यथा प्रस्तरः पाषाणो न विभिद्यते न परिणमति अन्तरार्द्रो न भवति । *परिट्ठिओ दीहकालमुदएण* पाषाणः कथंभूतः, परिस्थितः प्रडित उदके इति सौत्रसम्बन्धात् । कथं परिस्थितः, दीर्घकालं प्रचुरकालं, केन न विभिद्यते ? उदकेन वारिणा । *तह साहू ण विभिज्जइ* तथा साधुर्मुनी रत्नत्रयसाधकः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमण्डितो न विभिद्यते नान्तःक्षुभितो भवति । *उवसग्गपरीसहेहिंतो* देवमानवतिर्यगचेतनोपद्रवेभ्य उपसर्गेभ्यः परीषहेभ्यः क्षुधापिपासादिभ्यो द्वाविंशतेरपि । "सुन्तो हिन्तो हि दु दो त्तो भ्यसः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण पंचमीबहुवचनभ्यसः स्थाने हिंतो आदेशः । ङसिस्थाने च "लुक्च हिंतो हि दु दो त्तो ङसेः" इति सूत्रेण भवति । "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणं" इति परिभाषयाऽत्र बहुवचनस्य भ्यसो हिन्तो आदेशो ज्ञातव्य इति ।

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि ।
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥ ९४ ॥

भावय अनुप्रेक्षा अपराः पञ्चविंशति भावना भावय ।
भावरहितेन किं पुनः बहिर्लिङ्गेन कार्यम् ॥

गाथार्थ—जिस प्रकार दीर्घकाल तक पानी में डूबा पत्थर पानीके द्वारा भेदको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार उपसर्ग और परीषहों के द्वारा साधु विभेद को प्राप्त नहीं होता अर्थात् अन्तरङ्ग से क्षुभित नहीं होता ॥९३॥

विशेषार्थ—उपसर्ग उपद्रव को कहते हैं । तथा देवकृत मनुष्यकृत तिर्यक्कृत और अचेतन कृतके भेदसे चार प्रकार का होता है । क्षुधा आदिकी प्राकृतिक बाधाको परीषह कहते हैं तथा उसके क्षुधा तृषा शीत उष्ण आदि बाईस भेद है । इन उपसर्ग और परीषहों से जैन साधु कभी विचलित नहीं होता, यह दृष्टान्तपूर्वक समझाते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं कि जिस प्रकार दीर्घ काल तक पानीके भीतर रहता हुआ भी पत्थर पानी से भेद को प्राप्त नहीं होता अर्थात् गीला नहीं होता अथवा टूटता नहीं है, उसी प्रकार रत्नत्रयका साधक साधु भी उपसर्ग और परीषहोंसे भेदको प्राप्त नहीं होता अर्थात् क्षुभित होकर संयम से च्युत नहीं होता ॥९३॥

गाथार्थ—हे साधो ! तू बारह अनुप्रेक्षाओं और पच्चीस भावनाओं का चिन्तन कर क्योंकि भावसे रहित मात्र बाह्यलिङ्गसे क्या किया जा सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं ।

विशेषार्थ—'अनु भूयोभूयः प्रकर्षेण ईक्षणम् अनुप्रेक्षा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार

भावहि अणुवेक्खाओ भावय पुनः पुनश्चिन्तय अनुप्रेक्षा अनित्यादीः । *अवरे पणवीसभावणा भावि* अपराः पंचविंशतिभावना भावय । *भावरहिएण किं पुण* भावरहितेन पुनः किं—न किमपि इत्याक्षेपः । *बाहिरलिंगेण कायव्वं* बहिर्लिंगेन नग्नवेषेण कि साध्यं कर्मक्षयशून्यमिदं ।

सव्वविरओ वि भावहि णवयपयत्थाइं सत्ततच्चाइं ।

जीवसमासाइ मुणी चउदसगुणठाणणामाइ ॥ ९५ ॥

सर्वविरतोपि भावय नवकपदार्थान् सप्ततत्वानि ।

जीवसमासान् मुने ! चतुर्दशगुणस्थाननामानि ॥ ९५ ॥

सव्वविरओ वि भावहि सर्वविरतोऽपि हे जीव ! त्वं महाव्रत्यपि सन् भावय । *णवयपयत्थाइं सत्ततच्चाइं* नवपदार्थान् जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपुण्यपापपदार्थान् । चेतनालक्षणो जीवः ।

पदार्थ के स्वरूप का वार २ श्रेष्ठता के साथ विचार करना अनुप्रेक्षा है अनुप्रेक्षाओं के बारह भेद हैं—१ अनित्य २ अशरण ३ ससार ४ एकत्व ५ अन्यत्व ६ अशुचित्व ७ आस्रव ८ संवर ९ निर्जरा १० लोक ११ बोधि दुर्लभ और धर्म । हे मुने ! तुझे इन भावनाओंका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये क्योंकि वैराग्य को उत्पन्न करनेके लिये ये माताके समान कही गई हैं । इनके सिवाय अहिंसादि पांच व्रतों की पांच २ के परिगणन से पच्चीस भावनाओं का भी निरन्तर चिन्तन करना चाहिये क्योंकि वे व्रतोंकी स्थिरताको करनेवाली हैं । इन भावनाओंका वर्णन पहले आ चुका है । इन दोनों प्रकारकी भावनाओं के चिन्तन से तू अपने भावकी सम्हाल पहले कर । क्योंकि भावके विना मात्र बाह्य लिङ्ग—नग्नमुद्रा धारण करने से क्या लाभ है ? मात्र बाह्यलिङ्ग कर्मक्षयका कारण नहीं है ॥९४॥

गाथार्थ—हे मुने ! सबसे विरत होनेपर भी तू नव पदार्थ, साततत्व, चौदह जीव समास और चौदह गुणस्थानों का चिन्तन अवश्य क[1] ॥९५॥

विशेषार्थ—हे मुने ! यद्यपि तू हिंसादि समस्त पापोंसे विरक्त होकर महाव्रती हुआ है तथापि जीव अजीव आस्रव बन्ध सवर निर्जरा मोक्ष पुण्य और पाप इन नौ पदार्थोंका

१—यहां गाथा में जैसा पाठ है उसके आधार पर गाथाके उत्तरार्धका अर्थ होता है 'गुणस्थान नाम वाले चौदह जीव-समासों की भावना कर' परन्तु टीकाकारने जीव समास और गुणस्थानोंका अलग अलग वर्णन किया है । गुणस्थानों को भी जीव-समास शब्दसे कहा जाता रहा है जैसे कि जीव काण्डमें 'मिस्सो सासण मिच्छो—आदि गाथाओंके अन्त में लिखा है—'चउदह जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा' । यहां टीकाकार ने जीव काण्डके उस पाठको बदल कर 'चउदस गुणठाणाणि य' ऐसा पाठ रखा है ।

पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशा अजीवाः । आत्मप्रदेशेषु कर्मपरमाणव आगच्छन्ति स आस्रवो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपः । आत्मप्रदेशेषु आस्रवानन्तर द्वितीयसमये कर्मपरमाणवः श्लिष्यन्ति स बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्विधः । आस्रवस्य निरोधः संवर उच्यते । स संवरः [1]स गुप्तिसमितिदशधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैर्भवति । तपसा निर्जरा च भवति संवरश्च भवति । सर्वकर्मक्षयो मोक्षः कथ्यते [2]एते नवपदार्थाः, एतेषां विस्तर आगमाद्वेदितव्यः । सप्ततत्त्वानि पुण्यपापरहितानि ज्ञातव्यानि । *जीवसमासाइं मुणी* हे मुने ! जीवसमासान् चतुर्दशसंख्यान् त्वं भावय । अथ के ते चतुर्दशजीवसमासा इति चेत् ?—

बादरसुहमेगिंदिय वितिचउरिंदिय असण्णि सण्णी य ।
पज्जत्तापज्जत्ता भूदा इय चोद्दसा होंति ॥ १ ॥

तथा पुण्य और पापको छोड़ जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंका चौदह जीवसमासोंका तथा चौदह गुणस्थानोंका चिन्तवन अवश्य कर—इनके स्वरूपका विचार अवश्य कर ।

जिसमें चेतना पाई जाती है उसे जीव कहते हैं । जिसमें चेतना नहीं है उसे अजीव कहते हैं । पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल की अपेक्षा अजीव के पांच भेद हैं । आत्म-प्रदेशों में कर्म परमाणु आते हैं यही आस्रव है यह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप होता है । आस्रव के बाद द्वितीय समय में कर्म परमाणु आत्म-प्रदेशों में श्लेष को प्राप्त होजाते हैं यही बन्ध कहलाता है इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश के भेदसे चार भेद होते है । आस्रव का रुक जाना संवर कहलाता है । वह संवर स गुप्ति-समिति-धर्मानु-प्रेक्षा-परीषहजय चारित्रैः इस सूत्र के अनुसार ३ गुप्ति ५ समिति १० धर्म १२ अनुप्रेक्षा २२ परीषह जय और ५ चारित्रों से होता है । [जो आत्मा को पवित्र करे उसे पुण्य कहते है और जो शुभ कार्यों मे आत्मा की रक्षा करे अर्थात् दूर रक्खे उसे पाप कहते हैं] कर्मोंके एकदेश क्षयको निर्जरा कहते हैं, तपसे निर्जरा और संवर दोनों होते हैं । समस्त कर्मोंका क्षय मोक्ष कहलाता है । ये नौ पदार्थ हैं इनका विस्तार आगम से जानना चाहिये । इन्हीं नौ पदार्थों मे से पुण्य और पाप को अलग कर देनेपर शेष सात पदार्थ सात तत्त्व कहलाते हैं इस विवक्षा में पुण्य और पापका आस्रव तथा बन्ध तत्त्व में समावेश हाजता है, अतः उनको अलग से गणना नहीं की गई है । संक्षेप से जीवोंकी समस्त जातियों के परिगणन को जीव-समास कहते हैं । संक्षेप से उसके चौदह भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१— सर्वप्रतिषु स शब्दो वर्तते । २—सर्वप्रतिषु पुण्यपापयोर्लक्षणं नास्ति तदनेन प्रकारेण ज्ञेयं । पुनात्यात्मानं तत्पुण्यं । पाति रक्षति शुभादात्मानं तत्पापं ।

विस्तरभेदैर्जीवसमासा अष्टानवतिर्भवन्ति । तत्रेयं गाथा—

थावर बेयालीसा दो सुर दो नरय तिरिय चउतीसा ।
नव विउले नव मणुए अट्ठाणउदी जीवठाणाणि ॥ १ ॥

अस्या विवरणं-पृथ्वीकायिक-सूक्ष्म-बादर-पर्याप्त अपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त ६ । तथा अप् ६ । तेज ६ । वायु ६ । एवं २४ । वनस्पतिकायिकभेद २ प्रत्येक साधारण साधारणभेद १२ नित्य निगोद-सूक्ष्म-बादर-पर्याप्त अपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त ६ तथा इतरनिगोद-सूक्ष्म-बादर पर्याप्त अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त एवं १२ ।

बादर सुहुमे—१ बादर एकेन्द्रिय, २ सूक्ष्म एकेन्द्रिय, ३ दोइन्द्रिय, ४ तीन इन्द्रिय ५ चार इन्द्रिय ६ असैनी पञ्चेन्द्रिय और ७ सैनी पञ्चेन्द्रिय इन सात युगलोंके पर्याप्त और अपर्याप्तक की अपेक्षा दो भेद होते हैं, अतः सबके मिलाकर चौदह जीव समास होते हैं। विस्तार की अपेक्षा अठानवे जीव समास होते है। उनके परिगणन के लिये यह गाथा उपयुक्त है—

थावर—स्थावरोंके ४२, देवोंके २, नारकियों के २, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के ३४, विकलत्रय के ९ और मनुष्यों के ९ सब मिलाकर ९८ जीव समास होते हैं।

इस गाथाका स्पष्ट विवरण इस प्रकार है—

पृथिवी कायिक जीवोंके सूक्ष्म और बादरकी अपेक्षा दो भेद हैं और उनके प्रत्येके के पर्याप्त अपर्याप्त तथा लब्ध्यपर्याप्तकी अपेक्षा तीन २ भेद हैं, इस तरह पृथिवी कायिक के छह भेद हुए। इसी प्रकार जलकायिक अग्नि कायिक और वायु-कायिक के प्रत्येक के छह २ भेद हुए। चारोंके मिलाकर चौबीस भेद हुए। वनस्पति कायिकके मूल में प्रत्येक और साधारण इस प्रकार दो भेद है उनमें साधारण वनस्पति के बारह भेद होते हैं जो इस प्रकार है-साधारण वनस्पति के नित्य निगोद और इतर निगोद के भेदसे मूलमें दो भेद है, फिर दोनों के सूक्ष्म और बादर की अपेक्षा दो २ भेद है, इस तरह चार भेद हुए फिर चारोंके पर्याप्त अपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त की अपेक्षा तीन भेद हैं इसप्रकार साधारण वनस्पतिके बारह भेद हुए प्रत्येक वनस्पतिके सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक की अपेक्षा मूल में दो भेद हैं, फिर दोनों के पर्याप्त अपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त की अपेक्षा तीन २ भेद हैं, इस तरह छह भेद होते है। इस प्रकार पृथिवी आदि के चार के २४, साधारण वनस्पति के १२ और प्रत्येक वनस्पति के ६ सब मिलाकर एकेन्द्रिय के बियालीस जीव समास हैं। देवोंके पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा दो जीव समास है। नारकियोंके भी पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा दो जीव-समास हैं। पञ्चे-

प्रत्येकभेद ६ सप्रतिष्ठितप्रत्येकवाटिकादौ, अप्रतिष्ठिताः स्वयमेव ते च पर्याप्त-अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त । एवं थावरवेयालीसा । सुरभेद २ पर्याप्त–अपर्याप्त । नारकभेद २ पर्याप्त–अपर्याप्त । पंचेन्द्रियतिर्यग्भेद ३४ । जलचरभेद २ गर्भज-सम्मूर्च्छन गर्भजभेद २ पर्याप्त—अपर्याप्त । सम्मूर्च्छनभेद पर्याप्त–अपर्याप्त—लब्ध्यपर्याप्त ५ । तथा नभश्चर ५ । स्थलचर ५ । एवं १५ संज्ञिभेदाः । तथा १५ असंज्ञिभेदाः । भोगभूमिजतिर्यग्भेद ४ स्थलचर पर्याप्त अपर्याप्त । नभश्चर पर्याप्त—अपर्याप्त । एवं ४ । एवं पंचेन्द्रियतिर्यग्भेदं ३४ । विकलत्रयेभेद ९ । द्वीन्द्रियपर्याप्त-अपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त, त्रीन्द्रियपर्याप्त अपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त, चतुरिन्द्रियपर्याप्त अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त । एवं ९ । मनुष्य भेद ९ भोगभूमिजभेद २ पर्याप्त-अपर्याप्त, कुभोगभूमिजमनुष्य पर्याप्त अपर्याप्त, म्लेच्छखण्डमनुष्य पर्याप्त—अपर्याप्त, आर्यखण्डमनुष्य पर्याप्त–अपर्याप्तलब्ध्यपर्याप्त । एवंभेद ९ । एवं जीवसमासा अष्टानवतिः । चउदसगुणठाणणामाइं चतुर्दशगुणस्थाननामानि । यथा—

न्द्रिय तिर्यञ्चों के चौंतीस भेद हैं जो इस प्रकार हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के मूल में सैनी और असैनी की अपेक्षा दो भेद हैं उनमें दोनों के जलचर स्थल चर और नभश्चर की अपेक्षा तीन तीन भेद हैं और तीनों गर्भज तथा सम्मूर्च्छन की अपेक्षा दो दो भेद हैं। इनमें से गर्भज के पर्याप्तक और अपर्याप्तक की अपेक्षा दो २ भेद और संमूर्च्छन के पर्याप्तक अपर्याप्तक तथा लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा तीन भेद होते हैं। इस तरह गर्भजके बारह और संमूर्च्छन के अठारह दोनोंके मिलाकर तीस भेद होते हैं उनमें भोगभूमिज तिर्यञ्च के चार भेद और जोड़ने से पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के चौंतीस भेद होजाते हैं। भोगभूमि में स्थलचर और नभश्चर ये दो ही भेद होते हैं, जलचर भेद नहीं होता। तथा स्थलचर और नभश्चर के पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक की अपेक्षा दो २ भेद होते हैं, अतः चार भेद होते हैं। विकलेन्द्रिय जीवोंके नौ भेद हैं जो इस प्रकार हैं–द्वीन्द्रिय के पर्याप्तक अपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा तीन भेद, त्रीन्द्रिय के पर्याप्तक, निर्वृत्य पर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा तीन भेद और चतुरिन्द्रिय के पर्याप्तक, अपर्याप्तक तथा लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा तीन भेद इस तरह तीनों के मिलाकर नौ भेद होते हैं। मनुष्यों के नौ भेद हैं जो इस प्रकार हैं–भोगभूमिज मनुष्य के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो भेद, कुभोग भूमिज मनुष्य के पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा दो भेद, म्लेच्छखण्डज मनुष्य के पर्याप्तक और अपर्याप्तक की अपेक्षा दो भेद तथा आर्यखण्डज मनुष्यों के पर्याप्तक, अपर्याप्तक तथा लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा तीन भेद, सब मिलाकर नौ भेद होते हैं। इस तरह जीवसमास के कुल भेद अठानवे होते हैं।

अब चौदह गुणस्थानों के नाम कहते हैं—

[1]मिच्छा सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य ।
विरदा पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥ १ ॥
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।
चउदसगुणठाणाणि य कमेण सिद्धा मुणेअव्वा ॥ २ ॥

मिथ्यात्वगुणस्थानं (१) सासादनगुणस्थानं ( ) मिश्रगुणस्थानं (३) अविरतसम्यग्दृष्टि

मिच्छा—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोग केवलिजिन और अयोग केवलि जिन ये चौदह गुणस्थान हैं, इनका विवरण आगम से जानना चाहिये । हे जीव ! तू इन सबकी भावना कर, इनका श्रद्धान कर ।

प्रकृत ग्रन्थ में गुणस्थान शब्दका प्रयोग कई जगह आया है इसलिये उसके स्वरूप तथा भेदों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है—

मोह और योगके निमित्त से आत्मा के परिणामों में जो तारतम्य होता है उसे गुणस्थान कहते हैं । गुणस्थान के मिथ्यादृष्टि आदि चौदह भेद हैं । इनमें से प्रारम्भ के १२ गुणस्थान मोहके निमित्त से होते हैं और अन्त के २ गुणस्थान योग के निमित्त से । मोह कर्म की १ उदय, २ उपशम, ३ क्षय और ४ क्षयोपशम ऐसी चार अवस्थाएं होती हैं, इन्हीं के निमित्त से जीवके परिणामों में तारतम्य उत्पन्न होता है ।

उदय—आबाधा पूर्ण होनेपर द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनुसार कर्मोंके निषेकोंका अपना फल देने लगना उदय कहलाता है ।

उपशम—अन्तर्मुहूर्त के लिये कर्म-निषकों के फल देनेकी शक्तिका अन्तर्हित हो जाना उपशम कहलाता है । जिस प्रकार निर्मली या फटकली के सम्बन्ध से पानी की कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ होजाता है, उसी प्रकार द्रव्य क्षेत्रादि का अनुकूल निमित्त मिलने पर कर्मके फल देने की शक्ति अन्तर्हित होजाती है ।

क्षय—कर्म प्रकृतियों का समूल नष्ट हो जाना क्षय है, जिस प्रकार मलिन पानी में से कीचड़ के परमाणु विलकुल दूर हो जाने पर उसमें स्थायी स्वच्छता आ जाती है उसी प्रकार कर्म--परमाणुओं के विलकुल निकल जाने पर आत्मा में स्थायी स्वच्छता उद्भूत हो जाती है ।

१—अनयोः छाया पूर्वं गता । जीवकाण्डे ।

गुणस्थानं (४) देशविरतगुणस्थानं (५) प्रमत्तसंयतगुणस्थानं (६) अप्रमत्तसंयतगुणस्थानं (७)

क्षयोपशम—वर्तमान काल में उदय आनेवाले सर्वघाति स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय और उन्हीं के आगामी काल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्था रूप उपशम तथा देशघाति प्रकृतिका उदय रहना इसे क्षयोपशम कहते हैं। कर्म--प्रकृतियों की उदयादि अवस्था में आत्मा के जो भाव होते हैं उन्हें क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जिसमें कर्मोंकी उक्त अवस्थाएं कारण नहीं होतीं उन्हें पारिणामिक भाव कहते हैं। अब गुणस्थानों के संक्षिप्त स्वरूपका निदर्शन कियाजाता है—

१ **मिथ्यादृष्टि**—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सात प्रकृतियों के उदय से जिसकी आत्मा में अतत्व-श्रद्धान उत्पन्न रहता है उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। इस जीवका न स्वपरका भेद-विज्ञान होता है, न जिन प्रणीत तत्वका श्रद्धान होता है और न आप्त, आगम तथा निर्ग्रन्थ गुरु पर विश्वास ही होता है।

२ **सासादन सम्यग्दृष्टि**—सम्यग्दर्शन के कालमें एक समय से लेकर छह आवली तक का काल बाकी रहने पर अनन्तानु-बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, में से किसी एक का उदय आजानेके कारण जो चतुर्थ गुणस्थानसे नीचे आ पड़ता है परन्तु अभी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नहीं आ पाया है उसे सासादन गुणस्थान कहते हैं। इसका सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धीका उदय आजानेके कारण आसादन अर्थात् विराधनासे सहित होजाता है।

३ **मिश्र**—सम्यग्दर्शन के कालमे यदि मिश्र अर्थात् सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाता है तो यह चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर तीसरे मिश्र गुणस्थान में आ जाता है। जिस प्रकार मिले हुए दही और गुड़का स्वाद मिश्रित होता है उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीवका परिणाम भी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व से मिश्रित रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव चतुर्थ गुणस्थान से गिर कर ही तृतीय गुणस्थान में आता है परन्तु सादि मिथ्या दृष्टि जीव प्रथम गुणस्थान से भी तृतीय गुणस्थान में पहुंच जाता है।

४ **असंयत सम्यग्दृष्टि**—मिथ्यात्व, सम्यङ् मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सात प्रकृतियों के उपशमादि होनेपर जिसकी आत्मा में तत्व श्रद्धान तो प्रकट हुआ है परन्तु अप्रत्याख्यान-आवारणादि कषायों का उदय रहने से संयम भाव जागृत नहीं हुआ है उसे असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

अपूर्वकरणगुणस्थानं (८) अनिवृत्तिकरणगुणस्थानं (९)सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानं (१०) उपशान्तकषाय-

५ **देशविरत**—अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदयाभावी क्षय और सदवस्था रूप उपशम प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होनेपर जिसके एक देश चारित्र प्रकट होजाता है उसे देश विरत कहते है। यह त्रस हिंसा से विरत होजाता है इसलिये विरत कहलाता है और स्थावर हिंसा से विरत नहीं होता है इसलिये अविरत कहलाता है। इसके अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में तार-तम्य होनेसे दर्शनिक आदि ग्यारह अवान्तर भेद होते हैं।

६ **प्रमत्तविरत**—प्रत्याख्यानावरण कषायका उदयाभावी क्षय और सदवस्ला रूप उपशम तथा संज्वलन का तीव्र उदय रहने पर जिसकी आत्मा में प्रमाद सहित संयम प्रकट होता है, उसे प्रमत्त संयत कहते है। इस गुणस्थान का धारक नग्न-मुद्रा में रहता है। यद्यपि यह हिंसादि पापोंका सर्व-देश त्याग कर चुकता है तथापि संज्वलन चतुष्क का तीव्र उदय साथ में रहने से इसके चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रिय, निद्रा तथा स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों से इसका आचरण चित्रल—दूषित बना रहता है।

७ **अप्रमत्तविरत**—संज्वलनके तीव्र उदय की अवस्था निकल जानेके कारण जिसके आत्मा से ऊपर कहा हुआ पन्द्रह प्रकार का प्रमाद नष्ट हो जाता है, उसे अप्रमत्त-विरत कहते हैं। इसके स्वस्थान और सातिशय की अपेक्षा दो भेद हैं। जो छठवें और सातवें गुणस्थान में ही झूलता रहता है वह स्वस्थान कहलाता है और जो उपरितन गुणस्थानों में चढ़ने के लिये अधः करण रूप परिणाम कर रहा है वह सातिशय अप्रमत्त विरत कहलाता है। जिसमें सम-समय अथवा भिन्न समय वर्ती जीवों के परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं उसे अधः करण कहते हैं।

८ **अपूर्वकरण**—जहां प्रत्येक समय में अपूर्व २ नवीन २ ही परिणाम होते हैं उसे अपूर्व करण कहते हैं। इसमें समसमय वर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं और भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं।

९ **अनिवृत्तिकरण**—जहां सम-समय-वर्ती जीवोंके परिणाम सदृश ही और भिन्न समय-वर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं उसे अनिवृत्ति करण कहते हैं। यह अपूर्व करणादि परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्धताको लिये हुए होते हैं तथा संज्वलन चतुष्क के उदय की मन्दता में क्रमसे प्रकट होते हैं।

गुणस्थानं (११) क्षीणकषायगुणस्थानं (१२) सयोगकेवलिगुणस्थानं (१३) अयोगकेवलिगुणस्थानं १४

---

१० सूक्ष्मसाम्पराय—जहां केवल संज्वलन लोभका सूक्ष्म उदय रह जाता है उसे सूक्ष्म-साम्पराय कहते हैं। अष्टम गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी ये दो श्रेणियां प्रकट होती हैं। जो चारित्र मोहका उपशम करने के प्रयत्न-शील हैं वे उपशम श्रेणी में आरूढ होते हैं और जो चारित्र मोहका क्षय करने के लिये प्रयत्न-शील हैं वे क्षपक श्रेणी में आरूढ होते हैं। परिणामों की स्थिति के अनुसार उपशम या क्षपक श्रेणी में यह जीव स्वयं आरूढ होजाता है, बुद्धिपूर्वक आरूढ नहीं होता। क्षपक-श्रेणी पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही आरूढ हो सकता है परन्तु उपशम-श्रेणीपर औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दृष्टि आरूढ हो सकते हैं। यहां विशेषता इतनी है कि जो औपशमिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी पर आरूढ होगा वह श्रेणी पर आरुढ होनेके पूर्व अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर उसे सत्ता से दूर कर द्वितीयोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जायगा[1]। जो उपशम श्रेणी पर आरूढ होता है वह सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थानके अन्त तक चारित्र मोहका उपशम कर चुकता है और जो क्षपक श्रेणी पर आरूढ होता है वह चारित्र मोह का क्षय कर चुकता है।

११ उपशान्तमोह—उपशम-श्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान में चारित्र मोहका पूर्ण उपशम कर ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान में आता है। इसका मोह पूर्ण रूप में शान्त हो चुकता है और शरद ऋतु के सरोवर के समान इसकी सुन्दरता होती है अन्तर्मुहूर्त तक इस गुणस्थान में ठहरने के बाद यह जीव नियम से नीचे गिर जाता है।

१२ क्षीणमोह—क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान में चारित्र मोहका पूर्ण क्षयकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में आता है। यहां इसका मोह बिलकुल ही क्षीण हो चुकता है और स्फटिकके भाजनमें रखे हुए स्वच्छ जलके समान इसकी स्वच्छता होती है

१—आगम में आचार्य मत-भेदकी अपेक्षा द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि को मोह कर्म की २८ और २४ प्रकृतियों की सत्ता वाला बतलाया गया है जो अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करता है उसके २४ प्रकृतियों की सत्ता रहती है और जो अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं करता है उसके २८ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इस पक्षमें द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन का लक्षण यही रहता है कि जो उपशम सम्यक्त्व क्षयोपशम-सम्यक्त्व के बाद हो वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है।

चेति। चतुर्दशगुणस्थानानां विवरणमागमाद्वेदितव्यं। तानि त्वं हे जीव! भावय—रुचिमानय श्रद्धानं कुर्विति।

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे ॥ ९६ ॥

नवविधब्रह्मचर्यं प्रकटय अब्रह्म दशविधं प्रमुच्य।
मैथुनसंज्ञासक्तः भ्रमितोसि भवार्णवे भीमे ॥

णवविहबंभं पयडहि नवविधं नवप्रकारं ब्रह्मचर्यं हे जीव! त्वं प्रकटय सर्वकालमात्मप्रत्यक्षं कुरु। मनोवचनकायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमतानि त्रीणि त्रीणीति नवविधं ब्रह्मोच्यते। अथवा—

[1]इत्थिविसयाहिलासो [2]अंगविमोक्खो य पणिदरससेवा।
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव ॥ १ ॥

---

१३ सयोगकेवली—बारहवें गुणस्थानके अन्तमें शुक्लध्यानके द्वितीय पादके प्रभाव से ज्ञानावरणादि कर्मोंका युगपत् क्षयकर जीव तेरहवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है। यहां इसे केवलज्ञान प्रकट होजाता है इसलिये केवली कहलाता है और योगोंकी प्रवृत्ति जारी रहने से सयोग कहा जाता है। दोनों विशेषणाओंका लेकर इसका सयोग केवली नाम प्रचलित है।

१४ अयोगकेवली—तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें शुक्लध्यानके तृतोय पादके प्रभाव से कर्म प्रकृतियों को निर्जरा होनेसे जिनकी योगोंकी प्रवृत्ति दूर होजाती है उन्हें अयोग केवली कहते हैं। यह जीव इस गुणस्थान में 'अ इ उ ऋ लृ' इन पांच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है उतने ही काल तक ठहरता है। अनन्तर शुक्लध्यान के चतुर्थ पादके प्रभावसे सत्ता में स्थित पचासी प्रकृतियों का क्षय कर एक समय के भीतर सिद्ध क्षेत्र पहुंच जाता है।

गाथार्थ—हे जीव! तू दश प्रकार के अब्रह्म का त्याग कर नो प्रकारके ब्रह्मचर्यको प्रकट कर। मैथुनसंज्ञामें आसक्त हुआ तू इस भयंकर भवसागर में भटकता आ रहा है ॥ ९६ ॥

विशेषार्थ—मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इन नौ कोटियोंसे ब्रह्मचर्य धारण करना नौ प्रकारका ब्रह्मचर्य है अथवा—

इत्थिविषया—१ स्त्री विषयक अभिलाषा करना १, अङ्गका छोड़ना अर्थात्

१—भगवती आराधना ८७९ ८८०। २—भगवती आराधनायां 'अंगविमोक्खो' इत्यस्य स्थाने वत्थिविमोक्खो इति पाठो वर्तते 'वत्थिविमोक्खो' इत्यस्य 'मेहनविकारानिवारणम्' संस्कृत टीकायाम्।

सक्कारपुरक्कारो अतीदसुमरणागदहिलासो।
इट्टविसयसेवा वि य नवभेदामदं अबंभं तु ॥ २ ॥

इति नवभेदमब्रह्म तद्वर्जद् नवभेद ब्रह्मचर्यं आ व्यामन्यर्थः। अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण अब्रह्मचर्यं दशविधं प्रमुच्य परिहृत्य। किं तद्दशविधमब्रह्मेति चेत् ?—

चिन्ता दिदृक्षा निःश्वासो ज्वरो दाहोरुचिस्तथा।
मूर्च्छोन्मत्तोऽसुसन्देहो मरणं दशधा स्मरः ॥ १ ॥

मेहुणसण्णासत्तो मैथुनस्य वमनीयकामिन्या आलिङ्गनचुम्बनचूषणादिसंज्ञायामासक्तो लंपटो हे जीव ! भमिओसि भवण्णवे भीमे भ्रमितोऽसि भ्रान्तोऽसि पर्यटितोऽसि च्छेदनभेदनादिदुःखानि भुंजानो भवार्णवे संसारसमुद्रे चतुर्गतिलक्षणे भीमे भयानके रौद्रस्वभावे, अनन्तकालं दुःखी बभूविथेति।

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥ ९७॥

भावसहितश्च मुनीनः प्राप्नोति आराधनाचतुष्कं च।
भावरहितश्च मुनिवर ! भ्रमति चिरं दीर्घसंसारे ॥

इन्द्रियको उत्तेजित करना लिङ्गको कड़ा करना, ३ गरिष्ठ रसका सेवन करना, ४ स्त्रियसे संबद्ध वस्त्रादिका सेवन करना ५ स्त्रियोंके अङ्गोपाङ्ग आदिका देखना, ६ स्त्रियोंका सत्कार पुरस्कार करना ७ पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना, ८ आगामी भोगोंकी इच्छा करना और ९ इष्ट विषयोंका सेवन करना ये नौ प्रकारके अब्रह्मचर्य हैं।

इस तरह नौ प्रकार के ब्रह्मचर्यका विवेचन करके अब दश प्रकारके अब्रह्मचर्यका वर्णन करते हैं।

चिन्ता—१स्त्री विषयक चिन्ता करना, २ देखने की इच्छा रखना, ३ निःश्वास चलना, ४ ज्वर आना, ५ दाह पड़ना, ६ भोजनादि में अरुचि होना, ७ मूर्च्छा, ८ उन्मत ९ प्राण संदेह और दशवां मरण ये कामकी दश अवस्थाएं हैं यही दश प्रकारका अब्रह्मचर्य है। हे जीव ! तू इसका त्याग कर नौ प्रकार के ब्रह्मचर्यको प्रकट कर। मैथुन संज्ञा में अर्थात् सुन्दर स्त्रियों के आलिङ्गनादि कार्योंमें आसक्त होकर ही तू इस भयंकर संसार सागर में अनन्तकाल से भटकता चला आ रहा है ॥ ९६ ॥

गाथार्थ—हे मुनिवर ! भाव-सहित श्रेष्ठ मुनि चार आराधनाओं को प्राप्त करता है और भाव रहित मुनि चिरकाल तक दीर्घ संसार में भ्रमण करता है। ९७ ॥

विशेषार्थ—भावका अर्थ जिनसम्यक्त्व अर्थात् जिनेन्द्र देवकी अटूट श्रद्धा है।

भावसहिदो य मुणिणो भावेन जिनसम्यक्त्वलक्षणेन सहिदो सहितः संहितः संयुक्तः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागचरणनमच्चंचरीकः, अथवा भावः पूर्वोक्तलक्षणः [1]स्वशुद्धबुद्धैकस्वभाव आत्मा हितो यस्य यस्मै वा स भावस हितः । चकारान्न [2]मुनेरन्येषामपि भव्यजीवानां हितः त्रैलोक्यलोकतारणसमर्थत्वात् । यो भावसहितः स पुमान् मुणिणो मुनीनामिनः स्वामी मुनीनः स मुनिर्मुनिचक्रवर्ती । *पावइ आराहणाचउक्कं च* प्राप्नोति लभते, किं तत् ? आराधनाचतुष्कं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधकत्वं प्राप्नोति । *भावरहिदो य मुणिवर* भावरहितश्च जिनसम्यक्त्वातीतो वेषधारी मुनिः हे मुनिवर ! हे मुनिश्रेष्ठ *भमइ* भ्राम्यति पर्यटति । *चिरं* दीर्घकालं अनन्तकालं—यावत्कालं सिद्धस्वामिनो मुक्तौ तिष्ठन्ति तावत्पर्यन्तं स मिथ्यादृष्टिर्मुनिर्भ्रमति । क ? *दीहसंसारे* दीर्घसंसारेऽनन्तभवसंकटे संसारसमुद्रे मज्जनोमज्जनं करोतीति भावार्थः ।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरि कुदेवजोणीए ॥ ९८ ॥

जो मुनि भाव—जिनसम्यक्त्वसे सहित होता है वह श्रीमान्-भगवान्-अर्हन्त सर्वज्ञ-वीतराग देवके चरण कमलोंका भ्रमर होता है। अथवा भावका अर्थ शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव वाला आत्मा है उस आत्मासे जो सहित है वह भाव सहित कहलाता है। यहां 'भाव सहिदो य (भावसहितश्च) इस पाठ में जो 'च' दिया है उससे यह अर्थ सूचित होता है कि भाव सहित मुनि, मुनिके लिये ही हितकारी नहीं है किन्तु अन्य भव्य जीवोंके लिये भी हितकारी है, क्योंकि वह तीन लोकके प्राणियों को तारने में समर्थ होता है। जो मुनि ऊपर कहे हुए भाव जिन—सम्यक्त्व अथवा शुद्ध बुद्धैक—स्वभाव आत्मा से सहित है अर्थात् व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व से युक्त है वह मुनीन-मुनियोंका इन स्वामी है-मुनियों का चक्रवर्ती है ऐसा श्रेष्ठ मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप इन चार आराधनाओं को प्राप्त होता है तथा इसके विपरीत जो भाव से रहित है व्यवहार और निश्चय—सम्यक्त्व से रहित है, मात्र बाह्य नग्न वेषको धारण कर मुनि बना है वह दीर्घकाल तक अर्थात् जब तक सिद्ध परमेष्ठी मुक्ति में निवास करते हैं तब तक (अनन्त कालतक) दीर्घसंसारमें अनन्त जन्म, मरणसे युक्त संसार सागरमें मज्जनोन्मज्जन करता रहता है॥ ९७ ॥

गाथार्थ—भाव-मुनि कल्याणों की परम्परा से युक्त सुखोंको प्राप्त होते है अर्थात् तीर्थंकर होकर गर्भ जन्मादि कल्याणकोंसे युक्त परम सुखको प्राप्त होते हैं और द्रव्य मुनि

१—स्वः शुद्धः म० । २—मुनिरन्येषा म० ।

प्राप्नुवन्ति भावश्रमणाः कल्याणपरम्पराणि सुखानि ।
दुःखानि द्रव्यश्रमणा नरतिर्यक्कुदेवयोनौ ॥

पावंति भावसमणा प्राप्नुवन्ति लभन्ते, के ते ? भावश्रमणाः सम्यग्दृष्टयो दिगम्बराः । *कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं* कल्याणानां गर्भावतारजन्माभिषेकनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणलक्षणा (नां) परंपरा श्रेणिर्येषु सौख्येषु तानि कल्याणपरम्पराणि एवंविधानि सौख्यानि भावश्रमणाः प्राप्नुवन्ति तीर्थंकरपरमदेवा भवन्ति *दुक्खाइं दव्वसमणा* दुःखानि प्राप्नुवन्ति, के ते ? दव्वसमणा—द्रव्यश्रमणा जिनसम्यक्त्वरहिता नग्नाः पशुसमानाः दिगम्बरा इति भावार्थः । क दुःखानि द्रव्यश्रमणाः प्राप्नुवन्तीति चेत् ? *नरतिरयकुदेवजोणीए* नराश्च मनुष्याः, तिर्यंचश्च पशवः, कुत्सिता देवाश्च भावनामरा व्यन्तरा ज्योतिष्काश्च तेषां योनौ उत्पत्तिस्थाने ।

छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण ।
पत्तोसि महावसणं तिरियगइए अणप्पवसो ॥ ९९ ॥

षट्चत्वारिंशद्दोषदूषितमशनं ग्रसित्वाऽशुद्धभावेन ।
प्राप्तोसि महाव्यसनं तिर्यग्गतौ अनात्मवशः ॥

छायालदोसदूसियं षट्चत्वारिंशद्दोषदूषितं मलिनीकृत । *असणं गसिउं असुद्धभावेण* अशनं पिण्डं ग्रसित्वा अशुद्धभावेन मिथ्यादृष्टिपरिणामेन ख्यातिपूजालाभकश्मलिना परिणामेन । *पत्तोसि महावसणं* प्राप्ताऽसि हे जीव ! महाव्यसनं महादुःखं । कस्यां ? *तिरियगइए अणप्पवसो* तिर्यग्गत्यामनात्मवशो जिह्वोपस्थादिषडिन्द्रियपराधीन इति भावः ।

मनुष्य तिर्यञ्च तथा कुदेव योनि में दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥९८॥

विशेषार्थ—यहां भाव श्रमण का अर्थ सम्यग्दृष्टि दिगम्बर साधु है । भाव श्रमण गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान और निर्वाण इन पञ्चकल्याणकों की सन्तति से युक्त सुखों को प्राप्त होते हैं अर्थात् तीर्थंकर होते हैं और द्रव्य श्रमण अर्थात् मिथ्यादृष्टि साधु जो कि पशुके समान मात्र शरीर से नग्न हैं, मनुष्य तिर्यञ्च तथा भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क नामक कुदेवोंकी योनि में नाना दुःखोंको प्राप्त होते हैं ॥९८॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू अशुद्ध भावसे छयालीस दोषों से दूषित भोजन को ग्रहण कर तिर्यञ्च गति में पराधीन बन करके महा दुःख को प्राप्त हुआ है ॥९९॥

विशेषार्थ—यहाँ अशुद्ध भावसे मिथ्यादृष्टि परिणाम अथवा ख्याति लाभ पूजा आदि से मलिन परिणाम लेना है । हे जीव ! तू इस अशुद्ध भावसे छयालीस दोषों से दूषित आहार को ग्रहण कर तिर्यञ्च गति में उत्पन्न हुआ है और वहां तूने जिह्वा तथा उपस्थ

अथ के ते षट्चत्वारिंशदशनदोषा अशनस्येति चेत् ? षोडशसंख्या उद्गमदोषाः, तथा षोडशोत्पादनदोषाः, दशविधा एषणादोषाः, संयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमदोषाश्चत्वार इति षट्चत्वारिंशदशनदोषाः प्राणिनः प्राणव्यपरोप आरम्भ उच्यते (१) प्राणिन उपद्रवणं उपद्रव कथ्यते (२) प्राणिनोऽङ्गच्छेदादिर्विद्रावणमभिधीयते (३) प्राणिनः सन्तापकरणं परितापनं व्याह्रियते (४) एतैश्चतुर्भिर्दोषैर्निष्पन्नमन्नमतिनिन्दितमधःकर्म प्रतिपाद्यते। तदधःकर्म मनोवचनकायानां त्रयाणां प्रत्येकं कृतकारितानुमतभेदैर्नवविधं भवति। तेनाधः-कर्मणा रहिता उद्गमाख्यषोडशदोषवर्जिता उत्पादनषोडशदोषैः परित्यक्ता एषणादशदोषैः परिहृता संयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमनामभिश्चतुर्भिर्दोषैरुज्झिता ज्ञानाभ्यासध्यानधर्मोपदेशमोक्षप्राप्त्यादिकारणापेक्षा एषणासमितिप्रोक्तक्रमप्राप्ताशनसेवा भिक्षाशुद्धिगुणसमूहरक्षादक्षा वेदितव्या तस्यां उद्दिष्टादयः षोडशदोषा वर्जनीयाः। ते के ? तन्नाम निर्देशः क्रियते। उद्दिष्टः (१) अध्यवधिः (२) पूति (३) मिश्रं (४) स्थापितं (५) बलिः (६) प्राभृतं (७) प्राविष्कृतं (८) क्रीतं (९) प्रामृष्यः (१०) परिवर्त्तः (११) अभिहृतं (१२) उद्भिन्नं (१३) मालिकारोहणं (१४) आच्छेद्यं (१५)

आदि छह इन्द्रियों के पराधीन होकर बहुत भारी दुःख को प्राप्त किया है।

अब आहार के वे छयालीस दोष कौन है ? इसका वर्णन करते हैं—

सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दश एषणा दोष और चार संयोजन, अप्रमाण, अङ्गार तथा धूम दोष इस प्रकार सब मिलाकर आहार-सम्बन्धी छयालीस दोष होते हैं। प्राणीके प्राणोंका विघात करना आरम्भ कहलाता है, किसी प्राणीको उपद्रव करना उपद्रव कहा जाता है, प्राणीके अङ्गोंका छेद आदि करना विद्रावण कहलाता है और प्राणीका संताप करना परितापन कहा जाता है इन चार दोषों से तैयार हुआ अन्न अतिनिन्दित अधः कर्म कहलाता है। वह अधःकर्म मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना के भेद से नौ प्रकार का होता है। जो आहार ऊपर कहे हुए अधःकर्म से रहित है, उद्गम के सोलह, उत्पादन के सोलह, एषणा के दश तथा संयोजन अप्रमाण अङ्गार और धूम नामक चार दोषों से रहित है, ज्ञानाभ्यास, ध्यान, धर्मोपदेश तथा मोक्ष प्राप्ति आदि कारणोंसे सहित है एवं एषणा समिति में कहे हुए क्रमसे प्राप्त है उसका सेवन करना भिक्षा शुद्धि है। यह भिक्षा-शुद्धि गुण समूह की रक्षा करने में दक्ष है। भिक्षा-शुद्धि में उद्दिष्ट आदि सोलह उद्गम दोष छोड़नेके योग्य है। अब उन सोलह उद्गम दोषों के नाम लिखते हैं—

१ उद्दिष्ट, २ अध्यवधि, ३ पूति, ४ मिश्र, ५ स्थापित, ६ बलि, ७ प्राभृत, ८ प्राविष्कृत, ९ क्रीत, १० प्राभृष्य, ११ परिवर्त, १२ अभिहृत, १३ उद्भिन्न, १४ मालिका-रोहण

अनिसृष्टं (१६) चेति षोडशोद्गमदोषाः। अथोद्दिष्टादीनां षोडशानामर्थविशेष उच्यते—यदन्नं स्वमुद्दिश्य निष्पन्नं तदुद्दिष्टं, अथवा संयतानुद्दिश्य निष्पन्नं, अथवा पाषंडिनं उद्दिश्य निष्पन्नं, अथवा दुर्बलानुद्दिश्य निष्पन्नं तदन्नमुद्दिष्टमुच्यते। प्रगता असवः प्राणा यस्मात्तत्प्रासुकं चर्मजलादिभिरस्पृष्टमप्यन्नमात्मार्थं कृतं तत्संयतैर्न सेव्यं। अत्र दृष्टान्तः- यथा मदनोदके मत्स्यनिमित्तं कृते मत्स्या एव माद्यन्ति न तु दुर्दुरा भेका माद्यन्ति तथा यतिरपि दोषसहितमन्नमुद्दिष्टं न सेवते (१)अथाध्यवधिर्नाम दोषो द्वितीय उच्यते यतीनां-पाके क्रियमाणे आत्मन्यागते च सति तत्र पाके तन्दुला अम्बु चाधिकं क्षिप्यते सोऽध्यवधिर्दोष उच्यते, अथवा यावत्कालं पाको न भवति तावत्कालं तपस्विनां रोधः क्रियते सोऽध्यवधिर्दोष उच्यते (२) अथ पूतिनाम तृतीयं दोषमाह—यत्प्रासुकं पात्रं कांस्यपात्रादिकं मिथ्यादृष्टिप्रातिवेशैर्मिथ्यागुर्वर्थं दत्तं तत्पात्रस्थमन्नादिकं महामुनीनामयोग्यं पूत्युच्यते (३) [१]यदप्रासुकेन मिश्रं तन्मिश्रं (४) पाकभाजनादुद्गृहीत्वा यदन्नं

---

१५ आच्छेद्य और १६ अनिसृष्ट ।

आगे इन उद्दिष्ट आदि सोलह उद्गम दाषोंका विशेष अर्थ कहा जाता है—

जो अन्न अपने उद्देश्यसे बनाया गया है वह उद्दिष्ट है अथवा जो मुनियों को लक्ष्य कर बनाया गया है अथवा जो पाखण्डियों को लक्ष्य कर बनाया गया है, अथवा जो दुर्बल मनुष्यों को लक्ष्य कर बनाया गया है वह सब उद्दिष्ट कहलाता है। जिसमें से प्राण निकल चुके है वह प्रासुक कहलाता है, जो अन्न प्रासुक है तथा चमड़े में रखे हुए जल आदि से नहीं छुआ गया है ऐसा अन्न भी यदि अपने लिये तैयार किया गया है तो वह मुनियों के लेने योग्य नहीं है। इस विषय में दृष्टान्त है—जिस प्रकार किसीने मत्स्यों के निमित्त मादक जल तैयार किया तो उससे मत्स्य ही मदको प्राप्त होते हैं मेण्डक नहीं, उसी प्रकार मुनि भी दोष सहित उद्दिष्ट अन्न का सेवन नहीं करते। यह पहला उद्दिष्ट नामका दोष है १। अब अध्यधि नामक दूसरा दोष कहा जाता है-जहां तैयार होते हुए भोजनमें मुनिके पहुंचने पर और अधिक चांवल तथा जल डाल दिया जाता है वह अध्यधि नामका दोष कहलाता है अथवा जब तक भोजन पक कर तैयार नहीं हो जाता है तब तक मुनिको उच्चासन पर ही रोके रखना अध्यधि नामका दोष है २। आगे पूति नामका तीसरा दोष कहते हैं—कांसे आदिका जो प्रासुक पात्र मिथ्यादृष्टि पड़ोसियोंने मिथ्यागुरुओं के लिये दिया था उस पात्र में रक्खा हुआ अन्न आदिक महामुनियों के अयोग्य होता है ऐसा अन्न पूति कहलाता है। भावार्थ—मिथ्यादृष्टि पड़ोसी कांसे आदि से निर्मित जिन पात्रों में भोजन

१—यत्प्रासुकेन म०।

स्वगृहेऽन्यगृहे वा स्थापितं, अथवान्यस्मिन् भाजने भाण्डेऽन्नादिकं निष्पन्नं द्वितीये कांस्यपात्रादौ क्षिप्त्वा शोधनाद्यर्थं तृतीये भाजने मुच्यते तदन्नं मुनीनामयोग्यं किन्तु भाण्डान्मुनिभाजनपात्रे एव मुच्यते तस्माद्-गृहीत्वा मुनये दीयते, अन्यथा स्थापितं नाम दोषः (५ यक्षादीनां बलिदानोद्धृतं अन्नं बलिरुच्यते, संयतागमनार्थं बलिकरणं बलिः कथ्यते (६) अस्यां वेलायां दास्यामि अस्मिन् दिवसे दास्यामि, अस्मिन् मासे दास्यामि, अस्यामृतौ दास्यामि, अस्मिन् वर्षादौ दास्यामीति नियमेन यदन्नं मुनिभ्यो दीयते तत्प्राभृतं कथ्यते (७) भगवन्निदं मदीयं गृहं वर्तते यत्रैवं गृहप्रकाशकरणं भवति निजगृहस्य गृहिणा प्रकटनं क्रियते, अथवा भाजनादीनां संस्कारः भाजनादीनां स्थानान्तरणं वा प्राविष्कृतमुच्यते (८) विद्यया क्रीतं द्रव्य-वस्त्रभाजनादिना वा यत्क्रीतं तत्क्रीतं कथ्यते (९) कालान्तरेणाव्याजेन वा स्तोकमृणं कृत्वा यतीनां

रख कर मिथ्या गुरुओं को दिया करते हों उन्हीं पात्रोंका पड़ोसी के यहां से लेकर उसमें आहार रख मुनियोंको देना पूति दोष कहलाता है ३। जो अप्रासुक आहारसे मिला हो वह मिश्र दोष से दूषित है जैसे अधिक गर्म जलको शीतल जलके साथ मिला कर पीनेके योग्य बनाना ४। पकाने के वर्तन से निकाल कर जो अन्न अपने घर में अथवा दूसरे के घर में अन्य वर्तन में रखा जाता है वह स्थापित नामका दोष है अथवा अन्य वर्तन में जो भोजन बना हो उसे कांसे आदि के दूसरे पात्र में रक्खा और फिर शोधने अथवा ठण्डा आदि करने के लिये तीसरे पात्र में रखा जाता है वह अन्न मुनियों के अयोग्य है किन्तु बनाने के वर्तन से निकाल कर सीधा उस वर्तन में रखना जिसमें से मुनिके लिये आहार दिया जा रहा हो ऐसा अन्न मुनियोंके योग्य होता है अन्यथा स्थापित नामका दोष होता है ५। यक्ष आदिको बलि देनेके लिये जो अन्न निकाल कर रक्खा है वह बलि कहलाता है अथवा हमारे घर मुनि आवेंगे तो उनके लिये यह अन्न दूंगा इस अभिप्राय से वर्तन से पृथक् रक्खा हुआ अन्न बलि कहलाता है ६। 'मैं इस समय आहार दूंगा, इस दिन दूंगा, इस मासमें दूंगा, इस ऋतु में दूंगा अथवा इस वर्ष में दूंगा, इस प्रकार के नियम से मुनियों के लिये जो अन्न दिया जाता है वह प्राभृत कहलाता है ७। 'भगवन् ! यह मेरा घर है' इस प्रकार गृहस्थ द्वारा जिसमें अपने घरका प्रकाश—प्रकटी-करण किया जाता है अथवा जहां वर्तनों की सफाई अथवा स्थानान्तरण—एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना किया जा रहा हो जिससे मुनिको पता चलजावे कि अमुक व्यक्तिका घर यह है वह प्राविष्कृत दोष कहा जाता है ८। जो भोजन विद्या के द्वारा अर्थात् नृत्य दिखाकर, गाना सुनाकर या बाजा बजाकर खरीदा गया हो अथवा द्रव्य, वस्त्र या वर्तन आदि देकर लिया गया हो वह क्रीत नामका दोष है ९। तुम मुझे अमुक वस्तु दे दो मैं इतने समय बाद वापिस दे दूंगा, मुझे

दानार्थं यदर्जितं तत्प्रामृष्यं [1]कथ्यते (१०) कस्यचिद्गृहस्थस्य व्रीहीन् दत्वा शालयो गृह्यन्ते, अथवा निजं कूरं दत्वा परकूरं गृह्यते निजाभ्यूषान् दत्वा परेषामभ्यूषा गृह्यन्ते एवं यत्परिवर्त्यते यतिभ्यो दीयते दास्यते वा स परिवर्तः कथ्यते (११) ग्रामात् पाटकात् गृहान्तराद्यदायातं तदभिहितं कथ्यते तद्योग्यं न भवति । कुतोऽप्यायातं योग्यं भवतीति चेत् ? भवति योग्यं यदि ऋजुत्व आसन्नादासमाद्गृहादायातं तत् योग्यं । पंक्तिबद्धात् षष्ठाद्गृहाद्यदायातं तत्कल्पते सप्तमाद्गृहात् यदुपढौकितं तन्न कल्पते इत्यर्थः (१२) विमुद्रादिकं यदन्नादिकं भवति तदुद्भिन्नमुच्यते—उद्घाटितं न भुज्यते इत्यर्थः (१३) मालिकादिसमारोहणेन यदानीतं तन्मालिकारोहणमुच्यते—उपरितनभूमेर्यद् घृतादिकमधस्तनभूमौ समानीतं तन्न कल्पते इत्यर्थः (१४) [2]राजभयाच्चौरभयाद्यद्दीयते तदाच्छेद्यमुच्यते (१५) ईशानीशानभिमतेन स्वाम्यस्वाम्यनभिमतेन

मुनि को दान देनेके लिये इस वस्तु की आवश्यकता है, ऐसा कह कर अथवा कुछ प्रयोजन विना बताये ही थोड़ा ऋण कर मुनियों को देनेके लिये जो अन्न इकट्ठा किया जाता है वह प्रामृष्य दोष कहलाता है १० । जहां किसी गृहस्थ को मोटी धान देकर उसके वदले महीन धान ली जाती है अथवा अपना मोटे चाँवलों का भात देकर दूसरे से महीन चांवलों का भात लिया जाता है अथवा अपने मोटे अनाज के मांडे देकर दूसरे से अच्छे अनाज के मांडे लिये जाते हैं, इस प्रकार परिवर्तन कर मुनियों के लिये जो दिया जाता है अथवा दिया जावेगा वह परिवर्त दोष कहलाता है ११ । जो आहार दूसरे ग्राम, दूसरे मुहल्ला अथवा दूसरे घर से लाया गया हो वह अभिहित कहलाता है ऐसा आहार मुनियों के योग्य नहीं है ।

प्रश्न—कहीं से आया हुआ योग्य भी होता है ?

उत्तर—योग्य होता है, यदि सीधी पंक्ति में स्थित निकटवर्ती सातवें घर से पहले २ तक के घरों से लाया गया हो । अर्थात् एक पंक्ति में स्थित छठवें घर से जो आहार लाया गया है वह मुनियों को देनेके योग्य है किन्तु सातवें घरसे जो लाया गया है वह देनेके योग्य नहीं है १२ । जो अन्नादिक विमुद्रित हो अर्थात् उघड़ा पड़ा हो वह उद्भिन्न कहलाता है ऐसे आहार को लेना उद्भिन्न दोष कहलाता है १३ । जो वस्तु आहार के समय ऊपर अटारी आदि पर चढ़कर नीचे लाई गई हो वह मालारोहण दोष कहलाता है जैसे नीचे की भूमिमें आहार हो रहा हो आवश्यकता देख ऊपर जाकर घी आदि निकाल लाना । इस तरह से लाई हुई वस्तु मुनिके योग्य नहीं है १४ । राजाके भय से अथवा चोरके भय

१—मृष्यते म० । २—चोरभयादिभयात् क० ।

यद्दीयते तदनिसृष्टं कथ्यते (१६) इत्येते षोडशोद्गमदोषा भवन्ति।

अथोत्पादनदोषाः षोडश उच्यन्ते—तन्नामनिर्देशो यथा। धात्रीवृत्तिः (१) दूतत्वं (२) भिषग्वृत्तिः (३) निमित्तं (४) इच्छाविभाषणं (५) पूर्वस्तुतिः (६) पश्चात्स्तुतिः (७) क्रोधचतुष्कं (८-९-१०-११) वश्यकर्म (१२) स्वगुणस्तवनं (१३) विद्योपजीवनं (१४) मंत्रोपजीवनं (१५) चूर्णोपजीवनं (१६)। बाललालनशिक्षादिर्धात्रीत्वं (१) दूरबन्धुजनानां वचनानां नयनमानयनं च दूतत्वं (२) गजचिकित्सा विषचिकित्सा जांगुल्यपरनामा बालचिकित्सा तादृशान्यचिकित्साभिरशनार्जनं भिषग्वृत्तिः (३) स्वरान्तरिक्षभौमाङ्गव्यञ्जनच्छिन्नलक्षणस्वप्नाष्टाङ्गनिमित्तैरशनार्जनं निमित्तं (४) कश्चित्पृच्छति हे मुने ! दीनहीनादीनामन्नादिदानेन पुण्यं भवेन्न वा भवेत्? मुनिरन्नार्थं वदति पुण्यं भवेदेवेत्यभ्युपगम इच्छाविभाषणमुच्यते (५) अहो जिनदत्त ! त्वं जगति विख्यातो दाता वर्तसे इत्या-

---

से जो वस्तु छिपकर दी जाती है वह आच्छेद्य कहलाती है १५। घरके स्वामी अथवा अन्य सदस्यों की संमतिके विना जो आहार दिया जाता है वह अनिसृष्ट कहलाता है १६। ये सोलह उद्गम दोष हैं, आहार–देय पदार्थ से सम्बद्ध हैं तथा श्रावक के आश्रित हैं अर्थात् इनका दायित्व श्रावक के ऊपर है।

अब आगे सोलह उत्पादन दोष कहे जाते हैं। सबसे प्रथम उनके नाम निर्दिष्ट करते हैं—धात्री वृत्ति १, दूतत्व २, भिषग्वृत्ति ३, निमित्त ४, इच्छाविभाषण ५, पूर्व स्तुति ६, पश्चात् स्तुति ७, क्रोध चतुष्क (८-९-१०-११) वश्यकर्म १२, स्वगुणस्तवन १३, विद्योपजीवन १४, मन्त्रोपजीवन १५, चूर्णोपजीवन १६

इनका स्वरूप इस प्रकार है—

बालकों के लालन-पालन तथा शिक्षा आदिके द्वारा गृहस्थों को प्रभावित कर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह धात्रीत्व दोष है १। दूरवर्ती बन्धुजनों अथवा सम्बन्धियोंके संदेश वचन ले जाना अथवा ले आना और इस विधि से गृहस्थों को आकृष्ट कर आहार प्राप्त करना दूतत्व दोष है २। गज चिकित्सा, विषचिकित्सा, झाड़ना, फूंकना आदि बाल चिकित्सा तथा इसी प्रकार की अन्य चिकित्साओं के द्वारा गृहस्थों को प्रभावित कर आहार प्राप्त करना भिषग्वृत्ति नामक दोष है, ३ स्वर, अन्तरिक्ष (ज्योतिष), भौम, अङ्ग, व्यञ्जन, छिन्न, लक्षण, और स्वप्न इन अष्टाङ्ग निमित्तों से श्रावकों को आकृष्ट कर आहार लेना निमित्त नामका दोष है, ४ कोई पूछता है कि मुनिराज ! दीन हीन आदि लोगोंको अन्न आदिका दान देने से पुण्य होता है या नहीं ? इसके उत्तर में आहार प्राप्त करनेके उद्देश्य से मुनि कहता है कि अवश्य ही होता है इस तरह के उत्तर से श्रावक को प्रभावित कर

दिभिर्वचनैर्गृहस्थस्यानन्दजननं भुक्तेः पूर्वं तत्पूर्वस्तवनं ( ) एवं भुक्तेः पश्चात् स्तवनविधानं पश्चात्स्तुतिः (७) क्रोधं कृत्वाऽन्नोपार्जनं क्रोधः (८) मानेनान्नार्जनं मानः (९) माययाऽन्नार्जनं माया (१०) लोभेनान्नार्जनं लोभः (११) वशीकरणमंत्रतंत्राद्युपदेशेन यदन्नोपार्जनं तद्वश्यकर्म (१२) स्वकीयतपःश्रुतजातिकुलादिवर्णनं स्वगुणस्तवनं (१३) सिद्धविद्यासाधितविद्यादीनां प्रदर्शनं विद्योपजीवनं (१४) अङ्गशृङ्गारकारिणः पुरुषस्य पाठसिद्धादिमंत्राणामुपदेशनं मंत्रोपजीवनं (१५) एवं चूर्णादिरुपदेशनं चूर्णोपजीवनं ( ) एते षोडशोत्पादनदोषा वेदितव्याः ।

अथैषणादशदोषा कथ्यन्ते । तेषामयं नामनिर्देशः । शंकितं (१) म्रक्षितं (२) निक्षिप्तं (३)

आहार प्राप्त करना इच्छा विभाषण दोष कहा जाता है ५ । 'अहो जिनदत्त ! तुम जगत् में प्रसिद्ध दाता हो' इत्यादि वचनों के द्वारा आहार के पूर्व गृहस्थ को हर्ष उत्पन्न करना पूर्व स्तुति नामका दोष है ६ इसी प्रकार आहार के पश्चात् स्तुति करना पश्चात्स्तुति नामका दोष है ७ । क्रोध दिखाकर आहार प्राप्त करना क्रोध दोष है ८ । मान दिखा कर आहार प्राप्त करना मान दोष है ९ । माया दिखाकर अन्न प्राप्त करना माया दोष है। १० । लोभ दिखाकर आहार प्राप्त करना लोभ दोष है ११ वशीकरणके मन्त्र तथा तन्त्र आदिका उपदेश देकर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह वश्यकर्म नामका दोष है १२। अपना तप, शास्त्र ज्ञान, जाति तथा कुल आदिका वर्णन करना स्वगुण-स्तवन नामका दोष है १३ । स्वयं सिद्ध अथवा अनुष्ठान द्वारा सिद्धकी हुई विद्याओंका प्रदर्शन करना विद्योपजीवन नामका दोष है १४ । शरीरका शृङ्गार करनेवाले पुरुषको पाठसिद्ध आदि मन्त्रों का अर्थात् ऐसे मन्त्रोंका जो पढ़ने ही के साथ सिद्ध होजाते हों, उपदेश देना मन्त्रोपजीवन नामका दोष है १५ । इसी तरह चूर्ण आदि बनानेका उपदेश देना चूर्णोपजीवन नामका दोष है १६ ये सोलह उत्पादन दोष हैं अर्थात् आहार प्राप्त करनेके उपायों से सम्बद्ध हैं और मुनिके आश्रित हैं अर्थात् इनका दायित्व मुनिपर है ।

अब आगे एषणा सम्बन्धी दश दोष कहे जाते हैं—

प्रथम उनके नाम निर्देश करते हैं-शङ्कित (१) म्रक्षित (२) निक्षिप्त (३) पिहित (४) उज्झित (५) व्यवहार (६) दातृ (७) मिश्र (८) अपक्व (९) और लिप्त १०

अब इनका स्वरूप कहते हैं—'यह अन्न सेवन करने योग्य है अथवा अयोग्य है' ऐसी शङ्का जिसमें हो गई हो वह शङ्कित नामका दोष है १ । चिकने हाथ अथवा पात्र आदिसे जो आहार दिया जाता है वह म्रक्षित नामका दोष है २ सचित कमल पत्र आदि पर रख कर जो दिया जाता है वह निक्षिप्त दोष है ३ । सचित्त पद्मपत्र आदिसे ढककर जो दिया जाता है वह पिहित नामका दोष है ४ । जिस आम्रफल आदिक आहार में से बहुत

पिहितं (४) उज्झितं (५) व्यवहारः (६) दातृ (७) मिश्रं (८) अपक्वं (९) लिप्तं (१०) चेति एतदन्नं सेव्यमसेव्यं वेति शंकितं (१) सस्नेहहस्तपात्रादिना यद्दत्त तन्म्रक्षितं (२) सचित्तपद्मपत्रादौ यन्निक्षिप्तं तन्निक्षिप्तं (३) सचित्तेन पद्मपत्रादिना यत्पिहितं तदन्नं पिहितं (४) यच्चूनफलादिकं बहु त्यक्त्वाल्पसेवनं तदुज्झितं, अथवा यत्पानादिकं दीयमानं बहुतरेण गलनेनाल्पसेवनं तदुज्झितं (५) यतीनां संभ्रमादादरतया चेलपात्रादेरसमीक्ष्याकर्षणं स आगमे [1]व्यवहार उच्यते (६) दातृदोषः कथ्यन्ते—निर्वस्त्रः शौण्डः पिशाचः अन्धः पतितः मृतकानुगः तीव्ररोगी व्रणी लिंगी नीचस्थानस्थितः उच्चस्थानस्थित आसन्नगर्भिणी कोऽर्थः ? निकटजनितापत्या वेश्या दासी काण्डपटादिनान्तरिता अशुचिः किमपि भक्षयन्ती इत्यादयो दोषा दातृणा ज्ञातव्याः (७) षड्जीवसम्मिश्रं मिश्रः (८) पावकादिद्रव्यैरपरित्यक्तपूर्वस्वकीयवर्णगन्धरसमपक्वं (९) लिप्तैर्दर्वीकराद्यैर्दीयमानमशनादिकं लिप्तं तथाऽप्रासुकजलमृत्तिकोल्मुकादिभिर्लिप्तैर्यद्दीयते तल्लिप्तं (१०) ।

भाग छोड़कर थोड़े भागका ग्रहण होता हो अथवा जो शरबत आदिक पेय पदार्थ लेते समय नीचे अधिक गिर जाते हैं और ग्रहणमें थोड़े आते हैं उनका लेना उज्झित नामका दोष है ५ । मुनियोंके आजानेसे उत्पन्न संभ्रम-हड़बड़ाहट अथवा आदर की अधिकता से वस्त्र तथा वर्तन आदिको बिना देखे जल्दी घसीटना व्यवहार नामका दोष है ६ अब दाता के दोष कहते हैं—ऐसा दाता दान देनेका अधिकारी नहीं है—जो निर्वस्त्र हो—वस्त्ररहित हो अथवा एक वस्त्रका धारक हो, मद्यपायी हो, पिशाच की बाधा से पीडित हो, अन्धा हो, जातिका पतित हो, मृतक की शव-यात्रा में गया हो, तीव्ररोगी हो, जिसे कोई घाव हो रहा हो, कुलिङ्गी-मिथ्या साधुका वेष रखे हो, जहां मुनि खड़े हों वहां से बहुत नीचे स्थान में खड़ा हो अथवा दातासे ऊंचे स्थान पर खड़ा हो आसन्न गर्भिणी हो [2]अर्थात जिसके पांच माससे अधिक का गर्भ हो, बच्चा जनने वाली हो, वेश्या हो, दासी हो, परदाके भीतर छिपकर खड़ी हो, अपवित्र हो अर्थात् मूत्र आदि की बाधासे निवृत्त होकर शुद्धि किये बिना आई हो, अथवा चाहे जो (अभक्ष्य) भक्षण करने वाली हो। इत्यादि दाता से सम्बन्ध रखने वाले दोष हैं। ऐसे सदोष दाता से आहार लेना दातृ दोष है। ७। जिस आहार में छह कायके जीव मिल गये हों वह मिश्र नामका आहार है उसे लेना सो मिश्र नामका दोष है ८ अग्नि आदि द्रव्योंसे जिनके पहलेके रूप गन्ध तथा रसमें परिवर्तन नहीं हुआ हो अर्थात् जो अपक्व हो वह अपक्व नामका दोष है ९ और घी आदिसे लिप्त करछुली (चम्मच) आदिके द्वारा जो आहार दिया जाता है अथवा जो अप्रासुक जल, मिट्टी तथा राख आदिसे लिप्त वर्तनोंके द्वारा दिया जाता है वह लिप्त आहार है इसका

१—व्यवहार इति दोषनाम अन्यत्र । २—मूलाचार गाथा ५० ।

स्वादनिमित्तं यत्संयोजनं शीते उष्णं उष्णे शीतमित्यादिमेलनं तदनेकरोगाणामसंयमस्य च कारणं ज्ञातव्यं १ कुक्षेरर्धमंशमन्नेन पूरयेत् तृतीयमंशं कुक्षेः पानेन पूरयेत् कुक्षेश्चतुर्थमंशं वायोः सुखप्रचारार्थमवशेषयेत् रिक्तं रक्षेत् अस्मात्प्रमाणादतिरेकोऽधिकग्रहणं अप्रमाणदोषः। प्रमाणातिक्रमेण किं भवति ? ध्यानभंगः, अध्ययनविनाशः, अत्युत्पत्तिः, निद्रोत्पत्तिः, आलस्यादिकं च स्यात् २ इष्टान्नपानादिप्राप्तौ रागेण सेवनं अंगारदोषः ३ अनिष्टान्नपानादिप्राप्तौ द्वेषेण सेवा धूमदोषः ४ अथ किमर्थमाहारो गृह्यते इति चेत् ? आहारग्रहणे मुनीनां गुणाः सन्ति। उक्तं च वीरनन्दिभट्टारकेण—

क्षुच्छान्त्यावश्यकप्राण-रक्षाधर्मयमा मुनेः।
वैयावृत्यं च षड्भुक्तेः कारणानीति यन्मतम् ॥ १ ॥
ततः शरीरसंवृद्धयै तत्तेजोबलवृद्धये।
स्वादार्थमायुसंवृद्धयै नैव भुंजीत संयतः ॥ २ ॥

लेना सो लिप्त नामका दोष है। १०।

स्वाद के निमित्त भोजन का जो एक दूसरे के साथ मिलाया जाता है वह संयोजन नामका दोष है जैसे शीत वस्तुमें उष्ण और उष्ण में शीत वस्तु इत्यादिका मिलाना यह संयोजन अनेक रोगों और असंयम का कारण है, ऐसा जानना चाहिये। १। पेटका आधा भाग अन्नसे भरे तृतीय अंशका पानीसे भरे और चौथे भागको वायुके सुख-पूर्वक संचारके लिये खाली छोड़ दे। इस प्रमाणका यदि उल्लङ्घन किया जाता है अर्थात् अधिक आहार ग्रहण किया जाता है तो अप्रमाण नामका दोष होता है।

प्रश्न—प्रमाणका उल्लङ्घन करने से क्या होता है ?

उत्तर—ध्यानभङ्ग, अध्ययन में बाधा, पीड़ा की उत्पत्ति, निद्राको उत्पत्ति और आलस्यादिक दोष उत्पन्न होते हैं। २ इष्ट अन्न पान आदिके मिलने पर राग भावसे सेवन करना अङ्गार दोष है। ३ और अनिष्ट अन्न पानके मिलने पर द्वेष-पूर्वक सेवन करना धूम दोष है।

प्रश्न—आहार किसलिये किया जाता है ?

उत्तर—आहार लेनेमें मुनियोंके अनेक गुण हैं—अनेक लाभ हैं। जैसा कि वीरनन्दि भट्टारक ने कहा है—

क्षुच्छान्त्या ततः शरीर—क्षुधा की शान्ति, आवश्यकों का पालन, प्राणरक्षा, धर्म, चारित्र और वैयावृत्य ये छह मुनि के भोजन करनेके कारण हैं। चूंकि यह सिद्धान्त है अतः साधुको शरीरकी वृद्धि, उसके तेज और बलकी वृद्धि, स्वाद तथा आयुकी वृद्धिके लिये भोजन नहीं करना चाहिये ॥ १-२ ॥

महोपसर्गातङ्काङ्गसंन्यासाङ्गिदयातपो—
ब्रह्मचर्याणि भिक्षोः षट्कारणान्यशनोज्झने ॥ ३ ॥
एतद्दोषविहीनायाभुक्तेरन्तरकारिणः ।
अन्तरायाः कियन्तोऽत्र वर्ण्यन्ते वर्णिनामिमे ॥ ४ ॥
रसपूयास्थिमांसासृक्चर्मामेध्यादिवीक्षणं ।
काकाद्यमेध्यपातोऽङ्गे वमनं स्वस्य रोधनं ॥ ५ ॥

महोपसर्ग—महोपसर्ग, भय, शरीरका संन्यास, जीवदया, अनशनादि तप और ब्रह्मचर्य ये छह मुनिके भोजन छोड़ने के कारण हैं अर्थात् इन छह कारणोंसे मुनि आहार का परित्याग करते हैं ॥ ३ ॥

एतद्दोष—इन दोषों से रहित आहार के उपभोग में बाधा करने वाले अन्तराय कितने हैं ? इस प्रश्न के समाधान के लिये अब यहां मुनियों के निम्न लिखित अन्तरायों का वर्णन किया जाता है ॥४॥

रसपूया—आहार करते समय गीले पीव हड्डी मांस रक्त चमड़ा तथा विष्ठा आदि पदार्थ देखने में आजावें, शरीर पर कौआ आदि पक्षी बीट करदे अपने आपको वमन होजावे, कोई आहार करने से रोक दे, दुःखके कारण अश्रुपात हो जावे, हाथ से ग्रास गिर जावे, कौआ आदि पक्षी झपटकर हाथ से ग्रास उठा ले जावे, आहार लेनेवाला दुर्बलता आदि के कारण गिर पड़े, छोड़ी हुई वस्तु सेवन में आजावे, मुनिके पैरों के बीच से कोई पञ्चेन्द्रिय जीव निकल जावे, अपने उदर से कृमि, विष्ठा, मूत्र, रक्त तथा पीप आदि निकल आवे, थूक देना, डाढ़ों वाले कुत्ता आदि प्राणी काट खावें, दुर्बलता के कारण बैठ जाना पड़े, हाथ अथवा मुखमें किसी मृत जन्तु हड्डी, नख अथवा रोम आदि दिख जावे, कोई किसी को मार दे, गांव में आग लग जावे, अशुभ, कठोर और घृणित शब्द सुनने में आजावे, उपसर्ग आजावे, दाता के हाथ से पात्र गिर पड़े, अयोग्य मनुष्यके घर में प्रवेश हो जाय, और घुटने से नीचे भागका स्पर्श हो जाये, इत्यादि अनेक अन्तराय माने गये हैं। इन अन्तरायोंमें कितने ही अन्तराय लोक रीतिसे उत्पन्न होते हैं जैसे ग्राम दाह आदि। यदि इस समय मुनि आहार नहीं छोड़ते हैं तो लोक में अपवाद हो सकता है कि देखो गांवके लोग विपत्ति में पड़े हैं और ये भोजन किये जा रहे हैं। कुछ संयम की अपेक्षा उत्पन्न होते हैं जैसे भोजन जीवजन्तुओंका निकलना आदि। कुछ वैराग्य के

अश्रुपातश्च दुःखेन पिंडपातश्च हस्ततः ।
काकादिपिण्डहरणं पतनं त्यक्तसेवनम् ॥ ६ ॥
पादान्तरालात्पंचाक्ष[1]जातिपंचेन्द्रियात्ययः ।
स्वोदरक्रमिविण्मूत्ररक्तपूयादिनिर्गमः ॥ ७ ॥
निष्ठीवनं सदंष्ट्राङ्घ्रि[2]दर्शनं चोपवेशनं ।
पाणिवध्रेऽत्र [3]सान्द्रास्थिनखरोमादिदर्शनम् । ८ ॥
प्रहारो ग्रामदाहोऽशुभोग्रबीभत्सवाक्श्रुतिः ।
उपसर्गः पतन पात्रस्यायोग्यगृहवेशनम् ॥ ९ ॥
[4]जानुदेशादधःस्पर्शश्चेत्येवं बहवो मताः ।
लोकसंयमवैराग्यजुगुप्साभवभीतिजाः ॥ १० ॥
ज्ञात्वा योग्यमयोग्यं च द्रव्यं क्षेत्रत्रयाश्रयं ।
चरत्येवं प्रयत्नेन भिक्षाशुद्धियुतो यतिः ॥ ११ ॥

सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धी दप्पेऽधी पभुत्तूण ।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण त चिंत ॥ १०० ॥

निमित्त से होते हैं जैसे साधुका गिर पड़ना आदि । इस समय साधु सोचते हैं कि देखो यह शरीर इतना अशक्त हो गया कि स्ववश खड़ा रहा नहीं जाता और मैं आहार किये जा रहा हूं कुछ अन्तराय जुगुप्सा अर्थात् ग्लानि की अपेक्षा होते हैं जैसे पेटसे कृमि तथा मल मूत्रके निकल आने पर ग्लानि का भाव उत्पन्न होता है । और कितने ही अंत-राय संसारके भयसे उत्पन्न होते हैं जैसे काक आदि पक्षियोंके द्वारा हाथका ग्रास झपट ले जाना । इस समय साधु विचार करते हैं कि देखो संसार कितना दुःखमय है जहां क्षुधा से पीड़ित हुए जन्तु आहार की घात मे निरन्तर लीन रहते हैं ॥ ५—१० ॥

ज्ञात्वा—क्षेत्र काल अथवा भावके आश्रय रहने वाला यह द्रव्य योग्य है अथवा अयोग्य है ऐसा जानकर भिक्षा शुद्धिसे युक्त मुनि प्रयत्न-पूर्वक अपनी चर्या करता है ११

गाथार्थ—हे आत्मन् ! तू ने बुद्धिसे हीन होकर-विवेक छोड़कर आहारकी तीव्र इच्छा अथवा अहंकारके वश सचित्त अन्न पान ग्रहण किया है इसीलिये अनादि कालसे तीव्र दुःखको प्राप्त हो रहा है ॥ १०० ॥

१—जाति: क० । २—दर्शनं दर्शनं म० घ० क० । ३—सान्द्रास्थि क० । ४—जानु म०

सचित्तभक्तपानं गृद्धया दर्पेण अधीः प्रभुज्य ।
प्राप्तोसि तीव्रदुःखं अनादिकालेन त्वं चित्त ! ॥

सच्चित्तभत्तपाणं सचित्तभक्तपानमप्रासुकभोजनजलादिकं । *गिद्धी दप्पेण*गृद्धयातिकांक्षया दर्पेण उत्कटत्वेन । *अधी* बुद्धिहीनः । *पभुत्तूण* प्रकर्षेण भुक्त्वा *पत्तोसि तिव्वदुक्खं* प्राप्तोऽसि प्राप्तो भवसि किं तत् ? तिव्वदुक्खं—तीव्रमसातं नरकादिदुःखमित्यर्थः । कियत्पर्यन्तं दुःख प्राप्तोऽसि ? *अणाइकालेण* अनादिकालेन आसंसारं यावत् । कः प्राप्तो दुःखं ? *तं* त्वं भवान् । हे *चित्त* हे आत्मन् ! ।

कंदं मूलं बीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं ।
आसऊण माणगव्वे भमिओसि अणंतसंसारे ॥ १०१ ॥

कन्दं मूलं बीजं पुष्पं पत्रादि किंचित् सचित्तम्
अशित्वा मानगर्वे भ्रमितोसि अनन्तसंसारे ॥

कंदं सूरणं लशुनं पलाण्डु क्षुद्रवृहन्मुस्तां शालूकं—उत्पलमूलं शृङ्गवेरं आर्द्रवरवर्णिनी आर्द

विशेषार्थ—हे आत्मन् ! तूने अज्ञानी दशामें भोजनकी लम्पटता और अपनी बलिष्टता के गर्वसे अप्रासुक भोजन तथा जल आदिका वार वार उपभोग कर अनादि कालसे नर-कादि गतियों में तीव्र दुःख प्राप्त किया है, अब मुनि अवस्था में विवेक पाकर भी तेरा उक्त दोष दूर नहीं हुआ तो तुझे फिर उसी प्रकारके दुःख उठाना पड़ेंगे, अतः सचित्त अन्न-पानका दोष मत लगा ॥ १०० ॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू ने मान्यता के गर्व-वश सचित्त कन्द, मूल, बीज, पुष्प तथा पत्ता आदिको खाकर अनन्त संसारमें भ्रमण किया है ॥ १०१ ॥

विशेषार्थ—कन्द शब्दसे सूरण, लहसुन, प्याज, छोटा बड़ा मोथा, शालूक अर्थात् उत्पलों–नीलकमलोंकी जड़, अदरक, तथा गीली हल्दी आदिका ग्रहण होता है मूलशब्द से मूली तथा गाजर आदिको लेना चाहिये । बीजका अर्थ चना गेहूँ आदि होता है। पुष्प से गुलाबका फूल तथा करण और बीजपूर आदिका फूल लिया जाता है । पत्र आदिसे ताम्बूल आदिके पत्ता ग्राह्य हैं। इनके सिवाय सचित्त किमपि यहाँ पड़े हुए किमपि शब्द से ककड़ो आदिका ग्रहण होता है । इनमें कन्दमूल तो स्पष्ट ही अनन्तकाय हैं इनके खानेसे अनन्तानन्त स्थावर जीवोंका विघात होता है। फूलोंमें त्रस जीवोंका निवास होता है। पत्तों में साधारण और प्रत्येक दोनों प्रकारके पत्ते होते हैं और चना गेहूं आदि बीज हरी अवस्था में तो सचित्त हैं ही परन्तु सूख जाने पर भी योनिभूत होनेके कारण सचित्त माने जाते हैं। इनके सिवाय हरी ककड़ी आदि अन्य पदार्थ भी ग्रहण में आते हैं।

हरिद्रेत्यर्थः। *मूलं* हस्तिदन्तकं मूलकमित्यर्थः नारंगकंटकं गाजरमित्यर्थः। *बीयं* चणकादिकं। *पुप्फं* पुष्पं सेवत्रीपुष्पं करणबीजपूरपुष्पं। *पत्तादि* नागवल्लीदलं। *किंचि सच्चित्तं* किमपि [1]ऐर्वारादिकं। *असिऊण माणगव्वे* अशित्वा भक्षयित्वा मानेन मान्यतया गर्वे सति। *भमिओसि अणंतसंसारे* भ्रमितस्त्वं हे जीव! अनन्तसंसारे अपर्यन्तभवसंकटे इति भावः।

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावंति ॥ १०२ ॥

हे आत्मन्! मैं बड़ा हूं लोकमान्य हूं, सब कुछ खा सकता हूं इस प्रकारके गर्वमें आकर तूने भक्ष्य अभक्ष्यका विचार किये विना उक्त वस्तुओं को खाकर अनन्त स्थावर अथवा अनेक त्रस जीवोंका घात किया है उसीके फलस्वरूप तू अनन्त संसार में भटक रहा है। तू ने यह सब पहले अज्ञान दशा में किया है परन्तु अब तुझे विवेक जागृत हुआ है इसलिये उस ओरसे अपनी प्रवृत्ति हटा॥ १०१॥

(अन्य मतावलम्बी साधुओं में जमीकन्द आदि खाकर रहना तपस्या का अङ्ग माना जाता है उसका निराकरण करते हुए यहां कहा गया है कि जिन चीजों के खाने में अनन्त जीवोंका विघात होता है वे तपस्या के अङ्ग नहीं हो सकते। जैन शास्त्रोंमें अभक्ष्य पदार्थोंके पांच विभाग किये किये हैं—१ जिनके खाने में अनन्तानन्त स्थावर जीवोंका विघात होता है (२) जिनके खाने में त्रस जीवोंका विघात होता है (३) जो प्रमाद नशा उत्पन्न करने वाली हों (४) जो शरीर की प्रकृतिके अनुकूल न होनेसे अनिष्ट हों और (५) जो कुलीन मनुष्यों के सेवन करने योग्य न होने से अनुपसेव्य हों। जैन मुनि अथवा जैन व्रती श्रावकके इन पांचों प्रकार के अभक्ष्यों का जीवन पर्यन्त के लिये त्याग रहता है और भक्ष्य पदार्थों का भी वे सचित्त अवस्था में सेवन नहीं करते। जैन मुनि अथवा श्रावक का लक्ष्य रहता है कि अपना पेट भरने के लिये दूसरे जीवोंको बाधा न दी जावे। यह भाव तब तक प्रकट नहीं होता जब तक कि जीवोंकी नाना जातियों का ज्ञान और अपने हृदय में उनकी रक्षाका अभिप्राय जागृत नहीं होता।)

गाथार्थ—हे जीव! तू मन वचन काय रूप तीनों योगोंसे पांच प्रकारकी विनय का पालन कर क्योंकि विनय-रहित मनुष्य तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धरूप अभ्युदय और मुक्ति को प्राप्त नही होते हैं॥ १०२॥

१—ऐर्वारिकं क० वालुका (क० टि०) ककड़ी इति हिन्दी।

विनयं पंचप्रकारं पालय मनोवचनकाययोगेन ।

अविनतनराः सुविहितां ततो मुक्तिं न प्राप्नुवन्ति ॥

विणयं पंचपयारं विनयं यथायोग्यं करयोटन-पादपतन-अभ्युत्थानस्वागत-भाषणादिकं पंचप्रकारं ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च विनयं विनीतत्वं, उपचारलक्षणं पंचमं विनयं । हे आत्मन् ! हे मुने हे जीव ! हे आसन्नभव्य ! सर्वोपकारिस्त्वं । *पालहिं* प्रतिपालय कुर्विति । *मनवयणकायजोएण* मनोवचन-काययोगेन आत्मव्यापारेण *अविणयणरा सुविहियं* अविनयनरा अविनतनरा वा सुविहितां तीर्थंकरनाम-कर्मपूर्वकबन्धविशिष्टां । *तत्तो मुत्तिं न पावंति* ततः कारणान्मुक्तिं सर्वकर्मक्षयलक्षणोपलक्षितां न प्राप्नुवन्ति नैव लभन्ते ।

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि ।

तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥ १०३ ॥

निजशक्त्या महायशः ! भक्तिरागेण नित्यकाले ।

त्वं कुरु जिनभक्तिपरं वैयावृत्यं दशविकल्पम् ॥

णियसत्तीए महाजस एकारस्योच्चारलाघवादत्र पादे द्वादशैव मात्रा वेदितव्याः । अन्यथा त्रयोदशमात्रासद्भावाद्गाथाछन्दोभंगः स्यात् ।

विशेषार्थ—ज्ञान दर्शन, चारित्र, तप और उपचार के भेदसे विनयके पांच भेद हैं। पूज्य पुरुषों के प्रति यथा-योग्य हाथ जोड़ना, उनके पैरों में पड़ना, उन्हें आते देख उठकर खड़े होना, तथा 'भले पधारे' आदि स्वागत के शब्द कहना ये सब विनय के प्रकार हैं। हे निकट भव्य ! तू मन वचन कायसे विनयके इन सब भेदोंका अच्छी तरह पालन कर विनय का बड़ा माहात्म्य है। विनय—सम्पन्नता तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका कारण है और जो तीर्थंकर हो गया वह मुक्तिको अवश्य ही प्राप्त होता है इस प्रकार विनय अभ्युदय और मोक्ष दोनोंका कारण है इसके विपरीत विनय रहित मनुष्य न सांसारिक अभ्युदय को प्राप्त होते हैं और न मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥ १०२ ॥

गाथार्थ—हे महायश ! तू अपनी शक्तिके अनुसार भक्ति के रागसे निरन्तर जिन-भक्तिमें उत्कृष्ट दश प्रकार का वैयावृत्य कर ॥ १०३ ॥

विशेषार्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सङ्घ, साधु और मनोज्ञके भेदसे मुनियोंके दश भेद हैं। इन दश प्रकारके मुनियोंकी वैयावृत्य करना दश प्रकारका वैयावृत्य है। यह वैयावृत्य जिनभक्ति में उत्कृष्ट है इसलिये हे महायश के धारक मुने ! तू अपनी शक्ति-अनुसार भक्ति-पूर्वक दश प्रकारकी वैयावृत्यको निरन्तर कर।

तदुक्तं प्राकृतव्याकरणे—

"उच्चारलघुत्वमेदोतोर्व्यंजनस्थयोः"

निजशक्त्या हे महायशः ! । *भत्तीराएण णिच्चकालम्मि* भक्तिरागेण नित्यकाले । तं कुण त्वं कुरु । *जिणभत्तिपरं* जिनभक्तौ परमुत्कृष्टं । *विज्जावच्चं* वैयावृत्यं । *दसवियप्पं* दशविकल्पं दशभेदं आचार्यादीनां पूर्वोक्तानाम् ।

जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेण ।

तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण¹ ॥ १०४ ॥

यः कश्चित् कृतो दोषः मनवचनकायैः अशुभभावेन ।

तं गर्ह गुरुसकाशे गारवं मायां च मुक्त्वा ॥

जं किंचि कयं दोसं यः कश्चित्कृतो दोषः व्रतादिष्वतीचारः । *मणवयकाएहिं असुहभावेण* मनोवचकायैरशुभभावेन रागद्वेषमोहादिदुष्परिणामेन । *तं* दोषमतीचारादिकं, गर्ह-प्रकाशय । *गुरुसयासे* गुरु-

---

गाथाके प्रथम पाद में 'णियमत्तीए' में एकारका उच्चारण लघुरूप होनेसे बारह मात्राएं जानना चाहिये अन्यथा संस्कृत की तरह एकारका मात्र दीर्घोच्चारण मानने से तेरह मात्राएं हो जावेंगी और उस दशा में छन्दोभङ्ग हो जावेगा क्योंकि आर्या या गाथा छन्दके प्रथम पादमे बारह मात्राए होती हैं प्राकृत व्याकरणका सूत्र भी है—

उच्चार—व्यञ्जनस्थ एकार और ओकार के उच्चारण में लघुत्व होता है ॥१०३॥

गाथार्थ—हे मुने ! तूने अशुभ भावसे मन वचन कायके द्वारा जो कोई दोष किया हो उसकी गारव और मायाको छोड़ कर गुरुके समीप गर्हा कर—आलोचना कर ॥ १०४॥

विशेषार्थ—राग, द्वेष, मोह आदि खोटे परिणाम को अशुभ भाव कहते हैं हे मुने ! अशुभ भावसे प्रेरित होकर यदि मन वचन और काय से तूने कोई दोष किया है अर्थात् अपने गृहीत व्रतमें अतिचार लगाया है तो उसे गुरुके पादमूल में रस ऋद्धि, शब्द- और सातके भेदसे चार प्रकार के गर्व का तथा मायाचारको छोड़ कर प्रकट कर—उनकी आलोचना कर । भगवती आराधना में जो आकम्पित आदि आलोचना के दश दोष बत-

---

१—'तुमत्तुआणतूणाइत्वतुष्कं क्त्वायाः' । इत्यनेन मोत्तूण इत्यत्र क्त्वायाः तूणादेशः ।

२—अन्यत्र त्रीणि गारवाणि प्रसिद्धानि प्रथममृद्धिगारवं शिक्षादीक्षाविसामग्री मम बह्वी वर्तते नान्यमीषां यतीनाम् । द्वितीयं शब्दगारवं अहं वर्णोच्चारं रुचिरं करोमि वा जानामि नान्ये यतयः । तृतीयं सातगारवं अहं यतिरपि सन् इन्द्रसुखं तीर्थंकरसुखं भुञ्जामो वर्तं नत्विमे यतयस्तपस्विनो वराकाः (क० टि०)

सकाशे गुरुपार्श्वे आचार्यबालाचार्यपादमूले । *गारव मायं च मोत्तूण* गारवं ऋरसर्द्धिशब्दसातगर्वं मुक्त्वा, मायां च मुक्त्वा कपटं परिहृत्य । आलोचनादशदोषान् भगवत्याराधनाकथितान् विहाय । तदुक्तं—

आकंपिय अणुमाणिय, जं दिट्ठं बादरं च सुहमं च ।
छन्नं सद्दाउलयं, बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥

दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा ।
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा ॥ १०५ ॥

दुर्जनवचनचपेटां निष्ठुरकटुकं सहन्ते सत्पुरुषाः ।
कर्ममलनाशनार्थं भावेन च निर्ममाः श्रवणाः ॥

दुज्जणवयणचडक्कं दुर्जनानां गुरुदेवनिन्दकानां मिथ्यादृष्टीनां नामश्रावकाणां च वचनमेव चपेटा तां । कथभूतां, *णिट्ठुरकडुयं* निष्ठुरा-निर्दया, कटुका-कर्णशूलप्राया निष्ठुरकटुका तां निष्ठुरकटुकां । *सहंति सप्पुरिसा* सहन्ते सत्पुरुषा महामुनयो दिगम्बराः सद्दृष्टयो गृहस्थाश्च । किमर्थं सहन्ते ? *कम्मलणासणट्ठं* कर्माणि ज्ञानावरणादीनि मलानि-अतिचाराश्च तेषां नाशनार्थं क्षयार्थं परमनिर्वाणप्राप्त्यर्थं च । *भावेण य णिम्ममा सवणा* भावेन जिनसम्यक्त्ववासनया निर्ममा ममेत्यकारान्तमव्ययशब्दः ममत्वरहिताः श्रवणा दिगम्बरा

लगे हैं उन्हें बचाकर आलोचना करना चाहिये । जैसा कि कहा गया है—

आकंपिय—१ आकम्पित, २ अनुमानित, ३ दृष्ट, ४ वादर, ५ सूक्ष्म, ६ छन्न, ७ शब्दाकुलित, ८ बहुजन, ९ अव्यक्त और १० तत्सेवी ये आलोचनाके दश दोष हैं । इनका स्वरूप पहले कहा जा चुका है ॥ १०४ ॥

गाथार्थ—भाव अर्थात् जिन सम्यक्त्वकी वासना से निर्ममता को प्राप्त हुए सत्पुरुष दिगम्बर महामुनि, कर्म-रूपी मल अथवा ज्ञानावरणादि कर्म और अतिचार रूपी मलको नष्ट करनेके लिये दुर्जनोंके निर्दयतापूर्ण कठोर वचनरूप थपेड़ोंको सहन करते हैं ॥१०५

विशेषार्थ—गुरु और देवकी निन्दा करने वाले दुष्ट मिथ्यादृष्टि तथा नाम मात्रके श्रावक अत्यन्त कठोर शब्दों द्वारा मुनियों की निन्दा करते हैं । उनके वे निर्दयता-पूर्ण शब्द कानों में शूल की तरह चुभते हैं तो भी दिगम्बर महामुनि अथवा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अपने कर्म मलको नष्ट करने के लिये उन्हें शान्त भावसे सहते हैं, चित्त में किसी प्रकारका क्षोभ उत्पन्न नहीं होने देते । उसका कारण है कि वे महामुनि अथवा सम्यग्दृष्टि सत्पुरुष जिनसम्यक्त्व की भावना से इतने निर्ममत्व हो चुकते हैं कि उनका उस ओर लक्ष्य ही नहीं जाता । जिसे अपने महंतपनका गर्व होता है उसे ही दूसरों के कुवचन सुनकर क्रोध

महामुनयः ।

पावं खवइ असेसं खमाए परिमंडिओ य मुणिपवरो ।
खेयरअमरनराणं पसंसणीओ धुवं होइ ॥ १०६ ॥

पापं क्षपयति अशेषं क्षमया परिमण्डितश्च मुनिप्रवरः ।
खेचरामरनराणां प्रशंसनीयो ध्रुवं भवति ॥

पावं खवइ असेसं पापं त्रिषष्टिप्रकृतिलक्षणं क्षिपते अशेषं द्वासप्ततित्रयोदशप्रकृतिरूपमघातिकर्मलक्षणं च प्रकृतिसमुदायं च क्षिपते । कया, *खमाए* क्षमया पार्श्वनाथवत् उत्तमक्षमालक्षणपरिणामेन । *परिमंडियो य* परि समन्तान्मनोवचनकायप्रकारेण मंडितः शोभितश्च । *मुनिपवरो* मुनिप्रवरो मुनीनां श्रेष्ठः । चकार उक्तसमुच्चयार्थः । तेनाऽयोऽपि कोऽपि गृहस्थोऽपि क्षमापरिणामेन स्वर्गं गत्वा पारंपर्येण मोक्षं याति इति ज्ञातव्यं । *खेयरअमरनराणं* खेचराणां विद्याधराणां अमराणां भावनव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनां कल्पातीतानां च, नराणां भूमिगोचरनृपादीनां च । *पसंसणीओ* प्रशंसनीयः स्तवनीयः स्तोतव्यः संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश-सौरसेनी-मागधी-पैशाची-चूलिकापैशाचीबद्धगद्यपद्यानवद्यस्तुतिभिर्विशेषेणाभिवादनीयः *धुवं होइ* ध्रुवं निश्चयेन भवति । अत्र संदेहो नास्ति । क्षमावान् मुनिस्तीर्थंकरो भवतीति भावार्थः ।

उत्पन्न होता है परन्तु जो महन्तपनेसे सर्वथा ममकार—ममताभाव छोड़ चुकता है उसे क्रोध उत्पन्न होनेका अवसर नहीं आता ॥१०५॥

गाथार्थ—क्षमा से सुशोभित श्रेष्ठ मुनि समस्त पापोंका क्षय करता है और विद्याधर देव तथा मनुष्यों में निश्चय से प्रशंसनीय होता है ॥१०६॥

विशेषार्थ—जो श्रेष्ठ मुनि श्रीपार्श्वनाथ भगवान् के समान उत्तम क्षमा रूप परिणाम से परिमण्डित है अर्थात् मन वचन काय सम्बन्धी तीन प्रकार की क्षमा से सुशोभित है वह मुनि अवस्था में त्रेसठ कर्म प्रकृति रूप पापका क्षय करता है और अरहन्त अवस्था में चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में बहत्तर तथा अन्त समय में तेरह कर्म प्रकृति रूप पापको नष्ट करता है तथा समस्त विद्याधर, चतुर्णिकाय के देव और भूमिगोचरी मनुष्यों में संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं में निबद्ध गद्य पद्य रूप निर्दोष स्तुतियों के द्वारा प्रशंसनीय होता है। तात्पर्य यह है कि क्षमावान् मनुष्य तीर्थंकर होता है। परिमंडिओ य (परिमण्डितश्च) यहां जो 'च' शब्द आया है उससे यह सूचित होता है कि यदि कोई गृहस्थ भी क्षमाभाव धारण करता है तो वह भी उस क्षमाभाव से स्वर्ग जाकर परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होता है ॥१०६॥

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं ।
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह ॥१०७॥

इति ज्ञात्वा क्षमागुण ! क्षमस्व त्रिविधेन सकलजीवान् ।
चिरसंचितक्रोधशिखिनं वरक्षमासलिलेन सिञ्च ॥

इय णाऊण इति पूर्वोक्ततीर्थंकरपदप्रापकं क्षमाफलं ज्ञात्वा विज्ञाय । *खमागुण* हे क्षमागुण ! चतुरशीतिशतसहस्रगुणानां मध्ये प्रधानक्षमागुण हे मुने ! । *खमेहि* क्षमस्व । *तिविहेण* मनोवचनकायलक्षणत्रिप्रकारेण । *सयलजीवाणं* सकलजीवान् एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तान् । *चिरसंचियकोहसिहिं* चिरं दीर्घकालं संचितः पुष्टितः पुष्टिं नीतः क्रोध एव शिखी वैश्वानरः दाहसन्तापकारकत्वात् तं क्रोधशिखिनं कोपाग्निं । *वरखमसलिलेण सिंचेह* वरा उत्तमा क्षमा सर्वसहनधर्मः सैव सलिलं पानीयमुदकं आयुःस्थिरीकरणमनःप्रसादजनकत्वात् तेन वरक्षमासलिलेन कृत्वा सिंच त्वं विध्यापय । उक्तं च—

[1]आक्रुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः ।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना ॥ १ ॥

[2]चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्या हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्ध्या ।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ॥ २ ॥

गाथार्थ—हे क्षमा गुणके धारक मुने ! इस तरह क्षमाका फल जानकर तुम समस्त जीवोंको मन वचन काय से क्षमा करो और चिर-काल से सञ्चित क्रोध रूपी अग्निको उत्कृष्ट क्षमा रूपी जल से सींचो ॥१०७॥

विशेषार्थ—क्षमा तीर्थंकर पदको प्राप्त कराने वाली है ऐसा जानकर हे क्षमा के धारक मुने ! तुम एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त के समस्त जीवोंको मन वचनकाय से क्षमा करो—कभी किसी के प्रति कलुषित भाव न करो । चिरकाल से संचित की हुई क्रोध रूपी अग्निको तुम क्षमा रूपी जलके द्वारा सींचो । जैसा कि कहा है—

आक्रुष्टोऽहं—दूसरेके द्वारा गाली दिये जानेपर मुनि विचार करते हैं कि इस भाईने मुझे गाली दो है मारा तो नहीं है । पीटे जानेपर विचार करते हैं कि पीटा ही है मेरे दो टुकडे तो नहीं किये अर्थात् मुझ जान से तो नहीं मारा है और मारे जानेपर विचार करते हैं कि मुझे मारा ही है मेरा धर्म तो नहीं नष्ट किया ।

१—यशस्तिलके आक्रुष्टोऽहं म० । २ आत्मानुशासने

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियार दंसणविसुद्धो।
उत्तमबोहिणिमित्तं असारसाराइं मुणिऊण ॥ १०८ ॥

दीक्षाकालादीयं भावय अविचार ! दर्शनविशुद्धः।
उत्तमबोधिनिमित्तं असारसाराणि ज्ञात्वा ॥

दिक्खाकालाईयं दीक्षाकाले खलु जीवस्य परमवैराग्यं भवति, दीक्षाकालं आदिर्यस्य रोगोत्पत्तिप्रभृतिकालस्य स दीक्षाकालादिः दीक्षाकालादौ भवो दीक्षाकाकादीयो भावस्तं दीक्षाकालादीयं निजपरिणामविशेषं हे जीव आत्मन्! हे चैतन्य! हे मुने! त्वं। भावहि—भावय तं परिणामं त्वं स्मर। यद्-हमद्यप्रभृति वनितामुखं न पश्यामि, वनितासु रक्तोऽहमनादिकाले संसारे पर्यटितोऽवाञ्छितमेव दुःखं प्राप्तः, अहर्निशमाकांक्षन्नपि सुखलेशं न लब्धवान्। तदुक्तं—

[1]अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया विकल्पमूढेन भवादितः पुरा।
यदत्र किंचित्सुखलेशमाप्यते तदार्य! विद्ध्यन्धकवर्तकीयकम् ॥ १ ॥

चित्तस्थ—चित्त में स्थित कामको न समझ कर महादेव ने क्रोध-वश बाहर स्थित किसी पदार्थको काम समझ जला दिया। पीछे उसी कामके द्वारा की हुई भयंकर दुर्दशाको प्राप्त हुए। सो ठीक ही है क्योंकि क्रोध से किस की कार्य-हानि नहीं होती?

गाथार्थ—हे विचारहीन! साधो! तू उत्तम रत्नत्रय की प्राप्तिके निमित्त असार और सारको जान कर सम्यग्दर्शन से विशुद्ध होता हुआ दीक्षा आदिके समय होनेवाले भावका स्मरण कर ॥ १०८ ॥

विशेषार्थ—दीक्षा लेते समय इस जीवके परिणामों में बड़ी निर्मलता होती है। उस समय यह सोचता है कि आजसे लेकर अब मैं स्त्रीका मुख नहीं देखूंगा क्योंकि स्त्रियों में रागी होकर ही मैं अनादि कालसे संसारमें भ्रमण करता हुआ अनचाहे दुःखोंको प्राप्त हुआ हूं और निरन्तर चाहता हुआ भी सुखके अंश मात्रको नहीं प्राप्त हो सका हूं जैसा कि कहा है—

अजा—हे आत्मन्! तू ने विकल्पों में मूढ होकर जन्मके प्रारम्भ से ही पहले अजाकृपाणीय न्याय का अनुसरण किया है अर्थात् जिस प्रकार कोई हिंसक अजा बकरी को मारनेके लिये शस्त्र खोज रहा था परन्तु शस्त्रके न मिलनेसे विवश था। इसी बीचमें

१—आत्मानुशासने।

अन्यच्च—

[1]संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलं
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ।
[2]तत्तावत् स्मर स्मरस्मित[3]सितापाङ्गैरनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ॥ १ ॥
आतङ्कपावकशिखाः सरसावलेखाः
स्वस्थे मनाङ्मनसि ते लघु विस्मरन्ति ।
तत्कालजातमतिविस्फुरितानि पश्चा—
उजीवान्यथा यदि भवन्ति कुतोऽप्रियं ते ॥ १ ॥

उस बकरी ने अपने पैरोंसे धूलि हटाकर उसमें छिपी तलवारको प्रकट कर दिया और उस तलवारसे हिंसक ने बकरीका घात कर दिया। सो जिस प्रकार बकरीका प्रयास उसीका घात करने वाला हुआ उसी प्रकार इस जीवका भोगोपभोगकी सामग्रीको एकत्रित करनेका प्रयास उसे ही कुगति में डालने वाला होता है। हे आर्य ! इस संसार में प्रथम तो सुख है ही नहीं, फिर भी जो कुछ सुखका अंश प्राप्त होता है उसे अन्धक-वर्तकीय न्याय समझ अर्थात् जिस प्रकार अन्धे मनुष्य के हाथ अकस्मात् बटेर लग जाती है उसी तरह इस जीवको अकस्मात् कुछ सुखका अंश प्राप्त हो जाता है। तेरे पुरुषार्थसे प्राप्त नहीं होता है १

और भी कहा है—

संसारे—संसारके मध्य नरकादि गतियोंमें जो तू ने ऐसे ऐसे दुःख कि जो स्मरण में आते ही अत्यन्त उद्वेग करने लगते हैं, भोगे हैं वे यों हो रहें उनकी चर्चा छोड़ अभी तू उसी एक दुःखका स्मरण कर जो तूने निर्धन अवस्था में कामकी वाधा से युक्त स्त्रियों की मन्दमुसकान और शुक्लकटाक्ष रूपी कामके शस्त्रों द्वारा हिमसे दग्ध–तुषारसे शोभित बाल वृक्षकी तरह प्राप्त किया है ॥ १ ॥

आतङ्क—हे जीव ! मन के कुछ स्वस्थ होते ही तू दुःख रूपी अग्नि की लपलपाती ज्वालाओं को शीघ्र भूल जाता है। दुःखके समय तेरी बुद्धि में जो सद्विचार प्रस्फुरित हुए थे वे यदि पीछे भी–दुःख दूर हो जाने के वाद भी स्थिर रहते तो तुझे दुःख होता ही कैसे ? ॥ १ ॥

इस प्रकार दीक्षा लेते समय, दरिद्रता के समय अथवा रोग आदिके समय यह जीव जिन धर्म रूप परिणामोंका आश्रय लेता है पीछे चलकर उन परिणामों को भुला देता है

१—आत्मानुशासने। २—तत्तावत्स्मरसि म०। ३—सिता० म०।

भावहि अवियार दंसणविसुद्धो दीक्षाकाले दारिद्र्यकाले रोगादिकाले च ये भावास्त्वया भाविता धर्माश्रयणपरिणामास्तान् भावान् हे जीव ! सदाकालमपि त्वं भावय, हे अवियार—हे अविचार निर्विवेकजीव ! । अथवा हे अविकार रागद्वेषमोहादिदुष्परिणामवर्जितजीव ! । कथंभूतः सन् भावय, दंसणविसुद्धो—सम्यक्त्वकौस्तुभशोभितनिर्मलहृदयः सन् भावय । अथवा *अवियारदंसणविसुद्धो* इत्येकमेव पदं । तत्रायमर्थः—अविकारं पंचविंशतिदोषरहितं यद्दर्शनं सम्यक्त्वरत्नं तेन विशुद्धोऽनन्तभवपापरहितः । किमर्थं भावय, *उत्तमबोहिनिमित्तं* उत्तमा गणधरचक्रधरकुलिशधरभव्यवरपुण्डरीकैः पूज्यत्वात् उत्तमा चासौ बोधिः तन्निमित्तं उत्तमबोधिनिमित्तं । *असारसाराइ मुणिऊण* असाराणि साराणि च मुनित्वा ज्ञात्वा । उक्तं च—

अथिरेण थिरामलिणेण निम्मला निग्गुणेण गुणसारा ।
काएण जा विढप्पइ सा किरिया किं न कायव्वा ॥ १ ॥

और विचार-शून्य होकर पुनः विषयों की ओर आकृष्ट होने लगता है । आचार्य ऐसे ही जीवोंको संबोधते हुए कहते हैं कि हे अविवेकी जीव ! यदि तू उत्तम रत्नत्रय प्राप्त करना चाहता है तो अपने विवेक को तिलाञ्जलि न दे । उस विवेक के द्वारा तू सार—श्रेष्ठ और असार अश्रेष्ठ वस्तुओं का निर्धार कर, सम्यग्दर्शन को शुद्ध रख तथा दीक्षा आदिके समय होने वाले सद्विचारोंका स्मरण कर—उन्हें भूल मत जा ।

गाथा में आये हुए 'अवियार' इस प्राकृत शब्दकी संस्कृत छाया 'अविचार' और अविकार दोनों हो सकती हैं । ऊपर 'अविचार' छायाको स्वीकृत कर अर्थ किया है, 'अविकार' छायाके पक्ष में अर्थ होता है—हे रागद्वेष मोह आदि खोटे परिणामोंसे रहित जीव अथवा 'अवियार' पदको सम्बोधनान्त पृथक् पद न मानकर 'अवियार दंसण विसुद्धो' इस तरह एक ही समस्त पद मानना चाहिये । इस पक्ष में अवियार शब्द जीवका सम्बोधन न होकर दर्शनका विशेषण हो जाता है और तब 'अवियार दंसण विसुद्धो' पदका अर्थ होता है पच्चीस दोष रहित सम्यग्दर्शन से शोभित होता हुआ । सम्यग्दृष्टि मनुष्य को असार तथा सार वस्तु की परख कर सार वस्तुको प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये । जैसा कि कहा है—

अथिरेण—यदि अस्थिर शरीर से स्थिर, मलिन से निर्मल और निर्गुणसे सगुण क्रिया की जाती है तो उसे क्या नहीं करना चाहिये ? अर्थात् अवश्य करना चाहिये । यह शरीर यद्यपि अस्थिर, मलिन और निर्गुण है तथापि इससे रत्नत्रय की प्राप्ति कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है । वह मोक्ष जो कि स्थिर, निर्मल और अनन्त गुणों से श्रेष्ट है, आगे क्या असार है ? और क्या सार है ? इसकी चर्चा संस्कृत टीका-कारने विस्तार

अनालोचितं असारं, आलोचितं सारं। परनिन्दा असारं, निजनिन्दा सारं। आत्मदोषाणां गुरोरग्रेऽप्रकथनं असारं, गुर्वग्रे निजदोषकथनं सारं, अप्रतिक्रमणं असारं। विराधनं असारं, आराधनं सारं। अज्ञानं असारं, सम्यग्ज्ञानं सारं। मिथ्यादर्शनं असारं, सम्यग्दर्शनं सारं। कुचरित्रं असारं, सच्चरित्रं सारं। कुतपः असारं, सुतपः सारं। अकृत्यं असारं, कृत्यं सारं। प्राणातिपातोऽसारं, अभयदानं सारं। मृषावादोऽसारः, सत्यं सारं। अदत्तादानं असारं, दत्तं कल्प्यं च सारं। मैथुनं असारं, ब्रह्मचर्यं सारं। परिग्रहोऽसारं, नैर्ग्रन्थ्यं सारं। रात्रिभोजनमसारं, दिवाभोजनमेकभक्तं प्रत्युत्पन्नं प्रासुकं सारं। आर्त्तरौद्रध्यानमसारं, धर्म्यं शुक्लध्यानं सारं। कृष्णनीलकपोतलेश्या असारं, तेजःपद्मशुक्ललेश्याः सारं। आरंभोऽसारं, अनारंभः सारं। असंयमोऽसारं, संयमः सारं। सग्रन्थोऽसारं, निर्ग्रन्थः सारं। अचेलोऽसारं निश्चेलः सारं। अलोचोऽसारं, लोचः सारं। स्नानं असारं, अस्नानं मलधारणं सारं। अभूमिशयनं असारं भूमिशयनं सारं। दन्तधावनं असारं, अदन्तघर्षणं सारं। उपविश्य भोजनं असारं, उद्भभोजनं सारं। भाजने भोजनं असारं, पाणिपात्रे भोजनं सारं। क्रोधोऽसारं, क्षमा सारं। मानोऽसारं, मार्दवं सारं।

से की है जो इस प्रकार है–

आलोचना नहीं करना असार है, आलोचना करना सार है। परनिन्दा करना असार है, निज निन्दा करना सार है। गुरुके आगे अपने दोषोंका नहीं कहना असार है, गुरुके आगे अपने दोष कहना सार है। प्रतिक्रमण नहीं करना असार है, प्रतिक्रमण करना सार है। विराधना करना–गृहीत व्रत में दोष लगाना असार है, आराधना करना–व्रतका निर्दोष पालन करना सार है। अज्ञान असार है, सम्यग्ज्ञान सार है। मिथ्यादर्शन असार है, सम्यग्दर्शन सार है। मिथ्याचारित्र असार है, सम्यक्चारित्र सार है। कुतप असार है, सुतप सार है। अकृत्य–अयोग्य कार्य असार है, कृत्य–योग्य कार्य सार है। प्राण घात असार है, अभय दान सार है। असत्य भाषण असार है, सत्य भाषण सार है, अदत्त वस्तु का ग्रहण करना असार है, योग्य दी हुई वस्तुका स्वीकार करना सार है। मैथुन असार है, ब्रह्मचर्य सार है। परिग्रह असार है, निर्ग्रन्थपना सार है। रात्रिभोजन असार है, दिनमें एकवार प्रासुक भोजन करना सार है। आर्त्त रौद्र ध्यान असार हैं, धर्म्य और शुक्लध्यान सार हैं। कृष्ण नील और कापोत लेश्या असार है, तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या सार है। आरम्भ असार है, अनारम्भ सार है। असंयम असार है, संयम सार है। परिग्रहवान् असार है, परिग्रह रहित सार है। वस्त्र सहित असार है, वस्त्र रहित सार है। केशलोंच नहीं करना असार है, केशलोंच करना सार है। स्नान असार है, अस्नान अर्थात् मल धारण करना सार है। पृथिवी पर नहीं सोना असार है, पृथिवी पर सोना सार है। दांतौन करना असार है, दांतौन नहीं घिसना सार है। बैठकर आहार करना असार है, खड़े खड़े, आहार

मायाऽसारं, आर्जवं सारं । लोभोऽसारं, सन्तोषः सारं । अतपोऽसारं, द्वादशविधं तपः सारं । मिथ्यात्वं असारं, सम्यक्त्वं सारं । अशीलं असारं, शीलं सारं । सशल्योऽसारं, निःशल्यः सारं । अविनयाऽसारं विनयः सारं । अनाचाराऽसारं, आचारः सारं । उन्मार्गोऽसारं जिनमार्गः सारं । अक्षमा असारं, क्षमा सारं । अगुप्तिः असारं, गुप्तिः सारं । अमुक्तः असारं, मुक्तिः सारं । असमाधिः असारं, समाधिः सारं । ममत्वं असारं, निर्ममत्वं सारं । यद्भावितं तदसारं, यन्न भावितं तत्सारं । इति सारासाराणि ज्ञातव्यानि ।

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो ।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥१०९॥

सेवस्व चतुर्विधलिङ्गं अभ्यंतरलिङ्गशुद्धिमापन्नः ।
बाह्यलिङ्गमकार्यं भवति स्फटं भावरहितानां ॥

सेवहि चउविहलिंगं सेवस्व हे मुने ! चतुर्विधं लिंगं शिरःकेशमुखश्मश्रुलोचोऽधःकेशरक्षणं चतुर्विधमिदं लिंगं पिच्छकुण्डीद्वयग्रहः । *अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो* अभ्यन्तरलिंगं जिनसम्यक्त्वं तस्य शुद्धि–

करना सार है । पात्रमें भोजन करना असार है, हस्त-रूपी पात्रमें भोजन करना सार है । क्रोध असार है, क्षमा सार है । मान असार है, मार्दव धर्म सार है । माया असार है, आर्जव सार है । लोभ असार है, संतोष सार है । अतप असार है, बारह प्रकारका तप सार है । मिथ्यात्व असार है, सम्यक्त्व सार है । अशील असार है, शील सार है । शल्य सहित होना असार है शल्य रहित होना सार है । अविनय असार है, विनय सार है । अनाचार असार है, आचार सार है । मिथ्यामार्ग असार है, जिनमार्ग सार है । अक्षमा असार है क्षमा सार है । अगुप्ति असार है, गुप्ति सार है । अमुक्ति संसार असार है, मुक्ति सार है । असमाधि असार है, समाधि सार है । ममत्व असार है, निर्ममत्व सार है । जिस विषय सुखका उपभोग किया है वह असार है और जिसका उपभोग नहीं किया वह सार है । इस प्रकार सार असारके स्वरूपको जानना चाहिये ॥१०८॥

गाथार्थ—हे मुने ! तू भावलिङ्ग की शुद्धिको प्राप्त होता हुआ बाह्य चार प्रकार के लिङ्ग को धारण कर । भाव रहित मुनियों का द्रव्य लिङ्ग निश्चित ही अकार्य–कर है–मोक्ष दायक नहीं है ॥१०९॥

विशेषार्थ—अभ्यन्तर लिङ्गका अर्थ जिन-सम्यक्त्व है, मुनिको सर्व प्रथम उसकी संभाल करना चाहिये । पश्चात् भाव शुद्धि पूर्वक चार प्रकारका बाह्य लिङ्ग धारण करना चाहिये । १ शिरके केशलोंच करना २ डाड़ीके केशलोंच करना ३ मूछके केशलोंच करना और ४ नीचे के केश रखना अर्थात् उनका लोच नहीं करना यह चार प्रकार का बाह्य

मापन्नः प्राप्तः । *बाहिरलिंगमकज्जं* बहिर्लिंगं पूर्वोक्तं चतुर्विधलिंगमकार्यं मोक्षदायकं न भवति । *होइ फुडं भावरहियाणं* अकार्यं भवति स्फुटमिति निश्चयेन भावरहितानां मिथ्यादृष्टीनां दिगम्बराणां ।

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुम ।

भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥ ११० ॥

आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाभिः मोहितोसि त्वम् ।

भ्रमितः संसारवने अनादिकालमनात्मवशः ॥

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओ स तुम आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाभिर्मोहित आत्मरूपाच्चलितः प्रचलितः प्रच्युतः, असि—भवसि, त्वं हे जीव । *भमिओ संसारवणे* भ्रान्तः पर्यटितस्त्वं संसारवने नरकतिर्यक्कुमनुष्यकुत्सितदेवगहने । *अणाइकालं* अनादिकालं पूर्वकाले । *अणप्पवसो* अनात्मवशः न आत्मा मनो वशे यस्य सोऽनात्मवशः विषयकषायान्यायरञ्जितहृदय इत्यर्थः ॥

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि ।

पालहि भावविसुद्धो पूयालाहं न ईहंतो । १११ ॥

लिङ्ग है । पीछी कमण्डलु धारण करना भी बाह्य लिङ्ग है । भाव-रहित अर्थात् मिथ्या-दृष्टि मुनियोंका बाह्य लिङ्ग निश्चय से अकार्यकर है अर्थात् मोक्षको देने वाला नहीं है । यद्यपि द्रव्यलिङ्गी मुनि नव ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं तथापि देव पद पाना मुनिका लक्ष्य न होनेसे उसकी यहां विवक्षा नहीं की गई है ॥ १०९ ॥

गाथार्थ—हे जीव ! तू आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंसे मोहित हो पराधीन हुआ संसार रूपी अटवी में अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है ॥ १० ॥

विशेषार्थ—संज्ञाका अर्थ अभिलाषा है । ये अभिलाषाएं आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के भेदसे चार प्रकार की हैं । इनसे मोहित हुआ जीव स्व स्वरूप से च्युत होकर बाह्य पदार्थों में रमने को इच्छा करने लगता है । इनसे पीड़ित हुए जीवका मन स्वाधीन नहीं रहता किन्तु विषय कषाय और अन्याय से अनुरञ्जित होकर पराधीन हो जाता है । यहां आचार्य, मुनिको संबोधते हुए कहते हैं कि हे मुने ! इन संज्ञाओंके चक्रमें पड़कर तूने अनादि कालसे नरक तिर्यञ्च कुमनुष्य और नीच देव गति रूपो बीहड़ अटवो में परिभ्रमण किया है अब तेरी मुनि अवस्था है अतः उनकी ओरसे सर्वथा मनकी प्रवृत्ति को दूर हटा ॥ ११० ॥

गाथार्थ—हे साधो ! तू भावसे शुद्ध होता हुआ ख्याति, लाभ आदि की इच्छा न

बहिःशयनातपनतरुमूलादीन् उत्तरगुणाणि ।
पालय भावविशुद्धः पूजालाभं अनीहमानः ॥

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि बहिःशयनातपनतरुमूलादीन् उत्तरगुणान् पालयेति सम्बन्धः । शीतकालेऽनावृतस्थाने स्थितिं कुरु । उष्णकाले आतपनयोगं धर । वर्षाकाले तरुमूले तिष्ठ । वृक्षपर्णोपरि पतित्वा यज्जलं यत्युपरि पतति तस्य प्रासुकत्वाद्विराधनाऽप्कायिकानां जीवानां न भवति द्विगुणवर्षाकष्टं च भवतीति कारणात् वर्षाकाले तरुमूलस्थितरुपयोगः, अन्यथा कातरत्वप्रसक्तेः । एते त्रयोऽपि योगा उत्तरगुणाः कथ्यन्ते । *पालहिं भावविसुद्धो* (पालय भावविशुद्धः) तत्वभावनानिर्मलमनाः सन्निति भावः । *पूयालाहं नईहंतो* पूजालाभख्यात्यादिकमनीहमानोऽनिच्छन्निति शेषः ।

भावहि पढमं तच्चं बिदियं तदियं चउत्थपंचमयं ।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥ ११२ ॥

भावय प्रथमं तत्वं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थपञ्चमकम् ।
त्रिकरणशुद्धः आत्मानं अनादिनिधनं त्रिवर्गहरम् ॥

कर, बाह्यशयन आतापन योग और वृक्ष मूल निवास आदि गुणोंका पालन कर ॥ १११ ॥

विशेषार्थ—शीत कालमें खुले स्थान पर शयन करना अभ्रवास योग है उष्ण कालमें पर्वतकी शिखर आदि संतप्त स्थानों पर बैठकर ध्यान करना आतापन योग है और वर्षाकाल में वृक्षके नीचे बैठकर ध्यान करना वर्षायोग है । वृक्षके नीचे बैठने पर मुनिके शरीर पर जो पानीकी बूंदें पड़ती हैं वे प्रासुक होती हैं अतः उससे जल-कायिक जीवोंका विघात नहीं होता तथा थोड़ा थोड़ा पानी पड़नेसे वर्षाका कष्ट दूना होता है इसलिये वर्षाकाल में वृक्षके नीचे बैठकर वर्षायोग करने की विधि है अन्यथा मुनिके कातर-पनेका प्रसङ्ग आता है । ये तीनों योग उत्तर गुण कहलाते हैं । हे मुने ! पूजा लाभ—लौकिक मान प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा न रखता हुआ तू विशुद्ध भावसे इन उत्तर गुणोंका पालन कर ।

गाथार्थ—हे जीव ! तू प्रथम-तत्व—जीव, द्वितीयतत्व—अजीव, तृतीयतत्व—आस्रव चतुर्थ तत्व—बन्ध, पञ्चमतत्व-संवर, षष्ठ तत्व-निर्जरा और सप्तमतत्व-मोक्ष इन सात तत्वोंकी श्रद्धा कर तथा मन वचन कायसे शुद्ध होता हुआ, धर्म अर्थ एवं काम रूप त्रिवर्ग को हरने वाले—मोक्ष स्वरूप अनादि निधन आत्मा का ध्यान कर ॥ ११२ ॥

विशेषार्थ—यहां आचार्य ने गाथाके पूर्वार्धमें सम्यग्दृष्टि जीवकी बहिर्मुखी प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि तू जीव अजीव आदि सात तत्वोंकी भावना कर और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए उत्तरार्ध में कहा है कि तू मन वचन कायसे शुद्ध

भावहि पढमं तच्चं भावय हे जीव ! त्वं श्रद्धेहि, किं तत् ? प्रथमं तत्वं जीवतत्वं । *बिदियं* द्वितीयं तत्वमजीवसंज्ञं पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशलक्षणं *तदियं* तृतीयं तत्वं आस्रवनामधेयं । *चउत्थपंचमयं* चतुर्थं बन्धनामधेयं. पंचमकं तत्वं संवराभिधानं निर्जरा षष्ठं तत्वं. मोक्षः सप्तमं तत्वं । *तियरणसुद्धो अप्पं* त्रिकरणशुद्धः सन्नात्मानं भावहि भावय, अल्पं वा स्तोककालं अन्तर्मूहूर्तकालं । कथंभूतमात्मानं, *अणाइणिहणं* अनादिनिधनं आद्यन्तरहितं । *तिवग्गहरं* धर्मार्थकामवर्गत्रयवर्जितं सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षसहितं निश्चयात् ।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ।। ११३ ।।

यावन्न भावयति तत्वं यावन्न चिंतयति चिंतनीयानि ।
तावन्न प्राप्नोति जीवः जरमरणविवर्जितं स्थानं ।।

जाव ण भावइ तच्चं यावत्काल न भावयति, किं ? तत्वं सप्तसख्यं जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षलक्षणं, तन्मध्ये निजात्मतत्वं मोक्षकारणं अपरे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा निजात्मा च । अजीवतत्वं पुद्गलो धर्मोऽधर्मः काल आकाशश्च । तत्रच्छस्रग्वनितादिरूपः पुद्गलपर्यायो मोहोत्पादको

होकर अर्थात् तीनों योगों के निमित्तसे होनेवाली बहिर्मुखी प्रवृत्ति से निवृत्त होकर अनादि निधन एक आत्मा की भावना कर । तेरी यह आत्मा धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग से रहित होकर अपवर्ग रूप है–मोक्ष रूप है ।

जिसमें चेतना पाई जाती है वह जीव है । चेतना से रहित अजीव तत्व है इसके पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये पांच भेद हैं । इन पांच भेदों में धर्म अधर्म आकाश और कालसे इस जीवका कुछ अहित नहीं होता परन्तु पुद्गल द्रव्यके भेद कर्मवर्गणा और नो कर्म वर्गणाके संयोगसे इस जीवकी संसार दशा बन रही है । आत्मा और कर्म का संयोग जिन भावों से होता है वह आस्रव है । आत्मा और कर्म--प्रदेशों का क्षीर नीर के समान एक क्षेत्रावगाह होना बन्ध है । नवीन आस्रव का रुक जाना संवर है । सत्ता में स्थित कर्मोंका एकदेश क्षय होना निर्जरा है और समस्त कर्म परमाणुओंका सदा के लिये आत्म-प्रदेशों से सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष है ॥११२॥

गाथार्थ--जब तक यह जीव न तत्व की भावना करता है और न चिन्तनीय पदार्थों का चिन्तवन करता है तब तक जरा और मरण से रहित परम निर्वाण पद को नहीं प्राप्त होता है ॥११३॥

रागजनकः, शस्त्रविषकण्टकशत्रुप्रभृतिर्द्वेषकारकपुद्गलपर्यायः । सोऽप्यास्रवनिमित्तः कर्मबन्धकारणं, शुद्ध-आहारादिर्गृहीतः शुद्धध्यानाध्ययनकारणत्वात् संवरनिर्जराकारणत्वात् सोऽपि मोक्षप्रत्ययः, अशुद्ध आहारो गृहीतः चर्मादिस्पृष्टतया दुर्ध्यानोत्पादकत्वादास्रवबन्धकारणं । इत्यादि पुद्गलस्य हेयोपादेययुक्तितया विचारो ज्ञातव्यः । अथवा पुद्गलद्रव्यमेव जीवस्य बन्धकारणत्वाद्दुःखकारणं परमार्थतया हेय एव । धर्मस्तु नरकादिगतिसहायकारकत्वाद्धेयः स्वर्गमोक्षगतिकारकत्वादुपादेयः । अधर्मस्तु स्वर्गमोक्षस्थानादौ मुनीनां ध्यानाध्ययनादिकाले स्थितिहेतुत्वादुपादेयः । नरकनिकोतादिस्थितिकारणत्वे हेयः । कालस्तु स्वर्गमोक्षादौ वर्तनाप्रत्ययत्वादुपादेयः, नरकादिपर्यायवर्तनाकारणत्वाद्धेयः । आकाशः समवसरणस्वर्गमोक्षादाववकाशदायकगुणत्वादुपादेयः । नरकनिगोदादिस्थानावकाशदानदायकत्वाद्धेयः । निर्निदानविशिष्टनी-

---

विशेषार्थ—तत्व सात हैं–१ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा और मोक्ष । इन सात तत्वों में निज आत्म-तत्व मोक्षका कारण है क्योंकि वही उपादान कारण होनेसे मोक्ष पर्याय रूप परिणमन करता है । निमित्त कारण की अपेक्षा शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव से युक्त अन्य जीव तथा अपनी पूर्व पर्याय गत आत्मा भी मोक्षका कारण है । अजीव तत्वके पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये पाँच भेद हैं । इनमें इष्ट माला तथा स्त्री आदि रूप पुद्गल पर्याय मोहको उत्पन्न करने वाली तथा राग की जनक है और शस्त्र विष कण्टक तथा शत्रु आदि रूप पुद्गल पर्याय द्वेष-जनक है । वह पुद्गल द्रव्य आस्रव का निमित्त तथा कर्म बन्धका कारण है यदि शुद्ध आहार आदि रूप पुद्गल द्रव्य ग्रहण में आता है तो वह शुद्ध ध्यान तथा अध्ययन का कारण होनेसे संवर और निर्जरा का कारण होता है तथा परम्परा से मोक्ष का भी कारण होता है । यदि चमड़े आदिके स्पर्श से दूषित अशुद्ध आहार रूप पुद्गल द्रव्य ग्रहण में आता है तो वह खोटे ध्यानका उत्पादक होनेसे आस्रव और बन्ध का ही कारण होता है । इत्यादि रूप से पुद्गल द्रव्य की हेयता और उपादेयताका विचार करना चाहिये । अथवा परमार्थसे पुद्गल द्रव्य ही बन्ध का कारण होने से जीवके दुःखका कारण है, अतः वह हेय ही है । धर्म द्रव्य नरकादि गतियों की प्राप्ति में सहायता करता है इसलिये हेय है और स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति में सहायक होनेसे उपादेय है अधर्म द्रव्य स्वर्ग तथा मोक्ष सम्बन्धी स्थितिका तथा ध्यान अध्ययन आदिके काल में मुनियों की स्थिति का हेतु होनेसे उपादेय है तथा नरक और निकोत आदि की स्थिति का कारण होनेसे हेय है । काल द्रव्य स्वर्ग और मोक्ष आदि में होनेवाली वर्तनाका कारण होनेसे उपादेय है और नरकादि पर्यायों की वर्तना का कारण

र्थंकरनामकर्मास्रव उपादेयो मोक्षहेतुत्वात् । नरकादिगर्तादिनिपातहेतुत्वादन्य आस्रवो हेयः । तीर्थंकर-नामकर्महेतुश्चतुर्विधोऽपि बन्ध उपादेयः, संसारपर्यटनकारीतरो बन्धो हेयः । संवर उपादेयः । निर्जरा चोपादेया मुनीनां सम्बन्धिनी । मोक्षः सर्वथाप्युपादेयोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयकारणत्वादिति सप्ततत्वानि यावन्न भावयति । *जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं* यावन्न चिन्तयति चिन्तनीयानि धर्म्यशुक्लध्यानानि अनुप्रेक्षादीनि च । *ताव ण पावइ जीवो* तावन्न प्राप्नोति जीव आत्मा । *जरमरणविवज्जियं ठाणं* जरामरणविवर्जितं स्थानं परमनिर्वाणपदमिति शेषः ।

पावं [1]पयइ असेसं पुण्णमसेसं च [2]पयइ परिणामो ।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥११४॥

पापं पचति अशेषं पुण्यमशेषं च पचति परिणामः ।
परिणामाद्बन्धः मोक्षो जिनशासने दिष्टः ॥

होनेसे हेय है । आकाश द्रव्य समवसरण स्वर्ग तथा मोक्ष आदि में अवकाश देनेवाले गुण से युक्त होनेके कारण उपादेय है और नरक निगोदादि स्थानों में अवकाश दान देनेके कारण हेय है । मोक्षका कारण होनेसे निदान रहित तीर्थंकर प्रकृति नामक सातिशय पुण्य प्रकृति का आस्रव उपादेय है और नरकादि गर्त में पतन का कारण होनेसे अन्य आस्रव हेय है । तीर्थंकर नाम कर्म का हेतु होनेसे चारों प्रकार का बन्ध उपादेय है तथा संसार परिभ्रमण का कारण होनेसे अन्य बन्ध हेय है । संवर उपादेय है । मुनियों की निर्जरा भी उपादेय है, और अनन्त ज्ञानदर्शन आदि चतुष्टयका कारण होनेसे मोक्ष सभी प्रकार से उपादेय है ।

इस तरह से जब तक यह जीव सात तत्वों की भावना नहीं करता है तथा धर्म्य ध्यान, शुक्ल ध्यान और अनित्य आदि अनुप्रेक्षा का चिन्तवन नहीं करता है तब तक जरा और मरण से रहित स्थानको अर्थात् परम निर्वाण पदको नहीं प्राप्त होता है ॥११३॥

गाथार्थ—भाव ही समस्त पाप को पचाता है अर्थात् निर्जीर्ण करता है, भाव ही समस्त पुण्य को पचाता है अर्थात् विस्तीर्ण करता है, जिन–शासनमें भावसे ही बन्ध और भाव से ही मोक्ष कहा गया है ॥११४॥

विशेषार्थ—परिणाम का अर्थ भाव है और भावसे निज शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव आत्मा की भावना अथवा जिन-सम्यक्त्व का ग्रहण होता है । निज शुद्ध–बुद्धैक–स्वभाव की भावना से सम्यग्दर्शन का बोध होता है भावकी मुख्यतासे कथन करते हुए आचार्य कहते

१—२—पं० जयचन्द्रेण स्वकृत–वचनिकायां 'पयइ' स्थाने 'हवइ' पाठः स्वीकृतः ।

पावं पयइ असेसं पापं पचति अशेषं, सर्वं पापं परिणामः पचति निर्जरयति निजात्मपरिणामो भावना निःशेषः पापं दूरीकरोति । उक्तं च—

नाममात्रकथया परात्मनो भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः ।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गताः कुर्वते हि जगतां पतिं नरम् ॥ १ ॥

पुण्णमसेसं च पयइ परिणामो पुण्यं अशेषं सर्वं च सर्वमपि पचति विस्तारयति मेलयति, कोऽसौ ? परिणामः निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मभावना जिनसम्यक्त्वं च । तथा चोक्तं—

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ १ ॥

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणं तीर्थंकरनामकर्मासाधारणपुण्यं परिणामेनैवोपार्ज्यत इत्यर्थः । तथा चोक्तं—

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोर्निपुणाः ।

हैं कि भाव ही समस्त पापको पचाता है अर्थात् निजात्म परिणाम रूप भावना ही समस्त पापको दूर करती है। जैसा कि कहा गया है—

नाममात्र—परमात्माके नाम मात्र की कथा से अनेक जन्मों में किये हुए पापका क्षय होजाता है फिर परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञान चारित्र और श्रद्धा हो तो वे इस मनुष्यको जगत् का नाथ बना देती हैं अर्थात् यह जीव सिद्ध पदको प्राप्त होजाता है।

परिणाम अर्थात् भाव ही इस जीवके समस्त पुण्यको पचाता है अर्थात् [1]विस्तृत करता है अथवा पुण्य की प्राप्ति करता है जैसा कि कहा गया है—

एकापि—यह एक जिन-भक्ति ही दुर्गति का निवारण करने के लिये समर्थ है, जिन-भक्ति ही पुण्य की पूर्णता करने में समर्थ है और जिन-भक्ति ही कुशल मनुष्यको मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करने में समर्थ है।

'सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्' इस उल्लेख के अनुसार सातावेदनीय शुभ आयु-शुभनाम और शुभ गोत्र पुण्य कर्म कहलाते हैं, तीर्थंकर नाम कर्म भी असाधारण-लोकोत्तर पुण्यकर्म है इसको प्राप्ति भी परिणाम अर्थात् भावसे ही होती है। जैसा कि कहा गया है

१—संस्कृत टीकाकार ने 'पचति का अर्थ' विस्तृत करता है, किया अवश्य है परन्तु पचि विस्तारे धातुका रूप पञ्चयति होता है, पचति नहीं। अतः जो अर्थ 'पापं पचति अशेषं' में लगाया है वहीं यहां भी लगाना चाहिये। अर्थात् पुण्य कर्मको निर्जरा भी परिणाम से ही होता है।

तस्मात्पुण्योपचयः पापापचयश्च सुविधेयः ॥ १ ॥

तथा च समयसारः—

१आत्मकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्‌गलाः कर्मभावेन ॥ १ ॥

परिणामादो बंधो परिणामाद्‌बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणश्चतुर्विधो बन्धः पुण्यसम्बन्धी पापसम्बन्धी च बन्धः संजायते । उक्तं च—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधा दु चदुविधो बंधो ।

जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥ १ ॥

मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो मोक्षः सर्वकर्मप्रक्षयलक्षणोपलक्षितं परमनिर्वाणं जिनशासने श्रीमद्‌भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागमते दिष्टः प्रतिपादितः परिणामादेवेति निश्चयः, स मोक्षकारणभूतः परिणाम आत्मन्येकलोलीभाव इति भावार्थः ।

परिणाममेव—निश्चय से कुशल मनुष्य पुण्य और पापका कारण परिणाम–भाव को ही कहते हैं इसलिये पुण्यका संचय और पापका अपचय करना चाहिये ।

यही आगम का सार है—

आत्मकृत—आत्मा के द्वारा किये हुए रागादि परिणाम को निमित्त मात्र पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्म रूप परिणाम जाते हैं अर्थात् पुद्गल द्रव्य-कर्म रूप परिणामन करनेमें आत्माका रागादि भाव निमित्तकारण और पुद्गलद्रव्य स्वयं उपादान कारण है ।

प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश के भेद से बारह प्रकारका अथवा पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारका बन्ध परिणाम–भावसे ही होता है । जैसा कि कहा गया है–

पयडिट्ठिदि—प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश के भेद से बन्ध चार प्रकारका होता है । इनमें से प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग के निमित्त से होते हैं और स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं ।

समस्त कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होने वाला जो परम-निर्वाण है वह भी परिणाम से ही होता है, ऐसा वीतराग सर्वज्ञ देवके शासन में कहा गया है । यहां परिणाम शब्द से आत्मा में एकलोलीभाव–तन्मयीभावका ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ऐसा भाव ही-- परम यथाख्यात चारित्र ही मोक्षका साक्षात् कारण है ॥११४॥

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाये ।

मिच्छत्त तह कसायाऽसंजमजोगेहि असुहलेसेहिं ।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥ ११५ ॥

मिथ्यात्वं तथा कषाया असंयमयोगैरशुभलेश्यैः ।
बध्नाति अशुभं कर्म जिनवचनपराङ्मुखो जीवः ॥

मिच्छत्त तह कसाया मिथ्यात्वं पंचविधं तथा। तेनैव पंचप्रकारमिथ्यात्वप्रकारेण कषायाः पंचविंशतिभेदाः । *असंजमजोगेहि असुहलेसेहि* असंयमो द्वादशविधः, योगाः पंचदशभेदाः, एवं सप्तपंचाशत्कमबन्धप्रत्ययाः कारणानि आस्रवभेदा भवन्तीति संक्षेपार्थः । कथंभूतैरेतैरास्रवैः, अशुभलेश्यैः कृष्णनीलकापोतलेश्याबलेन संजातैः । *बंधइ असुहं कम्मं* बध्नाति अशुभं कर्म । *जिणवयणपरम्मुहो जीवो* जिनवचनपराङ्मुखो जीवो मिथ्यादृष्टिरात्मा ।

तं विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो ।
दुविहपयारं बंधइ संखेवेणेव वज्जरियं ॥ ११६ ॥

तद्विपरीतः बध्नाति शुभकर्म भावशुद्धिमापन्नः ।
द्विविधप्रचारं बध्नाति संक्षेपेणैव कथितं ।

गाथार्थ—जिन-वचन से पराङ्मुख जीव, मिथ्यात्व, कषाय, असंयम, योग और अशुभ लेश्या के द्वारा अशुभ कर्म का बन्ध करता है ॥११५॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्वके पांच भेद हैं, कषाय के पच्चीस भेद प्रसिद्ध हैं, असंयम अर्थात् विरति के बारह भेद हैं और योग के पन्द्रह भेद हैं। ये सब मिलाकर आस्रवके सत्तावन भेद हैं। कषायके उदयसे अनुरञ्जित योगोंकी प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं उसके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्लके भेदसे ६ भेद होते हैं इनमें प्रारम्भके तीन भेद अशुभ लेश्याएं हैं। जिनवाणीकी श्रद्धा और ज्ञानसे विमुख हुआ जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है तथा वह ऊपर कहे हुए सत्तावन आस्रवों अथवा कृष्ण नील और कापोत रूप तीन अशुभ लेश्याओं से पापकर्मका बन्ध करता है। ११५ ॥

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टिसे विपरीत अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव भावोंकी शुद्धिको प्राप्त होता हुआ शुभ कर्मका बन्ध करता है। इस प्रकार यह जीव शुभ अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंको बांधता है यह संक्षेप से ही कहा है ॥ ११६ ॥

विशेषार्थ—ऊपरकी गाथामें जिन-वचनसे पराङ्मुख मिथ्यादृष्टि जीवका कथन किया

१—"कर्मेवंज्जर-पज्जर-सग्घ-सास-साह-चव-अप्प-पिसुण-बोलोव्वाला: ।" इत्यनेन एतेषु बज्जादेशेषु कथय-तेर्वज्जरादेशो जातः ।

तं विवरीओ बंधइ तस्माज्जिनवचनपराङ्मुखान्मिथ्यादृष्टिजीवाद्विपरीतः सम्यग्दृष्टिजीवः बध्नाति, किं ? शुभकर्म-पुण्यकर्म सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणं तीर्थकरत्वं । कथंभूतो जीवः, *भावसुद्धिमावण्णो* भावशुद्धिमापन्नः परिणामशुद्धिं प्राप्तः सद्दृष्टिजीव इत्यर्थः । *दुविहपयारं बंधइ* द्विविधप्रचारं द्वयोर्भेदयोः प्रचारं बध्नाति । *संखेवेणेव वज्जरियं* संक्षेपेणैव कथितं प्रतिपादितम् ।

णाणावरणादीहि य अट्ठहिं कम्मेहि वेढिओ य अहं ।

डहिऊण इण्हि पयडमि अणंतणाणाइगुणचिंता ।। ११७ ।।

ज्ञानावरणादिभिश्च अष्टभिः कर्मभिः वेष्टितश्चाहम् ।

दग्ध्वेदानीं प्रकटयामि अनन्तज्ञानादिगुणचेतनां ।।

णाणावरणादीहि य ज्ञानावरणादिभिश्च ज्ञानावरणमादिर्येषां दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाणां तानि ज्ञानावरणादीनि तैर्ज्ञानावरणादिभिः । चकारादुत्तरप्रकृतिभिरष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रकृतिभिः । तथा उत्तरोत्तरप्रकृतिभिरसंख्याताभिरहं वेष्टित इति सम्बन्धः । *अट्ठविकम्मेहि वेढियो य अहं* अष्टभिरपि कर्मभिर्वेष्टितश्चाहं । अपिशब्दादनन्तानन्तकर्मभिरहं वेष्टितो वर्ते । *डहिऊण इण्हि*

था, उससे विपरीत जिन-वचन का श्रद्धालु सम्यग्दृष्टि होता है । सम्यग्दृष्टि जीव भावों की शुद्धिको प्राप्त होता हुआ पुण्य कर्मका बन्ध करता है सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम और शुभगोत्र तथा तीर्थंकर प्रकृति ये पुण्य कर्म हैं । इस प्रकार पुण्य और पाप कर्मके बन्ध करने वालोंका संक्षेपसे कथन किया है । ११६ ।।

(अथवा इस गाथाका यह भाव ध्वनित होता हैं कि मिथ्यादृष्टि से विपरीत—सम्यग्दृष्टि जीव तो शुभ कर्म—पुण्य कर्मको बांधता है और भावशुद्धि अर्थात् शुद्धोपयोग को प्राप्त हुआ जीव पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंके प्रचारको अर्थात् आस्रव को रोकता है अशुभोपयोगका धारक जीव, अशुभ कर्मका बन्ध करता है, शुभोपयोगका धारक, जीव पुण्य कर्मका बन्ध करता है और शुद्धोपयोगका धारक जीव दोनों प्रकारके कर्मोंके प्रचार को रोकता है। यद्यपि ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक सातावेदनीय का बन्ध होता है तथापि स्थिति और अनुभाग बन्धसे रहित होनेके कारण वह बन्ध नहीं के बराबर ही है।)

गाथार्थ—सम्यग्ज्ञानी मुनि विचार करता है कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे वेष्टित हो रहा हूं सो अब इन्हें भस्म कर अनन्त ज्ञानादि गुणरूप चेतनाको प्रकट करता हूं

विशेषार्थ—ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अन्तरायके भेदसे कर्मोंकी मूल प्रकृतियां आठ हैं। इनकी उत्तर प्रकृतियां एकसौ अड़तालीस

पयडमि वध्वा भस्मीकृत्य तानि कर्माणि इत्युपस्कार: । इण्हि इदानीं, प्रकटयामि । अणंतणाणाइगुणचिंता अनन्तज्ञानादिगुणचेतनामिति तात्पर्यम् ॥

सीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं ।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥ ११८ ॥

शीलसहस्राष्टादश चतुरशीतिगुणगणानां लक्षाणि ।
भावय अनुदिनं निखिलं असत्प्रलापेन किं बहुना ॥

सीलसहस्सट्ठारस शीलसहस्राष्टादश शीलानां सहस्राणि अष्टादश भवन्ति तानि त्वं भावयेति सम्बन्धः । चतुरशीतिगुणगणानां लक्षाणि । *भावहि अणुदिणु णिहिलं* भावय अनुदिनं अहर्निशं समग्रं । *असप्पलावेन किं बहुणा* असत्प्रलापेन मिथ्यानर्थकवचनेन बहुना बहुतरेण किं — न किमपि ।

अष्टादशशीलसहस्राणां विवरणं यथा—अशुभमनोवचनकाययोगाः शुभेन मनसा हन्यन्ते इति त्रीणि शीलानि । अशुभमनोवचनकाययोगा शुभेन वचसा हन्यन्ते इति षट् शीलानि अशुभमनोवचनकाययोगाः शुभेन काययोगेन हन्यन्ते इति नव शीलानि । तानि चतसृभिः संज्ञाभिर्गुणितानि षट्त्रिंशच्छीलानि भवन्ति । तानि पंचभिरिन्द्रियजयैर्गुणितानि अशीत्यग्रशतं भवन्ति । पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिदयाभिर्दशभिर्गुणितानि अष्टादश-

---

हैं तथा उत्तर प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियां असंख्यात हैं । इन सब कर्मोंसे मैं अनादिकाल से वेष्टित चला आ रहा हूं अब अपने पुरुषार्थ से इन्हें भस्म कर मैं अनन्त ज्ञानादि गुणों का स्वामी बनूंगा, ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव विचार करता है ॥ ११७ ॥

गाथार्थ—हे मुने ! अत्यधिक असत्प्रलाप करने से क्या लाभ है ? तू प्रतिदिन शीलके अट्ठारह हजार तथा उत्तर गुणोंके चौरासी लाख भेदोंका बारबार चिन्तवन कर।

विशेषार्थ—आचार्य कहते हैं कि निरर्थक विस्तारसे लाभ नहीं । तू अट्ठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तर गुणोंका चिन्तवन कर । अब शीलके अठारह हजार भेदों का वर्णन करते हैं—

मन वचन और कायके भेदसे योगके तीन भेद हैं ये तीनों योग शुभ अशुभके भेद से दो प्रकारके होते हैं तथा परस्पर में मिश्रित रहते हैं इसलिये इनके नौ भेद हो जाते हैं । जैसे अशुभ मन, वचन, काय योग, शुभ मनसे घाते जाते हैं इसलिये तीन भेद हुए । फिर वे ही तीन अशुभ योग, शुभ वचन से घाते जाते हैं इसलिये तीन भेद हुए और फिर वे ही तीन अशुभ योग, शुभ कायसे घाते जाते हैं इसलिये तीन भेद हुए, सब मिलाकर योग के ९ भेद हुए [कहीं कहीं कृत कारित अनुमोदना और मन वचन काय इन तीन योगोंके संमिश्रण से शीलके नौ भेद सिद्ध किये हैं] इन नौ भेदों में चार संज्ञाओंका गुणा करने

शतानि भवन्ति । उत्तमक्षमादिभिर्दशभिर्गुणितानि अष्टादशसहस्राणि भवन्ति । अथवा अशीत्यग्रद्विशताधिकसप्तदशसहस्राणि चैतन्यसम्बन्धीनि भवन्ति विंशत्यधिकसप्तशतानि अचेतनसम्बन्धीनि भवन्ति । तत्राचेतनकृतभेदाः कथ्यन्ते—काष्ठ-पाषाण-लेप-कृताः स्त्रियो मनःकायकृतगुणिताः षट् । कृतकारितानुमतगुणिता अष्टादश । स्पर्शादिपंचगुणिता नवतिः । द्रव्यभावगुणिता अशीत्यग्रं शतं । कषायैश्चतुर्भिर्गुणिता विंशत्यधिकानि सप्तशतानि । चैतन्यसम्बन्धीनि अशीत्यधिकद्विशताग्रसप्तदशसहस्राणि, तद्यथा—देवी मानुषी तिरश्ची चेति स्त्रियस्तिस्रः कृतकारितानुमतगुणिता नव भवन्ति । मनोवचनकायगुणिताः सप्तविंशतिर्भवन्ति । स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दैर्गुणिताः पंचत्रिंशदधिकं शतं द्रव्यभावगुणिताः सप्तत्यधिकद्वे शते । आहारभयमैथुनपरिग्रहचतस्रसंज्ञाभिःगुणिताः अशीत्यधिकं सहस्रं । अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-

---

पर छत्तीस भेद होते हैं । उन छत्तीस भेदों पर पाँच इन्द्रिय-जयोंका गुणा करने पर एकसौ अस्सी भेद होते है । उनमें पृथिवी–कायिक, जल कायिक, तेजस्कायिक, वायु–कायिक, वनस्पति-कायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सैनी पञ्चेन्द्रिय, और असैनी पञ्चेन्द्रिय इन दश प्रकारके जीवोंकी दयाके दश भेदोंका गुणा करने पर अट्ठारहसौ भेद होते हैं । उनमें उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंका गुणा करने पर अट्ठारह हजार भेद होते हैं

अथवा इन अट्ठारह हजार भेदोंमें दो सौ चेतन सम्बन्धी और सातसौ बीस अचेतन सम्बन्धी भेद है । अब अचेतन सम्बन्धी भेदोंका कथन करते है—

काष्ठ, पाषाण और लेपसे निर्मित होनेके कारण स्त्रियोंके तीन भेद हैं । इन तीन प्रकारको स्त्रियों में मनोयोग तथा काययोग का गुणा करने पर छह भेद हुए । इन छह भेदोंमें कृत, कारित और अनुमोदनाका गुणा करने पर अठारह भेद हुए । इन अठारह भेदों में स्पर्श आदि पांचका गुणा करने पर नव्वे भेद हुए इनमें द्रव्य और भावका गुणा करने पर एकसौअस्सी भेद हुए और इनमें चार कषायोंका गुणा करनेपर सात सौ बीस भेद होते हैं ।

आगे चेतन-सम्बन्धी सत्तरह हजार दो सौ बीस भेद कहते हैं—

चेतन स्त्रीके देवी, मानुषी और तिरश्चीकी अपेक्षा तीन भेद हैं उनमें कृत, कारित और अनुमोदना के तीन भेदोंका गुणा करने पर नौ भेद हुए । उनमें मन, वचन, काय इन तीन योगोंका गुणा करने पर सत्ताईस भेद हुए, उनमें स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इन पांचका गुणा करने पर एकसौ पैंतीस भेद हुए । उनमें द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो का गुणा करने पर दो सौ सत्तर भेद हुए । उनमें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंका गुणा करने पर एक हजार अस्सी भेद हुए । उनमें अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, और संज्वलन सम्बन्धी सोलह कषायोंका गुणा करने पर सत्रह हजार दो सौ

संज्वलनचतुष्कषोडशकषायैर्गुणिता अशीत्यधिकद्विशताग्रसप्तदशसहस्राणि भवन्तीति चेतनसम्बन्धिभेदाः ।
७२० + १७२८० = १८००० ।

[1]अथ चतुरशीतिलक्षगुणा विव्रियन्ते । तद्यथा–हिंसा, अनृतं, स्तेयं, मैथुनं, परिग्रहः, क्रोधः, मानः, माया, लोभः, जुगुप्सा, भयं, अरतिः, रतिः, मनोदुष्टत्वं, वचनदुष्टत्वं, कायदुष्टत्वं, मिथ्यात्वं, प्रमाद पिशुनत्वं, अज्ञानं, इन्द्रियानिग्रहत्वं, एकविंशतिदोषा वर्जनीयाः । अतिक्रमव्यतिक्रमातिचारानाचारा एते चत्वारो दोषा वर्ज्यन्ते ।

अतिक्रमो मानसशुद्धहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः ।
तथातिचारः करणालसत्वं भंगो ह्यनाचार इह व्रतानां ॥ १ ॥

गुणानां चतुरशीतिर्भवति । सा चतुरशीतिः[2]दशकायसंयमैर्गुणिता चतुरशीतिशतानि भवन्ति । ते दशशीलाविराधनैर्गुणिताः चतुरशीतिसहस्राणि गुणा भवन्ति । कास्ताः शीलविराधनाः ? स्त्रीसंसर्गः

अस्सी भेद होते हैं। इस तरह अचेतन स्त्रीके ७२० और चेतन स्त्रीके १७२८०, दोनोंके मिलाकर १८००० अठारह हजार भेद होते है ।

अब चौरासी लाख उत्तरगुणों का वर्णन करते हैं—

१ हिंसा, २ झूठ, ३ चोरी, ४ मैथुन, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० जुगुप्सा, ११ भय, १२ अरति, १३ रति, १४ मनोदुष्टता, १५ वचन दुष्टता, १६ कायदुष्टता, १७ मिथ्यात्व, १८ प्रमाद, १९ पिशुनता, २० अज्ञान और २१ इन्द्रियानिग्रह ये इक्कीस दोष छोड़ने के योग्य हैं। इनकी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार दोषों द्वारा प्रवृत्ति होती है अतः इक्कीस में चारका गुणा करने पर चौरासी भेद होते है ।

अतिक्रमो—मनकी शुद्धिका नष्ट होना अतिक्रम है, विषयोंको अभिलाषा होना व्यतिक्रम है, क्रियाके करनेमें आलस्य करना अतिचार है और व्रतोंका भङ्ग करना अनाचार है।

ऊपर कहे चौरासी भेदोंमें दश काय सम्बन्धी, दश संयमों अर्थात् सौ का गुणा करने पर चौरासो सौ भेद होते हैं। उनमें शीलकी दश विराधनाओंका गुणा करने पर चौरासी हजार भेद होते हैं।

प्रश्न—शील की दश विराधनाएं कौन कौन हैं ?

१—दर्शनप्राभृतस्य नवमगाथायाः टीकायामपि वर्णनमस्ति । २—दशकायसंयमभेदैः पृथिव्यादिदशजीवसमासैरित्यर्थः ।

१, सरसाहारः २, सुगन्धसंस्कारः ३, कोमलशयनासनं ४, शरीरमण्डनं ५, गीतवादित्रश्रवणं ६, अर्थग्रहणं ७, कुशीलसंसर्गः ८, राजसेवा ९, रात्रिसंचरणं १० । ते आकम्पितादिदशालोचनापरिहृतिभिर्दशभिर्गुणिताः चत्वारिंशत्सहस्राधिकाष्टलक्षाणि भवन्ति । ते दशभिर्धर्मैःगुणिनाश्चतुरशीतिलक्षा गुणा भवन्ति । अथ दशकायसंयमाः के ? एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्तानां जीवानां रक्षा प्राणसंयमः पंचविधः । स्पर्शनादीनां पंचानामिन्द्रियाणां प्रसरपरिहार इन्द्रियसंयमः पंचविधः । एते दशकायसंयमा ज्ञातव्याः । दशालोचन दोषा यथा—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बायरं च सुहमं च ।
छन्नं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥

अस्या अयमर्थः—आलोचनां कुर्वन् शरीरे कम्प उत्पद्यते भयं करोतीत्याकम्पितदोषः । अणु-

---

उत्तर—१ स्त्री संसर्ग, २ सरसाहार, ३ सुगन्धसंस्कार, ४ कोमल शयनासन, ५ शरीर मण्डन, ६ गीत वादित्र श्रवण, ७ अर्थ ग्रहण, ८ कुशील संसर्ग, ९ राजसेवा, और १० रात्रि संचरण ये शीलकी दश विराधनाएं हैं ।

चौरासी हजार भेदों में आकम्पित आदि आलोचना के दश दोषों के परिहार सम्बन्धी दश भेदोंका गुणा करनेसे आठ लाख चालीस हजार भेद होते हैं तथा इन भेदों में दश धर्मोंका गुणा करने पर चौरासी लाख भेद होजाते हैं ।

प्रश्न—दश प्रकारका कायसंयम कौन है ?

उत्तर—पृथिवीकायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक और वनस्पति कायिक, ये पांच स्थावर तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय संज्ञि पञ्चेन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय इन दश कायके जीवोंका दश प्रकारका प्राणि-संयम और दश प्रकारका इन्द्रिय संयम ये दश कायसंयम हैं, इनके परस्पर मिलने पर १०० भेद होजाते हैं ।

प्रश्न—आलोचना के दश दोष कौन हैं ?

उत्तर—आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये आलोचना के दश दोष हैं ।

इनका विवरण इस प्रकार है—

आकम्पित—आलोचना करते समय शरीर में कम्पन होना अर्थात् कहीं अधिक दण्ड न दे दें इस भयसे शरीर का कांपने लग जाना आकम्पित दोष है । अथवा ऐसी दयनीय मुद्रा बनाकर आलोचना करना जिससे आचार्य अपराधी साधुको दुर्बल समझ अधिक दण्ड न दे दें ।

माणिय-अनुमानेन दोषं कथयति यथोक्तं न कथयतीत्यनुमानदोषः। जं दिट्ठं—यत्पापं केनचिद्दृष्टं तत्कथयति, अन्यज्जानन्नपि न कथयतीति यद्दृष्टदोषः। बायरं च—स्थूलं पापं प्रकाशयति सूक्ष्मं न कथयतीति बादरदोषः। सुहमं च—सूक्ष्मं अल्पं पापं प्रकाशयति स्थूलं पापं न प्रकाशयतीति सूक्ष्मदोषः। छन्नं यदा कोऽपि न भवत्याचार्यसमीपे तदैकान्ते पापं प्रकाशयतीति छन्नदोषः। सद्दाउलयं यदा वसतिकादौ कोलाहलो भवति तदा पापं प्रकाशयतीति शब्दाकुलदोषः। बहुजणं—यदा बहवः श्रावकादयो मिलिता भवन्ति तदा पापं प्रकाशयतीति बहुजनदोषः। अव्वत्त—अव्यक्तं प्रकाशयति दोषं स्फुटं न कथयतीत्यव्यक्तदोषः। तस्सेवी—यत्पापं गुर्वग्रे प्रकाशितं तत्सर्वथा न मुंचति पुनरपि तदेव कुरुते स तत्सेवी कथ्यते। अथवा य आचार्यस्तं दोषं करोति तदग्रे पाप प्रकाशयति निर्दोषाचार्याग्रे पापं न प्रकाशतीति तत्सेवी दोषः दश धर्मास्तु प्रसिद्धा वर्तन्ते तेन न व्याख्याताः।

झायहि धम्मं सुक्कं अट्टरउद्दं च झाण मुत्तूण।
रुद्दट्ट झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥ ११९ ॥

---

२ अनुमानित—जिसमें मुनि, अनुमान से दोष कहता है यथार्थ नहीं कहता, वह अनुमान दोष है।

३ जो पाप किसी ने देख लिया है उसे ही कहता है अन्यदोष को जानता हुआ भी नहीं कहता है, यह दृष्ट दोष है।

४ स्थूल पापको कहता है सूक्ष्म पापको नहीं कहता है, यह वादर दोष है।

५ सूक्ष्म पापको ही कहता है स्थूल को नहीं, यह सूक्ष्म दोष है।

६ जब आचार्य के पास कोई नहीं होता है तब एकान्त में पापको प्रकट करता है, यह छन्न दोष है।

७ जिस समय वसतिका आदि में महान् कोलाहल हो रहा हो उस समय दोष कहना शब्दाकुलित दोष है।

८ जिस समय बहुत से श्रावक आदि इकट्ठे हुए हों उस समय दोष कहना बहुजन दोष है।

९ अव्यक्त रूप से दोष कहता है स्पष्ट नहीं कहता यह अव्यक्त दोष है।

१० जो पाप गुरुके आगे प्रकाशित किया है उसे सर्व प्रकारसे छोड़ता नहीं वार वार उसे ही करता है यह तत्सेवी दोष है, अथवा जो आचार्य उस दोषका स्वयं सेवन करता हो वह तत्सेवी है। दश धर्म प्रसिद्ध हैं अतः उनका कथन नहीं किया है ॥११८॥

गाथार्थ—इस जीवने आर्त्त ध्यान तथा रौद्रध्यान चिरकाल से ध्याये हैं अब इन्हें

ध्याय धर्म्यं शुक्लं आर्तं रौद्रं च ध्यानं मुक्त्वा ।
आर्तरौद्रे ध्याते अनेन जीवेन चिरकालम् ॥

झायहि धम्मं सुक्कं ध्याय—एकाग्रेण चिन्तय । किं ? कर्मतापन्नं धर्म्यं धर्मादनपेतं धर्म्यं । आज्ञापायविपाकसंस्थानलक्षणं चतुर्विधं धर्म्यं [1]ध्यानमित्युमास्वामिसूचनात् । तथा श्रीगौतमस्वामिवचनाद्धर्म्यं ध्यानं दशविधं । तद्यथा । अपायविचयः १ । उपायविचयः २, विपाकविचयः ३, विरागविचयः ४, लोकविचयः ५, भवविचयः ६, जीवविचयः ७, आज्ञाविचयः ८, संस्थानविचयः ९, संसारविचयश्चेति १० । तथा शुक्लध्यानं ध्याय पृथक्त्ववितर्कवीचारं १, एकत्ववितर्कावीचारं २, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ३, व्युपरतक्रियानिवर्ति ४ चेति । *अट्ट रउद्दं च झाए मुत्तूण* आर्त्तं रौद्रं च ध्यानद्वयं मुक्त्वा परित्यज्य । तत्रार्तध्यानं चतुर्विधं इष्टवियोगः

छोड़कर धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानका चिन्तवन कर ॥११९॥

विशेषार्थ—आर्त्त ध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों खोटे ध्यान हैं । यह जीव इनका चिरकाल से चिन्तवन करता आ रहा है आचार्य कहते है कि मुने ! अब तू आर्त्त और रौद्र इन दो ध्यानों को छोड़कर धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तवन कर । उमा स्वामी के कहे अनुसार धर्म्यध्यान के आज्ञा-विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय ये चार भेद हैं तथा गौतम स्वामी के कहे अनुसार धर्म्यध्यान के दश भेद हैं जैसे १ अपाय विचय, २ उपायविचय, ३ विपाकविचय, ४ विरागविचय, ५ लोकविचय, ६ भवविचय, ७ जीवविचय, ८ आज्ञाविचय, ९ संस्थानविचय, और १० संसार विचय । इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—जीवकी वर्तमान में दुःख-पूर्ण अवस्था है, इसका विचार करना अपाय विचय है । इस दुःखसे बचने के उपाय सम्यग्दर्शनादिका चिन्तवन करना उपाय विचय है । किस कर्मके उदय से क्या फल मिलता है ऐसा विचार करना सो विपाकविचय है । रागी जीव सदा दुःख पाता है तथा राग से ही बन्ध होता है, आत्मा का स्वभाव रागसे रहित है, ऐसा चिन्तवन करना सो विराग विचय है । यह चौदह राजू प्रमाण लोक, जीवोंसे खचाखच भरा हुआ है इसमें एक भी स्थान ऐसा नहीं जहां मैं उत्पन्न न हुआ हूं इस प्रकार लोकका चिन्तवन करना लोक विचय है । जीवके चतुर्गति रूप भवों का विचार करना सो भवविचय है । जीवों की भिन्न भिन्न जातियोंका चिन्तवन करना सो जीव विचय है । भगवान् वीतराग सर्वज्ञ है, अतः उनकी वाणी में असत्यता का कुछ भी कारण नहीं है वह आज्ञा मात्र से ग्राह्य है, ऐसा चिन्तवन करना आज्ञा विचय है । लोक अथवा छहों द्रव्यों की आकृतिका चिन्तन करना यहां संस्थान-विचय धर्म ध्यान है ।

१—"आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यं" इति सूत्रसूचनात् ।

१, अनिष्टसंयोगः २, पीडाचिन्तनं ३, निदानं चेति ४। रौद्रध्यानं चतुर्विधं हिंसानन्दः १, अनृतानन्दः २, स्तेयानन्दः ३, संरक्षणानन्दश्चेति ४। रुद्दट्ट *झाइयाइं* रौद्रार्त्ते द्वे ध्याने ध्यातानि (ध्याते) *इमेण जीवेण चिरकालं* इमेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवेनात्मना चिरकालं अनादिकालं। धर्म्यं शुक्लं च ध्यानद्वयं न ध्यातमिति भावार्थः।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसमणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं ॥१२०॥

तथा पञ्च परावर्तनोंका स्वरूप चिन्तवन करना संसार विचय है।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं-पृथक्त्व वितर्क वीचार, एकत्व वितर्क अवीचार सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती और व्युपरत क्रिया निवर्ति जिसमें आगम के किसी पद वाक्य या अर्थ का तीन योगोंके आलम्बनसे चिन्तन किया जाता है वह पृथक्त्व वितर्क वीचार नामका शुक्ल ध्यान है। इस ध्यानमें अर्थ, व्यञ्जन (शब्द) और योगोंमें संक्रमण-परिवर्तन होता रहता है तथा यह अष्टम गुणस्थान से प्रारम्भ होकर ग्यारहवें गुणस्थान तक चलता है। जिसमें आगम के किसी पद वाक्य या अर्थका तीन योगों में से किसी एक योगके आलम्बन से चिन्तन होता है उसे एकत्व वितर्क शुक्लध्यान कहते हैं। इसमें अर्थ, शब्द और योगोंका संक्रमण नहीं होता है जिस पद वाक्य या अर्थ को लेकर जिस योगके द्वारा ध्यान प्रारम्भ किया था उसीसे अन्तर्मुहूर्त तक चालू रहता है। यह बारहवें गुणस्थान में प्रकट होता है। तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में जब मनोयोग और वचन योग पूर्णरूपसे नष्ट हो चुकते हैं तथा काय योग भी अत्यन्त सूक्ष्म दशा में शेष रह जाता है तब सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नामका शुक्लध्यान प्रकट होता है और चौदहवें गुणस्थान में जब काय योग भी नष्ट हो चुकता है तथा सब प्रकार की हलन चलन रूप क्रियाएं समाप्त होजाती हैं तब व्युपरत क्रिया निवर्ति नामका शुक्लध्यान प्रकट होता है। धर्म्यध्यान परम्परा से और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्षका कारण है परन्तु शुक्लध्यान का जो प्रथम पाया उपशम श्रेणीवाले जीवके होता है उसमें मोक्षकी अनिवार्य कारणता नहीं है क्योंकि ऐसा जीव मरण होनेपर स्वर्ग जाता है।

आर्त्तध्यान चार प्रकार का है-१ इष्ट वियोग, २ अनिष्ट संयोग, ३ पीडा चिन्तन (वेदना जन्य) और ४ निदान। रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं-१ हिंसानन्द २ मृषानन्द ३ चौर्यानन्द और ४ संरक्षणानन्द (परिग्रहानन्द)। इन सबके अर्थ नामसे स्पष्ट हैं तथा पहले इनका विवेचन हो भी चुका है ॥११९॥

ये केपि द्रव्यश्रवणा इन्द्रियसुखाकुला न छिन्दन्ति ।
छिन्दन्ति भावश्रवणा ध्यानकुठारेण भववृक्षम् ॥

जे के *वि दव्वसवणा* ये केऽपि द्रव्यश्रवणाः शरीरमात्रेण दिगम्बरा अन्तर्जिनसम्यक्त्वशून्याः । *इंदियसुहआउला ण छिंदंति* इन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानां विषयाणां सुखेषु आकुलाः । कदा उर्वोरुपरि विवक्षितवनितायाः पादौ विन्यस्य स्तनकनककलशोपरि करपल्लवौ विधृत्य सुखचुम्बन मधुरपानमहं करिष्यामीति स्पर्शनेन्द्रियसुखलम्पटाः घृतपानपक्वान्नव्यञ्जनशाल्यन्नादिस्वादमहं ग्रहीष्यामि, कर्पूरकस्तूरीचन्दनागुरुपुष्पादिपरिमलपानं विधास्यामि, स्तनजघनवदनविलोचनविलोकनं प्रणेष्यामि, वीणावंशस्वरमण्डलनवयौवनकामिनीगीतमिश्रं रवं श्रोष्यामीति पंचेन्द्रियविषयमाकांक्षन् व्याकुलोऽयं जीवो भवति । तत्सर्वं पूर्वमनन्तशोऽनुभूतमेव संसारे, न किमपि दुर्लभं वर्तते अन्यत्रात्मस्वरूपसमुत्पन्न-सुखामृतपानात् । तथा चोक्तं—

अदृष्टं किं किमस्पृष्टं किमनाघ्रातमश्रुतं ।
किमनास्वादितं येन पुनर्नवमिवेक्ष्यते ॥ १ ॥

गाथार्थ—जो कोई द्रव्य-श्रमण हैं अर्थात् शरीर मात्र से दिगम्बर हैं तथा इन्द्रिय-सम्बन्धी सुखों से आकुल रहते हैं वे ध्यान रूपी कुठार के द्वारा संसार रूपी वृक्षको नहीं छेदते हैं इसके विपरीत जो भाव श्रमण हैं तथा इन्द्रिय-सम्बन्धी सुखों से निराकुल हैं वे ध्यान रूपी कुठार से संसार रूपी वृक्षको छेदते हैं ॥१२०॥

विशेषार्थ—जो मुनि अन्तरङ्ग में जिनसम्यक्त्व से शून्य हैं तथा स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन पांच इन्द्रियों के विषय–सम्बन्धी सुखोंकी आकुलता में निमग्न रहते हैं। मुनि होनेपर भी पूर्व संस्कार वश स्त्रियों के आलिङ्गनादि की इच्छा रखते हैं, घृत, पेय पदार्थ, पक्वान्न, अथवा धान आदि अनाज के स्वाद की अभिलाषा रखते हैं, कपूर, कस्तूरी, चन्दन, अगुरु तथा फूल आदि की सुगन्धि के सेवन की इच्छा रखते हैं, स्त्रियोंके सुन्दर अङ्गोपाङ्गों को देखने की अभिलाषा रखते हैं और वीणा वांसुरी के स्वर तथा नव यौवन से युक्त स्त्रियोंके गीत मिश्रित शब्दोंको सुनने की भावना रखते हैं वे निरन्तर व्याकुल रहते हैं। पञ्चेन्द्रियों के ये सब विषय इस जीवने संसार में पहले अनन्त वार भोगे हैं, इन विषयों में कुछ भी दुर्लभ नहीं है यदि दुर्लभ है तो आत्मस्वरूप से समुत्पन्न सुख रूपी अमृत का पान करना ही दुर्लभ है। जैसा कि कहा भी है–

अदृष्टं—इस संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसे इस जीवने पहले न देखा हो, न छुआ हो, न सूंघा हो, न सुना हो और न खाया हो जिससे नवीनके समान दिखाई दे।

ऐसा ही और भी कहा है—

[1]तथा चोक्तं—

अङ्गं यद्यपि योषितां प्रविलसत्तारुण्यलावण्यवद्
भूषावत्तदपि प्रमोदजनकं मूढात्मनां नो सताम् ।
[2]उच्छूनैर्बहुभिः शवैरतितरां कीर्णश्मशानस्थलं
लब्ध्वा तुष्यति कृष्णकाकनिकरो नो राजहंसव्रजः ॥ १ ॥

तथा च—

समसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः ।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग ! पुनरङ्गमङ्गाराः ॥ १ ॥

इत्यमृतचंद्रः । तथा च शुभचंद्रभगवान्—

वरमालिङ्गिता क्रुद्धा चलल्लोलात्र सर्पिणी ।
न पुनः कौतुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥ १ ॥

तथा च शुभचंद्रः—

मालतीव मृदून्यासां विद्धि चाङ्गानि योषितां ।
दारयिष्यन्ति मर्माणि विपाके ज्ञास्यसि स्वयं ॥ १ ॥

अङ्गं—यौवन और सौन्दर्य से युक्त स्त्रियोंका अलंकृत शरीर यद्यपि मूर्ख मनुष्यों के लिये आनन्द उत्पन्न करने वाला है तथापि सत्पुरुषों के लिये नहीं । क्योंकि सूजकर फूले हुए बहुत से मुर्दोंसे अत्यन्त व्याप्त श्मशान को पाकर काले कौओं का समूह ही संतुष्ट होता है, राजहंसोंका समूह नहीं ।

और भी कहा है-

समसुख—जिनका मन समता सुखसे सम्पन्न है उन्हें भोजन भी जब द्वेषको प्राप्त होता है तब काम भोगोंकी बात ही क्या है ? मछलियों के लिये जब स्थल भी जलाता है तब अङ्गारों की क्या बात है ?

यह अमृतचन्द्र स्वामी का वचन है ।

इसी प्रकार शुभचन्द्र भगवान् ने भी कहा है—

वरमालिङ्गिता—क्रुद्ध एवं चञ्चल नागिन का आलिङ्गन कर लेना अच्छा परन्तु कौतुक से भी स्त्रीका आलिङ्गन करना अच्छा नहीं हैं क्योंकि वह नरक का मार्ग है ।

और भी शुभचन्द्र भगवान् ने कहा है—

१—तथा म० । २—उच्छूनैः म० ।

काकः कृमिकुलाकीर्णे करङ्के कुरुते रतिम् ।
यथा तद्वद्वराकोऽयं कामी स्त्रीगुह्यमन्थने ॥ २ ॥

तथा च सोमदेवस्वामी चूर्णिगद्येन वैराग्यभावनामाह—

युवजनमृगाणां बन्धनायानाय इव वनितासु कुन्तलकलापः। पुनर्भवमहीरुहारोहणोपाय इव भ्रूलतोल्लासः। संसारसागरपरिभ्रमाय नौयुग्ममिव लोचनयुगलं। दुःखाटवीविनिपातकरमिव वाचि माधुर्यं। मृत्युगजप्रलोभनकवल इवायमधरपल्लवः। स्पर्शविषकन्दोद्भेद इव पयोधरविनिवेशः। यमपाशवेष्टनमिव भुजलतालिङ्गनं। उत्पत्तिजरामरणवर्त्मेव बलीनां त्रयं। [1]आलभनकुण्डमिव नाभिमण्डलं। अखिलगुणविलोपनखरेखेव रोमराजीविनिगमः। कालव्यालनिवासभूमिरिव मेखलास्थानं। व्यसनागमनतोरणमिवोरुनिर्माणं। अपि च—

मालतीव—इन स्त्रियों के शरीर को तू मालती के समान कोमल मानता है सो भले ही मानता रह परन्तु ये विपाक काल में तेरे मर्म को विदीर्ण कर देंगे, यह तू स्वयं जान जायगा।

काक—जिस प्रकार कौआ कीड़ों के समूह से व्याप्त नर पञ्जर में प्रीति करता है उसी प्रकार यह बेचारा कामी मनुष्य स्त्रीके गुह्य भागके मन्थन में प्रीति करता है।

इसी प्रकार सोमदेव स्वामीने चूर्णि गद्य द्वारा वैराग्य भावना का वर्णन किया है—

युवजन—स्त्रियों के शरीर में जो केशों का समूह है वह तरुण मनुष्य रूपी मृगों को बांधने के लिये मानों जाल ही है। भ्रकुटी रूपी लता का जो उल्लास है वह पुनर्जन्म रूपी वृक्ष पर चढ़ने के लिये मानों उपाय ही है। नेत्र युगल संसार रूपी सागर में घुमाने के लिये मानों दो नौकाएं ही हैं। वचनों की मधुरता मानों दुःख रूपी अटवी में गिराने का एक साधन ही है। स्त्रियोंका यह अधर पल्लव मृत्यु रूपी हाथी को लुभाने के लिये मानों ग्रास ही है। स्तन मण्डल स्पर्श विष (जिसके छूनेके साथ ही मृत्यु हो, जाय ऐसा विष) के कन्दका मानों प्रादुर्भाव ही है। भुजलता का आलिङ्गन मानों यमराजका पाश वेष्टन ही हो अर्थात् बांधने की रस्सी (लेज) ही हो। नाभिके नीचे विद्यमान तीन रेखा रूप बलित्रय मानों जन्म जरा और मरण का मार्ग ही हो। नाभि मण्डल मानों हत्याका कुण्ड ही हो। रोमराजी की उत्पत्ति मानों समस्त गुणों को नष्ट करने के लिये नख की रेखा ही है। नितम्ब मण्डल मानों यम रूपी सर्प को निवास भूमि ही है और जांघों की रचना मानों दुःखोंके आगमन के लिये निर्मित तोरण ही है। और भी कहा है—

भ्रूर्धनुर्दृष्टयो बाणास्त्रिशूलं च बलित्रयम् ।
हृदयं कर्तरी यासां ताः कथं न नु चण्डिकाः ॥ १ ॥
गुणग्रामविलोपेषु साक्षाद् नीतयः स्त्रियः ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य निसर्गादर्गला इव ॥ २ ॥
गूथकीटो यथा गूथे रतिं कुरुत एव हि ।
तथा स्त्र्यमेध्यसंजातः कामी स्त्रीविटूतो भवेत् ॥ ३ ॥

एवमिन्द्रियसुखाकुला इन्द्रियसुखविह्वला न छिन्दन्ति भववृक्षमिति सम्बन्धः । **छिंदंति भावसवणा** छिन्दन्ति द्विधाकुर्वन्ति खण्डयन्ति भववृक्षमिति सम्बन्धः । के छिन्दन्ति ? **भावश्रमणा** जिनसम्यक्त्वरत्न-मण्डितहृदयस्थलाः । *झाणकुढारेण भवरुक्खं* ध्यानं धर्म्यध्यानं शुक्लध्यानं च तदेव कुठारः कुठान् वृक्षान् इयर्ति गृह्णातीति कुठारः, ध्यानमेव कुठारो ध्यानकुठारः कर्मतरुस्कन्धविदारणत्वात् । भववृक्षं संसारतरुमिति शेषः

जह दीवो गब्भहरे मारुयवाहाविवज्जिओ जलइ ।
तह रायानिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ ॥ १२१ ॥

यथा दीपः गर्भगृहे मारुतबाधाविवर्जितो ज्वलति ।
तथा रागानिलरहितो ध्यानप्रदीपोऽपि प्रज्वलति ॥

भ्रूधनु—जिनकी भौंह धनुष है, दृष्टि वाण है, वलित्रय त्रिशूल है, और हृदय कैंची है वे स्त्रियाँ चण्डिका कैसे नहीं हैं अर्थात् अवश्य हैं ।

गुणग्राम—स्त्रियां गुणोंके समूह को लुप्त करने के लिये साक्षात् दुर्नीति स्वरूप हैं और स्वर्ग तथा मोक्षके मार्गको रोकने के लिये आगल हैं ।

गूथकीटो—जिस प्रकार विष्ठा का कीड़ा विष्ठा में ही प्रीति करता है उसी प्रकार स्त्री के अपवित्र स्थान-योनि से उत्पन्न हुआ कामी पुरुष स्त्री के अमेध्य स्थान में प्रीति करता है ।

इस तरह जो मुनि इन्द्रिय सुख से विह्वल हैं वे संसार रूपी वृक्षको नहीं छेदते हैं । किन्तु जो भाव श्रमण हैं जिनका हृदय सम्यक्त्व रूपी रत्नसे अलंकृत है वे धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान रूपी कुठार से संसार रूपी वृक्ष को छेदते हैं ।

गाथार्थ—जिस प्रकार गर्भ गृहमें स्थित दीपक वायु की बाधा से रहित होकर प्रज्वलित होता रहता है उसी प्रकार राग-रूपी वायु से रहित ध्यान-रूपी दीपक भी प्रज्वलित होता रहता है ॥१२१॥

जह दीवो गब्भहरे यथा दीपो उद्योतः गर्भगृहेऽपवरके स्थितः सन् । *मारुयवाहाविवज्जिओ जलइ* मारुतस्य सम्बन्धिनी मारुतोत्पन्ना वायोः सञाता, बाधा प्रचलाचिःकरणलक्षणा पीडा तस्या विवर्जितो ज्वलति ज्वलनक्रियां कुर्वाण उद्योतं करोति । *तह रायानिलरहिओ* तथा रागानिलरहितो वनितालिंगनादि-प्रीतिलक्षणरागानिलरहितो रागझंझावातविवर्जितो मुनेर्ध्यानप्रदीपः प्रज्वलति-उद्योतं करोति । उक्तं च—

जसु हिरणच्छी हियवडइ तासु न बंभु वियारि ।
एक्कहिं केम समंति वढ ! बे खंडा पडियारि ।। १ ।।

उक्तं च—

वृष्टयाकुलश्चण्डमरुज्झंझावातः प्रकीर्तितः ।

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए ।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ।। १२२ ।।

ध्याय पञ्चापि गुरून् मङ्गलचतुःशरणलोकपरिकरितान् ।
नरसुरखेचरमहितान् आराधनानायकान् वीरान् ।।

विशेषार्थ—जिस घरमें वायु का संचार नहीं होता है उसमें दीपक की लौ स्थिर होकर जलती रहती है । उसी प्रकार जिस मुनिके हृदय मे राग रूपी वायुका प्रवेश नहीं होता उसमें ध्यान रूपी दीपक अच्छी तरह प्रज्वलित रहता है । इसलिये हे मुने ! अपने हृदय को राग रूपी झंझा वायुसे बचाओ कहा भी है—

जसु—जिसके हृदय पट में मृगनयनी विद्यमान है उसके हृदय में ब्रह्मचर्य का विचार नहीं रह सकता क्योंकि अरे मूर्ख ! एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहती हैं ।

झंझा वायुका लक्षण कोषकारों ने कहा है—

वृष्टयाकुल—वर्षाके साथ जो तेज वायु चलती है उसे झंझा—वा, कहते हैं यहां आचार्य ने रागको झझावायु की उपमा दी है।

गाथार्थ—हे आत्मन् ! तू उन पांचों परमेष्ठियों का ध्यान कर जो चार मङ्गल, चार शरण और चार लोकोत्तम रूप हैं, मनुष्य देव और विद्याधरों से पूजित हैं, आराध-नाओं के स्वामी हैं तथा कर्म रूप शत्रुओं को नष्ट करने में वीर हैं ।।१२२।।

विशेषार्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पाँच परमेष्ठी हैं ये ही पांच गुरु कहलाते हैं । ये सब मङ्गल रूप हैं, लोकोत्तम रूप हैं और शरण भूत हैं । जो मम् अर्थात् पापको गला दे, जड़से उखाड़ कर नष्ट कर दे, वह मङ्गल है अथवा जो मङ्ग अर्थात् परमानन्द रूप सुखको देवे वह मङ्गल है । पञ्च परमेष्ठी इन दोनों लक्षणोंसे

झायहि पंच वि गुरवे ध्याय त्वं हे मुने ! हे आत्मन् ! पंचापि अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधून् पंचपरमेष्ठिनः । कथंभूतान् पंचापि गुरून्, *मंगलचउसरणलोयपरियरिए* मंगललोकोत्तमशरणभूतानित्यर्थः । मलं पापं गालयन्ति मूलादुन्मूलयन्ति निर्मूलकाषं कषन्तीति मंगलं । अथवा मंगं सुखं परमानन्दलक्षणं लान्ति ददतीति मंगलं । एते पंचपरमेष्ठिनो मंगलमित्युच्यन्ते । लोकेषु भूर्भुवः स्वर्लक्षणेषु उत्तमा उत्कृष्टा लोकोत्तमाः । एते पंचगुरवः सर्वेभ्योऽपि वर्या उच्यन्ते । तथा शरणं—अनिमथनसमर्था इमे पंचगुरवो जीवानां शरणं प्रतिपाद्यन्ते, चउसरणशब्देनामी, अर्हन्मंगलं अर्हल्लोकोत्तमाः अर्हच्छरणं । सिद्धमंगलं सिद्धलोकोत्तमा सिद्धशरणं । साधुमंगलं साधुलोकोत्तमाः साधुशरणं । साधुशब्देनाचार्योपाध्यायसर्वसाधवो लभ्यन्ते । तथा केवलिप्रणीतधर्ममंगलं धर्मलोकोत्तमाः धर्मशरणं चेति द्वादशमंत्राः सूचिताः चतुःशब्देनेति ज्ञातव्यं । एते द्वादशमंत्राः प्रणवपूर्वमायाबीजब्रह्मश्रुतबीजाक्षरपूर्वा ललाटपट्टे गोक्षीरवर्णा लिखिताश्चिन्त्यन्ते । तथा चोक्तं—

> *नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे*
> *वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते ।*

मङ्गल रूप हैं । ये पञ्चपमेष्ठी अधोलोक व मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक इन तीनों लोकों में उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट है । इसलिये लोकोत्तम कहलाते हैं । तथा जीवोंकी पीड़ा के नष्ट करने में समर्थ हैं इसलिये शरण कहे जाते हैं । आचार्यों ने पञ्च परमेष्ठियोंका निम्न-लिखित बारह मन्त्रों में समावेश किया है—

१ अर्हन्मङ्गलम्, २ अर्हल्लोकोत्तमा, ३ अर्हच्छरणम्, ४ सिद्धमङ्गलम्, ५ सिद्ध-लोकोत्तमा, ६ सिद्ध–शरणम्, ७ साधु मङ्गलं, ८ साधुलोकोत्तमाः, ९ साधुशरणम् १० केवलि प्रणीत धर्ममङ्गलं, ११ धर्म लोकोत्तमाः, १२ धर्म-शरणम् । इन बारह मन्त्रों का चत्तारि दण्डक के साथ निम्न प्रकार पाठ होता है—

'चत्तारिमङ्गलं अरहंता मङ्गलं सिद्धा मङ्गलं साहू मंगलं केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा अरहंता लोगुत्तमा सिद्धालोगुत्तमा साहुलोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो चत्तारि सरणं पवज्जामि अरहंते सरणं पवज्जामि सिद्धे सरणं पवज्जामि साहुसरणं पवज्जामि केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।'

इन मन्त्रों में साधु शब्द से आचार्य उपाध्याय और सर्वसाधुका ग्रहण होता है । इन मन्त्रोंको प्रणव बीज अर्थात् ॐ, माया बीज अर्थात् ह्रीं और ब्रह्मश्रुत बीज अर्थात् श्रीम् इन बीजाक्षरों के साथ गायके दूधके समान सफेद वर्ण द्वारा ललाट तट में लिख कर ध्याया जाता है । जैसा कि कहा गया है—

ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे
तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ।। १ ।।

लोयपरियरिए – लोकोत्तममंत्रसहितानित्यर्थः । तथा अनादिसिद्धमंत्रो गुरूपदेशान्मन्तव्यः । सूरिणा तु सूरिमंत्रः तिलकमंत्रो वृहल्लघुश्च निजगुरुसमीपादुपदेशात् ध्यातव्य इति भावार्थः । *णरसुरखेयरमहिए* कथंभूतान् पंचगुरून, नरसुरखेचरमहितान नराणां नृपादीनां, सुराणां सौधर्मेन्द्रादीनां, खेचराणां विद्याधरचक्रवर्तिनां, महितान् अष्टविधपूजाद्रव्यैर्भावपूजाभिश्च पूजितान् । पुनः कथंभूतान् पंचगुरून्, *आराहणाणायगे* आराधनाया नायकान् स्वामिन इत्यर्थः । *वीरे* वीरान् कर्मशत्रुक्षयकरणसमर्थानिति भावार्थः ।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ।। १२३ ।।

ज्ञानमयविमलशीतलसलिलं प्राप्य भव्या भावेन ।
व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवा भवन्ति ।।

नेत्रद्वन्द्व—निर्मल बुद्धिके धारक आचार्योंने इस शरीर में नेत्र युगल, कर्णयुगल, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, शिर, हृदय, तालु और भ्रकुटियुगल का अन्त भाग ये ध्यान के स्थान कहे हैं । इनमें से किसी एक स्थान में दूसरी ओरसे हटाकर चित्त को लगाना चाहिये ।

इन मन्त्रोंके साथ अनादि सिद्ध मन्त्रको गुरुउपदेश से जानकर उसका ध्यान करना चाहिये । इसी तरह सूरिमन्त्र, और छोटा बड़ा तिलक मन्त्र निज गुरुके पाससे प्राप्त कर उसका भी ध्यान करना चाहिये । ये पाँचों परमेष्ठी मनुष्य देव और विद्याधर राजाओं के द्वारा पूजा को आठ द्रव्यों और भाव पूजा के द्वारा पूजित हैं । चतुर्विध आराधना के नायक हैं और कर्म रूप शत्रुओंका क्षय करने में समर्थ हैं ।।१२२।।

गाथार्थ—भव्य जीव, ज्ञानरूपी निर्मल शीतल जलको प्राप्त कर जिन भक्तिके प्रभावसे जरा और मरण रूप रोगकी वेदना तथा दाहसे मुक्त होते हुए सिद्ध हो जाते हैं ।

विशेषार्थ—जो रत्नत्रयको प्राप्त करनेकी योग्यता रखते हैं वे भव्य कहलाते हैं । ऐसे भव्य जीव, भाव अर्थात् जिन भक्ति अथवा जिनसम्यक्त्व से ज्ञान रूपी निर्मल-रागादि कर्ममल कलङ्कसे रहित और शीतल—परमाल्हाद रूप सुखके उत्पादक जलको प्राप्तकर व्याधिरूप जरा मरणकी वेदना तथा दाहसे मुक्त होते हुए सिद्ध हो जाते हैं । यथार्थ में सम्यक्त्व रूपी लक्ष्मी सब सुखको देनेवाली है जैसा कि कहा गया है—

णाणमयविमलसीयलसलिलं ज्ञानेन निर्वृत्तं ज्ञानमयं सम्यग्ज्ञानमेव विमलं कर्ममलकलंकरहितं शीतलं परमाल्हादलक्षणसुखोत्पादकं एतद्विशेषणत्रयविशिष्टं सलिलं जलमिति रूपकं। *पाऊण* ज्ञानपानीयं प्राप्य लब्ध्वा। के ते, *भविय* रत्नत्रययोग्या भव्यजीवाः। *भावेण* भावेन जिनभक्त्या। उक्तं च—

[1]सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका सम्पुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः॥ १॥

वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवा भवन्ति। ज्ञानजलं पीत्वा ज्ञानजलमाकर्ण्य तन्मध्ये क्रीडित्वा तदवगाह्य परममंगलभूताः शिवाः सिद्धा भवन्ति। इति सम्यग्ज्ञानमाहात्म्यं भगवता श्रीकुन्दकुन्दाचार्येण सूरिणोद्भावितं भवतीति भावार्थः।

जह बीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे।
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं॥ १२४॥

यथा बीजे दग्धे नैव रोहति अंकुरश्च महीपीठे।
तथा कर्मबीजे दग्धे भवांकुरो भावश्रवणानां॥

सुखयतु—जिस प्रकार सुखकी भूमि स्त्री कामी पुरुषको सुखी करती है उसी प्रकार सुखकी भूमि तथा जिनेन्द्र भगवान्‌के चरण कमलोंकी अवलोकन करने वाली सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे सुखी करे जिस प्रकार शुद्ध शील व्रतसे युक्त माता पुत्रकी रक्षा करती है उसी प्रकार निरतिचार शीलव्रतों से युक्त सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करे और जिस प्रकार गुण रूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुलको पवित्र करती है उसी प्रकार मूलगुण रूपी आभूषणोंसे सुशोभित सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे पवित्र करे। ज्ञान जल को पीकर, ज्ञान जलको सुनकर और ज्ञान जलमें डूबकर भव्य जीव शिव-परममङ्गल-भूत-सिद्ध होते हैं इस प्रकार भगवान कुन्दकुन्द आचार्यने सम्यग्ज्ञानका माहात्म्य प्रकट किया है॥ १२३॥

गाथार्थ—जिस प्रकार बीजके जल जानेपर पृथिवी पर नया अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार कर्म रूपी बीजके जल जाने पर भाव मुनिके संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता॥ १२४॥

१—रत्नकरण्डश्रावकाचारे।

जह वीयम्मि य दड्ढे यथा येनप्रकारेण बीजे दग्धे भस्मीकृते। *ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे* नापि नैव रोहति प्रादुर्भवति। कोऽसौ ? अंकुरः अभिनव उद्भिज्जं उद्भिद्, महीपीठे भूमितले। चकार उक्तसमुच्चयार्थः. तेन रागद्वेषमोहादयो भावकर्मशाखादयोऽपि न रोहन्ति। *तह कम्मबीयदड्ढे* तथा कर्मबीजे दग्धे भस्मीकृते। *भवंकुरो भावसवणाणं* भवाङ्कुरः संसारांकुरो जन्मलक्षणो नापि रोहति न प्रादुर्भवति। केषां, भावसवणाणं सम्यग्दृष्टिदिगम्बराणां दुर्लक्ष्यपरमात्मभावनाना वतानां भेदज्ञानवतां। उक्तं च—

दुर्लक्ष्यं जयति परं ज्योतिर्वाचां गणाः कवीन्द्राणां।
जलमिव वज्रे यस्मिन्नलब्धमध्यो बहिर्लुठति ॥ १ ॥

भावसवणो वि पावइ सुक्खइं दुहाइं दव्वसवणो य।
इय णाउ गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ॥ १२५ ॥

भावश्रवणोपि प्राप्नोति सुखानि दुःखानि द्रव्यश्रवणश्च।
इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुतो भव ॥

विशेषार्थ—भाव मुनियोंकी महिमा बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार बीजके भस्म हो जाने पर पृथिवी के पृष्ठ पर नवीन अंकुर उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार कर्म रूपी बीजके भस्म हो जाने पर भाव मुनियोंके अर्थात् सम्यक्त्व सहित दिगम्बर मुद्राके धारक अथवा बड़ी कठिनाई से लक्ष्यमें आने वाले परमात्मा की भावनासे सहित भेद-विज्ञानी मुनियोंके संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता अर्थात् उन्हें फिर जन्म धारण नहीं करना पड़ता वे नियम से सिद्ध हो जाते हैं यथार्थ में परमात्मा की भावना अत्यन्त दुर्लक्ष्य है जैसा कि कहा भी है—

दुर्लक्ष्य—वह दुर्लक्ष्य परम ज्योति जयवंत रहे जिसमें बड़े बड़े कवियोंके वचनों का समूह वज्र में जलकी तरह भीतर प्रवेश न पाकर बाहर ही लौटता रहता है।

इस गाथामें अंकुरो य के साथ जो चकार दिया है वह समुच्चयार्थक है अतः उससे यह अर्थ सूचित किया है, कि द्रव्य कर्म रूपी बीजके भस्म हो जाने पर रागद्वेष मोह आदि भाव-कर्मकी शाखा प्रशाखाएं भी नहीं उत्पन्न होती हैं ॥ १२४ ॥

गाथार्थ—भाव श्रमण-सम्यग्दृष्टि मुनि सुखोंको प्राप्त होता है और द्रव्य श्रमण मिथ्यादृष्टि मुनि दुःखोंको प्राप्त करता है इस प्रकार दोनोंके गुण और दोषोंको जानकर भावसे संयुक्त होओ ॥ १२५ ॥

विशेषार्थ—जो भाव श्रमण है अर्थात् जिसने सम्यग्दर्शन के साथ दिगम्बर मुद्रा धारण की है वह निज आत्मासे उत्पन्न परमानन्द रूप निराकुलता से युक्त उत्कृष्ट अनन्त

भावसवणो वि पावइ भावश्रवणः सम्यग्दृष्टिदिगम्बरोऽपि निश्चयेन प्राप्नोति लभते। कानि प्राप्नोति, *सुक्खाइं* निजात्मोत्थपरमानन्दलक्षणनिराकुलतासहितपरमानन्तसौख्यानि। *दुहाइं दव्वसवणो य* प्राप्नोतीति दीपकोद्योतात् दुःखानि शारीरमानसागन्तुकलक्षणापलक्षितान्यसातानि द्रव्यश्रवणो मिथ्यादृष्टिदिगम्बरः प्राप्नोति। च शब्दाद्गृहस्थोऽपि सावद्यसंयुक्तो दानपूजास्नपनरहितः पर्वोपवासकातरः चलमलिनाङ्गरहितसम्यग्दर्शनदुर्विधो व्रतातिचारभग्नपुण्यपादो दूरभव्यतया गुरुचरणनिन्दक आत्महितो न भवति। लौंकस्तु महापापी जिनप्रतिमाच्छेदको नारको भवति। तथा चोक्तं—

> [1]सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं
> क्वाप्येतद्द्वयवत् करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।
> तस्मादेतदिहान्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा
> मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा॥ १॥

इय णाउं गुणदोसे इति ज्ञात्वा गुणदोषान्। *भावेण य संजुदो होइ* भावेन जिनभक्तिनिजात्मभावनापंचगुरुचरणरेणुरंजितभालस्थलः संयुतो भव। एवं सति शं सुखं तेन युक्तो भव हे मुने! हे जीवेति सम्बोधनं।

सुखोंको प्राप्त होता है और जो द्रव्य श्रमण है अर्थात् मिथ्यात्व सहित दिगम्बर मुद्राको धारण करने वाला है वह शारीरिक मानसिक और आगन्तुक दुखों को प्राप्त होता है।

'दव्व सवणो य' यहां जो 'च' शब्द दिया है उससे सूचित होता है कि जो गृहस्थ भी सावद्य—पाप-पूर्ण कार्योंसे सहित है, दान पूजा और अभिषेक से रहित है, पर्वके दिन उपवास करने में कायर है, सर्वथा निर्मलता दूर रहा चल मलिन और अङ्गहीन सम्यक्त्व से भी रहित है, व्रतों में अतिचार लगने से जिसका पुण्य रूपी पैर भग्न हो गया है और दूर भव्य होने से जो गुरु चरणों की निन्दा करता है वह आत्म-हितकारी नहीं है। जिन प्रतिमा का खण्डन करने वाला लौंक महा पापी है और इस महा पापके फल स्वरूप मरकर नरक गतिका पात्र होता है। गृहस्थाश्रम की निन्दा करते हुए कहा गया है—

सर्वं धर्ममयं——गृहस्थाश्रम में निर्बुद्धि मनुष्यों की बात जाने दो किन्तु प्रज्ञारूपी धनके धारक बुद्धिमान् मनुष्यों का भी समस्त चरित्र कहीं तो धर्ममय होता है, कहीं पापमय होता है और कहीं उभय रूप होता है। इसलिये गृहस्थोंका चरित्र अन्ध पुरुषकी रस्सी बटने के समान है अथवा हाथीके स्नानके समान है अथवा नशा में मस्त या पागल मनुष्य की चेष्टाके समान है। यथार्थ में गृहस्थाश्रम सर्वथा हितकारी नहीं है।

१—आत्मानुशासने।

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं ।
पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं वज्जरियं ॥ १२६ ॥

तीर्थंकरगणधरादीनि अभ्युदयपरम्पराणि सौख्यानि ।
प्राप्नुवन्ति भावसहिताः संक्षेपेन जिनैः कथितं ॥

तित्थयरगणहराइं तीर्थकरगणधरादीनि सौख्यानीति सम्बन्धः । तीर्थंकराणां धर्मोपदेशकाले तीर्थंकराः कमलोपरि पादौ न्यस्यन्ति, अशोकवृक्षच्छायामुपविशंति, तेषामुपरि द्वादशयोजनमभिव्याप्य देवाः पुष्पवर्षणं विरचयन्ति, तानि तु पुष्पाणि उपरि मुखानि अधोवृन्तानि अवतिष्ठन्ते, जानुपर्यंतं पतति, मुनीनामागमने मुनिपुङ्गवा मार्गं लभन्ते, भ्रमरपरीतानि कमलोत्पलकैरवेन्दीवरराजचंपकजातिमुक्तबंध-

---

इस प्रकार गुण और दोषों को जानकर हे मुने ! तू भावसे संयुक्त हो अर्थात् जिन-भक्ति और निज आत्माकी भावनासे सहित होता हुआ पञ्च गुरुओंकी चरणरजसे अपने ललाटतट को सुशोभित कर। ऐसा करने से ही तू शंयुक्त अर्थात् सुखसे सहित हो सकेगा ॥ १२५ ॥

गाथार्थ—भाव सहित मुनि, तीर्थंकर और गणधर आदिके अभ्युदयों की परम्परा रूप अनेक सुखोंको प्राप्त होता है ऐसा संक्षेप से जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ।१२६॥

जिनकी हृदय-स्थली सम्यक्त्व रूपी चिन्तामणि से अलंकृत है ऐसे भाव मुनि तीर्थंकर और गणधर आदिके सुखोंको प्राप्त होते हैं धर्मोपदेश के समय तीर्थंकर कमलों के ऊपर पैर रखते हैं,[1] अशोक वृक्षको छाया में विराजमान होते हैं, उनके ऊपर बारह योजन तक की भूमिको व्याप्त कर देव पुष्प-वर्षा करते हैं, उन पुष्पों के मुख ऊपर की ओर बोंड़ियां नीचेकी ओर रहती हैं वे पुष्प घुटनों पर्यन्त वरसते हैं, जब मुनियोंका आगमन होता है तब मुनियों को उनमें मार्ग मिलता रहता है, भ्रमरों से सहित होते हैं, कमल उत्पल, कैरव, इन्दीवर, राजचम्पक, जाति, मुक्तबन्धन, अहट्टास बकुल केतकी मन्दार सुन्दर नमेरू पारिजात सन्तानक कल्हार, सफेद गुलाब, लाल गुलाब और मुचुकुन्द आदि फूलोंके समूह वरसते हैं। साढ़े बारह करोड़ दुन्दुभि तथा बांसुरी वीणा पणव मृदङ्ग त्रिविल ताल काहल और शङ्ख आदि असंख्यात बाजे देवकुमारोंके हाथोंसे ताड़ित होते हुए पृथिवी और आकाशमें शब्द करते हैं। जल सहित मेघकी गर्जनाके समान भगवान्‌का दिव्यध्वनि एक योजन तक भव्यजीवों के द्वारा सुनी जाती है । हंसके पङ्खोंके समान उज्ज्वल चौंसठ चमर ढोरे

१—कमलों के ऊपर पैर रखना बिहार के समय संगत होता है । उपदेश के समय तो सिंहासन पर अन्तरीक्ष पद्मासन में ही विराजमान रहते हैं ।

नाट्टहासबकुलकेतकमंदारसुन्दरनमेरुपारिजातसन्तानककल्हारशुक्लरक्तसेवत्रकमुचुकुन्दवृन्दानि पतन्ति, पंचाशल्लक्षद्वादशकोटिपटहा अपराणि च वादित्राणि वेणुवल्लकिपणवमृदंगत्रिविलतालकाहलकम्बुप्रभृतीनि संख्यातीतानि अम्बरचरकुमारकरास्फालितानि [1]समुर्वन्तरिक्षलक्षाणि ध्वनन्ति, सजलजलधरगर्जितमिव स्वामिनो योजनैकं यावद्ध्वनिर्भव्यजनैराकर्ण्यते, हंसांसोऽज्ज्वलानि च चतुःषष्ठिचामराणि पतन्त्युत्पतन्ति च, पंचशतधनुरुन्नतं सिंहविष्टरं भवति, योजनैकप्रमाणं सभामभिव्याप्य कोटिभास्करयुगपदुद्योतिशरीरतेजो भवति, तच्च शारदेन्दुपरिपूर्णमण्डलमिव लोचनानां प्रियतमं भवति, एकदण्डान्तराणि उपर्युपरि त्रीणि छत्राणि मस्तकोपरि संभवन्ति, इत्यादीनि चतुस्त्रिंशदतिशयपचकल्याणादीनि जिनोत्तमानां सुखानि बाह्यानि भवन्ति, अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखानि चाभ्यन्तरसुखानि भगवतां भवन्ति। तथा भावश्रवणा (नां) गणधरदेवानां तीर्थंकरयुवराज्यसौख्यानि भवन्ति । *अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं* इन्द्रपदतीर्थंकरकल्याणत्रयलक्षणानि कल्याणपरम्पराणि सौख्यानि भावश्रवणा अभ्यन्तरमहामुनयो भुञ्जन्त इति भावार्थः। *पावंति भावसहिया* प्राप्नुवन्ति लभन्ते, के ते ? भावसहिताः सम्यक्त्वचिन्तामणिमण्डितमनःस्थलाः खलु दिगम्बराः *संखेवि जिणेहि वज्जरियं* संखेविसमासेनोक्तमिदं वचनं जिनैः कथितमिति भावार्थः।

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं ।
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं ॥ १२७ ॥

जाते हैं। पांच सौ धनुष ऊंचा सिंहासन होता है। एक योजन तक सभाको व्याप्त करके करोड़ों सूर्यों के एक साथ फैलने वाले प्रकाशके समान भगवान् के शरीर का तेज होता है उनका वह तेज (भामण्डल) शरद् ऋतुके पूर्ण चन्द्रमण्डल के समान नेत्रोंको अत्यन्त प्रिय होता है। एक दण्ड अर्थात् चार हाथकी ऊंचाई वाले तीन छत्र ऊपर २ मस्तक पर लगे होते हैं। इन सबको आदि लेकर चौंतीस अतिशय तथा पञ्चकल्याणक आदि बाह्य सुख तीर्थंकर भगवान् के होते हैं। और अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीय तथा अनन्त सुख ये आभ्यन्तर सुख तीर्थंकर भगवान् के होते हैं। भाव–श्रमण गणधरों के भी सुखोंको प्राप्त होते हैं, गणधर क्या हैं मानों तीर्थंकर रूप राजाके युवराज ही हैं। इसके सिवाय भावश्रमण इन्द्र पद आदि अभ्युदय को प्राप्त होते हैं। ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान् ने संक्षेप से कहा है ॥१२६॥

गाथार्थ—वे भावमुनि धन्य हैं। दर्शन ज्ञान और चारित्रसे शुद्ध तथा मायाचारसे

१—'समुर्व्यन्तरिक्षलक्ष्याणि' इति पाठः सम्यक् प्रतिभाति समन्तात् उर्व्यन्तरिक्षयोः पृथिव्याकाशयोः लक्ष्याणि इति तदर्थः। २—कुर्वन्ति म०।

ते धन्यास्तेभ्यो नमः दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धेभ्यः ।
भावसहितेभ्यो नित्यं त्रिविधेन प्रणष्टमायेभ्यः ॥

ते धण्णा ताण णमो ते मुनिपुङ्गवा धन्याः पुण्यवन्तः तेभ्योऽस्माकं श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणां नमो नमस्कारो भवतु नमोऽस्तु स्तात् । *दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं* सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्यक्चरणानि शुद्धानि निरतिचाराणि येषां, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्वा ये शुद्धाः कर्ममलकलङ्करहिता दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धा ये मुनिपुङ्गवाः तेभ्यो नमः । कथंभूतेभ्यस्तेभ्यः, *भावसहियाण* भावेन शुद्धात्मपरिणामेन जिनसम्यक्त्वेन च सहितानां संयुक्तेभ्य इत्यर्थः । ननु नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगे चतुर्थी भवति तत्कथमत्र षष्ठीनिर्देशः सत्यं, संस्कृते तद्योगे चतुर्थी प्रोक्ता, न तु प्राकृते । कथं ? नित्यं सर्वकालं नमो-नमोस्तु इत्यस्य विशेषणमिदं केन कृत्वा नमः, *तिविहेण* मनोवाक्कायलक्षणेन नमस्कारेण नमो न तु हास्येन । कथंभूतानां तेषां, *पणट्ठमायाणं* प्रणष्टा विनाशं प्राप्ता माया परवंचना येषां ते प्रणष्टमायास्तेषां ।

इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं ।
तेहि वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥ १२८ ॥

ऋद्धिमतुलां विकृतां किंनरकिम्पुरुषामरखचरैः ।
तैरपि न याति मोहं जिनभावनाभावितो धीरः ॥

इड्ढिमतुलं विउव्विय ऋद्धिः पूर्वोक्तलक्षणा, अतुला अनुपमा, विकुर्विता विक्रियाकृता निज-

---

रहित उन भावमुनियों को मेरा मनवचन कायसे निरन्तर नमस्कार हो ॥१२७॥

विशेषार्थ—भावमुनियों के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि वे भावलिङ्गी मुनि धन्य—भाग हैं—बड़े पुण्यशाली हैं । जो निरतिचार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से शुद्ध हैं, जो शुद्ध आत्म-परिणाम अथवा जिन—सम्यक्त्व से सहित हैं तथा जिनका मायाचार—पर-प्रतारणाका भाव नष्ट हो चुका है उन भाव-लिङ्गी मुनियों को मेरा मनवचन कायसे निरन्तर नमस्कार हो ॥१२७॥

गाथार्थ—मुनिको तप के माहात्म्यसे अतुल ऋद्धियां स्वयं प्राप्त होती हैं और किन्नर किम्पुरुष स्वर्ग के देव तथा विद्याधर भी विक्रिया से अनेक ऋद्धियां दिखलाते हैं परन्तु जिनभावना से वासित धीर वीर – दृढ श्रद्धानी मुनि उन सभी से मोह को प्राप्त नहीं होता है ॥ १२८ ॥

विशेषार्थ—अपने उसी भव तथा अन्य भवके तपके माहात्म्य से मुनिको अनेक अनुपम ऋद्धियां स्वयं प्राप्त होती हैं तथा किन्नर, किम्पुरुष, कल्पवासी देव और विद्याधर भी विक्रिया शक्ति से अतुल्य ऋद्धियां दिखलाते हैं परन्तु जो जिन-भावना अर्थात् निर्मल

तद्भवाग्भवतपोमहिमसंजाता । तथा *किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं* किन्नरैः, किम्पुरुषैः, अमरैः कल्पवासिप्रभृतिभिश्च विहिता ऋद्धिः । *तेहि वि जाइ मोहं* तैरपि किन्नरकिम्पुरुषामरखचरैरपि मोहं न याति लोभं न गच्छति । कोऽसौ, *जिणभावणभाविओ धीरो* जिनभावनया निर्मलसम्यक्त्वेन भावितो वासितो धीरो योगीश्वरः । ध्येयं प्रति धियमीरयतीति धीरः ।

किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं ।

जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्खमुणिधवलो ॥ १२९ ॥

किं पुनः गच्छति मोहं नरसुरसुखानामल्पसाराणाम् ।

जानन् पश्यन् चिन्तयन् मोक्षं मुनिधवलः ॥

किं पुण गच्छइ मोहं किं पुनर्गच्छति मोहं लोभं । *णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं* नराणां नृपादीनां सम्बन्धिनः सुराणामिन्द्रादीनां देवानां सम्बन्धिनां सौख्यानां मोहं लोभं किं गच्छति—अपि तु न गच्छति । कथंभूतानां सौख्यानां, अल्पसाराणां स्तोकप्रशस्यानां वा अल्पस्वादानामित्यर्थः । *जाणंतो पस्संतो* जानन्नपि अनुभूय दृष्ट्वा जानन्नपि, पस्संतो—पश्यन् प्रत्यक्षं चक्षुर्भ्यां निरीक्षमाणोऽपि । *चिंतितो मोक्खं मुणिधवलो* चिन्तयन्नपि विचारयन्नपि, किं ? मोक्षं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं परमनिर्वाणसुखं अनन्तसौख्यदायकं परमनिर्वाणसुखं जानन्नपीत्यादिसम्बन्धः, मुनिधवलः मुनीनां मुनिषु वा धवलो निर्मलचारित्रभरोद्धरणधुरंधरो वृषभः श्रेष्ठ इत्यर्थः ।

सम्यक्त्व से वासित है ऐसा धीर मुनि उन सबसे मोहको प्राप्त नहीं होता अर्थात् लोभके वशीभूत नहीं होता जो ध्येय—चिन्तनीय पदार्थ की ओर अपनी धी—बुद्धि को प्रेरित करे वह धीर है "ध्येयं प्रति धियमीरयतीति धीरः" तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि मुनि अपने स्वरूप में सदा निःशङ्क रहता है, वह बाह्य प्रलोभनों में नहीं आता ।

गाथार्थ—जो सर्व कर्म-क्षयरूप मोक्षको जान रहा है, देख रहा है तथा उसीका चिन्तन कर रहा है ऐसा श्रेष्ठ मुनि, मनुष्य और देवोंके तुच्छ सुख में मोहको कैसे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥१२९॥

विशेषार्थ—जो अनन्त सुखको देनेवाले मोक्षको जानता है, देखता है और चिन्तवन करता है ऐसा चारित्र के भारको धारण करने वाला मुनि-वृषभ—श्रेष्ठ मुनि मनुष्य और देवोंके अल्प स्वाद से युक्त सुखोंके लोभको क्या फिर प्राप्त होता है ? अर्थात् नहीं होता । मोक्षके आत्मीय सुखके समक्ष विषय—जन्य अल्प—तम सुख विवेकी मनुष्यको प्रलुब्ध नहीं कर सकता है । तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि साधु सांसारिक सुखसे सदा निःकाङ्क्ष रहता है ॥ १२९ ॥

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं ।
इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥ १३० ॥

आक्रमते यावन्न जरा रोगाग्निः यावन्न दहति देहकुटीम्
इन्द्रियबलं न विगलति तावत् त्वं कुरु आत्महितम् ॥

उत्थरइ जा ण जरओ आक्रमते यावन्न जरा । "छुंदोत्थारौहावा आक्रमेः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण आक्रमधातोरुत्थार इत्यादेशः । तर्हि उत्थारइ इतीदृशं रूपं स्यात ? प्राकृते ह्रस्वदीर्घौ मिथः भवतः "अचामचः प्रायेण" इति सूत्रेण, तत्र नास्ति दोषः "आङो ज्योतिरुद्गमेः" इति रुचादिपाठादात्मनेपदं । अथवा *उत्थारइ जा ण जरा* इति च क्वचित् पाठः । *रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं* रोगाग्निर्यावन्न दहति न भस्मीकरोति, कां ? देहकुटीं शरीरपर्णशालां । *इंदियबलं न वियलइ* इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां बलं सामर्थ्यं यावत्कालं न विगलति । *इंदियबलं न वियलं* इति पाठे इन्द्रियबलं यावद्विकलं हीनं न भवति । *ताव तुमं कुणहि अप्पहियं* तावत्त्वं हे मुनिपुङ्गव ! कुरु विधेहि, किं ? आत्महितं मोक्षं साधयेत्यर्थः । उक्तं च—

गाथार्थ—हे आत्मन् ! जबतक बुढापा आक्रमण नहीं करता है, जबतक रोग रूपी अग्नि शरीर रूपी झोंपड़ी को नहीं जलाती है और जब तक इन्द्रियों का बल क्षीण नहीं होजाता है तब तक तू आत्म-हित करले ॥१३०॥

विशेषार्थ—'उत्थरइ' की संस्कृत छाया आक्रमते है। आङ् उपसर्ग पूर्वक क्रम धातुके स्थान में 'छुन्दोत्था रौहा वा आक्रमेः' इस प्राकृत व्याकरण के सूत्रसे उत्थार आदेश होजाता है। 'अचामचः प्रायेण' इस प्राकृत व्याकरण सूत्रके अनुसार प्रायः ह्रस्व के स्थान में दीर्घ और दीर्घ के स्थान में ह्रस्व स्वर का प्रयोग होता रहता है, इसलिये उत्थारइ के स्थान पर उत्थरइ प्रयोग सदोष नहीं है। अथवा उत्थारइ जाण जरा ऐसा भी कहीं पाठ है, अतः इस पाठमें ह्रस्व दीघका प्रश्न ही नहीं उठता है। 'आङो ज्योतिरुद्गमेः' इस सूत्रसे आक्रमते में आत्मनेपदका प्रयोग हुआ है। बुढ़ापा मनुष्य के शरीरको जर्जर कर देता है, रोग रूपी अग्नि शरीर रूपी पर्णशाला को क्षणभरमें जला देती है और अन्त २ तक मनुष्य की इन्द्रियां शक्तिहीन होजाती हैं, उस दशा में मनुष्य कुछ करना भी चाहता हो तो नहीं कर सकता, इसलिये आचार्य महाराज बड़े करुणाभाव से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मुनिपुङ्गव ! हे मुनि श्रेष्ठ ! जब तक बुढापे ने आक्रमण नहीं किया है, जब तक रोग रूपी अग्निने तुम्हारे शरीर रूपी पर्णशाला को नहीं जलाया है और जब तक इन्द्रिय-बल कम नहीं हुआ है तब तक तू आत्महित करले। आत्मा का हित मोक्ष है, उसे प्राप्त करले।

[1]पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरसि ॥ १ ॥
आतङ्कशोकभयभोगकलत्रपुत्रै—
र्यः खेदयेन्मनुजजन्म मनोरथाप्तं।
नूनं स भस्मकृतधीरिह रत्नराशि-
मुद्दीपयेदतनुमोहमलीमसात्मा ॥ २ ॥
[2]अश्रोत्रीव तिरस्कृता परतिरस्कारश्रुतीनां श्रुति-
श्चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दूष्यामिवान्ध्यं गतं।
भीत्येवाभिमुखान्तकादतितरां कायोऽप्ययं कंपते
[3]निःशङ्कत्वमहो प्रदीप्तभवनेऽप्यासे जराजर्जरः[4] ॥ ३ ॥

छज्जीवछडायदणं णिच्च मणवयणकायजोएहिं
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्त ॥ १३१ ॥

यह मोक्ष मनुष्य शरीर को छोड़ अन्य शरीर से साध्य भी नहीं है। कहा भी है—

पलितच्छलेन—हे सत्पुरुष ! जिस बुढ़ापे में सफेद बालोंके बहाने तेरी बुद्धिकी शुद्धता ही शरीर से निकल जाती है उस बुढ़ापे में तू बेचारा परलोक के प्रयोजन का कैसे स्मरण करेगा ?

आतङ्क—जो पुरुष, बहुत भारी मनोरथों से प्राप्त मनुष्य जन्मका रोग शोक भय भोग स्त्री और पुत्रोंके द्वारा खिन्न करता है—नष्ट करता है निश्चित ही महामोह से मलिन मनको धारण करने वाला वह पुरुष भस्म की इच्छा से रत्नराशिको जलाता है।

अश्रोत्रीव—मुझे दूसरों के तिरस्कार के शब्द न सुनना पड़ें इस इच्छा से ही मानों कान वधिर होगये हैं तुम्हारी इस दूषित दशाको देखने के लिये असमर्थ होनेसे ही मानों नेत्र अन्धे होगये हैं और सामने खड़े हुए यमराज से डरकर ही मानों शरीर अत्यन्त कांप रहा है परन्तु जरा से जर्जर इस जलते हुए भवन में तू निःशङ्क होकर बैठा है, यह आश्चर्य की बात है।

गाथार्थ—हे मुनिवर ! हे महासत्व ! तू मनवचन काय इन तीनों योगोंसे छह कायके जीवोंपर दया कर, छह अनायतनों का परित्याग कर और अपूर्व आत्म-तत्वकी भावना को कर ॥ १३१ ॥

१—आत्मानुशासने। २—आत्मानुशासने। ३—निष्कम्पस्त्वं म०। —४जराजर्जरः म०।

षट् जीवषडायतनानां नित्यं मनोवचनकाययोगैः ।

कुरु दयां परिहर मुनिवर ! भावय अपूर्वं महासत्व ! ॥

छज्जीवछडायदणं षड्जीवानां दयां कुरु, षडायतनानि परिहर कथं, *णिच्चं* सर्वकालं । *मणवयणकायजोएहिं* मनोवचनकाययोगैः । *कुरु दय परिहर मुनिवर* हे मुनिवर मुनीनां श्रेष्ठ ! *भावि अपुव्वं महासत्त* **भावय अपूर्वं** आत्मभावनं हे **महासत्व महाप्रसन्नधर्मपरिणाम !** ।

"अभावियं भावेमि भावियं न भावेमि ,"

इति श्रीगौतमोक्तत्वात् ।

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण ।

भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥ १३२ ॥

दशविधप्राणाहारः अनन्तभवसागरे भ्रमता ।

भोगसुखकारणार्थं कृतश्च त्रिविधेन सकलजीवानाम् ॥

दसवहिपाणाहारो दशविधानां प्राणानामाहारः पचेन्द्रियाणि मानवानां तिरश्चां च त्वया कवलितानि, मनोवचनकायलक्षणास्त्रयो बलप्राणास्त्वया हे जीव ! भक्षिताः, उच्छ्वासप्राणोऽपि त्वया

विशेषार्थ—पृथिवी कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक, वनस्पति कायिक, और त्रस ये छहकाय के जीव हैं । हे मुनिवर ! तू सदा मन वचन कायसे इनपर दया कर—इनकी रक्षा कर । कुगुरु कुदेव कुधर्म, कुगुरुसेवक, कुदेव सेवक और कुधर्म सेवक ये छह अनायतन हैं—भक्ति वन्दना आदिके अस्थान हैं । हे महासत्व ! हे निर्मल धर्म परिणाम के धारक मुने ! तू इन छह अनायतनों का मन वचन काय से परित्याग कर और जिस आत्म-भावना का तूने आजतक चिन्तन नहीं किया है उसका चिन्तन कर । श्री गौतम ने भी कहा है—

अभावियं—जिस आत्म-स्वरूप की अब तक भावना नहीं की उसकी भावना करता हूं और जिस विषय भोग की निरन्तर भावना की उसकी भावना नहीं करता हूं ।

गाथार्थ—हे जीव ! अनन्त भवसागर में भ्रमण करते हुए तूने भोग-सुखके निमित्त मन वचन कायसे समस्त जीवोंके दश प्राणोंका आहार किया है ॥ १३२ ॥

विशेषार्थ—यह जीव अनादि कालसे अनन्तानन्त भव धारण कर चुका है । उन सब भवोंमें इसने अपने भोग सुखके लिये समस्त जीवोंके शरीर को मन वचन कायसे अपना आहार बनाया है । उत्कृष्ट रूपसे जीवोंके पांच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और उच्छ्वास ये दश प्राण होते हैं । देव और नारकियों के शरीर किसी के ग्रहण में नहीं आते

चर्विता, आयुप्राणश्चोदराग्निभाजनं कृतः। *अयांतभवसायरे भमंतेण* अनन्तानन्तसंसारसमुद्रे भ्रमता पर्यटता *भोयसुहकारणट्ठं* भोगसुखकारणार्थं जिह्वापस्थसंजातसुखहेतवे। *कदो य तिविहेण सयलजीवाणं* दशप्राणानां त्वया आहारः कृतः त्रिविधेन मनसा वाचा वपुषा चेति सकलजीवानां चातुर्गतिकप्राणिनां।

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि।

उप्पज्जंतमरंतो पत्तोसि निरंतरं दुक्खं॥ १३३॥

प्राणिवधैः महायशः! चतुरशीतिलक्षयोनिमध्ये।

उत्पद्यमानम्रियमाणः प्राप्तोसि निरन्तरं दुःखम्॥

पाणिवहेहि महाजस प्राणिनां वधः कृत्वा हे महायशः! *चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि* चतुरशीतिलक्षयोनीनां मध्ये। *उप्पज्जंतमरंतो* उत्पद्यमानो म्रियमाणश्च। *पत्तोसि निरंतरं दुक्खं* प्राप्तोऽसि लब्धवानसि निरन्तरमविच्छिन्नं दुःखं शारीरमानसागन्तुकलक्षणं। चतुरशीतिलक्षयोनीनां विवरणनिर्देशः पूर्वोक्त एव ज्ञातव्यः।

जीवाणमभयदाणं देह मुणी पाणभूदसत्ताणं।

कल्लाणसुहनिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए॥ १३४॥

मात्र मनुष्य और तिर्यञ्चोंके शरीर ही ग्रहण में आते हैं। आचार्य कहते हैं कि हे जीव इस अनन्तानन्त संसार में भ्रमण करते हुए तू ने समस्त मनुष्यों और तिर्यञ्चों के पांच इन्द्रिय रूप प्राणोंका कवलित किया है, मन वचन काय, रूप तीन बलोंको खाया है, श्वासोच्छ्वास प्राणको चबाया है और आयु प्राणको जठराग्निका पात्र बनाया है और वह भी किसलिये? सिर्फ जिह्वा और जननेन्द्रियके सुखके निमित्त। अब चेत और षट्जीवनिकाय पर दया धारण कर॥ १३२॥

गाथार्थ—हे महायश! उक्त प्राणिवधके कारण तू चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होता हुआ मरता हुआ निरन्तर दुःखको प्राप्त हुआ है॥ १३३॥

विशेषार्थ—इस गाथा में पूर्वोक्त प्राणिवधका फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि हे महायश के धारक! मुनिवर! प्राणि वधके कारण तूने चौरासी लाख योनियोंमें बार बार जन्म मरण कर निरन्तर शारीरिक मानसिक और आगन्तुक दुःख उठाया है अब सावधान होकर जीवोंकी रक्षा कर॥ १३३॥

गाथार्थ—हे मुने! तू कल्याणक सम्बन्धी सुखकी परम्परा के निमित, मन वचन कायकी शुद्धिसे जीव, प्राणी, भूत और सत्वोंका अभय दान दे॥ १३४॥

जीवानामभयदानं देहि मुने ! प्राणभूतसत्त्वानाम् ।
कल्याणसुखनिमित्तं परम्परा त्रिविधशुद्धया ॥

जीवाणमभयदाणं जीवानामभयदानं । *देह मुणी पाणभूदसत्ताणं* हे मुने ! त्वं देहि प्रयच्छ न केवलं जीवानां अभयदानं देहि—अपि तु प्राणभूतसत्त्वानां । किमर्थमभयदानं देहि ? *कल्लाणसुहनिमित्तं* तीर्थंकरनामकर्मबन्धनार्थं गर्भावतारजन्माभिषेकनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणपंचकल्याणसुखपरंपरानिमित्तं सुखश्रेणिकारणं अभयदानमित्यर्थः । *तिविहसुद्धीए* त्रिविधशुद्धया मनोवचनकायनिर्मलतया अभयदानं देहि उक्तं च-

अभयदाणु भयभीरुहं जीवहं दिण्णु ण आसि ।
वारवारमरणहं डरहि केम्व चिरा सुहोसि ॥ १

तथा चोक्तं—

[1]एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः ।
परं फलं तु [2]पूर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव ॥ १ ॥
[3]आयुष्मान् सुभगः श्रीमान् सुरूपः कीर्तिमान्नरः ।
अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते । २ ॥

उक्तं च—

द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्राणा भूतास्ते तरवः स्मृताः ।
जीवाः पंचेन्द्रिया ज्ञेयाः शेषाः सत्वाः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

विशेषार्थ—हे जीव ! तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध करनेके लिये तथा उसके फलस्वरूप गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमण, ज्ञान और निर्वाण कल्याण इन पञ्च कल्याणकों-सम्बन्धी सुखकी परम्पराके निमित्त तू मन वचन कायकी निर्मलता से समस्त जीव प्राणी, भूत, और सत्वोंको अभयदान दे ।

अभयदाणु—हे आत्मन् ! तू ने भयभीत जीवोंको अभयदान नहीं दिया इसीलिये वार वार मरणसे डर रहा है तू दीर्घायु कैसे हो सकता है ? । १ ॥

और भी कहा है-

एका—एक ओर अकेली जीव दया और दूसरी ओर समस्त क्रियाएं रखी जावें परन्तु उत्कृष्ट फल जीव-दयाका ही होगा, उस तरह, जिस तरह कि एक ओर अकेला चिन्तामणि रत्न रक्खा जावे और दूसरी ओर समस्त खेती रखी जावे परन्तु उत्कृष्ट फल चिन्तामणि का ही होता है ।

१—यशस्तिलके इति पदं नास्ति । २—सर्वत्र प० । ३—यशस्तिलके ।

[1]असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणैया होंति बत्तीसा ॥ १३५ ॥

अशीतिशतं क्रियावादिनामक्रियाणां च भवति चतुरशीतिः।
सप्तषष्टिरज्ञानिनां वैनयिकानां भवन्ति द्वात्रिंशत् ॥

असियसय किरियवाई अशीत्यग्रं शतं क्रियावादिनां श्राद्धादिक्रियामन्यमानानां [2]ब्राह्मणानां भवति। *अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी* अक्रियावादिनां इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रगच्छोत्पन्नानां तन्दुलोदककाथोदकादिसमाचारसमाश्रयिणां श्वेतपटानां प्रायःकपटानां मायाबाहुल्यानां चतुरशीतिः संशयिनां मिथ्यात्वभेदा भवन्ति। *सत्तट्ठी अण्णाणी* सप्तषष्टिरज्ञानेन मोक्षं मन्वानानां मस्करपूरणमतानुसारिणां भवति। *वेणैया होंति बत्तीसा* विनयात् मातृपितृनृपलोकादिविनयेन [3]मोक्षाकांक्षिणां तापसानुसारिणां द्वात्रिंशन्मतानि भवन्ति। एवं त्रिषष्ट्यग्राणि त्रीणि शतानि मिथ्यावादिनां भवन्ति तानि त्याज्यानीत्यर्थः। १८० + ८४ ६७ + ३२ = ३६३।

आयुष्मान्—एक अहिंसाव्रत के माहात्म्य से ही यह मनुष्य दीर्घायुष्क, भाग्यशाली लक्ष्मीमान्, सुन्दर और कीर्तिमान् होता है।

और भी कहा है—

द्वित्रि—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार–इन्द्रिय प्राण कहलाते हैं, वनस्पतिकायिक भूत कहलाते हैं, पञ्चेन्द्रिय जीव कहलाते हैं और शेष सत्व कहलाते हैं।

गाथार्थ—क्रिया-वादियों के एकसौ अस्सी, अक्रिया–वादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सड़सठ और वैनयिकों के बत्तीस भेद होते हैं ॥ १३५ ॥

विशेषार्थ—श्राद्ध आदि क्रियाओं को मानने वाले ब्राह्मण आदि क्रिया-वादी हैं इनके एकसौ अस्सी भेद हैं। इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र गच्छ में उत्पन्न, चांवलों का धोवन तथा अन्य प्रासुक जल आदिको गोचरी में लेनेवाले प्रायः माया-पूर्ण व्यवहार के धारक श्वेताम्बर अक्रिया-वादी हैं इनके चौराची भेद हैं। अज्ञान से मोक्ष मानने वाले मस्कर पूरण के मतानुयायी अज्ञान-वादी हैं, इनके सड़सठ भेद हैं और माता पिता तथा राजा आदिकी

१इयं गाथा अन्यत्र त्वेवं प्रसिद्धा—

असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठण्णाणीणं वेणइयाणं तु बत्तीसं ॥

२—क प्रतौ 'ब्राह्मणानां'। ३—मोक्षाकांक्षिणां म०।

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि [1]आयण्णिऊण जिणधम्मं ।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥ १३६ ॥

न मुञ्चति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठु अपि आकर्ण्य जिनधर्मम् ।
गुडदुग्धमपि पिबन्तः न पन्नगा निर्विषा भवन्ति ॥

ण मुयइ पयडि अभव्वो न मुञ्चति प्रकृतिं मिथ्यात्वं अभव्यो दूरभव्यो वा लौंकादिमिथ्यादृष्टिः पापिष्ठः । *सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं* सुष्ठु अपि आकर्ण्य श्रुत्वा जिनधर्मं दिगम्बरशास्त्रं । *गुडदुद्धं पि पिबंता* गुडेन मिश्रं दुग्धं गुडदुग्धं पिबन्तोऽपि । *ण पण्णया णिव्विसा होंति* न पन्नगाः सर्पा निर्विषा विषरहिता भवन्ति संजायन्ते ।

तथा चोक्तं—

बहुसत्थइं जाणियइ धम्मु ण चरइ मुणेवि ।
दिणयर सउ जइ उग्गमइ घूहडु अंधउ तो वि ॥ १ ॥

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धी रागगहगहियचित्तेहि ।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥ १३७॥

विनय से मोक्षकी प्राप्ति मानने वाले तापस-मतानुयायी वैनयिक हैं, इनके बत्तीस भेद हैं । चारों मिथ्या-वादियों के मिलाकर १८०+८४+६७+३२ = ३६३ तीन सौ त्रेशठ भेद होते हैं, ये सब भेद त्यागने योग्य हैं ॥ १३५ ॥

गाथार्थ—अभव्य जीव जिन धर्म को अच्छी तरह सुनकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, सो ठीक ही है क्योंकि सांप गुड और दूधको पीते हुए भी निर्विष नहीं होते हैं ।

विशेषार्थ—जिस प्रकार गुडसे मिश्रित दूधको पीने पर भी सांप अपना विष नहीं छोड़ते हैं उसी प्रकार अभव्य या दूर भव्य पापी मिथ्यादृष्टि जीव जिन धर्मको अच्छी तरह सुनकर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं । जैसा कि कहा है—

बहुसत्थइं—बहुत शास्त्रों को जानकर भी अभव्य जीव धर्मका आचरण नहीं करता है सो ठीक ही है क्योंकि यदि सैकड़ों सूर्य उदित होते हैं तो भी उल्लू अन्धा ही रहता है ॥ १३६ ॥

गाथार्थ—जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व से आच्छादित हो रही है ऐसा दुर्बुद्धि अभव्य जीव रागरूपी पिशाच से गृहीत-चित्त होनेके कारण जिन-प्रणीत धर्म—जैन की श्रद्धा नहीं करता ॥ १३७ ॥

१—समयसारे 'आयण्णिऊण जिणधम्मं' इत्यस्य स्थाने 'अज्झाइऊणसत्थाणि' इति पाठः ।

मिथ्यात्वछन्नदृष्टिः दुर्धी रागग्रहगृहीतचित्तैः ।
धर्मं जिनप्रणीतं अभव्यजीवो न रोचयति ॥

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी मिथ्यात्वेन छन्ना आवृता दृष्टिर्ज्ञानलोचनं यस्य स मिथ्यात्वच्छन्नदृष्टिः । अज्ञानी मिथ्यादृष्टिः । दुद्धी दुष्टा धीर्बुद्धिर्यस्य स दुर्धीः दुर्बुद्धिः । *रागगहगहियचित्तेहि* रागग्रहगृहीतचित्तैः रागो दुर्मार्गाश्रिता प्रीतिः स एव ग्रहः पिशाचः तेन गृहीतानि चित्तानि अभिप्राया रागग्रहीतचित्तानि तैः रागग्रहगृहीतचित्तैः करणभूतैः नानानयदुष्टपरिणामैरित्यर्थः । *धम्मं जिणपण्णत्तं* धर्मं जिनेन केवलिना प्रणीतं । *अभव्वजीवो ण रोचेदि* अभव्यजीवो रत्नत्रयायोग्यो जीव आत्मा न रोचयति न श्रद्धाति ।

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो ।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होइ ॥ १३८ ॥

कुत्सितधर्म्मे रतः कुत्सितपाषण्डिभक्तिसंयुक्तः ।
कुत्सिततपः कुर्वन् कुत्सितगतिभाजनं भवति ॥

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुत्सितधर्मे हिंसाधर्मे रतस्तत्परोऽनुरागवान् । *कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो* कुत्सिता ऋषिपत्नीपादपद्मसंलग्नमस्तका ये पाषण्डिनो वशिष्ठदुर्वासःपाराशरयाज्ञवल्क्यजमदग्निविश्वामित्रभरद्वाजगौतमगर्गभार्गवप्रभृतय उपनिषत्प्रान्ते उक्ताश्च अतीता वर्तमानाश्च तेषां पाषंडिनां [1]भक्तिसंयुक्तः करयोटनपादपतनभोजनदानादितत्परमनाः । *कुच्छियतवं कुणंतो* कुत्सितं तपः एकपादेनोद्भीभू-

---

विशेषार्थ—रत्नत्रय की प्राप्ति की योग्यता से रहित अभव्य जीवकी दृष्टि सदा मिथ्यात्व से आच्छादित रहती है, उसकी बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति दूषित रहती है तथा उसका चित्त सदा राग रूपी पिशाच से ग्रस्त रहता है, इसी कारण वह केवलि जिनेन्द्रके द्वारा उपदिष्ट जिन धर्म की श्रद्धा नहीं करता है ॥ १३७ ॥

गाथार्थ—जो कुत्सित धर्म में अनुरागी है, कुत्सित पाषण्डियों की भक्तिसे सहित है और कुत्सित तप करता है, वह कुत्सित गतिका पात्र होता है ॥ १३८ ॥

विशेषार्थ—जो कुत्सित धर्म—हिंसा धर्म में तत्पर रहता है, जो कुत्सित अर्थात् ऋषि होकर भी स्त्रियों के चरण कमलों में मस्तक झुकाने वाले वशिष्ट दुर्वासा पराशर याज्ञवल्क्य जमदग्नि विश्वामित्र भरद्वाज गौतम गर्ग तथा भार्गव आदि उपनिषदों में कहे हुए अतीत और वर्तमान काल-सम्बन्धी पाषण्डी साधुओं की भक्ति से सहित है-हाथ जोड़ना चरणों में पड़ना तथा भोजन देना आदि कार्योंमें तत्पर रहता है और जो कुत्सित

१—भक्तिसंयुक्तः म० ।

तोर्ध्वहस्तजटाधारणत्रिकालजलस्नानपंचाग्निसाधनादिकुत्सितं तपः कुर्वन् । कुच्छियगइभायणो होइ कुत्सितगतेर्नारकतिर्यग्योनिमलिनासुरव्यन्तरज्योतिष्कविल्विषिकवाहनदेवादिगतेर्भाजनं स्थानं भवति—अनन्तसंसारी च स्यात् । "ब्राह्मणं ब्राह्मणमालभेत" इत्यादि कुत्सितो धर्मो ज्ञातव्यः ।

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहि मोहिओ जीवो ।

भमिओ अणाइकाल संसारे धीर चिंतेहि ॥ १३९ ॥

इति मिथ्यात्वावासे कुनयकुशास्त्रैः मोहितो जीवः ।

भ्रान्तः अनादिकालं संसारे धीर ! चिन्तय ॥

इय मिच्छत्तावासे इति अमुना प्रकारेण मिथ्यात्वावासे मिथ्यात्वास्पदे प्रायेण मिथ्यात्वभूते संसारे इति सम्बन्धः । *कुणयकुसत्थेहि मोहिओ जीवो* कुनयैः कुत्सितनयैः सर्वथैकान्तरूपैः, कुशास्त्रैः चतुर्वेदाष्टादशपुराणाष्टादशस्मृत्युभयमीमांसादिशास्त्रैः मोहितो भ्रान्तिं प्राप्तो जीव आत्मा । *भमिओ अणाइकालं* भ्रान्तोऽयं पर्यटितो जीवोऽनादिकालं उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालबहुलं *संसारे धीर चिंतेहि* हे धीर ! हे योगीश्वर ! संसारे भवे भ्रान्त इति चिन्तय विचारय ।

पासंडी तिण्णि सया तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण ।

रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ॥ १४० ॥

तप अर्थात् एक पैरसे खड़े रहना, एक हाथ ऊंचा रखना, जटा धारण करना, तीनों काल में स्नान करना तथा पञ्चाग्नि तपना आदि मिथ्या तप करता है वह कुत्सित गति अर्थात नरक तिर्यञ्च योनि, मलिन असुरकुमार व्यन्तर ज्योतिष्क किल्विषिक तथा वाहन जाति के देव आदि खोटी गतियोंका पात्र होता है—अनन्त संसारी होता है ॥१३८॥

गाथार्थ—इस प्रकार मिथ्यात्व के आवास स्वरूप संसार में मिथ्यानय और मिथ्याशास्त्रों से मोहित हुआ यह जीव अनादि कालसे भटक रहा है, ऐसा हे धीर मुनि ! तू चिन्तवन कर ॥ १३९ ॥

विशेषार्थ—यह संसार अनेक प्रकार के मिथ्यात्वों का निवास स्थान है अर्थात् अनेक मिथ्यात्वों से भरा हुआ है इसमें यह जीव सर्वथा एकान्त रूप कुनय तथा चार वेद, अठारह पुराण अठारह स्मृतियाँ तथा दोनों प्रकार की मीमांसा आदि कुशास्त्रों से भ्रान्ति को प्राप्त होता हुआ अनादिकाल से लगातार भटक रहा है । हे योगीश्वर ! तू ऐसा चिन्तवन कर ॥ १३९ ॥

गाथार्थ—हे साधो ! पाषण्डियों के तीन सौ त्रेसठ उन्मार्गों–कुमार्गों को छोड़कर

पाषण्डिनः त्रीणि शतानि त्रिषष्टिभेदा उन्मार्गं मुक्त्वा ।

रुन्द्धि मनो जिनमार्गे असत्प्रलापेन किं बहुना ॥

पासंडी तिण्णि सया पाषण्डिनस्त्रीणि शतानि । *तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण* तथा त्रिषष्टिभेदा उन्मार्गं मुक्त्वा । *रुंभहि मणु जिणमग्गे* रुन्द्धि मनो जिनमार्गे जिनधर्मे त्वं स्थापय । *असप्पलावेण किं बहुणा* असत्प्रलापेनानर्थकेन वचसा बहुना प्रचुरतरेण किं ? न किमपीत्याक्षेपः ।

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ ।

सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥ १४१ ॥

जीवविमुक्तः शवः दर्शनमुक्तश्च भवति चलशवकः ॥

शवको लोकापूज्यः लोकोत्तरे चलशवकः ॥

जीवविमुक्को सवओ जीवविमुक्तो जीवेन रहितः कायो लोके शव उच्यते । *दंसणमुक्को य होइ चलसवओ* दर्शनमुक्तः पुमान् सम्यक्त्वहीनो जीवश्च भवति चलशवकः कुत्सितं मृतकः । *सवओ लोयअपुज्जो* जीवरहितः शवको लोकानामपूज्यः, अपूज्यत्वादेव भूमौ निखन्यते, अग्निना भस्मीक्रियते वा *लोउत्तरियम्मि चलसवओ* लोकोत्तरे लोके जैनलोके चलसवओ सचेष्टितमृतकः मिथ्यादृष्टिमुनिः लोकोत्तराणां सम्य-

---

तू जिनमार्गमें अपना मन रोक, बहुत अधिक निरर्थक वचन कहनेसे क्या लाभ है ॥१४०॥

विशेषार्थ—पाषण्डियों के तीनसौ त्रेशठ मतोंका वर्णन पहले आ चुका है । ये मत उन्मार्ग हैं अर्थात् कण्टकाकीर्ण बीहड़ पगडण्डियां हैं । हे जीव ! तू इन्हें छोड़ और जिन धर्म रूपी राजमार्ग में अपने मनको रोक । अधिक कहने से क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १४० ॥

गाथार्थ—जीव से रहित शरीर शव कहलाता है और सम्यक्त्व से रहित शरीर चलशव–चलता फिरता शव कहलाता है । शव इस लोक में अपूज्य होता है और चल शव मरण के बाद प्राप्त होनेवाले उत्तरलोक मे अपूज्य होता है अथवा चलशव लोकोत्तरलोक–जैन लोक में अपूज्य होता है ॥१४१॥

विशेषार्थ—शरीर का सन्मान जीवसे है जिस शरीर से जीव निकल जाता है वह शरीर शव अर्थात् मुर्दा कहलाने लगता है । इसी प्रकार मनुष्य का सन्मान सम्यग्दर्शन से है जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से रहित है वह चलशव अर्थात् चलता फिरता मुर्दा कहलाता है । शव लोक में अपूज्य माना जाता है, इसी लिये वह जमीन में गाडा जाता है अथवा अग्नि द्वारा भस्म किया जाता है । चलशव, मिथ्यादृष्टि मुनि है । वह लोकोत्तर अर्थात् सम्यग्दृष्टि लोगोंके अपूज्य होता है उसे कोई सन्मान नहीं देता है । अथवा लोकोत्तर का

ग्दृष्टिलोकानां अपूज्योऽमाननीयो भवति । इति भावप्राभृतस्य गोप्यतत्वं यत्सद्दृष्टिना जीवेन भवितव्यमिति । लौंकास्तु पापिष्ठा मिथ्यादृष्टयो जिनस्नपनपूजनप्रतिबन्धकत्वात् तेषां संभाषणं न कर्तव्य तत्संभाषणे महापापमुत्पद्यते । तथा चोक्तं कालिदासेन कहाकविना—

[1]निवार्यतामालि ! किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।

न केवलं यो महतां विभाषते श्रृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥ १ ॥

तेन जिनमुनिनिन्दका लौंकाः परिहर्तव्याः । तथा चोक्तं –

खलानां कंटकानां च द्विधैव हि प्रतिक्रिया ।

उपानन्मुखभंगो वा दूरतः परिवर्जनम् ॥ १ ॥

अर्थ परलोक भी होता है इसलिये दूसरा अर्थ यह भी होता है कि मिथ्यादृष्टि मनुष्य परलोक में हीन दशाको प्राप्त होता है, इस प्रकार भाव-प्राभृतका गोप्य तत्व यह है कि जीवको सम्यग्दृष्टि होना चाहिये।

लौंक लोग जिनाभिषेक तथा जिन पूजाके निषेधक होनेसे अतिशय पापी मिथ्या दृष्टि हैं उनके साथ संभाषण नहीं करना चाहिये। उनके साथ संभाषण करनेमे महापाप उत्पन्न होता है। जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है—

निवार्यता—पार्वती अपनी सखी से कहती है कि सखि ! इस ब्राह्मण को यहां से हटाओ, इसके होंठ काँप रहे हैं इसलिये जान पड़ता है कि यह फिर भी कुछ कहना चाहता है। जो महापुरुषों की निन्दा करता है, केवल वही पापी नहीं होता किन्तु जो उससे निन्दा के वचन सुनता है वह भी पापी होता है[2]।

इसलिये जिन मुनियों की निन्दा करने वाले लौंक दूर से ही छोड़ देनेके योग्य हैं। कहा भी है—

खलानां—दुष्ट पुरुष और कांटों का प्रतिकार दो प्रकार से होता है। या तो जूतों से उनका मुख भङ्ग कर दिया जाय या दूर से छोड दिया जाय।

गाथार्थ—जिस प्रकार समस्त ताराओं में चन्द्रमा और समस्त वन्य-पशुओं में सिंह प्रधान है उसी प्रकार मुनि-धर्म और श्रावक-धर्म इन दोनों धर्मोंमें सम्यक्त्व प्रधान है।

१—कुमारसंभवे ।

२—परीक्षा करने के लिये महादेवजी एक ब्रह्मचारी का वेष बनाकर पार्वती के पास गये और महादेव की निन्दा करने लगे। पार्वती ने उसके निन्दा वचनों का समाधान किया परन्तु वह फिर भी कहने के लिये उत्सुक हुआ तब सखीके प्रति पार्वती ने उपयुक्त वचन कहे।

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥ १४२ ॥

यथा तारकाणां चन्द्रः मृगराजो मृगकुलानां सर्वेषाम् ।
अधिकः तथा सम्यक्त्वं ऋषिश्रावकद्विविधधर्माणाम् ॥

जह तारयाण चंदो यथा तारकाणां ताराणां मध्ये चन्द्रोऽधिक इति सम्बन्धः। *मयराओ मयउलाण सव्वाणं* मृगराजः सिंहः मृगकुलानां मध्ये सर्वेषामपि अधिकः प्रधानभूतः। *अहिओ तह सम्मत्तो* अधिकं तथा सम्यक्त्वं। केषां मध्ये सम्यक्त्वमधिकं, *रिसिसावयदुविहधम्माणं* ऋषीणां दिगम्बराणां श्रावकाणां च देशयतीनां द्विविधधर्माणां मध्ये सम्यक्त्वमधिकं प्रधानभूतमित्यर्थः अस्य षट्प्राभृतग्रंथस्य प्रारंभपरिसमाप्तिपर्यंतं सम्यक्त्वमेव प्रशंसितमिति तात्पर्यार्थो ज्ञातव्य इति भावः।

जह फणिराओ [1]रेहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्तीपवयणो जीवो ॥ १४३ ॥

यथा फणिराजो राजते फणमणिमाणिक्यकिरणविस्फुरितः ।
तथा विमलदर्शनधरः जिनभक्तिप्रवचनो जीवः ॥

विशेषार्थ—यहां उपमालंकार द्वारा आचार्य सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार चन्द्रमा समस्त ताराओं में प्रधान है और सिंह समस्त मृगों के समूह में प्रधान है, उसी प्रकार सम्यक्त्व मुनि और श्रावक—दोनों धर्मों में प्रधान है, अतः सम्यक्त्व को सर्व प्रथम प्राप्त करना चाहिये। इस षट् प्राभृत ग्रन्थ में प्रारम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त सम्यक्त्व की ही प्रशंसा की गई है, यह इस गाथाका तात्पर्य है। १४२॥

गाथार्थ—जिस प्रकार हजार फणाओं पर स्थित मणियों के बीच में विद्यमान माणिक्य की किरणोंसे देदीप्यमान शेष नाग शोभित होता है उसी प्रकार जिनभक्ति रूप सिद्धान्त से युक्त निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक जीव शोभित होता है ॥१४३॥

विशेषार्थ—पद्मावती देवीका पति धरणेन्द्र नामका शेषनाग पाताल—सम्बन्धी स्वर्गलोक का स्वामी है। श्री भगवान् पार्श्वनाथ का उपसर्ग दूर करने के लिये उस धरणेन्द्र ने विक्रिया से एक ऐसे नागका रूप बनाया था जिसके हजार फण थे, एक एक फण पर एक २ मणि चमक रहा था और बीच के फण पर माणिक्य अर्थात् लाल रङ्गका पद्मरागमणि देदीप्यमान हो रहा था उन सब मणियों और माणिक्य की किरणों से उस नाग

१—पं० जयचन्द्रकृत वचनिकायां 'रेहइ' स्थाने 'सोहइ' पाठो विद्यते ।

जह फणिराओ रेहइ यथा मणिराजो धरणेन्द्रो राजते शोभते। कथंभूतः सन् राजते, *फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ* फणानां सहस्रसंख्यफटानां सम्बन्धिनो ये मणयस्तेषु मध्ये यन्माणिक्यं पद्मरागमणिः मध्यफणाया उपरि स्थितं यल्लालरत्नं तस्य सर्वोत्तमरत्नस्य ये किरणा रश्मयस्तैर्विस्फुरितो धरणेन्द्रः शेषनागनामा पद्मावतीदेवीप्राणवल्लभः पातालस्वर्गलोकस्वामी यथा शोभते। *तह विमलदंसणधरो* तथा तेन प्रकारेण विमलदर्शनधरो निर्मलसम्यक्त्वमंडितो मुनिः श्रावको वा। *जिणभत्तीपवयणो जीवो* जिनभक्तिरेव प्रवचनं गोप्यतत्त्वसिद्धान्तः, जीव आत्मा चातुर्गतिकोऽपि पंचेन्द्रियसंज्ञिजीवः शोभते।

तथा चोक्तं—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजं।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं ॥ १ ॥

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले।
भाविय तह वयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥ १४४ ॥

यथा तारागणसहितं शशधरबिम्बं खमंडले विमले।
भावितं तथा व्रतविमलं जिनलिंगं दर्शनविशुद्धम् ॥

जह तारायणसहियं यथा येन प्रकारेण तारागणसहितं। *ससहरबिंबं खमंडले विमले* शशधरबिंबं चन्द्रमण्डलं खमण्डले गगनमण्डले। कथंभूते, विमलेऽभ्रपटलादिरहिते। *भाविय तह वयविमलं* तथा तेन प्रकारेण भावितव्रतं व्रतैर्मण्डितं निरतिचारव्रतसहितं। *जिनलिंगं दंसणविसुद्धं* जिनलिंगं निर्ग्रन्थमुनिपुंगववेषः दर्शनेन सम्यक्त्वेन विशुद्धं निर्मलं जिनशासनं शोभते इति शेषः।

की शोभा अद्भुत जान पड़ती थी उसी नागकी उपमा देते हुए यहां आचार्य सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हैं, वे कहते हैं कि जिस प्रकार उन मणियों की किरणों से शेषनाग शोभित होता है उसी प्रकार निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक मुनि सुशोभित होता है। सम्यग्दर्शन चारों गतियों के संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भव्य जीव को हो सकता है तथा सम्यग्दर्शन के प्रभाव से उसकी महिमा बढ़जाती है। जैसा कि कहा है—

सम्यग्दर्शन—जिसका आभ्यन्तर तेज भस्ममें छिपे हुए अङ्गारके समान देदीप्यमान है गणधरादिक, ऐसे सम्यग्दृष्टि चाण्डाल को भी देव कहते हैं।

गाथार्थ—जिस प्रकार निर्मल आकाश में तारागण से सहित चन्द्रमा का बिम्ब सुशोभित होता है उसी प्रकार निरतिचार व्रतों से सहित एवं सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध जिनलिङ्ग सुशोभित होता है ॥१४४॥

विशेषार्थ—मेघपटल तथा धूलि आदि से रहित आकाश निर्मल कहलाता है जिस प्रकार निर्मल आकाश में ताराओं के समूह से सहित चन्द्रमण्डल सुशोभित होता है उसी

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥ १४५ ॥

इति ज्ञात्वा गुणदोषं दर्शनरत्नं धरत भावेन।
सारं गुणरत्नानां सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥

इय णाउं गुणदोसं इत्यमुना प्रकारेण ज्ञात्वा सम्यग्विचार्य गुणदोषं, सम्यक्त्वगुणरत्नमण्डितः पुमान् गुणवान् मिथ्यात्वेन दूषितो जीवो महापातकीति विज्ञाय। *दंसणरयणं धरेह भावेण* दर्शनरत्नं सम्यक्त्वरत्नं धरत यूयं भावेन शुद्धपरिणामेन कपटं परित्यज्येत्यर्थः। *सारं गुणरयणाणं* सारं उत्तमं गुणरत्नानां मध्ये व्रतसमितिगुप्त्यादीनां मध्ये दानपूजोपवासशीलव्रतादीनां च मध्ये सम्यक्त्वरत्नं सारं उत्तमं धरत यूयं हे भव्याः!। कथंभूतं, *सोवाणं पढम मोक्खस्स* सोपानं आरोहणं पादारोपणस्थानं पढमं प्रथमं। कस्य, मोक्षस्य सर्वकर्मक्षयलक्षणोपलक्षितस्य मोक्षप्रासादस्योपरितनभूम्युपरिगमने, सिद्धपर्यायप्रापणमित्यर्थः।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य।
दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहि ॥ १४६ ॥

प्रकार विमल अर्थात् पूर्वापर विरोध से रहित जिनशासन में निरतिचार व्रतों से युक्त एवं सम्यक्त्वसे विशुद्ध-निर्दोष जिन लिङ्ग—निर्ग्रन्थ मुनिका वेष सुशोभित होता है ॥१४४॥

गाथार्थ—इस प्रकार गुण और दोष को जानकर हे भव्य जीवो! तुम उस सम्यग्दर्शन रूपी रत्नको भावसे धारण करो जो कि गुणरूपी रत्नों में श्रेष्ठ है तथा मोक्ष महल की पहली सीढ़ी है। १४५॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्व गुण रूपी रत्न से मण्डित पुरुष गुणवान् है और मिथ्यात्व से दूषित जीव महापापी है, ऐसा जानकर हे भव्य जीवो! तुम उस सम्यक्त्व-रूपी रत्न को भाव अर्थात् शुद्ध परिणाम से धारण करो, जो कि मुनियों की अपेक्षा व्रत समिति गुप्ति आदि गुण रूपी रत्नों के मध्य सारभूत है तथा श्रावकों की अपेक्षा दान पूजा उपवास शील व्रत आदि गुण रूपी रत्नोंके बीच सर्वोत्तम है और सर्व कर्म-क्षय रूप मोक्ष महल के उपरितन भाग में जाने के लिये पहली सीढ़ी है ॥१४५॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र देव ने जीवको कर्ता, भोक्ता, अमूर्त, शरीर—प्रमाण, अनादि-निधन, तथा दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग से युक्त कहा है ॥१४६॥

विशेषार्थ—यह जीव व्यवहार नयसे पुण्य पापका कर्ता है तथा पुण्य पापके फलको

कर्त्ता भोगी अमूर्तः शरीरमात्रः अनादिनिधनश्च ।
दर्शनज्ञानोपयोगः निर्दिष्टो जिनवरेन्द्रैः ॥

कत्ता भोइ अमुत्तो जीवशब्दः पूर्वोक्त एव ग्राह्यः । तेन जीव आत्मा कर्ता वर्तते न केवलं कर्ता पुण्यस्य पापस्य च अपि तु भोगी पुण्यस्य पापस्य च फलस्य भोक्ता आस्वादक इति व्यवहारः, निश्चयेन तु केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्य च कर्ता वर्तते । तथा अनन्तसुखस्य भोक्ता अनन्तवीर्यस्य च । अमूर्तो मूर्तेः शरीराद्रहित इति निश्चयः, व्यवहारेण तु कर्मबन्धप्रबन्धात् शरीरसंयुक्तत्वाच्च मूर्त इत्युच्यते । *शरीरमित्तो अणाइणिहणो य* शरीरमात्रः शरीरप्रमाण आत्मा वर्तत इति व्यवहारः तत्सुखदुःखाद्यावेदकत्वात्, निश्चयेन तु असंख्यातप्रदेशत्वाल्लोकप्रमाणः । अनादिनिधनश्च जीवस्यादिर्नास्ति निधनं विनाशश्च न वर्तते । *दंसणणाणुवयोगो* दर्शनज्ञानोपयोगः व्यवहारेण चत्वारि दर्शनानि अष्टज्ञानानि उभयाभ्यां द्विविधोपयोगः, निश्चयेन तु केवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यां द्विविधोपयोगः परमनिश्चयेन तु आत्मा केवलज्ञानमेव तन्मयत्वात् । *णिदिट्ठो जिणवरिंदेहि* निर्दिष्टः प्रतिपादितः कथित आत्मा जिनवरेन्द्रैः सर्वज्ञवीतरागैरिति तात्पर्यार्थः ।

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं ।
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो १४७ ॥

दर्शनज्ञानावरणं मोहनीयमन्तरायं कर्म ।
निष्ठापयति भव्यजीवः सम्यग्जिनभावनायुक्तः ॥

भोगने वाला है और निश्चयनय से केवल ज्ञान तथा केवल—दर्शन का कर्ता है और अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्यका भोक्ता है । मूर्ति अर्थात् शरीर से रहित होनेके कारण अमूर्त है, यह निश्चय नयका कथन है और कर्म-बन्ध तथा शरीर से संयुक्त होनेके कारण मूर्त है, यह व्यवहार नयका कथन है । क्योंकि आत्मा शरीर-सम्बन्धी सुख दुःख आदिका वेदन करता है इसलिये व्यवहार की अपेक्षा शरीर-प्रमाण है तथा निश्चय की अपेक्षा असंख्यात-प्रदेशी होनेसे लोक-प्रमाण है । यह जीव द्रव्य दृष्टि से अनादि अनन्त है [और पर्यायदृष्टि से सादि सान्त है] व्यवहार नयकी अपेक्षा चार प्रकारके दर्शनोपयोग और आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग से सहित है निश्चयनय की अपेक्षा केवल ज्ञान और केवल दर्शन इन दो उपयोगों से सहित है और परम निश्चय नयकी अपेक्षा तन्मय होनेके कारण आत्मा केवल ज्ञानरूप ही है, ऐसा वीतराग सर्वज्ञ देवने कहा है ॥१४६॥

गाथार्थ—सम्यक् जिनभावना से युक्त अर्थात् जिनसम्यक्त्व का आराधक भव्य जीव, ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय कर्मका क्षय करता है ॥१४७॥

विशेषार्थ—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण और केवल

दंसणणाणावरणं दर्शनावरणं नवविधं, तत्र चक्षुर्दर्शनावरणं अचक्षुर्दर्शनावरणं अवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणं चेति चतुर्विधं दर्शनावरणं निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला प्रचला प्रचला-स्त्यानगृद्धिश्चेति पंचविधा निद्रा एवं नवविधं दर्शनावरणं। मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणं अवधिज्ञानावरणं मनःपर्ययज्ञानावरणं केवलज्ञानावरणं चेति पंचविधं ज्ञानावरणं। *मोहणियं अंतराइयं कम्मं* मोहनीयं कर्म अष्टाविंशतिभेदं, अन्तरायं कर्म पंचभेदं। तत्राष्टाविंशतिभेदं मोहनीयं कर्म यथा-तत्र त्रिविधं दर्शनमोहनीयं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं चेति। चारित्रमोहनीयं पंचविंशतिभेदं,अकषायभेदा नव हास्यं रतिः अरतिःशोको भयं जुगुप्सा स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेदश्चेति नव नोकषाया अकषाया उच्यन्ते यथाख्यातचारित्रघातकत्वात्। षोडश कषायाः। तथाहि अनन्तानुबन्धी क्रोधोऽनन्तानुबन्धी मानोऽनन्तानुबन्धिनी मायाऽनन्तानुबन्धी लोभश्चेति चत्वारः कषायाः सम्यक्त्वघातकाः पूर्वोक्तं त्रिविधं दर्शनमोहनीयं च। अप्रत्याख्यानक्रोधोऽप्रत्याख्यानमानोऽप्रत्याख्यानमायाऽप्रत्याख्यानलोभश्चेति चत्वारः कषायाः श्रावकव्रतघातकाः। प्रत्याख्यानक्रोधः प्रत्याख्यानमानः प्रत्याख्यानमाया प्रत्याख्यानलोभश्चेति चत्वारः कषाया महाव्रतघातकाः। संज्वलनक्रोधः संज्वलनमानः संज्वलनमाया संज्वलनलोभश्चेति चत्वारः कषाया यथाख्यात-चारित्रघातकाः। अन्तरायः पंचविधो दानान्तरायो लाभान्तरायो भोगान्तराय उपभोगान्तरायो वीर्यान्तरायश्चेति। एतत्सर्वं कर्म *णिट्ठवइ भवियजीवो* निष्ठापयति क्षयं नयति, कोऽसौ ? भविकजीवो भव्यजनः। *सम्मं जिणभावणा जुत्तो* सम्यग्जिनभावनायुक्तो जिनसम्यक्त्वाराधक इत्यर्थः।

दर्शनावरण ये चार दर्शनावरण तथा निद्रा, निद्रा २, प्रचला, प्रचला २ और स्त्यानगृद्धि ये पांच निद्राएं दोनों मिलाकर दर्शनावरण कर्म नौ प्रकारका है। मति ज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनः पर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण ये पांच ज्ञानावरण के भेद हैं। मोहनीय के अट्ठाईस भेद हैं जिनमें सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग् मिथ्यात्व ये तीन दर्शन मोहनीय के भेद हैं। चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद हैं जिनमें हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री वेद, पुरुष वेद, और नपुंसक वेद, ये नो कषाय अथवा अकषाय कहलाती हैं क्योंकि ये यथाख्यात चारित्र की घातक हैं। शेष सोलह कषाय कहलाती हैं जिनमें अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय तथा पहले कहा हुआ तीन प्रकार का दर्शन मोहनीय ये सात प्रकृतियाँ सम्यक्त्व का घात करने वाली हैं। अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय श्रावक के व्रतोंका घात करने वाली हैं प्रत्याख्यान क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय महाव्रत की घातक हैं तथा संज्वलन क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय यथाख्यात चारित्र की घातक हैं। अन्तराय पांच प्रकार का है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय सम्यग् जिन भावनासे युक्त भव्य जीव इन सब कर्मोंका क्षय करता है।

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति ।
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥ १४८ ॥

बलसौख्यज्ञानदर्शनं चत्वारोऽपि प्रकटा गुणा भवन्ति ।
नष्टे घातिचतुष्के लोकालोकं प्रकाशयति ॥

बलसोक्खणाणदंसण बल चानन्तवीर्यं केवलज्ञानदर्शनाभ्यामनन्तानन्तद्रव्यपर्यायस्वरूपपरिच्छेदकत्वलक्षणा शक्तिरनन्तवीर्यमुच्यते न तु कस्यचिद्घातकरणे भगवान् बलं निदधाति सूक्ष्मगुणाभावप्रसक्तेः तथा चोक्तमाशाधरेण महाकविना—

यद्व्याहंति न जातु किंचिदपि न व्याहन्यते केनचिद् ।
यन्निष्पीतसमस्तवस्त्वपि सदा केनापि न स्पृश्यते ।
यत्सर्वज्ञसमक्षमप्यविषयस्तस्यापि चार्थाद्गिरां ।
तद्वः सूक्ष्मतमं [1]स्वतत्वमभया भाव्यं भवोच्छित्तये ॥ १ ॥

बलसोक्ख—सम्यग्दर्शन के प्रभाव से चार घातिया कर्मोंके नष्ट होने पर इस जीव के बल सुख ज्ञान और दर्शन ये चार गुण प्रकट होते हैं तथा वह लोक और अलोक को प्रकाशित करने लगता है ॥१४८॥

विशेषार्थ—यहां बलका अर्थ अनन्त वीर्य है। केवल ज्ञान और केवल दर्शन के द्वारा अनन्तानन्त द्रव्य और उनके पर्यायों के स्वरूप को जानने की जो शक्ति है वह अनन्तवीर्य कहलाती है। भगवान् किसी का व्याघात करने में अपने बलका प्रयोग नहीं करते अन्यथा उनके सूक्ष्मत्व गुणके अभाव का प्रसङ्ग आ जायगा। जैसा कि महाकवि आशाधर जी ने कहा है—

यद्व्याहन्ति—जो कभी किसी का व्याघात नहीं करता और न कभी किसी के द्वारा व्याघात को प्राप्त होता है। जो समस्त वस्तुओं के आकार को सदा स्वयं निष्पीत किये है अर्थात् अपने आपमें प्रतिबिम्बित किये है परन्तु स्वयं किसी अन्यके द्वारा स्पृष्ट नहीं होता। जिसे सर्वज्ञ प्रत्यक्ष जानते हैं तो भी जो वाणीका विषय नहीं है वह अत्यन्त सूक्ष्म तत्व ही तुम्हारा निजका तत्व है। हे सप्तभय से रहित सम्यग्दृष्टि पुरुषो ! संसारका उच्छेद करने के लिये तुम उसीका चिन्तवन करो।

इसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी के जो अनन्त सुख नामका गुण है वह भी अनन्त ज्ञान गुण

१—समभा म० ।

तथा अनन्तसौख्यं भगवतः सिद्धस्य भवति तदप्यनन्तज्ञानगुणसद्भावात् परमानन्दोत्पत्तिलक्षणं वस्तुस्वरूपपरिच्छेदकत्वमेव वेदितव्यं। तथा चोक्तं विमानपंक्त्युपाख्यानपर्यन्ते । तथा हि—

शास्त्रं शास्त्राणि वा ज्ञात्वा तीव्रं तुष्यन्ति साधवः ।
सर्वतत्वार्थविज्ञाना न[1] सिद्धाः सुखिनः कथं ॥
चक्रिणां कुरुजातानां नागेन्द्राणां मरुत्वताम् ।
अनन्तगुणितं सौख्यमुत्तरोत्तरवर्तिनां ॥ २ ॥
तस्त्रिकालभवात् सौख्यादनन्तगुणितं सुखं ।
सिद्धानां तु क्षणार्धेन ते वो यच्छन्तु तच्छिवं[2] ॥ ३ ॥

तथा ज्ञानं केवलज्ञानं लोकालोकवस्तुपरिज्ञायकं, दर्शनं चानन्तदर्शनं ज्ञानक्षण एव वस्तुसत्तास्वरूपेण ग्रहणलक्षणं बोद्धव्यं । *चत्तारि वि पायडा गुणा हुंति* चत्वारोऽपि गुणाः प्रकटा भवन्ति । कस्मिन् सति, *णट्ठे घाइचउक्के* नष्टे विनाशं प्राप्ते घातिचतुष्के—मोहज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायात्मकेवलज्ञा-

---

के सद्भाव से परमानन्द की उत्पत्ति रूप वस्तु स्वरूप को जानने की जो योग्यता है तद्रूप ही जानना चाहिये ।

जैसा कि विमान पङ्क्तिव्रत की कथाके अन्त में कहा गया है—

शास्त्रं—जब एक या चार छह शास्त्रोंको जानकर साधु अत्यन्त संतुष्ट होते हैं— सुखी होते हैं, तब समस्त तत्वार्थ को जानने वाले सिद्ध भगवान् सुखी क्यों नहीं होंगे ? अवश्य होंगे ॥१॥

चक्रिणां—चक्रवर्ती, भोगभूमिज मनुष्य, नागेन्द्र, और देव इनके उत्तरोत्तर अनन्त-गुणा सुख होता है ॥२॥

तस्त्रिकाल—और इन सबको तीनकालमें जितना सुख होता है उससे अनन्त गुणा सुख सिद्ध भगवान् को आधे क्षण में प्राप्त होता है । वे सिद्ध भगवान् तुम सबको मोक्ष प्रदान करें ॥ ३ ॥

इसी प्रकार ज्ञान शब्द से लोक तथा अलोककी वस्तुओं को जानने वाला केवल ज्ञान लेना चाहिये और दर्शन शब्द से अनन्त दर्शन अर्थात् केवल-दर्शन का ग्रहण करना चाहिये । यह केवल दर्शन केवल ज्ञानके साथ ही वस्तुके सत्ता स्वरूपको ग्रहण करनेवाला

१—विज्ञान्न म० । २—त्रिलोकसारस्य निम्नाङ्किताः गाथा एतेषां श्लोकानां मूलाधारः प्रतीताः—

एयं सत्थं सव्वं सत्थं वा सम्म मेत्थ जाणंता । तिव्वं तुस्संति णरा किं ण समत्थत्थतच्चण्हा ॥ १ ॥

चक्कि कुरु फणि सुरिंदे सह मिंदेजं सुहं तिकालभवं । तत्तो अणंत गुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि ॥ २ ॥

नसाम्राज्यविध्वंसकारके कर्मशत्रुचतुष्टये । *लोयालोयं पयासेदि लोकालोकं प्रकाशयति* । लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशा यस्मिन्निति लोकः । ते न लोक्यन्ते न दृश्यन्ते यस्मिन् संसारे सर्वतोऽनन्तानन्तजीवादय. पदार्था सोऽलोकः[1] लोकश्चालोकश्च लोकालोकस्तं लोकालोकं प्रकाशयति जानाति पश्यति चेत्यर्थः ।

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो ।

अप्पो विय परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥ १४९ ॥

ज्ञानी शिवः परमेष्ठी सर्वज्ञो विष्णुः चतुर्मुखो बुद्धः ।

आत्मापि च परमात्मा कर्मविमुक्तश्च भवति स्फुटम् ॥

सम्यग्दर्शनप्रभावेणायं संसारी जीवः सिद्धो भवतीति न केवलं सर्वज्ञो भवतीत्यपि शब्दस्यार्थः । स सिद्धः कथंभूतः तस्य नाममालां प्रतिपादयन्नाह भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यः—*णाणी सिव परमेट्ठी* ज्ञानी ज्ञानमनन्तकेवलज्ञानं विद्यते यस्य स भवति ज्ञानी । शिवः परमकल्याणभूतः शिवति लोकाग्रं गच्छतीति

होता है । मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये चार कर्म, आत्माके केवलज्ञान रूप साम्राज्य का विध्वंस करने वाले कर्म शत्रु हैं इनका क्षय होनेपर ही ऊपर कहे हुए केवल-ज्ञानादि गुण प्रकट होते हैं । जिसमें जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य दिखाई देते हैं—वह लोक है और जिसमें सब ओर अनन्तानन्त जीव आदि पदार्थ नहीं दिखाई देते हैं वह अलोक है । घातिचतुष्क के नष्ट होने पर यह जीव लोक और अलोक को प्रकाशित करने लगता है अर्थात् जानने देखने लगता है ॥१४८॥

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन के प्रभाव से यह संसारी जीव भी ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध और परमात्मा होजाता है तथा निश्चय--पूर्वक कर्मों से मुक्त हो जाता है ॥ १४९ ॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह संसारी जीव सिद्ध होजाता है, मात्र इतनी ही बात नहीं है किन्तु सर्वज्ञ आदि भी होता है, यह अपि शब्दका अर्थ है । वह सिद्ध कैसा होता है ? उसकी नामावली को प्रतिपादन करते हुए श्री भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—वह सिद्ध ज्ञानी है अर्थात् अनन्त केवल ज्ञानसे युक्त होनेके कारण ज्ञानी है । परम कल्याण भूत होनेसे शिव है अथवा 'शिवति लोकाग्रं गच्छतीति शिवः' इस व्युत्पत्ति से लोकाग्र को प्राप्त होनेसे शिव है । शिव शब्द में 'नाभ्युपधप्रीकृगृज्ञां कः' इस सूत्र से क

१—पदार्थाश्चालोकः म० क० ।

शिवः । "नाम्युपधप्रीकृगृज्ञां कः" । परमेष्ठी इन्द्रचन्द्रधरणेन्द्रवंदिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी । औणादिकोऽयं प्रयोगः । *सव्वण्हू विण्हू चउमुहो बुद्धो* सर्वं लोकालोकं जानाति वेत्तीति सर्वज्ञः । वेवेष्टि केवलज्ञानेन लोकालोकं व्याप्नोतीति विष्णुः "विषेः किच्च" इत्यनेन नुप्रत्ययः स च कित् कानुबन्धत्वान्न गुणः । चतुर्मुखः भूतपूर्वनयापेक्षया चतुर्मुखः चतुर्दिक्षुसवसभ्यानां सन्मुखस्य दृश्यमानत्वात् सिद्धावस्थायां तु सर्वत्रावलोकनशीलत्वात् चतुर्मुखः । बुद्ध्यते सर्वं जानातीति बुद्धः । "ञ्यनुबन्धमतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः क्तः" इत्यनेन सूत्रेण वर्तमानकाले क्तप्रत्ययः । *अप्पो वि य परमप्पो* आत्मापि च संसारी जीवोऽपि च परमात्मा अर्हन् सिद्धश्च भवति । कथंभूतः सिद्धः, *कम्मविमुक्को य होइ फुडं* कर्मभ्यो विमुक्तो रहितो भवति संजायते स्फुटं निश्चयेनेति शेषः । एतत् सम्यग्दर्शनस्य महान् महिमा ज्ञातव्य इति भावार्थः ।

इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो ।
तिहुवणभवणपईवो देउ मम उत्तमं बोहं ॥ १५० ॥

इति घातिकर्ममुक्तः अष्टादशदोषवर्जितः सकलः ।
त्रिभुवनभवनप्रदीपः ददातु मह्यमुत्तमं बोधम् ॥

प्रत्यय हुआ है । इन्द्र चन्द्र तथा धरणेन्द्र से वन्दित परम पद—उत्कृष्ट पदमें स्थित होनेसे परमेष्ठी हैं । परमेष्ठी शब्द उणादि प्रकरण से सिद्ध होता है । समस्त लोकालोक को जानता है इसलिये सर्वज्ञ है । केवल ज्ञानके द्वारा लोकालोक को व्याप्त करता है इसलिये विष्णु है । विष्णु शब्द में 'विषेः किच्च' इस सूत्र से नु प्रत्यय हुआ है तथा कित् होनेके कारण गुण नहीं हुआ है । भूत-पूर्व नयकी अपेक्षा अर्थात् समवसरण में चारों दिशाओं में बैठे हुए सभ्यों को सन्मुख दर्शन होते थे इस विवक्षासे चतुर्मुख कहलाता है और सिद्धावस्था में सब ओर के पदार्थों का जानता देखता है इसलिये चतुर्मुख कहलाता है । समस्त पदार्थों को जानता है इसलिये बुद्ध है । बुद्ध शब्द में 'ञ्यनुबन्ध-मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यः क्तः' इस सूत्र से वर्तमान काल में क्त प्रत्यय हुआ है । अर्हन्त और सिद्ध होनेसे परमात्मा कहलाता है तथा निश्चय से ज्ञाना-वरणादि कर्मोंसे विमुक्त होता है । यह सब सम्यग्दर्शन को महान् महिमा जानना चाहिये ॥१४९॥

गाथार्थ—इस प्रकार जो घातिया कर्मोंसे मुक्त हो चुके हैं, अठारह दोषों से रहित हैं तथा तीन लोक रूपी भवन को प्रकाशित करने के लिये श्रेष्ठ दीपक के समान हैं वे सकल अर्थात् परमौदारिक शरीरके धारक अर्हन्त भगवान् मुझे उत्तम ज्ञान—केवलज्ञान देवें ।

विशेषार्थ—अर्हन्त भगवान् पूर्वोक्त चार घातिया कर्मोंसे रहित हैं । अठारह दोषों से रहित हैं और सकल अर्थात् कला—परमौदारिक शरीर से सहित हैं । यहां सकल विशे-

इय घाइकम्ममुक्को इति पूर्वोक्तलक्षणघातिकर्मभ्यो मुक्तः । *अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो* अष्टा-रशदोषवर्जितो रहितः, सकलः सह कलया शरीरेण वर्तते इति सकलः तेन तस्य धर्मोपदेशोऽपि घटते शरीरसंयुक्तपरमात्मत्वात् । एतेनेदं वचनं प्रत्युक्तं भवति—

[1]*अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।*

नादरूपं समुत्पन्नं शास्त्रं परमदुर्लभं ॥

अशरीरस्य शास्त्रोत्पत्तिर्न संगच्छते कूर्मरोमवत् बंध्यास्तनन्धयवत् शशविषाणवत् विष्णुपद-लतांतवत् मरुमरीचिकोदकवत् "अष्टौ स्थानानि वर्णानां" इति शब्दानां करणकारणत्वात् । *तिहुवणभवण-पईवो* त्रैलोक्यगृहस्य दीपः प्रद्योतकः त्रिभुवनप्रदीपः । देउ *मम उत्तमं बोहं* ददातु मम मह्यं उत्तमं बोधं केवलज्ञानं । इतीष्टप्रार्थना श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणां शास्त्रकरणस्य फलाभिलाषित्वात् । अथ के ते अष्टादश दोषा इति चेदुक्ता अप्युच्यन्ते—

[2]*क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः ।*

न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते ॥ १ ॥

षण देने से अर्हन्त भगवान् के शरीर संयुक्त परमात्म-पना प्रकट किया है इसीसे उनके धर्मोपदेश भी घटित हो जाता है। अर्हन्त परमेष्ठी को शरीर सहित मान लेनेसे निम्ना-ङ्कित कथन खण्डित हो जाता है—

अदृष्ट—'जिसका शरीर अदृष्ट है, जो शान्त है, तथा जो परम कारण रूप है, उस शिव से परम दुर्लभ नाद रूप शास्त्र उत्पन्न हुआ है।'

जिस प्रकार कछुए से रोम की, बन्ध्या से पुत्रको, शश से सींग की, आकाश से पुष्प की, और मृगमरीचिका से जल की उत्पत्ति असगत है उसी तरह शरीर-रहित शिव से शास्त्र की उत्पत्ति असंगत है। क्योंकि, 'अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्' वर्णों की उत्पत्ति कण्ठ तालु आदि आठ स्थानों से होती है, इस नियम के अनुसार शब्दों की उत्पत्ति का कारण करण शरीर ही हो सकता है।

अर्हन्त भगवान् तीन लोक रूपी घर को प्रकाशित करनेके लिये उत्तम दीप-स्वरूप हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य शास्त्र-रचना के फलकी अभिलाषा रखते हुए इष्ट प्रार्थना करते हैं कि वे अरहन्त भगवान् मेरे लिये उत्तम ज्ञान-केवलज्ञान प्रदान करें।

अब उन अठारह दोषोंको कहते हैं जो अरहन्त भगवान् में नहीं होते।

क्षुत्पिपासा—भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, रागद्वेष, मोह और

१—यशस्तिलके । २—रत्नकरण्डश्रावकाचारे ।

चकाराच्चिन्ताऽरतिनिद्राविषादस्वेदखेदविस्मया गृह्यन्ते । निर्दोषपरमाप्तविचारोऽष्टसहस्रीन्याय-कुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डाप्तपरीक्षातत्त्वार्थराजवार्तिकतत्त्वार्थश्लोकवार्तिकन्यायविनिश्चयालङ्कारादिषु महाशास्त्रेषु विस्तरेण ज्ञातव्यः ।

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण ।

तें जम्मवेल्लिमूल खणंति वरभावसत्थेण ॥ १५१ ॥

जिनवरचरणाम्बुरुहं नमन्ति ये परमभक्तिरागेण ।

ते जन्मवल्लीमूलं खनन्ति वरभावशस्त्रेण ॥

जिणवरचरणंबुरुह जिनोऽनेकविषमभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः "इण्जिकृषिभ्यो नक्"[1] । जिनश्चासौ वरः श्रेष्ठो जिनवरः । अथवा जिनानां गणधरदेवादीनां मध्ये वरः श्रेयस्करो जिनवरस्तस्य चरणावेवाम्बुरुहं जिनवरचरणाम्बुरुहं श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागपादपद्मं । *णमंति जे परमभत्तिराएण* नमन्ति नमस्कुर्वन्ति ये आसन्नभव्याः परमभक्तिरागेण परमभक्त्यनुरागेणाकृत्रिमस्नेहेन *ते जम्मवेल्लिमूलं* ते पुरुषा जन्मवल्लीमूलं खनन्तीति सम्बन्धः, जन्मैव वल्ली संसारवीरुत् अनन्तानन्तप्रमाणत्वात् तस्या मूलं कन्दं खनंति उत्पाटयन्ति उद्धरन्ति समूलकाषं कषन्तीत्यर्थः मोहस्य विच्छेदकत्वात्, संसारवल्लीमूलं मिथ्यात्वमोहः तस्य मूलं खनन्ति सम्यग्दृष्टयो भवन्ति । उक्तं च श्रीभोज-राजमहाराजेन—

चकार से संगृहीत चिन्ता अरति निद्रा विषाद पसीना खेद और आश्चर्य ये अठारह दोष जिसमें नहीं होते हैं वह आप्त कहा जाता है ।

निर्दोष आप्त का विचार अष्ट-सहस्री, न्याय कुमुदचन्द्रोदय, प्रमेय कमल मार्तण्ड, आप्तपरीक्षा, तत्वार्थ राजवार्तिक, तत्वार्थ श्लोक वार्तिक तथा न्यायविनिश्चयालङ्कार आदि शास्त्रों में विस्तारसे जानना चाहिये ॥१५०॥

गाथार्थ—जो उत्कृष्ट भक्तिसम्बन्धी रागसे जिनेन्द्रदेवके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं वे उत्तम भाव रूपी शस्त्रकेद्वारा संसाररूपी लताके मूलको उखाड़ देते हैं । १५१॥

विशेषार्थ—'जयतीति जिनः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो संसार रूपी सघन वन में अनेक विषय कष्टोंको प्राप्त कराने वाले कर्मरूपी शत्रुओं को जीतता है वह जिन कहलाता है । 'इण जिकृषिभ्योनक्' इस सूत्र से 'जि जये' धातु से नक् प्रत्यय होनेपर जिन शब्द सिद्ध होता है । जो जिन होकर श्रेष्ठ है वह जिनवर है अथवा जिन शब्द से गणधर

१—इत्यनेन जि जये म इत्यस्य धातोर्नकारादेशः क इव् किरवान्नकः ।

[1]सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय द्रष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु ।
अन्येन किं तदिह नाथ ! तवैव वक्त्रं त्रैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीयं ॥ १ ॥

खणंति वरभावसत्थेण खनन्ति निर्मूलकाषं कषन्ति, केन कृत्वा ? वरभावशस्त्रेण विशिष्टभावनाकुद्दालेन दात्रादिना वा ।

जह सलिलेण [2]ण लिप्पइ कमलणिपत्तं सहावपयडीए ।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥ १५२ ॥

यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनीपत्रं स्वभावप्रकृत्या ।
तथा भावेन न लिप्यते कषायविषयैः सत्पुरुषः ॥

जह सलिलेण ण लिप्पइ यथा येन प्रकारेण सलिलेन जलेन न लिप्यते न स्पृश्यते । किं तत्कर्मतापन्नं, *कमलणिपत्तं सहावपयडीए* कमलिनीपत्रं पद्मिनीच्छदः स्वभावप्रकृत्या निजस्वभावेन । *तह भावेण ण लिप्पइ* तथा तेन प्रकारेण भावेन *जिनचरणकमलभक्तिलक्षणसम्यक्त्वेन* करणभूतेन कृत्वा । कैः कर्तृभूतैः न लिप्यते, *कसायविसएहिं सप्पुरिसो* कषायैः क्रोधमानमायालोभैः, विषयैः विषयसुखैः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दैः सत्पुरुषः सम्यग्दृष्टिजीवः । तथा चोक्तं—

देव आदिका ग्रहण होता है उनमें जो वर–श्रेष्ठ है वे जिनवर–तीर्थंकर परम देव कहलाते हैं । उन तीर्थंकर सर्वज्ञ अर्हन्त देवके चरण कमलों को निकट भव्य जीव परम भक्ति रूप अनुराग अर्थात् अकृत्रिम स्नेह से नमस्कार करते हैं वे जन्मवल्ली अर्थात् ससार रूपी लता के मूल को–जड़को खोद डालते है । संसार रूपी लता का मूल मिथ्यात्व रूप मोह है उसे जो विशिष्ट भावना रूपी कुदाली के द्वारा खोदते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं । जैसा कि भोज महाराज ने कहा है—

सुप्तोत्थितेन—सोकर उठे हुए सत्पुरुष को यदि सुमङ्गल के कोई माङ्गलिक वस्तु देखने योग्य है तो हे नाथ ! और दूसरी वस्तु की क्या आवश्यकता है ? उसे तीन लोक के मङ्गलोंका घर स्वरूप आपके श्री मुखका ही दर्शन करना चाहिये ।

गाथार्थ—जिस प्रकार कमलिनी का पत्ता स्वभाव से ही जलसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सत्पुरुष–सम्यग्दृष्टि मनुष्य स्वभाव से ही कषाय और विषयों मे लिप्त नहीं होता ॥ १५२ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार निजस्वभाव के कारण कमलिनी का पत्ता पानी से लिप्त

१—जिन चतुर्विंशतिका स्तोत्रे भूपाल कवेः । २—न लिप्पइ क० घ० ।

धात्रीबालाऽसतीनाथपद्मिनीदलवारिवत् ।
दग्धरज्जुवदाभासं भुञ्जन् राज्यं न पापभाक् ॥ १ ॥

ते च्चिय भणामिहं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं ।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥ १५३ ॥

तानेव भणामि अहं ये सकलकलाशीलसंयमगुणैः ।
बहुदोषाणामावासः सुमलिनचित्तः न श्रावकसमः सः ॥

ते च्चिय भणामिहं जे तानेव सत्पुरुषानहं कुन्दकुन्दाचार्यो भणामि कथयामि । तान् कान्, ये पुरुषाः *सकलकलासीलसंजमगुणेहिं* सकलकलाः परिपूर्णकलनाः सम्यक्परीक्षादायिनः, कैः ? शीलसंयमगुणैः शीलनिकषक्षमाः संयमनिकषक्षमाः गुणनिकषक्षमा भवन्ति । तथा चोक्तं—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथैव धर्मो विदुषा परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपोदयागुणैः ॥ १ ॥

नहीं होता है उसी प्रकार सत्पुरुष सम्यग्दृष्टि जीव, जिनेन्द्र देवके चरण कमलों की भक्ति रूपी सम्यक्त्व के कारण क्रोधादि कषायों तथा स्पर्शादि विषयों से लिप्त नहीं होता ।

जैसा कि कहा है—

धात्रीबाला—सम्यग्दृष्टि मनुष्य धात्रीबाल, असतीनाथ, कमलिनी पत्र पर स्थित जल और जली हुई रस्सी के समान राज्यका उपभोग करता हुआ भी पापी नहीं होता है । भावार्थ–जिस प्रकार धाय बालक का लालन पालन करती हुई भी उसे अपना बालक नहीं मानती है, जिस प्रकार पुरुष अपनी दुश्चरित्रा स्त्रीसे सम्बन्ध रखता हुआ भी उससे विरक्त रहता है, जिस प्रकार कमलिनीके पत्र पर पड़ा हुआ पानी उस पर रहता हुआ भी उससे भिन्न रहता है और जली हुई रस्सी जिस प्रकार ऊपर से आकारको लिये हुई दिखती है परन्तु भीतर से अत्यन्त निर्बल रहती है इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव राज्य आदिका उपभोग करता हुआ भी अन्तरङ्ग से आसक्त नहीं होता, अतः पापी नहीं कहलाता ।

गाथार्थ—मैं उन्हीं को सत्पुरुष अथवा मुनि कहता हूँ जो शील संयम तथा गुणोंके द्वारा परिपूर्ण हैं । जो अनेक दोषोंका स्थान तथा अत्यन्त मलिन चित्त है वह तो श्रावक के भी समान नहीं है ॥१५३॥

विशेषार्थ—श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जो शील संयम तथा गुणों के द्वारा सकल कला हैं अर्थात् समीचीन रीति से परीक्षा देने वाले हैं–जिनके शील संयम और गुणोंमें कभी कमी नहीं आती वे ही मुनि हैं । जैसा कि कहा है—

तथा चोक्तं—

संजमु सीलु सउच्चु तवु जसु सूरिहि गुरु सोइ ।
दाहछेदकसघायसमु उत्तमु कंचणु होइ ॥ १ ॥

बहुदोसाणावासो बहूनां दोषाणामतीचारादीनामावासो गृहं, अथवा वधूनां स्त्रीणां दोष्णां बाहूनां आवास आलिंगको मुनिः। *सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो* सुष्ठु अतीव मलिनचित्तो रागद्वेष-मोहकश्मलचेता मुनिः मुनिर्न भवत्येव, तर्हि किं भवति ? ण सावयसमो सो-न श्रावकसमः श्रावकेणापि गृहस्थेनापि समः सदृशः स न भवति। तस्य दानपूजादिलाभसंयुक्तत्वादुत्तमत्वं। तथा चोक्तं

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः ।
श्वःस्त्रीकटाक्षलुंटाकलोप्यवैराग्यसम्पदः ॥ १ ॥

"चिअ चेअ अस्मदीयस्यानस्थाणुमूकतृष्णीकदवेकमृदुकसेवानखर्तंडन्हितव्याहृतकुतूहलस्थू-लव्याकुलेषु वा" इत्यनेन प्राकृतव्याकरणसूत्रेण चिअ इत्यस्य वा द्वित्वं। चिअ इति कोऽर्थः "अवधारणे णइ च चिअ चेआः।"

अन्यच्च—

ते च्चिअ धण्णा ते च्चिय साउरिसा ते जियंति जियलोए ।
वोद्दहदहम्मि पडिया तरंति जे च्चिय लंलाए ॥ १ ॥

यथाचतुर्भिः—जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना और ताड़ना इन चार उपायों से सुवर्ण की परीक्षा की जाती है उसी प्रकार श्रुत शील तप और दया रूप गुणके द्वारा धर्म की परीक्षा की जाती है ॥१॥

जैसा कि कहा है—

संजमु—जिसमें संयम शील शौच तथा तप विद्यमान हैं वही गुरु हो सकता है, क्योंकि तपाना छेदना घिसना तथा चोट खाना आदि कार्यों में जो समर्थ है वही सुवर्ण हो सका है।

इसके विपरीत जो अनेक दोषों अथवा अतिचारोंका आवास हो अथवा जो स्त्रियों की भुजाओं के आलिङ्गन की इच्छा रखता हो तथा जिसका चित्त अत्यन्त मलिन हो वह मुनि नहीं है वह तो श्रावक के भी समान नहीं है। क्योंकि श्रावक दान पूजा आदि लाभ से संयुक्त होनेके कारण उत्तम है। जैसा कि कहा है—

वरगार्हस्थ—आगे होनेवाले उस तपकी अपेक्षा तो जिसमें कि देवाङ्गनाओं के कटाक्ष रूप लुटेरों के द्वारा वैराग्य रूपी संपदा लुट जाती है, आज गृहस्थ रहना भी अच्छा है।

गाथा में 'च्चिय' शब्द दिया है उसे चिञ्ज चेञ्ज आदि प्राकृत व्याकरण के सूत्र

बोद्रह इति कोऽर्थो यौवनम् ।

ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण ।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं ॥ १५४ ॥

ते धीरवीरपुरुषाः क्षमादमखड्गेन विस्फुरता ।
दुर्जयप्रबलोद्धरकषायभटा निर्जिता यैः ॥

ते धीरवीरपुरिसा ते पुरुषा धीरा अनिवर्तकाः संयमसंग्रामात् कर्मशत्रूणां घातमकृत्वा न पश्चाद्व्याघुटंति, वीरा विशिष्टां केवलज्ञानसाम्राज्यलक्ष्मीं रान्ति स्वीकुर्वन्तीति वीराः । *खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण* क्षमा प्रकृष्टप्रशमः, दमो जितेन्द्रियत्वं क्षमयोपलक्षितो दमः क्षमदमः स एव खड्गः कौक्षेयः करवालोऽसिर्निस्त्रिंशः घातिकर्मशत्रुसंघातघातकत्वात् तेन क्षमादमखड्गेन । किं कुर्वता ? विस्फुरता अप्रतिहतव्यापारतया चमत्कुर्वता । *दुज्जयपबलबलुद्धर* दुःखेन महता कष्टेन जेतुमशक्या दुर्जयाः, प्रबलं प्रचुरं, बलं सामर्थ्यं तेन उद्धरा उत्कटा ये कषायभटाः क्रोधमानमायालोभसुभटाः । *कसायभडणिज्जिया जेहिं* एवंविधाः कषायभटा यैर्निर्जिता मारिता भूमौ पातिताः ।

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं ।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥ १५५ ॥

से द्वित्व होगया है विज्ज का अर्थ अवधारण है—

और भी कहा है—

तेच्चिय—ससार में वे ही धन्य हैं, वेही सत्पुरुष हैं और वेही जीवित हैं जो यौवन रूपी गहरे ह्रद में गिरकर भी लीलासे उसे पार कर सकते है।

गाथार्थ—वे धीर वीर पुरुष हैं जिन्होंने क्षमा और जितेन्द्रियता रूपी चमकती तलवार से दुर्जेय तथा प्रचुर बलसे उत्कट कषाय रूपी योद्धाओं को जीत लिया है ॥१५४॥

विशेषार्थ—धीर वे हैं जो संयम रूपी संग्राम से कर्मरूपी शत्रुओं का घात किये विना पीछे नहीं लौटते और वीर वे हैं जो वि–विशिष्ट, ई–केवल–ज्ञान–रूपा लक्ष्मी को, र–स्वीकृत करते हैं। लोकोत्तर प्रशम भावका क्षमा कहते हैं तथा इन्द्रियों को जीतना दम कहलाता है। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि इस संसारमें धीर वीर पुरुष वे ही हैं जिन्होंने क्षमा से युक्त जितेन्द्रियता रूप देदीप्यमान तलवार से दुर्जेय–बहुत भारी कष्टसे जीतने के अयोग्य एवं प्रचुर बलसे दुर्धर कषाय रूपी भटोंको–क्रोध, मान, माया, और लोभ रूपी योद्धाओं को मारकर भूमि पर गिरा दिया है।

सबसे प्रबल शत्रु कषाय ही हैं इन्हें क्षमा और जितेन्द्रियता के द्वारा ही जीता जा

धन्यास्ते भगवन्तो दर्शनज्ञानाग्रप्रवरहस्ताभ्याम् ।
विषयमकरधरपतिता भव्या उत्तारिता यैः ॥

धण्णा ते भयवंता धन्याः पुण्यवन्तः ते भगवन्तः इन्द्रादिपूजिताः अथवा भयं वांत त्यक्तं यस्तं भयवान्ता निर्भयाः सप्तभयरहिताः । *दसणणाणग्गपवरहत्थेहिं* दर्शनज्ञाने एव प्रवरौ बलवत्तरौ हस्तौ करौ दर्शनज्ञानप्रवराग्रहस्तौ ताभ्यां द्वाभ्यां हस्ताभ्यां करणभूताभ्यां । *विसयमयरहरपडिया* विषय एव मकरधरः समुद्रः तत्र पतिता ब्रुडिताः । *भविया उत्तारिया जेहिं* भव्यजीवा उत्तारिता हस्तावलम्बनं दत्वा उत्तारिताः संसारसुखत्तारसमुद्रस्य पारं नीताः, तैर्वीरवर्द्धमानश्रीगौतमस्वाम्यादिभिरिति मंगलाभिप्रायः ।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा ।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥ १५६ ॥

मायावल्लीमशेषां मोहमहातरुवरे आरूढाम् ।
विषयविषपुष्पपुष्पितां लुनन्ति मुनयः ज्ञानशस्त्रैः ॥

मायावेल्लि असेसा माया परवंचनस्वभावा सैव वल्ली प्रतानिनी तां मायावल्लीं, अशेषां अनन्तानुबन्धिप्रभृतिचतुर्भेदसमग्रां । *मोहमहातरुवरम्मि आरूढा* मोह एव तरुवरः पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहमहावृक्षस्तमारूढां चटितां । *विसयविसपुप्फफुल्लिय* विषया एव विषपुष्पाणि तैः पुष्पिता विषयविषपुष्पपुष्पिता तां ।

सकता है जिन्होंने इन्हें जीत लिया है वे ही धीर वीर पुरुष हैं ॥१५४॥

गाथार्थ—वे भगवान् धन्य हैं जिन्होंने ज्ञान दर्शन रूपी श्रेष्ठ अग्रगामी हाथों के द्वारा विषय रूपी समुद्र में पड़े हुए भव्य जीवों को उतार कर पार लगाया है ॥१५५॥

विशेषार्थ—इन्द्र आदि के द्वारा पूजित वे भगवान् धन्य हैं–अतिशय पुण्यवान् हैं अथवा 'भयवान्ता' छाया मान कर शङ्का आदि सात भयों से रहित हैं जिन्होंने दर्शन और ज्ञान रूपी बलिष्ठ हाथों के द्वारा विषय रूपी मकराकर–समुद्र में पड़े हुए भव्य जीवोंको निकाल कर पार लगा दिया है । यहां मङ्गल कामना से श्री वर्धमान भगवान् तथा गौतम स्वामी आदि की स्तुति की गई है ॥१५५॥

गाथार्थ—मोह रूपी महावृक्ष पर चढ़ी और विषय रूपी विष पुष्पोंसे फूली माया रूपी सम्पूर्ण लताको मुनिगण ज्ञान रूपी शस्त्र के द्वारा छेदते हैं ॥१५६॥

विशेषार्थ—स्त्री पुत्रादि के स्नेह में पड़ कर मनुष्य नाना प्रकार की माया करता है । माया का स्वभाव दूसरों को ठगना है यह माया अनन्तानुबन्धी आदिके भेद से चार प्रकार की है माया के द्वारा मनुष्य विषयों को प्राप्त कर प्रसन्न होता है । यहां आचार्य महाराज ने स्त्री पुत्रादि के स्नेह रूपी मोहको महान् ऊंचे वृक्ष की उपमा दी है, मायाको

लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं लुनन्ति छिन्दन्ति, के ते ? मुनयः सम्यग्ज्ञानसमुपेता दिगम्बरगुरव इत्यर्थः । केन, ज्ञानशस्त्रेण सम्यग्ज्ञानशस्त्रेण परशुना इति शेषः ।

मोहमयगारवेहि य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता ।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥ १५७ ॥

मोहमदगारवैः च मुक्ता ये करुणभावसंयुक्ताः ।
ते सर्वदुरितस्तंभं घ्नन्ति चारित्रखड्गेन ॥

मोहमयगारवेहि य मोहः कलत्रपुत्रमित्रादिषु स्नेहः, मदो ज्ञानादिरष्टप्रकारो निजौन्नत्यं, गारवं शब्दगारवर्द्धिगारवसातगारवभेदेन त्रिविधं । तत्र शब्दगारवं वर्णोच्चारगर्वः, ऋद्धिगारवं शिष्यपुस्तककमण्डलुपिच्छपट्टादिभिरात्मोद्भावनं, सातगारवं भोजनपानादिसमुत्पन्नसौख्यलीलामदस्तैर्मोहमदगारवैः । चकार उक्तसमुच्चयार्थस्तेन निजपक्षीयधनवद्राजमान्यश्रावकादिभिरभिमानः । *मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता* पूर्वोक्तैर्मोहादिभिर्ये मुक्ताः, करुणभाव कारुण्यं दयापरिणामस्तेन संयुक्ताः । *ते सव्वदुरियखंभं* ते मुनयः सर्वदुरितस्तंभं समस्तमलातिचारादिसमुत्पन्नं पापस्तंभं *हणंति चारित्तखग्गेण* घ्नन्ति चारित्रखड्गेन छिन्दन्ति निजनिर्मलसद्वृत्तनिस्त्रिंशेनेति शेषः ।

लता की उपमा दी है, विषय को विषपुष्प की उपमा दी है तथा ज्ञानको शस्त्र की उपमा दी है इस प्रकार गाथा का अर्थ होता है कि मोहरूपी ऊंचे वृक्ष पर चढ़ी एवं विषय रूपी विष पुष्पों से फूली माया रूपी लताको सम्पूर्ण रूपसे मुनि ज्ञान रूपी शस्त्र के द्वारा छेदकर—काटकर दूर फेंक देते हैं ॥१५६॥

गाथार्थ—जो मोह मद और गारव से रहित तथा करुणा भाव से संयुक्त हैं ऐसे मुनि चारित्र रूपी खड्गके द्वारा समस्त पाप रूपी स्तम्भको घात कर नष्ट करते हैं ॥१५७॥

विशेषार्थ—स्त्री पुत्र तथा मित्र आदि में जो स्नेह है वह मोह कहलाता है, ज्ञान पूजा आदि के भेद से मद आठ प्रकार का है। शब्द गारव, ऋद्धि गारव और सात गारव के भेद से गारव के तीन भेद हैं। हमारे वर्णोंका उच्चारण साफ और सुन्दर होता है इस प्रकारका गर्व होना वर्णोच्चार गारव है। शिष्य, पुस्तक, कमण्डलु, पीछी तथा पाटे आदि बाह्य सामग्री से अपने महत्त्व का प्रकट करना ऋद्धि गारव है और भोजन पान आदि से समुत्पन्न सुखका गर्व होना सात गारव है। चकार उक्त समुच्चयार्थक है अर्थात् कहने से जो बाकी रह गये हैं उनका समुच्चय करने वाला है इसलिये अपने पक्षके श्रावक धनवान् अथवा राज-मान्य हों इस बातका गर्व करना। जो मुनि इन मोह, मद, और गारवों से मुक्त हैं तथा करुणा भाव—दया भावसे संयुक्त हैं वे सब प्रकार के दोष अथवा अतिचार

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो ।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणवहे ॥ १५८ ॥

गुणगणमणिमालया जिनमतगगने निशाकरमुनीन्द्रः ।
तारावलिपरिकलितः पूर्णिमेन्दुरिव पवनपथे ॥

गुणगणमणिमालाए गुणा अष्टाविंशतिमूलगुणाः दश धर्माः तिस्रो गुप्तयः अष्टादशशीलसहस्राणि द्वाविंशतिपरीषहाणां जय एते उत्तरगुणाः, गुणानां गणाः समूहा गुणगणास्त एव मणयो रत्नानि तेषां माला मुक्ताफलहारस्तया गुणगणमालया मुनिः शोभते इत्युपस्कारः । *जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो* जिनमतमार्हन्तशासनं तदेव गगनं आकाशः पापलेपरहितत्वात् जिनमतगगनं तस्मिन् जिनमतगगने सर्वज्ञशासनाकाशे, निशाकरश्चन्द्रः निशां करोति उद्योतयति निशाकरो मुनीन्द्रः तत्र मुनीन्द्रो दिगम्बरः निशाकरः पापान्धकारविच्छेदकत्वात् *तारावलिपरियरिओ* तारावलिपरिकलितो नक्षत्रमालापरिवेष्टितो नक्षत्रमण्डलोपेतः । *पुण्णिमइंदुव्व पवणवहे* पूर्णिमेन्दुरिव पूर्णिमाचन्द्रवच्छोभते, पवनपथे गगनमार्ग इति शेषः ।

चक्कहररामकेसवसुरवरजिणगणहराइसोक्खाइं ।
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥ १५६ ॥

चक्रधररामकेशवसुरवरजिनगणधरादिसौख्यानि ।
चारणमुन्यृद्धीः विशुद्धभावा नराः प्राप्ताः ।

आदि से समुत्पन्न पाप रूपी खम्भे को चारित्र रूपी खड्गके द्वारा नष्ट कर देते हैं। यथार्थ में निर्मल चारित्र के द्वारा ही पापका नाश होता है ॥१५७॥

गाथार्थ—जिस प्रकार आकाशमें ताराओंकी पङ्क्तिसे सहित पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार जिनमत रूपी आकाश में गुण समूह रूपी मणियों की मालासे युक्त मुनि-रूपी चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥१५८॥

विशेषार्थ—अट्ठाईस मूल गुण हैं, तथा दश धर्म, तीन गुप्तियां, अठारह हजार शीलके भेद और बाईस परीषहों का जीतना आदि उत्तर गुण हैं। इन सब गुणोंके समूह रूप मणियों की माला से अलंकृत मुनि रूपी चन्द्रमा, जिनमत—अर्हन्त सर्वज्ञ देवके शासन रूपी आकाश में उस प्रकार सुशोभित होता है जिस प्रकार के निर्मल आकाश में नक्षत्रों की पङ्क्ति से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥१५८॥

गाथार्थ—विशुद्ध भावोंके धारक मनुष्य, चक्रवर्ती बलभद्र नारायण सुरेन्द्र जिनेन्द्र और गणधरादि के सुखोंको तथा चारण मुनियों की ऋद्धियों को प्राप्त हुए हैं ॥१५९॥

चक्कररामकेसवसुरवरजिणगणहराइसोक्खाइं चक्रधराश्च भरतादयः सकलचक्रवर्तिनः, रामाश्च बलदेवाः, केशवाश्चार्धचक्रवर्तिनः, सुरवराश्च सौधर्मेन्द्राद्यच्युतेन्द्रपर्यन्ता अहमिन्द्रान्ताः, जिनाश्च वृषभादितीर्थान्ताः, गणधरादयश्च वृषभसेनादयः श्रीगौतमान्तास्तेषां सौख्यानि महापुराणादिशास्त्रवर्णितानि *चारणमुणिरिद्धीओ* चारणमुनीनां आकाशगामिनामृषीणां ऋद्धीः अक्षीणमहानसालयप्रभृतिः । विसुद्धभावा णरा पत्ता विशुद्धभावा नरा जीवाः प्राप्ता लभन्ते स्म ।

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं ।

पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥ १६० ॥

शिवमजरामरलिङ्गमनुपममुत्तमं परमविमलमतुलम् ।

प्राप्ता वरसिद्धिसुखं जिनभावनाभाविता जीवाः ॥

शिवमजरामरलिंगं शिवं परमकल्याणं परममंगलभूतं कर्ममलकलंकरहितत्वात्, अजरामरलिंगं जरामरणरहितचिन्हं । *अणुवमं* उपमारहितं । *उत्तम* परममुख्यं *परमविमलं* द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितं । *अतुलं* अनन्तमित्यर्थः । *पत्ता वरसिद्धिसुहं* एतद्विशेषणविशिष्टं वरं श्रेष्ठं सिद्धिसुखं परमनिर्वाणसौख्यं प्राप्ताः लभन्ते स्म । *जिणभावणभाविया जीवा* जिनभावनया निर्मलसम्यक्त्वेन भाविता वासिता जीवा आसन्नभव्याः

विशेषार्थ—चक्ररत्न के धारक भरत आदि सकल चक्रवर्ती, राम अर्थात् बलदेव, केशव अर्थात् अर्ध चक्रवर्ती—नारायण, सुरवर—अर्थात् सौधर्मेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक अथवा अहमिन्द्र तक, जिन अर्थात् ऋषभादि तीर्थंकर, गणधरादि अर्थात् वृषभसेन को आदि लेकर गौतमान्त गणधर इन सबके सुखोंको जिनका कि महापुराण आदि शास्त्रों में वर्णन है तथा आकाश गामी चारण ऋद्धिके धारक मुनियों को अक्षीण महानस—अक्षीण महालय आदि अनेक ऋद्धियों को शुद्धसम्यक्त्व के धारक मनुष्य ही प्राप्त हुए हैं ॥१५९॥

गाथार्थ—जिन भावना, अर्थात् निर्मल सम्यक्त्व से वासित आसन्न-भव्य जीव परम मङ्गल भूत जरा और मरण के चिह्नों से रहित, अनुपम, उत्तम, अत्यन्त विमल, और अतुल—अनन्त उत्कृष्ट सिद्धि के सुखको प्राप्त हुए हैं ॥१६०॥

विशेषार्थ—कर्ममल कलङ्क से रहित होनेके कारण जो शिव अर्थात् मोक्ष परम कल्याण एवं परम मङ्गल भूत है, उपमा रहित होनेसे अनुपम है, परम मुख्य है, द्रव्य कर्म भावकर्म और नो-कर्म से रहित होनेके कारण अत्यन्त विमल है, अतुल्य अर्थात् अनन्त है, ऐसे उत्कृष्ट सिद्धि सम्बन्धी परम निर्वाण सुखको जिन भावना अर्थात् निर्मल सम्यक्त्व से भावित अर्थात् वासित निकट भव्य जीव प्राप्त करते हैं ॥१६०॥

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा ।
दिंतु वरभावसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥ १६१ ॥

ते मे त्रिभुवनमहिताः सिद्धाः शुद्धा निरंजना नित्याः ।
ददतु वरभावशुद्धिं दर्शनज्ञाने चारित्रे च ॥

ते मे तिहुवणमहिया ते जगत्प्रसिद्धाः, मे मम श्रीकुन्दकुन्दाचार्यस्य, त्रिभुवनमहितास्त्रैलोक्यपूजिताः । *सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा* सिद्धा मुक्तिस्त्रीवल्लभाः, शुद्धाः कर्ममलकलंकरहिताः, निरजना निरुपलेपाः, नित्या शाश्वताः । *दिंतु वरभावसुद्धिं* ददतु प्रयच्छन्तु, वरभावशुद्धिं विशिष्टपरिणामशुद्धिं । कस्मिन् , *दंसणणाणे चरित्ते य* सम्यग्दर्शने सम्यग्ज्ञाने सम्यक्चारित्रे चेत्यर्थः ।

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य ।
अण्णे वि अ वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥ १६२ ॥

किं जल्पितेन बहुना अर्थो धर्मश्च काममोक्षश्च ।
अन्येपि च व्यापारा भावे परिस्थिताः सर्वे ॥

किं जंपिएण बहुणा बहुना प्रचुरतरेण, जल्पितेन किं ? न किमपि । *अत्थो धम्मो य काममोक्खो य* अर्थो धनं, धर्मो यतिश्रावकगोचरः, कामः पंचेन्द्रियसुखदा येनं इष्टवनिता तस्या भोगः, मोक्षः सर्वकर्मक्षयलक्षणः । *अण्णे वि य वावारा* अन्येऽपि च व्यापारा विद्यादेवतासाधनादयः । *भावम्मि परिट्ठिया सव्वे* भावे शुद्धपरिणामे परिस्थिता भावाधीना भवन्तीति भावार्थः । उक्तं च—

गाथार्थ—जो त्रिभुवन के द्वारा पूजित हैं, शुद्ध हैं, निरञ्जन हैं, और नित्य हैं, वे जगत्प्रसिद्ध सिद्धभगवान् हमारे दर्शन ज्ञान और चारित्र में उत्कृष्ट भाव शुद्धिको प्रदान करें ॥ १६१ ॥

विशेषार्थ—कुन्दकुन्द स्वामी इष्ट प्रार्थना के रूप में कहते हैं कि जो तीन लोकके द्वारा पूजित हैं, कर्ममल कलंक से रहित हाने के कारण शुद्ध हैं, भाव कर्म से रहित होने के कारण निरञ्जन हैं और नित्य हैं—शाश्वत हैं—सादि अनन्त पर्याय से युक्त हैं वे जगत्प्रसिद्ध सिद्धपरमेष्ठी हमारे दर्शन ज्ञान और चारित्रमें उत्कृष्ट भावशुद्धिको करें ॥१६१॥

गाथार्थ—अधिक कहने से क्या ? धर्म अर्थ काम और मोक्ष तथा अन्य जितने व्यापार हैं वे सब भाव में ही—परिणामों की विशुद्धता में ही स्थित हैं ॥१६२॥

विशेषार्थ—आचार्य कहते हैं कि अधिक कहने से क्या लाभ है ? अर्थ—धन, धर्म—मुनि धर्म, श्रावक धर्म, काम—पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी सुख देनी वाली इष्ट स्त्रीका भोग और मोक्ष सर्व कर्म क्षय तथा विद्या देवता का साधन करना आदि सभी कार्य शुद्ध परिणामों

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये ।
भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणं ॥ १ ॥
भावविहूणउ जीव तुहं जइ जिणु वहहि सिरेण ।
पत्थरि कमलु किं निप्पजइ जइ सिंचहि अमिएण ॥ २ ॥
सीसु नमंतह कवणु गुणु भाउ कुसुद्दउ जाहं ।
पारद्धीदूणउ नमइ टुक्कंतउ हरिणाहं ॥ ३ ॥
अघ्नन्नपि भवेत् पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।
परिणामविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ ४ ॥

इय भावपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचल ठाणं ॥ १६३ ॥

इति भावप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं सम्यक् ।
यः पठति श्रृणोति भावयति स प्राप्नोति अविचलं स्थानम् ॥

इय भावपाहुडमिणं इति-एवं प्रकारं, भावप्राभृतमिदं भावप्राभृतनाम शास्त्रं *सव्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं* सर्वं बुद्धैः सर्वज्ञैः देशितं कथितं सम्यङ् निश्चयेन । यथा मया कथितं सर्वं बुद्धैरप्येवमेवोक्तमिति भावार्थः । *जो पढइ सुणइ भावइ* य आसन्नभव्यो जीवः पठति गुर्वग्रेऽनुशीलयति अभ्यस्यति, *सुणइ* एतदर्थमाकर्णयति, *भावइ*-श्रुत्वा श्रद्दधाति । *सो पावइ अविचलं ठाणं* स आसन्नभव्यो मुनिपुंगवः, प्राप्नोति लभते, अविचलं निश्चलं, स्थानं मोक्षपदमिति सिद्धम् ।

पर निर्भर है इसलिये परिणामों की शुद्धता पर ध्यान देना चाहिये । कहा भी है—

न देवो—देव न काष्ठ में है, न पाषाण में हैं, न मिट्टी के पिण्ड में हैं किन्तु भावों में हैं इसलिये भाव ही कारण है ।

भावविहूणऊ—हे जीव ! यदि तू भावसे विहीन होकर शिरसे जिन भगवान् को धारण करता है तो इससे क्या होनेवाला है ? क्या अमृत से सींचने पर पत्थर पर कमल उत्पन्न हो सकता है ?

सीसु—जिसका भाव—अभिप्राय कुशुद्ध खोटा है उसके शिर झुकाने से कौनसा लाभ होनेवाला है अर्थात् कोई भी नहीं । हरिणों को मारने के लिये शिकारी बहुत नम्रीभूत होता है ।

अघ्नन्नपि—परिणाम विशेष के कारण धीवर घात न करता हुआ भी पापी है है और खेत जोतने वाला किसान जीवोंका घात करता हुआ भी पापी नहीं होता ।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृध्रपिच्छाचार्यनामपंचकविराजितेन श्रीसीमन्धरस्वामिसम्यग्बोधसंबोधितभव्यजनेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतभावनाग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलीमण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना श्रीदेवेन्द्रकीर्तिप्रशिष्येण सूरिवर श्रीश्रुतसागरेण विरचिता भावप्राभृतटीका परिसमाप्ता[1] ।

गाथार्थ—सर्वज्ञ देवके द्वारा कथित इस समस्त भाव पाहुड़ को जो पढ़ता है, सुनता है तथा उसकी भावना करता है वह अविचलस्थान को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—जो निकट भव्य मुनि श्रेष्ठ, सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे हुए इस समग्र भाव प्राभृतका पठन करता है, सुनता है और चिन्तवन करता है वही श्रेष्ठ मुनि अविचल स्थान को प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष जाता है ॥१६३॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य, इन पांच नामोंसे सुशोभित श्री सीमन्धर स्वामीके सम्यग्ज्ञान से भव्यजीवों को संबोधित करने वाले श्री जिनचन्द्र सूरि भट्टारक के पट्ट के आभरण—भूत कलिकाल सर्वज्ञ श्री कुन्दकुन्दाचार्य के द्वारा विरचित षट्प्राभृत भावना नामक ग्रन्थ में समस्त मुनि मण्डली से सुशोभित कलिकाल के गौतम स्वामी श्री मल्लिभूषण भट्टारक के द्वारा अनुमत सकल विद्वज्जन समाज के द्वारा सम्मानित उभय भाषा के कवियों में प्रमुख श्री विद्यानन्द गुरुके शिष्य और श्री देवेन्द्र कीर्ति के प्रशिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित यह भाव प्राभृत की टीका समाप्त हुई।

[1] — परिसमाप्ता म० ।

मोक्षप्राभृतं ।

अथ देवेन्द्रयशोगुरुर्विद्यानन्दीश्वरस्य शिष्येण ।
मुक्तिप्रियामुखाम्बुजदिदृक्षुणा शिक्षितेन गुणे ॥ १ ॥
श्रुतसागरेण कविना विनापि बुद्धया विरच्यते रुचिदा ।
मोक्षप्राभृतविवृतिष्टीकाऽलीकप्रमुक्तेन ॥ २ ॥
याचकजनकल्पतरुः [1]स्वरुरपि मिथ्यामताद्रिशृङ्गेषु ।
भव्यजनजनकतुल्यो विवेकवान मल्लिभूषणो जयति ॥ ३ ॥

[2]गाथिरार्या

णाणमय अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण ।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥ १ ॥

अथ देवेन्द्र—तदनन्तर देवेन्द्र कीर्ति जिनके गुरु हैं, ऐसे विद्यानन्दी महाराज के शिष्य, मुक्ति रूपी वल्लभा के मुख कमल के देखनेके इच्छुक सम्यग्दर्शनादि गुणोंके विषय मे अच्छी तरह शिक्षित एवं मिथ्या वचन से रहित श्री श्रुतसागर कविके द्वारा बुद्धि के विना ही, रुचिको उत्पन्न करने वाली मोक्ष प्राभृत की यह टीका रची जाती है। १-२॥ जो याचक जनोंके लिये कल्प-वृक्ष रूप हैं, मिथ्या मत रूपी पर्वतों की शिखरों पर वज्र रूप हैं, भव्यजनोंके लिये पिताके समान हैं और परम विवेकी हैं वे श्रीमल्लिभूषण गुरु जय वन्त रहें ॥१-३॥

अब भाव पाहुड ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरणकी इच्छासे श्री कुन्दकुन्द स्वामी देवको नमस्कार करते हैं—

गाथार्थ—जिन्होंने कर्मोंका क्षय करके तथा पर-द्रव्यका त्याग करके ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त कर लिया है उन श्री सिद्धपरमेष्ठी रूप देवके लिये वार २ नमस्कार हो ॥१॥

१—ह्रादिनी वज्रमस्त्री स्यात् कुलिशं भिदुरं पविः ।
शतकोटिः स्वरुः शम्बो दंभोलिरशनिर्द्वयोः ॥

२—अस्मादग्रे ॐ नमः सिद्धेभ्यः इति पाठः क० ।

ज्ञानमय आत्मा उपलब्धो येन क्षरितकर्मणा ।
त्यक्त्वा च परद्रव्यं नमो नमस्तस्मै देवाय ॥

णाणमयं अप्पाणं ज्ञानमय आत्मा । *उवलद्धं जेण झडियकम्मेण* उपलब्धो येन क्षरितकर्मणा । *चइऊण य परदव्वं* त्यक्त्वा च परद्रव्यं शरीरं कर्म च परित्यज्य नमो नमः—पुनः पुनर्नमः । तस्य देवस्य तस्मै देवायेति भावार्थः ।

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं ।
[1]वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥ २ ॥

नत्वा च तं देवं अनन्तवरज्ञानदर्शनं शुद्धं ।
वक्ष्ये परमात्मानं परमपदं परमयोगिनाम् ॥

णमिऊण य तं देवं नत्वा च तं देवं सर्वज्ञवीतरागं । कथंभूतं देवं, *अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं* अनन्तवरज्ञानदर्शनं शुद्धं अनन्तज्ञानमनन्तदर्शनमनन्तवीर्यमनन्तसौख्यमित्यर्थः. शुद्धं घातिकर्मसंघातनेन निर्मलस्वरूपं अष्टादशदोषरहितमित्यर्थः । *वोच्छं परमप्पाणं* वक्ष्यामि कथयिष्यामि । कः कर्ता ? अहं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः. कं वक्ष्ये ? परमात्मानं शुद्धनयेन परमात्मानं अर्हत्सिद्धमात्मानं । कथंभूतं परमात्मानं,

---

विशेषार्थ—जिन्होंने ज्ञानावरणादि कर्मोंका आत्यन्तिक क्षयकर ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्राप्त कर लिया है तथा कर्म, नो कर्म रूप पर-द्रव्यका त्याग कर दिया है, उन सिद्ध भगवान् को बार २ नमस्कार हो ॥१ ।

गाथार्थ—अनन्त उत्कृष्ट ज्ञान तथा अनन्त उत्कृष्ट दर्शन से युक्त, निर्मल स्वरूप उन सर्वज्ञ वीतराग देवको नमस्कार कर मैं परम योगियों के लिये परम पद रूप परमात्मा का कथन करूंगा । २ ॥

विशेषार्थ—इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने मङ्गल और प्रतिज्ञा वाक्य दोनों का उल्लेख करते हुए कहा है कि मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तथा सहचर सम्बन्ध से अनन्त वीर्य और अनन्त-सुख से युक्त एवं घातिया कर्मोंका नाश होनेसे निर्मल स्वरूप अर्थात् अठारह दोषों से रहित सर्वज्ञ वीतराग देवको नमस्कार कर मुनियों के लिये उस परमात्मा का—अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी का निरूपण करूंगा जो कि परम पद रूप है—उत्कृष्ट पद रूप है । अर्थात् अरहन्त की अपेक्षा इन्द्रादि देव, नरेन्द्र आदि मनुष्य और गणधरादि महामुनियोंसे संयुक्त समवसरणरूप पद-स्थानसे मण्डित है और सिद्धकी अपेक्षा त्रिलोकाग्र

१—वुच्छं क्वचित् । २—इहां भाव मोक्ष तो अरहंत कै, पर द्रव्य भाव करि दो प्रकार सिद्ध परमेष्ठी के है याते दोऊकूं नमस्कार जानना । (पं० जयचन्द्र जी कृत वचनिका) ।

परमपयं परमपदं परमं उत्कृष्टं इन्द्रादिदेव—नरेन्द्रादिमानव-गणधरादिमहामुनीश्वरसंयुक्तसमवसरण-स्थानमण्डितं । अथ केषां परमात्मानं वक्ष्यामि ? *परमजोईणं* परमयोगिनां दिगम्बरगुरूणां । इत्यनेन मुनीनामेव परमात्मध्यानं घटते । तप्तलोहगोलकसमानगृहिणां परमात्मध्यानं न संगच्छते । तेषां दानपूजापर्वोपवाससम्यक्त्वप्रतिपालनशीलव्रतरक्षणादिकं गृहस्थधर्म एवोपदिष्टं भवतीति भावार्थः । ये गृहस्था अपि सन्तो मनागात्मभावनामासाद्य वयं ध्यानिन इति ब्रुवते ते जिनधर्मविराधका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः । अयत्याचारा गृहस्थधर्मादपि पतिता उभयभ्रष्टा वेदितव्याः । ते लौंकाः, तन्नामग्रहणं तन्मुखदर्शनं प्रभातकाले न कर्तव्यं इष्टवस्तुभोजनादिविघ्नहेतुत्वात् । ते जिनस्नपनपूजादानादिसद्धर्मघातका ज्ञातव्याः

जं जाणिऊण जोई जो [1]अत्थो जोइऊण अणवरयं ।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं हवइ णिव्वाणं ॥ ३ ॥

यद्ज्ञात्वा योगी यमर्थं दृष्ट्वाऽनवरतम् ।
अव्यावाधमनन्तं अनुपमं भवते निर्वाणम् ॥

जं जाणिऊण जोई यं अर्थं आत्मतत्वं ज्ञात्वा हे योगिन् ! *जो अत्थो जोइऊण अणवरयं* (यं) अर्थं तत्त्वं, जोइऊण—दृष्ट्वा ज्ञानेन साक्षादीक्ष्य योगी ध्यानवान् मुनिः । *अव्वावाहमणंतं* अव्याबाधं बाधा-

---

रूप पद–स्थान पर समासीन हैं ।

मैं परम योगियों अर्थात् दिगम्बर गुरुओं के लिये यह कथन करूंगा, इस प्रतिज्ञा वाक्य से यह सूचित होता है कि परमात्मा का ध्यान मुनियों के ही घटित होता है तपे हुए लोहेके गोले के समान गृहस्थों के परमात्मा का ध्यान सगत नहीं होता । उनके लिये तो दान, पूजा, पर्वके दिन उपवास करना, सम्यक्त्व का पालन करना तथा शीलव्रत की रक्षा करना आदि गृहस्थ धर्मका उपदेश ही कार्य–कारी होता है । जो गृहस्थ होते हुए भी तथा रञ्च मात्र आत्माकी भावना को न पाते हुए भी यह कहते हैं कि हम तो आत्मा का ध्यान करते हैं वे जिन धर्मकी विराधना करने वाले मिथ्यादृष्टि हैं । ऐसे जीव मुनियोंके आचार से तो रहित हैं ही, गृहस्थ धर्म से भी पतित होकर उभय भ्रष्ट–दोनोंसे पतित होजाते हैं।

गाथार्थ—जिस आत्म-तत्व को जानकर तथा जिसका निरन्तर साक्षात् कर योगी ध्यानस्थ मुनि, वाधा-रहित, अनन्त, अनुपम निर्वाण को प्राप्त–होता है ॥३॥

विशेषार्थ—दूसरी गाथा की 'वोच्छं' क्रिया के साथ सम्बन्ध जोड़ते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैं उस परमात्म–तत्वका कथन करूंगा जिसको जानकर तथा जिसका निरन्तर अवलोकन कर योगी–ध्यानस्थ मुनि, अव्यावाध—वाधा रहित अनन्त–अविनाशी,

---

१—जोयस्थो योगस्थो ध्यानस्थ इत्यर्थः । इति पुस्तकान्तरे पाठः तत्पक्षे योगस्थः इति तस्य ।

रहितं, अनन्तमविनश्वरं । अणोवमं हवइ णिव्वाणं अनुपमं उपमारहितं, भवते प्राप्नोति । "भूप्राप्तावात्मनेपदी" इति वचनात् । किं ? निर्वाणं शुद्धसुखं मोक्षस्थानं । उक्तं च—

[1]जन्मजरामयमरणैः शोकदुःखैर्भयैश्च परिमुक्तं ।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यं ॥ १ ॥

तिपयारो सो अप्पा पर[2]भिंतरबाहिरो दु हेऊणं ।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥ ४ ॥

त्रिप्रकारः स आत्मा परमन्तो बहिः तु हित्वा
तत्र परं ध्यायते अन्तरुपायेन त्यज बहिरात्मानम् ॥

तिपयारो सो अप्पा त्रिप्रकारः स आत्मा त्रिविधः । *परभिंतरबाहिरो दु हेऊणं* परमात्मा-अन्तरात्मा-बहिरात्मा चेति । तत्र बाहिरा दु हेऊणं-बहिरात्मानं हित्वापरित्यज्य । *तत्थ परो झाइज्जइ* तत्र परमात्मा ध्यायते कथं परमात्मा ध्यायते ? *अंतोवाएण* अन्तरात्मोपायेन भेदज्ञानबलेनेत्यर्थः *चयहि बहिरप्पा* त्यज परिहर त्वं हे मुने बहिरप्पा बहिरात्मानं-शरीरमेवात्मेति मतं मन्यते बहिरात्मा तमभिप्राय त्वं त्यजेति तात्पर्यार्थः ।

और अनुपम—उपमारहित निर्वाण-शुद्ध सुख रूप मोक्ष स्थानको प्राप्त होते हैं । कहा भी है—

जन्मजरामय—जो जन्म जरा रोग मरण शोक दुःख और भय से रहित है, शुद्ध सुख से युक्त है तथा नित्य है ऐसा निर्वाण—मोक्ष निःश्रेयस कहलाता है

गाथा में आया हुआ 'हवइ' पद भूप्राप्तौ धातुका रूप है भूप्राप्तावात्मनेपदी इस कथन से उसका आत्मनेपद में प्रयोग होता है ।३॥

गाथार्थ—वह आत्मा परमात्मा, अभ्यन्तरात्मा और बहिरात्मा के भेद से तीन प्रकार का है । इनमें से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्माके उपाय से परमात्मा का ध्यान किया जाता है । हे योगिन् ! तुम बहिरात्मा का त्याग करो ॥४॥

विशेषार्थ—आत्मा के तीन भेद हैं १ परमात्मा २ अन्तरात्मा और ३ बहिरात्मा । इन तीनोंके लक्षण आगे स्वयं कुन्दकुन्द स्वामी कहेंगे । इनमें से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से—भेदज्ञान के बलसे परमात्मा का ध्यान किया जाता है । हे मुने ! तू बहिरात्मा को छोड़ अर्थात् शरीर ही आत्मा है इस अभिप्राय का त्याग कर ।।४।

गाथार्थ—इन्द्रियां बहिरात्मा हैं, आत्मा का संकल्प अन्तरात्मा है और कर्म-रूपी

१—रत्नकरण्ड श्रावकाचारे । २—'परब्भंतर बाहिरो दु देहीणं' इति पाठः पं० जयचन्द्र वचनिकायां स्वीकृतः कुन्दकुन्द प्रतिभाति ।

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥ ५ ॥

अक्षाणि बहिरात्मा अन्तरात्मा स्फुटं आत्मसङ्कल्पः ।
कर्मकलङ्कविमुक्तः परमात्मा भण्यते देवः ॥

अक्खाणि बाहिरप्पा अक्षाणि इन्द्रियाणि बहिरात्मा भवति । *अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो* अन्तरात्मा हु—स्फुटं आत्मसंकल्पः शरीरकर्मरागद्वेषमोहादिदुःखपरिणामरहितोऽयं ममात्मा वर्तते शरीरे निश्चअशुद्धनिश्चयनयेन शरीरं न स्पृशति, कर्मबन्धनबद्धोऽपि सन् कर्मबन्धनैर्बद्धो न भवति नलिनीदलस्थितजलवादतीदृशं भेदज्ञानं आत्मसंकल्प उच्यते स आत्मसंकल्पो यस्य जीवस्य वर्तते सोऽन्तरात्मा वेदितव्यः । *कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो* कर्मकलङ्कविमुक्तो द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितः सिद्धपरमेश्वरो देवः परमात्मा भण्यते अर्हन् परमेश्वरः सामान्यकेवली च परमात्मा कथ्यते तस्य जीवन्मुक्तत्वात् । उक्तं च—

आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीदुरात्मा चिरं,
स्वात्मा स्याः परमात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः ।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदवि[१] लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ॥ १ ॥

...लङ्क से रहित आत्मा परमात्मा कहलाता है । परमात्मा की देव संज्ञा है ॥५॥

विशेषार्थ—यह जीव इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ का स्पर्श आदि करता है इसलिये इन्द्रियों को बहिरात्मा कहा है । शरीर कर्म रागद्वेष मोह आदि दुःख रूप परिणामों से रहित मेरा आत्मा अशुद्ध निश्चयनय से यद्यपि शरीर में निवास कर रहा है तथापि शरीर का स्पर्श नहीं करता है, कर्म-बन्धन से बद्ध होनेपर भी बद्ध नहीं है, जैसे कमलिनी के पत्र पर स्थित पानी उस पर स्थित होता हुआ भी निर्लिप्त होनेसे उससे पृथक् माना जाता है इसी प्रकार मेरी आत्मा भी शरीर में रहती हुई भी निर्लिप्त होनेसे उससे पृथक् है, इस प्रकार का भेद-ज्ञान आत्म-संकल्प कहलाता है जिसके यह आत्म-संकल्प होता है वह अन्तरात्मा कहलाता है । और जो द्रव्यकर्म भावकर्म तथा नो कर्म से रहित सिद्ध परमेश्वर हैं वे परमात्मा कहलाते हैं । अरहन्त परमेश्वर तथा सामान्य केवली भी परमात्मा कहलाते हैं क्योंकि उनकी जीवन्मुक्त अवस्था है । कहा भी है—

आत्मन्नात्म—आत्मन् ! तू आत्माको लुप्त करने वाले अपने आचार से चिरकाल तक दुरात्मा (दुष्ट स्वभावसे युक्त बहिरात्मा) रहा, अब आत्मस्वरूप किये हुए परमात्माके

१—[illegible] २—ई+आ इति [illegible] ज्ञातव्या ।

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥ ६ ॥

मलरहितः कलत्यक्तः अनिन्द्रियः केवलो विशुद्धात्मा।
परमेष्ठी परमजिनः शिवङ्करः शाश्वतः सिद्धः ॥

मलरहिओ कलचत्तो मलरहितः कर्ममलकलंकरहितः, कलया शरीरेण त्यक्तः कलत्यक्तः। याकारौ स्त्रीकृतौ ह्रस्वौ क्वचित् यथा इष्टकचितं इषीकतूलमिति। *अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा* अनिन्द्रिय इन्द्रियज्ञानरहितः केवलज्ञानेन द्रव्यपर्यायस्वरूपं जानन्नित्यर्थः।

उक्तं च पुष्पदन्तेन महाकविना—

सर्वह्णु अणिंदिओ णाणमओ जो मयमुदु न पत्तियइ।
सो णिंदिओ पंचिंदियनिरओ वइतरणिहिं पाणिउ पियइ ॥ १ ॥

चरित से अर्थात् परमात्मा के ध्यान से स्वात्मा (उत्तम स्वभाव से युक्त-अन्तरात्मा) हो जा। जिसे आत्म-विद्या—आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है, ऐसा तू आत्मा के द्वारा प्राप्त करने योग्य परमात्म-दशाको प्राप्त होता हुआ अपनी आत्मा से ही उत्पन्न होने वाले आत्म-सुखसे संपन्न हो अध्यात्मकी भावनासे सुशोभित होता हुआ आत्मामें लीन होजा।

गाथार्थ—वह परमात्मा मल रहित है, कला अर्थात् शरीर से रहित है, अतीन्द्रिय है, केवल है, विशुद्धात्मा है, परमेष्ठी है, परम जिन है, शिवङ्कर है, शाश्वत है, और सिद्ध है

विशेषार्थ—इस गाथामें श्रीकुन्दकुन्द स्वामीने दश विशेषणों के द्वारा परमात्माका निरूपण किया है, जिनका भाव यह है—परमात्मा मलसे रहित है अर्थात् कर्ममल कलङ्क से रहित है, कला अर्थात् शरीर से रहित होनेके कारण कलत्यक्त अथवा निष्कल है, ईकार और आकार स्त्रीलिङ्ग में कहीं २ ह्रस्व भी होते हैं जैसे 'इष्टक चितम्' यहां पर इष्टिका के बदले इष्टकचितं प्रयुक्त होता है और 'इषीका तूलम्' यहाँ पर इषीका के स्थान पर ह्रस्वान्त ईषीक शब्दका प्रयोग हुआ है। परमात्मा अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रिय ज्ञानसे रहित है क्योंकि वह केवलज्ञान के द्वारा द्रव्य और पर्याय के स्वरूप को जानता है।

जैसा कि महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है—

सव्वण्हु—परमात्मा सर्वज्ञ अतीन्द्रिय और ज्ञानमय है, ऐसा जो मूढमति मनुष्य श्रद्धान नहीं करता है वह निन्दित है, पञ्चेन्द्रियों में निरत है तथा मरकर वैतरणी नदी का पानी पीता है अर्थात् नरक जाता है।

अथवा—अणिंदिओ—अनिंदित इन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रखगेन्द्रादीनां स्तुत्य इत्यर्थः। उक्तं च सुलोचनाकान्तेन—

शमिताखिलविघ्नसंस्तवस्त्वयि तुच्छोऽप्युपयात्यतुच्छतां।
शुचिशुक्तिपुटेऽम्बुसंधृतं[1] ननु मुक्ताफलतां प्रपद्यते ॥ १ ॥

घटयन्ति न विघ्नकोटयो निकटे त्वत्क्रमयोर्निवासिनाम्।
पटवोऽपि पदं दवाग्निभिर्भयमस्त्वम्बुधिमध्यवर्तिनाम्[2] ॥ २ ॥

हृदये त्वयि सन्निधापिते रिपवः केऽपि भयं विधित्सवः।
अमृताशिषु सत्सु संततं विषभेदार्पितविप्लवः कुतः ॥ ३ ॥

उपयान्ति समस्तसम्पदो विपदो विच्युतिमाप्नुवन्त्यलम्।
वृषभं वृषमार्गदेशिनं झषकेतुद्विषमाप्नुवां[3] सताम् ॥ ४ ॥

इत्थं भवंतमतिभक्तिपथं निनीषोः, प्रागेव बन्धकलयः प्रलयं व्रजन्ति।
पश्चादनश्वरमयाचितमप्यवश्यं, संपत्स्यतेऽस्य विलसद्गुणभद्रभद्रम्[4] ॥ ५ ॥

अथवा 'अणिंदियो' की छाया 'अनिन्दितः' है, इस पक्षमें यह अर्थ होता है कि वह परमात्मा अनिन्दित है–निन्दित नहीं है अर्थात् इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्र तथा विद्याधरेन्द्र आदिका स्तुत्य है। जैसा कि सुलोचना–कान्त–जयकुमारने कहा है—

शमिता—आपके विषय में किया हुआ समस्त विघ्नोंको शान्त करने वाला छोटा सा भी स्तवन अतुच्छता–विशालता को प्राप्त होता है, सो ठीक ही है, क्योंकि उज्वल सीप के भीतर रखा हुआ पानी निश्चय से मुक्ताफलपनेको प्राप्त होता है।

घटयन्ति—बड़े २ करोड़ों विघ्न भी आपके चरणों के समीप निवास करने वाले लोगों में अपना स्थान नहीं बना पाते सो, ठीक ही है क्योंकि ऐसा होनेपर फिर समुद्र के मध्य वास करनेवाले लोगों को भी दावानलसे भय उत्पन्न हो ?

हृदये—हृदयमें आपके स्थापित किये जाने पर भय उत्पन्न करने वाले शत्रु कौन होते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं। सो ठीक ही है क्योंकि अमृतभोजी जनोंके रहते हुए किसी भी प्रकार के विषसे उत्पन्न होने वाला उपद्रव कैसे हो सकता है ?

उपयान्ति—जो इसतरह धर्मका मार्ग बतानेवाले, तथा कामके द्वेषी भगवान् वृषभ देवको प्राप्त हुए हैं–उनके शरणागत हुए हैं उन्हें समस्त सम्पदाएं प्राप्त होती हैं और विपत्तियां अच्छी तरह नष्ट होती हैं

१—विधृतं म०। २—मस्त्वम्बुधि म०। ३—द्विषमेवमाप्नुवां क० द्विषमाप्नुवां म०। ४—एतत् श्लोकपञ्चकं महापुराणस्य ४४ तमे पर्वणि ३५८—३६२ संख्यानं वर्तते। जयकुमारोक्तिरियम्।

केवलोऽसहायः केवलज्ञानमयो वा, के परब्रह्मणि निजशुद्धबुद्धैकस्वभावे आत्मनि बलमनन्तवीर्यं यस्य स भवति केवलः, अथवा केवते सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवलः। विशुद्धात्मा विशेषेण शुद्धः कर्ममलकलंकरहित आत्मा स्वभावो यस्य स विशुद्धात्मा। *परमेट्ठी परमजिणो* परमेष्ठी परमजिनः, परमे इन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रमुनीन्द्रादिवंदिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी पंचपरमेष्ठिरूपः, परमजिणो परा उत्कृष्टा प्रत्यक्षलक्षणोपलक्षिता मा प्रमाणं यस्येति परमः, अथवा परेषां भव्यप्राणिनां उपकारिणी मा लक्ष्मीः समवसरणविभूतिर्यस्येति परमः, अनेकविषमभवगहनदुःखप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयति समूलकाषं कषतीति जिनः परमश्चासौ जिनः परमजिनः तीर्थंकरपरमदेवः। *सिवंकरो* शिवं परममंगलं करोति शिवंकरः, अथवा शिवं मोक्षं करोति भक्तभव्यजीवानां मोक्षं विदधातीति शिवंकरः शिवतातिरपर्यायः।

इत्थं—शोभायमान गुणों से कल्याण करने वाले जिनेन्द्र इस प्रकार अपने आपको अपने भक्ति के मार्ग में लेजाने के इच्छुक मनुष्य के बन्ध-सम्बन्धी कलह पहले ही नष्ट होजाते हैं और पीछे अविनाशी पद विना याचना किये अवश्य ही प्राप्त होता है।

परमात्मा केवल हैं अर्थात् असहाय हैं—दूसरे पदार्थों की सहायता से—आलम्बनता रहित हैं अथवा केवल-ज्ञान-मय हैं अथवा 'के' परब्रह्मणि निज शुद्ध-बुद्धैक-स्वभावे आत्मनि बलमनन्तवीर्यं यस्य स भवति केवलः इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनको के अर्थात शुद्ध बुद्धैक स्वभाव आत्मा में अनन्त बल विद्यमान है उस रूप है अथवा 'केवते सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवलः' इस व्युत्पति के अनुसार निज आत्म—स्वरूप में लीन हैं।

वह परमात्मा विशुद्धात्मा है अर्थात् उनका आत्म-स्वभाव कर्ममल-कलकसे रहित होने के कारण अत्यन्त शुद्ध है। इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्र और मुनीन्द्रों के द्वारा वन्दित परम उत्कृष्ट पदमें स्थित होनेसे परमात्मा परमेष्ठो कहलाता है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु के भेद से परमेष्ठीके पांच भेद हैं, परमात्मा उन्हीं पञ्च परमेष्ठी रूप है। प्रत्युत्पन्न-ग्राही नैगमनय की अपेक्षा अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी रूप हैं तथा भूत-प्रज्ञापन नैगमनय की अपेक्षा आचार्य उपाध्याय और साधु रूप भी है।

परमात्मा परम जिन हैं 'परा-उत्कृष्टा प्रत्यक्षलक्षणोपेता मा—प्रमाणं यस्य सः' इस समास के अनुसार जो प्रत्यक्ष प्रमाण से युक्त हैं वह परम हैं अथवा 'परेषां भव्य-प्राणिनामुपकारिणी मा लक्ष्मीः समवसरणविभूतिर्यस्येति परमः' इस समास के अनुसार जो भव्य जीवोंका उपकार करने वालो लक्ष्मी से सहित हैं वह परम हैं। 'कर्मारातीन्

सासओ शश्वद्भवः शाश्वतोऽविनश्वरः । *सासवो* इति च क्वचित् पाठो दृश्यते तत्रायमर्थः—साशपः भक्तभव्यानां आशापूरणसमर्थ इत्यर्थः । *सिद्धो* सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिर्विद्यते यस्य स सिद्धः परमनिर्वाणपदमारूढ इत्यर्थः ।

[1]*तदुक्तं*—तस्य त्रिविधस्यात्मनः स्वरूपं शास्त्रान्तरेऽपि प्रोक्तमस्तीति श्रीकुन्दकुन्दाचार्या निरूपयन्ति—

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण ।

झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ ७ ॥

आरुह्य अन्तरात्मानं बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।

ध्यायते परमात्मा उपदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥

आरुहवि अंतरप्पा आरुह्य प्रादुर्भाव्य आश्रित्येति. किं ? अंतरप्पा—अन्तरात्मानं भेदज्ञानाव-

---

जयतीति जिनः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो संसार के गहन दुःखों को प्राप्त कराने वाले कर्म रूपी शत्रुओं को जीतता है वह जिन है । इस तरह परम-जिनका अर्थ तीर्थंकर परम देव है ।

वह परमात्मा शिवंकर है अर्थात् परममङ्गल अथवा मोक्षको प्राप्त करानेवाला है । शाश्वत है अविनाशी है अथवा 'सासओ' के स्थान पर 'सासवो' पाठ भी कहीं देखा जाता है उस पाठकी अपेक्षा 'साशप' है अर्थात् भक्त भव्य जीवोंकी आशाओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं ।

परमात्मा सिद्ध है अर्थात् स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि उसे प्राप्त हो चुकी है ।

इस तरह तीन प्रकारके जीवोंका स्वरूप अन्य शास्त्रों में भी कहागया है ॥६॥

गाथार्थ—मन वचन काय इन तीनों योगों से बहिरात्मा को छोड़कर तथा अन्तरात्मा पर आरूढ होकर अर्थात् भेदज्ञानके द्वारा अन्तरात्मा का आलम्बन लेकर परमात्मा का ध्यान किया जाता है, ऐसा जिनेन्द्र देवने उपदेश दिया है ॥७॥

विशेषार्थ—जो शरीर को ही आत्मा मानता है वह बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है, इस अवस्था को त्रिविध योग से छोड़कर अन्तरात्मा बनना चाहिये अर्थात् भेदज्ञान का

१—समस्त प्रतियों में 'तदुक्तं' पाठ है परन्तु उसके आगे कोई गाथा उद्धृत नहीं है । ऐसा जान पड़ता है कि 'आरुहवि'—आदि गाथा ही उद्धृत गाथा है क्योंकि यह गाथा नं० ४ की गाथासे गतार्थ हो जाती है । संस्कृत टीकाकार ने इसे मूल ग्रंथ समझ कर इसकी टीका कर दी है । इसलिये यह मूल में शामिल हो गई । यह गाथा कहां की है, इसकी खोज आवश्यक है ।

लम्बनं कृत्वेत्यर्थः । *बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण* त्रिविधेन मनोवचनकायैर्बहिरात्मानं त्यक्त्वा । *झाइज्जइ परमप्पा* ध्यायते अहर्निशं चिंत्यते, कोऽसौ ? परमात्मा निश्चयनयेन कर्ममलकलंकरहितः सिद्धस्वरूपः निज-परमात्मा ध्यायते अर्हत्सिद्धस्वरूपोऽवलोक्यते द्विविधमभ्यासं कुर्वाणो मुनिः परमात्मानमेव प्राप्नोति—अर्हत्सिद्धसदृशो भवति । तथा चोक्तं—

[1]आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः ।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥ १ ॥

उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं उपदिष्टं प्रतिपादितं । कैः, जिनवरेन्द्रैः श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागैरिति शेषः

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥ ८

आलम्बन कर शरीर से भिन्न आत्माका अनुभव करना चाहिये, अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि है । इस तरह अन्तरात्मा बनकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये । निश्चयनय से परमात्मा कर्ममल कलंक से रहित सिद्ध स्वरूप है । जो अर्हन्त और सिद्धका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है, इस प्रकार ध्यान करना चाहिये । ऐसा ध्यान करने वाला मुनि परमात्मा को प्राप्त करलेता है अर्थात् स्वयं अर्हन्त सिद्ध स्वरूप होजाता है ।

जैसा कि कहा गया है—

आत्मा—हे भगवान् ! विद्वानोंके द्वारा आपसे अभिन्न मानकर ध्यान किया हुआ आत्मा आपके ही समान प्रभाव वाला हो जाता है सो ठीक ही है क्योंकि 'यह अमृत है' इस प्रकार ध्यान किया हुआ पानी भी क्या विषके विकार को दूर नहीं कर देता ? अर्थात् अवश्य कर देता है ।

परमात्म-अवस्था को प्राप्त करने का यह मार्ग जिनेन्द्र भगवान् वीतराग सर्वज्ञ देवने कहा है ॥ ७ ॥

गाथार्थ—बाह्य पदार्थों में जिसका मन स्फुरित हो रहा है तथा इन्द्रिय रूप द्वारके द्वारा जो निज स्वरूप से च्युत हो गया है ऐसा मूढदृष्टि—बहिरात्मा पुरुष अपने शरीर को ही आत्मा समझता है ॥८॥

विशेषार्थ—इस गाथामें बहिरात्मा जीवकी प्रवृत्तिका वर्णन करते हुए श्री कुन्द-कुन्द स्वामी लिखते हैं कि जिसका मन इष्ट स्त्री पुत्र तथा धन आदिमें चमत्कार को प्राप्त

१—कल्याणमन्दिरस्तोत्रे कुमुदचन्द्रस्य ।

बहिरर्थे स्फुरितमना इन्द्रियद्वारेण निजस्वरूपच्युतः ।
निजदेहं आत्मानमध्यवस्यति मूढदृष्टिस्तु ॥

बहिरत्थे फुरियमणो बहिरर्थे इष्टवनितासुतस्वापतेयादौ स्फुरितं चमत्कृतं मनो यस्य स इष्टार्थे स्फुरितमनाः । *इंदियदारेण णियसरूवचुओ* इन्द्रियद्वारेण इन्द्रियेषु प्रविश्य, निजस्वरूपच्युत आत्मभावनायाः प्रभ्रष्टः । *णियदेहं अप्पाणं* निजदेहं स्वकीयशरीरं आत्मानमध्यवस्यतीति सम्बन्धः—शरीरमात्मानं जानातीत्यर्थः । *अज्झवसदिमूढदिट्ठीओ* अध्यवस्यति मूढदृष्टिः, ममायं काय आत्मनि जानाति मूढदृष्टिर्बहिरात्मेति भावार्थः ।

णियदेहसरिसं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण ।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ [1]परमभाएण ॥ ९ ॥

निजदेहसदृक्षं दृष्ट्वा परविग्रह प्रयत्नेन ।
अचेतनमपि गृहीतं ध्यायते परमभागेन ॥

णियदेहसरिसं पिच्छिऊण निजदेहसदृशं सदृश विचिन्त्य दृष्ट्वा । *परविग्गहं पयत्तेण* परविग्रहं इष्टवनितादिशरीरं, पयत्तेण—प्रयत्नेन मलमूत्रशुक्ररुधिरमांसकीकसचर्मरोमादिदुर्गन्धापवित्रादिपरिणाम-भावेन । *अच्चेयणं पि गहियं* अचेतनमपि आत्मना गृहीतं जीवेन स्वीकृतं । *झाइज्जइ परमभाएण* ध्यायते शरीरस्वरूपं चिन्त्यते परमभागेन पृथक्तया भेदज्ञानेन—शरीरं भिन्नं आत्मा भिन्नो वर्तते इति भेदं कृत्वेत्यर्थः । तथा चोक्तं—

हो रहा है तथा इन्द्रिय-सम्बन्धी विषयों में आसक्त होकर जो निज रूपसे च्युत होगया है अर्थात् आत्माकी भावना से भ्रष्ट होगया है ऐसा मूढ दृष्टि मनुष्य निज शरीरको ही आत्मा मान बैठता है ॥ ८ ॥

गाथार्थ—ज्ञानी मनुष्य निज-शरीर के समान पर-शरीर को देखकर भेद-ज्ञान पूर्वक विचार करता है कि देखो इसने अचेतन शरीरको भी प्रयत्नपूर्वक ग्रहण कर रक्खा है ।

विशेषार्थ—ज्ञानी जीव भेद ज्ञान-पूर्वक ऐसा विचार करता है कि जिस प्रकार मेरा शरीर मल मूत्र शुक्र रुधिर मांस हड्डी चर्म रोम आदि दुर्गन्ध युक्त अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है तथा अचेतन है, उसी प्रकार पर का शरीर भी अपवित्र वस्तुओं से भरा तथा जड़ रूप है परन्तु मोही जीव उसे प्रयत्न-पूर्वक ग्रहण किये हुए है । यहां संस्कृत टीकाकार ने 'परमभाएण' की छाया 'परमभागेन' स्वीकृत की है और उसका अर्थ 'शरीर भिन्न है तथा आत्मा भिन्न है' ऐसा भेद-ज्ञान लिया है ।

---

[1]—[illegible], म० प० प्रत्यय च ।

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत् कर्म भिन्नं तयोर्वा
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे ।
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालङ्कृतं सर्वमेतत् ॥ १ ॥

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं ।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥ १० ॥

स्वपराध्यवसायेन देहेषु च अविदितार्थमात्मानम् ।
सुतदारादिविषये मनुजानां वर्धते मोहः ॥

जैसा कि कहा है—

आत्मा—आत्मा भिन्न है, उसके साथ लगे हुए कर्म भिन्न हैं, आत्मा और कर्म की प्रत्यासत्ति–एक क्षेत्रावगाह से जो विकार उत्पन्न हुआ है वह भी भिन्न है। आत्माका काल तथा क्षेत्र आदि भिन्न हैं तथा आत्म-गुणों की कला से अलंकृत जो कुछ है वह सब भिन्न भिन्न है।

[इस गाथाके 'परमभाएण' पाठकी छाया प० जयचन्द्रजी ने परमभावेन' स्वीकृत की है और उसका अर्थ परम भाव लिया है। अन्य कितनी ही प्रतियों में 'परमभाएण' के स्थान पर 'मिच्छभावेण' पाठ है। उक्त पाठ से गाथा का अभिप्राय ही दूसरा हो जाता है उससे गाथा में ज्ञानी जीव के विचार की चर्चा न होकर अज्ञानी जीव की चर्चा दिखने लगती है। यह जीव मिथ्या भावके कारण बाहरात्मा बनकर अपने शरीर के समान इष्ट स्त्री आदि परके शरीरको भी आत्मा मानता है तथा प्रयत्नपूर्वक उनमें राग भाव करता है]

गाथार्थ—स्व-पराध्यवसाय के कारण अर्थात् परको आत्मा समझने के कारण यह जीव अज्ञान-वश शरीरादिको आत्मा जानता है ! इस विपरीत अभिनिवेश के कारण ही मनुष्यों का पुत्र तथा स्त्री आदि विषयों में मोह बढ़ता है ॥१०॥

विशेषार्थ—'स्वम् इति परस्मिन् अध्यवसायः स्वपराध्यवसायः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'यह आत्मा है' इस प्रकार पर पदार्थों में जो निश्चय होता है वह स्वपराध्यवसाय कहलाता है। 'अविदितोऽर्थो यस्मिन् कर्मणि तत् अविदितार्थं यथावत् स्वरूप-परिज्ञान-रहितार्थं यथास्यात् तथा' इस समास के अनुसार 'अविदितार्थं क्रिया-विशेषण है। 'जीवः' इस कर्तृ पदकी और 'जानीते' इस क्रिया पद की ऊपर से योजना करनी चाहिये। इस

सपरज्झवसाएणं स्वपराध्यवसायेन परवस्तुशरीरादिकं स्वमात्मानं मन्यते स्वपराध्यवसायः । केषु पदार्थेषु, देहेसु य शरीरेषु च, चकाराद्वनितादिषु च, शरीरं वनितासुतस्वापतेयादिकं वस्तु खलु परकीयं वर्तते तत्र । *अविदिदत्थं* अविदितार्थं यथावत्स्वरूपपरिज्ञानरहितार्थं यथा भवत्येवं वर्तमान आत्मा । *अप्पाणं* इति जीवः आत्मानं जानीते तच्च देहादिकं वस्तु आत्मा न भवति । तेन विपरीताभिनिवेशेन *सुयदाराईविसए* सुतदारादिविषये पुत्रकलत्रादिषु । *मणुयाणं वड्ढए मोहो* मनुजानां मानवानां वर्धते मोहः—स्नेहे-नाज्ञानमूलं मोहो वैचित्त्यं वृद्धिं याति, मोहेन परिणतो जीवो बहिरात्मा पुनः कर्माण्यष्टौ बध्नाति । उक्तं च

[1]जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥ १ ॥

तरह गाथा का अर्थ होता है कि यह जोव पर पदार्थ में आत्म-बुद्धि होनेके कारण अज्ञानी होता हुआ शरीरादि पर-वस्तुओंका आत्मा जानता है । इसी विपरीताभि–निवेश—मिथ्या अभिप्रायसे मनुष्यों का पुत्र तथा स्त्री आदि में मोह बढ़ता है । मोह रूप परिणत हुआ जीव बहिरात्मा कहलाता है तथा बहिरात्मा होकर यह जीव आठ कर्म बांधता है ।

जैसा कि कहा है—

जीवकृतं—जोवके द्वारा किये हुए रागादि परिणाम को निमित्त मात्र प्राप्त करके जीवसे भिन्न पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्म-रूप परिणत होजाते हैं । यहां पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्म रूप परिणत होजाते हैं, इसमे आचार्य ने यह भाव सूचित किया है कि कर्मका उपादान कारण पुद्गल द्रव्य है क्योंकि वह स्वयं कर्म रूप परिणत होता है परन्तु पुद्गल द्रव्यका कर्म रूप परिणमन अनिमित्तक न होकर जोवके रागादि परिणाम-निमित्तक है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका उपादान कारण नहीं हो सकता क्यों कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव होता है परन्तु निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध दो भिन्न द्रव्यों में भी होता है इसीलिये पुरुषार्थ सिद्धच्युपायके इस श्लोकमें श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने पुद्गल द्रव्यके कर्म रूप परिणमन में जीवके रागादि भावोंको निमित्त कारण माना है और 'परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः । भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि' । इस पद्य में जीवके रागादि रूप परिणमन में पौद्गलिक कर्म को निमित्त कारण माना है । एकान्त से मात्र उपादान का पक्ष लेकर वर्णन करनेसे लोक-प्रचलित–निमित्त नैमित्तिक भाव तथा शास्त्र–वर्णित षट्द्रव्योंका उपकार्य उपकारक भाव विरुद्ध जान पड़ने लगता है । अतः अनेकान्त की दृष्टि से ही पदार्थ का वर्णन करना संगत है ॥१०॥

१— पुरुषार्थसिद्ध्युपाये।

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो ।
मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ ॥ ११ ॥

मिथ्याज्ञानेषु रतः मिथ्याभावेन भावितः सन् ।
मोहोदयेन पुनरपि अङ्गं स्वं मन्यते मनुजः ॥

मिच्छाणाणेसु रओ मिथ्याज्ञानेषु रतोऽयं मनुजो जीवः । *मिच्छाभावेण भाविओ संतो* मिथ्यापरिणामेन कुगुरुकुदेवभक्त्या भावितो वासितः सन् । *मोहोदएण पुनरवि* मोहोदयेन मिथ्यामोहस्य त्रिविधस्योदयेन विपाकेन, पुनरपि भूयोऽपि । *अंगं सं मण्णए मणुओ* अंगं शरीरं, स्वमात्मानं, मन्यते जानाति, मनुजो मनुष्यो मिथ्यादृष्टिजीव इत्यर्थः ।

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारम्भो ।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ १२ ॥

यो देहे निरपेक्षः निर्द्वन्द्वः निर्ममः निरारम्भः ।
आत्मस्वभावे सुरतः योगी स लभते निर्वाणम् ॥

जो देहे णिरवेक्खो यो योगी देहे शरीरे निरपेक्ष उदासीनो ममत्वेन च्युतः । *णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो* निर्द्वन्द्वो निष्कलहः केनापि सह कलहरहित । अथवा निर्द्वन्द्वो निर्युग्मः स्त्रीभोगरहितः "द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः" इति वचनात् । निर्ममो ममत्वरहितः, ममेति अदन्तोऽव्ययशब्दः निर्गतं ममेति परिणामो यस्येति निर्ममः । उक्तं च—

गाथार्थ—यह मनुष्य मोहके उदय से मिथ्याज्ञान में रत है तथा मिथ्याभाव से वासित होता हुआ फिर भी शरीर को आत्मा मान रहा है ॥११॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्व सम्यङ्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति के भेदसे मोहके तोन भेद हैं । इस तीन प्रकारके मोहके उदयसे यह जीव मिथ्याज्ञानमें रत हो रहा है–मिथ्याशास्त्रों के अध्ययनादि में प्रवृत्त हो शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव आत्मज्ञान से विमुख हो रहा है तथा कुगुरु कुदेव आदि की भक्ति रूप मिथ्या परिणाम की भावना से वासित होता हुआ शरीर को फिर भी आत्मा मान रहा है अर्थात् इस जीवकी मिथ्या बुद्धि हट नहीं रही है ।

गाथार्थ—जो शरीर में निरपेक्ष है, द्वन्द्व-रहित है, ममता रहित है, आरम्भ रहित है, और आत्म-स्वभावमें सुरत है—सलग्न है, वह योगी निर्वाणको प्राप्त होता है । १२।

विशेषार्थ—जो योगी शरीर में निरपेक्ष है–उदासीन है । निर्द्वन्द्व–कलह रहित है अथवा 'द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः' इस कोशके वचन के अनुसार द्वन्द्वका अर्थ स्त्री पुरुषका युगल भी होता है, अतः निर्द्वन्द्व है—अर्थात् स्त्री के भोगसे रहित है । निर्मम है अर्थात् ममता

[1] अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ १ ॥

निरारंभः सेवाकृषिवाणिज्यादिकर्मरहितः । उक्तं च—

आरंभे णत्थि दया महिलासंगएण णासए बंभं ।
संकाए सम्मत्तं पव्वज्जा अत्थगहणेण ॥ १ ॥

आदसहावे सुरओ आत्मस्वभावे टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावचिच्चमत्कारलक्षणनिजशुद्धबुद्धैकपरिणामे जीवतत्वे सुष्ठु—अतिशयेन रत एक लोलीभावः । जोई सो लहइ णिव्वाणं य एवंविधो योगी शुद्धोपयोगरतो मुनिः स लभते निर्वाणं, सर्वकर्मक्षयलक्षणोपलक्षितं मोक्षं लभते प्राप्नोति । अथवा जोई सो योगो ध्यानं विद्यते यस्य स योगी योगिनामीशो योगीश इत्यनेन गृहस्थस्य स्त्रियाः परलिंगे च मुक्तिर्न भवतीति सूचितं ज्ञातव्यं । उक्तं च—

भाव से रहित है । 'मम' यह अदन्त अव्यय शब्द है उसका अर्थ 'यह मेरा है' इस प्रकार का परिणाम है । योगी निर्मम होता है अर्थात् मम परिणामों से सर्वथा रहित है—

जैसा कि कहा है—

अकिंचिनोऽहं—हे आत्मन् ! 'मैं अकिञ्चन हूं—मेरा मेरे पास कुछ नहीं है' यह विचार कर तुम चुपचाप बैठ जाओ क्योंकि ऐसा करने से तुम तीन लोकके अधिपति हो सकते हो । मैंने परमात्मा का यह योगिगम्य रहस्य तेरे लिये कहा है ।

जो योगी निरारम्भ है अर्थात् सेवा कृषि वाणिज्य आदि कार्योंसे रहित है । कहा है

आरंभे—आरम्भ में दया नहीं है, स्त्रियों की संगति से ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है, शङ्का से सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है और धनके ग्रहण करने से प्रव्रज्या—दीक्षा नष्ट हो जाती है ।

और जो टङ्कोत्कीर्ण एक-मात्र ज्ञायकस्वभाव, चैतन्य-चमत्कार लक्षण से युक्त, निज शुद्ध-बुद्धैक परिणाम जीव तत्व में अतिशय से लीन है वह योगी शुद्धोपयोग में रत होता हुआ सर्व कर्मक्षय लक्षणसे सहित मोक्षको प्राप्त होता है । अथवा 'योगो ध्यानं विद्यते यस्य स योगी योगिनामीशो योगीशः' इस समास के अनुसार ध्यानी मुनियों का स्वामी—उत्कृष्ट मुनि ही मोक्षको प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ लेना चाहिये । ऐसा अर्थ करनेसे गृहस्थ के स्त्री के तथा दिगम्बर मुद्रा के सिवाय अन्यवेष के धारक साधु के मोक्ष नहीं होता है यह भाव सूचित होता है । कहा भी है—

१—आत्मानुशासने ।

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चिन्तानिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥ १ ॥

कथं गृहस्थस्य मुक्तिर्न भवतीति चेत् ?—

खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी ।
पंच सूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १ ॥

तथा स्त्रीणामपि मुक्तिर्न भवति महाव्रताभावात् । तदपि कस्मान्न भवति ? कक्षयोः स्तनयोरन्तरे नाभौ योनौ च जीवानामुत्पत्तिविनाशलक्षणहिंसासद्भावात्, निःशंकत्वाभावात्, वस्त्रपरिग्रहात्यजनात्, अहमिन्द्रपदमपि न लभन्ते कथं निर्वाणमिति हेतोश्च । यदि च स्त्रियोमुक्ता भवन्ति तर्हि तत्पर्यायमूर्तयः कथं न पूज्यन्ते । सर्वथा दुर्मतं विहाय पुरुषस्यैव मुक्तिर्मन्तव्येति भावः । परलिंगे च मुक्तिर्न भवति मिथ्यात्वदूषितत्वात्, दण्डकमण्डलुमृगचर्मकर्माशर्मकारणात् । तद्विस्तरेण प्रमेयकमलमार्तण्डादिषु शास्त्रेषु ज्ञातव्यं । सज्जातिज्ञापनार्थं स्त्रीणां महाव्रतान्युपचर्यन्ते न परमार्थतस्तासां महाव्रतानि सन्ति तेन मुनिजनस्य

साम्यं—साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चिन्ता-निरोध और शुद्धोपयोग ये सब एकार्थ के वाचक हैं ।

प्रश्न—गृहस्थ के मुक्ति क्यों नहीं होती है ?

उत्तर—गृहस्थ के कूटना, पीसना, चूला सुलगाना, पानी के घट भरना और बुहारी लगाना ये पाँच हिंसा के कार्य होते हैं अतः वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता ।

इसी प्रकार स्त्रियों की भी मुक्ति नहीं होती क्योंकि उनके महाव्रतका अभाव है ।

प्रश्न—स्त्रियों के महाव्रत का अभाव क्यों है ?

उत्तर—क्योंकि उनकी कांखरियों में, स्तनों के बीच में, नाभि में और योनि में जीवों की उत्पत्ति तथा विनाश रूप हिंसा होती रहती है, उनके निःशङ्कपनेका अभाव है तथा वस्त्र रूप परिग्रह का त्याग भी नहीं होता है । एक हेतु यह भी है कि स्त्रियां अहमिन्द्र पद भी नहीं प्राप्त कर सकती हैं फिर मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकती हैं ? यदि स्त्रियां मुक्त होती हैं तो उस पर्यायकी मूर्तियां क्यों नहीं पूजी जाती हैं ? अतः सब प्रकारके दुराग्रह को छोड़ कर पुरुष की ही मुक्ति होती है, ऐसा मानना चाहिये

अन्य लिङ्ग में भी मुक्ति नहीं होती क्योंकि वह मिथ्यात्व से दूषित है तथा दण्ड कमण्डलु मृगचर्म और आरम्भ आदिके कार्यों से दुःख का कारण है । इसका विस्तार से वर्णन प्रमेय-कमल-मार्तण्ड आदि शास्त्रों में जानना चाहिये ।

सज्जातित्व बतलाने के लिये स्त्रियों के महाव्रतों का उपचार होता है, परमार्थ से उनके महाव्रत नहीं होते । इसलिये मुनि और आर्यिका को परस्पर वन्दना करना युक्त नहीं

स्त्रियाश्च परस्परं वन्दनापि न युक्ता। यदि ता वन्दन्ते तदा मुनिभिर्नमोऽस्त्विति न वक्तव्यं. किं तर्हि वक्तव्यं ? समाधिकर्मक्षयोस्त्विति। ये तु परस्परं मत्थएण वंदामीति आर्याः प्रतिवन्दन्ति तेऽप्यसंयमिनो ज्ञातव्याः। दिगम्बराणां मते या नीतिः कृता सा प्रमाणमिति मन्तव्यं। उक्तं च—

वरिससयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू।
अभिगमण वंदण नमंसणेण विणएण सो पुज्जो ॥ १ ॥

इति गाथा अप्रमाणं भवति यदि स्त्रीणां मुक्तिः स्यात्।

परदव्वरओ बज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहि।
एसो जिणउवएसो समासओ बन्धमोक्खस्स ॥ १३ ॥

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुच्चति विविधकर्मभिः।
एष जिनोपदेशः समासतः बन्धमोक्षस्य ॥

है यदि आर्यिकाएं वन्दना करती हैं तो मुनियों को 'नमोऽस्तु' नहीं कहना चाहिये किन्तु 'समाधिकर्मक्षयोऽस्तु'—समाधि के द्वारा कर्मोंका क्षय हो, ऐसा कहना चाहिये। इतना होने पर भी जो परस्पर 'मत्थएण वंदामि'—मस्तकसे वन्दना करता हूं, यह कह कर आर्यिकाओं को बदले में वन्दना करते हैं वे भी असंयमी हैं, ऐसा जानना चाहिये। दिगम्बरों के मत में जो नीति प्रचलित है उसे ही प्रमाण मानना चाहिये। कहा भी है—

वरिससय—आर्या सौ वर्ष की भी दीक्षित हो और साधु आज ही दीक्षित हुआ हो तो भी आर्या के द्वारा साधु संमुख गमन करना, वन्दना, नमस्कार और विनय के द्वारा पूजनीय होता है।

यदि यह गाथा अप्रमाण है तो स्त्रियों की मुक्ति हो सकती है ॥१२॥

गाथार्थ—पर-द्रव्यों में रत पुरुष नाना कर्मोंसे बन्धको प्राप्त होता है और पर-द्रव्यों में विरत पुरुष नाना कर्मों से मुक्त होता है, बन्ध और मोक्ष के विषय में जिनेन्द्र भगवान् का यह संक्षेप से उपदेश है ॥१३॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार पर द्रव्य को चुराने वाला चोर पुरुष राज-पुरुषों के द्वारा बद्ध होता है—बांधा जाता है और जो पर-द्रव्यको नहीं चुराता है वह बद्ध नहीं होता, उसी प्रकार शरीरादि पर-द्रव्यमें लीन रहने वाला पुरुष नाना प्रकारके ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे बन्ध को प्राप्त होता है और पर-द्रव्य से पराङ्मुख रहने वाला पुरुष नाना प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मोंसे मुक्त होता है, बन्ध और मोक्षके विषय में जिनेन्द्र भगवान् का यह संक्षेप से उपदेश है।

परदव्वरओ बज्झइ परद्रव्यं शरीरादिकं तत्र रतो बध्यते बन्धनं प्राप्नोति चौरवत्, यथा चौरः परद्रव्यं चोरयन् पुमान् राजलोकैर्बध्यते यो न परद्रव्यं चोरयति स न बध्यते । *विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहि* विरतः परद्रव्यपराङ्मुखः पुमान् मुच्यते-मुक्तो भवति विविधैर्नानाप्रकारैः कर्मभिर्ज्ञानावरणादिभिः । *एसो जिणउवएसो* एष जिनोपदेशः । *समासओ बंधमोक्खस्स* समासतः संक्षेपात्, बन्धमोक्षस्य बन्धेनोपलक्षितो मोक्षो बन्धमोक्षः तस्य बन्धमोक्षस्य । अथवा बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्ष समाहारद्वन्द्वस्तस्य ।

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥ १४ ॥

स्वद्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन ।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षिपते दुष्टाष्टकर्माणि ॥

सद्दव्वरओ सवणो स्वद्रव्यरतः श्रमण आत्मस्वरूपे तन्मयभूतो दिगम्बरः । *सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण* सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन निश्चयेन, अत्र सन्देहो नास्ति । सम्यग्दर्शनस्य आत्मपरिणामत्वेन सूक्ष्मत्वात्, चक्षुरादीन्द्रियाणामगोचरत्वात् । *सम्मत्तपरिणदो उण* सम्यक्त्वपरिणतः पुनः । *खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि* क्षिपते दुष्टानि अष्टकर्माणि ज्ञानावरणादीनि ।

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू ।

मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥ १५ ॥

प्रश्न—यहां 'बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ तयोः' इस प्रकार इतरेतर योग द्वन्द्व समास करने पर द्विवचन होना चाहिये एकवचन का प्रयोग क्यों हुआ ?

उत्तर—यहां इतरेतर योग न करके 'बन्धेन मोक्षः बन्धमोक्षः तस्य' इस प्रकार मध्यम पद लोपी तत्पुरुष समास करने में द्विवचन रखने की आवश्यकता नहीं है अथवा 'बन्धश्च मोक्षश्च अनयोः समाहारः' इस प्रकार समाहार द्वन्द्व करने से नपुंसकलिङ्ग तथा एक वचन का प्रयोग व्याकरण से सिद्ध है ॥१३॥

गाथार्थ—स्वद्रव्य में रत साधु नियम से सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त्वरूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मोंको नष्ट करता है ॥१४॥

विशेषार्थ—आत्म स्वरूप में तन्मय रहने वाला दिगम्बर साधु निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है इसमें संशय नहीं है । सम्यग्दर्शन आत्मा की परिणति होनेसे सूक्ष्म है तथा चक्षुरादि इन्द्रियों का अविषय है । सम्यक्त्व रूप परिणत हुआ साधु ज्ञानावरणादि आठ दुष्ट कर्मोंको खिपाता है—नष्ट करता है ॥१४॥

गाथार्थ—जो साधु परद्रव्य में रत है वह मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्यात्व रूप

यः पुनः परद्रव्यरतः मिथ्यादृष्टिर्भवति स साधुः ।
मिथ्यात्वपरिणतः पुनः बध्यते दुष्टाष्टकर्मभिः ।

जो पुण परदव्वरओ यः पुनः साधुः परद्रव्यरत इष्टवनितादिरतः स्तनजघनवदनलोचनादि[1]वि-लोकनादिलम्पटः । *मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू* मिथ्यादृष्टिर्भवति संजायते साधुः जिनलिंगोपजीवी । *मिच्छत्तपरिणदो उण* मिथ्यात्वपरिणतः पुनः मिथ्यादर्शने वासितो मुनिः *बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं* बध्यते दुष्टाष्टकर्मभिः । उक्तं च—

कम्मइं दिढघणचिक्कणइं गरुयइं वज्जसमाइं ।
णाणवियक्खणजीवडउ उप्पहि पाडहि ताइं ॥ १ ॥

इति कारणात् कर्माणि दुष्टत्वविशेषणविशिष्टत्वं लभन्ते ।

परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ॥ १६ ॥

परद्रव्यात् दुर्गतिः स्वद्रव्यात् स्फुटं सुगतिः भवति ।
इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये कुरुत रतिं विरतिमितरस्मिन् ॥

परदव्वादो दुग्गई परद्रव्याद्दुर्गतिः परमात्मध्यानं परिहृत्य परद्रव्ये परिणमनान्नरकादिषु चतसृषु गतिषु पतनं हे जीव ! तव भवति । *सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ* स्वद्रव्यादात्मद्रव्ये एककल्लोलीभावात् सम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुचरणात् सुगतिर्भवति मुक्तिर्भवति । *इय णाऊण सदव्वे* इति ज्ञात्वा ईदृशमर्थं परिज्ञाय स्व-

---

परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मोंसे बन्धन को प्राप्त होता है ॥१५॥

विशेषार्थ—जो साधु इष्ट स्त्री आदि पर-द्रव्य में रत है अर्थात् उनके स्तन जघन मुख नेत्र आदि के देखने में लम्पट है वह मिथ्यादृष्टि है अर्थात् जिनलिङ्ग धारण कर मात्र आजीविका करता है और मिथ्यात्व रूप परिणत अर्थात् मिथ्यादर्शन की वासना रखने वाला साधु आठ दुष्ट कर्मोंसे बंधता है । कहा भी है—

कम्मइं—कर्म अत्यन्त मजबूत चिकने, भारी और वज्र के समान हैं वे इस ज्ञानी जीवको भी कुमार्ग में डाल देते हैं । इसी कारण कर्म दुष्ट विशेषण को प्राप्त हैं ॥१५॥

गाथार्थ—परद्रव्य से दुर्गति और स्वद्रव्य से निश्चित ही सुगति होती है ऐसा जानकर स्वद्रव्य में रति करो और पर द्रव्य में विरति करो ॥१६॥

विशेषार्थ—परमात्म-द्रव्यको छोड़कर परद्रव्यमें परिणमन करने से—उनमें तल्ली-नता बढ़ाने से हे जीव ! तेरा नरकादि चारों गतियोंमें पतन होता है और स्वद्रव्य अर्थात्

१—लोचनादिकायादिविलोकन म० ।

द्रव्ये आत्मतत्त्वे । *कुणह रई विरइ इयरम्मि* कुरुत यूयं रतिं भावनां, विरतिं विरमणं, इतरस्मिन् परद्रव्ये, मा रज्यत यूयमिति ।

त परदव्वं सदव्वं च केरिसं हवदि । तं जहा—

तत्परद्रव्यं स्वद्रव्यं च कीदृशं भवति । तद्यथा—तदेव निरूपयंत्याचार्याः—

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि ।

तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं ॥ १७ ॥

आत्मस्वभावादन्यत् सचित्ताचित्तमिश्रितं भवति ।

तत् परद्रव्यं भणितं-अवितथं सर्वदर्शिभिः ॥

आदसहावादण्णं आत्मस्वभावादन्यत् पुद्गलादिद्रव्यं । *सचित्ताचित्तमिस्सियं हवदि* सचित्तं विद्यमानचेतनं इष्टवनितादिकं अचित्तं अचेतनं धनकनकवसनादिकं, मिश्रितं आभरणवस्त्रादिसंयुक्तं कलत्रादिकं भवति । *तं परदव्वं भणियं* तत्परद्रव्यं भणितं—आगमे प्रतिपादितं । *अवितत्थं सव्वदरसीहिं* अवितथं सत्यरूपं सर्वदर्शिभिः श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञवीतरागैरिति शेषः ॥

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।

सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं ॥ १८ ॥

दुष्टाष्टकर्मरहितं अनुपमं ज्ञानविग्रहं नित्यम् ।

शुद्धं जिनैः कथितं आत्मा भवति स्वद्रव्यम् ॥

आत्म-द्रव्य में तन्मयी भाव रूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे सुगति होती है—मुक्ति की प्राप्ति होती है ऐसा जानकर तू आत्मद्रव्यमें रति कर और परद्रव्यसे विरति कर अर्थात् उसमें राग मत कर ॥१६॥

आगे वह परद्रव्य और स्वद्रव्य कैसा होता है यह बताते हैं—

गाथार्थ—आत्मस्वभाव से अतिरिक्त जो सचित्त अचित्त अथवा मिश्र द्रव्य है वह सब पर-द्रव्य है, ऐसा यथार्थ रूप से समस्त पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ देवने कहा है ।

विशेषार्थ—आत्मस्वभाव से भिन्न सचित्त—इष्ट स्त्री आदिक, अचित्त—धन सुवर्ण वस्त्र आदिक और मिश्र—आभरण तथा वस्त्र आदि से युक्त स्त्री आदिक जो भी पदार्थ हैं वे सब परद्रव्य हैं, ऐसा आगम में सत्यरूप से समस्त पदार्थों को देखने वाले सर्वज्ञ देव ने कहा है ॥ १७ ॥

गाथार्थ—आठ दुष्ट कर्मोंसे रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य और शुद्ध जो आत्म-द्रव्य है उसे जिनेन्द्र भगवान् ने स्वद्रव्य कहा है ॥१८॥

दुट्ठट्ठकम्मरहियं दुष्टाष्टकर्मरहितं दुष्टानि पापिष्ठानि यानि अष्टकर्माणि दुर्गतिनिपातनहेतुत्वात् तैः रहितं वर्जितं। *अणोवम णाणविग्गहं णिच्चं* अनुपमं उपमारहितं, ज्ञानविग्रहं ज्ञानशरीरं केवलज्ञानमयं, नित्यं शाश्वतं अविनश्वरं। *सुद्धं जिणेहि कहियं* शुद्धं निष्केवलं कर्ममलकलङ्करहितं रागद्वेषमोहादिविभावपरिणामवर्जितं, जिनैः सर्वज्ञवीतरागैः, कथितं—आगमे प्रतिपादितं। *अप्पाणं हवदि सद्दव्वं* आत्मा भवति स्वद्रव्यं आत्मरूपं स्वद्रव्यं निजद्रव्यं ज्ञातव्यमिति।

जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता।
ते जिणवराण मग्गं अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं॥ १९॥

ये ध्यायन्ति स्वद्रव्यं परद्रव्यपराङ्मुखास्तु सुचरित्राः।
ते जिणवराणां मार्गमनुलग्ना लभन्ते निर्वाणम्।

जे झायंति सदव्वं ये मुनयो ध्यायन्ति चिन्तयन्ति स्वद्रव्यं आत्मतत्त्वं। *परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता* परद्रव्यात् पराङ्मुखाः परद्रव्ये शरीरादौ रागरहिताः, तु पुनः, सुचरित्राः शोभनं चारित्रं अनतिचारचारित्रसहिताः। *ते जिणवराण मग्गं अणुलग्गा* ते मुनयो, जिनवराणां सर्वज्ञवीतरागाणां, मार्गं रत्नत्रयलक्षणं, अनुलग्नाः पृष्ठतो लग्ना भवन्ति—जिनमार्गाराधका भवन्ति। *लहदि णिव्वाणं* निर्वाणमनन्तसुखं परममोक्षं लभन्ते प्राप्नुवन्ति।

विशेषार्थ—जो दुर्गति में गिरानेके हेतु होनेसे अत्यन्त पापी कहे जानेवाले ज्ञानावरणादि कर्मोंसे रहित है, उपमा-रहित है, केवल ज्ञान रूप शरीर से युक्त है, अविनश्वर है, तथा कर्ममल-कलंक से रहित होनेके कारण अथवा रागद्वेष मोह आदि विभाव परिणामों से शून्य होने के कारण शुद्ध है वह आत्मद्रव्य ही स्वद्रव्य है, ऐसा सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र ने आगम में कहा है ॥१८॥

गाथार्थ—जो स्वद्रव्यका ध्यान करते हैं, परद्रव्यसे पराङ्मुख रहते हैं और सम्यक्चारित्रका निरतिचार पालन करते हुए जिनेन्द्र देवके मार्ग में लगे रहते हैं वे निर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥१९॥

विशेषार्थ—जो मुनि पूर्व गाथामें कथित स्वद्रव्यका ध्यान करते हैं, शरीरादि परद्रव्य से पराङ्मुख रहते हैं तथा अतिचार रहित सम्यक्चारित्रका पालन करते हुए सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र देवके रत्नत्रय रूप मार्ग में संलग्न हैं अर्थात् जिनमार्ग के आराधक हैं वे अनन्त सुख-सम्पन्न निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥ १९॥

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं ।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ॥ २० ॥

जिनवरमतेन योगी ध्याने ध्यायति शुद्धमात्मानम् ।
येन लभते निर्वाणं न लभते किं तेन सुरलोकम् ॥

जिणवरमएण जोई जिनवरमतेन जिनशासनेन सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवनलक्षणेन रत्नत्रयेन योगी दिगंबरो मुनिः । *झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं* ध्याने एकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणे, ध्यायति चिन्तयति, शुद्धं रागद्वेषमोहादिरहितं कर्ममलकलंकरहितं टंकोत्कीर्णस्फटिकमणिबिंबसदृशं ज्ञायकैकस्वभावं चिच्चमत्कारस्वरूपं, आत्मानं निजात्मतत्वं । *जेण लहइ णिव्वाणं* येनात्मध्यानेन लभते निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षमनन्तसौख्यं । *ण लहइ किं तेण सुरलोयं* तेनात्मध्यानेन न लभते किं न प्राप्नोति सुरलोकं स्वर्गभोगं ? तथा चोक्तं—

तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो ! सहस्वाल्पं स्वरेव ते ।
[1]प्रतीक्ष्व पाकं किं पीत्वा [2]पेयं भुक्तिं विनाशयेः[3] ॥ १ ॥

गाथार्थ—जो योगी ध्यानमें जिनेन्द्रदेवके मतानुसार शुद्ध-आत्माका ध्यान करता है वह स्वर्ग लोकको प्राप्त होता है सो ठीक ही है क्योंकि जिस ध्यान से निर्वाण प्राप्त हो सकता है उससे क्या स्वर्ग लोक प्राप्त नहीं हो सकता ? ॥२०॥

विशेषार्थ—जो दिगम्बर मुनि जिनवरके मतानुसार अर्थात् सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र के अनुभवन रूप रत्नत्रय के अनुसार ध्यान में रागद्वेष मोहसे रहित टंकोत्कीर्ण स्फटिकमणिके बिम्बके समान ज्ञायक—स्वभाव चिच्चमत्कार रूप निज आत्म-तत्वका ध्यान करता है, वह स्वर्ग-लोकको प्राप्त होता है । सो ठीक ही है क्योंकि जिससे सर्व कर्मक्षय रूप लक्षण से युक्त मोक्ष प्राप्त होता है उससे क्या स्वर्ग लोक प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य होगा । जैसा कि कहा है—

तृष्णा—हे मुने ! यदि भोगों में ही तेरी इच्छा है तो कुछ काल तक स्वर्गके विलम्ब को सहन करले । भोजन के पाककी प्रतीक्षा कर अर्थात् भोजन तैयार होजाने दे क्षुधा की अधिकतासे मात्र पेय—पानीको पीकर भोजन को क्यों नष्ट कर रहा है ? 'पेयाम्' पाठ में उसे भुक्ति विशेषण लगाना चाहिये ।

आगे इसी बातको दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं—

१—प्रतीक्ष्छ इति पाठः शुद्धो भाति 'प्रतीक्ष्य' इति पाठोऽनुपमयोगी, प्रतीक्षस्व इति पाठः शुद्धः किन्तु छन्दोभङ्गावहः । २—पेयां म० । ३—आत्मानुशासने ।

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं ।

सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥ २१ ॥

यो याति योजनशतं दिनेनैकेन लात्वा गुरुभारम् ।

स किं क्रोशार्धमपि हु न शक्यते यातुं भुवनतले ॥

जो जाइ जोयणसयं यो याति यः पुमान् याति गच्छति, किं ? योजनशतं सहस्रयोजनदशमभागं । *दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं* दिवसेनैकेन लेवि-लात्वा गृहीत्वा, कं ? गुरुभारं महाभारं । *सो किं कोसद्धं पि हु* स पुमान् (किं) क्रोशार्धमपि हु स्फुटं । *ण सक्कए जाहु भुवणयले* न शक्नोति न समर्थो भवति यातुं भुवनतले पृथिवीमण्डले अपि तु गव्यूतिचतुर्थमंशं यातुं शक्नोत्येव ।

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं ।

सो किं जिप्पइ इक्कि णरेण संगामए सुहडो ॥ २२ ॥

यः कोट्या न जीयते सुभटः संग्रामिकैः सर्वैः ।

स किं जीयते एकेन नरेण संग्रामे सुभटः ॥

जो कोडिए ण जिप्पइ यः सुभटः सुभटानां कोट्या न जीयते न पराभूयते । *सुहडो संगामएहिं*

गाथार्थ—जो मनुष्य बहुत भारी भार लेकर एक दिन में सौ योजन जाता है वह क्या पृथिवी तल पर आधा कोश भी नहीं जा सकता ? अवश्य जा सकता है ॥२१॥

विशेषार्थ—जिस जिनधर्म के द्वारा निर्वाण प्राप्त हो सकता है उस धर्म से स्वर्ग का प्राप्त होना दुष्कर नहीं है, इसी बातको यहां दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है कि जो पुरुष एक दिनमें बहुत भारी बोझा लेकर सौ योजन चल सकता है उसे आधा कोश चलना क्या कठिन हो सकता है ? अर्थात् नहीं । यथार्थमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नत्रय मोक्षके ही कारण हैं परन्तु इनके साथ रहने वाला जो रागांश है वह देवायु के बन्धका कारण है इस रागांशकी प्रबलतासे कितने ही जीव देवायुका बन्धकर स्वर्ग भी जाते हैं ।

गाथार्थ—जो सुभट संग्राम में करोड़ों की संख्या में विद्यमान सब योद्धाओं द्वारा मिलकर भी नहीं जीता जाता वह क्या एक योद्धा के द्वारा जीता जा सकता है ? अर्थात् नहीं जीता जा सकता ॥२२॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार अतिशय शूरवीर योद्धा संग्राम में अजेय होता है उसी प्रकार जिनवर मतका अनुयायी मुनि भी परिषहों द्वारा अजेय होता है इसी बातको यहां दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है कि जिसे करोड़ों योद्धा मिलकर नहीं जीत सकते उसे ए०

सव्वेहिं सुभटः संग्रामकैः सर्वैरपि । *सो किं जिप्पइ इक्किं* स सुभटः किं जीयते एकेन सुभटेन-अपि तु न जीयते *णरेण संगामए सुहडो* नरेण एकेन पुरुषेण सम्रामके एकस्मिन् संग्रामे ।

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तहि वि झाणजोएण ।

जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ।। २३

स्वर्गं तपसा सर्वोऽपि प्राप्नोति तत्रापि ध्यानयोगेन ।

यः प्राप्नोति स प्राप्नोति परलोके शाश्वतं सौख्यम् ।।

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए स्वर्गं तपसा कृत्वा उपवासादिना कायक्लेशेन सर्वोऽपि भव्यजीवोऽभव्यजीवोऽपि प्राप्नोति लभते । *तहि वि झाणजोएण* तत्रापि सर्वेष्वपि जीवेषु मध्ये ध्यानयोगेन कृत्वा । *जो पावइ सो पावइ* यः प्राप्नोति स्वर्गं स पुमान् प्राप्नोति । *परलोए सासयं सोक्खं* परलोके आगामिनि भवे शाश्वतमविनश्वरं सौख्यं परमनिर्वाणमिति शेषः । *परभावे* इति च क्वचित्पाठः तत्रायमर्थः— परभावे भवनं भावो जन्मोच्यते तस्मिन् परभावे परजन्मनीत्यर्थः ।

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य ।

कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ।। २४ ।।

योद्धा के द्वारा जीतना अशक्य है इसी प्रकार जो साधु अनेक इन्द्रियों के विषयों से नहीं जीता जा सकता वह क्या एक इन्द्रिय के विषय से जीता जा सकता है ? अर्थात् नहीं जीता जा सकता ।।२२।।

गाथार्थ—तपसे स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं, पर जो ध्यान से स्वर्ग प्राप्त करता है उसका स्वर्ग प्राप्त करना कहलाता है, ऐसा जीव पर-भव में शाश्वत—अविनाशी—मोक्ष सुखको प्राप्त होता है ।।२३।।

विशेषार्थ—उपवास आदि तपके द्वारा स्वर्ग तो भव्य—अभव्य—सभी जीव प्राप्त कर लेते हैं परन्तु उन सभी जीवों में ध्यान के योगसे जो स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे यथार्थ में स्वर्ग प्राप्त करने वाले कहे जाते हैं क्योंकि ऐसे जीव स्वर्ग से आकर आगामी भव में अविनाशी सुख—मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकते हैं । जो साधारण कायक्लेश से स्वर्ग जाते हैं उनका मोक्ष जाना निश्चित नहीं है । अभव्य जीव भी मुनिव्रत धारण कर तपके प्रभाव से नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो जाता है परन्तु उसके मोक्षका कभी ठिकाना नहीं है । यहां 'परलोए' के स्थान में 'परभावे' ऐसा भी पाठ संस्कृत टीकाकारको कहीं मिला है उसके अर्थ की संगति उन्होंने 'परभावे का पर-जन्मनि' अर्थ करके बैठाई है ।।२३।।

[1]अतिशोभनयोगेन शुद्धं हेमं भवति यथा तथा च ।
कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति ॥

अइसोहणजोएण अतिशोभनयोगेन सामग्र्या अनन्धपाषाणादिकं अग्निमध्ये पचितं गुरूपदिष्टौषधयोगेन । सुद्धं हेमं हवइ जह तह य शुद्धं षोडशवर्णिक हेमं सुवर्णं भवति यथा तह य—तथा च तथैव च कालाईलद्धीए कालादिलब्ध्या कृत्वा कालादिलब्ध्यां सत्यां वा । अप्पा परमप्पओ हवदि आत्मा संसारी जीवः परमात्मा भवति—अर्हन् सिद्धश्च संजायते । उक्तं च—

नागफणीए मूलं नागिणितोएण गब्भणाएण ।
नागं होइ सुवण्णं धम्मं तह पुण्णजोएण ॥ १ ॥

अस्या अयमर्थः—नागफणीए मूलं नागौषधिः । नागिणितोएण—हस्तिनीमूत्रेण पिष्टा । गब्भणाएण—गर्भे नागः सीसको यस्य स गर्भनागः सिन्दूरः सोऽपि मध्ये क्षिप्त्वा मर्द्यते । नागं होइ सुवण्णं नागः सीसकः । एतत्सर्वं मृत्तिकाभाजने क्षिप्त्वा अधोऽग्निः क्रियते खदिराङ्गारैर्धमयित्वा सुवर्णं भवति ।

गाथार्थ—जिस प्रकार अत्यन्त शुभ सामग्री से-शोधन सामग्री से अथवा सुहागासे सुवर्ण शुद्ध होजाता है उसी प्रकार काल आदि लब्धियों से आत्मा परमात्मा होजाता है ।

विशेषार्थ—अन्ध पाषाण से सुवर्ण नहीं निकल सकता अतः उसके सिवाय जो अनन्ध पाषाण आदि पदार्थ हैं वे अग्नि के मध्य में पकाये जाने पर गुरुके द्वारा उपदिष्ट औषधके प्रयोग से शुद्ध-सोलहवानी के सुवर्ण बन जाते हैं, इसी दृष्टान्तको लेकर आचार्य आत्माके शुद्ध होनेका मार्ग दिखलाते हैं—जिस प्रकार अतिशोभन योगसे-अनुकूल उत्कृष्ट सामग्री से सुवर्ण शुद्ध होजाता है, उसी प्रकार काल आदि लब्धियों से अथवा काल आदि लब्धियों के प्राप्त होनेपर आत्मा-संसारी जीव, परमात्मा बन जाता है-अर्हन्त सिद्ध हो जाता है । जैसा कि कहा है—

नागफणीए—नागफणी-शंपाफनी की जड़ को हस्तिनी के मूत्रके साथ पीसकर यदि उसमें सिन्दूर भी मिलाया जाता है तो सीसा सुवर्ण बन जाता है अर्थात् इन सबको मिट्टी के वर्तन में रखकर खेर के अंगारों से फूंका जाय तो पुण्य योग से सुवर्ण बन जाता है, पुण्य योग के विना कार्य की सिद्धि नहीं होती । इसका सार यह है कि जिस प्रकार विभिन्न अनुकूल बाह्य निमित्त तथा पुण्योदय रूप अन्तरङ्ग निमित्त से सीसा सुवर्ण रूप होजाता है उसी प्रकार अन्तरङ्ग बहिरङ्ग-दोनों प्रकार की सामग्री के मिलने पर आत्मा परमात्मा हो जाता है । यहां काल आदि लब्धि के द्वारा जीव की उपादान शक्ति रूप

१—अतिशोभनयोगेन इत्यपि छाया भवितुमर्हति .

पुण्ययोगेन पुण्ययोगं विना सुवर्णं न भवति ब्रह्मादिभ्रष्टस्येति भावः तथायं आत्मा कालादिलब्धिं प्राप्य सिद्धपरमेष्ठी भवतीति भावार्थः ।

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ २५ ॥

वरं व्रततपोभिः स्वर्गः मा दुःखं भवतु नरके इतरैः ।
छायातपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरुभेदः ॥

वर वयतवेहि सग्गो वरं ईषद्रुचौ वरं श्रेष्ठ व्रतस्तपोभिश्च स्वर्गो भवति तथापि *मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं* मा दुःख भवतु निरइ—नरकावासे, इतरैरव्रतैरतपोभिश्च । *छाया तवट्ठियाणं* छायातपस्थितानां ये छायायां स्थिता अनातपे वर्तन्ते ते सुखेन तिष्ठन्ति, ये आतपे धर्मे स्थिता वर्तन्ते ते दुःखेन तिष्ठन्ति *पडिवालंताण गुरुभेयं* प्रतिपालयतां व्रतानि अनुतिष्ठतां स्वर्गो भवति तद्वरं संसारित्वेनापि ते सुखिनः ।

अन्तरङ्ग योग्यता का वर्णन किया है और अतिशोभन योगके द्वारा गुरूपदिष्ट उत्तम शुभ योग—शुभध्यान आदि बाह्य सामग्री का वर्णन किया गया है । कार्य की सिद्धिमें अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार की सामग्रीका सद्भाव अपेक्षित है । २४॥

गाथार्थ—व्रत और तपके द्वारा स्वर्ग का प्राप्त होना अच्छा है परन्तु अव्रत और अतपके द्वारा नरक के दुःख प्राप्त होना अच्छा नहीं है छाया और घाम में बैठकर इष्ट स्थान की प्रतीक्षा करने वालों में बड़ा भेद है ॥२५॥

विशेषार्थ—व्रत तप आदि शुभोपयोग की परिणति से जीवको स्वर्ग प्राप्त होता है सो उसका प्राप्त होना भी कुछ अच्छा है । सम्यग्दृष्टि जीवका सर्वोत्तम लक्ष्य तो मोक्ष प्राप्त करना ही है परन्तु उसके अभाव में स्वर्ग की प्राप्ति होना भी अच्छा है । आचार्य कहते हैं कि व्रत और तपके अभाव में पाप तथा अतप में प्रवृत्ति करने से इस जीवको जो नरक के दुःख प्राप्त होते हैं, वे न हों दो मनुष्य कहीं जा रहे थे मार्ग में थक जानेके कारण एक उनमेंसे एक छाया में बैठकर विश्राम कर रहा है और दूसरा घाममें बैठ कर विश्राम कर रहा है । जो छाया में बैठा है वह सुखसे बैठा हुआ अपने लक्ष्यका विचार कर रहा है, पर जो घाम में बैठा है वह दुःख से बैठा हुआ अपने लक्ष्यका विचार कर रहा है । इस तरह छाया और घाम में बैठे हुए पुरुषों में जिस प्रकार महान् अन्तर है उसी प्रकार शुभोपयोग और अशुभोपयोग में स्थित जीवोंमें महान् अन्तर है । शुभोपयोग वाला जीव स्वर्ग में विश्राम कर वहीं से आने पर मनुष्य—भव प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है और अशुभोपयोग वाला जीव नरकके दुःख वर्तमान में भोगता है और आगामी पर्यायको

अव्रतानि प्रतिपालयतां नरके दुःखमनुभवतां अनिनिन्दितमिति महान् भेदो वर्तते । तथा चोक्तं पूज्यपादे-नेष्टोपदेशग्रन्थे—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकं ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ १ ॥

जो इच्छइ निस्सरिदुं संसारमहण्णवस्स रुंदस्स ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥ २६ ॥

य इच्छति निस्सरितुं संसारमहार्णवस्य रुन्द्रस्य ।
कर्मेन्धनानां दहनं स ध्यायति आत्मानं शुद्धम् ॥

जो इच्छइ निस्सरिदुं यो मुनिवर इच्छति अभिलषति, किं कर्तुं ? निःसरितुं पारं यातुं । कस्य, *संसारमहण्णवस्स रुंदस्स* संसारमहार्णवस्य संसारमहासमुद्रस्य । कथंभूतस्य, रुन्द्रस्य अतिविस्तीर्णस्य । *कम्मिंधणाण डहणं* कर्मेन्धनानां दहनं कर्मकाष्ठानां भस्मीकरणं । *सो झायइ अप्पयं सुद्धं* स मुनिर्ध्यायति चिन्तयति, आत्मानं शुद्धं कर्ममलकलंकरहितं रागद्वेषमोहादिविभाववर्जितमिति शेषः ।

अनुकूलता अनिश्चित है । तात्पर्य यह है कि शुभोपयोग सर्वथा हेय नहीं है किन्तु हेया-हेय उभय रूप है, शुद्धोपयोग की अपेक्षा हेय है और अशुभोपयोगकी अपेक्षा अहेय है । इतनी बात अवश्य है कि सम्यग्दृष्टि जीव शुभोपयोग करता हुआ भी उसे साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं मानता है किन्तु परम्परा से ही मोक्षका कारण मानता है । श्रीपूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश ग्रन्थ में कहा है—

वरं व्रतैः—व्रतों के द्वारा देव-सम्बन्धी पद प्राप्त करना कुछ अच्छा है परन्तु अव्रत के द्वारा दुःख-दायक नरक का पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है क्योंकि छाया और घाममें बैठकर प्रतीक्षा करने वालों में महान् भेद है ।

यथार्थ में श्री पूज्यपाद की यह कारिका कुन्दकुन्दस्वामी के 'वरवयतवेहि'—गाथा से अनुजीवित है ॥ २५ ॥

गाथार्थ—जो मुनि अत्यन्त विस्तृत संसार महा सागरसे निकलनेकी इच्छा करता है वह कर्म-रूपी ईंधन को जलाने वाले शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है ॥२६॥

विशेषार्थ—यहां संसार रूपी महासागर से बाहर निकलने का उपाय आत्मध्यान बतलाया है । यह संसार महासागर के समान अतिशय विस्तृत है इसके बीच मञ्जनो-न्मज्जन करते हुए जीव अनादि कालसे दुःख उठा रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि जो मुनि इस संसार रूप महासागर से पार होना चाहता है वह मुनि कर्म रूपी ईंधनको जलानेवाली

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं ।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो ॥ २७॥

सर्वान् कषायान् मुक्त्वा गारवमदरागद्वेषव्यामोहम् ।
लोकव्यवहारविरत आत्मानं ध्यायति ध्यानस्थः ॥

सव्वे कसाय मोत्तुं सर्वान् कषायान् क्रोधमानमायालोभान् मुक्त्वा परित्यज्य क्षीणकषायो मुनिर्भूत्वा । *गारवमयरायदोसवामोहं* गारवं च शब्दगारवं—अहं वर्णोच्चारं रुचिरं जानामि न त्वेते यतयः, ऋद्धिगारवं-शिष्यादिसामग्री मम बह्वी वर्तते न त्वमीषां यतीनां, सातगारवं—अहं यतिरपि सन् इन्द्रत्वसुखं चक्रिसुखं तीर्थकरसुखं भुंजानो वर्ते न त्विमे यतयस्तपस्विनो वराकाः । मदा अष्ट—अहं ज्ञानवान् सकलशास्त्रज्ञो वर्ते, अहं मान्यो महामंडलेश्वरा मत्पादसेवकाः । कुलमपि मम पितृपक्षोऽतीवोज्ज्वलः कोऽपि

शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है । वह विचार करता है-यद्यपि आत्मा वर्तमानमें कर्ममल से कलंकित हो रहा है तथापि आत्मा का यह स्वभाव नहीं है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा रागद्वेष मोह आदि विभाव भावों से रहित है, अतः पर-निमित्तसे स्वकीय आत्मामें उत्पन्न हुए विभाव भावोंको मुझे नष्ट करना चाहिये ॥२६॥

गाथार्थ—ध्यानस्थ मुनि समस्त कषायों और गारव मद रागद्वेष तथा व्यामोह को छोड़कर लोक व्यवहार से विरत होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है ॥२७॥

विशेषार्थ—सर्व कषाय से क्रोध, मान, माया, और लोभ का ग्रहण होता है। गारव के तीन भेद हैं—१—शब्द गारव, २—ऋद्धिगारव और ३—सात गारव । 'मैं वर्णोंके उच्चारण सुन्दर जानता हूं ये अन्य मुनि नहीं जानते' इस प्रकार के गर्वको लिये हुए परिणाम को शब्द-गारव कहते हैं। 'मेरी शिष्यादि सामग्री बहुत है इन मुनियों की नहीं है' इस प्रकार के गर्व रूप परिणाम को ऋद्धि-गारव कहते हैं। मैं मुनि होनेपर भी इन्द्र पनेका सुख, चक्रवर्ती का सुख और तीर्थंकर का सुख भोग रहा हूं ये वेचारे तपस्वी क्या भोगेंगे' इस प्रकार के गर्व रूप परिणाम को सात-गारव कहते हैं।

मद आठ होते हैं—१ ज्ञानमद, २ पूजामद, ३ कुलमद, ४ जातिमद, ५ बलमद, ६ ऋद्धिमद, ७ तपमद, और शरीर मद। मैं ज्ञानवान् हूं सकल शास्त्रों का ज्ञाता हूं इस प्रकारके अहंकारको ज्ञानमद कहते हैं । मैं माननीय हूं, महामण्डलेश्वर राजा हमारे चरण सेवक हैं इस प्रकार के अहंकार को पूजामद कहते हैं, मेरा पितृपक्ष कोई अद्भुत तथा अत्यन्त उज्ज्वल है, ब्रह्महत्या ऋषिहत्या आदि दोषोंसे कभी दूषित नहीं हुआ है, इसप्रकार के अहंकार को कुलमद कहते हैं। मेरी माता संघपति (सिंघई) की लड़की है तथा शीलसे

ब्रह्महत्या–ऋषिहत्यादिभिरदोषं । जातिः मम माता संघस्य पत्युर्दुहिता-शीलेन सुलोचना सीता·अनन्तमती चन्दनादिका वर्तते । बलं–अहं सहस्रभटो लक्षभटः कोटीभटः । ऋद्धिः–ममानेकलक्षकोटिगणनं धनमासीत् तदपि मया त्यक्तं अन्ये मुनयोऽधमर्णाः सन्तो दीक्षां जागृहुः । तपः–अहं सिंहनिष्क्रीडितविमानपंक्तिसर्वतोभद्रशातकुंभसिंहविक्रमत्रिलोकसारवज्रमध्योल्लीणोल्लीणमृदंगमध्यधर्मचक्रवालरुद्रोत्तरवसंतमेरुनन्दीश्वरपंक्तिपल्यविधानादिमहातपोविधिविधाता मम जन्मैवं तपः कुर्वतो गतं, एते नु यतयो नित्यभोजनरताः । वपुः—ममरूपाग्रे कामदेवोऽपि दासत्वं करोतीत्यष्टमदाः । रागश्च प्रीतिलक्षणः । द्वेषश्चाप्रीतिलक्षणः । व्यामोह पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहः । वामानां स्त्रीणां वा मोहो वामोहः ततथोक्तं समाहारो द्वन्द्वः । लोयववहारविरदो धर्मोपदेशादिकमपि न करोति लोकव्यवहारविरतः । अप्पा झाएइ झाणत्थो आत्मानं ध्यायति चिन्तयति, झाणत्थो–"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तमुहूर्तात्" इत्युक्तलक्षणे ध्याने तिष्ठतीति ध्यानस्थः । "[१]स्थश्च" इति कप्रत्ययप्रयोगत्वात् ध्यानस्थ उच्यते ।

सुलोचना सीता अनन्तमती तथा चन्दना आदि है, इस प्रकार के अहंकार को जाति मद कहते हैं। मैं सहस्रभट, लक्षभट अथवा कोटीभट हूं इस प्रकार के अहंकार को बलमद कहते है। मेरे पास अनेक लाख अथवा अनेक करोड़ का धन था फिर भी मैंने छोड़ दिया। इन अन्य मुनियों ने तो कर्जदार होकर दीक्षा ली है इस प्रकार के अहंकार को ऋद्धिमद कहते हैं। मैं सिंहनिष्क्रीडित, विमान-पंक्ति, सर्वतोभद्र, शातकुम्भ, सिंहविक्रम, त्रिलोकसार, वज्र-मध्य, उल्लीणोल्लीण, मृदङ्गमध्य, धर्मचक्रवाल, रुद्रोत्तर, वसन्त, मेरू, नन्दीश्वर पंक्ति, तथा पल्यविधान आदि महातपों का करने वाला हूं, मेरा जन्म इस तरहके तप करते हुए व्यतीत हुआ है ! परन्तु ये मुनि नित्य भोजन में लीन हैं अर्थात् एक भी उपवास नहीं करते है, इस प्रकारके अहंकारको तपमद कहते हैं। और मेरे रूपके आगे कामदेव भी दासता करता है, इस प्रकार के मदको शरीरमद कहते हैं।

रागका अर्थ प्रीति है, द्वेषका अर्थ अप्रीति है, व्यामोह का अर्थ पुत्र स्त्री तथा मित्र आदि का स्नेह है। लोकव्यवहार का अर्थ धर्मोपदेश आदि है तथा ध्यान का अर्थ उत्तम संहनन वाले जीवका अन्तर्मुहूर्त तक किसी पदार्थ में चित्तकी गतिका स्थिर हो जाना है।

इस तरह समस्त पदोंका अर्थ–विवेचना के बाद गाथा का अर्थ यह है कि ध्यान में बैठा मुनि समस्त कषायों को तथा गारव, मद, राग, द्वेष, और व्यामोहको छोड़कर लोक-व्यवहार से विरत होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है। पूर्व गाथा में यह कहा

१–अंगेनइत्येव सूत्र परिवर्त्यते । [illegible]

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥ २८ ॥

मिथ्यात्वमज्ञानं पापं पुण्यं च त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
मौनव्रतेन योगी योगस्थो द्योतयति आत्मानम् ॥

मिच्छत्तं अण्णाणं मिथ्यात्वं बौद्धवैशेषिकचार्वाककणभक्षकापिलभट्टवेदान्तप्राभाकरश्वेतपटगौपुच्छिकयापनीयद्रामिलनिष्पिच्छाद्यनेकैकान्ताद्याश्रितमत. अज्ञानं मस्करपूरणमतं । *पावं पुण्णं चएवि तिविहेण* पापं पंचप्रकार प्राणातिपातानृतचौर्यमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनादिकं सप्तव्यसनादिलक्षणं च, पुण्यं शुभपुद्गलग्रहणलक्षणं स्वदुःखसहनं इत्यादिकं त्यक्त्वा परिहृत्य त्रिविधेन मनोवचनकाययोगप्रकारेण । *मोणव्वएण जोई* मौनव्रतेन वाग्व्यापाररहिततया योगी दिगम्बरः । *जोयत्था* योगस्थितः शुद्धोपयोगतल्लीनः द्योतयति ध्यायत्यात्मानं शरीरप्रमाणं निजजीवस्वरूपं ।

कथं मौनेन तिष्ठतीति प्राकृतवृत्तमाह—

था कि जो संसार सागर से पार होना चाहता है वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है और इस गाथा में शुद्ध आत्मा का ध्यान किस प्रकार किया जाता है यह बताया है ।

गाथामें आये हुए ध्यानस्थ शब्द की सिद्धि 'स्थश्च' इस सूत्रसे क प्रत्यय होकर हुई है । 'ध्याने तिष्ठतीति ध्यानस्थः' यह उसकी व्युत्पत्ति है ॥२७।

गाथार्थ—मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्यको मन वचन काय रूप त्रिविध योगों से छोड़कर जो योगी मौन व्रतसे ध्यानस्थ होता है वही आत्माको द्योतित करता है—प्रकाशित करता है—आत्मा का साक्षात्कार करता है ॥२८॥

विशेषार्थ—बौद्ध, वैशेषिक, चार्वाक, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक, वेदान्त, प्राभाकर (मीमांसकका एक भेद) श्वेताम्बर, गौपुच्छिक, यापनीय, द्रामिल और निष्पिच्छ आदि अनेक एकान्तवादियों के मत मिथ्यात्व कहलाते हैं । मस्कर—पूरण का मत अज्ञान नाम से प्रसिद्ध है । हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन तथा सप्त व्यसन आदि पाप कहलाते हैं । शुभ-पुद्गलों—पुण्य कर्म—वर्गणाओं का ग्रहण करानेवाला काय-क्लेश आदि पुण्य कहलाता है । इन सबका त्रिविध—मन वचन काय रूप योगोंके प्रकार से छोड़कर मौनव्रत से जो योगी योगस्थ होता है अर्थात् शुद्धोपयोग में तल्लीन होता है वह शरीर-प्रमाण आत्मा का ध्यान करता है ॥२८॥

आगे योगी मौन से क्यों रहता है ? इसका कारण बतलाने के लिये प्राकृत का अनुष्टुप् छन्द कहते हैं—

जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे णंत तम्हा जंपेमि केण हं ॥ २६ ॥

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
ज्ञायको दृश्यतेऽनन्तः तस्माज्जल्पामि केनाहम् ॥

जं मया दिस्सदे रूवं यन्मया दृश्यते रूपं तद्रूपं स्त्रीप्रभृतिशरीरादिकं दृश्यतेऽवलोक्यते रूपं रूपिपदार्थं तत् सर्वं पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वात्परमार्थतोऽचेतनं । *तण्ण जाणादि सव्वहा* तद्रूपं सर्वथा निश्चयनयेन न जानाति, अचेतनेन सह कथं जल्पामि । *जाणगं दिस्सदे णंतं* ज्ञायकमात्मानं रूपाश्रितं वस्तु, अनन्तमात्मतत्त्वमनन्तकेवलज्ञानस्वभावत्वादनन्तं यदहं तेन सह जल्पामि स तु जानात्येवात्मा । *तम्हा जंपेमि केण हं* तस्मात्कारणात् केन सहाहं जल्पामि, अथवा केन कारणेन जल्पामि तेन मे मौनमेव शरणं ।

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं ।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥ ३० ॥

गाथार्थ—जो रूप मेरे द्वारा देखा जाता है वह बिलकुल नहीं जानता और जो जानता है वह दिखाई नहीं देता तब मैं किसके साथ बात करूं ? ॥२९॥

विशेषार्थ—जो स्त्री आदिके शरीर आदि रूपी पदार्थ दिखाई देते हैं वे सब पुद्गल हैं तथा परमार्थ से अचेतन हैं—वे कुछ भी नहीं जानते हैं इसलिये अचेतन पुद्गल के साथ कैसे बात करूं ? और जो केवल ज्ञान रूप स्वभाव से युक्त होनेके कारण अनन्त आत्मतत्व अनुभवमें आता है वह मात्र ज्ञायक है–बोल नहीं सकता है, अतः किसके साथ बोलूं ? किसके साथ बात करूं ? अथवा किस कारण बोलूं ? यह विचार कर योगी मौनको ही शरण मानते हैं अर्थात् किसी से कुछ कहते नहीं हैं ॥२९॥

[जाणगं दिस्सदे णंतं—यहाँ संस्कृत टीकाकारने जो अनन्तं, छाया स्वीकृत की है तथा उसीके आधार पर संस्कृत टीका की है, उससे गाथाका भाव दूसरा होगया है। हमारी समझसे इसकी छाया 'न तत्' होना चाहिये और तब गाथाका अर्थ यह होता है जो आत्मा ज्ञायक है वह दिखाई नहीं देता । यही भाव पूज्यपाद ने इस गाथाकी अनुकृति कर जो श्लोक[1] लिखा है उससे प्रकट होता है । पं० जयचन्द्रजी ने अपनी वचनिका में 'न तत्' छाया स्वीकृत की भी है ।]

---

[1] यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा । जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥
—समाधितन्त्रे पूज्यपादस्य ।

सर्वास्रवनिरोधेन कर्म क्षिपयति संचितम् ।
योगस्थो जानाति योगी जिनदेवेन भाषितम् ॥

सव्वासवणिरोहेण सर्वेषामास्रवाणां मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणानां निरोधेन निषेधेन *कम्मं खवदि संचिदं* कर्म क्षिपयति पूर्वोपार्जितं तडागेऽभिनवजलप्रवेशाभावे संचितपूर्वजलशोषवत् । *जोयत्थो जाणए जोई* योगस्थः ध्यानस्थित आत्मैकलोलीभावमिलितो जानाति केवलज्ञानमुत्पादयति योगी शुक्लध्यानविशेषागमभाषया केवली भवति । *जिणदेवेण भासियं* सिद्धार्थनृपनन्दनेन वीरेण कथितमिति भावः ।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥ ३१ ॥

यः सुप्तो व्यवहारे स योगी जागर्ति स्वकार्ये ।
यो जागर्ति व्यवहारे स सुप्त आत्मनः कार्ये ॥

जो सुत्तो ववहारे यो मुनिः सुप्तः, क ? व्यवहारे व्यवहारमध्ये न पतितः । *सो जोई जग्गए सकज्जम्मि* स योगी जागर्ति सावधानो भवति, स्वकार्ये आत्मकार्ये कर्मक्षयविधाने । *जो जग्गदि ववहारे* यो योगी जागर्ति सावधानो भवति, क ? व्यवहारे लोकोपचारे । *सो सुत्तो अप्पणे कज्जे* स योगी मुनिः सुप्तो न वेद्यतेऽसावधानो भवति आत्मनः कार्ये आत्मस्वरूपे । उक्तं च—[1]

गाथार्थ—सब प्रकार के आस्रवों का निरोध होनेसे संचित कर्म नष्ट होजाते हैं तथा ध्यान-निमग्न योगी केवल ज्ञानको उत्पन्न करता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।३०॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार तालाब में नवीन जलके प्रवेश का अभाव होनेपर पहले का संचित पानी धीरे धीरे सूखकर नष्ट होजाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग रूप समस्त आस्रवोंका अभाव होजाने पर पहले के संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं और ध्यान में स्थित अर्थात् आत्मा में एक लोलीभाव–तन्मयी भावको प्राप्त हुआ योगी जानता है अर्थात् केवलज्ञान को उत्पन्न करता है । अथवा शुक्लध्यान रूप विशेष आगम की भाषा से केवली होता है, ऐसा भगवान् महावीर ने कहा है ॥३०॥

गाथार्थ—जो मुनि व्यवहार में सोता है वह आत्म-कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है वह आत्म-कार्य में सोता है ॥३१॥

विशेषार्थ—जो मुनि लौकिक कार्योंसे उदासीन रहता है वह कर्मक्षय रूप आत्म-

---

१—व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे । जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥ ७८ ॥
समाधिशतके पूज्यपादस्य ।

जा निसि सयलह देहियहं जोग्गिउ तहि जग्गेइ ।

जहि पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ ॥ ॥

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं ।

झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेण ॥ ३२ ॥

इति ज्ञात्वा योगी व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वम् ।

ध्यायति परमात्मानं यथा भणितं जिनवरेन्द्रेण ॥

इय जाणिऊण जोई इतीदृशमर्थं ज्ञात्वा, कोऽसौ ? योगी ध्यानवान मुनिः । *ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं* व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वं आत्मना सह एकलोलीभावं गते सति व्यवहारः स्वयमेव [न] तिष्ठति *झायइ परमप्पाणं* ध्यायति परमात्मानं—निजशुद्धबुद्धैकस्वभावे आत्मनि तल्लीनो भवति । *जह भणियं जिणवरिंदेण* यथा भणितं प्रतिपादितं जिनवरेन्द्रेण प्रियकारिणीप्रियपुत्रेण श्रीवीरवर्धमानस्वामिना ।

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।

रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥ ३३ ॥

पञ्चमहाव्रतयुक्तः पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।

रत्नत्रयसंयुक्तः ध्यानाध्ययनं सदा कुरु ॥

पंचमहव्वयजुत्तो पंचमहाव्रतयुक्तो दयावान सत्यवादी अदत्तादानविरतः सर्वस्त्रीसोदरः वस्त्रादिपरिग्रहरहितः दिवा एकवारं प्रत्युत्पन्नं प्रासुकं भुक्तं शुद्धं शोधितं भुंजानः । *पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु*

कार्य में सावधान रहता है और जो लौकिक कार्योंमें जागरूक है वह आत्म-कार्य में उदासीन रहता है । जैसा कि कहा है—

जा निसि—समस्त जीवोंके लिये जो रात्रि है उसमें योगी जागता है और जिसमें सब जगत् जागता है उसे योगी रात्रि कह कर सोता है ।

गाथार्थ—ऐसा जानकर योगी सब तरह से सब प्रकार के व्यवहार को छोड़ता है और जिनेन्द्र देवने जैसा कहा है उस प्रकार परमात्मा का ध्यान करता है ॥३२॥

विशेषार्थ—ऐसा जानकर ध्यानस्थ मुनि सब व्यवहार को सब प्रकार से छोड़ता है अर्थात् जब योगी आत्मा के साथ तन्मयी भावको प्राप्त होता है तब व्यवहार स्वयमेव नहीं ठहरता है तथा प्रियकारिणी–त्रिशला देवीके प्रियपुत्र श्री वर्धमान स्वामी ने जिस प्रकार कहा है उस तरह परमात्मा का ध्यान करता है ॥३२॥

गाथार्थ—हे मुने ! तू पांच महाव्रतों से युक्त होकर पांच समितियों तथा-तीन गुप्तियों में प्रवृत्ति करता हुआ रत्नत्रय से युक्त हो सदा ध्यान और अध्ययन कर ॥३३॥

ईर्यायां युगान्तरावलोकनगमनः, आगमोक्तभाषानिपुणः, चर्मजलस्पृष्टभोजनपरित्यागी हिंगुसंवासितव्यंजनाभोजनः अजिनसंगघृततैलपरिहारी, दृष्टमृष्टोपकरणग्रहणनिक्षेपः, प्रासुकारुद्धभूमिमलमूत्रव्युत्सर्जनकुशलः, अपध्यानमनोनिषेधी, मौनवान्, कूर्मवत्संकोचितकरचरणादिकायः । *रयणत्तयसंजुत्तो* मिथ्यात्वकंदकुद्दालः सम्यग्ज्ञानानुशीलनकुशलः सच्चारित्रपवित्रगात्रः । *झाणज्झयणं सया कुणह* ध्यानाध्ययनं सदा सर्वकालं कुरु त्वं हे जीव ! इति तात्पर्यार्थः ।

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ॥
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥ ३४ ॥

रत्नत्रयमाराधयन् जीव आराधको मुनितव्यः ।
आराधनाविधानं तस्य फलं केवलं ज्ञानम् ॥

[1]*रयणत्तयमाराहं* रत्नत्रयमाराधयन् । *जीवो आराहओ मुणेयव्वो* जीव आत्मा आराधको मुनि-

---

विशेषार्थ—हे जीव ! तू दयावान्, सत्यवादी, अदत्तादान से विरत, सब स्त्रियों के साथ सहोदर का व्यवहार करनेवाला, वस्त्रादि परिग्रह से रहित तथा दिन में एक बार प्रासुक, शुद्ध और शोधे हुए अन्न का आहार लेता हुआ पञ्चमहाव्रत का धारी हो। तदनन्तर पञ्चसमितियों और तीन गुप्तियोंका पालन करनेके लिये चलते समय एक युग प्रमाण भूमिको देखकर चलने वाला, आगमोक्त भाषा के बोलने में निपुण, चमड़े के वर्तन में रखे हुए जलसे छुए भोजन का त्यागी, हींगसे सुवासित शाक आदि को न खानेवाला, चमड़े के पात्र में रखे हुए घी तैल आदिका परित्याग करने वाला, देखभालकर कोमल उपकरण–पिच्छी से शुद्ध वस्तु को धरने उठाने वाला, प्रासुक तथा रोक टोक से रहित भूमि में मलमूत्र छोड़ने में कुशल, अपध्यान से मनको हटाने वाला, मौनवान् तथा कछुए के समान हस्त पादादिके कार्यको कछुएके समान संकोचित करने वाला बन तथा मिथ्यात्व रूपी कन्दको खोदने के लिये कुदाली स्वरूप, सम्यग्ज्ञानके अनुशीलन में अत्यन्त कुशल और सम्यक्चारित्र से पवित्र शरीर होकर अर्थात रत्नत्रय से युक्त होकर सदा ध्यान और अध्ययन कर ॥ ३३ ॥

गाथार्थ—रत्नत्रय की आराधना करनेवाले जीवको आराधक मानना चाहिये, आराधना करना सो आराधना है और उसका फल केवलज्ञान है ॥ ३४ ॥

विशेषार्थ—इस गाथामें आराधक, आराधना और आराधना का फल बतलाते हुए

१—रयणत्तयमाराहं अयं पाठः क. पुस्तके नास्ति, ख. पुस्तकात् संयोजितः ।

तव्यो (?) ज्ञातव्यः । *आराहणाविहाणं* इदमाराधनाविधनं विधिः । *तस्स फलं केवलं णाणं* तस्याराधना-विधानस्य, किं फलं केवलं ज्ञानं अनन्तकेवलज्ञानमिति अनन्तचतुष्टयं ।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।

सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ॥ ३५ ॥

सिद्धः शुद्धः आत्मा सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च ।

स जिनवरैः भणितः जानीहि त्वं केवलं ज्ञानम् ॥

सिद्धो सुद्धो आदा सिद्ध आत्मोपलब्धिमान् । शुद्धः कर्ममलकलंकरहितः, इदग्विध आत्मा अतति समयैकेन ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावेन त्रिभुवनाग्रं गच्छतीति आत्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः । *सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य* सर्वज्ञः त्रैलोक्यालोकस्वरूपज्ञायककेवलज्ञानसमुपेतः, सर्वलोकदर्शी च सर्वशब्देनालोकाकाशो लभ्यते लोकशब्देन षड्द्रव्याधारवत्त्रिभुवनमुच्यते तद्द्वयं दृष्टुं अवलोकयितुं शीलमस्येति सर्वलोकदर्शी । चकार उक्तविशेषणसमुच्चयार्थः तेनानन्तवीर्यानन्तसौख्यवदादिरनन्तगुणोऽपि गृह्यते । *सो जिणवरेहिं भणिओ* स एवं गुणविशिष्ट आत्मा जिनवरैस्तीर्थंकरपरमदेवैर्भणितः प्रतिपादितः । एवं गुणविशिष्टमात्मानं *जाण तुमं केवलं णाणं* जानीहि त्वं केवलं ज्ञानं, आत्मा खलु केवलं ज्ञानं—अभेदनयत्वात् ज्ञानमेवात्मानं जानीहि ।

रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण ।

सो झायदि अप्पाणं परिहरदि परं ण संदेहो ॥ ३६ ॥

कहा है कि जो मुनि रत्नत्रय को आराधना करता है वह आराधक है, आराधनाका करना आराधना कहलाती है तथा केवल ज्ञान उस आराधनाका फल है ॥ ३४ ॥

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ वह आत्मा सिद्ध है, शुद्ध है, आत्मा है, सर्वज्ञ है, सर्वलोक-दर्शी है, तथा केवल ज्ञानरूप है, ऐसा तुम जानो ॥ ३५ ॥

विशेषार्थ—जिनेन्द्र देवने जिस आत्माका प्रतिपादन किया है वह सिद्ध है—आत्मोपलब्धि से युक्त है । शुद्ध है—कर्ममल कलंक से रहित है । आत्मा है—ऊर्ध्व-गमन स्वभाव होनेसे एक समय में त्रिभुवन के अग्रभाग तक गमन करता है अथवा शुद्धबुद्धैक स्वभाव वाला है । सर्वज्ञ है—तीनों लोक तथा अलोक को जानने वाले केवलज्ञान से सहित है । सर्वलोक दर्शी है—अलोकाकाश और लोकको देखने वाला है । तथा अभेदनय से केवल ज्ञान रूप है । चकार से अनन्तवीर्य तथा अनन्त सुख-सम्पन्नता आदि अनन्त गुणोंसे युक्त है, ऐसा हे जीव ! तू जान ॥ ३५ ॥

गाथार्थ—जो योगी—ध्यानस्थ मुनि जिनेन्द्रदेवके मतानुसार रत्नत्रय को आराधना

रत्नत्रयमपि योगी आराधयति यः स्फुटं जिनवरमतेन ।
स ध्यायति आत्मानं परिहरति परं न सन्देहः ॥

रयणत्तयं पि जोई रत्नत्रयमपि योगी ध्यानवान् मुनिः, न केवलं गुणिनमात्मानं तद्गुणं रत्नत्रयमपीत्यपेरर्थः । *आराहइ जो हु जिणवरमएण* आराधयति यः संयमी हु—स्फुटं जिनवरमतेन सर्वज्ञवीतराग कथितमार्गेण । *सो झायदि अप्पाणं* स योगी ध्यायति चिंतयति, कं ? आत्मानं सहजानन्दस्वभावं जीवतत्वं । चकाराद्य आत्मा तद्रत्नत्रयं यद्रत्नत्रयं स आत्मा गुणगुणिनोरभेदनयात् *परिहरदि परं ण संदेहो* परिहरति परित्यजति, परं पुद्गलाद्यचेतनद्रव्यं, न सन्देहोऽत्रार्थे संशयो नास्ति ।

कह आदे रयणत्तयं हवदि तं जहा—

कथमात्मनि रत्नत्रयं भवतीति चेत् ? तद्यथा-तदत्र निरूपयति—

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥ ३७ ॥

यज्जानाति तज्ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं ज्ञेयम् ।
तच्चारित्रं भणितं परिहारः पुण्यपापानाम् ॥

जं जाणइ तं णाणं यज्जानाति तज्ज्ञानं आत्मैव जानाति तेनात्मैव ज्ञानमित्यर्थः । "कृत्ययुटोऽन्यत्रापि" इति वचनात् कर्तरि युट् । *जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं* यत्कर्तृभूतं, पश्यति तद्दर्शनं ज्ञेयं ज्ञातव्यं

करता है वह आत्मा का ध्यान करता है और पर-पदार्थ का परित्याग करता है इसमें संदेह नहीं है ॥ ३६ ॥

विशेषार्थ—जो ध्यानारूढ मुनि, सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित मार्ग से न केवल गुणी—आत्मा की आराधना करता है किन्तु आत्मगुण—रत्नत्रय की भी आराधना करता है वह सहजानन्द स्वभाव जीवतत्व का ध्यान करता है तथा पुद्गलादि अचेतन द्रव्योंका परित्याग करता है इसमें संशय नहीं है । यहां गुणी और गुण में अभेदनय की अपेक्षा से कहा गया है कि जो आत्मा है वही रत्नत्रय है ॥३६॥

आगे आत्मा में रत्नत्रय किस प्रकार रहते हैं यही निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है—सामान्य अवलोकन करता है वह दर्शन है और जो पुण्य पाप का परित्याग है वह चारित्र है ॥ ३७ ॥

विशेषार्थ—'जो जाने सो ज्ञान है' इस व्युत्पत्ति से आत्मा जानता है अतः आत्मा ही ज्ञान है । यहां 'कृत्ययुटोऽन्यत्रापि' अर्थात् कृत्य संज्ञक तथा युट् प्रत्यय कर्म और भाव के सिवाय अन्यवाच्य—कर्तृवाच्य में भी प्रत्यय होते हैं इस वचन से कर्तृवाच्य में युट्

आत्मैव पश्यति तेन कारणेनात्मैव दर्शनं । अत्रापि पूर्ववत् कर्तरि युट् । तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्ण-पावाणं तच्चारित्रं भणितं प्रतिपादितं, तत्किं ? परिहारः पुण्यपापानां आत्मैव पुण्यं पापं च परिहरति तेनात्मैव चारित्रं । "पापक्रियाविरमणं चरणं किल" इति वचनात् । तथा चोक्तं—

न किंचित् पापाय प्रभवति न वा पुण्यततये
प्रसिद्धेद्धां शुद्धिं समधिवसतो ध्वंसविधुरां ।
भवेत् पुण्यायैवाखिलमपि विशुद्ध्यंगमपरं
मतं पापायैवेत्युदितमवताद्वो मुनिपतेः ॥ १ ॥

मुनिपतिरत्र विद्यानन्दी समन्तभद्रो वा मंतव्यः ।

अण्णं च — अन्यच्च वचनमस्तीति भगवंतो निरूपयन्ति—

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो पयंपियं जिणवरिंदेहिं ॥ ३८ ॥

तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वग्रहणं च भवति संज्ञानम् ।
चारित्रं परिहारः प्रजल्पितं जिनवरेन्द्रैः ॥

प्रत्यय हुआ है । इसी तरह जो देखे वह दर्शन है इस व्युत्पत्ति से आत्मा ही दर्शन है । यहां भी पूर्वकी तरह कर्तृ वाच्य में ट् प्रत्यय जानना चाहिये पुण्य और पापका जो परित्याग करता है वह चारित्र है इस व्युत्पत्ति के आधार पर आत्मा ही पुण्य और पाप का परित्याग करता है अतः आत्मा ही चारित्र है । यथार्थ में गुण और गुणी में अभेद की विवक्षा से यहां गुणी–आत्मा को गुण–ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप कहा गया है । जैसा कि कहा है—

न किंचित्—प्रसिद्ध देदीप्यमान तथा विनाश से रहित शुद्धिको प्राप्त होनेवाले साधुके कोई वस्तु न तो पापके लिये होती है और न कोई वस्तु पुण्यके लिये होती है । उसका जितना भी विशुद्धिका अङ्ग है वह सब पुण्यके लिये हो है और जितना अविशुद्धि का अङ्ग है वह सब पापके लिये ही है, इस प्रकार मुनिपति–मुनीन्द्र का कथन तुम सबकी रक्षा करे ।

यहां मुनिपति शब्दसे विद्यानन्दी अथवा समन्तभद्रको समझना चाहिये ॥३७॥

आगे और भी इसी प्रकार का वचन है यह कुन्दकुन्द भगवान् कहते हैं—

गाथार्थ—तत्वरुचि होना सम्यग्दर्शन है, तत्वज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और पाप का परिहार होना सम्यक्चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥३८॥

तच्चरुई सम्मत्तं तत्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्वानां जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षलक्षणोपलक्षितानां सप्तानां रुचिः श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते । "तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" इति वचनात् । *तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं* तत्वानां पूर्वोक्तसप्तपदार्थानां ग्रहणं सम्यग्विज्ञानं भवति सज्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं । *चारित्तं परिहारो* चारित्रं पापक्रियापरिहरणं परिहारः सम्यक्चारित्रं भवति । *पयंपियं जिणवरिंदेहि* प्रजल्पितं कथितं जिनवरेन्द्रैः ।

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।
दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं ॥ ३९ ॥

दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणम् ।
दर्शनविहीनपुरुषः न लभते तं इष्टं लाभम् ॥

दंसणसुद्धो सुद्धो दर्शनेन सम्यग्दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धो निर्मलो निरतिचारः पंचविंशतिदोषरहितः पुमान् शुद्धः कथ्यते । उक्तं च—

सम्यग्दर्शनसंशुद्धमपि मातंगदेहजं ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं ॥ १ ॥

दंसणसुद्धो लहइ णिव्वाणं दर्शनशुद्धः पुमांल्लभते निर्वाणं मोक्षं । *दंसणविहीणपुरिसो* दर्शनविहीनः पुरुषः सम्यग्दर्शनरहितः पुमान् सम्यक्त्वविवर्जितो जीवः । *न लहइ तं इच्छियं लाहं* न लभते न प्राप्नोति तं जगत्प्रसिद्धं योगिनां प्रत्यक्षं इष्टं लाभं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षपदार्थं ।

विशेषार्थ—जीव अजीव आस्रव बन्ध सवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वोंकी रुचि-श्रद्धा होना सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहलाता है । क्योंकि 'तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् यथार्थतासे सहित जीवादि तत्वोंका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है, ऐसा आगम में कहा गया है । पूर्वोक्त सात तत्वोंका ग्रहण करना अर्थात् उनके यथार्थ स्वरूपको जानना सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और पापका परित्याग होना सम्यक्चारित्र कहलाता है, ऐसा जिनवरेन्द्र-तीर्थंकर सर्वज्ञ देवने कथन किया है ॥३८॥

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य, शुद्ध कहलाता है सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य निर्वाणको प्राप्त होता है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित है वह इष्ट लाभ को नहीं पाता

विशेषार्थ—जो मनुष्य सम्यग्दर्शन में कभी अतिचार नहीं लगाता तथा पच्चीस दोषों से रहित है वह शुद्ध कहलाता है । कहा भी है—

सम्यग्दर्शन—सम्यग्दर्शन से शुद्ध चाण्डाल को भी गणधरादिक देव, भस्मके भीतर छिपे अङ्गार के समान आभ्यन्तर तेजसे युक्त देव कहते हैं ।

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु ।
तं सम्मत्तं भणियं समणाणं सावयाणं पि ॥ ४० ॥

इति उपदेशः सारो जन्ममरणहरं स्फुटं मन्यते यत्तु ।
तत् सम्यक्त्वं भणितं श्रमणानां श्रावकाणामपि ।

इय उवएसं सारं इतीदृश उपदेशः संबोधवचनं, सारं-सारः श्रेष्ठतरः ।

श्रेष्ठे १बले स्थिरस्वान्ते मज्जायां सार उच्यते ।
जले न्याय्ये धने विद्भिः सारमुक्तं नपुंसके ॥ १ ॥

जरमरणहरं खु मण्णए जं तु जरामरणहरं जरामरणविनाशकं इमं उपदेशं मन्यते श्रद्दधाति यत्तु यत् श्रद्धत्ते तु पुनः । *तं सम्मत्तं भणियं* तत्सम्यक्त्वं भणितं प्रतिपादितं । *समणाणं सावयाणं पि* श्रमणानां अनगारयतीनां श्रावकाणामपि गृहस्थानां । अपिशब्दाच्चातुर्गतिकजीवानामपि ।

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएणं ।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरिसीहिं ॥ ४१ ॥

जिस मनुष्य का सम्यग्दर्शन शुद्ध है वह निर्वाण को प्राप्त होता है । सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य इष्ट लाभको—सर्वकर्मक्षय रूप मोक्षको नहीं पाता ॥ ३९ ॥

गाथार्थ—यह श्रेष्ठतर उपदेश स्पष्ट ही जन्म मरण को हरने वाला है इसे जो मानता है—इसकी श्रद्धा करता है वह सम्यक्त्व है । यह सम्यक्त्व मुनियों के, श्रावकों के तथा चतुर्गति के जीवोंके होता है ॥ ४० ॥

विशेषार्थ—यहां सार शब्दका अर्थ श्रेष्ठतर—अत्यन्त श्रेष्ठ है । जैसा कि कहा है—

श्रेष्ठेबले—पुंलिङ्ग सार शब्द श्रेष्ठ, बल, दृढचित्त, और मज्जा अर्थ में कहा जाता है और नपुंसक लिङ्ग सार शब्द जल, न्यायपूर्ण बात, और धन अर्थ में विद्वानों द्वारा प्रयुक्त होता है ।

इस पूर्वोक्त अत्यन्त श्रेष्ठ उपदेशको जो जरा और मरणका नाश करनेवाला मानता है वह सम्यक्त्व कहा गया है । यह सम्यग्दर्शन श्रमण—दिगम्बर मुनियों के, श्रावकों के और अपि शब्द से चारों गतियों के जीवोंके होता है । सम्यक्त्व की प्राप्ति चारों गतियोंके संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक भव्य जीवको हो सकती है ॥ ४० ॥

गाथार्थ—जो मुनि जिनेन्द्रदेव के मतसे जीव और अजीवके विभाग को जानता है

१—अमरेऽप्युक्तं—"सारो बले स्थिरांशे न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु ।"

जीवाजीवविभक्तिं योगी जानाति जिनवरमतेन ।
तत् संज्ञानं भणितं अवितथं सर्वदर्शिभिः ॥

जीवाजीवविहत्ती जीवाजीवानां विभक्तिः भेदस्तां जीवाजीवविभक्तिं । *जोई जाणेइ जिणवरमएणं* योगी दिगम्बरो मुनिः, जानाति वेत्ति यथावत्स्वरूपमवैति, जिनवरमतेन सर्वज्ञशासनेन । *तं सण्णाणं भणियं* तत्संज्ञानं भणितं-तत्सम्यग्ज्ञानं कथितं । *अवियत्थं सव्वदरिसीहिं* अवितथं सत्यभूतं, सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञैरिति शेषः । उक्तं च—

[1]अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ १ ॥

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएण ॥ ४२ ॥

यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्यपापयोः ।
तत् चारित्रं भणितं अविकल्पं कर्मरहितेन ॥

उसे सर्वदर्शी भगवान् ने यथार्थ सम्यग्ज्ञान कहा है ॥४१॥

विशेषार्थ—यद्यपि तत्व सात हैं तथापि संक्षेपसे उनका समावेश जीव और अजीव इन दो तत्वोंमें हो जाता है इस दृष्टिको हृदयस्थ कर श्रीकुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि जो जिनेन्द्रदेव के मतानुसार जीव और अजीवके विभाग को जानता है अर्थात् शुद्ध-बुद्ध स्वभाव आत्मा और उसके साथ लगे हुए कर्म नोकर्म तथा भावकर्म के विभाग को अच्छी तरह समझता है उसे सर्वज्ञ देवने सत्यभूत सम्यग्ज्ञान कहा है । कहा भी है—

अन्यून—जो ज्ञान वस्तुके स्वरूपको न्यूनता रहित, अधिकता रहित, जैसाका तैसा, विपरीतता के विना और संशय-रहित जानता है उसे आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

गाथार्थ—यह सब जानकर योगी जो पुण्य और पाप दोनोंका परिहार करता है उसे कर्म-रहित सर्वज्ञ देवने निर्विकल्पक चारित्र कहा है ।

विशेषार्थ—चारित्र का यथार्थ लक्षण आत्मस्वरूप में स्थिरता है । जब तक इस जीवकी पुण्य अथवा पाप में प्रवृत्ति होती रहती है तब तक स्वरूप की स्थिरता नहीं होती क्योंकि पुण्य और पाप की प्रवृत्ति कषायसे जन्य है तथा कषाय-जन्य होनेसे उसमें अनेक

१—रत्नकरण्डश्रावकाचारे ।

जं जाणिऊण जोई यज्ज्ञात्वा विज्ञाय योगी जैनो मुनिः । *परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं* परिहारं परित्यागं करोति पुण्यपापयोः । *तं चारित्तं भणियं* तदात्मना सह कल्लोलीभावः तन्मयत्वं तत्परत्वं तन्निष्ठत्वं तदेकतानत्वं चारित्रं परमोदासीनतालक्षणं भणितं प्रतिपादितं । केन, *कम्मरहिएण* घातिकर्मविध्वंसकेन सर्वज्ञेन । तत्कथंभूतं चारित्रं, *अवियप्पं* अविकल्पं संकल्पविकल्परहितं निर्विकल्पसमाधिलक्षणं यथाख्यातनामकं ।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए ।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ४३ ॥

यो रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या ।
स प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मानं शुद्धम् ॥

जो रयणत्तयजुत्तो यो जैनो मुनी रत्नत्रययुक्तः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसंहितः सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमुपेतः *कुणइ तवं संजदो ससत्तीए* करोति विदधाति सम्यगनुतिष्ठति, किं तत् ? तप इच्छानिरोधलक्षणं आत्मनि ज्ञानवत्तया तपनं, संयतो जैनो मुनिः परमोदासीनतालक्षणसंयमं सम्पन्नः, स्वशक्त्या आत्मशक्त्यनुसारेण । उक्तं च—

संकल्प विकल्प उठते रहते हैं । संकल्प विकल्प दशा में निर्विकल्प समाधिरूप यथाख्यात चारित्र का प्रकट होना असंभव है, इसलिये आचार्य महाराज ने कहा कि योगी—जैन मुनि वस्तुस्वरूप को जानकर जो पुण्य और पाप दोनोंका परित्याग करता है अर्थात् परम शुद्धोपयोग रूप अवस्था को प्राप्त होता है उसे घातिया कर्मोंका क्षय करने वाले सर्वज्ञ देवने निर्विकल्प समाधि रूप यथाख्यात नामका चारित्र कहा है ॥४२॥

गाथार्थ—रत्नत्रय को धारण करने वाला जो मुनि शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ अपनी शक्ति से तप करता है वह परम पद को प्राप्त होता है ॥४३॥

विशेषार्थ—जो जैन मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे युक्त होता हुआ अपनी शक्तिके अनुसार इच्छा-निरोध रूप तपको करता है वही वास्तव में संयत है अर्थात् परम उदासीनता रूप संयम को प्राप्त है । ऐसा संयत यदि द्रव्यकर्म भावकर्म और नो कर्म से रहित अथवा रागद्वेष मोह आदिसे रहित अथवा कर्म-मल-कलंक से रहित शुद्ध-बुद्धैक स्वभावसे युक्त निज आत्माका ध्यान करता है तो वह परम पद—इन्द्र धरणेन्द्र मुनीन्द्र और नरेन्द्रोंके द्वारा वन्दित परम निर्वाण को प्राप्त होता है । तप शक्तिके अनुसार होता है क्योंकि 'शक्तितस्त्यागतपसी'—त्याग और तप शक्ति के अनुसार होते हैं ऐसा

१—रत्नकरण्डश्रावकाचारे ।

[1]जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहइ।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥ १ ॥

"शक्तितस्त्यागतपसी" इति वचनात्। *सो पावइ परमपयं* स प्राप्नोति स मुनिर्लभते, किं तत्? परमपदं इन्द्रधरणेन्द्रमुनीन्द्रनरेन्द्रवदितं स्थानं परमनिर्वाणं। *झायंतो अप्पयं सुद्धं* ध्यायन् सन् एकाग्रतया चिन्तयन्, कं? आत्मानं निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मतत्त्वं, शुद्धं द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितं रागद्वेषमोहादिविवर्जितं कर्ममलकलङ्करहितं प्रत्यक्षतया प्राप्तमिति तात्पर्यार्थः।

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई॥ ४४ ॥

त्रिभिः त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेण परिकलितः।
द्विदोषविप्रमुक्तः परमात्मानं ध्यायति योगी ॥

तिहि त्रिभिः मनोवचनकायैः। *तिण्णि धरवि* त्रीन् वर्षाशीतोष्णकालयोगान् धृत्वा। "तुआण तूणाव तुम् च क्त्वायाः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण क्त्वास्थानेऽव-आदेशः तेन धृत्वा इत्यस्य स्थाने धरवि इति प्रयोगः साधुः। *णिच्चं* सर्वदा सर्वस्मिन् दीक्षाकाले। *तियरहिओ* मायामिथ्यात्वनिदानशल्यत्रिकरहितः। *तह तिएण परियरिओ* तथा तेनैव त्रिकरहितप्रकारेण, त्रिकेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेण, परकरितो मंडितः। *दोदोसविप्पमुक्को* द्विदोषविप्रमुक्तः विशेषेण प्रकर्षेण रागद्वेषदोषरहितः। *परमप्पा झायए जोई* परमात्मानं सिद्धस्वरूपमात्मानं ध्यायति चिंतयति योगी ध्यानवान् मुनिः। अथवा योगीति योगबलेन मनोवाक्काययोगावष्टम्भेन।

आगम का वचन है। और भी कहा है—

जं सक्कइ—जो किया जा सके उसे करना चाहिये और जो न किया जा सके उसका श्रद्धान करना चाहिये क्योंकि श्रद्धान करने वाला जीव भी अजर अमर पदको प्राप्त होता है ॥४३॥

गाथार्थ—तीनके द्वारा तीन को धारण कर, निरन्तर तीनसे रहित, तीनसे सहित और दो दोषों से मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है ॥४४॥

विशेषार्थ—तीनके द्वारा अर्थात मन वचन कायके द्वारा तीनको अर्थात् वर्षा कालयोग, शीतकाल योग और उष्णकालयोगको धारण कर निरन्तर अर्थात् दीक्षाकालसे लेकर तीनसे रहित अर्थात माया मिथ्यात्व और निदान इन शल्योंसे रहित, तीनसे सहित अर्थात्

---

[1]— जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं। केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥ २२॥ दर्शनप्राभृते।

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥ ४५ ॥

मदमायाक्रोधरहितः लोभेन विवर्जितश्च यो जीवः ।
निर्मलस्वभावयुक्तः स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥

मयमायकोहरहिओ मदमायाक्रोधरहितः । *लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो* लोभेन विवर्जितश्च यो जीव आत्मा । *णिम्मलसहावजुत्तो* निर्मलस्वभावः रागादिरहितः परिणामस्तेन संयुक्तः । *सो पावइ उत्तमं सोक्खं* स जीवः प्राप्नोति लभते, किं ? उत्तमं सौख्यं कर्मक्षयसंजातं-इन्द्रियसुखरहितं-इन्द्रादीनामपि दुर्लभं सौख्यं परमानन्दलक्षणं । तथा चोक्तं—

जं मुणि लहइ अणंतसुहु णियअप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदु वि ण वि लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥ १ ॥

विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो ।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥ ४६ ॥

विषयकषायैर्युक्तः रुद्रः परमात्मभावरहितमनाः ।
स न लभते सिद्धिसुखं जिनमुद्रापराङ्मुखो जीवः ॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से सहित और दो दोषों से विप्रमुक्त अर्थात् राग, द्वेष इन दोषोंसे सर्वथा रहित योगी—ध्यानस्थ मुनि परमात्मा अर्थात् सिद्धके समान उत्कृष्ट निज-स्वरूप का ध्यान करता है ॥ ४४ ॥

गाथार्थ—जो जीव मद माया और क्रोधसे रहित है, लोभसे वर्जित है तथा निर्मल स्वभाव से युक्त है, वह उत्तम सुखको प्राप्त होता है ॥४५॥

विशेषार्थ—यह जीव क्रोध, मान, माया, और लोभ, इन चार कषायों के कारण स्वभाव से च्युत हो रहा है, इसलिये इन चारों कषायोंका अभाव करके जो रागादि परिणाम से रहित होता हुआ निर्मल स्वभाव से युक्त हो गया है वही जीव कर्म-क्षयसे उत्पन्न होनेवाले, इन्द्रियसुखसे रहित देव-दुर्लभ परमानन्द रूप उत्तम सुखको प्राप्त होता है ।

जैसा कि कहा गया है—

जंमुणि—निज आत्माका ध्यान करता हुआ मुनि जिस अनन्त सुखको प्राप्त करता है उस सुखको करोडों देवियोंके साथ रमण करता हुआ भी इन्द्र नहीं प्राप्त करसकता है

गाथार्थ—जो विषय कषाय से युक्त है जिसका मन परमात्माकी भावनासे रहित है तथा जो जिन-मुद्रासे पराङ्मुख—भ्रष्ट हो चुका है ऐसा रुद्रपद धारी जीव सिद्धि सुख

विसयकसाएहि जुदो विषयैः वनिताजनानामालिंगनादिस्पर्शादिपंचेन्द्रियसुखैः कषायैश्च क्रोधमानमायालोभैः *युतः संहितः* । *रुद्दो परमप्पभावरहियमणो* रुद्रः सत्यकिमहाराजपुत्रः परमात्मभावरहितमनाः परमात्मभावनायाः प्रभृष्टः । *सो न लहइ सिद्धिसुहं* स रुद्रो न लभते न प्राप्नोति, किं ? सिद्धिसुखं आत्मोपलब्धिसुखं । तर्हि किं लभते नरकदुःखं लभते ? इत्यर्थापत्तिः । *जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो* जिनमुद्रापराङ्मुखो जीवः—जिनमुद्रां परित्यज्य भ्रष्टो बभूवेति भावार्थः ।

रुद्रस्य कथा यथा—अथेह भरतक्षेत्रे विजयार्धपर्वते दक्षिणश्रेण्यां किन्नरगीतनगरे रत्नमाली खगनरेन्द्रो मनोहरी विद्याधरी कान्ता, तत्पुत्रो रुद्रमाली । स एकस्मिन् दिने स्वच्छन्दं वने विहरमाणो विद्यां साधयन्तीं विद्याधरकुमारीं ददर्श । तद्रूपमोहितो विद्यया भ्रमरो बभूव । षण्मासपर्यन्तं तद्वदनकमलस्थितिं चकार । पुनः सूक्ष्मो भूत्वा स्तनयोर्जघने च तस्थौ । पश्चात्प्रकटीकृतनिजशरीरः स तया परिगलितधैर्यो भणितः—प्रतीक्षस्व कियत्कालं तावत् विघ्नं मा कार्षीः । शिखिदुर्लभा विद्या सिद्धयति तस्यां सिद्धायां तव जाया भविष्यामि । हे सुभग ! बद्धानुरागाहं वर्ते । तदा तेन सा पृष्टा । भद्रे ! त्वं कस्य [1]धूदा ? । भणितं च तया । अत्रैव पर्वते उत्तरस्यां श्रेण्यां गन्धर्वपुरपत्तनाधीशो मम पिता महाबलः । तस्य प्रभाकरी भार्या । तयोर्धूदा प्रसिद्धाहमर्चिमालिनी । तयापि पृष्टः त्वं कः ? स आह अत्र गिरौ दक्षिणश्रेण्यां किन्नरगीत-

को प्राप्त नहीं होता ।। ४६ ।।

विशेषार्थ—स्त्रीजनों के आलिङ्गन आदि पञ्चेन्द्रियों के विषयों तथा क्रोध, मान, माया, और लोभ कषाय से युक्त होनेके कारण जिसका मन परमात्मा की भावना से हट गया है तथा जो जिन-मुद्राको छोड़कर भ्रष्ट हो चुका है ऐसा रुद्र मोक्ष सम्बन्धी सुखको प्राप्त नहीं होता किन्तु नरक के दुःखको प्राप्त होता है । रुद्र की कथा इस प्रकार है—

रुद्र की कथा

अथानन्तर इसी भरत क्षेत्रके विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में एक किन्नर गीत नामका नगर है । उसमें रत्नमाली नामका विद्याधरों का राजा रहता था । उसकी स्त्रीका नाम मनोहरी विद्याधरी था । उन दोनोंके रुद्र-माली नामका पुत्र था । एक दिन वह स्वच्छन्दता पूर्वक वनमें विहार कर रहा था । उसी समय उसने विद्या सिद्ध करती हुई एक विद्याधर कुमारी को देखा । उसके रूपसे मोहित होकर रुद्रमाली विद्यासे भ्रमर बनगया और छह महीने तक उसके मुख कमलमें रहा आया । उसके बाद और भी सूक्ष्म रूप बना कर स्तनों तथा जघन प्रदेश में रहा आया । पश्चात् उसने अपना असली शरीर प्रकट किया उस समय उसका धैर्य छूट रहा था अर्थात् वह उस विद्याधर-कुमारी को पानेके

[1]—सुता (क० टि०) ।

प्रभुरत्नमालिमनोहर्योः सुतोऽहं रुद्रमाली नाम। बहुभिर्दिनैः साधितविद्यार्चिमालिनीन्दुवदना सदनं जगाम। मातरपितरौ द्वयोर्मनो विज्ञाय तयोर्विवाहं चक्रतुः। तौ रतिरसरंजितौ साधितप्रज्ञप्तिविद्यौ नन्दनवने शान्तिहेतवे जिनस्नपनपूजनस्तवनानि कृत्वा सुखं स्थितौ। मनोजयचित्तवेगौ तस्या मैथुनिकावागत्य महाजालिनीविद्यया रुद्रमालिनं बद्ध्वा प्रगृह्य गतौ। सोऽपि तौ निर्जित्य पुनरागतः। अर्चिमालिन्या सह निजपुरं प्रविवेश। सानुरागस्तस्थौ। एकदा वैराग्यं प्राप्य चारणचरणमूले सभार्यो दिदीक्षे। तौ परस्परं ममायं कान्तो भविष्यति ममेयं प्राणप्रिया भविष्यतीति सनिदानौ सौधर्मं संन्यासेन गतौ। तत्रापि दीर्घकालं रतिसुखं भुक्त्वा गन्धारदेशे माहेश्वरपुरे स देवः सत्यन्धरमहाराजसत्यव्रतयोः सुतः सात्यकिर्जातः। अर्चिमालिनीचरी देवी सौधर्माच्च्युत्वा सिन्धुदेशे विशालीपत्तने चेटकमहाराजसुप्रभादेव्योः सुता ज्येष्ठा

लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा था यह देख विद्याधर कुमारी ने कहा कि कुछ समय तक प्रतीक्षा करो, विघ्न मत करो। शिखिदुर्लभा नामकी विद्या सिद्ध हो रही है उसके सिद्ध होनेपर मैं तुम्हारी स्त्री बन जाऊंगी। हे सुभग ! मैं तुम्हारे प्रति बद्धानुराग हूं।

उस समय रुद्रमाली ने उससे पूछा कि हे भद्रे ! तू किसकी पुत्री है ? उसने कहा कि इसी पर्वत की उत्तर श्रेणीपर गन्धर्वपुर नगर का राजा महाबल रहता है वह मेरा पिता है उसको स्त्रीका नाम प्रभाकरी है मैं अर्चिमालिनी नामसे प्रसिद्ध उन्हीं दोनों की पुत्री हूं इस प्रकार अपना परिचय देकर विद्याधर कुमारीने भी पूछा कि तुम कौन हो ? तब रुद्रमाली ने कहा कि इसी पर्वत की दक्षिण श्रेणी पर किन्नर गीत नामका नगर है। उसके राजा रत्नमाली और रानी मनोहरा का मैं रुद्रमाली नामका पुत्र हूं।

बहुत दिनोंमें विद्या सिद्ध कर, चन्द्रमुखी, इन्दुमालिनी अपने घर चली गई। माता पिता ने दोनोंका मन जानकर उनका विवाह कर दिया। रतिके रागसे रगे तथा प्रज्ञप्ति नामक विद्या को सिद्ध करने वाले वे दोनों शान्तिके हेतु नन्दन वनमें जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक पूजन तथा स्तवन कर सुखसे बैठे थे। इतने में मनोजय और चित्तवेग नामके दो विद्याधर जो कि अर्चिमालिनी के अभिलाषी थे महाजालिनी विद्यासे रुद्रमाली को बांधकर ले गये। परन्तु रुद्रमाली उन दोनोंको जीतकर फिर आगया। अर्चिमालिनीके साथ उसने नगर में प्रवेश किया तथा अनुराग पूर्वक रहने लगा।

एक दिन उसने विरक्त होकर चारण ऋद्धिधारी मुनिके चरण मूलमें स्त्रीके साथ दीक्षा लेली अर्थात् रुद्रमाली मुनि होगया और अर्चिमालिनी आर्यिका बन गई। उन दोनों ने 'परस्पर यह मेरा पति होगा और यह मेरी स्त्री होगी' इस प्रकार निदान कर संन्यास धारण किया और मरकर सौधर्म स्वर्ग गये। वहां भी दीर्घकाल तक रति सुखका उपभोग

ज्ञाता । सा सात्यकेः पूर्वमेव दत्ता । परं विवाहो न वर्तते । अत्रान्तरे श्रेणिकमहाराजपुत्रः कन्यार्थं सार्थवाहो भूत्वा अभयकुमारो नाम धूर्तस्तत्रागतः । तत्र राजपुत्र्यौ चेलनां ज्येष्ठां च चालयित्वा उपायं कृत्वा सुरंगया निःसृतः । तत्र चेलनया ज्येष्ठा आभरणादिमिषेण व्याघोटिता स्वयं श्रेणिकं आगता । यावज्ज्येष्ठा जिनप्रतिमां गृहीत्वा गच्छति तावत्तत्र कोऽपि न दृष्टः । ज्येष्ठा तु लज्जिता "अहं बृहद्भगिन्या वञ्चिता" इति वैराग्येण पितृष्वसुर्यशस्वत्या[1]श्चैत्यालये स्थितायाश्चरणमूले दीक्षां जग्राह । कनककांचनवर्णायाः कन्याया वार्तां श्रुत्वा सत्यकिर्नाम कुमारः संसाराद्विरक्तो राज्यलक्ष्मीं परित्यज्य समाधिगुप्तं नत्वा जिनदीक्षामग्रहीत् । त्रिगुप्तिगुप्तः सन् स तपस्तीव्रं कुर्वाण उत्तरगोकर्णमद्रिं मुक्त्वा कदाचित् राजगृहनगरसमीपे उच्चग्रीवपर्वते स्थितः । एकस्मिन् दिने तद्गुणानुरागिण्यस्तत्रत्यार्यास्तं वन्दितुमागताः । वन्दित्वा यावत्गिरेरवतरन्ति तावन्महामेघवृष्टिरागता । आर्यास्तु स्तिम्यन्त्यो विह्वलीभूतं यत्र तत्र गताः । ज्येष्ठाया सात्यकिमुनेर्गुहां प्रविष्टा । तत्र वस्त्रं निष्पीलयन्ती ज्येष्ठा सात्यकिना मुनिना दृष्टा । समुत्पन्नकामोद्रेकेण

कर देव तो गन्धार देशके माहेश्वर पुरनगर में महाराज सत्यन्धर और उनकी रानी सत्यवतीके सात्यकि नामका पुत्र हुआ । तथा अर्चिमालिनी का जीव देवी सौधर्म स्वर्गसे च्युत हो सिन्धुदेश के विशाली नगर में महाराज चेटक और उनकी रानी सुप्रभादेवी के ज्येष्ठा नामकी पुत्री हुई । ज्येष्ठा सात्यकि के लिये पहले ही देदी थी परन्तु विवाह नहीं हुआ था

इसी बीच में महाराज श्रेणिक का पुत्र धूर्त अभय कुमार कन्या के लिये सेठ बन कर वहां आया । वहां उसने राजा की दो पुत्रियों चेलना और ज्येष्ठा को चला दिया और उपाय कर सुरङ्ग द्वारा निकल गया । उन दोनों पुत्रियों में चेलना ने ज्येष्ठा को आभरण आदिके बहाने वापिस लौटा दिया और स्वय अकेली श्रेणिकके पास आगई । जिन प्रतिमा लेकर जब ज्येष्ठा वहां पहुंची तब वहां कोई नहीं दिखा इस घटना से ज्येष्ठा बहुत लज्जित हुई 'मैं बड़ी बहिन के द्वारा ठगी गई' इस अभिप्राय से विरक्त होकर उसने अपनी बुआ यशस्वती नामकी आर्यिका के जो कि जिन मन्दिरमें रहती थी चरण मूलमें दीक्षा धारण करली देदीप्यमान सुवर्णके समान वर्ण वाली ज्येष्ठा कन्याका दीक्षालेने का समाचार सुनकर सात्यकि नामक कुमार भी संसारसे विरक्त होगया उसने राज्यलक्ष्मी का परित्याग कर समाधि गुप्त नामक मुनिराज को नमस्कार पूर्वक जिनदीक्षा ले ली । तीन गुप्तियोंसे युक्त होकर तीव्र तप तपश्चरण करते हुए सात्यकि मुनि एकवार उत्तर गोकर्ण पर्वत को छोड़कर राजगृह नगर के समीप उच्चग्रीव पर्वत पर स्थित हुए । एक दिन उनके गुणों में अनुराग रखनेवाली आर्यिकाएं उनकी वन्दना करनेके लिये आईं । वन्दना करके ज्योंही ही वे पर्वत से उतरने लगीं त्योंही बहुत भारी मेघवृष्टि आ पहुंची । आर्यिकाएं भीग कर विह्वल होती हुई इधर उधर चली गईं । परन्तु ज्येष्ठा नामकी

१—आर्यिकायाः

सा तेन भुक्ता । पुनरालोचनां निन्दां गर्हणां च कृत्वा श्रमणधर्मे स्थितः । सा सगर्भा शान्त्यार्यया ज्ञात्वा चेलन्याः समर्पिता । तत्र तिष्ठन्ती सा पुत्रमसूत । स पुत्रोऽभयकुमारेण स्वयंभूगुहायां क्षिप्तः । तत्र रात्रौ स्वप्नदर्शनाच्चेलनया स आनायितः । [1]दर्शनोड्डाहं शमयित्वा स्वयंभूनामा कृतः । ज्येष्ठा तु निःशल्या भूत्वा गता । आर्यायाः पार्श्वे संयमनियमान पालयन्ती स्थिता । स्वयंभूस्तु वर्धमानः शिशूनां चपेटादिताडनेन सन्तापं करोति । तद्दृष्ट्वा चेलनया अपरमपि कालेनायुक्त दृष्ट्वा स्वयभूरुक्त । खलो जारजातो निर्लज्जः किं केनापि स्वभावं मुंचति भ्रकुटिं कृत्वा दुर्वचनेन शूलभिन्न इव ताडितः । पुनः स प्रणामं कृत्वा पृष्टवान्- मातः ! किमेतदुक्तं ? चेलनया तु न किमपि रक्षितं यथोक्तमुवाच । निजोत्पत्तिव्यतिकरं ज्ञात्वा उत्तरगोकर्णपर्वतं गत्वा सात्यकिमुनिं नत्वा वैराग्येण दिगम्बरो भूत्वा उत्तरगोकर्णपर्वते स्थितः । गुरुशिक्षया मनो रुद्ध्वा स एकादशाङ्गानि शिक्षितः । तत्र रोहिणीप्रभृतयः पंचशतविद्या महानिशाया

आर्यिका सात्यकि मुनिकी गुफा में प्रविष्ट हुई । वहां वह कपड़ा निचोड़ने लगी उसी समय सात्यकि मुनि की दृष्टि उस पर पड़ी । देखते ही मुनिके कामोद्रेक होगया जिससे उन्होंने उसका उपभोग कर लिया । मुनि तो आलोचना निन्दा तथा गर्हा कर मुनि धर्म में स्थिर होगये परन्तु ज्येष्ठा आर्या गर्भवती हो गई । जब शान्ति नामक प्रधान आर्याको पता चला तो उसने उसे चेलनाको सौंप दिया । चेलना के पास रहते हुए उसने पुत्र उत्पन्न किया । उस पुत्रको अभय कुमार ने स्वयंभू गुफा में डाल दिया । रात्रिके समय चेलना को स्वप्न दिखा जिससे उसने उसे गुफा से बुलवा लिया तथा दर्शन सम्बन्धी अनिष्ट का शमन कर उसका स्वयंभू नाम रक्खा । ज्येष्ठा निःशल्य होकर चली गई तथा आर्यिका के पास संयम सम्बन्धी नियमों का पालन करती हुई रहने लगी ।

स्वयंभू ज्यों ज्यों बढ़ा होने लगा त्यों त्यों चांटा आदि की ताडना से अन्य बच्चों को सताप पहुंचाने लगा । किसी समय रानी चेलना ने उसके और भी अनुचित कार्यको देखकर स्वयंभू से कहा—जो दुष्ट, जार जात तथा निर्लज्ज होता है वह क्या किसी भी कारण स्वभाव को छोड़ता है चेलना ने भौंह टेड़ी कर उक्त दुर्वचन कहे थे इसलिये स्वयंभू इतना पीड़ित हुआ मानों किसी ने शूल से ही विदीर्ण कर दिया हो । उसने फिर प्रणाम कर पूछा—माता जी ! आपने यह क्या कहा है ? चेलना ने कुछ भी नहीं रख छोड़ा सब ज्योंका त्यों कह दिया । अपनी उत्पत्ति का समाचार जानकर स्वयंभू उत्तर गोकर्ण पर्वत पर गया और सात्यकि मुनिको नमस्कार कर वैराग्य वश दिगम्बर साधु हो गया तथा उसी उत्तर गोकर्ण पर्वत पर रहने लगा । गुरु की शिक्षा से मन रोककर उसने

---

[1]—दर्शनोड्डाहं क० ।

आगताः सिद्धाः । अपरा अपि अंगुष्ठप्रसेनाप्रभृतयः सप्तशतक्षुद्रविद्यास्तस्य सिद्धाः । विद्यासामर्थ्येन सिंहो भूत्वा जनं भीषयति । तद्वृत्तान्तः केनचित् सात्यकेर्निरूपितः । गुरुणा स ऊचे—मुने ! तव स्त्रीहेतुना विनाशो भविष्यति । तद्श्रुत्वा यत्र स्त्रीमुखं न पश्यामि तत्राहं तपः करिष्यामीति कैलासपर्वतं गत्वा तपः कर्तुं लग्नः । तावद्विजयार्धदक्षिणश्रेण्यां मेघनिबद्धपत्तने कनकरथो नाम विद्याधरनरेन्द्रः । तद्देवी मनोरमा । देवदारुविद्युद्रसनौ द्वौ पुत्रौ । एकदा देवदारुं राज्ये स्थापयित्वा विद्युज्जिह्वं च युवराजं कृत्वा कनकरथो गुणधरगुरुचरणमूले दीक्षां जग्राह । प्रज्ञप्तिविद्याप्रभावेण विद्युज्जिह्वेन देवदारुर्जितो निर्घाटितः । कैलासमागत्य सपरिवारो विद्यापुरं कृत्वा निर्भयः स्थितः । तस्य देवदारोः चतस्रो महादेव्यः—सन्ति योजनगन्धा, कनका, तरंगवेगा, तरंगभामिनी चेति । चतस्रोऽप्यतिमनोहरशरीराः योजनगन्धायां गंधिला गन्धमालिनी चेति द्वे धीदे जाते अतिविनीते । कनकायां कनकचित्रा कनकमाला चेति धूदे द्वे जाते तरंगवेगायां तरंगसेना तरंगवती चेति द्वे कन्ये संजाते । तरंगभामिन्यां सुप्रभा प्रभावती चेति द्वे पतिवरे बभवतुः

ग्यारह अङ्ग सीख लिये । वहां उसे महान् अतिशयसे युक्त रोहिणी आदि पांचसौ विद्याएं आकर सिद्ध हो गईं । विद्या की सामर्थ्य से वह सिंह बन कर लोगोंको डराने लगा यह समाचार किसीने उसके गुरु सात्यकि मुनि से कह दिया । तब गुरु ने उससे कहा कि हे मुने ! स्त्री के कारण तुम्हारा विनाश होगा । गुरुके वचन सुनकर वह कहने लगा कि 'मैं जहां स्त्री का मुख न देख सकूं वहाँ तप करूंगा' ऐसा कह कर वह कैलास पर्वत पर जाकर तप करने लगा ।

उसी समय विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी पर मेघनिबद्ध नामक नगर में कनकरथ नामका विद्याधरोंका राजा रहता था । उसकी स्त्री का नाम मनोरमा था । उन दोनोंके देवदारु और विद्युज्जिह्व नामके दो पुत्र थे । एक दिन देवदारु को राज्य पर स्थापित कर तथा विद्युज्जिह्व को युवराज बनाकर राजा कनकरथ ने गुणधर गुरुके पादमूल में दीक्षा ले ली । उधर प्रज्ञप्ति विद्या के प्रभाव से विद्युज्जिह्व ने देवदारु को जीतकर निकाल दिया जिससे वह कैलास पर्वत पर आकर तथा विद्या से एक नगर बसा कर सपरिवार निर्भय रहने लगा । उस देवदारु को चार महा देवियां थीं १ योजन गन्धा २ कनका ३ तरङ्ग वेगा और तरङ्ग भामिनी । चारों ही अत्यन्त सुन्दर शरीर की धारक थीं । योजन गन्धा के गन्धिका और गन्धमालिनी नामकी दो अत्यन्त विनीत पुत्रियां उत्पन्न हुईं । कनका के कनक चित्रा और कनक माला ये दो पुत्रियां हुईं । तरङ्ग वेगा के तरङ्ग सेना और तरङ्ग वती ये दो पुत्रियां उत्पन्न हुईं और तरङ्ग भामिनी के सुप्रभा तथा

१—सत्य: म० ।

एता अष्टावपि दिव्याभरणभूषिता दिव्याम्बरधरा अमरकुमारिका इव कंचुकिपरिवेष्टितास्तिष्ठन्ति। एकदा कैलासोपरि मानससरसि जलक्रीडार्थमागताः पीनोन्नतस्तनशोभिताः स्नानं कुर्वतीस्ता रुद्रो ददर्श। मदनबाणैर्वक्षसि विद्धः। क्षुभितो रुद्रो व्यामोहं प्राप। तेनासन्नस्थितेनकामबाणजर्जरितहृदयेन चिन्तित उपायः। विद्यया सरस्तटस्थितानि वस्त्राभरणानि हारयति स्म। ता अनुपमाः स्नानं कृत्वा तटमागत्य वस्त्राभरणानि न पश्यन्ति स्म। व्याकुलितमनोभिस्ताभिर्मुनिसमीपं गत्वा स मुनिरूचे। स्वामिन्! न ज्ञायते देवानामपि प्रियाणि अस्माकं वस्त्राभरणानि केनचिद्गृहीतानि। भगवन्! त्वं ज्ञानवान् जानासि निश्चितं कथय। रुद्र उवाच। जानाम्येव, यदि मामिच्छत यूयं तदा दर्शयामि। एतदश्रुत्वा विस्मित्य

प्रभावती ये दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। ये आठों ही कन्याएं दिव्य आभूषणों से सुशोभित दिव्य वस्त्रों को धारण करने वाली देव कन्याओं के समान कञ्चुकियों से घिरी रहतीं थीं। एक दिन वे सब कन्याएं कैलास पर्वत पर मानस सरोवर में जल क्रीड़ा करने के लिये आईं। स्थूल तथा उठे हुए स्तनों से सुशोभित उन कन्याओं को स्नान करती हुई रुद्र ने देखा। देखते हीं वह कामके बाणों से हृदय में घायल होगया। क्षुभित रुद्र व्यामोह को प्राप्त हो गया। समीप में स्थित तथा काम के बाणों से जर्जरित हृदय वाले रुद्र ने उपाय सोच लिया। उसने विद्या के द्वारा सरोवर के तट पर रखे हुए उन कन्याओं के वस्त्राभूषण उठवा लिये। वे अनुपम कन्याएं स्नान कर जब तट पर आईं तब उन्होंने अपने वस्त्राभरण नहीं देखे। जिनके चित्त व्याकुल हो रहे थे ऐसी उन लड़कियों ने मुनि के पास जाकर कहा कि हे स्वामिन्! देवोंको भी प्रिय लगने वाले हमारे वस्त्राभूषण किसी ने ले लिये है पर जान नहीं पड़ता किसने लिये है? आप ज्ञानवान् हैं अतः निश्चित जानते हैं बतलाइये किसने लिये हैं? रुद्र बोला, जानता ही हूं यदि तुम सब मुझे चाहो तो मैं दिखला दूँ। यह सुनकर आश्चर्य में पड़ी नवयौवन वती विद्याधर कुमारियां बोलीं—मुने! हम स्वच्छन्द चारिणी नहीं हैं हमारे माता पिता जानते हैं, स्वच्छन्द चारिणी स्त्रियों को विद्या का माहात्म्य कैसे प्राप्त हो सकता है? तब उनके वस्त्राभरण देकर रुद्र ने कहा—अच्छा आप लोग अपने माता पिता से तथा परिवार से पूछकर उत्तर देओ।

उन कन्याओं ने घर जाकर पिता के आगे सब समाचार कहा। पिता ने एक कञ्चुकी को दूत बनाकर रुद्र के पास भेजा। कञ्चुकी ने जाकर मुनि से कहा—स्वामिन्! हमारे स्वामी ऐसा कहते हैं—यदि आप मेघ निबद्ध नगर जाकर मेघनृप तथा मेघ नादको जो कि हमारी दासी हैं—सम्पत्ति पर अधिकार किये बैठी हैं निकालकर मानसिक वाचनिक और शारीरिक के भेद से तीनों प्रकार के हर्ष को देनेवाले त्रिपुर नगर में मेरा प्रवेश करा दें तो मनुष्यों के मनको मोहित करने वाली अपनी आठों पुत्रियां आपको दे दूं।

नवयौवना विद्याधरकुमार्य ऊचुः । मुने ! वयं स्वच्छन्दचारिण्यो न वर्तामहे । अस्मन्मातरपितरौ जानीतः स्वच्छन्दचारिणीनां विद्यामाहात्म्यं कुतः । ततो वस्त्राभरणानि दत्वा शिपिविष्टः प्राह । निजमातरपितृगणं पृष्ट्वा मम उत्तरं दत्त यूयं । ताभिर्गृहं गत्वा पितुरग्रे वार्ता कृता । पित्रा तु एकः कंचुकी संदेशहरो हरं प्रेषितः । स गत्वा मुनिमुवाच । स्वामिन ! अस्मत्स्वाम्येवं भणति । यदि मेघनिबद्धं पत्तनं गत्वा मेघनृपं तथा मेघनादं च दायिनं निर्घाट्य [1]त्रिकहर्षदायि त्रिपुरं पुरं प्रवेशयसि मां तदा जनमनोमोहनकारिणीर्मम सुता अष्टा अपि ददामि । कपर्दिना ओमिति भणिते कंचुकिना चागत्य राज्ञे तथा कथिते खचराधिपो हर्षं चकार । [2]सुहृत्स्वजनवर्गेण सर्वेण तत्र गत्वा मदं स्वमन्दिरमानिनाय । तत्रोपवेश्येश्वरमादितो वृत्तान्तं जगाद यथा दायिना राज्यमपहृतं ईशान उवाच । राजन ! यत्त्वं भणसि तदहं साधयामि. किमेकेन त्रिपुराधिपेन ? त्रिजगदपि संहरामि । तदनन्तरं सरोषो देवदारुर्भयरहितो नानाछत्रध्वजचामरसैन्यसहितः शंकरं नीत्वा तत्र गतः । पुरं वेष्टितवान । विद्युज्जिह्वस्तु निर्गतः, चन्द्रशेखरसेन सह त्रैलोक्यचित्तचमत्कारकारकं समनीकं चकार । ज्वालिन्या विद्यया ज्वालयित्वा रिपुं भस्मयामास । त्रिपुरं गृहीत्वा देवदारुः सुखी बभूव । जामातरं त्रिपुरं नीत्वा तस्मै चन्द्रशेखराय अष्टः अपि कन्या अदित । तास्तन्मैथुनमसहमाना

रुद्र ने 'ओम्' कह कर स्वीकृति दे दी। कञ्चुकी ने आकर सब समाचार कहा जिससे विद्याधर राजा हर्ष को प्राप्त हुआ वह समस्त मित्र तथा परिवार के लोगों के साथ जाकर रुद्र को अपने घर लिवा लाया। वहां बैठा कर उसने, दासीने जिस प्रकार राज्य अपहृत किया था वह सब समाचार प्रारम्भ से लेकर रुद्र को सुनाया रुद्र ने कहा—राजन् ! तुम जो कह रहे हो वह मैं अभी सिद्ध किये देता हूं एक त्रिपुर के राजा से क्या मैं तो तीनों जगत् का संहार कर सकता हूं।

तदनन्तर रोष से भरा देव दारु निर्भय होकर नाना छत्र ध्वजा चमर और सेना से सहित रुद्रको साथ लेकर वहां गया। उसने नगर को घेर लिया। विद्युज्जिह्व वाहर निकला रुद्र ने उसके साथ तीन लोक के चित्त में चमत्कार उत्पन्न करने वाला युद्ध किया तथा ज्वालिनी विद्यासे शत्रु को जलाकर भस्म कर दिया। देवदारु त्रिपुर को लेकर सुखी हुआ। तदनन्तर जामाता को त्रिपुर ले जाकर उसने आठों कन्याएं उसके लिये दे दी। परन्तु वे आठों कन्याएं उसके मैथुन को सहन नहीं कर सकीं अतः मर गईं। देवदारु विद्याधरके अष्ट चन्द्र नामक मित्र थे उनकी मालती की माला के समान कोमल भुजाओं वाली पांचसौ कन्याएं थीं। शत्रु को नष्ट करने वाले रुद्रके लिये उन्होंने वे पांचसौ कन्याएं पुनः दे दीं परन्तु रुद्रके विषम रत के कारण एक २ दिन के उपभोग से एक २

१—त्रिकहर्षं दायिनि क० । २—सुहृत्पुत्रान म० ।

भ्रष्टा अपि मृताः । देवदारुखगस्याष्टचन्द्रैः सुहृद्भिः शत्रुमारकस्य भूतेशस्य मालतीमाला इव कोमलभुजाः पंचशतकन्याः पुनर्दत्ताः । ता अपि खण्डपरशोर्विषमरतेन दिनं दिनं प्रति भुक्ता एकैकाः सर्वा अपि मम्रुः । तदा तासां मरणे गिरीशश्चिन्ताव्याकुलितमनाः स्थितः । अथ गौर्या सह यथा संयोगो जातस्तत्कथां कथयामि शृणुत भव्याः ! । पूर्वभवे खल्वेका क्षान्तिका देशान्तरं यान्ती मार्गश्रमश्रान्ता धीवरेण नदीमुत्तारिता । तस्य मत्स्यबन्धस्य शीतलशरीरस्पर्शेन सा आप्यायिता । तया विषयाशया कर्मवशेन निदानं कृतं—अन्यस्मिन् भवे प्रकटितपरमस्नेहोऽयं मम भर्ता भविष्यतीति । ईदृशं निदानं कृत्वा कायं विमुच्य सौधर्मेन्द्रस्य देवी जाता । कैवर्तस्तु संसारे भ्रमित्वा मिथ्यातपः कृत्वा ज्येष्ठासुतो जातः । अथ सावस्तिपुरे राजा वासवः । तन्महादेवी मित्रवती । तया विद्युन्मती नाम्नी कन्या जनिता । तडिद्दंष्ट्रस्य विद्याधरस्य सा दत्ता । सौधर्मेन्द्रदेवी च्युत्वा विद्युन्मतीगर्भे स्थिता । नवमे मासे कष्टेन जनिता । विद्युन्मती विद्याधरी पीडावशेन निर्विण्णा (एणा) सती सावस्तिनगरे पर्वतगुहायां त्याजिता । तत्र गुहायां चतस्रो द्विजपुत्र्यः क्रीडितुं कन्यापुण्येनागताः । उमा उमा इति शब्देन रटन्ती ताभिर्दृष्टा उमेति नाम कृत्वा सा कोमलाङ्गी

कर वे सब मर गईं । उन सबके मरजाने पर रुद्र चिन्ता से व्याकुलचित्त हो उठा । अब गौरी के साथ जिस प्रकार संयोग हुआ वह कथा कहता हूं हे भव्य जीवो ! सुनो—

पूर्व भव में एक साध्वी दूसरे देश को जाती हुए मार्ग के श्रम से थक गई । एक धीवर ने उसे नदी से पार उतारा । उस धीवर के शीतल शरीर के स्पर्श से वह साध्वी संतुष्ट हुई तथा विषय की आशा से कर्मवश निदान कर बैठी कि अन्यभव में यह धीवर परम स्नेह को प्रकट करने वाला मेरा भर्ता हो । ऐसा निदान कर वह शरीर छोड़ सौधर्मेन्द्र की देवी हुई । वह धीवर ससार में भ्रमण कर मिथ्या तप के प्रभाव से ज्येष्ठा का पुत्र हुआ ।

तदनन्तर सावस्तिपुर में एक वासव नामका राजा रहता था उसकी रानी का नाम मित्रवती था । मित्रवती ने विद्युन्मती नामकी कन्या को जन्म दिया तथा वह कन्या विद्युद्दंष्ट्र नामक विद्याधर को दी गई । साध्वी का जीव जो सौधर्मेन्द्र की देवी हुई थी वहां से च्युत होकर विद्युन्मती के गर्भ में आई और नौवें मास में बडे कष्ट से उत्पन्न हुई । विद्युन्मती विद्याधरी प्रसव कालिक पीडा मे अत्यन्त खिन्न हो गई थी इसलिये उसने उस कन्या को सावस्ति नगर के समीप पर्वत की गुफा में छुड़वा दिया । कन्या के पुण्य से प्रेरित हुई चार ब्राह्मण कन्याएं क्रीड़ा करने के लिये उस गुफामें आईं । ब्राह्मण कन्याओं ने 'उमा उमा' इस शब्द से रोती हुई उस कन्या को देखा । वे उसका उमा नाम रखकर उस कोमलाङ्गी को दयाभाव से घर लेती आईं । उन चारों ब्राह्मण कन्याओं ने

करुणया गृहमानीता । ब्राह्मणपुत्रीभिश्चतसृभि सा कन्या राजकुले [1]विद्युन्मत्या [मित्रवत्या] [2]महादेव्या [3]वासवनृपपत्न्या दर्शिता । तयापि गृहीत्वा पुत्र्याः पुत्री निजधात्र्याः पंडितायाः पालयितुं दत्ता । अथाष्टचन्द्रनृपेषु प्रधान [4]चन्द्रसेनाभिधानो गगनाङ्गणे संचोदितविमान एकस्मिन् दिने सावस्तिमागतः । तस्य कुलस्त्रिया निजभगिन्या अपत्यरहितायाः सन्मानपूर्वकं मित्रवत्या वासवनृपभार्यया गिरिकर्णिकानाम्न्याः सा उमा दत्ता । तयापि प्रतिपाल्य नवयौवना कृता सा सुन्दरी सुरकूटपुरेशविद्याधरेशतडिद्वेगस्य परिणायिता । सा मदोन्मत्त सुष्ठु सुरतानुरागा यदा सुरतसुखमनुभवति तदा तडिद्वेगो मृतः । उमातु यौवनमदेन स्वच्छन्दा जाता । विधवसोमा देवदारुनगरे एकस्मिन दिने गता । देवदारुणा तद्वारं ज्ञात्वा

उस कन्या को राज महल में लेजाकर वासव राजा की महादेवी मित्रवती को दिखलाया और उसने भी 'यह हमारी पुत्री की पुत्री है' यह जान कर ले ली तथा पालन करने के लिये अपनी पण्डिता नामकी धायको दे दी।

तदनन्तर अष्ट चन्द्र नामक विद्याधर राजाओं में प्रधान इन्द्रसेन नामका राजा एक दिन आकाशमें विमान चलाता हुआ सावस्ति नगर आया । चन्द्रसेन की स्त्री सन्तान रहित थी तथा रिश्ते में वह सावस्ति के राजा वासव की रानी मित्रवती की बहिन होती थी उसका नाम गिरिकर्णिका था । मित्रवती ने वह उमा नामकी पुत्री उसे संमान पूर्वक दे दी । तथा उसने भी पाल कर उसे नवयौवनवती कर दिया । वह सुर कूट नगर के स्वामी तडिद्वेग नामक विद्याधर राजा को विवाही गई । उमा मदोन्मत थी तथा सुरत-संभोग में अत्यन्त अनुराग रखती थी । एक दिन जब वह संभोग सुख का अनुभव कर रही थी उसी समय तडिद्वेग का मरण हो गया । उमा यौवन के मद से स्वच्छन्द हो गई । विधवा उमा एक दिन देव दारु के नगर आई वहां वहां देवदारु के द्वारा उसे रुद्र की प्रवृत्ति का पता चला । वह स्वयं रतिगुण से अधिक था अर्थात् अधिक रतिको अच्छा मानती थी इसलिये रुद्र की भार्या हो गई । रुद्र ने उसे विद्या रूप ऐश्वर्य का आधा भाग दिया तथा अपना अर्धासन प्रदान किया । रुद्र उसके मुख कमल को रात दिन देखता

१—अत्रत्यः पाठो भिन्न भिन्न पुस्तकेषु यथा बुद्धि पाठकैः संशोधितः । शुद्ध पाठस्तु ममदृष्टौ एवं प्रतिभाति ब्राह्मण पुत्रीभिश्चतसृभिः सा कन्या विद्युन्मत्या इति महाविद्यया ज्ञात्वा राजकुले महादेव्या वासवनृपपत्न्याः सा बालिका दर्शिता ।

"ब्राह्मण की चार पुत्रियों ने महाविद्या से यह जानकर कि यह विद्युन्मती की पुत्री है राज कुल में वासव नृप की पत्नी—मित्रवती को वह कन्या दिखलाई' इति च तदर्थः । २—महाविद्या घ० (?) महाविद्यायाः इति क प्रतौ लिखित्वा केनापि महादेव्या इति संशोधितम् । ३—राज्ञा इति संशोधितं । ४—इन्द्रसेनाभिधानो म० ।

रतिगुणाधिका सा स्थाणोर्विद्याविभवस्यार्धमानेनार्धासनस्याङ्गीकरणेन च तस्य भार्या पुनर्भूर्जाता। भूतेशस्तु तस्या मुखविशप्रसूनं निरीक्षमाणोऽहर्निशं तिष्ठति। सरित्सु सीतासीतोदादिषु सरस्सु पद्मादिषु गिरिषु मेर्वादिषु लवणोदादिषु समुद्रेषु देवारण्यादिषु च वनेषु सर्वमंगलया तया सार्धमनुदिनं रममाण उर्वरायां पर्यटति। स जटामुकुटविभूषितो वृषारूढो भस्मोद्धूलितो लोकानेवं वदति—अहं त्रिजगत्स्वामी, कर्ता, हर्ता, शिवः, स्वयंभूः,शंभुः,ईश्वरः, हरः,शंकरः, सिद्धः, बुद्धः,त्रिपुरारिः, त्रिलोचनः,प्रकृतिशुद्धः,सर्वज्ञः, उमापतिः. भवः, ईशः, ईशानः मृडः, मृत्युञ्जयः, श्रीकण्ठः, वामदेवः महादेवः व्योमकेश इत्यादीनि मम नामानि। अहमेव वर्त्तेऽपरो नास्ति। मायावी विजयार्धे बहूनि दिनान्युषित्वा जनमनांसि मंत्रै रंजयित्वात्र भरतक्षेत्रमागत्य तेन शैवशास्त्र प्रकटीकृतं। तद्दीक्षिताः शैवाचार्या बहवो बभूवुः। दर्शितगुणा गणाः प्रभूना मिलिताः, तैः परिवृतोऽस्खलितप्रतापोऽनवरतमुमाप्रेमानुरागो द्वादश वर्षाणि विषयसौख्यं भुंजानो मह्यां हतं पक्षो भ्रमितः। तत्प्रताप दृष्ट्वा सर्वेऽपि विद्याधरा अतिभीताः। तैर्विचारितं एष महाविद्याबली-यानस्मान् मारयित्वा उभये अपि श्रेण्यौ निश्चितं ग्रहीष्यति। केनोपायेनायं खलो हन्यते यावन्न हन्तीति।

रहता था वह सीता सीतोदा आदि नदियों में, पद्म आदि सरोवरों में, मेरु आदि पर्वतों में लवणोद आदि समुद्रों में तथा देवारण्य आदि वनों में सर्व मङ्गल स्वरूप उस उमा के साथ प्रतिदिन रमण करता हुआ पृथिवी पर घूमने लगा। जटा रूप मुकुट से विभूषित, बैल पर बैठा एवं भस्म रमाये हुए लोगों से यह कहता था कि मैं तीन जगत का स्वामी हूं, कर्ता हूँ, हर्ता हूं, शिव हूं, स्वयंभू हूं, शम्भु हूं, ईश्वर हूं, हर हूं, शंकर हूं, सिद्ध हूं, बुद्ध हूं, त्रिपुरारि हूं, त्रिलोचन हूं, प्रकृति से शुद्ध हूं, सर्वज्ञ हूं, उमापति हूं, भव हूं, ईश हूं, ईशान हूं, मृड हूं, मृत्युज्जय हूं, श्री कण्ठ हूं, वामदेव हूं, महादेव हूं, व्योमकेश हूँ। इत्यादि सब मेरे ही नाम हैं शिव मैं ही हूं, और दूसरा नहीं है। उस मायावी ने विज-यार्ध पर्वत पर बहुत दिन तक रह कर मन्त्रों से लोगों के मनको अनुरक्त किया। तदन-न्तर भरत क्षेत्र में आकर उसने शैव शास्त्र प्रकट किया। उसके द्वारा दीक्षा को प्राप्त हुए बहुत से शैवाचार्य होगये। उसके गुणोंको देखकर बहुत से गण आ मिले। उन सब से घिरा, अस्खलित प्रताप का धारक, निरन्तर उमाके प्रेम से अनुराग रखने वाला। एवं विषय सुखका उपभोग करता हुआ वह रुद्र बारह वर्ष तक पृथिवी में शत्रु रहित हो घूमता रहा। उसके प्रताप को देखकर सभी विद्याधर अत्यन्त भयभीत होगये। उन विद्याधरों ने विचार किया कि यह महाविद्याओं से अत्यन्त बलवान् हैं अतः हम सबको मारकर निश्चित ही दोनों श्रेणियों को ले लेगा। जब तक यह हम लोगोंको नहीं मारता है तब तक किस उपाय से इस दुष्ट को मारा जाय?

लोकं चिन्ताकुलं दृष्ट्वा मात्रा गिरिकर्णिकानाम्न्या निजसुतोमा भेदं पृष्टापुत्रि उमे ! मम जामातुर्विद्याः कदाचिदपि अवशा भवन्ति न वेति, उमा प्राह—मातर्गिरिकर्णिके ! यदायं मया सह सुरतसुखमनुभवति तदा सुरतकाले विद्या अस्य न स्फुरन्ति। इत्युपदेशं लब्ध्वा। गन्धारदेशे दुरंडनगरे वनप्रदेशे सुरतमारूढः, तैर्विद्याधरैः कान्तासहितस्य शिरश्चिच्छिदे। तस्मिन् हते तद्विद्याभिर्देश उपद्रुयोद्वासितः। गृहे गृहे कृतचौरः प्रविष्टः जीवधनं मुष्णाति। तन्नगरस्य राज्ञा विश्वसेनेन नन्दिषेणो मुनिः पृष्टः। भगवन्! [1]मारिकोपसर्गस्य कः प्रत्ययः। मुनिरुवाच। रुद्रनामा विद्याधरस्तव नगरे विद्यानामक्षमापणं कुर्वाणो मारितस्तेनोपसर्गो वर्तते। तर्हि स्वामिन्! उपसर्गविनाशः कथं भविष्यति? तल्लिंगं छित्वा उमोपस्थे स्थापयित्वा यदि पूजयन्ति भवंतस्तदा विद्या उपशाम्यन्ति। उत्पात उपशाम्यतीति तद्श्रुत्वा विश्वसेनस्तत्र गत्वा सर्वोऽपि जनपदो व्याहृतः। इष्टकाभिरुच्चां मंचिकां कृत्वा तल्लिंगं छित्वा तदुपरि धृत्वा लल्लिंगोपरि सुरतसुखयोणिं तदुपरि धृत्वा तन्मध्ये ऊर्ध्वमणि—शिवलिंगं स्थापयित्वा जलेन प्रक्षाल्य परिमलबहुलेन

लोगों को चिन्ताकुल देख माता गिरिकर्णिका ने अपनी पुत्री उमा से पूछा कि बेटी उमे ! हमारे जामाता की विद्याएं कभी अनाधीन होती हैं या नहीं ? उमा ने कहा—माता गिरिकर्णिके ! जब यह हमारे साथ संभोग सुखका अनुभव करता है तब संभोग काल में इसे विद्याएं स्फुरित नहीं रहती। गिरिकर्णिका माता इस उपदेश को प्राप्त हुई तदनन्तर गन्धार देश सम्बन्धी दुरण्ड नगर के वन प्रदेश में जब वह संभोग कर रहा था तब उन विद्याधरों ने स्त्री सहित उसका शिर काट डाला। रुद्र के मरने पर उसकी विद्याओं ने उपद्रव कर उस देशको ऊजड़ कर दिया। घर घर में यम प्रविष्ट होकर लोगों के प्राण रूपी धनको चुराने लगा। उस नगर के राजा विश्वसेन ने नन्दिषेण मुनि से पूछा कि भगवन ! इस भारी रोग के उपसर्ग का कारण क्या है ? मुनि बोले—रुद्र नामका विद्याधर तुम्हारे नगर में विद्याओं से क्षमा याचना नहीं कर सका उसके पहले ही उसे मार डाला गया इसी कारण उपसर्ग हो रहा है। राजा ने फिर पूछा कि स्वामिन् ! उपसर्ग का विनाश किस तरह होगा। इसके उत्तर में मुनि ने कहा कि यदि आप लोग उसका लिङ्ग काट कर तथा पार्वती की योनि में रख कर पूजा करेगें तो विद्याएं शान्त हो जावेंगी। "उपद्रव शान्त होता है" यह सुनकर राजा विश्वसेन ने वहां जाकर देशके सब लोगों से उक्त वात कही। लोगों ने ईंटों का ऊंचा चबूतरा बनाकर उस पर काटकर शिवका लिङ्ग रक्खा उस लिङ्ग पर योनि की स्थापना की और उसके मध्य में खड़ा मणिमय शिव लिङ्ग रखकर जलसे उसका प्रक्षालन किया चन्दन का विलेपन लगाया,

1— मारकोपसर्गस्य म० ध०।

चन्दनेन विलिप्य पुष्पाक्षतादिभिर्लोकै राजाज्ञया पूजयित्वा [1]तदिन्द्रिययोर्नमस्कारः कृतः तदा विद्याभिः क्षमा कृता, लोकस्योपसर्गस्य विनाशो जातः। तद्दिनमारभ्य प्रहतलज्जं लोकस्येश्वरं लिंगं पूज्यं जातमित्यज्ञानिभिर्लोकैः श्रीमद्भगवदर्हत्परमेश्वरं परित्यज्य स एव देवः परमात्मीकृतः।

इति मोक्षप्राभृते रुद्रोत्पत्त्युपाख्यानं जिनमुद्रापरिभ्रष्टत्वसूचकं समाप्तम्।

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ नियमेण जिणवरुद्दिट्ठा।

सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥ ४७ ॥

जिनमुद्रा सिद्धसुखं भवति नियमेन जिनवरोद्दिष्टा।

स्वप्नेऽपि न रोचते पुनः जीवा तिष्ठन्ति भवगहने ॥

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं जिनमुद्रा सिद्धिसुख आत्मोपलब्धिलक्षणमुक्तिसुखं—सिद्धिसुखयोगाज्जिनमुद्रैव सिद्धिसुखमुपचर्यते। *हवेइ* भवति। *नियमेण जिणवरुद्दिट्ठा* नियमेन निश्चयेन, कथंभूता जिनमुद्रा? जिनवरोद्दिष्टा केवलिप्रतिपादिता। तल्लक्षणं पूर्वमेवोक्तं वर्तते। *सिविणे विणरुच्चइ पुण:* सा जिनमुद्रा जीवस्य स्वप्नेऽपि निद्रायामपि न रोचते। रुचधातोः प्रयोगे चतुर्थी प्रोक्ता "यस्मै दित्सा रोचते धारयते वा तत्संप्रदानं" इति वचनात् संप्रदाने चतुर्थी तद्युक्तं, कस्मादिति चेत्? यदा रोचते तदा संप्रदानं यदा तु न

पुष्प तथा अक्षत आदि से पूजा की इस प्रकार राजा की आज्ञा से लोगों ने उमा और रुद्र दोनों की इन्द्रियों को नमस्कार किया। उसी समय विद्याओं ने क्षमा कर दी और लोगों का उपसर्ग नष्ट होगया। उसी दिन से लेकर लज्जा को नष्ट करने वाला शिवलिङ्ग लोगोंका पूज्य होगया तथा अज्ञानी लोगों ने श्रीमान् भगवान् अरहन्त परमेश्वर को छोड़ कर उस देव को ही परमात्मा मान लिया।

इस प्रकार मोक्ष प्राभृत में जिन मुद्रा से भ्रष्टता को सूचित करने वाला रुद्रोत्पत्ति का कथानक समाप्त हुआ।

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कही हुई जिनमुद्रा नियम से सिद्धि सुख रूप है। जिन जीवों को यह जिनमुद्रा स्वप्नमें भी नहीं रुचती वे संसार रूप वनमें रहते हैं ॥४७॥

विशेषार्थ—यहां कारण में कार्य का उपचार कर जिनमुद्रा को ही सिद्धि सुख रूप कहा है। विना जिनमुद्रा–दिगम्बर वेष धारण किये मोक्ष की प्राप्ति होना संभव नहीं है। जिनमुद्रा का यथार्थ रूप केवली भगवान् ने प्रतिपादित किया है। जिन जीवों को यह जिनमुद्रा साक्षात् तो दूर रही स्वप्न में भी नहीं रुचती वे इस संसार रूप अटवी में ही विद्यमान रहते हैं। लौंका आदि लोग वार २ भावचारित्र, २ की ही रट लगाते हैं

१—'तदामेढ्रभगयो; द्वयोः' इति वा पाठः (क० टि०)।

रोचते तदा षष्ठीप्रयोग एव । स्वप्नेऽपि न रोचते पुनर्जीवस्येति सम्बन्धः । *जीवा अच्छंति भवगहणे* येन कारणेन जिनमुद्रा न रोचते भावचारित्रं भावचारित्रमिति लौकादिभिराम्रेऽच्यते तेनैव कारणेन जीवास्तिष्ठन्ति भवगहने संसारवने । रुद्रादिवत्भ्रष्टजिनमुद्रा नरकादौ पतन्ति ।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण ।

णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ ४८ ॥

परमात्मानं ध्यायन् योगी मुच्यते मलदलोभेन ।

नाद्रियते नवं कर्म निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥

परमप्पय झायंतो परमात्मानं निजात्मस्वरूपं ध्यायन् । *जोई मुच्चेइ मलदलोहेण* योगी ध्यानवान् मुनिर्मुच्यते परिह्रियते, केन ? मलदलोभेन मलं पापं ददातीति मलदः स चासौ लोभो धनाकांक्षा तेन मलदलोभेन । *णादियदि णवं कम्मं* लोभरहितो मुनिर्नाद्रियते न बध्नाति. नवं कर्म अभिनव पापं, पूर्वोपार्जितं तु स्वयमेव क्षीयते । *णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि* निर्दिष्टं कथितं, जिनवरेन्द्रैः जिनवरा एव इन्द्रास्त्रिभुवनप्रभवस्तैर्जिनवरेन्द्रैः सर्वज्ञवीतरागैरिति शेषः ।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।

झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥ ४९ ॥

भूत्वा दृढचरित्रः दृढसम्यक्त्वेन भावितमतिः ।

ध्यायन्नात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी ॥

परन्तु भाव चारित्र के अनुसार जिस जिनमुद्रा की आवश्यकता है उसे स्वप्न में भी अच्छा नहीं समझते—आदर की दृष्टि से नही देखते तब सिद्धि की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जो जीव जिनमुद्रा से भ्रष्ट होजाते हैं वे रुद्रादि के समान नरक आदि कुगतियों में पड़ते हैं

गाथार्थ—परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी पाप दायक लोभ से मुक्त होजाता है और नवीन कर्म बन्धको नहीं करता ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ॥४८॥

विशेषार्थ—परमात्मा-निज आत्म स्वरूप को कहते हैं उसका ध्यान करने वाला मुनि, पाप उत्पन्न करने वाले लोभ से छूट जाता है लोभ रहित मनुष्य नवीन कर्मबन्ध को नहीं करता है किन्तु उसके पूर्वोपार्जित कर्म स्वयं क्षीण होजाते है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ॥ ४८ ॥

गाथार्थ—योगी-ध्यानस्थ मुनि, दृढ चारित्र का धारक तथा दृढ सम्यक्त्व से वासित हृदय होकर आत्मा का ध्यान करता हुआ परम पदको प्राप्त होता है ॥४९॥

होऊण दिढचरित्तो दृढचरित्रोऽचलितचारित्रो भूत्वा। *दिढसम्मत्तेण भावियमईओ* दृढसम्यक्त्वेन चलमलिनतारहितसम्यग्दर्शनेन भावितमतिस्तु वासितमनाः। *झायंतो अप्पाणं* ज्ञानबलेन ध्यायन्नात्मानं। *परमपयं पावए जोई* परमपदं केवलज्ञानं निर्वाणं च प्राप्नोति, योगी भेदज्ञानवान् मुनिः।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥ ५० ॥

चरणं भवति स्वधर्मः धर्मः स भवति आत्मसमभावः।
स रागरोषरहितः जीवस्य अनन्यपरिणामः ॥

चरणं हवइ सधम्मो चरणं चारित्रं भवति स्वधर्मं आत्मस्वरूपं। *धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो* धर्मो भवति, कोऽसौ? स एव यः स्वधर्मं आत्मस्वरूपं, स धर्मः कथंभूतः? अप्पसमभावो—आत्मसमभाव आत्मसु सर्वजीवेषु समभावः ममतापरिणामः, यादृशो मोक्षस्थाने सिद्धो वर्तते तादृश एव ममात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः सिद्धपरमेश्वरसमानः यादृशोऽहं केवलज्ञान स्वभावस्तादृश एव सर्वोऽपि जीवराशिरत्र भेदो न कर्तव्यः। *सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो* स आत्मसमभावः कथंभूतस्तस्य लक्षणं निरूपयन्ति भगवन्तः—स आत्मसमभावो रागरोषरहितो भवति यं प्रति प्रीतिलक्षणं रागं करोमि सोऽप्य-

---

विशेषार्थ—जो दृढ चारित्र है अर्थात् चारित्रसे कभी विचलित नहीं होता और दृढ सम्यक्त्वसे अर्थात् चल मलिनता आदि दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शनसे जिसकी बुद्धि सुसंस्कारित है ऐसा योगी आत्मा का ध्यान करता हुआ परमपद—केवलज्ञान और निर्वाण को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

गाथार्थ—चारित्र आत्मा का धम है, अर्थात् चारित्र आत्मा के धर्म को कहते हैं, धर्म आत्माका समभाव है अर्थात् आत्माके समभाव को धर्म कहते हैं, और समभाव राग द्वेष से रहित जीवका अभिन्न परिणाम है अर्थात् रागद्वेष से रहित जीवके अभिन्न परिणामको समभाव कहते हैं ॥५०॥

विशेषार्थ—चारित्र स्वधर्म है—आत्मा का स्वरूप है, आत्मस्वरूप जो धर्म है वह आत्म समभाव है अर्थात् सब जीवों में समता भाव रूप है। मोक्ष[1]स्थान में जिसप्रकार सिद्ध परमेष्ठी विद्यमान हैं उसी प्रकार शुद्ध बुद्धैक स्वभाव वाला मेरा आत्मा है। जिस प्रकार मैं केवलज्ञान स्वभाव वाला हूँ उसी प्रकार समस्त जीव राशि केवलज्ञान स्वभाव वाली है शुद्धनय से इनमें शक्तिकी अपेक्षा भेद नहीं करना चाहिये। आत्म समभाव राग-द्वेष से रहित है अर्थात् जिसके प्रति प्रीतिरूप राग करता हूं वह भी मैं ही हूं और जिसके

१—यह कथन द्रव्य दृष्टि की अपेक्षा है पर्याय दृष्टि से संसारी और सिद्ध जीवमें महान् अन्तर है।

हमेव, यं प्रति अप्रीतिलक्षणं द्वेषं करोमि सोऽप्यहमेव तेन रागरोषरहितो जीवस्यात्मनोऽनन्यपरिणाम एकलोलीभावः समत्वमेव परमचारित्रं ज्ञातव्यमिति । तथा चोक्तं—

जीवा जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ ।
सो समभावपरिट्ठियओ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥ १ ॥

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो ।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥ ५१ ॥

यथा स्फटिकमणिः विशुद्धः परद्रव्ययुतो भवति अन्यः सः ।
तथा रागादिवियुक्तः जीवो भवति स्फुटमन्यान्यविधः ॥

जह फलिहमणि विसुद्धो यथा येन प्रकारेण स्फटिकमणिः स्वभावेन विशुद्धो निर्मलो वर्तते ।

प्रति प्रीति रूप द्वेष करता हूँ वह भी मैं ही हूँ इसलिये रागद्वेष से रहित जीवका जो अनन्य परिणाम—एक लोलीभाव रूप समता परिणाम है वही परम चारित्र है ऐसा जानना चाहिये । जैसा कि कहा है—

जीवा जिणवर—जो जीवोंको जिनेन्द्र तथा जिनेन्द्रका जीव जानता है वह समभाव में स्थित है तथा समभाव में स्थित योगी शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है ।

[इस गाथा का भाव प्रवचनसार के—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो सम्मोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।

गाथाके समान जान पड़ता है अर्थात् निश्चय से चारित्र का अर्थ धर्म है, धर्मका अर्थ सम परिणाम है और समपरिणाम का अर्थ रागद्वेष से रहित आत्माका अभिन्न परिणाम है परन्तु संस्कृत टीकाकार ने दूसरा ही भाव प्रदर्शित किया है जो ऊपर स्पष्ट किया गया है ।]

गाथार्थ—जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभावसे विशुद्ध अर्थात् निर्मल है परन्तु पर द्रव्य से संयुक्त होकर वह अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव भी स्वभावसे विशुद्ध है—अर्थात् वीतराग है परन्तु रागादि विशिष्ट कारणों से युक्त होने पर स्पष्ट ही अन्य अन्य रूप हो जाता है ॥ ५१ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार स्वभावसे स्वच्छ स्फटिक मणि जपापुष्प आदि के सम्बन्ध से लाल पीला आदि अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार स्वभाव से स्वच्छ—वीतराग जीव रागादि के द्वारा विशिष्टरूप से युक्त होकर अन्य अन्य प्रकार का हो जाता है अर्थात्

परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो परद्रव्येण जपापुष्पादिना युतः, अण्णं—[1]अन्याऽन्यादृशो भवति। *तह रागादि विजुत्तो* तथा तेनैव स्फटिकमणिप्रकारेण रागादिभिर्विशेषेण युक्तः स्त्र्यादिरागयुतो रागादिमान् भवति। *जीवो हवदि हु अण्णण्णविहो* जीव आत्मा भवति हु—स्फुटं अन्यान्यविधोऽपरापरप्रकारो भवति—स्त्रीभिर्योगे रागवान् भवति शत्रुभिर्योगे द्वेषवान् भवति पुत्रादिभिर्योगे मोहवान् भवतीति तात्पर्यार्थः।

देव गुरुम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।

सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो ॥ ५२ ॥

देवे गुरौ च भक्तः साधर्मिके च संयतेषु अनुरक्तः।

सम्यक्त्वमुद्वहन् ध्यानरतः भवति योगी सः ॥

देव गुरुम्मि य भत्तो देवे गुरौ च भक्तो विनयपरः। *साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो* साधर्मिकेषु समानधर्मेषु, जैनेषु संयतेषु महामुनिषु, अनुरक्तोऽकृत्रिमस्नेहवान् वात्सल्यपरः। *सम्मत्तमुव्वहंतो* सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनमुद्वहन् मूर्धनि स्थापयन्। *झाणरओ होइ जोइ सो* एवं विशेषणत्रयविशिष्टो योगी अष्टाङ्गयोगनिपुणो मुनिर्ध्यानरतो भवति ध्यानानुरागी भवति सः। विपरीतस्य ध्यानं न रोचत इत्यर्थः। तथा चोक्तं —

स्त्रियोंके योग में रागी शत्रुओंके योग में द्वेषी और पुत्रादि के योग में मोही हो जाता है।

(यहां गाथा का एक भाव यह भी समझ में आता है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभाव से विशुद्ध है परन्तु पर पदार्थ के सम्बन्ध से वह अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव स्वभाव से रागादि वियुक्त है अर्थात् रागद्वेष आदि विकार भावों से रहित है परन्तु परद्रव्य अर्थात् कर्म नोकर्म रूप पर पदार्थो के संयोग से अन्यान्य प्रकार हो जाता है। इस अर्थमें वियुक्त शब्दके प्रचलित अर्थको वदल कर 'विशेषेण युक्ती वियुक्तः अर्थात् सहितः' ऐसी जो क्लिष्ट कल्पना करनी पडती उससे वचाव हो जाता है।

गाथार्थ—जो देव और गुरुका भक्त है, सहधर्मी भाई तथा संयमी जीवोंका अनुरागी है तथा सम्यक्त्व को ऊपर उठाकर धारण करता है अर्थात् अत्यन्त आदरसे धारण करता ऐसा योगी ही ध्यान में तत्पर होता है ॥ ५२ ॥

विशेषार्थ—यहां कैसा मुनि ध्यानमें तत्पर होता है इसका वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो देव–अरहंत, सिद्ध और गुरु–आचार्य उपाध्याय साधुका भक्त है अर्थात् उनकी विनय करने में तत्पर रहता है, सहधर्मी–जैनों में तथा संयम के धारक महामुनियों में अनुरक्त रहता है अर्थात् अकृत्रिम स्नेह से युक्त हो वात्सल्य भाव प्रकट करता है और

१—[illegible] क० ।

सर्वपापास्रवे क्षीणे ध्याने भवति भावना ।
पापोहतवृत्तीनां ध्यानवार्तापि दुर्लभा ॥ १ ॥

अन्यच्च—

[1]स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ २ ॥

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अंतोमुहूत्तेण ॥ ५३ ॥

उग्रतपसाऽज्ञानी यत्कर्म क्षपते भवैर्बहुकैः ।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयति अन्तर्मुहूर्तेन ॥

उग्गतवेण उग्रतपसा तीव्रतपसा कृत्वा । *अण्णाणी* अज्ञानी मुनिः आत्मभावनाविवर्जितस्तपस्वी । *जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि* यत्कर्म पापकर्म क्षिपते भवैर्बहुकैः कोटिभवैः शतकोटिभवैः सहस्रकोटिभवैः लक्षकोटिभवैः कोटिकोटिभवैश्चेत्यादिभिः । *तं णाणी तिहि गुत्तो* तत्कर्म ज्ञानी आत्मभावनापरः सूरिः तिहिं गुत्तो—त्रिभिर्गुप्तो मनोवचनकायगुप्तिसहितः *खवेइ अंतोमुहूत्तेण* क्षपयति क्षयमानयति- कियति काले ? अन्तर्मुहूर्तेन । कोऽसावन्तर्मुहूर्त इति चेत् ?—

सम्यक्त्व को शिर पर धारण करना है अर्थात बड़े आदर से उसकी आराधना करता है ऐसा योगी—अष्टाङ्गयोग में निपुण मुनि ही ध्यान में रत होता है इससे विपरीत पुरुष को ध्यान नहीं रुचता है। जैसा कि कहा है—

सर्वपापास्रवे—जब समस्त पापोंका आस्रव क्षीण हो जाता है तभी ध्यान की भावना होती है। जिनकी वृत्ति पापसे उपहत हो रही है ऐसे पुरुषों को ध्यान की बात करना भी दुर्लभ है ॥ १ ॥ और भी कहा है—

स्वयूथ्यान्—अपने सह धर्मी भाईयों के प्रति उत्तम भावसे सहित तथा कपट से रहित यथायोग्य आदर प्रकट करना वात्सल्य कहलाता है ॥ २ ॥

गाथार्थ—अज्ञानी जीव उग्रतपश्चरण के द्वारा जिस कर्मको अनेक भवोंमें खिपा पाता है उसे तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित रहने वाला ज्ञानी जीव अन्तमूहूर्त में खिपा देता है।

विशेषार्थ—आत्म भावनासे रहित अज्ञानी मुनि तीव्र तपके द्वारा जिस कर्म को करोड़–सौकरोड़–हजार करोड़–लाख करोड़ अथवा कोटि कोटि भवोंके द्वारा नष्ट कर पाता है उस कर्मको आत्म भावना में तत्पर रहने वाला ज्ञानी मुनि मनो गुप्ति वचनगुप्ति

१—रत्नकरण्ड श्रावकाचारे ।

[1]आवलि असंखसमया संखेज्जावलिहि होइ उस्सासो।
सत्तुस्सासो थोओ सत्तत्थोओ लवो भणिओ ॥ १ ॥
अट्ठत्तीसद्धलवा नाली दो नालिया मुहुत्तं तु।
समऊणं तं भिण्णं अंतमुहुत्तं अणेयविहं ॥ २ ॥

इति गाथाद्वयकथितक्रमेण आवल्या उपरि एकः समयोऽधिको भवति सोऽन्तर्मुहूर्तो जघन्यः कथ्यते। एवं द्व्यादिसमयवृद्धया समयद्वयहीनोऽन्मुहूर्त उत्कृष्टः कथ्यते। मध्येऽसंख्यातभेदा अन्तर्मुहूर्तस्य ज्ञातव्याः। तेषु कस्मिंश्चिदन्तर्मुहूर्ते ज्ञानी कर्म क्षपयति। एकेन समयेन हीनो मुहूर्तो भिन्नमुहूर्त उच्यते इति भावः।

सुभजोगेण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ ५४ ॥

शुभयोगेन सुभावं परद्रव्ये करोति रागतः साधुः।
स तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्माद्विपरीतः ॥

और काय गुप्ति से सुरक्षित होता हुआ अन्तर्मुहूर्त में नष्ट कर देता है।

प्रश्न—अन्तमुहूर्त क्या है ?

उत्तर—असख्यात समय को एक आवलि होती है, संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास होता है, सात उच्छ्वास का एक स्तोक होता है, सात स्तोकों का एक लव कहा गया है। साढे अड़तीस लव को एक नाडी होती है, दो नाड़ियों का एक मुहूर्त होता है। एक समय कम एक मुहूर्त का भिन्न मुहूर्त कहते हैं। अन्तमुहूर्त अनेक प्रकार का होता है।

इन दो गाथाओं में कहे हुए क्रमसे आवली के ऊपर एक समय अधिक होने पर जघन्य अन्तमुहूर्त कहलाता है। इस प्रकर दो तीन आदि समय बढ़ाते बढ़ाते जब मुहूर्त में दो समय कम रह जाते है तब वह उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त कहलाता है। बीच में अन्तमुहूर्त के असख्यात भेद जानना चाहिये। इनमें से किसी भी अन्तर्मुहूर्त में ज्ञानी जीव कर्मोंका नष्ट कर देता है। एक समय से कम मुहूर्त को भिन्न मुहूर्त कहते हैं ॥ ५३ ॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी मुनिका लक्षण प्रकट करते हैं—

गाथार्थ—जो साधु शुभ पदार्थ के सयोग से रागवश परद्रव्य में प्रीतिभाव करता है वह अज्ञानी है और इससे जो विपरीत है वह ज्ञानी है ॥५४॥

१—जीवकाण्डे।

सुभजोगेण सुभावं शुभस्य मनोज्ञपदार्थस्येष्टवनितादेः योगेन संयोगेन मेलनेनोपढौकनेनाग्रत आगतेन सुभावं—शोभनं प्रीतिलक्षणं भावं परिणामं । *परदव्वे कुणइ रागदो साहू* परद्रव्ये आत्मनो भिन्ने वस्तुनि इष्टवनितादौ, करोति विदधाति सुभावमिति सम्बन्धः, रागतः प्रेमपरिणामात् । कः कर्ता, साधुवेषधारी मुनिः पुष्पदन्तवत् । तथा चोक्तं—

[1]अलकवलयरम्यं भ्रूलतानर्तकान्तं नववनयनविलासं चारुगण्डस्थलं च ।
मधुरवचनगर्भं स्मेरबिम्बाधरायाः पुरत इव समास्ते तन्मुखं मे प्रियायाः ॥ १ ॥
कर्णावतंसमुखमण्डनकण्ठभूषावक्षोजपत्रजघनाभरणानि रागात् ।
पादेष्वलक्तकरसेन च चर्चनानि कुर्वन्ति ये प्रणयिनीषु त एव धन्याः ॥ २ ॥
लीलाविलासविलसन्नयनोत्पलायाः स्फारस्मरोत्तरलिताधरपल्लवायाः ।
उत्तुंगपीवरपयोधरमंडलायास्तस्या मया सह कदा ननु संगमः स्यात् ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—इष्ट स्त्री आदि शुभ पदार्थ के योग से–मिलने, पासमें आने अथवा आगे आने आदि के कारण जो साधु रागके वशीभूत हो उसमें प्रीति रूप परिणाम करता है तथा उपलक्षण से अनिष्ट पदार्थ के योग से द्वेष वश अप्रीति रूप परिणाम करता हैं वह पुष्पदन्त (पुष्पडाल) के समान मात्र वेषको धारण करने वाला अज्ञानी साधु है और इससे विपरीत लक्षणों वाला साधु ज्ञानी साधु है अज्ञानी साधु निरन्तर विषय सामग्री का चिन्तन करता है। जैसा कि कहा है—

अलकवलय—जो घुंघराले बालोंसे सुन्दर हैं भ्रकुटी रूपलता के नृत्य से मनोहर है, नेत्रोंके नये नये विलास से सहित है, सुन्दर कपोलों से सुशोभित है और मीठे २ वचनों से युक्त हैं ऐसा, मन्दमुसकान से युक्त बिम्बफलके समान लाललाल ओंठों वाली प्रिया का वह मुख ऐसा जान पड़ता है मानों मेरे सामने ही स्थित हो ॥१॥

कर्णावतंस—जो पुरुष रागवश स्त्रियों के कानों में आभूषण पहिनाना, मुखको सुसज्जित करना, गले में आभूषण बांधना, स्तनों पर पत्र रचना करना नितम्ब पर मेखला कसना तथा पैरों में महावर से चर्चण करना आदि करते हैं वे ही धन्य हैं–भाग्य शाली हैं ॥ २ ॥

लिलाविलास—जिसके नेत्र रूपी नील कमल लीला से सुशोभित हो रहे हैं, जिसका अधर पल्लव अत्यधिक कामकी बाधा से चुञ्चल हो रहा है और जिसका स्तन मण्डल उन्नत तथा स्थूल है उस प्रिया का मेरे साथ संगम कब होगा ॥ ३ ॥

[1]—एते सर्वेश्लोकाः यशस्तिलक चम्पूः लोकाः]

किंच—

चित्रालेखनकर्मभिर्मनसिजव्यापारास्मृतैर्गाढाभ्यासपुरःस्थितप्रियतमापादप्रणामक्रमैः ।
स्वप्ने संगमविप्रयोगविषयप्रीत्यप्रमोदागमैरित्थं वेषमुनिर्दिनानि गमयत्युत्कंठितः कानने ॥ १ ॥

इत्यादिसुदतीचिन्तनेनाज्ञानी मूढः कथ्यते । *णाणी एत्तो दु विवरीदो* ज्ञानी निर्मोहो मुनिः एतस्मा-दुक्तलक्षणात् साधोर्विपरीतः शुभवस्तुयोगे सति रागं न करोतीति तात्पर्यार्थः ।

आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि ।
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥ ५५ ॥

आस्रवहेतुश्च तथा भावो मोक्षस्य कारणं भवति ।
स तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीतः ॥

आसवहेदू य तहा आस्रवहेतुश्च तथा यथेष्टवनितादिविषये राग आस्रवहेतुर्भवति तथा निर्विकल्प समाधिं विना मोक्षस्यापि रागः कर्मास्रवहेतुर्भवति । *सो तेण दु अण्णाणी* स साधुर्मोक्षेऽपि रागभाव कुर्वाणः तेन कारणेन पुण्यकर्मबन्धहेतुत्वादज्ञानी भवति—मूढः स्यात् *आदसहावस्स विवरीदो* आत्मस्व-भावान्निर्विकल्पसमाधिलक्षणात्मध्यानरूपाद्विपरीतः । तथा चोक्तमेकत्वसप्तत्यां—

और भी कहा है—

चित्रालेखन—वह वेषधारी मुनि कभी प्रियतमा का चित्र बनाने बैठता था पर कामको सारपूर्ण व्यापार अर्थात् संभोग के स्मरण से उसे बीच में ही भूल जाता था। कभी प्रगाढ संस्कार के कारण उसे प्रियतमा सामने बैठो दिखतीं थी और वह उसके चरणों में प्रणाम करता था। कभी स्वप्नमें संगम होनेसे प्रसन्न हो उठता था और वियोग से दुखी हो जाता था इस प्रकार वेषको धारण करने वाला वह मुनि उत्कण्ठित होकर वन में दिन व्यतीत करता था ॥ १ ॥

गाथार्थ—जिस प्रकार इष्ट विषय का राग कर्मास्रव का हेतु है उसी प्रकार मोक्ष विषयक राग भी कर्मास्रव का हेतु है और इसी रागभाव के कारण यह जीव अज्ञानी तथा आत्म स्वभाव से विपरीत होता है ॥ ५५ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार इष्ट वनिता आदि विषय का राग कर्मास्रवका कारण होता है उसी प्रकार निर्विकल्प समाधि के विना मोक्ष का भी राग कर्मास्रव का हेतु होता है। मोक्ष विषयक रागभाव कर्मक्षय का कारण न होकर पुण्य कर्म बन्धका कारण होता है अतः उस रागभाव के कारण यह जीव अज्ञानी अर्थात् निर्विकल्प समाधि रूप आत्म स्वभाव से विपरीत होता है।

[1]स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते ।
अन्यस्मै तत्कथं शान्ताः स्पृहयन्ति मुमुक्षवः ।।

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो ।
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ।। ५६ ।।

यः कर्मजातमतिकः स्वभावज्ञानस्य खण्डदूषणकरः ।
स तेन तु अज्ञानी जिनशासनदूषको भणितः ।

जैसा कि एकत्व सप्तति में कहा गया है—

स्पृहा—जब मोह से उत्पन्न हुई मोक्षकी इच्छा भी मोक्षके निषेध के लिये होती है तब शान्त मुमुक्ष जन अन्य पदार्थ की इच्छा कैसे कर सकते हैं ?

[रागभाव मात्र बन्धका कारण है अतः वह राग चाहे इष्ट विषय सम्बन्धी हो चाहे मोक्ष सम्बन्धी । यह जुदी है कि इष्ट विषय सम्बन्धी राग पाप कर्मके बन्धका कारण है और मोक्ष का राग पुण्य बन्धका कारण है । चन्दन यद्यपि ठण्डा होता है तथापि उसमें लगी आग जलाने का ही काम करती है । जो इस राग भावको उपादेय मानता है वह अज्ञानी है तथा आत्म स्वभाव से विपरीत है । यह कथन कर्म बन्धन की अपेक्षा जानना चाहिये वैसे दोनों रागों में तारतम्य बहुत है विषय सम्बन्धी राग संसार का ही कारण है परन्तु मोक्ष सम्बन्धी राग परम्परा से मोक्षका भी कारण है ।

इस गाथा में 'जहा' शब्द नहीं है तथा 'मोक्खस्स' के साथ 'कारणं' शब्द प्रथमान्त पृथक् दिया हुआ है इसलिये एक अर्थ यह भी समझ में आता है–

"भाव ही आस्रव का हेतु है भाव ही मोक्षका कारण है और उस भाव से ही यह जीव अज्ञानी तथा आत्म स्वभाव से विपरीत होता है ।"

भावार्थ—शुभ–अशुभ रागरूप भाव कर्मास्रवका हेतु है, निर्विकल्प समाधि रूप भाव मोक्षका कारण है तथा मोह रूप भावके कारण यह जीव अज्ञानी तथा निर्विकल्प-समाधि रूप आत्मस्वभाव से च्युत होता है ।

गाथार्थ—कर्म जन्य मतिज्ञान को धारण करने वाला जो जीव स्वभाव ज्ञान—केवल ज्ञान का खण्डन करता है अथवा उसमें दोष लगाता है वह अपने इस कार्य से अज्ञानी तथा जिनधर्म का दूषक कहा गया है ।। ५६ ।।

विशेषार्थ—जो पुरुष ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न पांच इन्द्रियों और

१—पद्मनन्दि पञ्च विंशती ।

जो कम्मजादमइओ यः पुमान् कर्मजातमतिक इन्द्रियानिन्द्रियाणि खलु कर्मजातानि तदुत्पन्नमति-लेशसंयुक्तः । *सहावणाणस्स खंडदूसयरो* स्वभावज्ञानस्यात्मोत्थज्ञानस्य केवलज्ञानस्य दूसयरो—दोषदायकः। आत्मनः खल्वतीन्द्रियज्ञानं नास्ति चक्षुरादीन्द्रियजनितमेव ज्ञानं वर्तते इत्येवं स्वभावज्ञानस्य दूषणकरो भवति, अतीन्द्रियज्ञानं न मन्यते । खंडदूसयरो—खण्डज्ञानेन दूषणकरः कश्चिन्मिथ्यादृष्टिः । *सो तेण दु अण्णाणी* स पुमान् तेन तु दूषणदानेन अज्ञानी ज्ञातव्यो ज्ञानियो ज्ञेयो वेदितव्य इति यावत् । स कथंभूतः, *जिणसासणदूसगो भणिदो* जिनशासनस्यार्हतमतस्य दूषको दोषभाषको भणितः—स नरकदुखं प्राप्स्यति । तथा चोक्तं पुष्पदन्तेन महाकविना काव्यपिशाचखण्डकव्यपरनामद्वयेन—

सव्वण्हु अणिदिओ णाणमउ जो मइमूढु न पत्तियइ ।
सो णिंदिउ पंचिंदियणिरउ वैतरणिहिं पाणिउ पियइ ।: १ ।।

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहि संजुत्तं ।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ।। ५७ ।।

ज्ञानं चारित्रहीनं दर्शनहीनं तपोभिः संयुक्तम् ।
अन्येषु भावरहितं लिङ्गग्रहणेन किं सौख्यम् ।।

मनके निमित्त से होनेवाले अल्पतम मति ज्ञानसे युक्त होकर भी आत्मोत्थ—स्वभावभूत केवलज्ञान को दोष देता है अर्थात् कहता है कि आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं है चक्षु-रादि इन्द्रियों से होनेवाला ज्ञान ही है अतीन्द्रिय ज्ञानको नहीं मानता है तथा अपने खण्ड-ज्ञानसे दूषण लगाता है उसे उस दूषण के देनेसे अज्ञानी जानना चाहिये । ऐसा पुरुष जिन शासक का दूषक कहा गया है तथा उसके फल स्वरूप वह नरकको प्राप्त करता है । जैसाकि काव्य पिशाच और खण्डकवि इन दो दूसरे नामों को धारण करने वाले महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है—

सव्वण्हु—'सर्वज्ञ अतींन्द्रिय तथा केवल ज्ञानमय है' ऐसा जो मूढमति श्रद्धान नहीं करता है वह निन्दित है, पञ्चेन्द्रियों के विषयों में निरत है तथा वैतरणी नदी का पानी पीता है अर्थात् मरकर नरक जाता है ।

गाथार्थ—चारित्र रहित ज्ञान सुख करनेवाला नहीं है, सम्यग्दर्शन से रहित तपों से युक्त कर्म सुख करने वाला नही है, तथा छह आवश्यक आदि अन्य कार्यों में भी भाव रहित प्रवृत्ति सुख करने वाली नहीं है फिर मात्र लिङ्ग ग्रहण करनेसे क्या सुख मिल जायगा ?

विशेषार्थ—चारित्र के विना ज्ञान कार्यकारी नहीं है, सम्यग्दर्शन से रहित तप-

णाणं चरित्तहीणं ज्ञानं चरित्रहीनं सौख्यकरं न भवतीति सम्बन्धः। *दंसणहीणं तवेहि संजुत्तं* दर्शनहीनं सम्यग्दर्शनरत्नरहितं तपोभिः संयुक्तं कर्म सौख्यकरं न भवतीति सम्बन्धः। *अण्णेसु भावरहियं* अन्येषु षडावश्यकादिषु भावरहितं कर्म। *लिंगग्गहणेण किं सोक्खं* लिंगग्रहणेन वेषमात्रेण आत्मभावनारहितेन कर्मणा किं सौख्यं भवति—अपितु सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षसुखं न भवतीति भावार्थः।

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी।
सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा॥ ५८॥

अचेतनमपि चेतयितारं यो मन्यते स भवति अज्ञानी।
स पुन ज्ञानी भणितः यो मन्यते चेतने चेतयितारम्॥

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी चेतयितारमात्मानं यः पुमान् कापिलमतानुसारी अचेतनमात्मानं मन्यते स पुमान् अज्ञानी ज्ञानवर्जितो मूर्खो भवेत्। *सो पुण णाणी भणिओ* स पुमान् पुनर्ज्ञानी भणितः। स कः? *जो मण्णइ चेयणे चेदा* यः पुमान् चेतने चेतनद्रव्ये चेतयितारमात्मानं मन्यते।

उक्तं च—

श्चरण कार्यकारी नहीं है इसी तरह छह आवश्यक आदि में भाव रहित प्रवृत्ति भी कार्यकारी नहीं है फिर आत्म भावना से रहित वेष मात्र से क्या सुख हो सकता है? अर्थात् उसमे सर्वकर्म क्षय रूप मोक्ष सुख प्राप्त नहीं हो सकता है॥५७॥

[इस गाथा का एक भाव यह भी हो सकता है—हे साधो! तेरा ज्ञान यथार्थ चारित्र से रहित है तेरा तपश्चरण सम्यग्दर्शन से रहित है तथा तेरा अन्य कार्य भी भाव से रहित है अतः तुझे लिङ्ग ग्रहण से—मात्र वेष धारण से क्या सुख प्राप्त होसकता है? अर्थात् कुछ नहीं।]

गाथार्थ—जो अचेतन को भी चेतयिता मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतन को चेतयिता मानता है वह ज्ञानी कहा गया है॥ ५८॥

विशेषार्थ—सांख्य मतका अनुसरण करने वाला जो पुरुष चेतयिता अर्थात् आत्मा को अचेतन अर्थात ज्ञान से शून्य मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतन द्रव्य में चेतयिता—आत्मा को मानता है वह ज्ञानी है।

भावार्थ—सांख्यों का कहना है कि पुरुष तो उदासीन चेतना स्वरूप है नित्य है और ज्ञान प्रधान का धर्म है। इस मत में पुरुष कूं उदासीन चेतना स्वरूप माना सो ज्ञान विना जड़ ही हुआ। ज्ञानके विना चेतन किस प्रकार हो सकता है? ज्ञानको प्रधान का धर्म माना और प्रधान को जड़ माना तब अचेतन में चेतना मानने से अज्ञानी ही हुआ। नैयायिक और वैशेषिक गुण गुणी में सर्वथा भेद मानते हैं इसलिये इनके मतसे

स यदा दुःखत्रयोपतप्तचेतास्तद्विघातकहेतुजिज्ञासोत्सेकितविवेकस्रोताः स्फाटिकाश्मानमिवानन्दात्मानमप्यात्मानं सुखदुःखमोहावहपरिवर्तैर्महदहंकारविवर्तैश्च कलुषयन्त्याः सत्वरजःसाम्यावस्थापरनामवत्याः सनातनव्यापिगुणाधिकृतः प्रकृतेः स्वरूपमवगच्छति तदायामयगोलकानलतुल्यवर्गस्य बोधबद्धहुधानकसंसर्गस्य सति विसर्गे सकलज्ञानज्ञेयसम्बन्धवैकल्यं कैवल्यमवलम्बते तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिरिति कापिलाः विवदन्तः प्रतिवक्तव्याः—

कपिलो यदि वांछति विप्तिमचिति सुरगुरुगीर्गुफेष्वेष पतति ।
चैतन्यं बाह्यग्राह्यरहितमुपयोगि कस्य [१]वद तत्र विदित ॥१॥

चेतना गुण जीवसे पृथक् है और चेतना गुण के पृथक् रहने से जीव अचेतन सिद्ध होता है अतः अचेतन को चेतन मानने के अज्ञानी दशा है। इसी प्रकार भूतवाती चार्वाक पृथिवी जल अग्नि और वायु के संयोग से चेतना की उत्पत्ति मानते हैं सो भूत तो जड़ हैं उनसे चेतना किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ? इसलिये अन्यमत वादियों का कथन अज्ञान से भरा हुआ है। यथार्थ में जीव द्रव्य ज्ञान गुण से तन्मय है इनमें गुण गुणी भाव अवश्य है परन्तु प्रदेश भेद नहीं है। ज्ञानगुण से तन्मय होनेके कारण जीव द्रव्य चेतन कहलाता है इसलिये चेतन को चेतन कहना अचेतन को अचेतन कहना चेतन को अचेतन नहीं कहना और अचेतन को चेतन नहीं कहना ज्ञानी जीवकी पहिचान है—

सांख्यों के यहां मुक्ति का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

स यदा तु—शारीरिक मानसिक और आधि भौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों से इस जीवका चित्त निरन्तर संतप्त रहता है परन्तु उन दुःखों के विघात के कारणों की जिज्ञासा से जब इसके विवेक का स्रोत प्रस्फुटित होता है तब यह स्फटिक के समान स्वच्छ आनन्द रूप आत्मा को सुख दुःख तथा मोह के परिवर्तनों और महत् तथा अहंकार की विवर्तों से कलुषित करने वाली सत्व और रजोगुण को साम्यवस्था रूप दूसरे नाम से युक्त प्रकृति के स्वरूप को समझ लेता है तब लोहे के गोलों में जिस प्रकार अग्निका सम्बन्ध तन्मयके समान जान पड़ता है उसी प्रकार ज्ञानके साथ आत्मा का तन्मय सम्बन्ध होनेसे आत्मा ज्ञानमय जान पड़ता है परन्तु जब वह पर पदार्थों का सम्बन्ध यहां तक कि ज्ञान ज्ञेय सम्बन्धी समस्त विकल्प भी विलीन होजाता है और पुरुष कैवल्य अर्थात् मात्र अपने आपका अवलम्बन करने लगता है तब दृष्टा पुरुष जो अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है उसे मुक्ति कहते हैं इस प्रकार विवाद करते हुए सांख्योंके प्रति यों कहना चाहिये—

[१]—वंचत ।

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥ ५६ ॥

तपोरहितं यत् ज्ञानं ज्ञानवियुक्तं तपोऽपि अकृतार्थं ।
तस्मात् ज्ञानतपसा संयुक्तः लभते निर्वाणम् ॥

तवरहियं जं णाणं तपोरहितं यज्ज्ञानं तदकृतार्थमिति सम्बन्धः । *णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो* ज्ञानवियुक्तं ज्ञानरहितं अज्ञानं तपोऽपि अकृतार्थं मोक्षं न साधयति । *तह्मा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं* तस्मात्कारणात् ज्ञानतपसा ज्ञानं च तपश्च ज्ञानतपः समाहारो द्वन्द्वस्तेन ज्ञानतपसा । अथवा ज्ञानेनोपलक्षितं तपो ज्ञानतपस्तेन तथोक्तेन संयुक्तो मुनिर्लभते निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षमित्यर्थः ।

तथा चोक्तं—

मान्यं ज्ञानं तपोऽहीनं ज्ञानहीनं तपोऽहितं ।
द्वाभ्यां युक्तः स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः ॥ १ ॥

कपिलो—कपिल यदि अचेतन प्रधान में ज्ञान मानता है तो वह भी चार्वाकों के वचन जाल में फंसता है, अर्थात् जिस प्रकार चार्वाक अचेतन भूत चतुष्टक से चेतन की उत्पत्ति मानता है उसी प्रकार सांख्य का भी अचेतन प्रधान से चेतन की उत्पत्ति इसके उत्तर में यदि सांख्य कहता है कि मैं चैतन्य को तो मानता हूं परन्तु उसे बाह्य पदार्थों के ग्रहण से विमुख मानता हूं । इसके उत्तर में कहना यह है कि हे प्रख्यात पुरुष ! बाह्य पदार्थों के ग्रहण से विमुख चैतन्य किसके उपयोग आता है तुम्हीं बताओ ।

गाथार्थ—जो ज्ञान तपसे रहित है वह व्यर्थ है और जो तप ज्ञानसे रहित है वह भी व्यर्थ है, इसलिये ज्ञान और तपसे युक्त पुरुष ही निर्वाण को प्राप्त होता है ॥५९॥

विशेषार्थ—तप रहित ज्ञान अकार्य कारी है, और ज्ञान रहित तप भी अकार्य कारी है अर्थात् मोक्षका साधक नहीं है इसलिये ज्ञान और तप अथवा ज्ञान से उपलक्षित तप से सहित मुनि ही सर्व कर्मरूप रूप मोक्षको प्राप्त होता है । जैसा कि कहा है—

मान्यं—तपसे अहीन अर्थात् सहित ज्ञान ही मान्य है—आदरणीय है और ज्ञान से हीन तप अहित है—कर्म बन्ध का कारण होनेसे अहित कारी है । जो मुनि ज्ञान और तप दोनोंसे युक्त है वह देव होजाता है अर्थात् घाति चतुष्क का क्षय कर अरहन्त बन जाता है और जो दोनों से रहित है वह मात्र संघ की पूर्ति करता है अर्थात् संघ की संख्या बढाता है आत्मकल्याण नहीं करता है ॥१॥

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं ।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ।। ६० ।।

ध्रुवसिद्धिस्तीर्थंकरः चतुष्कज्ञानयुतः करोति तपश्चरणम् ।
ज्ञात्वा ध्रुवं कुर्यात् तपश्चरणं ज्ञानयुक्तोपि ।।

धुवसिद्धी तित्थयरो ध्रुवसिद्धिरवश्यं मोक्षगामी, कोऽसौ ? तीर्थंकरः तीर्थंकरपरमदेवः । *चउणाण-जुदो करेइ तवयरणं* दीक्षानन्तरमेवोत्पन्नमनःपर्ययज्ञानः तथापि तपश्चरणं त्रिरात्रादिकं तपश्चरणं करोति । *णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि* इति ज्ञात्वा, ध्रुवमिति निश्चयेन, कुर्याद्विदध्यात्, किं तत् ? तपश्चरणं ज्ञानयुक्तोऽपि । अहं सकलशास्त्रप्रवीणः किं ममोपवासादिना तपश्चरणेनेति न वाच्यमिति भावः । उक्तं च—

उववासहो एक्कहो फलेण संवोहियपरिवारु ।
णायदत्तु दिवि देव हुउ पुणरवि णायकुमारु ।। १ ।।
तें कारणि जिय पइभणमि करि उववासब्भासु ।
जाम्व ण देहकुडिल्लयहि दुक्कइ मरणहुं यासु ।। २ ।।
यदज्ञानेन जीवेन कृतं पापं सुदारुणं ।
उपवासेन तत्सर्वं दहत्यग्निरिवेन्धनं ।। १ ।।

गाथार्थ—जो ध्रुव सिद्धि है—अर्थात् जिन्हें अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होना है तथा जो चार ज्ञानों से सहित हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान भी तपश्चरण करते हैं ऐसा जानकर ज्ञान युक्त पुरुष को तपश्चरण करना चाहिये ।।६०।।

विशेषार्थ—यद्यपि तीर्थंकर भगवान् नियम से मोक्षगामी है तथा दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञानके भी उत्पन्न होजाने से चार ज्ञानके धारी हैं तथापि वे वेला तेला आदि उपवास करते है ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष को भी तपश्चरण करना चाहिये । यह नहीं विचारना चाहिये कि मैं तो सकल शास्त्रों में प्रवीण हूं मुझे उपवास आदि तपश्चरण करने से क्या प्रयोजन है । कहा भी है—

उववासहो—एक उपवास के फलसे परिवार को संबोधित करने वाला नागदत्त स्वर्ग में देव हुआ और फिर नागकुमार हुआ ।।१।।

तेंकारणि—इसलिये हे जीव ! मैं कहता हूं कि जब तक शरीर रूपी कुटी पर मरण रूपी अग्नि का आक्रमण नहीं होता है तब तक उपवास का अभ्यास कर ।।२।।

यदज्ञानेन—इस जीवने अज्ञान वश जो भयंकर पाप किया है उपवास से वह सब उस

तथा चोक्तं प्रभाचन्द्रेण तार्किकलोकशिरोमणिना—

उपवासफलेन भजंति नरा भुवनत्रयजातमहाविभवान् ।
खलु कर्ममलप्रलयादचिरादजरामरकेवलसिद्धिसुखं ॥ १ ॥

[1]होइ वणिज्जु ण पोट्टलिहिं उववासें णउ धम्मु ।
एउ अहाणउ सो चवइ जसु कउ भारत कम्मु ॥ १ ॥

[2]पोट्टलियहि मणिमोति यहं धणु कित्तइवि ण जाइ ।
बोरिहि भरिय वलद्दडइं तं णाहि जोक्खाइ ॥

आत्मशुद्धिरियं प्रोक्ता तपसैव विचक्षणैः ।
किमग्निना विना शुद्धिरस्ति कांचनशोधने ॥ १ ॥

बाहरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहिदपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥ ६१ ॥

प्रकार जल जाता है जिस प्रकार कि अग्नि से ईंधन ॥३॥

ऐसा ही तार्किकजनों के शिरोमणि प्रभाचन्द्र ने कहा है—

उपवासफलेन—उपवास के फलसे मनुष्य तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले महान् वैभवों को प्राप्त होते हैं और कर्म रूपी मल को नष्ट कर निश्चय से शीघ्र ही अजर अमर पद केवल ज्ञान और मोक्ष के सुखको प्राप्त होते है ॥१॥

होइवणिज्जु—पोटली (कपड़े की छोटी सी गठरी) से वाणिज्य नहीं हो सकता और उपवास करने से धर्म नहीं हो सकता ऐसा अहाना (लोकोक्ति) वही कहता है जिसके कर्म भारी हैं ।

पोट्टलियहिं—मणि और मोतियों की पोटली (गठरी) का धन कितना है कहा नहीं जाता । वह धन बोरों से भरे हुए बैलों से नहीं जोखा जा सकता—नहीं तोला जा सकता क्योंकि अतुल है ।

आत्मशुद्धि—यह आत्म शुद्धि तपसे ही हो सकती है ऐसा विद्वानों ने कहा है । क्या सुवर्ण के शोधने में अग्नि के विना शुद्धि हो सकती है ? अर्थात् नहीं ।

गाथार्थ—जो साधु बाह्य लिङ्ग से तो सहित है परन्तु जिसके शरीर का संस्कार (प्रवर्तन) आभ्यन्तर लिङ्ग से रहित है वह आत्म चारित्र से भ्रष्ट है तथा मोक्षमार्ग का नाश करने वाला है ॥६१॥

१— [illegible] दोहा १०६ । २— [illegible] दोहा ११० ।

बहिर्लिंगेन युतो अभ्यंतरलिंगरहितपरिकर्मा ।

स स्वकचरित्रभ्रष्टः मोक्षपथविनाशकः साधुः ।

बाहिरलिंगेण जुदो बहिर्लिंगेन युतो नग्नमुद्रासहितः । *अब्भंतरलिंगरहिपरियम्मो* अभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा आत्मस्वरूपभावनारहितं परिकर्म अंगसंस्कारो यस्य सोऽभ्यन्तरलिंगरहितपरिकर्मा । *सो सगचरित्तभट्ठो* स साधु स्वकचरित्रभ्रष्टः । *मोक्खपहविणासगो साहू* मोक्षपथविनाशकः साधुः स साधर्मोक्षमार्गविध्वंसको ज्ञातव्यो ज्ञानीयो ज्ञेयः । इति भावं ज्ञात्वा निजशुद्धबुद्धैकस्वभावे आत्मतत्वे नित्यं भावना कर्तव्या साधोः ।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।

तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥ ६२ ॥

सुखेन भावितं ज्ञानं दुःखे जाते विनश्यति ।

तस्माद् यथाबलं योगी आत्मानं दुःखैः भावयेत् ॥

सुहेण भाविदं णाणं सुखेन नित्यभोजनादिना भावितं वासितं ज्ञानं आत्मा । *दुहे जादे विणस्सदि* दुःखे जाते सति भोजनादेरप्राप्तौ सत्यां विनश्यति आत्मभावनाप्रच्युतो भवति । *तम्हा जहा बलं जोई* तस्मात्कारणाद्यथाबलं निजशक्त्यनुसारेण योगी मुनिः । *अप्पा दुक्खेहिं भावए* आत्मानं दुःखैरनेकतपःक्लेशैः भावयेद्वासयेत् दुःखाभ्यासं कुर्यादित्यर्थः ।

विशेषार्थ—बाह्य लिङ्ग अर्थात् नग्न मुद्रा से सहित होनेपर भी जिसके शरीर की प्रवृत्ति आभ्यन्तर लिङ्ग से रहित है अर्थात् आभ्यन्तर स्वरूप की भावना से शून्य है वह साधु आत्म चारित्र से भ्रष्ट है तथा मोक्ष मार्ग का विध्वंस करने वाला है ऐसा जानकर साधुको शुद्धबुद्धैक स्वभाव से युक्त निज आत्म तत्व की भावना करना चाहिये ।

[मोक्षमार्ग के प्रवर्तन के लिये बाह्य लिङ्ग को निर्दोष प्रवृत्ति तथा तदनुरूप आत्म तत्व की भावना और रागादि विकारों के अभाव की आवश्यकता है जिस साधु में उक्त वातों की कमी है वह यथार्थ चारित्र से रहित है तथा अपनी प्रवृत्तिसे मोक्षमार्ग को दूषित करने वाला है ।]

गाथार्थ—सुख से वासित ज्ञान दुःख उत्पन्न होनेपर नष्ट होजाता है इसलिये योगी को यथाशक्ति आत्माको दुःख से वासित करना चाहिये ॥६२॥

विशेषार्थ—नित्य प्रति भोजन करना आदि सुखिया स्वभाव से जो ज्ञानका अर्जन होता है वह भोजनादि की अप्राप्ति जन्य दुःख के उपस्थित होनेपर नष्ट होजाता है । अथवा ज्ञान का अर्थ आत्मा है जो आत्मा सुखसे वासित है वह दुःख के उत्पन्न होनेपर आत्म भावना से च्युत होजाता है इसलिये योगी को चाहिये कि वह निज शक्तिके

आहारासणणिद्दाजयं च काऊण जिणवरमएण।
झायव्वो णियअप्पा णाऊणं गुरुपसाएण ॥ ६३ ॥

आहारासननिद्राजयं च कृत्वा जिनवरमतेन।
ध्यातव्यो निजात्मा ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥

आहारासणणिद्दा जयं च काऊण जिणवरमएण आहारासननिद्राजयं च कृत्वा जिनवरमतेन, शनैः शनैः आहारोऽल्पः क्रियते। शनैः शनैरासनं पद्मासनं उद्भासनं चाभ्यस्यते। शनैः शनैः निद्रापि स्तोका स्तोका क्रियते एकस्मिन्नेव पार्श्वे पार्श्वपरिवर्तनं न क्रियते। एवं सति सर्वोऽप्याहारस्त्यक्तुं शक्यते आसनं च कदाचिदपि त्यक्तुं [१](न) शक्यते। निद्रापि कदाचिद्त्यक्तुं शक्यते। अभ्यासात् किं न भवति? तस्मादेवकारणात्केवलिभिः कदाचिदपि न भुज्यते। पद्मासन एव वर्षाणां हस्रैरपि स्थीयते, निद्राजयेनाप्रमत्तैर्भूयते, स्वप्नो न दृश्यते। एवं जिनवरमतेन वृषभस्वामिवीरचन्द्रशासनेनानुशील्यते। *झायव्वो णियअप्पा* ध्यातव्यो निज आत्मा। *णाऊण गुरुपसाएण* आत्मानमष्टाङ्ग[योगं] च ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन निर्ग्रन्थाचार्यवर्यस्य कारुण्येन। गुरुप्रसादं विना "द्रष्टव्यो वा रेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो

अनुसार अनेक ता सम्बन्धी दुःखों से आत्मा को वासित करे अर्थात् दुःख सहन करने का अभ्यास करे ॥ ६२ ॥

गाथार्थ—आहार आसन और निद्रा को जीतकर जिनेन्द्र देवके मतानुसार गुरुओं के प्रसाद से निज आत्मा को जानना चाहिये और जानकर उसीका ध्यान करना चाहिये।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र देवके मतानुसार पहले धीरे २ आहार अल्प किया जाता है। धीरे धीरे पद्मासन और खड्गासन का अभ्यास किया जाता है तथा धीरे २ निद्रा भी कम कम की जाती है एक ही करवट से शयन करनेका अभ्यास किया जाता है करवट नहीं बदली जाती। इस तरह अभ्यास होते २ सभी आहार का त्याग किया जा सकता है। आसन का कभी भी त्याग नहीं किया जा सकता निद्रा भी कभी विलकुल छोड़ी जा सकती है। अभ्यास से क्या नहीं होता? इसी कारण केवली कभी भोजन नहीं करते। पद्मासन से ही हजारों वर्ष स्थित रहे आते हैं। निद्रा जीतने से अप्रमत्त रहा जाता है अर्थात् प्रमाद का अभाव होता है, स्वप्न नहीं दिखाई देता। इस तरह जिनेन्द्र देवके मतानुसार अभ्यास किया जाता है। साधुको चाहिये कि वह गुरुओं के प्रसाद से अर्थात् निर्ग्रन्थाचार्यवर्य की करुणा से आत्मा को तथा अष्टाङ्ग योग को जानकर उसका ध्यान करे। गुरुप्रसाद के विना आत्मा का ज्ञान होना संभव नहीं है। 'द्रष्टव्यो वारेऽयमात्मा श्रोत-

---

१—सर्वप्रतिषु नकारो नास्ति परन्तु आसनस्य त्यागः कथं शक्यः।

निदिध्यासितव्य" इति ब्रुवद्भिरपि वेदान्तवादिभिर्निवृत्तैः केनापि जनेन याज्ञवल्क्यादिना न प्राप्त इति भावार्थः ।

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा ।

सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥ ६४ ॥

आत्मा चारित्रवान् दर्शनज्ञानेन संयुत आत्मा ।

स ध्यातव्यो नित्यं ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥

अप्पा चरित्तवंतो आत्मा चारित्रवान् वर्तते आत्मात्मानमेवानुतिष्ठतीति कारणात् यस्य मुनेश्चारित्रे प्रीतिरस्ति स आत्मानमेवाश्रयत्विति भावार्थः । *दंसणणाणेण संजुदो अप्पा* दर्शनेन ज्ञानेन च सयुतः संयुक्तः, कोऽसौ ? आत्मा जीवतत्वं, अत्रापि स एव भावार्थः—यस्य मुनेर्दर्शने प्रेम वर्तते ज्ञाने वानुरागोऽस्ति स मुनिरात्मानमेवाश्रयतु तद्द्वयमपि तत्रैव वर्तते यस्मात् । *सो झायव्वो णिच्चं* स आत्मा ध्यातव्यो नित्यं सर्वकालं । रत्नानां त्रयस्योपायभूतस्यात्मलाभे मोक्षलाभे वा प्रीतिमत इत्यर्थः । *णाऊणं गुरुपसाएण* गुरोर्निर्ग्रन्थाचार्यस्य शिक्षादीक्षाचारवाचनादेश्च कर्तुः प्रसादेन कारुण्येन । अयं वस्तुस्वभावो वर्तते यदाचार्यप्रसन्नतयात्मलाभो भवति तद्विराधने सत्यात्मा न स्फुटीभवति । तथा चोक्तं—

गुणेषु ये दोषमनीषयान्धा दोषान् गुणीकर्तुमथेशते ये ।

श्रोतुं कवीनां वचनं न तेऽर्हाः सरस्वतीद्रोहिषु कोऽधिकारः ॥ १ ॥

व्योऽनमन्तव्यो निदिध्यासितव्य'—निश्चय से आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, अनुमन्तव्य और निदिध्यासितव्य है इस प्रकार गृह जंजाल से निवृत्त वेदान्त वादी कहते अवश्य है परन्तु याज्ञवल्क्य आदि कोई भी उसे प्राप्त नहीं कर सका ॥६३॥

गाथार्थ—आत्मा चारित्र से सहित है, आत्मा दर्शन और ज्ञानसे युक्त है इसप्रकार गुरु के प्रसाद से जानकर उसका नित्य ही ध्यान करना चाहिये ॥६४॥

विशेषार्थ-आत्मा चारित्रवान् है इसलिये जिस मुनिकी चारित्रमें प्रीति है वह आत्माका ही आश्रय करे । आत्मा दर्शन और ज्ञान से सहित है इसलिये जिस मुनिका दर्शन और ज्ञान में अनुराग है वह आत्मा का आश्रय करे । गुरुका अर्थ निर्ग्रन्थाचार्य है उसके प्रसाद से आत्मा को जानकर उसका निरन्तर ध्यान करना चाहिये । यह वस्तु का स्वभाव है कि जिस आचार्य की प्रसन्नता से आत्म लाभ होता है उसकी विराधना आज्ञाभङ्ग करने पर आत्मा अच्छी तरह स्पष्ट नहीं होती । जैसा कि कहा है—

गुणेषु ये—जो गुणों में दोष बुद्धि से अन्धे हैं अर्थात् गुणों को दोष सिद्ध करते हैं और दोषों को गुण सिद्ध करने की सामर्थ्य रखते है वे कवियों के वचन सुनने के योग्य नहीं हैं । सरस्वती द्रोहियों का अधिकार ही क्या है ?

अथवा गुरूणां पंचतयानां परमेष्ठिनां प्रसादादात्मा प्रभुर्लभ्यते । तेषां प्रसादं विना आत्मप्रभुर्न प्राप्यत इत्यर्थः । यथा राजानं द्रष्टुकामः कश्चित् पुमान् तत्सामन्तकादीन् पूर्वं पश्यति ते तु राजानं मेलयन्ति, ताननन्तरेण तत्र प्रवेष्टुमपि न लभ्यते इति कारणात् पूर्वं पंचदेवताः प्रसादनीया आत्मलाभमिच्छता योगिनेति भावार्थः ।

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं ।
भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं ॥ ६५ ॥

दुःखेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दुःखम् ।
भावितस्वभावपुरुषो विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥

दुक्खं णज्जइ अप्पा दुःखेन महता कष्टेन तावदात्मा ज्ञायते आत्मास्तीति बुद्धिरुत्पद्यते । *अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं* यद्यात्मास्तीति ज्ञातं तदा तस्मिन्नात्मनि भावना वासनाऽहर्निशचिन्तनं तद्गुणस्मरणादिकं दुःख दुष्प्राप्यं भवति । *भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चए दुक्खं* भावितस्वभावः पुरुष आत्मभावनासहितोऽपि सूरिः यद्विषयेषु वनिताजनस्तनजघनवदनलोचनादिविलोचनं तद्वार्तालापगोष्ठीषु शरीरस्पर्शनादिसुखेषु विरज्यति तत्सुखं हालाहलविषास्वदनवज्जानाति तदतीव दुःख दुष्करमिति तात्पर्यार्थः ।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥ ६६

अथवा गुरु से पञ्च परमेष्ठियों का ग्रहण करना चाहिये उन्हीं के प्रसाद से आत्मा रूपी प्रभुका लाभ होता है अर्थात् उनके प्रसादके विना आत्मा रूपी प्रभुकी प्राप्ति नहीं होती । जिस प्रकार राजाके दर्शनकी इच्छा करने वाला कोई पुरुष पहले उनके सामन्त आदि से मिलता है क्योंकि वे उसे राजा से मिला देते हैं उनके विना वहां प्रवेश भी प्राप्त नहीं होता इसलिये आत्मलाभ के इच्छुक मुनिको पहले पञ्चपरमेष्ठियों को प्रसन्न करना चाहिये ॥६४॥

गाथार्थ—प्रथम तो आत्मा दुःख से जानी जाती है, फिर जान कर उसकी भावना दुःख से होती है फिर आत्म स्वभाव की भावना करने वाला पुरुष दुःख से विषयों में विरक्त होता है ॥६५॥

विशेषार्थ—प्रथम तो 'मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार की बुद्धि ही बड़े दुःख से उत्पन्न होती है तदनन्तर आत्मा हूँ इस प्रकार का ज्ञान भी यदि होजाता है तो उस आत्मा की निरन्तर भावना करना—रातदिन उसी के गुणोंका स्मरण आदि करना दुःख है—दुष्प्राप्य हैं तदनन्तर यदि आत्मा की भावना भी होती है तो स्त्री आदि विषयों से विरक्त होना दुःख है—दुष्प्राप्य है ॥६५॥

तावत् न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नरः प्रवर्तते यावत् ।
विषये विरक्तचित्तः योगी जानाति आत्मानम् ॥

ताम ण णज्जइ अप्पा तावत्कालमात्मा न ज्ञायते । तावत्किंयत् ? *विसएसु णरो पवट्टए जाम* यावत्कालं विषयेषु पूर्वोक्तलक्षणेषु नरो जीवः प्रवर्तते व्याप्रियते । *विसए विरत्तचित्तो* विषये पूर्वोक्तलक्षणे विरक्तचित्तो निवृत्तचेता यती । *जोई जाणेइ अप्पाणं* योगी ध्यानवान् पुमान् महामुनिरात्मानं जानाति प्रत्यक्षतया पश्यति ।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा ।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ ६७ ॥

आत्मानं ज्ञात्वा नराः केचित्सद्भावप्रभ्रष्टाः ।
हिण्डन्ते चातुरङ्गं विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥

अप्पा णाऊण णरा आत्मानं ज्ञात्वा आत्मास्तीति सम्यग्विज्ञाय नरा बहिरात्मजीवाः । *केई सब्भावपब्भट्ठा* केचित् सद्भावप्रभ्रष्टाः केचित् विवक्षिताः सन् समीचिनो भावः सद्भावः निजात्मभावना तस्मात्प्रभ्रष्टा निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मभावनाप्रच्युता विषयसुखदुर्भावनासु रता इत्यर्थः । *हिंडंति चाउरंगं* हिण्डन्ते परिभ्रमन्ति पर्यटनं कुर्वन्ति चाउरंगं—चतुरंग भवं चातुरगं चतर्गतिसंसारसंसरणं यथा भवत्येवं । *विसएसु विमोहिया मूढा* विषयेषु पंचेन्द्रियार्थेषु स्पर्शरसगन्धवर्णशब्देषु विमोहिता लोभं गताः, ते च विषया अनादिकाले जीवेनास्वादिताः, आत्मोत्थस्वाधीनं सुखं कदाचिदपि न प्राप्ताः । तथा चोक्तं—

गाथार्थ—जब तक मनुष्य विषयों में प्रवृत्ति करता है तब तक आत्मा नहीं जानी जाती अर्थात् आत्म ज्ञान नहीं होता । विषयों से विरक्त चित्त योगी ही आत्मा को जानता है ॥ ६६ ॥

विशेषार्थ—तब तक आत्मा नहीं जानी जाती जब तक की मनुष्य विषयों में प्रवृत्त होता रहता है । यथार्थ में विषयों से विरक्त चित्त योगी ही अर्थात् महामुनि ही आत्माको जानता है ॥ ६६ ॥

गाथार्थ—आत्माको जानकर भी कितने ही लोग सद्भाव की भावना से--निजात्म भावना से भ्रष्ट होकर विषयोंमें मोहित होते हुए चतुर्गति रूपी संसारमें भटकते रहते है ।

विशेषार्थ—कितने ही बहिरात्मा जीव किसी तरह आत्मा को जान भी लेते हैं परन्तु शुद्ध-बुद्धैक स्वभाव आत्मा की भावना से भ्रष्ट होकर पञ्चेन्द्रियों के स्पर्श रसगन्ध वर्ण और शब्द रूप विषयों में लुभाजाते हैं और उसके फल स्वरूप चतुरङ्ग--चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं । इस जीवने पञ्चेन्द्रियों के विषय अनादि कालसे

अदृष्टं किं किमस्पृष्टं किमनाघ्रातमश्रुतं ।
किमनास्वादितं येन पुनर्नवमिवेक्ष्यते ॥ १ ॥
भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ २ ॥

विषयेषु विमोहिता ये ते मूढा अज्ञानिना बहिरात्मान इत्यथः । तेन बहिरात्मभावं परित्यज्यात्मभावना कर्तव्या ।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥ ६८ ॥

ये पुनः विषयविरक्ता आत्मानं ज्ञात्वा भावनासहिताः ।
त्यजन्ति चातुरङ्गं तपोगुणयुक्ता न सन्देहः ॥

जे पुण विसयविरत्ता ये पुनरासन्नभव्यजीवा विषयेभ्यो विरक्ताः पराङ्मुखा विषयेपूत्पन्नविषभावनाः । *अप्पा णाऊण भावणासहिया* आत्मानं ज्ञात्वा आत्मभावनासहिता भवन्ति । *छंडंति चाउरंगं*

प्राप्त किये परन्तु आत्मोत्थ स्वाधीन सुख कभी भी प्राप्त नहीं किया है । जैसा कि कहा है—

अदृष्ट—इन विषयों में ऐसा कौन विषय है जिसे इस जीवने पहले न देखा हो, न छुआ हो, न सूंघा हो, न सुना हो, न चखा हो, जिससे कि वह नवीन के समान दिखाई देता है ॥ १ ॥

भुक्तोज्झिता—मेरे द्वारा सभी पुद्गल वार वार भोगकर छोड़े गये हैं फिर आज मुझ ज्ञानी की जूंठन की तरह उन विषयों में मोह वश इच्छा करना क्या है ?

जो जीव विषयों में मोहित है वे मूढ हैं,--अज्ञानी हैं, बहिरात्मा हैं, अतः बहिरात्मभाव को छोड़कर आत्म भावना करना चाहिये ॥ ६७ ॥

गाथार्थ—और जो विषयोंसे विरक्त होते हुए आत्मा को जानकर उसको भावना से सहित रहते हैं वे तप रूपी गुण अथवा तप और मूलगुणों से युक्त होकर चतुरङ्ग संसार को छोड़ते हैं ॥६८॥

विशेषार्थ—जो निकट भव्य जीव विषयों को विषके समान देखते हुए उनसे विरक्त रहते हैं तथा आत्मा को जानकर सदा उसके शुद्धबुद्धैक स्वभाव की भावना रखते हैं वे तप रूप गुण अथवा बारह तप और अट्ठाईस मूलगुण तथा अनेक भेदोंसे युक्त उत्तर गुणों से सहित होते हुए चतुर्गति रूप संसार का त्याग करते हैं इसमें संशय नही है । जैसा कि महर्षि गौतम ने कहा है—

ते पुरुषास्त्यजन्ति, किं ? चातुरंगं संसारं । *तवगुणजुत्ता ण संदेहो* तप एव गुणस्तपोगुणस्तेन युक्ताः । अथवा तपो द्वादशभेदं गुणा अष्टाविंशतिर्मूलगुणा उत्तरगुणाश्च बहुभेदास्तैर्युक्ताः संसारं त्यजन्ति अत्र सन्देहो नास्ति संशयो न कर्तव्यः । उक्तं च गौतमेन महर्षिणा—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥ १ ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहि पण्णत्ता ।
एत्थ पमादकदादो अइचारादो णियत्तो हं ॥ २ ॥

[1]परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥ ६९ ॥

परमाणुप्रमाणं वा परद्रव्ये रति र्भवति मोहात् ।
स मूढोऽज्ञानी आत्मस्वभावाद्विपरीतः ॥ ६९ ॥

परमाणुपमाणं वा परमाणुप्रमाणं वा । *परदव्वे रदि हवेदि मोहादो* परद्रव्ये रतिर्भवति मोहाद-ज्ञानात् परमाणुमात्रापि रतिर्मोहादज्ञानाद्भवति, किमुच्यते बह्वी रतिः ? महती रतिस्तु अज्ञानाद्भवत्येव । *सो मूढो अण्णाणी* यस्य परद्रव्ये स्त्र्यादिविषये रतिर्भवति स मुनिर्मूढः तस्यैव पर्यायोऽज्ञानीति । *आदसहावस्स विवरीदो* स मुनिरात्मस्वभावाद्विपरीतः परद्रव्यरत इत्युच्यते बहिरात्मा कथ्यत इति भावार्थः । एवं ज्ञात्वा परमात्मानं परित्यज्य परद्रव्ये रतिर्न कर्तव्येति तात्पर्यार्थः ।

वदसमिदंदिय—पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियदमन, केशलोचन, छह आवश्यकोंका पालन, वस्त्र त्याग, स्नान त्याग, और एकवार खड़े २ भोजन करना ये मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हैं । इनमें प्रमादके कारण लगे हुए अतिचारों से मैं निवृत्त हुआ हूं ॥६८॥

गाथार्थ—जिसकी अज्ञान वश पर द्रव्यमें परमाणु प्रमाण भी रति है वह मूढ है, अज्ञानी है, और आत्मस्वभाव से विपरीत है ॥६९॥

विशेषार्थ—परद्रव्य विषयक रति अज्ञान के कारण होती है । जब कि परमाणु प्रमाण रति भी अज्ञान के कारण होती है तब अधिक रति तो अज्ञान से होती ही है । जिस साधु की स्त्री आदि परद्रव्य में रति है वह साधु मूढ है, उसीका दूसरा नाम अज्ञानी

---

[1]—परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स । ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥ अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो । कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ।२०२। समयसारे

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥ ७० ॥

आत्मानं ध्यायतां दर्शनशुद्धीनां दृढचारित्राणाम्।
भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ॥

अप्पा झायंताणं आत्मानं ध्यायतां मुनीनां। *दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं* दर्शनस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं चलमलिनत्वरहितसम्यक्त्वानां चर्मजलघृततैलभूतनाशनादिपरिहरतां शरीरमात्रदर्शनेन परगृहेषु कृतादिदोषरहिताशनमश्नतां दर्शनशुद्धिमतां, दृढचरित्राणां ब्रह्मचर्यप्रत्याख्यानादिदृढचारित्राणां। *होदि धुवं णिव्वाणं* भवति ध्रुवमिति निश्चयेन निर्वाणं मोक्षो भवति। *विसएसु विरत्तचित्ताणं* विषयेषु इष्टवनितालिङ्गनादिषु विरक्तचित्तानां विषयान् विषं मन्यमानानामिति संक्षेपतोऽर्थो ज्ञातव्यो ज्ञानीयो ज्ञेय इति।

जेण रागे परे दव्वे संसारस्स हि कारणं।
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणा ॥ ७१ ॥

येन रागे परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम्।
तेनापि योगी नित्यं कुर्यादात्मनि स्वभावनाम् ॥

है, ऐसा साधु आत्मस्वभाव से विपरीत है परद्रव्य में रत रहने वाला साधु बहिरात्मा कहा जाता है ऐसा जान परमात्माको छोड़कर परद्रव्यमें रति नहीं करना चाहिये ॥६९॥

गाथार्थ—जो आत्माका ध्यान करते है, जिनके सम्यग्दर्शन की शुद्धि विद्यमान है, जो दृढचारित्र के धारक हैं तथा जिनका चित्त विषयों से विरक्त हैं ऐसे पुरुषों को निश्चित ही निर्वाण प्राप्त होता है ॥७०॥

विशेषार्थ—जो मुनि आत्माका ध्यान करते हैं, जिनके सम्यग्दर्शन की निर्मलता है अर्थात् जिनका सम्यक्त्व चलमलिनत्व आदि दोषों से रहित है जो चमड़े के पात्र में रखे हुए जल घी तेल तथा हींग आदिका परित्याग करते हैं, जो शरीर मात्र दिखाकर दूसरों के घरों में कृतादि दोषों से रहित आहार ग्रहण करते हैं, जो ब्रह्मचर्य तथा प्रत्याख्यान आदि दृढ चारित्र से युक्त हैं तथा इष्ट-इस्त्री आदि पञ्चेन्द्रियों के विषयों में विरक्त चित्त हैं अर्थात् विषयोंको विषके समान मानते हैं उन मुनियों का निश्चय से निर्वाण मोक्ष प्राप्त होता है ॥७०॥

गाथार्थ—जिस स्त्री आदि पर्याय से परद्रव्य में राग होनेपर वह राग संसारका कारण होता है योगी उसी पर्यायसे निरन्तर आत्मा में आत्मा भावना करता है ॥७१॥

विशेषार्थ—साधारण मनुष्य के स्त्री आदि पर्याय के कारण परद्रव्य में जो राग

जेण रागे परे दव्वेन वनितादिना पर्यायेण, रागे सति राग उत्पन्ने, परकीये द्रव्ये आत्मनो भिन्ने वस्तुनि। *संसारस्स हि कारणं* स रागः कथंभूतः, संसारस्य भवभ्रमणस्य, हि निश्चयेन, कारणं हेतुः। *तेणावि* न केवलं आत्मनि आत्मभावनां कुर्यात् किन्तु तेनापि वनितादिना। *जोइणो* योगी। नित्यं-सर्वकालं। *अप्पे* आत्मनि। *स्वभावनं* आत्मभावनां कुर्यात्। कथमिति चेत्? इयमिष्टवनिता अनन्तकेवलज्ञानमयी वर्तते यथा ममात्मानन्तकेवलज्ञानमयो वर्तते। इयमहं च द्वावपि केवलज्ञानिनौ वर्तावहे। तेन इयमप्यात्मा ममेति को नाम पृथग्वर्तते येन सह स्नेहं करोमि। तथा चोपनिषद्—

> *यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।*
> *तत्र को मोहः कश्शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ १॥*

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य।
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो॥ ७२॥

भाव होता है वह उसके संसार का कारण बन जाता है परन्तु योगी—वीतरागी मुनिके उसी स्त्री आदि पर पर्याय से निरन्तर आत्मा में आत्म भावना उत्पन्न होती है जो कि मोक्षका कारण बनती है। भावार्थ–साधारण मनुष्य स्त्रीको देखकर उसमें राग करता है जिससे उसके संसार की वृद्धि होती है परन्तु योगी-ज्ञानी मनुष्य स्त्री को देखकर विचार करता है कि जिस प्रकार मेरी आत्मा अनन्त केवल ज्ञानमय है उसी प्रकार इस स्त्री की आत्मा भी अनन्त केवल ज्ञानमयी है। यह स्त्री और मैं–दोनों ही केवल ज्ञानमय है। इस कारण यह स्त्री भी मेरी आत्मा है मुझसे पृथक् इसमें है ही क्या? जिससे स्नेह करूं उपनिषद् में भी ऐसा कहा है—

यस्मिन्—जिस एकत्व के प्राप्त होनेपर ज्ञानी जीवके समस्त भूत आत्मस्वरूप ही होजाते हैं उस एकत्व भावको मैं प्राप्त हो चुका हूं अतः मुझे मोह क्या है? और शोक क्या है? अर्थात् एकत्व के प्राप्त होनेपर आत्मा के राग और द्वेष दोनों नष्ट हो जाते हैं।

[पं० जयचन्द्र जी ने अपनी वचनिका में "जेणरागो परे दव्वे" ऐसा पाठ स्वीकृत कर यह अर्थ प्रकट किया है–चूंकि पर द्रव्य सम्बन्धी राग संसारका कारण है इस लिये योगी को निरन्तर आत्मा में ही आत्म भावना करना चाहिये। परन्तु इस अर्थ में 'तेणावि–तेनापि' यहां तेन शब्दके साथ दिये हुए अपि शब्दकी निरर्थकता सिद्ध होती है।

गाथार्थ—निन्दा और प्रशंसा, दुःख और सुख, तथा शत्रु और मित्र में समभाव से ही चारित्र होता है॥७२॥

निन्दायां च प्रशंसायां दुःखे च सुखेषु च ।

शत्रूणां चैव बन्धूनां चारित्रं समभावतः ॥

णिंदाए य पसंसाए निन्दायां प्रशंसायां च समभावतश्चारित्रं भवतीति सम्बन्धः । *दुक्खे य सुहएसु य* दुःखे च सुखके च समागतेऽपीत्युपस्कारः । *सत्तूण चेव बंधूण* शत्रुणां चैव बन्धूनां समायोगे इत्युपस्कारः । *चारित्तं समभावदो* समभावतः समतापरिणामे सति चारित्रं भवतीति निर्विकल्पसमाधिरूपं यथाख्यातं चारित्रं भवतीति भावार्थः ।

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा ।

केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥ ७३ ॥

चर्यावरिका व्रतसमितिवर्जिता शुद्धभावप्रभ्रष्टाः ।

केचित् जल्पन्ति नराः न हि कालो ध्यानयोगस्य ॥

चरियावरिया चर्यायाश्चारित्रस्य आवरिका आवरणं येषां ते चर्यावरिकाः चारित्रमोहनीयकर्मयुक्ताः *वदसमिदिवज्जिया* व्रतसमितिवर्जिता व्रतरहिताः समितिहीनाश्च । *सुद्धभावपब्भट्ठा* शुद्धभावप्रभ्रष्टा रागद्वेषमोहादिभिः परिणामैः कश्मलीकृता आत्मध्यानहीनाः । *केई जंपंति णरा* केचिद्बहिरात्मानो नराः पुरुषा

विशेषार्थ—मोह अर्थात् मिथ्यात्व और क्षोभ अर्थात् रागद्वेष के अभाव को सम भाव कहते हैं । इस समभाव के प्रकट होनेपर मुनिके इष्ट अनिष्ट पदार्थोंके मिलने पर हर्ष विषाद उत्पन्न नहीं होता यही भाव हृदयंगत कर आचार्य महाराज कहते है कि निन्दा और प्रशसा में समभाव रखने से चारित्र होता है, दुःख और सुख के प्राप्त होनेपर समभाव रखने से चारित्र होता है और शत्रुओं तथा बन्धुओं के संयोग होनेपर समभाव रखने से चारित्र होता है । यहां चारित्र पद से निर्विकल्प समाधि रूप यथाख्यान चारित्र का ग्रहण करना चाहिये ॥७२॥

आगे कोई कहते हैं कि यह ध्ययानके योग्य समय नहीं है सो इसका निराकरण करते हैं—

गाथार्थ—जो चारित्र को आवरण करने वाले चारित्र मोहनीय कर्म से युक्त हैं, व्रत और समिति से रहित हैं तथा शुद्धस्वभाव से च्युत हैं ऐसे कितने ही मनुष्य कहते हैं कि यह ध्यान रूप योगका समय नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं होसकता ॥७३॥

विशेषार्थ—योग के आठ अङ्ग हैं-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । इन आठ अङ्गों में से ध्यान योग का सातवाँ अङ्ग हैं कुछ लोग कहते हैं कि यह पञ्चम काल ध्यान के योग्य नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान नही हो सकता है । परन्तु ऐसा कहने वाले हैं कौन ? जो चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे युक्त

जल्पन्ति ब्रुवन्ति । किं जल्पन्ति ? ण हु कालो झाणजोयस्स ध्यानयोगस्य अष्टाङ्गयोगमध्ये सप्तमो योगो ध्यानयोगस्तस्य कालोऽवसरो न वर्तते । कथं ? हि—स्फुटं । के ते अष्टाङ्गयोगाः—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः । इति ।

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को ।

संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७४ ॥

सम्यक्त्वज्ञानरहितः अभव्यजीवो हि मोक्षपरिमुक्तः ।

संसारसुखे सुरतः न हि कालो भणति ध्यानस्य ॥

सम्मत्तणाणरहिओ सम्यक्त्वरहितो मिथ्यादृष्टिः, ज्ञानरहितोऽज्ञानी मूढजीवो बहिरात्मा । *अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को* अभव्यजीवो रत्नत्रयस्यायोग्यो लौकान्तिको मोक्षपरिमुक्तः तस्य कदाचिदपि कर्मयो न भविष्यति स न सेत्स्यति कंकटुकमुद्गवत् । *संसारसुहे सुरदो* संसारसुखे वनितायोनिमथनसुखे, सुरतः सुष्ठु अतिशयेन रतः तत्परः । *ण हु कालो भणइ झाणस्स* एवं दोषदुष्टो भणति ब्रूते, किं भणति ? ध्यानस्य कालो न भवति । कथं ? हु—स्फुटं ।

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।

जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७५ ॥

हैं, जो व्रतों और समितियो से रहित हैं, तथा जो राग, द्वेष और मोह रूप परिणामों से कलुषित होनेके कारण शुद्धभाव से भ्रष्ट हैं—आत्मध्यान से विमुख हैं । ऐसे जीव अपनी पुरुषार्थ हीनता को छिपाने के लिये कहते हैं कि यह ध्यान के योग्य समय नहीं है ॥७४॥

आगे और भी इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

गाथार्थ—जो सम्यक्त्व तथा सम्यग्ज्ञान से रहित है, जिसे कभी मोक्ष होना नहीं है, तथा जो संसार सम्बन्धी सुख में अत्यन्त रत है ऐसा अभव्य जीव ही कहता है कि यह ध्यान का समय नहीं है अर्थात इस समय ध्यान नहीं हो सकता ॥७४॥

विशेषार्थ—मोक्ष की योग्यता से रहित, संसार सुख में आसक्त मिथ्यादृष्टि एवं मिथ्याज्ञानी अभव्य जीव ही ऐसा कहते है कि यह ध्यानका काल नही है-इस समय ध्यान नहीं हो सकता परन्तु सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी, मोक्ष प्राप्ति की योग्यता रखने वाले और संसार सुख से विरक्त रहने वाले पुरुष ऐसा नही कहते कि यह ध्यान का काल नहीं है ।

गाथार्थ—जो पांच महाव्रतों, पांच समितियों तथा तीन गुप्तियों के विषय में मूढ है तथा अज्ञानी है वही कहता है कि यह ध्यान का काल नही है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता ॥७५॥

पञ्चसु महाव्रतेसु य पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु।
यो मूढः ज्ञानी न हि कालो भणति ध्यानस्य ॥

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु महाव्रतेषु च प्राणातिपातमृषावादस्तैन्यमैथुनपरिग्रहसर्वथापरित्यागो महाव्रतमुच्यते एतेषु पंचसु महाव्रतेषु यो मूढश्चारित्रमोहबलवत्तरः। चकारादणुव्रतानामपि अप्रतिपालको रात्रिभोजननियमरहितः चर्मजलघृततैलरामठास्वादनरतः *पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु* ईर्यासमितिः—करचतुष्टयं मार्गमवलोक्य गमनं, भाषासमितिः—आगमाविरुद्धभाषणं, एषणासमितिः—पूर्वोक्तषट्चत्वारिंशद्दोषरहिताहारग्रहणं, आदाननिक्षेपणासमिति—ज्ञानोपकरणशौचोपकरणानां पूर्वं दृष्ट्वा पश्चान्मयूरपिच्छैः प्रतिलेख्य ग्रहणं विसर्जनं च आदाननिक्षेपणासमितिः, प्रतिष्ठापनासमितिः—मलमूत्रशरीरादिकस्याविरुद्धनिर्जन्तुप्रदेशे विसर्जनं एतासु पंचसु समितिषु यो मूढो निर्विवेकः। तिसृषु गुप्तिषु मनोगुप्तिवाग्गुप्तिकायगुप्तिषु। *जो मूढो अण्णाणी* यः पुमान् मूढो निर्विवेकोऽज्ञानी जिनसूत्रबहिर्भूतः। *ण हु कालो भणइ झाणस्स* न विद्यते हु—स्फुटं, कोऽसौ? कालोऽवसरः, ध्यानस्य सप्तमयोगस्य, एवं भणति ब्रवे।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥ ७६ ॥

विशेषार्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांच पापोंका सर्वथा त्याग करना महाव्रत है। ये अहिंसा महाव्रत आदिके भेदसे पांच हैं जो इन पांचों महाव्रतोंमें मूढ है अर्थात् अत्यन्त बलवान् चारित्र मोहके उदय से जो महाव्रत धारण करने में असमर्थ है। चकार से यह भी सूचित होता है कि जो अणुव्रतों का भी पालन नहीं करता है, रात्रि भोजन के त्यागका जिसके नियम नहीं है तथा चमड़े के पात्र में रखे हुए जल, घी तैल और हींग के खाने में जो आसक्त है। चार हाथ प्रमाण मार्ग देखकर चलना ईर्या समिति है, आगम के अविरुद्ध वचन बोलना भाषा समिति है, पूर्वोक्त छयालीस दोषोंसे रहित आहार ग्रहण करना एषणा समिति हैं, ज्ञान तथा शौच के उपकरणों को पहले देखकर पीछे मयूर की पिछी से परिमार्जन कर उठाना रखना आदान निक्षेपण समिति है, तथा मलमूत्रादि का लोकसे अविरुद्ध एवं जीव रहित स्थान में छोड़ना प्रतिष्ठापन समिति है। जो इन पाँचों समितियों में मूढ है अर्थात् विवेक से शून्य है। तथा जो मनो गुप्ति वचन गुप्ति और कायगुप्ति के पालन करने में मूढ है साथ ही अज्ञानी अर्थात् जिनागम से बहिर्भूत है वही ऐसा कहता है कि यह ध्यान का समय नहीं है। इसके विपरीत जो पांच महाव्रत, पांच समिति तथा तीन गुप्तियोंका पालन करने वाला और जिनागमका पाठी—सम्यग्ज्ञानी है वह वह ऐसा नहीं कहता कि यह ध्यानका समय नहीं है।।७५।।

१—स्वादन मठः म०।

भरते दुःषमकाले धर्म्यध्यानं भवति साधोः ।
तदात्मस्वभावस्थिते न हि मन्यते सोऽपि अज्ञानी ॥

भरहे दुस्समकाले भरहे—भरतक्षेत्रे भारतवर्षे. दुःषमे काले पंचमकाले कलिकालापरनाम्नि काले । **धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स** धर्मध्यानं भवति साधोर्दिगम्बरस्य मुनेः । *तं अप्पसहावठिदे* तद्धर्मध्यानं आत्मस्वभावस्थिते आत्मभावनातन्मये मुनौ भवति । *ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी* न मन्यते नाङ्गीकरोति सोऽपि पुमान् पापीयान् अज्ञानी जिनसूत्रबाह्यः ।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं ।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥ ७७ ॥

अद्यापि त्रिरत्नशुद्धा आत्मानं ध्यात्वा लभन्ते इन्द्रत्वम् ।
लौकान्तिकदेवत्वं ततः च्युत्वा निर्वाणं यान्ति ॥

अज्ज वि *तिरयणसुद्धा* अद्यापि पंचमकालोत्पन्नाः समनस्काः पंचेन्द्रिया उत्तमकुलादिसामग्रीप्राप्ता वैराग्येण गृहीतदीक्षास्त्रिरत्नशुद्धाः सम्यक्त्वज्ञानचारित्रनिर्मला वर्तन्ते एव. ये कथयन्ति महाव्रतिनो न विद्यन्ते ते नास्तिका जिनसूत्रबाह्या ते ज्ञातव्याः आसन्न भव्याः किं कुर्वन्ति ? *अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं* आत्मानं ध्यात्वा भावयित्वा लभन्ते इन्द्रत्वं शक्रपदं । न केवलमिन्द्रत्वं लभन्ते *लोयंतियदेवत्तं* केचिदल्पश्रुता अपि

गाथार्थ—भरत क्षेत्रमें, दुःषमनामक पञ्चम काल में मुनि के धर्म्यध्यान होता है तथा वह धर्म्यध्यान आत्म स्वभाव में स्थित साधु के होता है ऐसा जो नहीं मानता वह अज्ञानी है ॥ ७६ ॥

विशेषार्थ—भरत क्षेत्र में क्रम क्रम से उत्सर्पिणी और अपसर्पिणी के छह कालों का परिवर्तन होता रहता है । इस समय यहां दुःषमा नामका अपसर्पिणी का पांचवां काल चल रहा है यह ठीक है कि इस समय यहां मोक्षमार्ग का प्रचलन नहीं है अर्थात इस काल का उत्पन्न हुआ मनुष्य मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता तथापि धर्म्यध्यान का निषेध नहीं है जो मुनि इस समय को आत्म भावना से तन्मय है उसे धर्म्यध्यान हो सकता है ऐसा जो नहीं मानता है वह पुरुष पापी, अज्ञानी तथा जिनागम के ज्ञान से रहित है ॥ ७६ ॥

गाथार्थ—आज भी रत्नत्रयसे शुद्धता को प्राप्त हुए मनुष्य आत्मा का ध्यान कर इन्द्र पद तथा लौकान्तिक देवोंके पदको प्राप्त होते है और वहां से च्युत होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥ ७७ ॥

विशेषार्थ—आज भी पञ्चम काल में उत्पन्न सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव उत्तम कुल

साधव आत्मभावनाबलेन लौकान्तिकत्वं लभन्ते पंचमस्वर्गस्यान्ते पर्यन्तप्रदेशेषु तेषां विमानानि सन्ति, तत्र भवा लौकान्तिकाः सुरमुनयश्च कथ्यन्ते, ते स्वर्गे स्थिता अपि ब्रह्मचर्यं प्रतिपालयन्ति—स्त्रीरहिता भवन्ति, तीर्थंकरसम्बोधनकाले मर्त्यलोकमागच्छन्ति अथवा स्वस्थानमेवावतिष्ठन्ते।

चतुर्लक्षाः सहस्राणि सप्त चैव शताष्टकं।
विंशतिर्मिलिता एते बुधैर्लौकान्तिका मताः ॥ १ ॥

"सारस्वत्यादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च" इति तेषां अष्टौ जातयः। तथा तेषां षोडशजातयश्च वर्तन्ते। सारस्वतादित्यान्तरे अग्न्याभसूर्याभाः। आदित्यवह्निमध्ये चन्द्राभसत्याभाः। वन्ह्यरुणान्तरे श्रेयस्करक्षेमंकराः। अरुणगर्दतोयमध्ये वृषभोष्ट्रकामचराः। गर्दतोयतुषितान्तरे निर्वाणरजोदिगन्तरक्षिताः। तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिताः। अव्याबाधारिष्टान्तरे मरुद्वसवः। अरिष्टसारस्वतान्तरे अश्वाविश्वाः। *तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति* तस्माच्च्युता निर्वृतिं निर्वाणं यान्ति गच्छन्ति सर्वेऽपि पूर्वधारिण एकं गर्भवासं गृहीत्वा मोक्षं प्राप्नुवन्ति।

आदि सामग्री को प्राप्त होकर वैराग्य वश दीक्षा धारण करते हैं तथा रत्नत्रय से शुद्ध रहते है अर्थात् निर्दोष सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारक रहते ही है। जो कहते हैं कि इस समय महाव्रती नहीं है वे नास्तिक है उन्हें जिन शासन से बाह्य जानना चाहिये। रत्नत्रय की शुद्धता को प्राप्त हुए निकट भव्य जीव आज भी इस पंचम कालके समय भी इन्द्रपद को प्राप्त होते हैं। न केवल इन्द्रत्व पदको ही प्राप्त होते हैं किन्तु कितने ही मुनि अल्पश्रुत के ज्ञाता होकर भी आत्म भावना के बल से लौकान्तिक देवोंका पद प्राप्त करते हैं। पञ्चम स्वर्ग के अन्त में अन्तिम प्रदेशों में लौकान्तिक देवों के विमान हैं उनमें उत्पन्न होने से वे लौकान्तिक कहलाते हैं इन्हें सुरमुनि—देवर्षि भी कहते हैं वे स्वर्ग में स्थित रहते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं—स्त्री से रहित होते हैं और तीर्थंकरों को सम्बोधने के समय मनुष्य लोक में आते है अन्यथा अपने स्थान में ही स्थित रहते हैं।

चतुर्लक्षा—विद्वानों ने समस्त लौकान्तिक देवोंका प्रमाण चार लाख सात हजार आठसौ बीस माना है; "सारस्वता दित्य व्रह्मरुण गर्दतोय तुषिता व्याबाधारिष्टाश्च" तत्वार्थ सूत्रके इस सूत्रमें उनको आठ जातियां बतलाई गई हैं। अथवा उनकी सोलह जातियां भी होती हैं सारस्वत और आदित्य के मध्य में अग्न्याभ और सूर्याभ रहते हैं। आदित्य और वह्निके मध्यमें चन्द्रमा तथा सत्याभमें रहते हैं। वह्नि और अरुणके बीच में श्रेयस्कर तथा क्षेमंकर रहते हैं। अरुण और गर्दतोय के मध्य में वृषभोष्ट्र और कामचर रहते है। गर्दतोय और तुषित के बीचमें निर्वाणरज और दिगन्त रक्षित रहते हैं। तुषित

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं ।

पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ।। ७८ ।।

ये पापमोहितमतयः लिङ्गं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम् ।

पापं कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्ता मोक्षमार्गे ।।

जे पावमोहियमई ये मुनयः पापमोहितमतयः पापेन ब्रह्मचर्यभंगप्रत्याख्यानभंजनादिना मोहिता लोभं प्राप्ताः पापमोहितमतयः । *लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं* लिंगं चिन्हं मुद्रां नग्नत्वं वस्त्रमात्रोपेतक्षुल्लकत्वं च चक्रवर्तिलिंगं, घेत्तूण गृहीत्वा धृत्वा, जिनवरेन्द्राणां तीर्थकरपरमदेवानां । *पावं कुणंति पावा* पापं ब्रह्मचर्यभंगादिकं कुर्वन्ति पापाः पापमूर्तयः पापरूपाः । *ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि* ते जिनलिंगोपजीविनः त्यक्ताः पतिता मोक्षमार्गादित्यर्थः । उक्तं च—

अन्यलिंगकृत पापं जिनलिंगेन मुच्यते ।

जिनलिंगकृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ।। १ ।।

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाहीय जायणासीला ।

आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ।। ७९ ।।

और अव्यावाध के मध्य में आत्म रक्षित और सर्व रक्षित रहते हैं । अव्यावाध्य और अरिष्ट के मध्य में मरुद् तथा वसु रहते हैं । तथा अरिष्ट और सरस्वन के मध्यमें अश्व और विश्व रहते हैं । ये लौकान्तिक देव वहां से च्युत होकर नियम से निर्वाण को प्राप्त होते हैं । सभी पूर्वके धारी होते हैं और एक गर्भवास ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—जो पाप से मोहित बुद्धि मनुष्य, जिनेन्द्र देवका लिङ्ग धारण कर पाप करते है वे पापी मोक्ष मार्ग से पतित हैं ।।७८।।

विशेषार्थ—जो ब्रह्मचर्य भङ्ग तथा प्रत्याख्यान भङ्ग आदि पापोंसे मोहित बुद्धि होकर जिनेन्द्र देवका लिङ्ग अर्थात् नग्न दिगम्बर मुद्रा और चक्रवर्ती का पद अर्थात् वस्त्रमात्र परिग्रह के धारक क्षुल्लक का पद ग्रहण करके भी पाप करते हैं ब्रह्मचर्य भङ्ग आदि पाप कर बैठते हैं वे पापी हैं तथा मोक्षमार्ग से पतित हैं । जैसा कि कहा है—

अन्यलिङ्ग—अन्य लिङ्गसे किया पाप जिनलिङ्ग से छूटता है और जिनलिङ्ग के द्वारा किया हुआ पाप वज्रलेप होता है ।।७८।।

गाथार्थ—जो पांच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं, परिग्रह को ग्रहण करने वाले हैं, याचना करते हैं तथा अधः कर्म-निम्न कर्म में रत है वे मुनि मोक्षमार्ग से पतित हैं ।

ये पञ्चचेलसक्ताः ग्रन्थग्राहिणः याचनशीलाः ।
अधःकर्मणि रताः ते त्यक्ताः मोक्षमार्गे ॥

जे पंचचेलसत्ता ये मुनयः पंचचेलसक्ताः पंचविधवस्त्रलंपटा अडज-बुंडज-वल्कज-चर्मज-रोमज-पंचप्रकारवस्त्रेष्वन्यतमं वस्त्रप्रकारं परिदधत्युपदधति च । *गंथग्गाहीय जायणासीला* ग्रन्थग्राहिणो [1]रिक्थ-स्वीकारिणः, याचनाशीलाः स्वभावेन याच्ञापरा जिनमुद्रां प्रदर्श्य धनं याचन्ते मातरं प्रदर्श्य भाटीं गृह्णन्ति तत्समानाः । *आधाकम्मम्मि रया* आधाकर्मणि अधःकर्मणि निन्द्यकर्मणि उपविश्य भोजनं कारयित्वा भुंजते ये तेऽधःकर्मरता इत्युच्यन्ते । *ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि* ते मुनयस्त्यक्ताः पतिता मोक्षमार्गादिति भावार्थः

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया ।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥ ८० ॥

निर्ग्रन्थ मोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहा जितकषायाः ।
पापारम्भविमुक्ताः ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥

णिग्गंथमोहमुक्का निर्ग्रन्थाः परिग्रहरहिताः, मोहमुक्ताः पुत्रमित्रकलत्रादिस्नेहरहिताः । *बावीस-परीसहा* द्वाविंशतिपरीषहा द्वाविंशतिपरीषहसहनशीलाः । *जियकसाया* क्रोधमानमायालोभकषायरहिताः । *पावारंभविमुक्का* पापारंभेभ्यो विमुक्ता रहिता हिंसादिपंचपातकविहीनाः सेवाकृषिवाणिज्यादिप्राणातिपात-हेतुभूतारम्भरहिताः । *ते गहिया मोक्खमग्गम्मि* ते गृहीता अङ्गीकृता, मोक्षमार्गे रत्नत्रयलक्षणे ।

विशेषार्थ—अण्डज, बुण्डज, वल्कज, चर्मज, और रोमज के भेदसे वस्त्रके पांच भेद हैं । जो मुनि इन पांच प्रकार के वस्त्रों में से किसी एक वस्त्र में आसक्त हैं, किसी काज से धन स्वीकृत करते हैं, याचना करना जिनका स्वभाव पड़गया है और जो अधः कर्म में निन्द्यकर्म में रत हैं वे मुनि मोक्षमार्ग से त्यक्त हैं छूटे हुए हैं अर्थात् पतित हैं । जो मुनि जिन मुद्राको दिखाकर धन की याचना करते हैं वे माता को दिखा कर भाड़ा ग्रहण करने वालों के समान हैं ॥७९॥

गाथार्थ—जो परिग्रह से रहित हैं पुत्र मित्र स्त्री आदि के स्नेह से रहित हैं, बाईस परीषहों का सहन करने वाले हैं, कषायों को जीतने वाले हैं तथा पाप और आरम्भ से दूर हैं वे मोक्षमार्ग में अङ्गीकृत हैं ॥८०॥

विशेषार्थ—जो निर्ग्रन्थ हैं अर्थात् परिग्रह से रहित हैं, मोहयुक्त हैं अर्थात् पुत्र मित्र तथा स्त्री आदि के स्नेह से रहित हैं, जिन परीषह हैं अर्थात् क्षुधा तृषा आदि बाईस परीषहों को सहन करने वाले हैं, जितकषाय हैं अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय

१—"द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु" इत्यमरः ।

उड्ढड्ढमज्झलोए केई मज्झं ण अहयमेगागी।

इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं मोक्खं ॥ ८१ ॥

ऊर्ध्वाधोमध्यलोके केचित् मम न अहकमेकाकी।

इति भावनया योगिनः प्राप्नुवन्ति हि शाश्वतं सौख्यम ॥

उड्ढड्ढमज्झलोए ऊर्ध्वलोकेऽधोलोके मध्यलोके। *केई मज्झं ण अहयमेगागी* केचिज्जीवा मम न वर्तन्ते, अहकं अहं एकाकी एक एव वर्ते। *इय भावणाए जोई* इति भावनया योगिनो मुनयः। *पावंति हु सासयं सोक्खं* प्राप्नुवन्ति लभन्ते हु—स्फुटं शाश्वतं सौख्यं अविनश्वरं परमनिर्वाणसुखं। *ठाणं* इति पाठे शाश्वतं अविनश्वरं स्थानं मोक्षं प्राप्नुवन्तीति सम्बन्धः।

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतता।

झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥ ८२ ॥

देवगुरूणां भक्ताः निर्वेदपरम्परां विचिन्तयन्तः।

ध्यानरताः सुचरित्राः ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥

को जीतने वाले हैं, और पापारम्भ विमुक्त हैं अर्थात् हिंसादि पापों और सेवा कृषि आदि आरम्भों से रहित है वे मोक्षमार्ग में गृहीत है अर्थात् उन्हें मोक्षमार्ग में प्रविष्ट माना गया है ॥ ८० ॥

गाथार्थ—'ऊर्ध्व मध्य और अधोलोक में कोई जीव मेरे नहीं हैं मैं अकेला ही हूं' इस प्रकार की भावना से योगी शाश्वत–अविनाशी सुखको प्राप्त होते हैं ॥८१॥

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में कोई भी जीव मेरे नहीं हैं–मेरा किसी के साथ स्वामित्व नहीं है मैं अकेला ही हूं–मेरे प्रति किसीका स्वामित्व नहीं है··· इस प्रकार की भावना से योगी शाश्वत सुख—अविनश्वर परम निर्वाण सुखको प्राप्त होते हैं। 'सासयं सोक्खं' के वदले कहीं 'सासयं ठाणं' पाठ है उसका अर्थ अविनाशी मोक्षस्थान को प्राप्त होते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥८१॥

गाथार्थ—जो देव और गुरुके भक्त हैं, वैराग्य की परम्परा का विचार करते रहते हैं, ध्यान में तत्पर रहते हैं तथा शोभन–निर्दोष आचार का पालन करते हैं वे मोक्षमार्ग में अङ्गीकृत हैं ॥८२॥

विशेषार्थ—जो अठारह दोषों से रहित, इन्द्रादि के द्वारा पूजित, पञ्चकल्याणका को प्राप्त आठ महाप्रातिहार्यों से शोभित संसार समुद्र से पार करनेवाले, भव्य रूपा

देवगुरूणां भक्ता देवानामष्टादशदोषरहितानामिन्द्रादिपूजितानां पंचकल्याणप्राप्तानां अष्टमहाप्रातिहार्यशोभितानां संसारसमुद्रतारकाणां भव्यकमलबोधमार्तण्डानामित्याद्यनन्तगुणगरिष्ठानामर्हद्देवानां तथा गुरूणां निर्ग्रन्थाचार्यवर्याणां शास्त्रसमुद्रपारगाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपवित्रगात्राणां स्त्रीविवर्जितानां विवाहादिपापारम्भविवर्जितानां क्षत्रद्विजवैश्यअश्ववृषभगजवर्करादिजीवाःममारकाणां मधुलिप्तवनिताभगानास्वादकानां सौत्रामणिमद्यानामपायकानां गावधं कृत्वा संवत्सरे मातृभगिन्यादिभोगालम्पटानां भव्यजीवसंबोधने मातृपितृवद्धितोपदेशकानां पापघटाग्राहकाणां, कृष्यादिसावद्यकर्मरहितानां प्रासुकपरगृहयोग्यभोजनभोजकानां अवर्णलोपकानामनुच्छिष्टभुक्तिग्रहणमार्गाणां इत्यादिगुणगणगरिष्ठानां जगदिष्टानां गुरूणां ये भक्ताः पादपंकजमधुलिहः देवगुरूणां भक्ता इत्युच्यन्ते *णिव्वेयपरंपरा विचिंतंता* निर्वेदः संसारशरीरभोगविरागता तस्य परंपरा नानाविधोपदेशस्तां विशेषेण चिन्तयन्तः पर्यालोचयन्तः नरकादिगतिगर्तपातिपातकभयभीतमूर्तयः। *झाणरया सुचरित्ता* ध्याने धर्म्यशुक्लध्यानद्वये रतास्तत्पराः, सुचारित्राः शोभनाचाराः। *ते गहिया मोक्खमग्गम्मि* ते भव्यवरपुण्डरीका गृहीता अङ्गीकृता मोक्षमार्ग इति।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ ८३ ॥

कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य तथा इन्हें आदि लेकर अनन्त गुणों से अतिशय श्रेष्ठ अर्हन्त देवका और निर्ग्रन्थ आचार्यों में श्रेष्ठ, शास्त्र समुद्र के पारगामी, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रसे पवित्र शरीर, स्त्री से रहित, विवाह आदि पापके आरम्भों से रहित क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य, घोड़ा, बैल, हाथी तथा बकरा आदि जीवों को नहीं मारने वाले, मधुसे लिप्त स्त्री के भगका स्वाद नहीं लेनेवाले, सौत्रामणि नामक यज्ञ में मदिरा को नहीं पीने वाले, गोवध करके संवत्सर नामक यज्ञ में माता बहिन आदि के भोग में अलम्पट, भव्यजीवों के संबोधन करने में माता पिता के समान हितका उपदेश देनेवाले, पाप समूह को ग्रहण नहीं करने वाले खेती आदि पाप कार्यों से रहित, दूसरों के घरमें योग्य प्रासुक आहार का भोजन करने वाले, ब्राह्मणादि वर्णोंका लोप नहीं करने वाले, जूंठे भोजन को ग्रहण करने के मार्ग से रहित, इत्यादि गुणोंके समूह से श्रेष्ठ तथा जगत् के लिये इष्ट गुरुओं के भक्त हैं—उनके चरण कमलों में भ्रमर बनकर रहते हैं जो संसार शरीर और भोगों से विरागता रूप निर्वेद की परम्परा का विशेष रूप से विचार करते हैं, जो नरकादि गति रूप गर्त में गिराने वाले पापों से भयभीत रहते हैं, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर रहते हैं तथा सुचारित्र हैं अर्थात् निर्दोष आचार का पालन करते हैं वे श्रेष्ठ भव्य जीव मोक्षमार्ग में अङ्गीकृत हैं अर्थात् मोक्षमार्ग में विचरण करने वाले हैं ॥ ८२ ॥

निश्चयनयस्यैवं आत्माऽऽत्मनि आत्मने सुरतः ।
स भवति हि सुचरित्रः योगी स लभते निर्वाणम् ॥

णिच्छयणयस्स एवं निश्चयनयस्यैवमभिप्रायः । एवं कथमिति चेत् ? *अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो* आत्मा कर्ता, आत्मन्यधिकरणभूते आत्मने आत्मार्थमिति सम्प्रदाने तादर्थ्यचतुर्थी, सुष्ठु अतिशयेनालौकिकप्रकारेण रतः तन्मयीभूत एकलोलीभावं गतः । *सो होदि हु सुचरित्तो* स आत्मा भवति, कथंभूतो भवति सुचरित्रः निश्चयचारित्रः । *जोई सो लहइ णिव्वाणं* योगी ध्यानवान् पुमान् लभते प्राप्नोति, किं तत् ? निर्वाणं परमसुखं मोक्षमिति, अथवा योगीशो योगिनां ध्यानिनामीशः स्वामी निर्वाणं लभते इति सम्बन्धः

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो ।
जो झायदि सो जो जोई पावहरो भवदि णिद्दंदो ॥ ८४ ॥

पुरुषाकार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्रः ।
यो ध्यायति स योगी पापहरो भवति निर्द्वन्द्वः ॥

पुरिसायारो अप्पा पुरुषस्य नरस्याकार आकृतिर्यस्य स पुरुषाकारः, एवं गुणविशिष्टः कः ?

गाथार्थ—निश्चय का ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा २ के लिये आत्मा में तन्मयीभाव को प्राप्त है वही सुचारित्र–उत्तम चारित्र है । इस चारित्र को धारण करने वाला योगी निर्वाण को प्राप्त होता है ॥८३॥

विशेषार्थ—निश्चय नयके अनुसार सम्यक चारित्रका स्वरूप २ निरूपण करते हुए कहा गया है कि जो आत्मा २ के लिये आत्मा में सुख है अर्थात् अलौकिक प्रकार से तन्मयी भावको प्राप्त है वह आत्मा सुचारित्र—निश्चय चारित्र । निश्चयनय गुणगुणी के भेदको भी स्वीकृत नहीं करता इसलिये यहां आत्मा और चारित्र में गुणी तथा गुण का भेद न कर आत्मा के लिये ही सुचारित्र कह दिया है । जिसे योगी को ऐसा सुचारित्र प्राप्त होगया है वह नियम से निर्वाण को प्राप्त करता है अथवा 'जोई सो' की संस्कृत छाया 'योगीशः' है इस पक्ष में अर्थ होता है कि वह निश्चय चारित्र का धारक योगीश निर्वाण को प्राप्त होता है ॥८३॥

गाथार्थ—पुरुषाकार अर्थात मनुष्य शरीर में स्थित जो आत्मा, योगी बनकर उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शन से पूर्ण होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है, वह पापों को हरने वाला तथा निःर्द्वन्द्व होता है ॥८४॥

विशेषार्थ—यद्यपि जीवत्व सामान्य की अपेक्षा चारों गतिके जीव समान है परन्तु मोक्षका अधिकारी वही जीव है जो वर्तमान में मनुष्याकार परिणमन कर रहा है । इसी

आत्मा चेतनस्वभावो जीवतत्त्वं, *जोई वरणाणदंसणसमग्गो* योगी मुनिः, इत्यनेन गृहस्थस्य मोक्षं ब्रुवाणाः सितपटाः प्रत्युक्ता भवन्ति। वरज्ञानदर्शनसमग्रः केवलज्ञानकेवलदर्शनपरिपूर्णः। इत्यनेनाचैतन्यमात्मानं मन्यमानाः कापिलाः शुनका इव निराकृताः। *सो झायदि सो जोई* एवं गुणविशिष्टमात्मानं यो मुनिर्ध्यायति स योगी ध्यानी भवति। अन्यश्चार्वाको नास्तिको योगिनामा। एवं स्थाने मतान्तराश्रयेण व्याख्यानं कर्तव्यमिति भावः। *पावहरो भवति णिद्दंदो* पापहरस्त्रिषष्ठिप्रकृतिविच्छेदको भवति घातिसंघातघातकः स्यात्, निर्द्वन्द्वः समवसरणागतपरस्परविरोधिजन्तुकलहनिषेधक इत्यर्थः।

एयं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण पुणसु।
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं॥ ८५॥

एतत् जिनैः कथितं श्रवणानां श्रावकाणां पुनः पुनः।
संसारविनाशकरं सिद्धिकरं कारणं परमम्॥

एयं जिणेहि कहियं एतद्घातिसंघातघातनादिकं फलमात्मध्यानस्य, जिनैः सर्वज्ञैः कथितं प्रमाणभूतवचनैः प्रतिपादितं। *सवणाणं सावयाण पुण पुणसु* श्रवणानां दिगम्बराणां महामुन्यपरसंज्ञानामृषीणामिति, न केवलं श्रवणानां श्रावकाणां सद्दृष्टीनामुपासकानां च यतस्ते दीक्षायोग्या ध्यानाधिकारिणो देशव्रताः

प्रकार मनुष्यत्व सामान्य की अपेक्षा गृहस्थ और योगी समान हैं परन्तु मोक्षका अधिकारी योगी ही है गृहस्थ नहीं है। इस कथन से 'गृहस्थ को मोक्ष होता है' ऐसा कथन करने वाले श्वेताम्बरों का निराकरण होजाता है। यद्यपि योगित्व सामान्य की अपेक्षा योगी और अरहन्त भगवान् समान हैं तथापि मोक्षके अधिकारी वही योगी है जो उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शन से परिपूर्ण है अर्थात् अरहन्त अवस्था को प्राप्त हैं। इस कथन से आत्माको अचेतन मानने वाले सांख्यों का निराकरण होजाता है। इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त होकर जो योगी अर्थात् ध्यानी बनता है वह पापहर अर्थात् त्रेशठ प्रकृतियों का क्षय करने वाला होता है तथा निर्द्वन्द्व होता है अर्थात् समवसरण में आगत परस्पर विरोधी जीवोंकी कलह को दूर करने वाला होता है॥८४॥

गाथार्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा वार वार कहे हुए वचन मुनियों तथा श्रावकों के संसार को नष्ट करने वाले तथा सिद्धि को प्राप्त कराने वाले उत्कृष्ट कारण स्वरूप हैं॥८५॥

विशेषार्थ—घातिकर्मों के समूह को नष्ट करना आदि आत्मध्यान का फल है ऐसा जिनेन्द्र सर्वज्ञ देवने प्रमाण भूत वचनों द्वारा महामुनि इस दूसरे नामको धारण करने वाले दिगम्बर ऋषियों तथा सम्यग्दृष्टि श्रावकों के लिये वार वार कहा है। मुनि दीक्षा की

सन्त आत्मभावनापराः संसारविरक्तचित्ता आरक्षकगृहीतचौरवत् गृहपरित्यागपरिहारमनसः षोडशान्यतमस्वर्गगामिनः । पुनः पुनः भणितं तत्वज्ञानविज्ञानार्थं च । *संसारविणासयरं* सर्वज्ञवीतरागवचनमिदं कथंभूतं ? संसारविनाशकरं मोक्षप्रदायकं । *सिद्धियरं* आत्मोपलब्धिकरं । *कारणं* हेतुभूतं । *परमं* उत्कृष्टं उपदेशानामुपदेशोत्तमं ।

गहिऊण य सम्मत्तं सुनिम्मलं सुरगिरीव निक्कंपं ।

तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ।। ८६ ।।

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरिरिव निष्कम्पम ।

तद् ध्याने ध्यायते श्रावक ! दुःखक्षयार्थे ।।

गहिऊण य सम्मत्तं गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं तत्वार्थश्रद्धानलक्षणं । *सुनिम्मलं सुरगिरीव निक्कंपं* सुनिम्मलं—सुष्ठु अतिशयेन निर्मलं निरतिचारं शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवलक्षणातिचाररहितं । सुरगिरिवन्मेरुपर्वत इव निष्कम्पं चलमलिनत्वरहितं । *तं झाणे झाइज्जइ* तज्जितवचनं

योग्यता रखने वाले गृहस्थ भी ध्यान के अधिकारी है । क्योंकि आत्मा की भावना में तत्पर रहने वाले गृहस्थ भी देशव्रती होते हुए संसार से विरक्त चित्त रहते हैं । कोतवाल के द्वारा पकड़े हुए चोर के समान वे अपने गृहस्थाश्रम का गर्हा करते हैं गृह छोड़ने की इच्छा रखते हैं ऐसे श्रावक भी मर कर सोलह स्वर्गों में से किसी स्वर्ग को प्राप्त होते हैं । सर्वज्ञ वीतराग देवका यह वचन संसार का विनाश करने वाला है तथा आत्मा की उपलब्धि करने का श्रेष्ठ कारण है । ८५।।

गाथार्थ—हे श्रावक ! अत्यन्त निर्मल और मेरुपर्वत के समान निश्चल सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर दुःखोंका क्षय करने के लिये ध्यान में उसीका ध्यान किया जाता है ।। ८६ ।।

विशेषार्थ—श्रावक का वाच्यार्थ सम्यग्दृष्टि उपासक है अथवा 'श्रावयति धर्मं' 'जो धर्म सुनावे वह श्रावक है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मुनि अर्थ भी हो सकता है अतः दोनों को सम्बोधन करते हुए आचार्य कहते हैं कि हे सम्यग्दृष्टि उपासक अथवा हे मुने ! चतुर्गति भ्रमण रूप दुःख का क्षय करने के लिये अत्यन्त निर्मल अर्थात् शंका कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, और अन्यदृष्टि संस्तव इन पांच अतिचारों से रहित तथा सुमेरु पर्वत के समान अत्यन्त निष्कम्प अर्थात् चल मलिन आदि दोषों से रहित सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर ध्यान के समय अर्थात् धर्म्यध्यान के काल में अथवा दान, पूजन, स्तवन, महापुराणादि शास्त्रों के श्रवण, सामायिक, जिन यात्रा तथा प्रतिष्ठा आदि के

सम्यक्त्वं वा ध्याने धर्म्यध्यानावसरे दानपूजादिस्तवनमहापुराणादिशास्त्रश्रवणसामायिकजिनयात्राप्रतिष्ठादिप्रस्तावे ध्यायते मुहुर्मुहुश्चिन्त्यते भाव्यते । सावय दुक्खक्खयट्ठाए हे श्रावक सम्यग्दृष्ट्युपासक ! हे मुने ! च, श्रावयति धर्ममिति श्रावक इति व्युत्पत्तेः, दुःखक्षयार्थं ।

सम्मत्तं जो झायदि सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥ ८७ ॥

सम्यक्त्वं यो ध्यायति सम्यग्दृष्टिः भवति स जीवः ।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षयति दुष्टाष्टकर्माणि ॥

सम्मत्तं जो झायदि सम्यक्त्वमनर्घ्यमाणिक्यं यो जीवो ध्यायति चिन्तयति पुनः पुनर्भावयति । *सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो* सम्यग्दृष्टिर्भवति स आसन्नभव्यजीवः । *सम्मत्तपरिणदो उण* सम्यक्त्वरत्नपरिणतः सम्यग्दर्शनमयीभूतः पुनः । किं भवति ? *खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि* क्षिपते विनाशयति दुष्टानि दुःखदायीनि अष्टकर्माणि ज्ञानावरणादीनि ।

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥ ८८ ॥

अवसर पर वार वार उसीका ध्यान किया जाता है । दान पूजा आदिके समय सम्यक्त्व के वार २ ध्यान करने की प्रेरणा देनेका अभिप्राय यह है कि इन सबका तू भोगोपभोग प्राप्ति के निमित्त तो नहीं कर रहा है क्योंकि इन सबके करते हुए मिथ्यादृष्टि जीवका अभिप्राय भोगोप भोग की प्राप्ति का रहता है और उसके इस अभिप्राय के कारण उसको यह सब क्रियाएं बन्धका कारण होती हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव इन सबको करते हुए आत्मा के क्षायक भावको ही प्राप्त करनेका अभिप्राय रखता है अतः बन्धका अभाव होकर दुःखका क्षय होता है ॥८६॥

गाथार्थ—जो जीव सम्यक्त्व का ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्टि होजाता है और सम्यक्त्व रूप परिणत हुआ जीव दुष्ट आठ कर्मोंका क्षय करता है ॥८७॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्व अमूल्य माणिक्य के समान है जो जीव निरन्तर इसका ध्यान करता है वह निकट भव्य जीव सम्यग्दृष्टि बन जाता है और सम्यक्त्व रूप परिणत हुआ जीव दुःखदायी अष्टकर्मों को नष्ट कर देता है । कर्मक्षय का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है अतः पूर्ण प्रयत्न से सर्व प्रथम उसे ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥८७॥

गाथार्थ—अधिक कहने से क्या ? अतीत काल में जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्यत्काल में जितने सिद्ध होंगे उस सबको तुम सम्यग्दर्शनका ही माहात्म्य जानो ।

किं बहुना भणितेन ये सिद्धा नरवरा गते काले ।

सेत्स्यन्ति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यं ॥

किं बहुणा भणिएणं किं बहुना भणितेन किं प्रचुरेण जल्पितेन न किमपीत्याक्षेपः । *जे सिद्धा नरवरा गए काले* ये किंचित्सिद्धा मुक्तिं गता मोक्षं प्राप्ताः, नरवराः भव्यवरपुण्डरीका भरतसगररामपाण्डवादयः, तत्सर्वं सम्यक्त्वमाहात्म्यं जानीत यूयमिति सम्बन्धः, गते काले अतीते काले । *सिज्झिहहिं जे वि भविया* सेत्स्यन्ति भविष्यति काले सिद्धिं यास्यन्ति मोक्षं प्राप्स्यन्ति येऽपि भव्याः । *तं जाणह सम्ममाहप्पं* तज्जानीत सम्यक्त्वस्य माहात्म्यं प्रभावं ।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।

सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥ ८९ ॥

ते धन्याः सुकृतार्थाः ते शूराः तेपि पण्डिता मनुजाः ।

सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्ने नपि मलिनितं यैः ॥

ते धण्णा सुकयत्था ते पुरुषा धन्याः पुण्यवन्तः, ते पुरुषाः सुकृतार्थाः सुष्ठु अतिशयेन कृतार्थाः कृतकृत्याः साधितचतुःपुरुषार्थाः । *ते सूरा ते वि पंडिया मणुया* ते पुरुषाः शूराः सुभटाः पापकर्मशत्रुविध्वंसकत्वात्, त पुरुषाः पण्डिताः विद्वांसस्तार्किका अपि मनुजा मानवा अपि सन्तो देवा इत्यर्थः । *सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं* सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं, स्वप्नेऽपि निद्रायां, अपिशब्दाज्जाग्रदवस्थायामपि, यैः पुरुषैः, सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनरत्नं न मलिनीकृतं निरतिचारं प्रतिपालितं । कथंभूतं सम्यक्त्वं.

विशेषार्थ—बार बार सम्यक्त्व के माहात्म्य का वर्णन करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है ? अतीत काल में जितने भरत, सगर, राम तथा पाण्डव आदि श्रेष्ठ भव्यजीव मोक्षको प्राप्त हुए हैं और भविष्य काल में जो मोक्षको प्राप्त करगे वह सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है ऐसा जानना चाहिये ॥८८॥

गाथार्थ—वे ही मनुष्य धन्य हैं, वे ही कृत कृत्य हैं, वे ही शूरवीर हैं, और वे ही पण्डित हैं जिन्होंने सिद्धि को प्राप्त कराने वाले सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है ॥८९॥

विशेषार्थ—यह सम्यग्दर्शन ही सिद्धि अर्थात् स्वात्मोपलब्धि रूप मोक्षको प्राप्त कराने वाला है इसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है इसे पाकर जिन्होंने जागृत अवस्था की तो बात ही जुदी है स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं किया है अतिचारों से दूषित नहीं किया है वे ही पुरुष धन्य हैं—पुण्यवान् हैं, वे ही अतिशय कृतकृत्य हैं—चारों पुरुषार्थों को साधने

सिद्धियरं—सिद्धिकरं आत्मोपलब्धिलक्षणमोक्षकारकमिति ।

तं सम्मत्तं केरिसं हवदि-तं जहा—तत्सम्यक्त्वं कीदृशं भवति तद्यथा—

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पावयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ९० ॥

हिंसारहिते धर्मे अष्टादशदोषवर्जिते देवे ।
निर्ग्रन्थे प्रावचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥

हिंसारहिए धम्मे हिंसारहिते धर्मे श्रद्धानं सम्यक्त्वं भवतीति सम्बन्धः, हिंसारहितो धर्मो जैनधर्मः यत्र धर्मे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्वपश्वादिको जीवो वध्यते सोऽधर्म इति तत्त्वार्थः । *अट्ठारहदोसवज्जिए देवे* अष्टादशदोषवर्जिते देवे श्रद्धानमिति सम्बन्धः । रुद्रः किल शृगालश्रेष्ठिनः पुत्रं भक्षितवान् तत्र क्षुधादोषः हिंसादोषश्च । ब्रह्मणः कमण्डलुग्रहणात् पिपासादोषः, जीर्णशरीरत्वात्तस्य जरादोषः । गजचर्मत्व ? कण्ठे कालत्वं रुद्रे रुग्दोषः, सूर्ये पादकुष्ठत्वाद्रुग्दोषः । दशावतारसंयुक्तत्वात् कृष्णे जन्मदोषः वसुदेवदेवकीनन्दनत्वाच्च । त्रयाणामपि मृत्युसद्भावो वेदितव्यः । नरकासुरभयान्नष्टः खलु श्रीमहादेवस्तत्र भयदोषः, ब्रह्मा दंडं धरति, रुद्रः शूलं खण्डपरशुं पिनाकं धनुश्चेत्यादिकं भत्ते, विष्णुश्चक्रं सुदर्शनं कौमोदकीं गदां चेत्या-

---

वाले हैं, वे ही शूरवीर हैं—पाप कर्म रूपी शत्रुओं का विध्वंस करने के लिये सुभट हैं और वे ही पण्डित हैं महाविद्वान् तार्किक हैं अथवा मनुष्य होते हुए भी देव हैं ।८९।।

वह सम्यग्दर्शन कैसा होता है ? इसका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—हिंसा रहित धर्म, अठारह दोषों से रहित देव, और निर्ग्रन्थ गुरु में जो श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शन है ।।९०।।

विशेषार्थ—हिंसा रहित धर्मकी श्रद्धा करना सम्यक्त्व है। हिंसा रहित धर्म जैन धर्म है । जिस धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मनुष्य तथा अश्व आदि पशुओं का वध किया जाता है वह अधर्म है । अठारह दोषों से रहित देवका श्रद्धान करना सो सम्यक्त्व है । अठारह दोषों से रहित देव यदि कोई है तो वीतराग सर्वज्ञ देव ही है उन्हीका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है । रुद्र ने शृगाल श्रेष्ठी के पुत्र का भक्षण किया था इसलिये उनमें क्षुधा दोष तथा हिंसा का दोष है । ब्रह्मा कमण्डल ग्रहण करते थे इसलिये उनमें प्यासका दोष तथा जीर्ण शरीर होने से जराका दोष था रुद्र के गज चर्मत्व था अर्थात् उनके शरीर का चर्म फूलकर मोटा होगया था और कण्ठ में काला पन था इसलिये रोग नामका दोष था । सूर्य के पैर में कुष्ठ था इसलिये रोग नामका दोष था । दश अवतारों से सहित होने अथवा वसुदेव और देवकी के पुत्र होनेके कारण कृष्ण में जन्म नामका

दिकं गृह्णाति तेन त्रयाणामपि भयसद्भावो बुधरवबुद्धयते । सृष्टिकर्तृत्वसंहर्तृत्वादिकस्तत्र स्मयो मदश्च निश्चीयते विपश्चिद्भिः । रुद्रः पार्वतीमर्धाङ्गे धरति जटामध्ये गंगां चादधाति, ब्रह्मा वशिष्ठस्य पितृत्वादुवशीवल्लभत्वात्, विष्णुः षोडशसहस्रगोपीभंजते गोपनाथस्य दुहितरं च, सूर्यो रणादेवीं चन्द्रो रोहिणीं च भुंक्ते तेनैते रागवन्तोऽपि ज्ञातव्याः । ब्रह्मा गजासुरं द्वेष्टि, रुद्रस्त्रिपुरदानवं भस्मयति, विष्णुः कंसकेशचाणूरजरासन्धान् पिनष्टि तेनैते द्वेषवन्तोऽपि ज्ञातव्याः । ब्रह्मा वशिष्ठमुखं पश्यति, रुद्रस्तु स्कन्दं निरीक्षते, विष्णु प्रद्युम्ने स्निह्यति तेनैते मोहिनोऽपि ज्ञातव्याः । ब्रह्मणः सृष्टिचिन्ता समुत्पन्ना रुद्रस्य नरकवरदानात् विष्णोर्जरासन्धशिशुपालादिवधे महती चिन्ता समुत्पन्ना । तेनैते चिन्तावन्तोऽपि ज्ञातव्याः ब्रह्मा उर्वश्यां रमते, रुद्रः पार्वतीं भुंक्ते, विष्णुः सत्यभामाद्याः क्रीडति तेनैतेषु रतिदोषोऽपि घटते । ब्रह्मा योगनिद्रां करोति, रुद्रः कैलासे शेते गिरिशनामकत्वात्, विष्णुर्जलशायीति कथ्यते तेनैते प्रमीलावन्तोऽपि विज्ञेयाः निद्रादोषा

दोष था मृत्यु नामका दोष ब्रह्मा रुद्र और कृष्ण तीनोंके जानना चाहिये । नरकासुरके भयसे महादेव नष्ट हुए थे इसलिये उनके भय था । ब्रह्मा दण्ड धारण करते हैं रुद्र शूल खण्ड परशु और पिनाक नामके धनुष को धारण करते हैं, तथा विष्णु सुदर्शन चक्र, तथा कौमोदकी नामकी गदा इत्यादि शास्त्रों को धारण करते हैं इसलिये तीनों के भय का सद्भाव विद्वान् स्वतः समझते हैं । ब्रह्मा को सृष्टिकर्तृत्व का, तथा रुद्रको संहर्तृत्व आदिका गर्व है इसलिये विद्वान् उनके मद नामक दोष का निश्चय करते हैं । रुद्र पार्वती को अर्धाङ्ग में धारण किये हैं तथा गङ्गा को जटाओं में धारण करते हैं ब्रह्मा वसिष्ठ के पिता हैं तथा उर्वशी के पति हैं । विष्णु सोलह हजार गोपियोंका तथा गोपनाथ की पुत्री राधा का सेवन करते हैं । सूर्य रणादेवीका और चन्द्रमा रोहिणी देवीका उपभोग करता है इसलिये इन सबको रागी भी जानना चाहिये । ब्रह्मा गजासुर के साथ द्वेष करते हैं, रुद्र त्रिपुर दानवको भस्म करते हैं, विष्णु कंस, केश, चाणूर और जरा सन्धको पीस डालते हैं इसलिये इन सबको द्वेष से रहित भी जानना चाहिये । ब्रह्मा वसिष्ठ का मुख देखते हैं, रुद्र स्कन्द–कार्तिकेय को देखते है और विष्णु प्रद्युम्न पर स्नेह रखते हैं इसलिये इन्हें मोही भी जानना चाहिये । ब्रह्मा को सृष्टिकी चिन्ता उत्पन्न हुई, रुद्रको नरकासुर के वरदान से चिन्ता उत्पन्न हुई और विष्णु को जरासन्ध तथा शिशुपाल आदि को बड़ी भारी चिन्ता उत्पन्न हुई इसलिये इन्हें चिन्ता वान जानना चाहिये । ब्रह्मा उर्वशी में रमण करते हैं, रुद्र पार्वती का भोग करते हैं और विष्णु सत्य भामा आदिके साथ क्रीड़ा करते हैं इसलिये इनमें रति दोष भी घटित होता है ब्रह्मा योग निद्रा लेते हैं, रुद्र कैलास पर्वत पर सोते हैं क्योंकि गिरिश उनका नाम ही है और विष्णु जलमें शयन करते हैं इसलिये इन्हें प्रमीला

इत्यर्थः। रुद्रो नरकाय वरं दत्त्वा विषीदति इत्यादि विषाददोषोऽपि संगच्छते। मैथुनादिषु स्वेदसद्भावोऽपि लोककल्पितदेवानामभ्यूह्यः। खेदस्तु संग्रामादौ। विस्मयस्तु रूपादिदर्शने। इत्यादि लोकदेवतानामष्टादशापि दोषाश्चिन्तनीयाः। सर्वज्ञवीतरागे तु कश्चिदपि दोषो न वर्तते। उक्तं च—

रागादिदोषसद्भावो ज्ञेयोऽमीषां तदागमात्।
असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत् ॥ १ ॥

णिग्गंथे पावयणे निर्ग्रन्थे प्रावचने प्रवचनाभियुक्ते गुरौ। *सद्दहणं होइ सम्मत्तं* एतेषु धर्मदेवगुरुषु पदार्थेषु श्रद्धानं रुचिः अन्येषु स्ववांताशनास्वादनवदरुचिः सम्यक्त्वं भवतीति क्रियाकारकसम्बन्धः।

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं।
लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥ ९१ ॥

यथाजातरूपरूपं सुसंयतं सर्वसंगपरित्यक्तम्।
लिङ्गं न परापेक्षं यः मन्यते तस्य सम्यक्त्वम् ॥

जहजायरूवरूवं यथाजातरूपं मातुर्गर्भनिर्गतबालकरूपं तद्वद्रूपमाकारो यस्य लिङ्गस्य तद्यथाजातरूप रूपं। *सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं* पुनः कथंभूतं लिंगं, सुसंयतं सुष्ठु अतिशयवत्संयमसहितं, सर्वसंगपरित्यक्तं

अथवा निद्रा दोष से युक्त भी जानना चाहिये। रुद्र नरकासुर वरदान देकर विषाद करते है, इसलिये विषाद दोष भी संगत होता है। मैथुनादिक समय स्वेदनामका दोष भी इन लोक कल्पित देवोंमें समझना चाहिये। संग्राम आदि के समय खेद और रूपादि के दिखाने में विस्मय नामका दोष संगत होता है। इस तरह लोक कल्पित देवताओं में अठारहों दोषों का सद्भाव विचार लेना चाहिये परन्तु सर्वज्ञ वीतराग देवमें कोई भी दोष नहीं है। जैसा कि कहा है—

रागादि—इन सब लौकिक देवों में रागादि दोषों का सद्भाव उन्हीं के शास्त्रों से जानने योग्य है क्योंकि दूसरे के अविद्यमान दोष के ग्रहण करने में महान् पाप है॥१॥

इसी तरह प्रवचन कर्ता निर्ग्रन्थ गुरुका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार धर्म देव गुरु तथा जीवादि पदार्थों में श्रद्धान या रुचि करना और अन्य धर्म तथा देवताओं में अपने द्वारा वान्त अन्न के खानेके समान अरुचि रखना सम्यक्त्व होता है ॥९०॥

गाथार्थ—दिगम्बर मुनिका लिङ्ग (वेष) यथा ज्ञात—तत्काल उत्पन्न हुए बालक के समान होता है, उत्तम संयम से सहित होता है सब परिग्रह से रहित होता है और परकी अपेक्षा से रहित होता है'''ऐसा जो मानता है उसके सम्यक्त्व होता है ॥९१॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार माता के गर्भ से निकले हुए बालक का रूप निर्विकार

सर्वपरिग्रहरहितं शिरःकर्णकण्ठकरकटीक्रमप्रभृत्यङ्गाभरणवस्त्ररहितं सर्वथा नग्नं । *लिंगं ण परावेक्खं* इहाग्वधं लिंगं कथंभूतं, न परापेक्षं परापेक्षारहितं शरीरमात्रपरिग्रहं । *जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं* इदृशं लिंगं-निर्ग्रन्थवेषं यः पुमान् मन्यते साधु वक्ति तस्य सम्यक्त्वं भवति, यः सग्रन्थलिंगेन मोक्षं वक्ति स मिथ्या-दृष्टिर्ज्ञातव्य इति ।

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु ।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु ॥ ९२ ॥

कुत्सितदेवं धर्मं कुत्सितलिङ्गं च वन्दते यस्तु ।
लज्जाभयगारवतः मिथ्यादृष्टिर्भवेत् स हु ॥

कुच्छियदेवं धम्मं कुत्सितदेवं श्रीमहादेवं ब्रह्माणं नारायणं बुद्धं रविं चन्द्रमसं यक्षं त्रिपुरभैरवीं चेत्यादिकं । कुत्सितधर्मं आलंभनकुण्डखण्डितपशुचक्रवषट्कारसम्बन्धं शूलपाणिं, झंपापातं, वह्निप्रवेशं, [1]भर्त्रा सह गमनं सूर्यार्घग्रहणस्नानं, सक्रान्तिदानं, नदीसागरादिमज्जनं, गोयोनिस्पर्शनं,तन्मूत्रपानं, शमी, तरुपूजनं पिप्पलालिंगनं मृत्तिकाविलेपनं, कृष्णसारचमवसनं नक्तं भोजनं धूलीदृषदुच्चयवन्दनं, रत्नपूजनं

होता है उसी प्रकार दिगम्बर मुनिका वेष निर्विकार होता है। दिगम्बर मुनिका वेष सुसंयत अर्थात् अत्यधिक संयम से युक्त होता है। सर्व परिग्रहों से रहित होता है अर्थात् शिर कान कण्ठ हाथ कमर तथा पैर आदि अङ्गों के आभूषणों और वस्त्र से रहित सर्वथा नग्न होता है तथा परकी अपेक्षा से रहित शरीर मात्र परिग्रह का धारी होता है। निर्ग्रन्थ साधु का वेष ऐसा होता है ऐसी जिसकी मान्यता है उसके सम्यक्त्व होता है जो परिग्रह सहित वेष से मोक्ष कहता है उसे मिथ्या दृष्टि जानना चाहिये ।९१॥

गाथार्थ—जो लज्जा भय और गारव से कुत्सित देव, कुत्सित धर्म, और कुत्सित लिङ्ग को वन्दना करता है वह मिथ्या दृष्टि होता है ॥९२॥

विशेषार्थ—महादेव, ब्रह्मा, नारायण, बुद्ध, सूर्य, चन्द्रमा, यक्ष, तथा त्रिपुर भैरवी इत्यादि को कुत्सित देव कहते हैं यज्ञकुण्ड में होमे गये पशु समूह की स्वीकृति से सम्बन्ध रखने वाले शूलपाणि, पर्वत आदि से कूदकर झंपा घात करना, अग्नि में प्रवेश करना, पतिके साथ गमन करना अर्थात् अग्नि में जलकर सती होना, सूर्य को अर्घ देना तथा ग्रहण के समय स्नान करना, संक्रान्तिके समय दान देना नदी समुद्र आदिमें स्नान करना, गाय की योनिका स्पर्श करना, उसका मूत्र पीना, शमी वृक्ष की पूजा करना, पीपल का आलिङ्गन करना, मिट्टीका लेप लगाना, काले मृग की चर्मका पहिनना रात्रिभोजन करना,

---

१—भर्त्रा सह गमनं च, इदमेव साधु ।

वाहनार्चनं, भूमिपूजनं,खड्गपूजनं, पर्वतपूजनं, घृ मुखवीक्षणमित्यादि कुत्सितधर्मं । *कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु* कुत्सितलिंगं नग्नाण्डकं, जटाधारिणं, पंचशिखं, एकदण्डिनं, त्रिदण्डिनं, शिखाधारिणं, सौगतपाशुपतयोगपेत्यादि—कुत्सितलिंगं च वन्दते नमस्करोति अभिवादनं विदधाति नमोनारायणमिति वाचा प्रणमति मस्तकेन वन्दे इति प्रणनति यस्तु पुमान् । *लज्जाभयगारवदो* लज्जया कृत्वा भयेन च गारवेण गर्वेण च यो वन्दते । *मिच्छादिट्ठी हवे सो हु* मिथ्यादृष्टिर्भवति सः । कथं ? हु-स्फुटं ।

सपरावेक्खं लिंगं राइं देवं असंजयं वंदे ।

माणइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥ ९३ ॥

स्वपरापेक्षं लिङ्गं रागिणं देवं असंयतं वन्दे ।

मानयति मिथ्यादृष्टिः न हि मानयति शुद्धसम्यक्त्वः ॥

सपरावेक्खं लिंगं स्वपरापेक्षं लिंगं, स्वापेक्षं ऋषिपत्नीयुतं परापेक्षं रक्तवस्त्रमृगचर्मादि सापेक्षं लिंगं वेषं । *राई देवं असंजयं वंदे* रागिणं देवं पार्वतीपतिं लक्ष्मीकान्तं तिलोत्तमामुखकमलषट्पदकचतुर्वक्त्रं चेत्यादिकं देवं, असंजयं वंदे—असंयतं अनेकमानुषमांसभक्षणमुख[1]भक्षकं वन्दे इति यो वक्ति । *माणइ मिच्छादिट्ठी* मानयति मिथ्यादृष्टिः श्रद्धाति मिथ्यादृष्टि जिनानामभक्तः । *ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो* न मानयति न सन्मानं ददाति कोऽसौ ? शुद्धसम्यक्त्वो निर्मलसम्यक्त्वरत्नमंडितः ।

धूली और पत्थरों के ढेर की वन्दना करना रत्नोंको पूजना, घोड़ा आदि वाहनों की पूजा करना, भूमि की पूजा करना, खड्ग की पूजा करना, पर्वत की पूजा करना तथा घी में मुख देखना आदि कुधर्म कहलाता है । नग्नाण्डक, जटा धारी पञ्चशिव एकदण्डी, त्रिदण्डी, शिखाधारी सौगत, पाशुपत तथा यौगप आदि वेष कुलिङ्ग कहलाते हैं । जो मनुष्य लज्जा भय अथवा गारव से इन सबको नमस्कार तथा अभि वादन आदि मन वचनकाय से करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है ॥९२॥

गाथार्थ—स्व और पर की अपेक्षा से सहित लिङ्गको तथा रागी और असंयत देवको वन्दना करता हूं ऐसा मिथ्यादृष्ठि जीव मानता है शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नहीं ॥९३॥

विशेषार्थ—जो वेष स्त्री से सहित होता है वह स्वापेक्ष है तथा लाल वस्त्र और मृगचर्य आदि की अपेक्षा रखता हैं वह परोपेक्ष है रुद्र, विष्णु तथा तिलोत्तम के मुख कमल को प्रघटित करने वाले चार मुखके धारक ब्रह्मा आदि रागी देव हैं तथा अनेक मनुष्यों का मांस[2] भक्षण करने वाले यक्ष आदि असंयत देव हैं इन सबको जो वन्दना

१—मांस भक्षणमुख भक्षकं ।

२—जैन सिद्धान्त की अपेक्षा कोई भी देव मांसभक्षक नहीं होता यह कथा अन्य सिद्धान्त की अपेक्षा है ।

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि ।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ ९४ ॥

सम्यग्दृष्टिः श्रावकः धर्मं जिनदेवदेशितं करोति ।
विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः ॥

सम्माइट्ठी सावय सम्यग्दृष्टिः श्रावकः सम्यक्त्वरत्नसंशोभितो गृहस्थः । अथवा श्रावयतीति श्रावको मुनिः । अथवा हे सम्यग्दृष्टिश्रावक ! इति सम्बोधनपदं । *धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि* धर्मं दुर्गतिपातादुद्धृत्य इन्द्रचन्द्रमुनीन्द्रवन्दिते पदे धरतीति धर्मस्तं । जिणदेवदेसियंजिनदेशितं श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागकथितं करोति । *विवरीय कुव्वंतो* विपरीतं कुर्वन् रुद्रजिमिनिकणभक्षकापिलसौगतादिभिरुपदिष्टं धर्मं कुर्वन् पुमान् । *मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो* मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ।

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे ससरेइ सुहरहिओ ।
जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥ ९५ ॥

करता है मानता है अर्थात् उनकी श्रद्धा करता है वह मिथ्यादृष्टि है शुद्ध सम्यक्त्व का धारक जीव न उन्हें वन्दना करता है और न उनको श्रद्धा करता है ॥९३॥

गाथार्थ—सम्यग्दृष्टि श्रावक अथवा मुनि जिनदेवके द्वारा उपदेशित धर्मको करता है जो विपरीत धर्मको करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥९४॥

विशेषार्थ—प्रसिद्धि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि श्रावक का अर्थ सम्यक्त्व रूपी रत्नसे सुशोभित गृहस्थ है और 'श्रावयति धर्मं भव्यजीवान्' जो भव्य जीवों को धर्म श्रवण करावे इस व्युत्पत्ति के अनुसार मुनि अर्थ भी होता है । 'सावय'–श्रावक यह सम्बोधनान्त पद भी माना जा सकता है । श्रावक को संबोधित करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि हे श्रावक ! जो जिनदेवके द्वारा उपदेशित धर्मको करता है वह सम्यग्दृष्टि है तथा जो इससे विपरीत धर्मको करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये । जिनदेव के द्वारा उपदेशित धर्म दुर्गति के पतन से निकालकर इन्द्र चन्द्र तथा बड़े २ मुनियों के द्वारा वन्दित पद में प्राप्त करा देता है इसलिये वह धर्म है इसके विपरीत रुद्र जिमिनि कणभक्षक, सांख्य तथा बौद्ध आदिके द्वारा उपदिष्ट धर्म कुगति पातका कारण होने से अधर्म है ॥ ९४ ॥

गाथार्थ—जो मिथ्यादृष्टि जीव हैं वह जन्म जरा और मरण से युक्त तथा हजारों दुःखों से परिपूर्ण संसार में दुखी होता हुआ भ्रमण करता रहता है ॥९५॥

मिथ्यादृष्टिः यः सः संसारे संसरति सुखरहितः ।

जन्मजरामरणप्रचुरे दुःखसहस्राकुले जीवः ॥

मिच्छादिट्ठी जो सो मिथ्यादृष्टिर्यो जीवः सः । किं करोति ? *संसारे संसरेइ सुहरहिओ संसारे* भवसागरे संसरति सम्यक्प्रविशति सुखरहितो दुःखसहितः । कथंभूते संसारे *जम्मजरमरणपउरे* जन्मजरामरणप्रचुरे बहुले । *दुक्खसहस्साउले जीवो* दुःखानां सहस्रैरनन्तदुःखैराकुले परिपूर्णे कः ? जीवो मिथ्यादृष्टिप्राणीति शेषः ।

सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु ।

जं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविएणं तु ॥ ९६ ॥

सम्यक्त्वं गुणः मिथ्यात्वं दोषः मनसा परिभाव्य तत्कुरु ।

यत्ते मनसे रोचते किं बहुना प्रलपितेन तु ॥

सम्म गुण मिच्छ दोसो सम्यक्त्वं गुणो भवति, मिथ्यात्वं दोषो भवति पापं स्यात् । *मणेण परिभाविऊण तं कुणसु* इममर्थं मनसा चित्तेन परिभाव्य सम्यग्विचार्य तत्त्वं विधेहि । तत् किं ? *जं ते मणस्स रुच्चइ* यद्द्वयोर्गुणदोषयोर्मध्ये ते तव मनसे रोचते । *किं बहुणा पलविएणं तु* बहुना प्रलपितेन अनर्थकवचनेन किं—न किमपि । यदि तव मनसे गुणो रोचते तर्हि सम्यक्त्वं विधेहि उत दोषो रोचते तर्हि मिथ्यात्वं विधेहि । अर्थतस्तु सम्यक्त्वं विधेहीति सम्यगुपदेशो भगवतां श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणां ।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व का फल बतलाते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जो जीव मिथ्यादृष्टि है वह सदा सुखसे रहित अर्थात् दुखी होता हुआ जन्म जरा और मरण से परिपूर्ण तथा अनन्त दुःखों से व्याप्त संसार में ससरण करता रहता है—चतुर्गति रूप संसार में सब ओर परिभ्रमण करता रहता है । इस परिभ्रमण से बचने का मूल उपाय एक सम्यग्दर्शन ही है सो हे आत्महित के अभिलाषी जन इसे धारण कर ॥९५॥

गाथार्थ—सम्यक्त्व गुण है और मिथ्यात्व दोष है ऐसा मनसे विचार कर तेरे मनके लिये जो रुचे वह कर अधिक कहने से क्या लाभ है ?

विशेषार्थ—आचार्य सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की विस्तार से चर्चा करने के बाद कहते हैं कि भाई ! अधिक कहने से क्या लाभ है ? संक्षेप में इतना ही समझ ले कि सम्यक्त्व गुण रूप है और मिथ्यात्व दोष रूप है ऐसा तू मन से विचार कर । फिर तुझे जो अच्छा लगे उसे कर । यदि सम्यक्त्व अच्छा लगता है तो सम्यक्त्व को प्राप्त कर और मिथ्यात्व अच्छा लगता हैं तो मिथ्यात्व को कर परन्तु मिथ्यात्व का फल दुर्गति है और सम्यक्त्व का फल सुगति है । कहां मिथ्यात्व को दोष और सम्यक्त्व को गुण रूप बता कर सम्यक्त्व की ओर ही आचार्य ने लक्ष्य दिलाया है ॥९६॥

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो।
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसमभावं ॥ ६७ ॥

बाह्यसंगविमुक्तः न विमुक्तः मिथ्याभावेन निर्ग्रन्थः।
किं तस्य स्थानमौनं नापि जानाति आत्मसमभावम् ॥

बाहिरसंगविमुक्को बहिःसंगाद्विमुक्तो रहितो नग्नवेषः। *ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो* नापि मुक्त नैव मुक्तः न विमुक्तो वा मिथ्याभावेन—मिथ्यात्वदोषेण रहितो न भवति, कोऽसौ ? निर्ग्रन्थो दिगम्बरवेषाजीवी जीवः। *किं तस्स ठाणमउणं* तस्य निर्ग्रन्थस्य स्थानं उद्भकायोत्सर्गः किं—न किमपि, कर्मक्षयलक्षणं मोक्षं न साधयतीत्यर्थः। तथा मौनं किं—मूकत्वमपि न किमपि, मोक्षाश्रितं कार्यं न करोतीत्यर्थः। *ण वि जाणदि अप्पसमभावं* नापि जानाति न लभते न वेत्ति आत्मसमभावं आत्मनां जीवानां समत्वपरिणामं—सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा इति सिद्धान्तवचनं न जानाति।

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराधगो णिच्चं ॥ ६८ ॥

मूलगुणं छित्वा बाह्यकर्म करोति यः साधुः।
स न लभते सिद्धिसुखं जिनलिङ्गविराधकः नित्यम् ॥

गाथार्थ—जो साधु बाह्य परिग्रह से तो छूट गया है परन्तु मिथ्याभाव से नहीं छूटा है उसका कायोत्सर्ग के लिये खड़ा होना अथवा मौन से रहना क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है क्योंकि वह आत्मा के समभाव को तो जानता ही नहीं है ॥९७॥

विशेषार्थ—मिथ्याभाव को छोड़े विना मात्र बाह्य परिग्रह का छोड़ना कार्यकारी नहीं है इस बातका वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस निर्ग्रन्थ साधु ने-दिगम्बर धारी मुनि ने बाह्य परिग्रह तो छोड़ दिया परन्तु मिथ्याभाव रूप अन्तरङ्ग परिग्रह नहीं छोड़ा उसका खड़े होकर कायोत्सर्ग करना तथा मौन धारण करना क्या कर सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। उसकी यह सब प्रवृत्ति कर्मक्षय रूप मोक्षका कारण नहीं है क्योंकि वह आत्मा समभाव रूप है—रागद्वेष से रहित है यह नहीं जानता है अथवा आत्मा अर्थात जीवों के समभाव है—सभी जीव शुद्ध बुद्धैक स्वभाव से युक्त हैं इस आगम के वाक्य को नहीं जानता है ॥९७॥

गाथार्थ—जो साधु मूलगुणों को छेद कर बाह्य कर्म करता है वह सिद्धिके सुखको नहीं पाता वह तो निरन्तर जिन लिङ्ग की विराधना करने वाला माना गया है ॥९८॥

मूलगुणं छित्तूण य मूलगुणमष्टाविंशतिभेदभिन्नं पंचमहाव्रतानि पंचसमितयः पंचेन्द्रियरोधो लोचः षडावश्यकानि अचेलत्वमस्नानं क्षितिशयनं दन्तधावनरहितत्वं उद्भभोजनं एकभक्तं इत्यष्टाविंशतिलगुणाम्नायः। तत्र यदुक्तः स्नानाभावस्तस्यायमर्थः—

नित्यस्नान गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे।
यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात् स्नानमन्यद्विगर्हितं ॥ १ ॥

तत्र यतेः रजस्वलास्पर्शे अस्थि स्पर्शे-चण्डाल स्पर्शे शुनकगर्दभनापितयोगकपालस्पर्शे वमने विष्टोपरि पादपतने शरीरोपरिकाकविण्मोचने इत्यादिस्नानोत्पत्तौ सत्यां दण्डवदुपविश्यते, श्रावकादिकश्छात्रादिको वा जलं नामयति, सर्वांगप्रक्षालनं क्रियते, स्वयं हस्तमर्दनेनाङ्गमलं न दूरीक्रियते, स्नाने संजाते सति उपवासो गृह्यते, पंचनमस्कारशतमष्टोत्तरं कायोत्सर्गेण जप्यते एवं शुद्धिर्भवति। एवं मूलगुणं छित्वा। *बाहिरकम्मं करेइ जो साहू* बहिःकर्म आतपनयोगादिकं यः साधुः करोति। *सो ण लहइ सिद्धिसुहं* स साधुःसिद्धिसुखं मोक्षसौख्यं न लभते न प्राप्नोति। *जिणलिंगविराधगो णिच्चं* स साधुर्जिनलिंगविराधको भवति। कथं? नित्यं सर्वकालं।

विशेषार्थ—पांच महाव्रत, पांच समितियां, पञ्चेन्द्रिय दमन, केशलोंच, छह आवश्यक, अचेलत्व, स्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े २ भोजन करना और एक वार भोजन करना ये मुनियों के अट्ठाईस मूल गुण हैं। इन मूल गुणों में जो स्नान नामका मूलगुण बतलाया है उसका भाव यह है—

नित्यस्नान—भगवान् की पूजा करने के लिये गृहस्थ को प्रतिदिन स्नान करना चाहिये परन्तु मुनिके दुर्जन का स्पर्श होनेपर स्नान करने की विधि है उसके लिये अन्य स्नान निन्दित हैं।

दुर्जन स्पर्श का स्पष्ट भाव यह है कि यदि मुनिको रजस्वला स्त्रीका स्पर्श हो जाय, हड्डी का स्पर्श हो जाय, चाण्डाल का स्पर्श होजाय, कुत्ता, गधा, नाई अथवा कापालिकों के नर कपालका स्पर्श हो जाय, वमन अथवा विष्ठा पर पैर पड़ जाय अथवा शरीर के ऊपर कौआ वीट कर दे तो स्नानका प्रसङ्ग होता है। परन्तु इस स्थिति में मुनि दण्डके समान सीधे बैठ जाते हैं और श्रावक अथवा छात्र आदिक जल डालते हैं तथा उनके सर्व शरीर का प्रक्षालन करते हैं मुनि स्वयं हाथ से मीठ कर शरीर का मैल दूर नहीं करते हैं। स्नान हो चुकने पर मुनि उसदिनका उपवास लेते हैं और खड़े होकर पञ्च नमस्कार मन्त्र की एकसौ आठ बार जाप करते हैं। इस तरह शुद्धि होती है।

उक्त मूलगुणों को छेदकर अर्थात उनमें दोष लगाकर जो साधु आतापन योग आदि बाह्य कार्य करता है वह सिद्धि सुख-मोक्ष सुखको नहीं प्राप्त करता। वह निरन्तर जिन लिङ्ग को विराधना करने वाला माना गया है ॥६८॥

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं च ।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥ ९९ ॥

किं करिष्यति बाह्यकर्म किं करिष्यति बहुविधं च क्षमणं च ।
किं करिष्यति आतापः आत्मस्वभावाद्विपरीतः ॥

किं काहिदि बहिकम्मं किं करिष्यति—न किमपि करिष्यति, मोक्षं न करिष्यति, किं तत् ? बहिष्कर्म पठनपाठनादिकं प्रतिक्रमणादिकं च । *किं काहिदि बहुविहं च खवणं* च किं करिष्यति—न किमपि करिष्यति, न मोक्षं दास्यति । किं तत् ? बहुविधं नानाप्रकारं क्षमणमुपवासः । *किं काहिदि आदावं* किं करिष्यति, न किमपि करिष्यति,कोऽसौ ? आतापः घर्मकायोत्सर्गं पूर्वोक्तः समाचारः । कथंभूतः, *आदसहावस्स विवरीदो* आत्मस्वभावाद्विपरीतः बाह्यवस्तुसम्मोहितमनाः ।

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चरित्ते ।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥ १०० ॥

यदि पठति श्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविधानि चारित्राणि ।
तद्बालश्रुतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम् ॥

जदि पढदि बहुसुदाणि य यदि चेत्, पठति व्यक्तमुच्चारयति, बहुश्रुतानि अनेकतर्कव्याकरणच्छन्दोऽलङ्कारसिद्धान्तसाहित्यादीनि शास्त्राणि । चकार उक्तसमुच्चयार्थ एकादशाङ्गानि दशपूर्वाणि च । *जदि काहिदि बहुविहे य चरित्ते* यदि चेत्, काहिदि—करिष्यति अनुष्ठास्यति, बहुविधानि चारित्राणि

गाथार्थ—जो साधु आत्मस्वभावसे विपरीत है मात्र बाह्य कर्म उसका क्या कर देगा ? नाना प्रकार का उपवासादि क्या कर देगा ? और आतापन योग क्या कर देगा ? अर्थात् कुछ नहीं ॥९८॥

विशेषार्थ—पठन पाठन तथा प्रतिक्रमण आदि बाह्य कर्म उस साधुका क्या कर देंगे जो आत्मस्वभाव से विपरीत है । नाना प्रकार के उपवास आदि तप भी उस साधु का क्या कर देंगे जो आत्म स्वभाव से विमुख है और घाम में कायोत्सर्ग से खड़े होकर आतप योग धारण करना भी उसका क्या कर सकता है जो आत्मस्वभाव से विपरीत है । अर्थात् जिसका चित्त बाह्य वस्तुओं से संमोहित है ॥९९॥

गाथार्थ—यदि ऐसा मुनि अनेक शास्त्रोंको पढ़ता है तथा नाना प्रकार के चारित्रों का पालन करता है तो उसकी वह सब प्रवृत्ति आत्म स्वरूप से विपरीत होनेके कारण बालश्रुत और बालचारित्र कहलाती है ॥१००॥

विशेषार्थ—यदि कोई मुनि स्पष्ट उच्चारण करता है अथवा तर्क, व्याकरण, छन्द,

त्रयोदशप्रकाराणि सामायिकादीनि पंचविधानि वा । *तं बालसुदं चरणं* तत्सर्वं बालश्रुतं मूर्खशास्त्रं, बालचरणं मूर्खचारित्रं । *हवेइ अप्पस्स विवरीदं* भवति बालश्रुतं बालचारित्रं भवति, कथभूतं सत् ? आत्मनो निजशुद्धबुद्धैकस्वभावजीवतत्वाद्विपरीतं पराङ्मुखमात्मभावनारहितमिति भावार्थः ।

[1]वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य सो होदि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥ १०१ ।

वैराग्यपरः साधुः परद्रव्यपराङ्मुखश्च स भवति ।
संसारसुखविरक्तः स्वकशुद्धसुखेषु अनुरक्तः ॥

वेरग्गपरो साहू वैराग्यपरः साधुः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः सम्यग्दर्शनज्ञानानामाराधकत्वात्साधक आत्मनामान्वर्थत्वात् । *परदव्वपरम्मुहो य सो होदि* यः साधुः वैराग्यपरः स साधुः परद्रव्यपराङ्मुखो भवति इष्टवनितादिविरक्तो भवति । *संसारसुहविरत्तो* संसारस्य सुखं कर्पूरकस्तूरीचन्दनपुष्पमालापट्टकूलसुवर्णमणिमौक्तिकप्रासादपल्यंकनवयौवनयुवतिपुत्रसम्पदिष्टसंयोगारोग्यदीर्घायुयशःकीर्तिप्रभृतिकं तस्माद्विरक्तः *सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो* पूर्वोक्तात्मशरीरकर्मसमुत्पन्नविश्वसुखाद्विरज्य निष्कवललवणखिल्यास्वादवत् सुखेषु अनन्तज्ञानादिचतुष्टयेऽनुरक्तोऽनुरागवान् भवतीति भावार्थः ।

अलंकार, सिद्धान्त, और साहित्य तथा चकार से ग्यारह अङ्ग और दशपूर्वों को पढ़ता है तथा तेरह अथवा सामायिक आदि पांच प्रकार के चारित्र को करता है तो उसका यह सब कार्य बाल शास्त्र और बाल-चारित्र होता है क्योंकि वह मुनि आत्मस्वभाव से पराङ्मुख है—आत्म भावना से रहित है ॥१००॥

गाथार्थ—जो साधु वैराग्य में तत्पर होता है वह परद्रव्य से परांगमुख रहता है । इसी प्रकार जो साधु संसार सुख से विरक्त होता है वह स्वकीय शुद्ध सुख में अनुरक्त होता है ॥१०१॥

विशेषार्थ—जो साधु वैराग्यमें तत्पर है, अर्थात् संसार शरीर और भोगोंमे विरक्त है वह इष्ट स्त्री आदि पर द्रव्य से विमुख रहता है और जो कपूर, कस्तूरी, चन्दन, पुष्पमाला, रेशमी वस्त्र, सुवर्ण, मणि, मोती, महल, पलंग, नवयौवन वती स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति इष्टजन संयोग, आरोग्य, दीर्घायु, तथा यशस्कीर्ति आदि संसार के सुखसे विरक्त रहता है वह अनन्त चतुष्टय रूप अपने शुद्ध सुख में अनुरागी होता है जिस प्रकार नमक डलीको जिस ओर से चखा जाय उसी ओर से उसमें खारापन का स्वाद आता है इसी प्रकार

१—पं० जयचन्द्रेण इमां गाथां १०२ तम गाथया सह पठित्वा "उत्तमं ठाणं पावइ" इति अर्थं क्रियाकारकसम्बन्धो योजितः ।

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू ।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तम ठाणं ॥ १०२ ॥

गुणगणविभूषिताङ्गः हेयोपादेयनिश्चितः साधुः ।
ध्यानाध्ययने सुरतः स प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ॥

गुणगणविहूसियंगो गुणानां ज्ञानध्यानतपोरत्नानां गणैः समूहैर्विभूषिताङ्गः शोभितशरीरः । *हेयोपादेयणिच्छिदो साहू* हेयं मिथ्यात्वादिकं उपादेयं ग्रहणीयं सम्यक्त्वरत्नादिकं तत्र निश्चितं निश्चयो यस्य स हेयोपादेयनिश्चितः साधू रत्नत्रयाराधको मुनिः । *झाणज्झयणे सुरदो* ध्यानमार्तरौद्रध्यानद्वयपरित्यागेन धर्म्यशुक्लध्यानद्वये रतस्तत्परस्तन्निष्ठस्तदेकतानः । *सो पावइ उत्तमं ठाणं* य एवंविधः साधुः स प्राप्नोति किं ? उत्तमस्थानं [1]भावस्थानं [2]शरीरलक्षण हीनस्थानं परिहृत्य कर्मशरीरबन्धन[3]रहित मोक्षं प्राप्नोति लभते सिद्धः प्रसिद्धश्च भवतीति तात्पर्यार्थः ।

णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहि अणवरयं ।
थुव्वंतेहि थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥ १०३ ॥

आत्मा का किसी भी अंश—गुण की अपेक्षा अनुभव किया जाय उसी अंश से वह अनन्त ज्ञानादि रूप अनुभव में आता है ॥१०१॥

गाथार्थ—गुणों के समूह से जिसका शरीर शोभित है, जो हेय और उपादेय पदार्थों का निश्चय कर चुका है तथा ध्यान और अध्ययन में जो अच्छी तरह लीन रहता है वही साधु उत्तम स्थान को प्राप्त होता है ।१०२॥

विशेषार्थ—ज्ञान ध्यान और तप रूपी रत्न गुण कहे जाते हैं इनके समूह से जिस साधुका शरीर सुशोभित हो रहा है। मिथ्यात्वादिक हेय—छोड़ने योग्य हैं तथा सम्यक्त्व रत्नादिक उपादेय—ग्रहण करने योग्य पदार्थ हैं इन दोनों के विषय में जो साधु दृढ़निश्चय कर चुका है तथा आर्त और रौद्र इन दोनों खोटे ध्यानों को छोड़कर धर्म्य और शुक्लध्यान में तथा वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा उपज्ञात शास्त्रों के अध्ययन में जो तदेकतान हो रहा है पूर्ण रूपसे संलग्न है वह साधु उत्तम स्थान को अर्थात् शरीर रूप हीन स्थानको छोड़कर कर्म और शरीर के बन्धन से रहित मोक्षको प्राप्त होता है ॥१०२॥

गाथार्थ—दूसरों के द्वारा नमस्कृत इन्द्रादिदेव जिसे नमस्कार करते हैं, दूसरों के द्वारा ध्यान—ध्यानकिये गये तीर्थंकर देव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं और दूसरों के

१—मोक्षस्थानं ब० । २—शरीर लक्षणं म० । ३—रहितत्वं मोक्षं म० ।

नतैः यत् नम्यते ध्यायते ध्यातैः अनवरतम् ।
स्तूयमानैः स्तूयते देहस्थं किमपि तत् मनुत ॥

णविएहिं जं णविज्जइ नतैर्देवेन्द्रादिभिर्यन्नम्यते । *झाइज्जइ झाइएहि अणवरयं* ध्यायतेऽहर्निशं चिन्त्यते झाइएहिं—ध्यातैस्तीर्थंकरपरमदेवैर्यद्ध्यायते अहर्निशं शुक्लध्यानार्थं सर्वकर्मक्षयार्थं तत्पदप्राप्त्यर्थं अनुचिन्त्यते । *थुव्वंतेहि थुणिज्जइ* स्तूयमानैस्तीर्थंकरपरमदेवैर्यत् स्तूयतेऽनन्तगुणानुभावनतया प्रशस्यते । *देहत्थं किं पि तं मुणह* देहस्थं शरीरमध्ये स्थितं किमप्यपूर्वमनिर्वचनीयमासंसारमप्राप्तं तद्योगिनां प्रसिद्धं तत्वं आत्मस्वरूपं मुणह—जानीत यूयं । यदुक्तं—

तिलमध्ये यथा तैलं दुग्धमध्ये यथा घृतं ।
काष्ठमध्ये यथावन्हिर्देहमध्ये तथा शिवः ॥ १ ॥

शिवशब्दावाच्यमात्मतत्वमित्यर्थः ।

इदानीं शास्त्रस्यान्ते मंगलनिमित्तं पंचपरमेष्ठिपुरस्सररत्नत्रयगर्भितमात्मतत्वमुद्भावयन्ति भगवन्तः—

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥ १०४ ॥

द्वारा स्तूयमान—स्तुति किये गये तीर्थंकर जिनेन्द्र भी जिसकी स्तुति करते हैं शरीर के मध्यमें स्थित उस अनिर्वचनीय आत्म तत्वको तुम जानो ॥१०३॥

विशेषार्थ—यहां शरीर के मध्यमें स्थित रहने वाले आत्म तत्वको श्री कुन्दकुन्द भगवन्त ने कोई अनिर्वचनीय तत्व कहा है उसकी महिमा बतलाते हुए कहा है कि उस आत्म तत्वको दूसरों के द्वारा नमस्कृत इन्द्रादिक भी नमस्कार करते हैं, दूसरे प्राणी जिनका ध्यान करते हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान् भी उसका ध्यान करते हैं तथा समस्त लोग जिनको स्तुति कर रहे हैं ऐसे तीर्थंकर भी उसकी स्तुति करते हैं। हे भव्यजीवों ! उस आत्म तत्व को तुम जानो—उसीका मनन करो । यद्यपि वह आत्म तत्व तुम्हारे शरीर में ही स्थित है परन्तु आज तक तुम्हारा उस ओर लक्ष्य नहीं गया कहा गया है—

तिलमध्ये—जिस प्रकार तिल के बीच में तैल दूध के बीचमें घी और काष्ठ के बीच में अग्नि रहती है उसी प्रकार शरीर के बीचमें शिव रहता है। यहां शिवका अर्थ आत्मतत्व है ॥१०३॥

अब शास्त्र के अन्त में मङ्गल के निमित्त पञ्चपरमेष्ठियों के साथ साथ रत्नत्रय से गर्भित जो आत्मतत्व है श्री कुन्दकुन्द भगवन्त उसीका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पांच परमेष्ठी हैं

अर्हन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्यायाः साधवः पंचपरमेष्ठिनः ।
तेऽपि हु तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा हु मे शरणम् ॥

अरुहा सिद्धायरिया अर्हन्तः सिद्धा आचार्याश्च । *उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी* उपाध्यायाः, साधवः, एते पंचपरमेष्ठिनो देवा ममेष्टदेवताः । *ते वि हु चिट्ठहि आदे* तेऽपि पंचपरमेष्ठिनो देवा अपि तिष्ठन्ति, क्व ? आत्मनि निजजीवतत्त्वे । केवलज्ञानादिगुणविराजमानत्वात् सकलभव्यजीवसम्बोधनसमर्थत्वाच्चात्मायमर्हन् वर्तते । सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षपदप्राप्तत्वात् निश्चयनयान्ममात्मायमेव सिद्धः । दीक्षाशिक्षादायकत्वात् पंचचाराचरणचारणप्रवीणत्वात् सूरिमंत्रतिलकमंत्रतन्मयत्वान्ममात्मायमेवाचार्यपदभागी वर्तते । नोपदेशकत्वात स्वपरमतविज्ञायकत्वात् सूरिमंत्रतिलकमंत्रतन्मयत्वान्ममात्मायमेवाचार्यपवमागी वर्तते । श्रुतज्ञानोपदेशकत्वात् स्वपरमतविज्ञायकत्वात् भव्यजीवसम्बोधकत्वान्ममात्मायमेवोपाध्यायः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रयसाधकत्वात सर्वद्वन्द्वविमुक्तत्वात् दीक्षाशिक्षायात्राप्रतिष्ठाद्यनेकधर्मकार्यनिश्चिन्तततयाऽऽत्मतत्वसाधकतया ममात्मायमेव सर्वसाधुर्वर्तते इति पंचपरमेष्ठिन आत्मनि तिष्ठन्तीति कारणात् । *तम्हा आदा हु मे सरणं* तस्मात्कारणादात्मा हु—स्फुटं मे मम शरणं संसारदुःखनिवारकत्वादर्तिमथनसमर्थः मम शरणं गतिरिति ।

सो ये पांचों परमेष्ठो भी जिस कारण आत्मा में स्थित है उस कारण आत्मा ही मेरेलिये शरण हो ॥ १०४ ॥

विशेषार्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी हमारे इष्ट देवता हैं सो ये सभी आत्मा में स्थित हैं अर्थात् आत्मा को ही परिणति रूप हैं । केवल ज्ञानादि गुणों से विराजमान होने तथा समस्त भव्यजीवोंके संबोधनमें समर्थ होनेसे मेरी यह आत्मा ही अरहत है । समस्त कर्मोंके क्षय रूप मोक्षको प्राप्त होनेसे निश्चयनय की अपेक्षा मेरी आत्मा हो सिद्ध है । दोक्षा और शिक्षा के दायक होनेसे, पञ्चाचार के स्वयं आचरण तथा दूसरोंको आचरण करानेमें प्रवीण होनेसे और सूरिमन्त्र तथा तिलक मन्त्र से तन्मय होनेके कारण मेरी आत्मा ही आचार्य है । श्रुतज्ञान के उपदेशक होनेसे, स्वपर मतके ज्ञाता होनेसे तथा भव्य जीवोंके संबोधक होनेसे मेरी आत्मा हो उपाध्याय है और सम्यग् दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय के साधक होनेसे, सर्व प्रकार के द्वन्द्वों से रहित होनेसे, दोक्षा शिक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदि अनेक धर्म कार्योंकी निश्चिन्तता से तथा आत्म तत्व की साधकता से मेरी यह आत्मा हो साधु हैं । इसप्रकार पञ्चपरमेष्ठी रूप मेरी यह आत्मा हो मेरे लिये स्पष्ट रूप से शरण है—यही संसार सम्बन्धी दुःखोंका निवारक होनेसे मेरी पोड़ा को नष्ट करने में समर्थ है ॥१०४॥

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव ।

चउरो चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं ॥ १०५ ॥

सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सच्चरित्रं हि सत्तपश्चैव ।

चत्वारः तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा हु मे शरणम् ॥

सम्मत्तं सण्णाणं [1]सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनरत्नं सज्ज्ञानं समीचीनमबाधितं पूर्वापरविरोधरहितं सम्यग्ज्ञानं । *सचारित्तं हि सत्तवं चेव* सच्चारित्रं सम्यक्चारित्रं पापक्रियाविरमणलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं च सम्यक्चारित्रं, सत्तवं—समीचीनं तपः इच्छानिरोधलक्षणं चेति । *चउरो चिट्ठहि आदे* एते चत्वारोऽपि परमाराधनापदार्थास्तिष्ठन्ति, क तिष्ठन्ति ? आत्मनि निजशुद्धबुद्धैकस्वभावजीवतत्वे तिष्ठन्ति । यदात्मनः श्रद्धानमात्मैव करोति, आत्मनो ज्ञानमात्मैव विधत्ते, आत्मना सहैकलोलीभावमात्मैव कुरुते, आत्मैवात्मनि तपति, केवलज्ञानैश्वर्यं प्राप्नोति चतुर्भिरपि प्रकारैरात्मात्मानमेवाराधयति । *तम्हा आदा हु मे सरणं* तस्मादात्मैव मम शरणमर्तिमथनसमर्थः संसारार्तिनिषेधकत्वात् आत्मैव मे गतिः, मंगलं मलगालने कर्ममलकलङ्कनिषेधने मंगस्य सुखस्य दाने च समर्थत्वादात्मैव परमं मंगलमिति भावार्थः ।

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों आत्मा में स्थित हैं इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है ॥१०५॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन रूपी रत्नको कहते हैं । समीचीन और अबाधित अर्थात् पूर्वापर विरोध से रहित जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है । पापक्रियाओं से विरत होना तथा परम उदासीनता को धारण करना सम्यक् चारित्र है । और इच्छा-निरोध होजाना सम्यक् तप है । ये चारों ही परम आराधनाएं निज शुद्ध-बुद्ध स्वभावसे युक्त आत्मा में स्थित हैं । चूंकि आत्मा ही आत्मा का श्रद्धान करती है, आत्मा ही आत्मा के ज्ञानको करती है आत्मा ही आत्मा के साथ एकलोली भाव अर्थात् तन्मयी भाव को प्राप्त होती है, आत्मा ही आत्मा में तपती है और आत्मा ही आत्मा में केवल ज्ञान रूप ऐश्वर्य को प्राप्त होती है इस तरह चारों प्रकार से आत्मा ही आत्मा की आराधना करती है इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है—मेरी पीड़ाको नष्ट करने में समर्थ है । इस प्रकार संसार की पीड़ा का नाश करने वाली होनेसे आत्मा ही मेरी गति है—अन्तिम लक्ष्य है । आत्मा ही मङ्गल रूप है क्योंकि वही मं अर्थात् पापको गलाने वाली है अथवा कर्म रूपी मलके कलंक को दूर करने वाली है अथवा आत्मा ही मगं अर्थात् सुखको देनेवाली है इसलिये आत्मा ही परम मङ्गल रूप है ॥१०५॥

1—म० प्रतौ सम्यक्त्वं नास्ति ।

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्य य पाहुडं सुभत्तीए ।
जो पढइ सुणइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥ १०६ ॥

एवं जिनप्रज्ञप्तं मोक्षस्य च प्राभृतं सुभक्त्या ।
यः पठति शृणोति भावयति स प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यम् ॥

एवं जिणपण्णत्तं एवममुना प्रकारेण जिनप्रज्ञप्तं सर्वज्ञवीतरागभावितं *मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए* **मोक्षस्य परमनिर्वाणपदस्य प्राभृतं सारमिदं शास्त्रं सुष्ठु—अतिशयेन भक्त्या परमधर्मानुरागेण ।** *जो पढइ सुणइ भावइ य* **आसन्नभव्या जीवः पठति जिह्वाग्रे करोति, यश्च भव्यजीवः शृणोत्याकर्णयति, यश्च मोक्षाभिलाषुको जीवो भावयति** एतच्छास्त्रं यस्मै रोचते । *सो पावइ सासयं सोक्खं* स जीवः परममुनीश्वरः, प्राप्नोति लभते, शाश्वतमविनश्वरं, सौख्यं निजात्मोत्थं परमानन्दलक्षणं सौख्यं ।

टीकाकृतुः प्रशस्तिः

नानाशास्त्रमहार्णवैकतरणे यद्बुद्धिरिद्धश्रिया । पूर्णा पुण्यकविप्रमोदजननी [1]सारैकनौकायते ।
यत्पादाम्बुजयुग्ममाप्य मुनिभिर्भृंगैरिवा[2]प्यायते । स श्रीमान् श्रुतसागरो विजयतामेनस्तमोऽहर्पतिः ॥

गाथार्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रणीत इस मोक्षप्राभृत को जो उत्तम भक्ति से पढ़ता है, सुनता है और इसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख—अविनाशी मोक्ष सुखको प्राप्त होता है ॥१०६॥

विशेषार्थ—ग्रन्थ के फलका निरूपण करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि इस प्रकार सर्वज्ञ वीतराग देवके द्वारा मूलरूप से उपदिष्ट इस मोक्षप्राभृत नामक सारभूत शास्त्रको जो निकट भव्यजीव परम धर्मानुराग से पढ़ता है अर्थात् कण्ठस्थ करता है, सुनता है और मोक्ष की अभिलाषा रखता हुआ इसका चिन्तन—मनन करता है वह निज आत्मा से उत्पन्न होनेवाले परमानन्द रूप अविनाशी सुखको प्राप्त होता है ॥१०६॥

आगे संस्कृत टीकाकार अपनी प्रशस्ति लिखते हैं—

देदीप्यमान लक्ष्मी से पूर्ण तथा पुण्यशाली कवियों को आनन्द उत्पन्न करनेवाली जिनकी बुद्धि नाना शास्त्र रूपी महासागर के तैरने में सुदृढ़ नौका के समान आचरण करती है, जिनके चरण कमलों के युगल को पाकर मुनि भ्रमरों के समान संतुष्ट होजाते हैं तथा जो पाप रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये सूर्य हैं वे श्रीमान् श्रुतसागर मुनि विजय को प्राप्त हों ॥१॥

१—सारैव । २—रिवाप्रीयते म० क० ।

श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रममलं श्रीकुन्दकुन्दाह्वयं । यो धीमानकलङ्कभट्टमपि च श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभुं ॥
विद्यानन्दमपीच्छति कृतमनाः श्रीपूज्यपादं गुरुं । वीक्षत श्रुतसागरं सविनयात् त्रैविद्यधीसंस्तुतं ॥ २ ॥
श्रीमल्लिभूषणगुरोर्वचनादलंघ्या । न्मुक्तिश्रिया सह समागममिच्छतेयं ॥
षट्प्राभृते सकलसंशयशत्रुहंत्री । टीका कृताऽल्पधियां श्रुतसागरेण ॥ ३ ॥

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपंचकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवंदितसीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तत्श्रुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्र सूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डलीमंडितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीपद्मनन्दिदेवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दिपट्टभट्टारकेण श्रीमल्लिभूषणेनानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना सूरिवर श्रीश्रुतसागरेण विरचिता मोक्षप्राभृतटीका—

परिसमाप्ता ।

षष्ठः परिच्छेदः श्रीर्भूयात्

श्रीमत्—जो बुद्धिमान् श्रीमान् स्वामी समन्त भद्र, निर्मल कुन्दकुन्दाचार्य, अकलङ्कभट्ट, श्री प्रभाचन्द्रस्वामी विद्यानन्द तथा श्री पूज्यपाद गुरुको देखनेकी इच्छा करता है अर्थात् उनकी रचनाओंका स्वाद जानना चाहता है वह विनय पूर्वक त्रैविद्य पदधारी विद्वानों के द्वारा स्तुत श्री श्रुतसागरको विनयसे देखे अर्थात् उनकी रचनाओंका पठन पाठन करे ॥२॥

श्री मल्लिभूषण—श्री मल्लिभूषण गुरुके अलङ्घ्य वचनों से मुक्ति लक्ष्मी के साथ समागम की इच्छा करने वाले श्री श्रुतसागर ने मन्दबुद्धि लोगोंके लिये षट्प्राभृत ग्रन्थ पर समस्त संशय रूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाली यह टीका रची है ॥३॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी कुन्दकुन्दाचार्य वक्रग्रीवाचार्य एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामोंसे विराजित, चार अंगुल प्रमाण आकाश में चलनेवाली ऋद्धि से युक्त, पूर्वविदेह क्षेत्र की पुण्डरी किणी नगरी में सोमन्धर इस दूसरे नामसे युक्त स्वय प्रभ जिनकी वन्दना करने वाले, उनके श्रुतज्ञान से भरत क्षेत्रके भव्य जीवों को संबोधित करने वाले, श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्टके आभरणभूत, तथा कलिकाल के सर्वज्ञ स्वरूप श्री कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थ पर समस्त मुनि मण्डली से मण्डित कलिकाल के गौतमस्वामी, श्री पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति, और विद्यानन्दी के पट्ट पर स्थित भट्टारक श्री मल्लिभूषण के द्वारा अनुमत सकल विद्वज्जनों के समूह से सन्मानित, उभय भाषा के कवियों के चक्रवर्ती, श्री विद्यानन्दी गुरुके शिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित मोक्षप्राभृत की टीका— समाप्त हुई ।

लिङ्ग प्राभृतं।

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥ १ ॥

कृत्वा नमस्कारं अर्हतां तथैव सिद्धानां।
वक्ष्यामि श्रमणलिंगं प्राभृतशास्त्रं समासेन ॥

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥ २ ॥

धर्मेण भवति लिंगं न लिंगमात्रेण धर्मसंप्राप्तिः।
जानीहि भावधर्मं किं ते लिंगेन कर्तव्यं ॥

जो पावमोहिदमदी लिंग घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगि भावं [1]लिंगं णासेदि लिंगीणं ॥ ३ ॥

काऊण—मैं अरहन्तों तथा सिद्धों को नमस्कार कर सक्षेप से मुनिलिङ्ग का वर्णन करने वाले प्राभृत शास्त्र को कहूंगा ॥ १ ॥

धम्मेण—धर्म से ही लिङ्ग होता है, लिङ्गमात्र धारण करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती इसलिये भावको धर्म जानो. भाव रहित लिङ्ग से तुझे क्या काय है ?

भावार्थ—लिङ्ग अर्थात् शरीर का वेष धर्म से होता है जिसने भावके विना मात्र शरीरका वेष धारण किया है उसके धर्मकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये भाव ही धम है भावके विना मात्र वेष कार्य कारी नहीं है ॥ २ ॥

जो पाप—जिसकी बुद्धि पापसे मोहित हो रही है ऐसा जो पुरुष जिनेन्द्र देवके लिङ्गको—नग्न दिगम्बर वेषको ग्रहण कर लिङ्गी के यथार्थ भावकी हंसी करता है वह सच्चे वेषधारियों के वेषको नष्ट करता है अर्थात लजाता है।

१—उवहसइ इति पाठः श्री पं० जयचन्द्रेण स्वीकृतः। लिंगिम्मी य णारदो लिंगी।

य: पापमोहितमतिः लिंगं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणां ।
उपहसति लिंगिभावं लिंगं नाशयति लिंगीनां ॥

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ४ ॥

नृत्यति गायति तावत् वाद्य ? वादयति लिंगरूपेण ।
स पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण ।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ५ ॥

समूहयति रक्षति च आर्तं ध्यायति बहुप्रयत्नेन ।
स पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥

कलहं वादं जूआ णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी ।
वच्चदि णरयं पाओ [1]करमाणो लिंगिरूवेण ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो नग्न मुद्राको धारण कर पीछे पापसे मोहित बुद्धि होता हुआ वेष धारियों के यथार्थ भावका उपहास करता है अर्थात् भावलिङ्ग की ओर लक्ष्य नहीं देता मात्र पापसे प्रेरित होकर विपरीत आचरण करता है वह अन्य जो यथार्थ वेषधारी हैं उनके भी वेषको नष्ट करता है उनके वेषके प्रति लोगोंमें अनादरका भाव उत्पन्न कराता है ॥३॥

णच्चदि—जो मुनि लिङ्गसे नाचता है, गाता है अथवा बाजा बजाता है वह पापसे मोहित बुद्धि पशु है मुनि नहीं है ।

भावार्थ—जो मुनि होकर भी नृत्य करता है, गाता है और बाजा बजाता है वह पापी पशु है मुनि नहीं है ।४॥

सम्मूहदि—जो बहुत प्रकार के प्रयत्नों से परिग्रह को इकट्ठा करता है, उसकी रक्षा करता है तथा आर्तध्यान करता है वह पापसे मोहित बुद्धि पशु है मुनि नहीं है ।

भावार्थ—मुनि होकर भी जो नाना प्रकार के प्रयत्नों से परिग्रह को इकट्ठा करता है उसकी रक्षा करता है तथा उसके निमित्त आर्तध्यान करता है उसकी बुद्धि पापसे मोहित है उसे पशु समझना चाहिये वह मुनि नहीं कहलाता है ॥५॥

१—करमाणो लिंगरूवेण य इतिपाठ पं० जयचन्द्रेण स्वीकृतः तेनैव राजमानो इत्यपि पाठान्तर सूचितं समाएस म० ।

कलहं वादं द्यूतं नित्यं बहुमानगर्वितो लिंगी।
व्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरूपेण ॥

पावोपहदिभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण।
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकांतारे ॥ ७ ॥

पापोहतभावः सेवते च अब्रह्म लिंगिरूपेण।
स पापमोहितमतिः हिंडते संसारकांतारे ॥

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण।
अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदी ॥ ८ ॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि उपधानानि यदि न लिंगरूपेण।
आर्तं ध्यायति ध्यानं अनन्तसंसारी को भवति ॥

कलहं—जो पुरुष मुनि लिङ्ग का धारक होकर भी निरन्तर अत्यधिक गर्व से युक्त होता हुआ कलह करता है, वादविवाद करता है, अथवा जुआ खेलता है वह चूंकि मुनि लिङ्ग से ऐसे कुकृत्य करता है अतः पापी है और नरक जाता है।

भावार्थ— ेऊंचा प धारण कर कुकृत्य करता है वह पापी नियम से नरक गामी होता है ॥६॥

पापोपहद—पापसे जिसका यथार्थ भाव नष्ट होगया है ऐसा जो पुरुष मुनिलिङ्ग धारण कर भी अब्रह्म का सेवन करता है वह पापसे मोहित बुद्धि होता हुआ संसार रूपी अटवी में भ्रमण करता रहता है।

भावार्थ—मुनि लिङ्ग धारण कर जिसने पहले अब्रह्म सेवन का परित्याग किया पीछे पापोदय से परिणामों को मलिन कर जो अब्रह्म का सेवन करता है वह दुर्बुद्धि दीर्घ काल तक संसार रूपी वन में घूमता रहता है ॥७॥

दंसणणाण—जो मुनि लिङ्ग धारण कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को उपधान अर्थात् आश्रय नहीं बनाता है तथा आर्त्तध्यान करता है वह संसारी होता है।

भावार्थ—मुनिवेषका प्रयोजन तो रत्नत्रय की आराधना है पर जो मुनिवेष रख कर रत्नत्रय को ध्यानका आलम्बन नहीं बनाता उलटा आर्त्तध्यान करता है वह अनन्त संसारी होता है अर्थात् जिसके संसार का अन्त नहीं ऐसा अभव्य कहलाता है ॥८॥

जो जोडदि विव्वाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥ ९ ॥

य: योजयति विवाहं कृषिकर्मवाणिज्यजीवघातं च।
व्रजति नरकं पाप: कुर्वाण: लिंगिरूपेण ॥

चोराण मिच्छवाण य जुद्ध विवाहं च तिव्वकम्मेहि।
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवास ॥ १० ॥

चोराणां मिथ्यावादिनां युद्धं विवादं च तीव्रकर्मभि:।
यंत्रेण दीव्यमान: गच्छति लिंगी नरकवासं ॥

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि।
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥ ११ ॥

जो जोड़दि—जो मुनिका लिङ्ग रखकर भी दूसरों के विवाह सम्बन्ध जोड़ता है तथा खेती और व्यापार के द्वारा जीवों का घात करता है वह चूंकि मुनिलिङ्ग के द्वारा इस कुकृत्य को करता है अतः पापी है और नरक जाता है।

भावार्थ—जो पुरुष नग्न मुद्राका धारी होकर दूसरों के विवाह सम्बन्ध जुड़वाता है और खेती तथा व्यापार के द्वारा जीव घात करता है वह नियम से नरक जाता है। गृहस्थ ने अपने पदके अनुकूल इन कार्योंका त्याग नहीं किया है इसलिये वह इन्हें करता हुआ भी नरक का पात्र अनिवार्य रूप से नहीं होता परन्तु जो मनुष्य मुनिलिङ्ग धारण कर इन कुकृत्यों को करता है वह नियम से नरक का पात्र होता है ॥९॥

चोराण—जो लिङ्गी चोरों के तथा झूठ बोलने वालों के युद्ध और विवाद को कराता है तथा तीव्रकर्म-खर कर्म अर्थात् जिनमें अधिक हिंसा होती है ऐसे कार्योंसे और यन्त्र अर्थात् चौपड़ आदिसे क्रीडा करता है वह नरक वासको प्राप्त होता है।

भावार्थ—मुनिका वेष रखकर भी जो मनुष्य पैशुन्य कार्य से चोरों तथा असत्य वादियों को परस्पर लड़ा देता है उनमें विवाद—संघर्ष पैदा कर देता है, अत्यधिक हिंसा के कार्यों से विनोद करता है, तथा चौपड़, सतरंज, पासा, और हिंडोला आदि यन्त्रोंके द्वारा क्रीड़ा करता है वह नियम से नरक को प्राप्त होता है ॥१०॥

१—णिच्च छ। २—वट्टमाणो म०।

दर्शनज्ञानचरित्रेषु तपःसंयमनियमनित्यकर्मणि ।
[1]पीडयति वर्तमानः प्राप्नोति लिंगी नरकवासं ॥

कंदप्पा इय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं ।
माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १२ ॥

कंदर्पादिकं वर्तते कुर्वाणः भोजनेषु रसगृद्धिं ।
मायावी लिंगव्यपायी तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं ।
अवरुपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥ १३ ॥

धावति पिंडनिमित्तं कलहं कृत्वा भुंक्ते पिंडं ।
अपरप्ररूपी सन् जिनमार्गी न भवति स श्रमणः ॥

दंसण—जो मुनि वेषो दर्शन ज्ञान चारित्र तथा तप संयम नियम और नित्यकार्यों में प्रवृत्त होता हुआ दूसरे जीवों को पीड़ा पहुंचाता है वह नरक वास को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो पुरुष मुनिपद धारण कर अपनी प्रमाद पूर्ण प्रवृत्ति से दूसरे जीवों को पीड़ा पहुंचाता है वह नरकगामी होता है ; अथवा 'पीड़यति' के स्थान पर 'पीड़यते' छाया मानी जावे तो यह अर्थ होता है कि जो पुरुष मुनि पद धारण कर उक्त कार्योंको करता हुआ पीडित होता है अर्थात् अरुचि भावसे दुःखी होता है वह नरक गामी होता हैं। कुछ प्रतियों में 'वट्टमाणो' के स्थान पर 'बद्धमानो' भी पाठ है सो उसका अर्थ अहंकार-वश होता हुआ ऐसा करना चाहिये ॥११॥

कंदप्पाइय—जो पुरुष मुनिवेषी होकर भी कांदर्पी आदि कुत्सित भावनाओं को करता है तथा भोजन में रस सम्बन्धी लोलुपता को धारण करता है वह माया चारी, मुनिलिङ्ग को नष्ट करने वाला पशु है, मुनि नहीं है।

भावार्थ—मुनि होकर भी जो कषाय वश काम कथा आदि विकथाएं करते हैं तथा भोजन में अत्यधिक आसक्ति रखता है वह मायाचारी हैं तथा लिङ्ग को लजाने वाला है ऐसा पुरुष पशु है मुनि नहीं है ॥१२॥

धावदि—जो आहार के निमित्त दौड़ता है, कलह कर भोजन को ग्रहण करता है और उसके निमित्त दूसरे से ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।

१—सं जयचन्द्र टीकायां पीड्यते इति छाया स्वीकृता। २—वंभो म०

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥ १४ ॥

गृह्णाति अदत्तदानं परनिन्दामपि च परोक्षदूषणैः।
जिनलिंगं धारयन् चोरेणेव भवति स श्रमणः ॥

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण।
इरियावह धारंओ तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १५ ॥

उत्पतति पतति धावति पृथिवीं खनति लिंगरूपेण।
ईर्यापथं धारयन् तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥

भावार्थ—इस कालमें कितने ही लोग जिनलिङ्ग से भ्रष्ट होकर अर्धपालक हुए फिर उनमें श्वेताम्बरादिक संघ हुए। उन्होंने शिथिलाचार का पोषण कर लिङ्ग की प्रवृत्ति विकृत कर दी। उन्हीं का यहां निषेध समझना चाहिये। उनमें अब भी कोई ऐसे साधु हैं जो आहार के निमित्त शीघ्र दौड़ते हैं ईर्या समिति को भूल जाते हैं और गृहस्थ के घरसे लाकर दो चार सम्मिलित बैठकर खाते हैं और वटवारा में सरस नीरस आनेपर परस्पर कलह करते हैं तथा इस निमित्त को लेकर दूसरों से ईर्ष्या भी करते हैं सो ऐसे साधु जिनमार्गी नहीं हैं ॥१३॥

गिण्हदि—जो मनुष्य जिन लिङ्गको धारण करता हुआ भी विना दी हुई वस्तुको ग्रहण करता है तथा परोक्ष में दूषण लगा लगा कर दूसरे की निन्दा करता है वह चोर के समान है साधु नहीं है।

भावार्थ—दातार की इच्छा न होने पर अड़कर भिक्षा आदि को ग्रहण करना अदत्तादान है। जो साधु इस प्रकारके आहारको ग्रहण करता है और परोक्ष में दोष लगाकर दूसरे की निन्दा भी करता है वह चोर के समान है ॥१४॥

उप्पडदि—जो मुनिलिङ्ग धारण कर चलते समय कभी उछलता है, कभी दौड़ता है और कभी पृथिवी को खोदता है वह पशु है मुनि नहीं है।

भावार्थ—मुनिलिङ्ग धारण करते समय ईर्या समिति से चलने का नियम लिया जाता है सो उस प्रतिज्ञा की ओर ध्यान न देकर जो कूदता हुआ, गिरता हुआ, दौड़ता हुआ तथा पृथिवी को खोदता हुआ चलता है वह मुनि नहीं है वह तो वृषभ आदि पशुके तुल्य है ॥ १५ ॥

बंधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि ।
छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १६ ॥

बंध १विरतः सन् सस्यं खण्डयति तथा च वसुधामपि ।
छिनत्ति तरुगणं बहुशः तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥

रागो (रागं) करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि ।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १७ ॥

रागं करोति नित्यं महिलावर्गं परं च दूष्यति ।
दर्शनज्ञानविहीनः तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो ।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ १८ ॥

प्रव्रज्याहीनगृहिणि स्नेहं शिष्ये वर्तते बहुशः ।
आचारविनयहीनः तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥

बंधणिरओ—जो किसी के बन्ध में लीन होकर अर्थात् उसका आज्ञाकारी बनकर धान कूटता है, पृथिवी खोदता है, और वृक्षोंके समूहको छेदता है वह पशु है मुनि नहीं है।

भावार्थ—यह कथन अन्य साधुओं की अपेक्षा है जो साधु वनमें रहकर स्वयं धान तोड़ते हैं उसे कूटते हैं, अपने आश्रम में वृक्ष लगाने आदिके उद्देश्यसे पृथिवी खोदते हैं तथा वृक्ष लता आदि को छेदते हैं वे पशु के तुल्य हैं उन्हें हिंसा पापकी चिन्ता नहीं है ऐसा मनुष्य साधु नहीं कहला सकता ॥१६॥

रागोकरेदि—जो स्त्रियोंके समूह के प्रति निरन्तर राग करता है दूसरे निर्दोष प्राणियोंको दोष लगाता है तथा स्वयं दर्शन और ज्ञानसे रहित है वह पशु है साधु नहीं है।

भावार्थ—कितने ही साधु निरन्तर स्त्रियों के पास उठते हैं बैठते हैं उन्हीं से अधिक वार्तालाप करते हैं, दूसरे निर्दोष व्यक्तियों की निन्दा करते रहते हैं और स्वयं ज्ञान दर्शन से रहित हैं न अपने इनगुणों की वृद्धि की ओर लक्ष्य रखते हैं वे साधु नहीं हैं वे पशु हैं—पशुके तुल्य अज्ञानी हैं ॥१७॥

पव्वज्ज—जो दीक्षासे रहित गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखता है तथा आचार और विनय से रहित है वह तिर्यञ्च है साधु नहीं है।

१—बीरमाःम० प्र० ।

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं ।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥ १६ ॥
एवं सहितः मुनिवर संयतमध्ये वर्तते नित्यं ।
बहुलमपि जानानः भावविनष्टो न स श्रमणः ॥
दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि [2]देदि वीसट्ठो ।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥ २० ॥
दर्शनज्ञानचारित्राणि महिलावर्गे ददाति विश्वस्तः ।
पार्श्वस्थादपि हु निकृष्टः भावविनष्टः न स श्रमणः ॥

भावार्थ—कोई कोई साधु अपने गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखते हैं अपने पद का ध्यान न कर उसके घर आते जाते हैं सुख दुःख में आत्मयिता दिखाते हैं तथा स्वयं मुनि के योग्य आचार तथा पूज्य पुरुषों की विनय से रहित होते हैं आचार्य कहते हैं कि वे मुनि नहीं हैं किन्तु पशु हैं ॥१८॥

एवं सहिओ—हे मुनिवर ! ऐसी खोटी प्रवृत्तियों से सहित मुनि, यद्यपि संयमी जनों के मध्यमें रहता है और बहुत ज्ञानवान भी हो तो भी वह भाव से नष्ट है अर्थात् भावलिङ्ग से रहित है यथार्थ मुनि नहीं है ।

भावार्थ—ऊपर जिन खोटी प्रवृत्तियों का वर्णन किया है उनसे जो सहित है, निरन्तर संयमी जनों के बीच में रहता है और अनेक शास्त्रों का ज्ञाता भी है वह भावसे शून्य मात्र द्रव्यलिङ्गी साधु है परमार्थ साधु नहीं है ॥१९॥

दंसण णाण—जो स्त्रियों में विश्वास उपजा कर उन्हें दर्शन, ज्ञान और चारित्र देता है वह पार्श्वस्थ मुनि से भी निकृष्ट है तथा भावलिङ्ग से शून्य है वह परमार्थ मुनि नहीं है ।

भावार्थ—जो मुनि अपने पदका ध्यान न कर स्त्रियों से सम्पर्क बढ़ाता है उन्हें पास में बैठा कर पढ़ाता है तथा दर्शन या चारित्र आदि का उपदेश देता है वह पार्श्वस्थ नामक भ्रष्ट मुनिसे भी अधिक निकृष्ट है । जब मुनि एकान्त में आर्यिकाओं से भी बात नहीं करते । सात हाथ की दूरी पर दो या दो से अधिक संख्या में बैठी हुई आर्यिकाओं से ही धर्म चर्चा करते हैं उनके प्रश्नों का समाधान करते हैं तब गृहस्थ स्त्रियोंको एकरूप

२–देदि ग० ।

पुंश्चलिघरि जमु भुंजइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं ।
पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो सवणो ॥ २१ ॥

पुंश्चलीगृहे यः भुंक्ते नित्यं संस्तौति पुष्णाति पिंडं ।
प्राप्नोति बालस्वभावं भावविनष्टो न स श्रवणः ॥

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं धम्मं ।
पालेहि कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥ २२ ॥

इति लिंगप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं धर्मं ।
पालयति कष्टसहितं स गहते उत्तमं स्थानं ॥

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितलिंगप्राभृतकं
समाप्तम्

पास में बैठा कर उनसे संपर्क बढ़ाना मुनिपद के अनुकूल नहीं है । ऐसा मुनि भावलिङ्ग से शून्य है अर्थात् द्रव्य लिङ्गी है परमार्थ मुनि नहीं है ॥२०॥

पुंश्चलिघरि—जो साधु व्यभिचारिणी स्त्री के घर आहार लेता है, निरन्तर उसकी स्तुति करता है तथा पिण्डको पालता है अर्थात् उसकी स्तुति कर निरन्तर आहार प्राप्त करता है वह बालस्वभाव को प्राप्त होता है तथा भाव से विनष्ट है वह मुनि नहीं है ।

भावार्थ—यह बड़ी धर्मात्मा है त्यागी व्रती तथा मुनियों को सदा आहार देती है इस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री की प्रशंसा कर जो उससे आहार प्राप्त करता है वह अज्ञानी है ऐसा मुनि भावलिङ्ग से रहित है मुनि नहीं है ॥२१॥

इयलिंग—इस प्रकार यह लिङ्ग प्राभृत नामका समस्त शास्त्र ज्ञानी गणधरादि के उपदिष्ट है सो इसे जान कर जो कष्ट सहित धर्मका पालन करता है अर्थात् कष्ट भोग कर भी धर्म की रक्षा करता है वह उत्तम स्थान को प्राप्त होता है ।

भावार्थ—ज्ञानी जीवों ने लिङ्ग प्राभृत का उपदेश मुनिजनों के हित के लिये दिया है इसलिये इसे जानकर मुनिव्रत का निर्दोष पालन करना चाहिये । यदि ग्रहण किये हुए व्रतके पालन करने में परिषह आदिका कष्ट भी उठाना पड़े तो उसे समता भाव से सहन करना चाहिये । ऐसा पुरुष ही उत्तम स्थान-निर्वाण को प्राप्त होता है ॥२२॥

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित लिङ्ग प्राभृत
समाप्त हुआ

शील प्राभृतं ।

वीरं विशालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं[1] ।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह ॥ १ ॥

वीरं विशालनयनं रक्तोत्पलकोमलसमपादम् ।
त्रिविधेन प्रणम्य शीलगुणान् निशाम्यामि ॥

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहि णिद्दिट्ठो ।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥ २ ॥

शीलस्य च ज्ञानस्य च नास्ति विरोधो बुधैर्निर्दिष्टः ।
नवरि च शीलेन विना विषयाः ज्ञानं विनाशयन्ति ॥

वीरं विसाल—(बाह्यमें) जिनके विशाल नेत्र हैं, तथा जिनके पांव लाल कमल के समान कोमल हैं (अन्तरङ्ग पक्षमें) जो केवल ज्ञानरूपी विशाल नेत्रोंके धारक हैं तथा जिनका कोमल एवं रागद्वेष से रहित वाणी का समूह रागको दूर करने वाला है उन महावीर भगवान् को मन वचनकाय से प्रणाम कर शीलके गुणों को अथवा शील तथा गुणोंका कथन करता हूँ ॥१॥

शीलस्स—विद्वानों ने शीलका और ज्ञानका विरोध नहीं कहा है किन्तु यह कहा है कि शीलके विना विषय ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ।

भावार्थ—शील और ज्ञान का विरोध नहीं है किन्तु सहभाव है जहां शील होता है **वहां ज्ञान अवश्य** होता है और शील न हो तो पञ्चेन्द्रियों के विषय ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ॥ २ ॥

दुक्खे—प्रथम तो ज्ञान ही दुःख से जाना जाता है फिर यदि कोई ज्ञानको जानता भी है तो उसकी भावना दुःख से होती है फिर कोई जीव उसकी भावना भी करता है तो विषयों में विरक्त दुःख से होता है ।

1—उत्पलनं उत्पलः दूरी करण मित्यर्थः वदानां नां समूह पावं रक्तस्य उत्पले कोमल मकर्कशं समं रागद्वेष रहितं यद्वं वाक्समूहो यस्य तं इति द्वितीयोर्थम् ।

दुक्खे णज्जहि णाणं णाणं णाऊण भावणा दुक्खं ।
भावियमई व जीवो विसएसु विरज्जए दुक्खं ॥ ३ ॥

दुःखेन ज्ञायते ज्ञानं ज्ञानं ज्ञात्वा भावना दुःखं ।
भावितमतिश्च जीवो विषयेषु विरज्यति दुःखं ॥

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो ।
विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं ॥ ४ ॥

तावन्न जानाति ज्ञानं विषयबलः यावत् वर्तते जीवः ।
विषये विरक्तमात्रः न क्षिपते पुराणकं कर्म ॥

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥ ५ ॥

ज्ञानं चारित्रहीनं लिंगग्रहणं च दर्शनविहीनं ।
संयमहीनश्च तपः यदि चरति निरर्थकं सर्वं ॥

भावार्थ—पहले तो सम्यग्ज्ञान का होना ही दुर्लभ है यदि किसीको सम्यग्ज्ञान प्राप्त भी होजाता है तो निरन्तर उसकी भावना रखना दुर्लभ है और किसी को उसकी भावना भी प्राप्त हो जाती है तो विषयों से विरक्त होना कठिन है। इस प्रकार तीनों कार्यों में उत्तरोत्तर कठिनता अथवा दुर्लभपना है ॥३॥

तावण—जब तक जीव विषयों के वशीभूत रहता है तब तक ज्ञानको नहीं जानता और ज्ञानके विना मात्र विषयोंसे विरक्त हुआ जीव पुराने बंधे हुए कर्मोंका क्षय नहीं करता।

भावार्थ—प्रथम तो विषयासक्त जीवको यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती नहीं है और कदाचित् कोई जीव विषयों से विरक्त हो भी जावे तो यथार्थ ज्ञानके विना वह पूर्व बद्ध कर्मोंकी निर्जरा करने में असमर्थ रहता है ॥ ४ ॥

णाणं—यदि कोई साधु चारित्र रहित ज्ञान का सम्यग्दर्शन रहित लिङ्ग का और संयम रहित तप का आचरण करता है तो उसका यह सब आचरण निरर्थक है।

भावार्थ—हेय और उपादेय का ज्ञान तो हुआ परन्तु तदनुरूप चारित्र न हुआ तो वह ज्ञान किस काम का ? मुनि लिङ्ग तो धारण किया परन्तु सम्यग्दर्शन न हुआ तो वह मुनि लिङ्ग किस काम का ? इसी तरह तप तो किया परन्तु जीव रक्षा अथवा इन्द्रिय

१-दुक्खेणीयदि इति पाठ श्रवणस्य स्वीकृतः प० ।

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥ ६ ॥

ज्ञानं चारित्रशुद्धं लिंगग्रहणं च दर्शनविशुद्धं।
संयमसहितश्च तपः स्तोकमपि महाफलं भवति ॥

णाणं णाऊण णरा केई विसयभाइवसंसत्ता।
हिंडंति [1]चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ ७ ॥

ज्ञानं ज्ञात्वा नराः केचित् विषयादिभावसंसक्ताः।
हिण्डन्ते चातुर्गतिं विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥

वशी करण संयम नहीं हुआ तो वह तप किस काम का ? इस सब का उद्देश्य कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त करना है परन्तु उसकी सिद्धि न होने से सब का निरर्थकपना दिखाया है। ॥ ५ ॥

णाणंचरित्र—चारित्र से शुद्ध ज्ञान, दर्शन से शुद्ध लिङ्ग धारण और संयम से सहित तप थोड़ा भी हो तो वह महाफल से युक्त होता है।

भावार्थ—जिस ज्ञान के साथ थोड़ा भी यथार्थ चारित्र है वह ज्ञान यथार्थ कार्यकारी है। जिस मुनिवेश में सम्यग्दर्शन की विशुद्धता है वह थोड़े समय के लिये अर्थात् मरणान्त काल में भी धारण किया गया हो तो भी यथार्थ फल को देता है इसी प्रकार जिस तपश्चरण में संयम की साधना है वह मात्रा में अल्प होने पर भी कर्म निर्जरा का प्रमुख कारण होता है ॥ ६ ॥

णाणं णाऊण—जो कोई मनुष्य ज्ञान को जान कर भी विषयादिक रूप भाव में आसक्त रहते हैं वे विषयों में मोहित रहने वाले मूर्ख प्राणी चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते रहते हैं।

भावार्थ—ज्ञान का फल विषयों से निवृत होना है सो जो मनुष्य अनेक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर भी विषयों में संलग्न रहते हैं उनके त्याग करनेका पुरुषार्थ नहीं करते हैं वे मूढ कहलाते हैं अर्थात् जानते हुए भी विषयपान करने वालेके समान है मूढ है और अपनी इस मूढता-मूर्खता के कारण वे चारोंगतियों में चिरकाल तक भ्रमण करते रहते हैं ॥ ७ ॥

1—चतुरगदि ब०।

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा ।
छिंदंति [1]चादुरगदिं तवगुणजुत्ता न संदेहो ॥ ८ ॥

ये पुनर्विषयविरक्ता ज्ञानं ज्ञात्वा भावनासहिताः ।
छिन्दन्ति चातुर्गतिं तपोगुणयुक्ता न सन्देहः ॥

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण ।
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण ॥ ९ ॥

यथा कंचनं विशुद्धं ध्मातं खडिकलवणलेपेन ।
तथा जीवोऽपि विशुद्धो ज्ञानसलिलेन विमलेन ॥

णाणस्स णत्थि दोसो का[2]पुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो ।
जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति ॥ १० ॥

ज्ञानस्य नास्ति दोषः कापुरुषस्यापि मन्दबुद्धेः ।
ये ज्ञानगर्विता भूत्वा विषयेषु रज्यन्ति ॥

जे पुण—किन्तु जो ज्ञान को जानकर उसकी भावना करते हैं और विषयों से विरक्त होते हुए तपश्चरण तथा मूल गुण और उत्तर गुणों में युक्त होते हैं वे चतुर्गति रूप संसार को छेदते है—नष्ट करते हैं इसमें संदेह नहीं है ।

भावार्थ—जो पुरुष हेयोपादेय का ज्ञान प्राप्त कर निरन्तर उसका विचार करते है और विचारों को परिपक्व बनाकर विषय कषाय से निवृत हो तपश्चरण करते हैं—मुनि व्रत का पालन करते हैं वे संसार सागर से पार होकर मोक्षको प्राप्त होते हैं इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

जह कंचणं—जिस प्रकार सुहाग और नमकके लेप से युक्त कर फूंका हुआ सुवर्ण विशुद्ध होजाता है उसी प्रकार ज्ञान रूपी निर्मल जल से यह जीव भी शुद्ध होजाता है ॥

भावार्थ—मोहनीय कर्म के उदय से इस जीव का ज्ञान अनादि काल से मलिन हो रहा है उसी मलिन तप के कारण यह अशुद्ध होकर संसार सागर में मज्जनोन्मज्जन करता रहता है इसलिये ज्ञान में से मोह की धारा को दूर कर ज्ञान को निर्मल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिये ज्ञान की निर्मलता से ही आत्मा की निर्मलता होती है ॥ ९ ॥

१—चउरगदि म० । २—कापुरिसाणो म० ।

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
होहदि परिणिव्वाणं जीवाणं चरितसुद्धाणं॥ ११ ॥

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन।
भविष्यति परिनिर्वाणं जीवानां चारित्रशुद्धानां॥

सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥ १२ ॥

शीलं रक्षतां दर्शनशुद्धानां दृढचारित्राणां।
अस्ति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानां॥

णाणस्स—जो पुरुष ज्ञान के गर्व से युक्त हो विषयों में राग करते हैं सो वह उनके ज्ञान का अपराध नहीं है किन्तु मन्द बुद्धि से युक्त उसका पुरुषका ही अपराध है।

भावार्थ—संसार में कितने ज्ञानी तपी विषयों में अनुरक्त देखे जाते हैं सो यह दोष उनके ज्ञान का नहीं है किन्तु ज्ञान के साथ मोह की धारा ने मिलकर उन पुरुषों की जो मन्द बुद्धि और पुरुषार्थ हीन बना दिया है सो यह अपराध उसी पुरुषार्थ हीन मंद बुद्धि पुरुष का है॥ १० ॥

णाणेण—निर्दोष चारित्र का पालन करने वाले जीवों को सम्यक्त्व सहित ज्ञान, सम्यक्त्व सहित दर्शन, सम्यक्त्व सहित तप और सम्यक्त्व सहित चारित्र से निर्वाण प्राप्त होगा।

भावार्थ—जैनागम में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक तप और सम्यक् चारित्र इन चार आराधनाओं से मोक्ष प्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है परन्तु ये चारों उन्ही जीवों के मोक्ष का कारण होती हैं जो चारित्र से शुद्ध होते हैं अर्थात् प्रमाद छोड़कर निर्दोष चारित्र का पालन करते हैं॥ ११ ॥

सीलं—जो शील की रक्षा करते हैं, जो शुद्ध दर्शन–निर्मल सम्यक्त्व से सहित है, जिनका चारित्र दृढ है और जो विषयों से विरक्त चित्त रहते हैं उन्हें निश्चित ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—शील का अर्थ आत्माका वीतराग स्वभाव है सो जो पुरुष सदा इसकी रक्षा करते हैं अर्थात् विषय कषाय के कारण अपने वीतराग स्वभाव को नष्ट नहीं होने देते, जो कठिन तपश्चरण करने पर भी हे दवादिकृत अतिशयों को न देख अपने सम्यक्त्व

विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं ।
उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं ॥ १३ ॥

विषयेषु मोहितानां कथितो मार्गोऽपि इष्टदर्शिनां ।
उन्मार्गं दर्शिनां ज्ञानमपि निरर्थकं तेषा ॥

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
सीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ॥ १४ ॥

कुमतकुश्रुतप्रशंसां (सकाः) जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि ।
शीलव्रतज्ञानरहिता न हु ते आराधका भवन्ति ॥

में कभी दोष नहीं लगाते हैं, जो परिषहादिक के आने पर भी चारित्र से विचलित नहीं होते और विषयों से अपने चित को सदा उदासीन रखते हैं उन्हें निश्चित ही मोक्ष प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

विसएसु—जो मनुष्य इष्ट-लक्ष्य को देख रहे हैं वे वर्तमान में भले ही विषयों में मोहित हों तो भी उन्हें मार्ग प्राप्त हो गया है ऐसा कहा गया है परन्तु जो उन्मार्ग को देख रहे हैं अर्थात लक्ष्य से भ्रष्ट हैं उनका ज्ञान भी निरर्थक है ।

भावार्थ—एक मनुष्य दर्शन मोहनीय का अभाव होने से श्रद्धा गुण के प्रकट हो जाने पर अपने लक्ष्य-प्राप्तव्य मार्ग को देख रहा है परन्तु चारित्र मोहका तीव्र उदय होने से उस मार्ग पर चलने के लिये असमर्थ हैं तो भी कहा जाता है कि उसे मार्ग प्राप्त हो गया है परन्तु दूसरा मनुष्य अनेक शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी मिथ्यात्व के उदय के कारण अपने गन्तव्य मार्ग को न देख उन्मार्ग को देख रहा है तो ऐसे मनुष्य का वह भारी ज्ञान भी निरर्थक होता है ॥ १३ ॥

कुमय—जो नाना प्रकारके शास्त्रों को जानते हुए भी मिथ्यामत और मिथ्याश्रुत की प्रशंसा करते हैं तथा शील व्रत और ज्ञानसे रहित हैं वे स्पष्ट ही, आराधक नहीं हैं ।

भावार्थ—कितने ही लोग नाना शास्त्रों के ज्ञाता होकर भी मिथ्या मत और मिथ्याश्रुत की प्रशसा करते हैं सो उनका ऐसा करना मिथ्यात्व का चिह्न है क्योंकि अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्य दृष्टि संस्तव सम्यग्दर्शन के दोष हैं। साथ ही शील अर्थात् समता परिणाम, व्रत और यथार्थ ज्ञानसे रहित हैं अतः ऐसे लोग आराधक नहीं है—मोक्षमार्गकी आराधना करने वाले नहीं है ॥१४॥

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावरणकंतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्मं॥ १५॥

रूपश्रीगर्वितानां यौवनलावण्यकान्तिकलितानां।
शीलगुणवर्जितानां निरर्थकं मानुषं जन्म॥

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु।
वेदेऊण सुयतेवसु य ते वसुय ? उत्तमं सीलं॥ १६॥

व्याकरणछन्दोवैशेषिकव्यवहारन्यायशास्त्रेषु
विदित्वा श्रुतेषु च तेषु श्रुतं उत्तमं शीलं॥

सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति।
सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए॥ १७॥

शीलगुणमण्डितानां देवा भव्यानां वल्लभा भवन्ति।
श्रुतपारगप्रचुराः दुःशीला अल्पकाः लोके॥

रूपसिरि—जो मनुष्य सौन्दर्य रूपी लक्ष्मी से गर्वीले, तथा यौवन, लावण्य और कान्ति से युक्त हैं किन्तु शील गुण से रहित हैं तो उनका मनुष्य जन्म निरकर्थ है।

भावार्थ—कितने ही मनुष्य अत्यन्त रूपवान् यौवन, लावण्य और कान्ति से युक्त होते हैं परन्तु शील गुणसे रहित होकर निरन्तर विषय वासनाओं में फंसे रहते हैं सो आचार्य कहते हैं कि उनका मनुष्य जन्म पाना निरर्थक है। मनुष्य जन्म की सार्थकता तो रत्नत्रय को उपासना कर मोक्ष प्राप्त करनेमें ही है जिन पुरुषोंने मनुष्य जन्म पाकर रत्नत्रय की उपासना नहीं की उल्टे विषयों में निमग्न रहे उनका मनुष्य जन्म निरर्थक ही समझना चाहिये॥१५॥

वायरण—कितने ही लोग व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार,-गणित, तथा न्याय शास्त्रको जानकर श्रुतके धारी बन जाते हैं परन्तु उनमें यदि शील होवे तभी उत्तम है।

भावार्थ—शील समताभावको कहते हैं उसके विना अनेक लौकिक शास्त्रों के ज्ञाता होजाने पर मनुष्य कल्याणके मार्गसे दूर रहते हैं इसलिये सर्व प्रथम शील को प्राप्त करने का प्रयत्न श्रेयस्कर हैं॥१६॥

शीलगुण—जो भव्य पुरुष शील गुणसे सुशोभित हैं उनके देव भी प्रिय हो जाते हैं अर्थात् देव भी उनका आदर करते हैं और जो शील गुण से रहित हैं वे श्रतके पारगामी होकर भी लोकमें तुच्छ-अनादरणीय बने रहते हैं।

सव्वे वि य परिहीणा रूवविरूवा वि वदिदसुवया वि ।
सील जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं ॥ १८ ॥

सर्वेऽपि च परिहीना रूपविरूपा अपि पतितसुवयसोऽपि ।
शीलं येषु सुशीलं सुजीवितं मनुष्यत्वं तेषां ॥

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे ।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥ १९ ॥

जीवदया दमः सत्यं अचौर्यं ब्रह्मचर्यसन्तोषौ ।
सम्यग्दर्शनं ज्ञानं तपश्च शीलस्य परिवारः ॥

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।
सीलं विसयाण अरी सील मोक्खस्स सोपाणं ॥ २० ॥

भावार्थ--शीलवान् जीवों को पूजा प्रभावना मनुष्य तो करते ही हैं परन्तु देव भी करते देखे जाते हैं परन्तु दुःशील अर्थात् खोटे शील से युक्त मनुष्यों को अनेक शास्त्रों के ज्ञाता होनेपर भी कोई नहीं पूछता है वे सदा तुच्छ बने रहते हैं। यहाँ 'अल्पका' का अर्थ संख्याके अल्प नहीं है किन्तु तुच्छ अर्थ है संख्या की अपेक्षा तो दुःशील मनुष्य ही अधिक है शीलवान् नहीं ॥१७॥

सव्वे विय—जो सभी में हीन हैं अर्थात् हीन जाती के हैं, रूप से विरूप हैं अर्थात् कुरूप हैं और जिनकी अवस्था वीत गई हैं अर्थात् वृद्धअवस्था से युक्त हैं इन सबके होने पर भी जिनमें शील सशील है अर्थात् जो उत्तम शीलके धारक हैं उनका मनुष्य पना सुजीवित है–उनका मनुष्य भव उत्तम है।

भावार्थ—जाति, रूप तथा अवस्था की न्यूनता होने पर भी उत्तम शील मनुष्यके जोवन को सफल बना देता है इसलिये सुशील प्राप्त करना चाहिये ॥१८॥

जीवदया—जीव दया, इन्द्रिय दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् तप ये सब शीलके ही परिवार हैं।

भावार्थ—जिस मनुष्य के उत्तम शील होता है उसके जीव दया, इन्द्रिय दमन आदि गुण स्वयं प्रकट होजाते हैं ॥१९॥

सीलंतवो—शील विशुद्ध तप है शील दर्शन की शुद्धि है शील ही ज्ञान की शुद्धि है शील विषयों का शत्रु है और शील मोक्ष की सीढ़ी है।

शीलं तपो विशुद्धं दर्शनशुद्धिश्च ज्ञानशुद्धिश्च ।
शीलं विषयाणामरिः शीलं मोक्षस्य सोपानं ॥

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं ।
[१]सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥ २१ ॥

यथा विषयो लुब्धविषदः तथा स्थावरजङ्गमान् घोराणन् ।
सर्वानपि विनाशयति विषयविषं दारुणं भवति ॥

वारि [२]एक्कम्मि य जम्मे सरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो ।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे ॥ २२ ॥

वारं एकं जन्म गच्छेत् विषवेदनाहतो जीवः ।
विषयविषपरिहता भ्रमन्ति संसारकान्तारे ॥

भावार्थ—जिस जीवके समता भाव रूप शील प्रकट हुआ हो उसीके तप, दर्शन और ज्ञान की शुद्धता प्रकट होती है । वही जीव विषयों को नष्ट करपाता है और वही मोक्षको प्राप्त हो सकता है ।।२०।।

जहविसयलुब्ध—जिस प्रकार विषय, लोभी मनुष्य को विषके देनेवाले हैं उसी प्रकार भयंकर स्थावर तथा जङ्गम—त्रस जीवोंको विष भी सबको नष्ट करता है परन्तु विषय रूपी अत्यन्त दारुण होता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार हस्ती मीन भ्रमर पतंग तथा हरिण आदि के विषय उन्हें विषकी भांति नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार स्थावरके विष मोहरा सोमल आदि और जङ्गम अर्थात् सांप विच्छू आदि भयंकर जीवोंके विष सभी को नष्ट करते हैं इस प्रकार जीवोंको नष्ट करने की अपेक्षा विषय और विषमें समानता है परन्तु विचार करने पर विषय रूपी विष अत्यन्त दारुण होता है । क्योंकि विष से तो जीवका एक भव ही नष्ट होता है और विषय से अनेक भव नष्ट होते हैं ।।२१।।

वारि—विष की वेदना से पीडित हुआ जीव एक जन्म में एक ही वार मरणको प्राप्त होता है परन्तु विषय रूपी विष से पीडित हुए जीव संसार रूपी अटवी में निश्चय से भ्रमण करते रहते हैं अर्थात् वार वार जन्म धारण करते हैं ।

---

१ "क्वचिद्वसादेः" इत्यनेन द्वितियास्थाने षष्ठी । द्वितीयाविविभक्तीनां स्थाने क्वचित् षष्ठी स्यादिति सूत्रार्थः ।
२ "अस्तात्तोर्ङीप" इत्यनेन द्वितियास्थाने सप्तमी । द्वितीयातृतीययोः स्थाने क्वचित् सप्तमी भवतीति सूत्रं वंपर्य । (सं०) ।

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासत्ता जीवा ॥ २३ ॥

नरकेषु वेदनाः तिरश्चि मानवेषु दुःखानि ।
देवेष्वपि दौर्भाग्यं लभन्ते विषयासक्ता जीवाः ॥

तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि ।
तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विषय व खलं ॥ २४ ॥

तुषध्मद्वलेन च यथा द्रव्यं न हि नराणां गच्छति ।
तपः शीलमन्तः कुशला क्षिपन्ते विषयं विषमिव खलं ! ॥

भावार्थ–विषय रूपी विष तथा साधारण विष में अन्तर बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं कि अन्य विष तो इस जीवको एक ही वार मारता है परन्तु विषय रूपी विष निरन्तर ही मारता रहता है। विषयी जीव नई २ पर्याय धारण कर संसार रूपी वनमें घूमता ही रहता है। इसलिये हे भव्य इस विषय रूपीं विष से अपनी रक्षा कर ॥२२॥

णरएसु—विषया सक्त जीव नरकों में वेदनाओं को तिर्यञ्च और मनुष्यों में दुःखों को तथा देवों में दौर्भाग्य को प्राप्त होते हैं ॥२३॥

भावार्थ—विषयों में आसक्त हुए जीव नरकों में उत्पन्न होकर वहां की तीव्र वेदनाओंको प्राप्त होते हैं। तिर्यञ्च और मनुष्य गति सम्बन्धी दुःख सामने ही अनुभवमें आहे है और देवों में कदाचित कषाय की मन्दता से उत्पन्न होते हैं तो वहां अभियोग्य या किलिषक जाति के देव होकर निरन्तर दुःख उठाना पड़ता है ॥२३॥

तुसधमंत—जिस प्रकार तुषों के उड़ा देनेसे मनुष्यों का कोई सार भूत द्रव्य नष्ट नहीं होता उसी प्रकार तप और शीलसे युक्त कुशल पुरुष विषय रूपी विषको खल के समान दूर छोड़ देते हैं।

भावार्थ—तुषको उड़ा देना वाला सूपा आदि तुषध्मत् कहलाता है उसके वलसे मनुष्य सारभूत द्रव्य को बचाकर तुषको उडा देता है–फेंक देता है उसी प्रकार तप और उत्तम शीलके धारक पुरुष ज्ञानोप योग के द्वारा विषभूत पदार्थों के सार को ग्रहण कर विषयों को खलके समान दूर छोड़ देते हैं। तप और शील से सहित ज्ञानी जीव इन्द्रियों के विषय को खल के समान समझते हैं जिस प्रकार इक्षुका रस ग्रहण कर लेने पर छिलका फेंक दिये जाते हैं उसी प्रकार विषयों का सार उन्हें जानना था सो ज्ञानी जीव इस सार

वट्टेसु य खण्डेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु।
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं ॥ २५ ॥

वृत्तेषु च खण्डेषु च भद्रेषु च विशालेषु अंगेषु।
अंगेषु च प्राप्तेषु सर्वेषु च उत्तमं शीलं ॥

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहिं विसयलोलेहिं।
संसारे भमिदव्वं अरयघरट्टं व भूदेहिं ॥ २६ ॥

पुरुषेणापि सहितन कुसमयमूढैः विषयलोलैः।
संसारे भ्रमितव्यं अरहटघरट्टं इव भूतैः ॥

आदेहि कम्मगंठी जावद्धा विसयरायमोहेहिं।
तं छिंदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥ २७ ॥

आत्मनि हि कर्मग्रंथिः यावद्धा विषयरागमोहाभ्यां।
तां छिन्दन्ति कृतार्थाः तपः संयमशीलगुणेन ।

को ग्रहण कर छिलके के समान विषयों का त्याग कर देता है ज्ञानी मनुष्य विषयों को ज्ञेयमात्र जान उन्हें जानता तो है परन्तु उनमें आसक्त नहीं होता है अथवा एक भाव यह प्रकट होता है कि कुशल मनुष्य विषय को दुष्ट विषके समान छोड़ देते हैं ॥२४॥

वट्टेसु य—इस मनुष्य के शरीर में कोई अङ्ग वृत्त अर्थात् गोल हैं, कोई खण्ड अर्थात् अर्ध गोलाकार है कोई भद्र अर्थात् सरल है और कोई विशाल अर्थात् चोड हैं सो इन अंगों के यथा स्थान प्राप्त होने पर भी सब में उत्तम अङ्ग शील ही है।

भावार्थ—शीलके विना मनुष्य के समस्त अङ्गों की शोभा निःसार है इसलिये विवेकी जन शील की ओर ही लक्ष्य रखते हैं ॥ २५ ॥

पुरिसेण—मिथ्यामत में मूढ हुए कितने ही विषयों के लोभी मनुष्य ऐसा कहते हैं कि हमारा पुरुष ब्रह्म तो निर्विकार है विषयों में प्रवृत्ति भूत चतुष्टय की होती है इसलिये उनसे हमारा कुछ विगाड़ नहीं है सो यथार्थ बात ऐसी नहीं है क्योंकि उस भूत चतुष्टय रूप शरीर के साथ पुरुष को भी ब्रह्मको भी सरहट की घड़ी के समान संसार में भ्रमण करना पड़ता है।

---

१ मु० पू०।

उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं ।
सोहेंतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तर पत्तो ॥ २८ ॥

उदधिरिव रत्नभृतः तपोविनयशीलदानरत्नानां ।
शोभेत सशीलः निर्वाणमनुन्तरं प्राप्तः ॥

सुणहाण गद्दहाणः य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो ।
जे[1] [2]सोधंति चउत्थ पिच्छिज्जंताः जणाहि सव्वेहिं ॥ २६ ॥

---

[3]भावार्थ—जवतक यह जीव शरीर के साथ एकी भावको प्राप्त हो रहा है तब तक शरीर के साथ इसे भी भ्रमण करना पड़ता है इसलिये मिथ्या मतके चक्र में पड़कर अपनी विषय लोलुपता को बढाना श्रेयस्कर नहीं है ॥२६॥

आदेहि—विषय सम्बन्धी राग और मोहके द्वारा आत्मामें जो कर्मोंकी गांठ बांधी गई है उसे कृतकृत्य-ज्ञानी मनुष्य तप संयम और शील रूप गुणके द्वारा छेदते हैं ।

भावार्थ—जीवके रागादि भावोंका निमित्त पाकर कर्मोंका सम्बन्ध होता है सो ज्ञानी मनुष्य उन भावोंको समझ उसके विपरीत तप संयम तथा शील आदि गुणोंको धारण कर उस बन्ध को रोकते है तथा सत्ता में स्थित कर्म परमाणुओं की निर्जरा कर आत्मा और कर्म को जुदा जुदा करते हैं ॥ २७ ॥

उदधी व—जिस प्रकार समुद्र रत्नों से भरा होता है तो भी तोय अर्थात् जल से ही शोभा देता है उसी प्रकार यह जीव भी तप विनय शील दान आदि रत्नों से युक्त है तो भी शील से सहित होता हो सर्वोत्कृष्ट निर्वाण पदको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—तप विनय दान आदिसे युक्त होनेपर भी यदि मोह और क्षोभ से रहित समता परिणाम रूपी शील प्रकट नहीं होता है तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती इसलिये शीलको प्राप्त करना चाहिये ॥२८॥

---

१ जो० २ सो । ३—इस गाथा का भावार्थ पं० जयचन्द्र जी ने इस प्रकार लिखा है—

'कुमति विषया सक्त मिथ्यादृष्टि आपनी विषयनिकूं भले मानि सेवै हैं । केई कुमती ऐसे भी हैं जो ऐसें कहे है जो सुन्दर विषय सेवने तें ब्रह्म प्रसन्न होय है यह परमेश्वर की बड़ी भक्ति है ऐसें कहिकर अत्यन्त आसक्त होय सेवैं हैं, ऐसा ही उपदेश अन्यकूं दे करि विषयनि मैं लगावे हैं ते आप तो अरहट की घड़ी ज्यों संसार में भ्रमैं ही हैं तहां अनेक प्रकार दुःख भोगवैं हैं परन्तु अन्य पुरुषकूं भी तहां लगाय भ्रमावैं हैं तातें यह विषय सेवना दुःख ही के अर्थि है दुःखका ही कारण है, ऐसे जानि कुमतीनि का प्रसंग न करना, विषया सक्त पणा छोड़ना यातें सुशील पणां होय है' ।

शुनां गर्दभानां च गोपशुमहिलानां दृश्यते मोक्षः।
ये साधयन्ति चतुर्थं दृश्यमानाः जनैः सर्वैः॥

जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो।
तो सो सुरत्तपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदा णरय॥ ३०॥

यदि विषयलोलैः ज्ञानिभिः भवेत् साधितो मोक्षः।
तर्हि स सात्यकि[1]-पुत्रः दशपूर्विकः किं गतो नरकं॥

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहि णिद्दिट्ठो।
दसपुव्विस्स य भावो ण किं पुण णिम्मलो जादो॥ ३१॥

यदि ज्ञानेन विशुद्धः शीलेन विना बुधैर्निर्दिष्टः।
दशपूर्विणः च भावो न कि पुनः निर्मलो जातः॥

सुणहाण—सब लोग देखो, क्या कुत्ते, गधे, गाय आदि पशु तथा स्त्रियों को मोक्ष देखने में आता है? अर्थात् नहीं आता। किन्तु चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्षको जो साधन करते हैं उन्हीं का मोक्ष देखा जाता है।

भावार्थ—विना शीलके मोक्ष नहीं होता। यदि शील के विना भी मोक्ष होता तो कुत्ते गधे गाय आदि पशु और स्त्रियों को भी मोक्ष होता परन्तु नहीं होता। यहां काकु द्वारा आचार्य ने दृश्यते क्रिया का प्रयोग किया है इसलिये उसका निषेधपरक अर्थ होता है। अथवा 'चउत्थं' के स्थान पर 'चउक्क' पाठ ठीक जान पड़ता है उसका अर्थ होता है जो क्रोधादि चार कषायों को शोधते हैं—दूर करते हैं अर्थात् कषायों को दूर कर शीलसे वीतराग भाव से सहित होते हैं वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं॥२९॥

जइ—यदि विषयों के लोभी ज्ञानी मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते होते तो दशपूर्वों का पाठी रुद्र नरक क्यों जाता?

भावार्थ—विषयों के लोभी मनुष्य शील से रहित होते हैं अतः ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्व का ज्ञान होने पर भी मोक्ष से वञ्चित रहते हैं। इसके विपरीत शीलवान् मनुष्य अष्ट प्रवचनमातृका के जघन्य ज्ञानसे भी अन्तर्मुहूर्त बाद केवल ज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शील की—वीतराग भाव की कोई अद्भुत महिमा है॥ ३०॥

जइ णाणेण—यदि विद्वान् शील के बिना मात्र ज्ञान से भाव को शुद्ध हुआ कहते

[1] श्रा।

जाए विसयविरत्तो सो गमयदि णरयवेयणापउरा ।
ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण ॥ ३२ ॥

यः विषयविरक्तः स गमयति नरकवेदनां प्रचुरां ।
तल्लभते अर्हत्पदं भणितं जिनवर्धमानेन ॥

एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरिसीहिं ।
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं च लोयणाणेहिं ॥ ३३ ॥

एवं बहुप्रकारं जिनैः प्रत्यक्षज्ञानदर्शिभिः ।
शीलेन च मोक्षपदं अक्षातीतं च लोकज्ञानैः ॥

हैं तो दश पूर्व के पाठी रुद्र का भाव निर्मल–शुद्ध क्यों नहीं हो गया ?

भावार्थ—मात्र ज्ञान से भाव की निर्मलता नहीं होती । भाव की निर्मलता के लिये राग द्वेष और मोह के अभाव की आवश्यकता होती है । राग द्वेष और मोह के अभाव से भाव की जो निर्मलता होती है वही शील कहलाता है इस शील से ही जीव का कल्याण होता है ॥ ३१ ॥

जाए विसय—जो विषयों से विरक्त है वह नरक की भारी वेदना को दूर हटा देता है तथा अरहन्त पद को प्राप्त करता है ऐसा वर्धमान जिनेन्द्र ने कहा है ।

भावार्थ—जिनागम में ऐसा कहा है कि तीसरे नरक तक से निकल कर जीव तीर्थंकर हो सकता है सो सम्यग्दृष्टि मनुष्य नरक में रहता हुआ भी अपने सम्यक्त्व के प्रभाव से नरक की उस भारी वेदनाका अनुभव नहीं करता–उसे अपनी नहीं मानता और वहां से निकलकर तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है यह सब शील की ही महिमा है ॥३२॥

एवं बहुप्पयारं—इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष दर्शन से युक्त लोक के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान् ने अनेक प्रकार से कथन किया है कि अतीन्द्रिय मोक्ष पद शील से प्राप्त होता है ।

भावार्थ—केवल ज्ञान और केवल दर्शन से सहित लोक के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान् ने ऊपर नाना युक्तियों से यह निरूपण किया है कि अक्षनीय–अतीन्द्रिय मोक्ष पद की प्राप्ति शील से होती है मोहनीय कर्म का क्षय होने से पहले वीतराग परिणति रूप शील की प्राप्ति होती है उसके बाद केवल ज्ञान की प्राप्ति होती तदन्तर मोक्ष प्राप्त होता है ।

सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयारमप्पाणं।
जलणो वि पवणसहिदो डहंति पोराणयं कम्मं ॥ ३४ ॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनतपोवीर्यपंचाचाराः आत्मनां।
ज्वलनोऽपि पवनसहितः दहंति पौराणकं कर्म ॥

णिद्दड्ढअट्ठकम्मा विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा।
तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिगदिं पत्ता ॥ ३५ ॥

निर्दग्धाष्टकर्माणः विषयविरक्ता जितेन्द्रिया धीराः।
तपोविनयशीलसहिताः सिद्धाः सिद्धिगतिं प्राप्ता ॥

लावण्णसीलकुसला जम्मसहीरुहो जस्स सवणस्स।
सो सीलो स महप्पा भमित्थ गुणवित्थर भविए ॥ ३६ ॥

सम्मत्त—सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य ये पञ्च आचार पवन सहित अग्नि के समान जीवों के पुरातन कर्मों को दग्ध कर देते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार वायु से प्रज्वलित अग्नि काष्ट के समूह को जला देती है उसी प्रकार सम्यक्त्व आदि पञ्च आचार जीवों के पूर्व बद्ध कर्मों को जला देते हैं। पञ्च आचार के प्रभाव से यह जीव कर्मों का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त होजाता है। यहां सम्यक्त्व शब्द से चारित्र का ग्रहण जानना चाहिये॥ ३४ ॥

निद्दड्ढ अट्ठ कम्मा—जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है, जो विषयों विरक्त हैं धीर है अर्थात् परिषहादि के आने पर विचलित नहीं होते हैं, जो तप विनय और शीलसे सहित हैं ऐसे जीव आठ कर्मोंको समग्र रूपसे दग्ध कर सिद्धिगतिको प्राप्त होते हैं। उनकी सिद्ध संज्ञा है अर्थात् वे सिद्ध कहलाते हैं।

भावार्थ—यहां सिद्ध जीव कौन है ? तथा सिद्धि कैसे जीवों को प्राप्त होती है ? इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो इन्द्रियोंको जीत चुके हैं, इन्द्रियों को जीतने के कारण जो उनके स्पर्शादि विषयों से विरक्त हुए है जो परिषह तथा उपसर्ग के सहन करने में धीर वीर है तथा तप विनय और शील से सहित हैं वे सिद्धि गति को प्राप्त होते हैं और वे ही सिद्ध कहलाते हैं॥ ३५ ॥

लावण्ण सील—जिस मुनि का जन्म रूपी वृक्ष लावण्य और सील से कुशल है वह शीलवान् है, महात्मा है तथा उसके गुणों का विस्तार लोक में व्याप्त होता है।

लावण्यशीलकुशलाः जन्ममहीरुहः यस्य श्रमणस्य ।
स शीलः सः महात्मा भ्रमेत् गुणविस्तारं मध्ये ॥

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धी य वीरियावत्तं ।
सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं ॥ ३७ ॥

ज्ञानं ध्यानं योगो दर्शनशुद्धिश्च वीर्यत्वं ।
सम्यक्त्वदर्शनेन च लभन्ते जिनशासने बोधिं ॥

जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्ता तवोधणा धीरा ।
सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥ ३८ ॥

जिनवचनगृहीतसारा विषयविरक्ताः तपोधना धीराः ।
शीलसलिलेन स्नाताः ते सिद्धालयसुखं यान्ति ॥

सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा ।
पप्फोडिय कम्मरया हवंति आराहणापयडा ॥ ३९ ॥

भावार्थ—जिस मुनि का जन्म जीवों को अत्यन्त प्रिय है तथा समता भाव रूप शीलसे सुशोभित है वही मुनि शीलवान कहलाता है वही महात्मा कहलाता है और उसी के गुण लोक में विस्तार को प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

णाणं झाणं—ज्ञान, ध्यान, योग, और दर्शन की शुद्धि–निरतिचार प्रवृत्ति ये सब वीर्य के आधीन हैं और सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव जिन शाशन सम्बन्धी बोधिरत्नत्रय रूप परिणति को प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—आत्मा में वीर्य गुण का जैसा विकास होता है उसी के अनुरूप ज्ञान ध्यान योग और दर्शन की शुद्धता होती है तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव जिनशासन में बोधि–रत्नत्रय का जैसा स्वरूप बतलाया है उस रूप परिणति को प्राप्त होते हैं ॥ ३७ ॥

जिणवयण—जिन्होंने जिनेन्द्र देव के वचनों से सार ग्रहण किया है, जो विषयों से विरक्त हैं, जो तप को धन मानते हैं, धीर वीर हैं, और जिन्होंने शील रूपी जल से स्नान किया है वे सिद्धालय के सुख को प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—जो पुरुष जिनवाणी का सार ग्रहण कर विषयोंसे विरक्त होते हुए तप धारण करते हैं दृढता तपकी रक्षा करते हैं । तथा सदा समता भाव रखते हैं वे जीव मोक्ष के सुख को प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥

सर्वगुणक्षीणकर्माणः सुखदुःखविवर्जिता मनोविशुद्धाः
प्रस्फुटितकर्मरजसः भवन्ति अराधनाप्रकटाः ॥

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं ।
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥ ४० ॥

अर्हति शुभभक्तिः सम्यक्त्वं दर्शनेन सुविशुद्धं ।
शीलं विषयविरागो ज्ञानं पुनः कीदृशं भणितं ॥

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितशीलप्राभृतकं
समाप्तं

सव्वगुण—जिन्होंने समस्त गुणों से कर्मों को क्षीण कर दिया है, जो सुख और दुख से रहित है, मन से विशुद्ध हैं और जिन्होंने कर्म रूपी धूलि को उड़ा दिया है ऐसे आराधनाओं को प्रकट करने वाले होते है ।

भावार्थ—जिन जीवों के दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ये चार आराधनाएं प्रकट होती हैं अर्थात् पूर्णता को प्राप्त होती हैं वे समस्त मूलगुणों और उत्तर गुणों के द्वारा कर्मों को क्षीण करते हैं अथात् उनकी स्थिति तथा अनुभाग को क्षीण कर देते हैं आत्मानु भव की मुख्यता के कारण उनका सांसारिक सुख दुःख का विकल्प छूट जाता है, उनका हृदय अत्यन्त शुद्ध होजाता है और कर्म रूपी धूली को उड़ाकर कर्म रहित हो जाते हैं । आराधनाओं का फल मोक्ष प्राप्ति है यदि आराधनाओं के पूर्ण रूप से प्रकट होने में न्यूनता रह जाय तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है वहां से आने के बाद फिर मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

अरहंते—अरहन्त भगवान् में शुभभक्ति होना सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व तत्वार्थ श्रद्धान से अत्यन्त शुद्ध है और विषयों से विरक्त होना ही शील है । ये दोनों ही ज्ञान हैं इनसे अतिरिक्त ज्ञान कैसा कहा गया है !

भावार्थ—सम्यक्त्व और शीलसे सहित जो ज्ञान है वही ज्ञान ज्ञान है इनसे रहित ज्ञान कैसा ? अन्य मतोंमें ज्ञानको सिद्धिका कारण कहा गया है परन्तु जिस ज्ञान के साथ सम्यक्त्व तथा शील नहीं है वह अज्ञान है, उस अज्ञान रूप ज्ञानसे मुक्ति नहीं होसकती ॥

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित शीलप्राभृतसमाप्त हुआ